लेखक की अन्य पुस्तकें

1. लोक वित्त (Public Finance)
2. अर्थशास्त्र के सिद्धान्त (Principles of Economics)
3. लोक अर्थशास्त्र (Public Economics)
4. आर्थिक विचारधाराओं का इतिहास
   (History of Economic Thought)
5. यातायात—एक अध्ययन (Transport)
6. Public Finance (English Edition)
7. Public Economics (English Edition)
8. Principles of Economics (English Edition)

चतुर्थ संशोधित तथा परिवर्द्धित संस्करण १९६६

मूल्य रु० ९·००

प्रकाशक
केदार नाथ राम नाथ,
मेरठ ।

मुद्रक
नवज्योति प्रिंटिंग प्रेस,
मेरठ ।

चतुर्थ संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक का तीसरा संस्करण एक वर्ष में ही समाप्त हो गया। इससे मुझे इसकी सफलता का अनुमान लग गया।

प्रस्तुत संस्करण में बहुत से नये प्रश्नो के उत्तर और लिख दिये हैं। पुराने प्रश्नो मे भी जो आँकड़े पुराने हो गये थे उनके स्थान पर नये आँकड़ों को बदल दिया गया है। मैंने इस बात का पूरा प्रयत्न किया है कि विद्यार्थी को नवीनतम विषय-सामग्री, आँकडे तथा सूचनाएँ प्रदान कर सकूं। इसलिये अखबारों, पत्रिकाओं तथा सहायक पुस्तकों (Reference Books) की सहायता विस्तृत रूप से ली है तथा यथास्थान उल्लेख भी कर दिया है। जो विद्यार्थी उस सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्राप्त करना चाहेंगे, यह स्रोतो का उल्लेख उनकी सहायता कर सकेगा।

संस्करण मे प्रत्येक उत्तर के साथ उस उत्तर की रूपरेखा दे दी गई है। इस से प्रश्न को परीक्षा के दृष्टिकोण से तैयार करने मे सरलता होगी।

पुस्तक प्रकाशित होने के बाद बहुत से विद्यार्थियों के पत्र आये। उनके सुझाओ से मुझको पुस्तक का नवीनीकरण करने मे सहायता मिली। उन सब को धन्यवाद !

वाई० सी० हैलन

प्रस्तावना

हमारे जीवन मे तथा देश की अर्थव्यवस्था मे द्रव्य का महत्वपूर्ण स्थान है। द्रव्य ही हमारी आर्थिक व्यवस्था का केन्द्र है, क्योंकि द्रव्य के बिना हमारा सामाजिक, आर्थिक राजनैतिक जीवन उचित रूप से संचालित नही हो सकता। इस कारण ही Horace ने एक स्थान पर लिखा है,

> "All things human and divine, renown,
> Honour and worth, at money's shrine go down."

परन्तु फिर भी हम द्रव्य के महत्व को ठीक प्रकार से नही समझ पाते। कारण जेवेन्स के शब्दों में दिया जा सकता है, " क्योंकि हम अपने जीवन के प्रारम्भ से ही द्रव्य को देखते और प्रयोग करते चले आये है। इसलिये हमे द्रव्य के वास्तविक महत्व और उनके लाभों का पता नही हो पाता।" द्रव्य के महत्व के कारण यदि इसको 'संसार का जीवन-रक्त' (Life-blood of the World) कहा जाय तो गलत न होगा। अतः द्रव्य व इससे सम्बन्धित समस्याओ का अध्ययन करना प्रत्येक उस व्यक्ति के लिये आवश्यक है, जो अर्थशास्त्र मे विशेषता प्राप्त करना चाहता है। इसी कारण अधिकांश विश्वविद्यालयों मे इसके अध्ययन को अनिवार्य कर दिया है।

विद्यार्थियो को यह पेपर बहुधा कठिन लगता है। इसका मुख्य कारण यह है कि इस पेपर से सम्बन्धित पुस्तकें बहुत अधिक हैं, जिनका अध्ययन कम समय मे नही किया जा सकता। हिन्दी से पढने वाले विद्यार्थियो के लिये तो और भी कठिनाई रहती है, क्योंकि कोई भी पुस्तक हिन्दी मे नही है। विद्यार्थियों की इसी कठिनाई को दूर करने के लिये मैं इस पेपर पर एक पाठ्य पुस्तक लिखना चाहता था। परन्तु मेरे मित्र व सहयोगियों ने यह सुझाया कि यदि इस पाठ्य-पुस्तक की सामग्री को प्रश्नोत्तर-रूप दे दिया जाय तो विद्यार्थियों को अधिक लाभ होगा, क्योंकि उनको परीक्षा की तैयारी में अधिक सहायता मिल सकेगी। यह सुझाव मेरी समझ मे आ गया और परिणाम आप लोगों के हाथो मे है।

पुस्तक मे विषय-सामग्री, जो समझने मे कठिन है, सम्बद्ध, रुचिकर तथा वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत की गयी है। इस सम्बन्ध मे कहाँ तक सफलता मिली है, इसका निर्णय तो पाठकगण ही दे सकते हैं।

पुस्तक अत्यन्त शीघ्रता मे लिखी गयी है। अतः जो त्रुटियाँ होंगी, उनको अगले संस्करण मे दूर करने का प्रयत्न किया जायगा। आपके सुझाव भी इस सम्बन्ध में सहायक होंगे।

इस पुस्तक के लिखने में मुझे अपने गुरुजन डा० आर० सी० सक्सैना तथा डा० लक्ष्मीनारायण से बहुत सहायता मिली है। उनका मैं अत्यन्त आभारी हूँ। मैं अपने सहयोगियों प्रो० कैलाश चन्द्र वैश्य व प्रो० प्रमोदकुमार गोयल का भी कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने समय-समय पर मेरी सहायता की। श्रीमती चितरन्जन मांगलिक ने इस पुस्तक की पाण्डुलिपि दोहराने में अपना काफी समय दिया। उनका भी मैं अनुगृहीत हूँ।

पुस्तक आपके सम्मुख है। यदि आपको लाभ पहुँचा सके तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

अन्त में मेरे, प्रकाशक भी धन्यवाद के पात्र हैं, क्योंकि इतने कम समय में वे पुस्तक प्रकाशित कर सकेंगे, इसकी मुझको कम आशा थी।

वाई० सी० हैलन

QUESTIONS ANSWERED IN THE BOOK

goods and services and a means of attaining social justice." Discuss.

15 What is the social significance of money? Do you advocate redistribution of incomes in a community? If so, suggest methods.

16 Briefly explain what is the nature of money? What is the place of money in a capitalist and a socialist society?

Chapter 2—Value of Money

17 Study the factors which determine the value of money. Has the value of the Indian rupee fallen in recent years? Give reasons.

18 How is the variations in the value of money measurd? What are the defects in the system of Index numbers? To what extent can they be remedied?

19 Give a critical but brief discussion of the quantity theory of money as enunciated by Fisher, Pigou and Keynes.

20 Examine critically the Quantity Theory of Money.

21 Examine carefully the Quantity Theory of Money. What recent advances have been made in the theory dealing with the determination of the value of money?

22 "The Quantity Theory of Money in its earlist and crude form is useless and misleading as no economist now believes in any fixed and automatic relationship between the quantity of money and the general level of prices." Examine this statement and point out how value of money is determined.

23 Examine critically the quantity theory of money. How far can the explanation of Keynes about the determination of the value of money by considered satisfactory? Discuss.

24 Explain the Cambridge Equation and point out how far it explains changes in price level.

25 "The modern tendency in economic thinking indeed is to discard the old notion of the quantity of money as a causative factor in the state of business and a determinant of the value of money and to regard it as a consequence." Discuss the statement.

Chapter 6—Monetary Management

Chapter 7—Credit

Chapter 8—Central Bank

Chapter 11—International Monetary Co-operation

Chapter 13—Reserve Bank of India

Chapter 14—The State Bank of India

Chapter 15—Indian Money Market

Chapter 16—Co-operative Credit in India

Chapter 17—Prices in India

Chapter 20—Miscellaneous

१
द्रव्य
(MONEY)

Q. 1. Why was the barter system of exchange abandoned? Are we going back to the barter economy?

विभिन्न अर्थ-व्यवस्थायें प्रारम्भ में आत्म-निर्भर थी। केवल अर्थ-व्यवस्थायें ही आत्म-निर्भर नहीं थी बल्कि विभिन्न व्यक्ति भी आत्म-निर्भर थे और अपनी आवश्यकता की सब वस्तुओं को स्वयं ही उत्पन्न कर लिया करते थे। परन्तु इस स्थिति में शीघ्र ही परिवर्तन हो गया। व्यक्तियों की आवश्यकताओं में वृद्धि हो जाने के कारण यह सम्भव नहीं रहा कि वह सब वस्तुओं को उत्पन्न कर लें। इसलिये यह आवश्यक हो गया कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को अपनी वस्तु दे तथा स्वयं दूसरों से वस्तु ले। परन्तु उस समय द्रव्य का प्रारम्भ तो हुआ नहीं था; इसलिये व्यक्ति आपस में वस्तुओं का ही अदल-बदल किया करते थे जिसे वस्तु-विनिमय (Barter) कहा जाता है।

(१) विनिमय का विकास तथा वस्तु-विनिमय की परिभाषा।
(२) वस्तु-विनिमय में कठिनाइयाँ;
(a) आवश्यकताओं के दोहरे संयोग का अभाव;
(b) सामान्य मूल्य-मापक का अभाव;
(c) विभाजकता का अभाव;
(d) विनिमय-शक्ति के संचय का अभाव।
(३) आधुनिक युग में वस्तु-विनिमय का प्रयोग।

वस्तु-विनिमय में द्रव्य की सहायता के बिना एक वस्तु का दूसरी वस्तु से प्रत्यक्ष विनिमय किया जाता है। जेवन्स के अनुसार, "अपेक्षाकृत कम आवश्यक वस्तु से अधिक आवश्यक वस्तु के आदान-प्रदान करने को वस्तु-विनिमय कहते हैं।" उदाहरण के लिये यदि एक व्यक्ति के पास चना है और उसे कपड़े की आवश्यकता है तो वह दूसरे व्यक्ति से, जिसके पास कपड़ा फालतू है और जिसे चने की जरूरत है, चने के बदले में कपड़ा ले सकता है।

विनिमय का यह रूप बहुत सरल है; परन्तु इस प्रकार के विनिमय में बहुत ही कठिनाइयाँ हैं जिनके कारण इसका क्षेत्र संकुचित होता गया है, और आजकल

इसका प्रयोग केवल पिछड़े हुए क्षेत्रों तक ही सीमित है। ये कठिनाइयाँ निम्नलिखित हैं—

आवश्यकताओं के दोहरे संयोग का अभाव—
(Lack of Double Coincidence of Wants)

वस्तु-विनिमय के लिये आवश्यकताओं के दोहरे संयोग का होना आवश्यक है जो कि आजकल के समय में केवल कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव है। आवश्यकताओं के दोहरे संयोग का अर्थ है कि दो व्यक्ति ऐसे मिल जाय जिनमें से प्रत्येक के पास ठीक वही वस्तु फालतू हो जिसकी दूसरे को आवश्यकता हो। उदाहरण के लिये यदि एक व्यक्ति के पास चना है और उसको कपड़े की आवश्यकता है तो उसे ऐसे व्यक्ति की तलाश करनी पड़ती है जिसके पास कपड़ा हो और उसे चने की आवश्यकता हो। जब तक इस प्रकार का व्यक्ति नहीं मिल जाता विनिमय सम्भव नहीं हो सकता। वास्तविक जीवन में इस प्रकार का संयोग सम्भव नहीं होता क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि जिस व्यक्ति के पास कपड़ा हो उसे चने की आवश्यकता हो या जिसको चने की आवश्यकता हो उसके पास कपड़ा हो। ऐसी दशा में विनिमय में कठिनाई होती है।

इस कठिनाई का वास्तविक उदाहरण लैफ्टिनेन्ट केमेरोन (Lieutenant Cameron) ने अपनी पुस्तक All Across Africa में दिया है। लैफ्टिनेन्ट केमेरोन अफ्रीका के एक भाग में नदी पार करना चाहता था। नाविक उसे पार ले जाने के लिये हाथी-दाँत मांगता था जो उसके पास नहीं थे। केमेरोन को पता लगा कि एक दूसरे व्यक्ति के पास हाथी-दाँत है जो उसके बदले में कपड़ा चाहता है। परन्तु केमेरोन के पास कपड़ा भी नहीं था। कुछ समय पश्चात् केमेरोन को पता लगा कि तीसरे व्यक्ति के पास कपड़ा है और वह बदले में तार चाहता है। सौभाग्य से उसके पास तार था। उसने तार देकर कपड़ा लिया, कपड़ा लेकर हाथी-दाँत लिये और हाथी-दाँत देकर नदी पार की।[1] इस प्रकार उसका बहुत सा समय केवल दोहरे संयोग के न होने के कारण हुआ। अतः विनिमय की यह प्रणाली बहुत अनिश्चित व असुविधाजनक है।

(२) सामान्य मूल्य मापक का अभाव—
(Lack of Common Measure of Value)

वस्तु-विनिमय में विनिमय प्रत्यक्ष होने के कारण कोई ऐसा सामान्य मापक नहीं होता जिसकी सहायता से विभिन्न प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य को ठीक प्रकार से नापा जा सके। मूल्य मापक का अभाव होने के कारण प्रत्येक विनिमय

---

1. Lieutenant Cameron, "All Across Africa" quoted by Foster and Catchings in 'Money'. p. 35.

मे विनिमय की दर तय करनी पड़ती है जो दोनों दलों की सौदा करने की शक्ति पर निर्भर करती है। इसके अतिरिक्त यह कठिनाई उस समय बढ़ जाती है जबकि वस्तुओं की संख्या बहुत अधिक हो। उसको अनेक वस्तुओं की विनिमय दर याद रखनी पड़ती है जो अत्यन्त कठिन कार्य है।

(३) विभाजकता का अभाव—
(Lack of Divisibility)

कुछ वस्तुयें इस प्रकार की होती हैं कि उनका विभाजन नहीं किया जा सकता। यदि उनका विभाजन कर दिया जाय तो उनका वह आकार और वह रूप नष्ट हो जाता है जिसके कारण उनमे उपयोगिता है। इससे उनकी वास्तविक उपयोगिता समाप्त हो जाती है और उनका मूल्य जरा भी नही रहता। उदाहरण के लिये गाय है। इसको दो या दो से अधिक इकाइयो मे विभाजित नही किया जा सकता। कठिनाई उस समय उत्पन्न होती है जब इस गाय के बदले मे तीन-चार वस्तुयें लेनी हों और वे वस्तुयें अलग-अलग व्यक्तियों के पास हों। इस स्थिति मे गाय के तीन या चार टुकड़े नही किये जा सकते। अत. विनिमय सम्भव नहीं होता क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी वस्तु के बदले मे कुछ वस्तु मांगेगा और तीनों चारों व्यक्ति मिलकर एक वस्तु लेने के लिये तैयार नही होंगे। साथ ही ऐसा व्यक्ति भी मिलना कठिन होगा जो गाय के बदले में सब वस्तुयें दे दें।

(४) विनिमय-शक्ति के सचय का अभाव—
(Difficulty to Store the Value)

वस्तु-विनिमय में एक महत्वपूर्ण कठिनाई यह है कि भविष्य के लिये विनिमय-शक्ति को सचित नहीं किया जा सकता क्योंकि अधिकांश वस्तुयें टिकाऊ नही होतीं और कुछ समय के बाद नष्ट हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त वस्तुओ मे विनिमय-शक्ति को संचित करने के लिये बहुत अधिक जगह की भी आवश्यकता होती है। इस कारण वस्तु-विनिमय वाली अर्थ-व्यवस्था मे पूजी का निर्माण नही हो सकता और उत्पादन बड़े पैमाने पर सम्भव नहीं होता।

इस प्रकार वस्तु-विनिमय मे बहुत सी कठिनाइयाँ थी जिनके कारण इसको शीघ्र ही समाप्त कर दिया गया। वस्तु-विनिमय में उत्पन्न होने वाली कठिनाइयो का उदाहरण हम एक फ्रांसीसी संगीतज्ञ से दे सकते हैं, जिसने एक ऐसे द्वीप में अपने संगीत का प्रदर्शन किया जहाँ द्रव्य का प्रचलन नहीं था। द्रव्य का प्रचलन न होने के कारण गायक को प्रतिफल सूअरों, मुर्गियो, बकरियों, सेबों, केलो आदि में दिया गया। परिणाम यह हुआ कि बकरियों और सूअरो ने फलों और दूसरे खाद्य पदार्थों को खा लिया। सूअरों और बकरियो को जीवित रखने के लिये गायक को अन्य प्रदर्शन करने पड़े। इस प्रकार उसको कुछ भी लाभ नहीं हुआ। यदि उसे द्रव्य में भुगतान किया जाता तो वह धनवान बन जाता और इन कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता।

आधुनिक युग में वस्तु-विनिमय—
(Barter in Modern Economy)

वस्तु-विनिमय की कठिनाइयों के कारण इसका प्रयोग लगभग नहीं के बराबर रह गया है। इसका चलन केवल पिछड़े हुए देशों या अर्द्ध-विकसित देश के पिछड़े हुए भागों में ही है। भारत के कुछ गांवों, अफ्रीका, अरब आदि देशों में इसका कुछ सीमित प्रयोग होता है। भारत के बहुत से गाँवों में, विशेषतः जहाँ आवागमन व संचार साधन नहीं है, अनाज से अन्य वस्तुयें बदली जाती हैं। इस प्रकार यद्यपि इसका प्रयोग कम होता जा रहा है परन्तु विकसित व आधुनिक अर्थ-व्यवस्थाओं में इसका कुछ महत्वपूर्ण प्रयोग हो रहा है। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त यूरोप के बहुत से देशों में मुद्रा-प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो गई थी जिसके कारण द्रव्य का मूल्य गिर रहा था। इन देशों में अर्थ-व्यवस्था में स्थिरता लाने के लिये वस्तु-विनिमय पद्धति का सीमित प्रयोग किया गया। महामंदी काल (Great Depression) के दौरान में भी अमेरिका में वस्तु-विनिमय करने के लिये समितियाँ बन गई थीं जो वस्तुओं का एक दूसरे से अदल-बदल करती थी। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में भी महायुद्ध के बाद से वस्तु-विनिमय पद्धति का प्रयोग होने लगा। विदेशी मुद्रा की कमी के कारण बहुत से देश आपस में वस्तुओं का विनिमय करते हैं जिससे मुद्रा का प्रयोग नहीं होता। इस प्रकार के समझौतों को वस्तु-विनिमय व्यापार समझौते (Barter Trade Agreements) कहा जाता है। कुछ वर्ष पहले भारत और पाकिस्तान ने इस प्रकार का समझौता किया था जिसके अनुसार भारत ने पाकिस्तान को सीमेंट व कोयला दिया और पाकिस्तान से जूट लिया। इसके अतिरिक्त आजकल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में जो द्विदेशीय व्यापारिक समझौते (Bilateral Trade Agreements) हो रहे हैं वे पुरानी वस्तु-विनिमय पद्धति का ही एक रूप है।

इस प्रकार आधुनिक युग में वस्तु-विनिमय प्रणाली का सीमित प्रयोग किया जा रहा है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम वस्तु-विनिमय की अर्थ-व्यवस्था में पुनः प्रवेश कर रहे हैं। वास्तव में वस्तु-विनिमय द्वारा किया जाने वाला विनिमय कुल विनिमय का एक छोटा सा अंश है जिसका कोई विशेष महत्व नहीं है। इस कारण हमारी अर्थ-व्यवस्था द्रव्य पर ही आधारित कहलायगी।

Q. 2. Why is money necessary for exchange ? Briefly explain the evolution of the present money.

द्रव्य की आवश्यकता (Necessity of Money)—आर्थिक विकास के प्रारम्भ में वस्तु का वस्तु से विनिमय हुआ करता था क्योंकि उस समय मनुष्य की

आवश्यकताएँ बहुत ही कम थीं। परन्तु आर्थिक विकास व सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य की आवश्यकतायें बढ़ती गयीं और श्रम विभाजन व मशीनों के प्रयोग के कारण उत्पत्ति का रूप बहुत ही जटिल हो गया। अब वस्तु का वस्तु से विनिमय कठिन हो गया क्योंकि ऐसा करने मे निम्नलिखित कठिनाइयाँ सामने आयीं—

(१) वस्तु विनिमय की कठिनाइयों के कारण द्रव्य की आवश्यकता।

(२) द्रव्य का विकास-विकास के विभिन्न स्तर :—

(a) वस्तु द्रव्य;

(b) धातु द्रव्य;

(c) कागजी द्रव्य;

(d) साख द्रव्य।

(१) आवश्यकताओं की दोहरी अनुरूपता (Double coincidence of wants)—वस्तु-विनिमय मे आवश्यकताओं के दोहरे संयोग की आवश्यकता पड़ती है। विनिमय केवल उसी समय हो सकता है जब दो आदमियों के पास एक दूसरे की आवश्यकता की वस्तु हो और वे आपस मे एक दूसरे से बदलने को तैयार हो। परन्तु ऐसा सदा सम्भव नहीं होता। यदि एक व्यक्ति दूसरे की वस्तु लेने को तैयार नहीं है तो विनिमय कार्य रुक जाता है। इस सम्बन्ध में हॉम ने कहा है, "It is next to impossible that all wishes of bartering individuals should coincide as to the kind, quality, quantity and value of things which are mutually desired, especially in a modern economy in which on a simple day millions of persons may exchange millions of commodities and services"[1]

(२) मूल्य के मापदण्ड का अभाव (Lack of common measure of value)—कठिनाई यही पर ही समाप्त नहीं हो जाती। यदि दोहरे संयोग की परिस्थिति सम्भव भी हो जाय तो वस्तुओं का विनिमय किस अनुपात मे हो, दूसरी समस्या यह होती है। इस विनिमय प्रणाली मे मूल्य निर्धारण का कोई सामान्य माप नहीं होता जिसकी सहायता से प्रत्येक वस्तु का मूल्य निर्धारित करके विनिमय किया जा सके।

(३) कुछ वस्तुओं की अविभाज्यता (Indivisibility of certain articles)—कुछ वस्तुओं के सम्बन्ध में यह कठिनाई उत्पन्न होती है कि उनका विभाजन नहीं किया जा सकता। यदि उनका विभाजन किया जाय तो उनका वह आकार और वह रूप नष्ट हो जाता है जिसके कारण उनमें उपयोगिता है और उनकी वास्तविक उपयोगिता भी चली जाती है।

(४) विनिमय शक्ति के संचय का अभाव (Difficulty to store the value)—वस्तु विनिमय मे एक महत्वपूर्ण कठिनाई यह है कि भविष्य के लिये

1. Halm, G. N., Monetary Theory, 1946. p. 1.

विनिमय-शक्ति को संचित नहीं किया जा सकता क्योंकि कुछ समय बाद वस्तुएँ नष्ट हो जाती हैं।

वस्तु विनिमय से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों का उदाहरण हम एक फ्रांसीसी संगीतज्ञ का दे सकते हैं, जिसके एक ऐसे द्वीप में अपने संगीत का प्रदर्शन किया जहाँ द्रव्य का प्रचलन नहीं था। उसे उसका प्रतिफल सूअरों, मुर्गियों, बकरियों, सेव, केले आदि में दिया गया। परिणाम यह हुआ कि बकरियों और सुअरों ने फलों और दूसरे खाद्य पदार्थों को खा लिया जिससे उसे अपने सूअरों और बकरियों को जीवित रखने के लिए कई अन्य प्रदर्शन करने पड़े। इससे उसे कुछ भी लाभ नहीं हुआ ? यदि उसे द्रव्य में भुगतान किया जाता तो वह धनी हो जाता।

वस्तु विनिमय की इन सब कठिनाइयों को दूर करने के लिए द्रव्य की आवश्यकता अनुभव हुई।

द्रव्य का विकास (Evolution of Money)—आवश्यकता आविष्कार की जननी है। वस्तु विनिमय की कठिनाइयों के कारण ही द्रव्य का उपयोग प्रारम्भ हुआ। मनुष्यों ने एक ऐसी वस्तु को चुना जिसके माध्यम से समाज में सब वस्तुओं का विनिमय हो सके, सभी लोग उस वस्तु को स्वीकार कर लें तथा सभी वस्तुओं का मूल्य उस वस्तु में ही (द्रव्य में) प्रदर्शित किया जा सके। विभिन्न समय में मनुष्य ने विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को द्रव्य के रूप में प्रयुक्त किया। द्रव्य के विकास को हम चार भागों में बांट सकते हैं :—

(१) वस्तु द्रव्य (Commodity Money)
(२) धातु द्रव्य (Metallic Money)
(३) कागजी द्रव्य (Paper Money)
(४) साख द्रव्य (Credit Money)

(१) वस्तु द्रव्य (Commodity Money)—आर्थिक विकास के प्रारम्भ में विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को द्रव्य के रूप में काम में लाया गया और सब में अलग-अलग सफलता मिली। दास, पशु, पत्थर, खाल, तीर, अनाज. कौड़ी, हड्डी, तम्बाकू आदि विभिन्न प्रकार के पदार्थ द्रव्य के रूप में काम में लाये गये। द्रव्य का रूप किसी विशेष समाज के आर्थिक विकास पर निर्भर था। शिकारी युग में खाल, चरागाह युग में पशु, समुद्र तट के निकट रहने वालों के लिए कौड़ी और कृषि युग में कपास, गेहूँ आदि ने द्रव्य का काम दिया। आज भी संसार में कुछ प्रदेश इस प्रकार के हैं जो इस प्रकार की वस्तुओं को द्रव्य के रूप में प्रयुक्त करते हैं। W. I. Weston ने अपनी पुस्तक Banking and Currency में W. B. Harris का एक पत्र जो कि उसने 'The Times' के सम्पादक को लिखा था उद्धृत किया है। उसमें उसने लिखा है कि Yap Island में इसी प्रकार की वस्तुओं (कौड़ी आदि) का द्रव्य के रूप में प्रयोग किया जाता है। उस पत्र के लेखक के शब्दों में, "So

retrograde are these islanders that even the Japanese Government, under whose mandate Yap passed at the termination of W. W. I., has failed, inspite of admirable and preserving effort, to raise to any appreciable degree their social status." पाकिस्तान में भी North West Frontier में बन्दूक द्रव्य के रूप में काम आती है। भारत के गांवों में अभी तक अन्न द्रव्य के रूप में प्रयुक्त होता है।

(१) धातु द्रव्य (Metallic Money)—परन्तु शीघ्र ही मनुष्य को वस्तु द्रव्य के द्वारा विनिमय करने में कठिनाइयाँ सामने आने लगी। इनको इकट्ठा करके रखना कठिन था। इसके अतिरिक्त, इनकी पूर्ति में भी अधिक परिवर्तन होने के कारण द्रव्य के मूल्य में भी बहुत परिवर्तन होता रहता था। इनको एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में भी बहुत असुविधा थी। इन सब कारणों से धीरे-धीरे बहुमूल्य धातुओं का प्रयोग द्रव्य के रूप में किया गया। इन धातुओं में सोना, चाँदी ऐसी मुख्य धातुएँ रही जिनका प्रयोग द्रव्य के रूप में किया गया। क्राउथर ने सोने व चाँदी की धातु की उच्चता के कारणों को बताते हुए लिखा है, "They are easily handed and stored, they do not deteriorate, they have just about the right degree of scarcity and they can be relied upon neither to increase nor to diminish, in quantity except gradually."[2] तांबा और लोहा भी द्रव्य के रूप में प्रयोग किया गया; परन्तु कम मूल्य के सिक्कों के लिये। प्रारम्भ में सोने और चाँदी के धातु के टुकड़ों का द्रव्य के रूप में प्रयोग में लाया जाता था। भारतीयों, मिश्रियों व Assyrians ने इस धातु को द्रव्य के रूप में इस प्रकार प्रयुक्त किया। इससे बहुत असुविधा होती थी क्योंकि सब टुकड़ों का वजन समान नहीं होता था और इसलिए प्रत्येक बार विनिमय करते समय उनका वजन करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त उनकी जांच में गलती की सम्भावना भी रहती थी।

इस दोष को दूर करने के लिए सरकार ने इनका वजन निश्चित करके इन पर अपनी मोहर लगा दी। इस प्रकार मुद्रा टकन का प्रारम्भ हुआ और विकास होते-होते अब यह आधुनिक अवस्था तक पहुँच गया जहाँ सब सिक्के एक समान व एक वजन के होते हैं और उनको निकृष्ट करने की सम्भावना नहीं रहती।

(२) कागजी द्रव्य (Paper Money)—धीरे-धीरे धातु-द्रव्य के साथ-साथ कागजी-द्रव्य का भी प्रयोग होने लगा। क्राउथर (Crowther) ने पत्र-मुद्रा के विकास के इतिहास को चार अवस्थाओं में विभाजित किया है। पहली अवस्था में पत्र-मुद्रा धात्विक मुद्रा का केवल प्रतिनिधित्व करती थी। अपने धन की सुरक्षा के लिए लोग इस धन को प्रतिष्ठित सौदागरों के पास जमा कर दिया करते थे। सौदागर उनको एक रसीद दे दिया करते थे जिस पर लिखा रहता था कि इस

2. Crowther, G—An Outline of Money, page 8.

व्यक्ति का इतना रुपया जमा है। इस रसीद के दिखाने पर सौदागर से रुपया मिल जाता था।

धीरे-धीरे इन रसीदों का प्रयोग चलन में होने लगा और लोग इनको द्रव्य के रूप में प्रयोग करने लगे। सौदागरों ने रसीदों पर नाम लिखना छोड़ दिया और 'वाहक' (Bearer) शब्द लिखा जाने लगा अर्थात् जो व्यक्ति भी रसीद को लेकर आता है उसको ही इसका द्रव्य दे दिया जाय। इस प्रकार यह बैंक नोटों का कार्य करने लगे तथा द्रव्य की तरह इनका प्रयोग होने लगा। पत्र-द्रव्य के विकास की यह **दूसरी अवस्था** थी।

तीसरी अवस्था वह थी जब सरकार द्वारा बैंकों को जनता द्वारा जमा की हुई रकम से अधिक के भी नोट जारी करने का अधिकार दे दिया; क्योंकि इस बात का धीरे-धीरे अनुभव होने लगा कि सभी लोग एकदम अपना जमा किया हुआ द्रव्य मांगने नही आते बल्कि कुछ लोग ही द्रव्य की मांग करते हैं और बाकी लोग बैंक में द्रव्य जमा रहने देते हैं तथा उनकी रसीदों को ही द्रव्य के रूप में काम में लाते रहते हैं। इसीलिए बैंकों ने नकद जमा किये हुए द्रव्य के मूल्य से अधिक पत्र-मुद्रा का प्रचलन प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार बैंकों ने अपनी जमा से कई गुने अधिक नोट चलाने प्रारम्भ किये।

पत्र-मुद्रा के विकास की **चौथी अवस्था** वह है जबकि नोटों के जारी करने का अधिकार सब बैंकों से लेकर केन्द्रीय बैंक को दे दिया गया या सरकार स्वयं नोटों को छापने का कार्य करने लगी। यह इस कारण हुआ क्योंकि बैंकों ने नोट छापने के अधिकार का दुरुपयोग प्रारम्भ कर दिया। वे जमा से बहुत अधिक नोट छाप देते थे तथा जब लोग अपना धन वापस मांगने आते थे तो उनके पास इतना धन नहीं होता था कि वे उनकी आवश्यकता की पूर्ति कर सकें। इसके अतिरिक्त नोटों में एकरूपता का होना भी आवश्यक था जो उस समय ही आ सकती थी जब नोट छापने पर सरकार या किसी विशिष्ट संस्था का एकाधिकार हो।

इसके अतिरिक्त नोट अब केवल कागज का एक टुकड़ा ही नहीं है बल्कि सर्वमान्य अपरिमित कानूनी ग्राह्य है और सरकार या केन्द्रीय बैंक उसको प्रामाणिक सिक्कों में मांग करने पर परिवर्तन करती है। प्रथम महायुद्ध तक तो केन्द्रीय बैंक नोटों के बदले में धात्विक मुद्रा देते थे परन्तु अब नोटों के बदले में धात्विक मुद्रा नहीं दी जाती।

(४) साख द्रव्य (Credit Money)—सभ्यता व आर्थिक विकास साथ-साथ साख द्रव्य का भी उपयोग होने लगा। चैक, हुण्डी आदि विभिन्न प्रकार के साख-पत्र आधुनिक युग में द्रव्य का कार्य करते हैं और इनको हम साख द्रव्य का नाम दे सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन अधिकांश रूप से साख द्रव्य द्वारा होता है और देश के आन्तरिक व्यापार में धातु या कागज की अपेक्षा चैक व हुण्डी आदि

साख-पत्रों का अधिक उपयोग होता है। अमेरिका, इंगलैंड आदि देशों में साख द्रव्य का प्रयोग साधारण मुद्रा की अपेक्षा अधिक होने लगा है।

इस प्रकार द्रव्य का विकास धीरे-धीरे हुआ। प्रारम्भ में कोई द्रव्य नहीं था। वस्तु विनिमय की कठिनाइयों से तंग आकर मनुष्य ने वस्तु द्रव्य को काम में लाना प्रारम्भ किया। वस्तु द्रव्य से धातु द्रव्य, धातु द्रव्य से कागजी द्रव्य तथा कागजी द्रव्य से साख द्रव्य का विकास हुआ। अतः इस प्रकार द्रव्य का विकास हुआ है। 'इसको ढूँढा गया है इसका आविष्कार नहीं किया गया है' ('Money was discovered and not invented')।

☆

Q. 3 Write a critical essay on the definition of money. Is it essential for us to give a definition of money?

(1) द्रव्य का अर्थ व परिभाषाएँ।
(2) परिभाषाओं के तीन वर्ग :
(a) सर्वग्रहणीयता परिभाषाएँ,
(b) वैधानिक परिभाषाएँ;
(c) वर्णनात्मक परिभाषाएँ
(3) परिभाषा की उपयुक्तता के सम्बन्ध में मतभेद।

आधुनिक जीवन में द्रव्य का बहुत अधिक महत्व है क्योंकि द्रव्य ही एक ऐसा माध्यम व मापदंड है जिससे प्रत्येक वस्तु का विनिमय किया जाता है और प्रत्येक वस्तु की विनिमय शक्ति को मापा जाता है। उद्योग व व्यापार भी द्रव्य के कारण सुविधाजनक बनता है। फिर भी हम द्रव्य की परिभाषा को स्पष्ट शब्दों में नहीं दे सकते। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति द्रव्य के अर्थ को समझता है परन्तु वह इसको शब्दों द्वारा व्यक्त करने में अपने आप को असमर्थ पाता है। उसकी अवस्था उस गूंगे व्यक्ति के समान होती है जो किसी फल के स्वाद को अन्दर ही अन्दर प्रतीत करता है और उसकी अभिव्यक्ति नहीं कर पाता। क्राउथर ने एक ऐसे मनुष्य का संस्मरण दिया है 'जो हाथी क्या है ?' इसका उत्तर नहीं दे सका। उन्हीं के शब्दों में, "It is reminiscent of the man who was asked to define an elephant, and could only reply that he would know one when he saw one."[1] इसी प्रकार सभी व्यक्ति यह जानते हैं कि द्रव्य क्या होता है लेकिन कुछ ही व्यक्ति एकदम द्रव्य की परिभाषा कर सकते हैं।

'द्रव्य' शब्द का अर्थ (Meaning of the word 'Money') :—

द्रव्य शब्द का अंग्रेजी पर्यायवाची Money है। Money शब्द लैटिन के 'Moneta' शब्द से बना है। Moneta देवी जूनो (Goddess Juno) का प्रारम्भ का नाम है। इटली में इस देवी को स्वर्ग की देवी माना जाता था और इसके मन्दिर

1. Crowther., An Outline of Money, page 13.

में द्रव्य के बनाने का कार्य किया जाता था। इस लिये देवी जूनों के मन्दिर की टकसाल में जो मुद्रा बनाई जाती थी उसका नाम भी Moneta रक्खा गया जिसको बाद में Money कहा गया। कुछ लेखक Money शब्द को लैटिन भाषा के Pecunia शब्द से उत्पन्न मानते हैं। Pecunia शब्द Pecus शब्द से बना है जिसका अर्थ है पशु-सम्पत्ति। रोम में पशुओं का द्रव्य के रूप में अधिक प्रयोग होने के कारण द्रव्य और पशु का एक ही अर्थ लगाया गया। अतः Money शब्द के मूल के सम्बन्ध में काफी मतभेद है।

द्रव्य की परिभाषा
(Definition of Money)

द्रव्य की परिभाषा के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों में एकमतता की कमी है क्योंकि अलग-अलग अर्थशास्त्रियों ने द्रव्य की परिभाषा अपने विचारों व दृष्टिकोण के अनुसार दी है। Barbara Wootten का यह कथन कि "जहाँ कहीं भी छः अर्थशास्त्री एकत्रित होते हैं तो वे सात मत देते हैं।" ("Wherever six economists are gathered there are seven opinions.") यहाँ पर भी पूर्णतया ठीक उतरता है। Kent के अनुसार, "Though money is much in our thoughts and though it conditions our actions, we encounter great difficulty in attempting to state precisely what it is."

द्रव्य के सम्बन्ध में जो परिभाषाएँ विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने दी हैं उनको हम तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। पहला वर्ग 'सर्वग्रहणीयता परिभाषाओं' (General Acceptability Definitions) का है जो प्रत्येक उस वस्तु को द्रव्य मानता है जो समाज के व्यक्तियों के द्वारा सामान्यतः विनिमय-माध्यम के रूप में स्वीकार कर ली जाय। दूसरा वर्ग 'वर्णनात्मक परिभाषाओं' (Descripitve Definitions) का है जो द्रव्य के कार्यों का वर्णन करता है और तीसरा वर्ग 'वैधानिक परिभाषाओं' (Legal Definitions) का है जो केवल उस वस्तु को द्रव्य मानता है जो राज्य द्वारा निर्धारित किया जाय।

सर्वग्रहणीयता परिभाषाएँ
(Acceptability Definitions)

ये परिभाषाएँ द्रव्य के एक गुण 'सर्वग्रहणीयता' पर आधारित हैं जिसके अनुसार द्रव्य इस प्रकार की वस्तु होनी चाहिये जिसको प्रत्येक व्यक्ति विनिमय के माध्यम के रूप में स्वीकार कर ले। क्राउथर ने इस बात को महत्व देते हुए कहा है: "केवल सामान्य स्वीकृति ही मुख्य आवश्यकता है।" इस वर्ग में वाकर (Walker), रोबर्टसन (Robertson), कोल (Cole), ऐली (Ely), केन्ट (Kent), सेलिगमन (Seligman), किनले (Kinley), हाम (Halm) व वाग् (Waugh) आदि की परिभाषाएँ सम्मिलित हैं।

द्रव्य की परिभाषा करते हुए केन्ट ने लिखा है, "द्रव्य वह वस्तु है जो साधारणतया विनिमय के माध्यम और मूल्य के मापदण्ड का कार्य करे और जिसको ऋण के भुगतान में सब लोग स्वीकार करते हो।"[2]

इसी परिभाषा को रोबर्ट्सन ने इस प्रकार लिखा है, "द्रव्य ऐसी वस्तु का द्योतक है जो माल के बदले में या अन्य प्रकार के व्यापारिक ऋण आदि के दायित्व के भुगतान में सर्वत्र स्वीकार किया जाता है।"[3]

इस प्रकार रोबर्टसन के अनुसार जो भी वस्तु समाज में सामान्य रूप से स्वीकृत होती है द्रव्य का रूप धारण कर लेती है। कोई भी वस्तु यदि भारत में सामान्य रूप से स्वीकृत हो जाय तो उसको द्रव्य कहने लगेंगे और यदि लोग रुपये को स्वीकार करना बन्द कर दें तो वह द्रव्य नहीं रहेगा। इस सम्बन्ध में रोबर्टसन का यह उद्धरण अवलोकनीय है :—

"If things which are indeed to be money–the notes of certain Government, for instance–cease to be widely accepted in discharge of obligations, they cease to function as money, and from the point of view of the student at any rate, to be money. On the other hand, if things which have note been hitherto considered as money, such as tobacco or cattle or tins of bully-heaps, become widely accepted in discharge of obligations, they become in our present sense, money." सेलिगमन भी इसी विचारधारा के अर्थशास्त्री है जबकि वह कहते हैं, "मुद्रा वह वस्तु है जिसे सर्वग्रहणयता प्राप्त हो।"[4]

मार्शल के अनुसार, "द्रव्य उन सभी वस्तुओं को कहते है, (जो किसी समय या स्थान पर) बिना सन्देह अथवा विशेष जाच के वस्तुओं और सेवाओं के खरीदने तथा व्यय चुकाने के साधन के रूप में सामान्य रूप से ग्रहण की जाती है।"[5]

2. "Money is anything which is commonly used and generally accepted as medium of exchane or as a standard of value." Kent, Money & Banking, p. 3.

3. "Money is anything which is widely accepted in payments of goods or in discharge of other kinds of business obligations" Robertson. Money. page. 2.

4. "Money is onething that possess general acceptability." Seligman.

5. "An those things which are (at any time and place) generally current without doubt or special enquiry as a means of purchasing commodities and servies and of defraying expenses are included in the definition of money". —Marshall, Money. Credit and Commerce. page 13.

वाकर ने भी इसी प्रकार द्रव्य की परिभाषा की है और लिखा है, "द्रव्य वह है जो वस्तुओं के पूर्ण रूप से मूल्य चुकाने और ऋणों का अन्तिम भुगतान करने में स्वतन्त्रतापूर्वक हस्तांतरित होती रहती है, जो भुगतान करने वाले व्यक्ति के चरित्र अथवा उसकी साख का पता लगाये बिना ही स्वीकार कर ली जाती है और जो व्यक्ति इसे प्राप्त करता है उसका ऐसा इरादा नहीं होता कि वह इसका स्वयं उपभोग अथवा उपयोग करेगा वरन् वह किसी न किसी समय उसे विनिमय द्वारा हस्तांतरित कर देता है।"[6]

इस वर्ग के अन्य अर्थशास्त्रियों की परिभाषा इस प्रकार है।

क्राउथर—"कोई वस्तु जो विनिमय के साधन के रूप में सामान्य सर्वग्राह्य हो तथा उसी समय मूल्य-मापन एवं मूल्य-संचय का कार्य करती हो, द्रव्य है।"[7]

ऐली—"द्रव्य ऐसी कोई भी वस्तु है जिसका विनिमय के माध्यम के रूप में स्वतन्त्रतापूर्वक हस्तान्तरण होता है और जो सामान्य रूप से ऋणों के अन्तिम भुगतान में स्वीकार होती हो।"[8]

फोन्स—"द्रव्य वह है जिसको देकर ऋण समझौतों तथा मूल्य समझौतों का भुगतान किया जाता है और जिसके रूप में सामान्य क्रय-शक्ति का संचय किया जाता है।"[9]

कोल—"द्रव्य केवल क्रय-शक्ति है अर्थात् ऐसी वस्तु है जिससे अन्य वस्तुयें खरीदी जा सकती हैं। यह एक ऐसी वस्तु है जो साधारणतः तथा विस्तृत रूप में शोधन के साधन के रूप में उपयोग की जाती है और साधारणतः ऋणों के भुगतान में स्वीकार की जाती है।"[10]

---

6. "Money is that which passes freely from hand to hand in full payment of goods, in final discharge of indebtedness, being accepted equally without reference to the character or credit of person tendering it, and without any intenion on the part of the person receiving it himself to consume or otherwise use it them by passing it on, sooner or leter, in exchange." Walker.

वाग—"द्रव्य में उन वस्तुओं का समावेश किया जाता है जो किसी समाज में सामान्य स्वीकृति से एक विनिमय-माध्यम के रूप में इस हाथ से उस हाथ हस्तान्तरित होती रहती हैं......किन्तु कोई वस्तु ऐसी नहीं होती, जो कि सभी स्थानों पर स्वीकार की जाती हो और इस अर्थ में द्रव्य सदा स्थानीय होती है अर्थात् कुछ स्थानों में वह द्रव्य है और कुछ स्थानों में स्वीकार नहीं की जाती।"[11]

हाम—"द्रव्य शब्द का प्रयोग विनिमय के माध्यम तथा मूल्य के मान दोनों को ही सूचित करने के लिए किया जाता है।"[12]

इस वर्ग के अर्थशास्त्रियों के अनुसार साख-पत्र जैसे चैक, विनिमय पत्र, ड्राफ्ट आदि द्रव्य नहीं हो सकते क्योंकि वे विनिमय के माध्यम के रूप में सामान्यतः स्वीकृत नहीं किये जाते। इन साख-पत्रों को कोई व्यक्ति तभी स्वीकार करता है जबकि वह भुगतान करने वाले से परिचित हो तथा उसकी ईमानदारी में विश्वास रखता हो। कोई भी व्यक्ति अनजान व्यक्ति का अथवा रास्ते चलते मनुष्य का साख-पत्र स्वीकार नहीं कर लेता क्योंकि हो सकता कि उसके बदले उसको मूल्य न मिले। इसलिये द्रव्य वही है जिसको प्रत्येक व्यक्ति बिना किसी हिचकिचाहट के स्वीकार कर ले।

वैधानिक परिभाषायें (Legal Definitions)

दूसरा वर्ग उन अर्थशास्त्रियों का है जो यह मानता है कि केवल वही वस्तु द्रव्य हो सकती है जो राज्य के द्वारा द्रव्य घोषित कर दी गई हो और जिसके स्वीकार न करने पर राज्य की ओर से दंड दिया जाय। ये परिभाषायें द्रव्य के राज्य सिद्धान्त (State Theory of Money) पर आधारित है जिसके अनुसार द्रव्य केवल वही वस्तु हो सकती है जो राज्य की ओर से ऋण चुकाने का साधन घोषित कर दी जाती है। नैप (Knepp) व हाट्रे (Hawtrey) इस दृष्टिकोण से ही द्रव्य की परिभाषा करते हैं।

यह परिभाषायें सैद्धान्तिक व व्यावहारिक दोनों ही दृष्टिकोण से ठीक नहीं है। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से इसलिये ठीक नहीं हैं क्योंकि विनिमय के सिद्धान्त के अनुसार विनिमय स्वतन्त्र (Free) व ऐच्छिक (Voluntary) होता है। और यदि हम वैधानिक परिभाषा को स्वीकार कर लें तो विनिमय न तो स्वतन्त्र रहता है और न

11. "Money consists of those things within a country, are of general acceptability, passing from hand to hand as a medium of exchange......No commodity is however, acceptable and in this sence money is always local, it is money in some places and in other places it is not acceptable." Waugh.

12. "The word money has been used to designate the medium of exchange as well as the standard of value". Halm. Monetary Theory, page 3.

ऐच्छिक। व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी इसमें कमी है। द्रव्य केवल तभी तक द्रव्य का कार्य करता है जब तक कि जनता का उसमें विश्वास है। विश्वास समाप्त हो जाने पर राज्य के कड़े से कड़े कानून भी द्रव्य को सर्वग्राह्य नहीं बना सकते। जर्मनी में प्रथम महायुद्ध के बाद के भीषण मुद्रा-प्रसार में जनता का विश्वास मुद्रा से हट गया और उसका प्रयोग लगभग बंद हो गया। मृत्यु दंड का डर भी उसको सर्वग्राह्यता प्रदान न सका।

इन दोषों के कारण ही हाट्रे ने अपनी परिभाषा में परिवर्तन करके द्रव्य को कानूनी ग्राह्य (Legal Tender) के साथ-साथ हिसाब की इकाई (Unit of Account) भी माना है।

वर्णनात्मक परिभाषायें (Descriptive Definitions)

तीसरे वर्ग के अर्थशास्त्री द्रव्य की परिभाषा को इसके कार्य पर आधारित करते हैं। जैसा कि हार्टले विदर्स (Hartley Withers) ने कहा है, "द्रव्य वह है जो द्रव्य के कार्य करे।"[13] इस प्रकार से द्रव्य को जो भी कार्य करने चाहियें, यदि वह सब कार्य कोई पदार्थ करने लगता है तो उसको हम द्रव्य कहने लगते हैं। यदि सोने का सिक्का यह काम नहीं कर सकता तो वह द्रव्य कहलाने का अधिकारी नहीं है और यदि कागज का नोट यह कार्य कर सकता है तो उसको हम द्रव्य कहेंगे। अतः विदर्स के अनुसार जो भी वस्तु विनिमय का माध्यम, विनिमय-शक्ति का माप, विनिमय-शक्ति का संचय तथा पूर्व ऋण की अदायगी का कार्य सम्पन्न करे द्रव्य कही जा सकती है। टामस (Thomas) व सिजविक (Sidgewick) भी इसी मत के मानने वाले हैं और आधुनिक अमेरिकन व अंग्रेज अर्थशास्त्री भी इसी परिभाषा का समर्थन करते हैं।

इस वर्ग की परिभाषाओं के अन्तर्गत केवल धातु के सिक्के एवं कागज के नोट ही सम्मिलित नहीं होते बल्कि बैंक नोट व साख-पत्र भी द्रव्य की परिभाषा में आ जाते हैं क्योंकि वे भी वह सब कार्य करते हैं जो धातु के सिक्के व कागज के नोट।

यद्यपि इस वर्ग की परिभाषायें बहुत सरल, सूक्ष्म और सारगर्भित हैं परन्तु फिर भी सैद्धान्तिक व तार्किक दृष्टिकोण से ठीक नहीं हैं। यह केवल द्रव्य के कार्यों का ही वर्णन है जबकि परिभाषा में उस वस्तु के वर्ग (Genus) व विशेषक-अन्तर (Differentia) का उल्लेख होना चाहिये।

इन सब परिभाषाओं से स्पष्ट है कि यद्यपि विभिन्न अर्थशास्त्रियों की परिभाषा के शब्द अलग-अलग हैं परन्तु फिर भी उनकी मुख्य भावना लगभग समान है। सभी अर्थशास्त्री इस बात को मानते हैं कि द्रव्य में सामान्य स्वीकृति का गुण

---

13. "Money is what money does." Hartley Withers, The Meaning of Money.

होना चाहिए तथा उसका प्रयोग विनिमय के माध्यम के रूप में होना चाहिए। जब किसी पदार्थ में यह दोनों गुण वर्तमान होते है तो वह द्रव्य के अन्य कार्य स्वयं ही करने लगता है क्योंकि द्रव्य के अन्य कार्य इसी गुण व इसी कार्य से सम्बन्धित हैं। परन्तु यहाँ पर एक बात महत्वपूर्ण है कि सामान्य स्वीकृति का अर्थ केवल एक देश की सामान्य स्वीकृति से होता है क्योंकि जैसा कि वाघ (Waugh) ने कहा है, "कोई भी वस्तु ऐसी नहीं होती है जो सभी स्थानो पर स्वीकार की जाती हो और इस अर्थ में मुद्रा सदैव स्थानीय होती है। कुछ स्थानो पर यह द्रव्य होती है और अन्य स्थानो पर इसको स्वीकार नही किया जाता"?[1] अमेरिका के लोग भारत के रुपये को स्वीकार नहीं करते और भारत के निवासी रूस के रूबल को। अतः सामान्य स्वीकृति का संकुचित अर्थ लगाना ही अच्छा होगा।

अन्त में परिभाषा के वाद विवाद का अन्त कालबोर्न (Coulborn) की परिभाषा देकर किया जा सकता है जो सब में अच्छी है क्योंकि यह द्रव्य के वर्ग व विशेषक-अन्तर को स्पष्ट करती है। उसके अनुसार, "द्रव्य की परिभाषा मूल्याकन व भुगतान के साधन के रूप में की जा सकती है; हिसाब की इकाई व सामान्य स्वीकृत विनिमय के माध्यम दोनों के रूप में" ?

क्या परिभाषा का देना आवश्यक है ? (Is it essential for us to give a definition ?)

द्रव्य की परिभाषाओं की विभिन्नता व अधिकता के कारण कीन्स की अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में उक्ति, कि इस विज्ञान ने परिभाषाओ मे अपना गला घोट डाला है, द्रव्य पर भी पूर्णतया लागू होती है। इसलिये यह प्रश्न बहुत समय अर्थशास्त्रियों के सम्मुख आता है कि क्या द्रव्य की परिभाषा का देना और इसको ठीक सिद्ध करना आवश्यक है। बहुत से अर्थशास्त्री इसी मत के हैं और वे यह मानते हैं कि परिभाषा का देना आवश्यक नही है। क्योंकि यह सिद्ध करना कि कौन सी परिभाषा ठीक है और कौन सी गलत सरल नही है। प्रो० पीगू इसी मत के है। वे लिखते हैं, "It would be idle to claim that this reasonable plausible definition is right and that wrong. Often indeed it may be impossible to decide even, that this is more convenient than that, for the one may be more convenient for some purposes, the other for othes."

---

1. "No Commodity is, however acceptable everyw
this sense money is always local it

ऐच्छिक। व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी इसमें कमी है। द्रव्य केवल तभी तक द्रव्य का कार्य करता है जब तक कि जनता का उसमें विश्वास है। विश्वास समाप्त हो जाने पर राज्य के कड़े से कड़े कानून भी द्रव्य को सर्वग्राह्य नहीं बना सकते। जर्मनी में प्रथम महायुद्ध के बाद के भीषण मुद्रा-प्रसार में जनता का विश्वास मुद्रा से हट गया और उसका प्रयोग लगभग बंद हो गया। मृत्यु दंड का डर भी उसको सर्वग्राह्यता प्रदान न सका।

इन दोषों के कारण ही हार्ट्रे ने अपनी परिभाषा में परिवर्तन करके द्रव्य को कानूनी ग्राह्य (Legal Tender) के साथ-साथ हिसाब की इकाई (Unit of Account) भी माना है।

वर्णनात्मक परिभाषायें (Descriptive Definitions)

तीसरे वर्ग के अर्थशास्त्री द्रव्य की परिभाषा को इसके कार्य पर आधारित करते हैं। जैसा कि हार्टले विदर्स (Hartley Withers) ने कहा है, "द्रव्य वह है जो द्रव्य के कार्य करे।"[13] इस प्रकार से द्रव्य को जो भी कार्य करने चाहियें, यदि वह सब कार्य कोई पदार्थ करने लगता है तो उसको हम द्रव्य कहने लगते हैं। यदि सोने का सिक्का यह काम नहीं कर सकता तो वह द्रव्य कहलाने का अधिकारी नहीं है और यदि कागज का नोट यह कार्य कर सकता है तो उसको हम द्रव्य कहेंगे। अतः विदर्स के अनुसार जो भी वस्तु विनिमय का माध्यम, विनिमय-शक्ति का माप, विनिमय-शक्ति का संचय तथा पूर्व ऋण की अदायगी का कार्य सम्पन्न करे द्रव्य कही जा सकती है। टामस (Thomas) व सिजविक (Sidgewick) भी इसी मत के मानने वाले हैं और आधुनिक अमेरिकन व अंग्रेज अर्थशास्त्री भी इसी परिभाषा का समर्थन करते हैं।

इस वर्ग की परिभाषाओं के अन्तर्गत केवल धातु के सिक्के एवं कागज के नोट ही सम्मिलित नहीं होते बल्कि बैंक नोट व साख-पत्र भी द्रव्य की परिभाषा में आ जाते हैं क्योंकि वे भी वह सब कार्य करते हैं जो धातु के सिक्के व कागज के नोट।

यद्यपि इस वर्ग की परिभाषायें बहुत सरल, सूक्ष्म और सारगर्भित हैं परन्तु फिर भी सैद्धान्तिक व तार्किक दृष्टिकोण से ठीक नहीं हैं। यह केवल द्रव्य के कार्यों का ही वर्णन है जबकि परिभाषा में उस वस्तु के वर्ग (Genus) व विशेषक-अन्तर (Differentia) का उल्लेख होना चाहिये।

इन सब परिभाषाओं से स्पष्ट है कि यद्यपि विभिन्न अर्थशास्त्रियों की परिभाषा के शब्द अलग-अलग हैं परन्तु फिर भी उनकी मुख्य भावना लगभग समान है। सभी अर्थशास्त्री इस बात को मानते हैं कि द्रव्य में सामान्य स्वीकृति का गुण

13. "Money is what money does." Hartley Withers, The Meaning of Money.

दूसरी विचारधारा वाले अर्थशास्त्री यह मानते है कि द्रव्य की परिभाषा में साख को सम्मिलित करना चाहिये क्योंकि साख पत्र वे सब कार्य करते हैं जो किसी द्रव्य द्वारा किये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त साख-पत्रों का इतना अधिक प्रयोग उद्योग, व्यापार तथा विनिमय में होने लगा है कि द्रव्य पृष्ठ-भूमि मे चला गया है और यही वास्तविक द्रव्य बन गया है। यह भी कहा जाता है कि द्रव्य का क्षेत्र सीमित है परन्तु साख-पत्रों का क्षेत्र राष्ट्र की सीमाओं के परे है। प्रो० लेहफील्डट (Prof. Lehfieldt) के अनुसार, "Money now a days in advance countries means bank deposits. Metallic and paper money play a diminishing role." इसी विचार को श्री मैकेन्ना (Makenna) ने इन शब्दों में रक्खा है, "Money in the main consists of balance at the bank, and the notes and coins perform only a secondary function in the whole machinery of exchange."

इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि सब साख व साख-पत्र द्रव्य नही हैं। बैंक में जमा धन प्रत्येक समय नही निकला जा सकता परन्तु जिस धन को किसी भी समय निकाला जा सकता है उसको द्रव्य कह सकते हैं जैसे चालू खाता। इसके अतिरिक्त साख पत्रों का द्रव्य होना देश के आर्थिक विकास की अवस्था पर निर्भर करता है। यदि अधिकतर व्यक्ति साख-पत्रों को स्वीकार कर लेते है तथा अधिकांश व्यापार इन्ही के द्वारा होता है तो वे भी द्रव्य कहलाने के अधिकारी हैं।

✢

Q. 5 Define money. How will you classify the money?

[द्रव्य की परिभाषा के लिये प्रश्न ३ के उत्तर को देखें]

(१) द्रव्य की परिभाषा।
(२) द्रव्य का वर्गीकरण :
(a) वास्तविक मुद्रा व हिसाब की मुद्रा :
(b) विधिग्राह्य मुद्रा व ऐच्छिक

आधुनिक जीवन में द्रव्य का विशेष महत्व है क्योंकि द्रव्य ही एक ऐसा मापदण्ड व माध्यम है जिसमें प्रत्येक वस्तु की विनिमय शक्ति को मापा जाता है और जिससे प्रत्येक वस्तु का विनिमय किया जाता है। द्रव्य का प्रारम्भ आधुनिक काल में ही नहीं हुआ बल्कि प्रारम्भ से ही यह समाज में प्रचलित रहा है। समय के साथ-साथ इसके रूप में परिवर्तन होता रहा है और आज भी - -

विधिग्राह्य मुद्रा तथा ऐच्छिक मुद्रा :
Legal Tender Money and Optional Money :

विधिग्राह्य मुद्रा देश की वैधानिक मुद्रा होती है जिसको स्वीकार करना प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक होता है। कोई भी व्यक्ति इस द्रव्य को स्वीकार करने से मना नहीं कर सकता। विधिग्राह्य मुद्रा दो प्रकार की होती है : असीमित विधिग्राह्य मुद्रा (Unlimited Legal Tender Money) तथा सीमित विधिग्राह्य मुद्रा (Limited Legal Tender Money)।

असीमित विधिग्राह्य मुद्रा देश की प्रमुख मुद्रा होती है जो भुगतान में असीमित मात्रा मे स्वीकार की जाती है। भारत मे रुपया इसका उदाहरण है। सीमित विधिग्राह्य मुद्रा गौण मुद्रा होती है और इसका कार्य विनियम मे असीमित विधिग्राह्य मुद्रा की सहायता देना होता है। इसका प्रयोग छोटे भुगतानो के लिये किया जाता है। इसके अनिवार्य स्वीकृति की सीमा सरकार द्वारा निश्चित कर दी जाती है और इस सीमा से अधिक भुगतान स्वीकार करने के लिये किसी को बाध्य नही किया जा सकता। इस सीमा से अधिक भुगतान स्वीकार करना लेने वाले की इच्छा पर निर्भर होता है। भारत मे १, २, ३, ५, १० व २५ पैसे के सिक्के इस श्रेणी की मुद्रा है।

ऐच्छिक मुद्रा के पीछे किसी प्रकार की वैधानिक शक्ति नहीं होती और इसको स्वीकार करना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करता है। इस प्रकार की मुद्रा मे सामान्य स्वीकृति (general acceptability) का अभाव होता है। साख पत्रों को इस श्रेणी मे रखा जाता है। चैक, हुण्डी, विनियम-पत्र (Bill of Exchane), ड्राफ्ट, वचन पत्र (Promissory note) आदि ऐच्छिक मुद्रा के उदाहरण है। ऐच्छिक मुद्रा को बैंक मुद्रा (Bank money) या साख द्रव्य, (Credit money) भी कहते है।

वस्तु मुद्रा, धातु मुद्रा तथा कागजी मुद्रा :
Commodity Money; Metallic Money and Paper Money :

वस्तु मुद्रा का प्रयोग आर्थिक विकास के प्रारम्भ में किया गया जबकि विभिन्न प्रकार की वस्तुओ का प्रयोग द्रव्य के रूप मे किया जाता था। पशु, पत्थर, खाल, तीर, अनाज, तम्बाकू, धातु आदि इस श्रेणी मे आते हैं। आजकल इसका सीमित प्रयोग होता है जो केवल पिछड़े हुए देशों तक ही सीमित है।

धातु मुद्रा मे धातुओं जैसे सोना, चांदी, तांबे आदि को मुद्रा के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। इन धातुओं से समान आकार व मूल्य के सिक्के बनाये जाते हैं जिनका प्रयोग विनिमय के लिये किया ज
होते हैं।

वास्तविक मुद्रा व हिसाब की मुद्रा :
Real Money and Money of Account.

द्रव्य का यह वर्गीकरण बहुत महत्वपूर्ण है जिसका वर्णन लार्ड कीन्स ने अपनी पुस्तक A Treatise of Money में किया है। कीन्स के अनुसार वास्तविक मुद्रा वह मुद्रा होती है जिसका वास्तविक प्रचलन देश में होता है और जिसमें एक दूसरे का भुगतान किया जाता है। कीन्स ने इसको मुख्य मुद्रा (Proper Money) कहा है। सैलिगमैन (Seligman) ने इसे वास्तविक मुद्रा कहा है और बैनहम (Benham) ने इसे चलन की इकाई (unit of currency) कहा है।

हिसाब की मुद्रा वह मुद्रा होती है जिसका प्रयोग देश में हिसाब-किताब रखने के लिये होता है। कीन्स के अनुसार "हिसाब की मुद्रा वह मुद्रा है जिसके रूप में ऋण, वस्तुओं का मूल्य और सामान्य क्रय-शक्ति व्यक्त की जाती है।"[1] सैलिगमैन ने इसे आदर्श मुद्रा (Ideal Money) और बैनहम ने इसे हिसाब की इकाई (unit of account) का नाम दिया है।

वास्तविक मुद्रा तथा हिसाब की मुद्रा के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "हिसाब की मुद्रा तो वर्णन या शीर्षक है और वास्तविक मुद्रा इस वर्णन को स्पष्ट करती है है।"[2] भारत में हिसाब की मुद्रा रुपया है जो कि पिछले बहुत समय से है। वास्तविक मुद्रा भी रुपया ही है परन्तु इसके रूप व मूल्य में परिवर्तन होता रहा है। पहले चांदी का रुपया होता था जो कि अब कागज का रह गया है।

सामान्यत: हिसाब की मुद्रा और वास्तविक मुद्रा समान होती है जैसे इंगलैंड में हिसाब की मुद्रा पौंड है और वास्तविक मुद्रा भी पौंड है। परन्तु कभी-कभी संकट काल व असाधारण परिस्थितियों में ये दोनों एक नहीं रहती। इस प्रकार की स्थिति प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी में उत्पन्न हो गई थी। वहां वास्तविक मुद्रा मार्क (Mark) थी; परन्तु इसके मूल्य में निरन्तर परिवर्तन होता रहता था जिसके कारण लोग मार्क में हिसाब किताब रखना नहीं चाहते थे। इसलिये हिसाब किताब अमेरिकन डालर या फ्रैंच फ्रैंक (Franc) में रखा जाता था जबकि लोग भुगतान मार्क में करते थे। इसी प्रकार अमेरिका में १९३३ तक हिसाब की मुद्रा स्वर्ण डालर थी परन्तु भुगतान की मुद्रा कागज के नोट, ताँबे तथा गिलट के सिक्के ही थे। द्वितीय महायुद्ध काल में ग्रीस में भी वास्तविक मुद्रा ड्राचमा (Drachma) थी जबकि हिसाब की मुद्रा पाउन्ड स्टीलिंग थी।

इस प्रकार यद्यपि वास्तविक मुद्रा तथा हिसाब की मुद्रा अलग-अलग हो सकती है परन्तु यह स्थिति केवल अस्थायी होती है। संकट काल टल जाने पर वास्तविक व हिसाब की मुद्रा एक हो जाती है।

---

1. J. M. Keynes, A Treatise on Money. Vol to p. 3.
2 "The Money of account is description or title and the money proper is the thing which answers to this description." Ibid. p. 4.

विधिग्राह्य मुद्रा तथा ऐच्छिक मुद्रा :

Legal Tender Money and Optional Money :

विधिग्राह्य मुद्रा देश की वैधानिक मुद्रा होती है जिसको स्वीकार करना प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक होता है। कोई भी व्यक्ति इस द्रव्य को स्वीकार करने से मना नहीं कर सकता। विधिग्राह्य मुद्रा दो प्रकार की होती है : असीमित विधिग्राह्य मुद्रा (Unlimited Legal Tender Money) तथा सीमित विधिग्राह्य मुद्रा (Limited Legal Tender Money)।

असीमित विधिग्राह्य मुद्रा देश की प्रमुख मुद्रा होती है जो भुगतान में असीमित मात्रा में स्वीकार की जाती है। भारत में रुपया इसका उदाहरण है। सीमित विधिग्राह्य मुद्रा गौण मुद्रा होती है और इसका कार्य विनियम में असीमित विधिग्राह्य मुद्रा की सहायता देना होता है। इसका प्रयोग छोटे भुगतानों के लिये किया जाता है। इसके अनिवार्य स्वीकृति की सीमा सरकार द्वारा निश्चित कर दी जाती है और इस सीमा से अधिक भुगतान स्वीकार करने के लिये किसी को वाध्य नहीं किया जा सकता। इस सीमा से अधिक भुगतान स्वीकार करना लेने वाले की इच्छा पर निर्भर होता है। भारत मे १, २, ३, ५, १० व २५ पैसे के सिक्के इस श्रेणी की मुद्रा है।

ऐच्छिक मुद्रा के पीछे किसी प्रकार की वैधानिक शक्ति नहीं होती और इसको स्वीकार करना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करता है। इस प्रकार की मुद्रा मे सामान्य स्वीकृति (general acceptability) का अभाव होता है। साख पत्रो को इस श्रेणी मे रखा जाता है। चैक, हुण्डी, विनियम-पत्र (Bill of Exchane), ड्राफ्ट, वचन पत्र (Promissory note) आदि ऐच्छिक मुद्रा के उदाहरण है। ऐच्छिक मुद्रा को बैंक मुद्रा (Bank money) या साख द्रव्य, (Credit money) भी कहते हैं।

वस्तु मुद्रा, धातु मुद्रा तथा कागजी मुद्रा :

Commodity Money; Metallic Money and Paper Money :

वस्तु मुद्रा का प्रयोग आर्थिक विकास के प्रारम्भ मे किया गया जबकि विभिन्न प्रकार की वस्तुओ का प्रयोग द्रव्य के रूप मे किया जाता था। पशु, पत्थर, खाल, तीर, अनाज, तम्बाकू, धातु आदि इस श्रेणी में आते है। आजकल इसका सीमित प्रयोग होता है जो केवल पिछड़े हुए देशों तक ही सीमित है।

धातु मुद्रा मे धातुओं जैसे सोना, चाँदी, ताँबे आदि को मुद्रा के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। इन धातुओं से समान आकार व मूल्य के सिक्के बनाये जाते हैं जिनका प्रयोग विनिमय के लिये किया जाता है। ये सिक्के विधिग्राह्य होते हैं।

धातु मुद्रा दो प्रकार की होती है : प्रामाणिक मुद्रा (Standard money) तथा सांकेतिक मुद्रा (Token Money)। प्रामाणिक मुद्रा देश की प्रमुख व पूर्णकाय

मुद्रा होती है। प्रमुख मुद्रा का अर्थ है कि यह मुद्रा हिसाब की इकाई (unit of account) होती है। पूर्णकाय मुद्रा का अर्थ है कि प्रामाणिक मुद्रा का अंकित मूल्य (Face Value) और आन्तरिक मूल्य (Intrinsic Value) बराबर होता है अर्थात् इस द्रव्य में प्रयुक्त धातु के मूल्य के बराबर ही इस सिक्के का मूल्य होता है। इस सिक्के को गला कर उसकी धातु को बेचने में कोई लाभ या हानि नहीं होती। प्रामाणिक मुद्रा असीमित विधिग्राह्य होती है और इसका स्वतन्त्र टंकन (free coinage) होता है। कोई भी व्यक्ति धातु टकसाल के पास ले जाकर सिक्कों में बदलवा सकता है।

सांकेतिक मुद्रा देश की गौण मुद्रा होती है जिसका प्रयोग छोटे-छोटे भुगतानों के लिये किया जाता है। यह मुद्रा पूर्णकाय मुद्रा नहीं होती। इसका आन्तरिक मूल्य अंकित मूल्य से कम होता है। सांकेतिक मुद्रा का स्वतन्त्र टंकन नहीं होता तथा यह सीमित विधिग्राह्य मुद्रा होती है।

पत्र मुद्रा का प्रयोग आधुनिक काल में बहुत अधिक बढ़ गया है और अधिकांश विनिमय पत्र मुद्रा के द्वारा ही किया जाता है। पत्र मुद्रा कागज के नोट होते हैं जिनका निर्गमन सरकार या देश के केन्द्रीय बैंक के द्वारा किया जाता है। इस मुद्रा का अंकित मूल्य ही होता है; आंतरिक मूल्य तो नहीं के बराबर होता है। पत्र मुद्रा तीन प्रकार की होती है: प्रतिनिधि पत्र मुद्रा; परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा तथा अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा।

प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा (Representative Paper Money) धातु मुद्रा का प्रतिनिधित्व करती है। धातु मुद्रा की घिसावट व हानि को बचाने के लिये धातु के सिक्कों के स्थान पर कागज के नोटों का प्रयत्न किया जाता है। इन नोटों के पीछे बराबर के मूल्य की धातु रक्खी जाती है तथा इनके बदले में धातु देने का प्रबन्ध होता है। इस प्रकार के नोट आजकल चलन में नहीं हैं।

परिवर्तनशील पत्र मुद्रा (Convertable Paper Money) में नोट धातु के सिक्कों का पूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं करते। नोट निर्गमन अधिकारी (Note issuing authority) नोटों के पीछे धातु का कोष अवश्य रखता है परन्तु धातु से कोष का मूल्य नोटों के मूल्य से कम होता है। जनता को इन नोटों को धातु में बदलवाने का अधिकार होता है।

अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा (Inconvertable Paper Money) धातु में परिवर्तनशील नहीं होती। इन नोटों के बदले में सरकार धातु नहीं देती। ये नोट अपने मूल्य के आधार पर स्वीकार नहीं किये जाते बल्कि सरकारी कानून के कारण स्वीकार किये जाते हैं। आजकल अधिकांश देशों में इसी प्रकार के नोटों का प्रचलन है।

प्रादिष्ट मुद्रा

Fiat Money

प्रादिष्ट मुद्रा वह मुद्रा वह मुद्रा होती है जिसका स्वयं का कोई मूल्य नहीं होता और जो केवल सरकारी कानून के कारण स्वीकार की जाती है। इसका आन्तरिक मूल्य कुछ भी नहीं होता परन्तु अंकित मूल्य बहुत ऊंचा हो सकता है। यह मुद्रा अपरिवर्तनशील होती है। कोई भी मुद्रा प्रादिष्ट मुद्रा होती है परन्तु प्रायः अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा को ही प्रादिष्ट मुद्रा कहा जाता है। कीन्स के अनुसार "प्रादिष्ट मुद्रा प्रतिनिधि (या सांकेतिक) मुद्रा होती है (अर्थात् जिसका आन्तरिक मूल्य अंकित मूल्य से अलग होता है) जो सामान्यतः छोटे मूल्य के सिक्कों को छोड़कर कागज की होती है तथा जिसकी चलन व निकासी राज्य के द्वारा की जाती है, परन्तु जो स्वयं, कानूनन, किसी अन्य वस्तु में परिवर्तनशील नहीं होती है तथा जिसका वास्तविक रूप में कोई निश्चित मूल्य नहीं होता।"[3]

✻

Q. 6. What do you understand by Money? Point out the difference between the money and currency.

(प्रश्न के प्रथम भाग के उत्तर के लिये प्रश्न ३ के उत्तर को देखिये)

द्रव्य व मुद्रा में अन्तर (Differnce between money and credit)

साधारणतः द्रव्य व मुद्रा का प्रयोग एक ही अर्थ में किया जाता है परन्तु मौद्रिक अर्थशास्त्र (Monetary Economics) में दोनों में पर्याप्त अन्तर है। द्रव्य केवल वही कहला सकता है जो द्रव्य के कार्यों को करे और प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा विनिमय के माध्यम के रूप में स्वीकार कर लिया जाय। मुद्रा का आशय केवल उस द्रव्य से होता है जो राज्य या केन्द्रीय बैंक द्वारा चलाये गये हों और राज्य आज्ञा के कारण प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार करे। द्रव्य में कानूनी ग्राह्यता नहीं होती मुद्रा में होती है। द्रव्य का क्षेत्र मुद्रा से व्यापक है क्योंकि इसके अन्तर्गत समस्त मुद्रा आ जाती है जब कि समस्त द्रव्य मुद्रा नहीं होती।

प्रो० रीड (Reed) ने द्रव्य व मुद्रा के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "द्रव्य एक दायित्व के द्रव्यिक मूल्य को सूचित करता है, परन्तु मुद्रा इस दायित्व

---

3. "Fiat Money is representative (or token) money, (i. e., something the intrinsic value of the material substance of which is divorced from its monetary face value)—now generally made of paper except in the case of small denominations—which is created and issued by the state, but is not convertible by law into anything other than itself, and has no fixed value in terms of an objective standard." Ibid. p. 7.

के भुगतान का केवल एक साधन है। वास्तविकता यह है कि किसी देश के द्रव्य का केवल एक निश्चित भाग ही मुद्रा होती है। द्रव्य की उन सब इकाइयों को मुद्रा का नाम दिया जाता है जो विधानानुसार देश में द्रव्य के रूप में चालू होती हैं। कोई भी व्यक्ति इनमें भुगतान स्वीकार करने से मना नहीं कर सकता। बहुधा सरकार की ओर से मुद्रा में भुगतान न करने वालों के लिये दण्ड रक्खा जाता है।"

☆

Q. 7. What are the main functions of money?

द्रव्य के कार्य (Functions of Money)—Sidgewick तथा Hartly Withers के अनुसार द्रव्य वह है जो द्रव्य के कार्य करे। अतः द्रव्य को समझने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि हम यह मालूम करें कि द्रव्य के कार्य क्या हैं? द्रव्य के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं—

> **द्रव्य के कार्य**
>
> (१) मुख्य कार्य—
> - (a) विनिमय का माध्यम;
> - (b) विनिमय शक्ति का सामान्य माप;
> - (c) विनिमय शक्ति का संचय;
> - (d) ऋण मुक्ति का प्रमाण।
>
> (२) आकस्मिक कार्य—
> - (a) सामाजिक उद्योग के उत्पादन का वितरक;
> - (b) सीमान्त उपयोगिता में समानता लाता है;
> - (c) साख के ढाँचे का आधार;
> - (d) पूँजी को सामान्य मूल्य प्रदान करता है;
> - (e) शोधन क्षमता का गार्नटर,
> - (f) निर्णय का वाहक।

(१) **विनिमय का माध्यम** (Medium of Exchange)—द्रव्य का सबसे महत्वपूर्ण कार्य विनिमय का माध्यम है अर्थात् द्रव्य एक माध्यम है जिसके द्वारा सब वस्तुओं का विनिमय किया जाता है। जिसको कोई वस्तु खरीदनी होती है वह द्रव्य के बदले में वह वस्तु खरीद लेता है। इसी प्रकार से वस्तु के विक्रय करने वाला वस्तु बेचकर धन प्राप्त कर लेता है। विनिमय का माध्यम क्या है? इसका उत्तर देते हुए विकसल (Wicksell) ने लिखा है कि यह (द्रव्य) एक वस्तु है जो विनिमय में स्वयं अपने लिये स्वीकार नहीं किया जाता (अर्थात् प्राप्त करने वाला उपभोग करने के लिये अथवा टेकनिकल उत्पादन में लगाने के लिये नहीं लेता) बल्कि लघु या दीर्घ समय में अन्य वस्तुओं से बदलने के लिये प्राप्त किया जाता है।[1] इस प्रकार द्रव्य मध्यस्थ (Intermediary) का कार्य करता है और अदल-बदल की कठिनाइयों को दूर कर देता है।

---

1. "It is an object which is taken in exchange, not on its own account, i. e. not to be consumed be the receiver or to be employed in technical production, but to by exchanged for something else within a longer or shorter period of time." Wicksell. K., Lectures on Political Economy., Vol. II. p. 15

यह कहा जाता है कि द्रव्य वस्तुएँ को केवल वस्तुएँ बनाती जाती है (विनिमय का माध्यम नहीं) बाजार में प्रवेश कराते रहती है कि कुछ समय बाद इनको छोड़ दे। दूसरी ओर द्रव्य सदा बाजार में रहता है क्योंकि यह विभिन्न व्यक्तियों के पास रहता है। एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास जाता है। विख्यात डच अर्थशास्त्री के द्वारा ही बड़ी सरलता का प्रयोग करते हुए लिखा है, "मुद्रा की तुलना रेलवे स्टेशन के इंजन की उपमा एक शंटिंग इंजिन से की है। एक समय पर डिब्बों की किसी एक पंक्ति को खींचता है और दूसरे समय दूसरी पंक्ति को धकेलता है, इसका कार्य प्रत्येक डिब्बे को सही पटरी पर लाना होता है जिससे कि वह अपने निश्चित स्थान पर पहुँच जाय। परन्तु इंजिन कभी स्टेशन नहीं छोड़ता।"[2]

इस प्रकार यह द्रव्य का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है और इसके ऐतिहासिक विकास का अध्ययन करने से भी यह पता चलता है कि विनिमय के माध्यम की कमी के कारण ही द्रव्य की खोज की गई। मार्शल व क्राउथर आदि ने केवल इसी कार्य को द्रव्य का एकमात्र कार्य माना है जिस पर ही अन्य कार्य निर्भर हैं।

(२) विनिमय शक्ति का सामान्य माप (Common measure of value)— जिस प्रकार से विज्ञान में बिजली के माप के लिये किलोवाट (Kilowatt) है, तापमान (Temperature) नापने के लिये थर्मामीटर (Thermometer) है वैसे ही अर्थशास्त्र में विनिमय-शक्ति का माप द्रव्य के द्वारा होता है। द्रव्य विनिमय का सर्वमान्य माध्यम होता है इसलिये हर वस्तु की विनिमय शक्ति को द्रव्य के रूप में व्यक्त किया जाता है। इसके द्वारा हम विभिन्न वस्तुओं की विनिमय शक्ति की तुलना भी कर सकते हैं क्योंकि प्रत्येक वस्तु का मूल्य इस द्रव्य में व्यक्त करते हैं Chandler के अनुसार, "Just as the use of a unit of linear measurement such as a yard, a foot, or an inch-enables us to measure length in quantitative terms, the use of a monetary unit enables us to measure in quantitative terms the values of economic goods."[3] विनिमय के लिये मूल्य के रूप में एक सामान्य मापदण्ड होने से सौदे करना उचित व सरल हो जाता है और वस्तु विनिमय की दूसरी कठिनाई, कि विभिन्न वस्तुओं और

---

2. "The well-known Dutch economist N. G. Pierson, has very happily likened money to a shunting locomotive at a railway station: at one moment it pulls one line of trucks, at the next it pushes another, its function being to bring each truck on to the right rails in order that it may be able to reach its destination. But the locomotive never leaves the station." Ibid p. 19

3. L. V. Chandler, An Introduction to Monetary Theory, page 27

सेवाओं के बीच विनिमय अनुपात किस प्रकार निर्धारित किया जाय दूर हो जाती है क्योंकि द्रव्य विनिमय अनुपात को निर्धारित करने का कार्य करता है।

विनिमय का माध्यम व विनिमय शक्ति का सामान्य माप—यह दो ही द्रव्य के प्रमुख कार्य हैं। चेन्डलर ने इन कार्यों के महत्व का वर्णन करते हुये लिखा है, "Money performs its one fundamental function as "the great wheel of circulation, the great instrument of commerce" by performing two specific primary functions. In the first place, it serves as a unit of account or common measure of value……… In the second place, money facilitates trade by serving as a medium of exchange, that is, as an article that is generally accepted in payment."

(३) **विनिमय शक्ति का संचय** (Store of Value)—मनुष्य आकस्मिक घटनाओं के लिये द्रव्य को बचाकर रखना चाहता है। द्रव्य अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु विनिमय-शक्ति का संचय करने योग्य नहीं होती। मनुष्य को भविष्य में विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की आवश्यकता होती है परन्तु उन सब वस्तुओं का संचय वह नहीं कर सकता। भविष्य के लिये वह गेहूं, कपड़ा, दूध आदि वस्तुओं का संचय नहीं कर सकता। द्रव्य का संचय करके वह इन सब वस्तुओं को भविष्य में खरीद सकता है। दूसरे, इन वस्तुओं को संचय करके रखने से यह वस्तुएँ नष्ट हो जाती हैं और इसमें निहित विनिमय-शक्ति भी समाप्त हो जाती है। द्रव्य नष्ट नहीं होता और विनिमय-शक्ति वैसी की वैसी ही रहती है। अतः द्रव्य मूल्य संचय का कार्य सम्पादित करता है या यह कहना उचित होगा कि व्यक्ति को अपनी अस्तियों (assets) के एक अंश को द्रव्यत्व देने के योग्य बना देता है। इस प्रकार मूल्य का संचय का एक मुख्य कार्य है।

(४) **ऋण-मुक्ति का प्रमाण** (Standard of deferred payment)—आधुनिक युग में बहुत कुछ आर्थिक कार्य उधार पर होता है और उसका भुगतान बाद में किया जाता है अर्थात् भुगतान विलंबित होता है। द्रव्य का एक कार्य यह भी है कि यह विलंबित भुगतान का एक बड़ा सुगम साधन है। द्रव्य की क्रय शक्ति में बहुत अधिक परिवर्तन नहीं होते और उधार लेने वाले तथा देने वाले किसी को भी नुकसान नहीं होता। अतः द्रव्य की सहायता से मनुष्य अपने भावी लेन-देन को सरलता व सुगमता से कर सकता है और यह उसके भविष्य के लेन-देन का मुख्य साधन है।

इस प्रकार से मुख्य रूप से द्रव्य के उपरोक्त चार कार्य हैं। किसी भी वस्तु को द्रव्य बनने के लिये यह आवश्यक है कि वह यह चारों कार्य करे। परन्तु द्रव्य के यह चारों कार्य स्वतन्त्र नहीं हैं। सब कार्य एक दूसरे के ऊपर निर्भर है। ऋण के

4. Ibid. page 2.

भुगतान के लिये द्रव्य को संचय करके रक्खा जाता है। यह विनिमय का माध्यम है इसीलिये ऋणी इसको स्वीकार कर लेता है।

द्रव्य के आकस्मिक कार्य (Contingent Functions of Money) :—

द्रव्य के मुख्य कार्य उपरोक्त चार हैं परन्तु किनले (Kinley) ने आकस्मिक कार्यों का भी वर्णन किया है जो द्रव्य के द्वारा उन्नत देशों में, जहाँ आर्थिक जीवन का विकास बहुत अधिक हो जाता है, किये जाते हैं। यह कार्य द्रव्य ने आर्थिक जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में नहीं किये। इस सम्बन्ध में उन्होने द्रव्य के निम्न-लिखित चार कार्यों का वर्णन किया है :—

(१) द्रव्य सामाजिक उद्योग के उत्पादन का वितरक है (Money is a distributer of the product of social industry) :—आधुनिक युग में उत्पादन सामूहिक होता है और उससे प्राप्त आय पर सब का अधिकार होता है। इस संयुक्त आय का वितरण उन सब व्यक्तियों में करना आवश्यक होता है जिन्होंने मिलकर उत्पादन किया है। द्रव्य का एक महत्वपूर्ण कार्य यह भी है कि वह इस सामूहिक उपज या राष्ट्रीय आय (National Dividend) को बांटने में सहायता देता है। क्योंकि जैसा किनले ने लिखा है, "द्रव्य या इसके समान वस्तु के बिना एक अत्यन्त विशिष्टता-प्राप्त उत्पादन के स्तर पर उपज का विभिन्न उत्पादकों में वितरण असम्भव होगा, क्योंकि अन्यथा प्रत्येक को उसकी उत्पादन में सहायता के बदले वस्तुएँ प्रदान की जायेगी।"[6]

(२) सीमान्त उपयोगिता में समानता लाना (Equalisation of Marginal Utility) :—द्रव्य का एक कार्य यह भी है कि वह उपभोक्ता की सहायता करे जिससे वह अपना व्यय इस प्रकार करे कि वह व्यय की प्रत्येक मद में समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त करके अधिकतम सन्तुष्टि या अधिकतम उपभोक्ता की बचत प्राप्त कर ले। इसका कारण यह है कि द्रव्य में क्रय शक्ति है और इसका उपयोग किसी भी वस्तु को खरीदने के लिये किया जा सकता है। इससे प्रत्येक व्यक्ति को लाभ होता है जबकि हानि किसी को नहीं होती।

(३) द्रव्य आधुनिक साख के विशाल ढाँचे का आधार है (Money is the basis of the vast structure of modern credit) :—साख, जो कि आधुनिक व्यापार व उद्योग की सफलता का एक कारण है, द्रव्य पर ही आधारित है। नगद कोषो के आधार पर ही एक बैंक अपनी साख का

5. Kinley; Money, page 65–68.

6. "Without money, or its equivalent, the apportionment of the product among the various producers would be impossible in a state of highly specialized labor, for otherwise each would have to get in kind his proportion of everything he helped to produce." Ibid, p. 65–66

विस्तार कर सकता है और जनता का विश्वास प्राप्त कर सकता है। हेडले (Hadley) के अनुसार, "यदि हमारे पास द्रव्य के उपयुक्त नकद कोष है तो हम अन्य वस्तुओं का उपभोग विनिमय के माध्यम के रूप में कर सकते है......यदि हमारे पास द्रव्य के रूप में पूँजी के उपयुक्त कोष नहीं है, तो कोई भी साख व्यवस्था, चाहे कितनी ही अच्छी प्रकार से व्यवस्थित हो, प्रतिस्थापन का कार्य नहीं कर सकती।"[7]

(४) **द्रव्य सभी प्रकार की पूँजी को एक सामान्य मूल्य प्रदान करती है** (Money gives a generic value to capitcal) :—किनले के अनुसार द्रव्य प्रत्येक प्रकार की पूँजी को एक सामान्य मूल्य देता है क्योंकि इसकी सहायता से पूँजी को तरल रूप में रक्खा जा सकता है। समाज में सदा कुछ पूँजी ऐसी होती है जो नये विनियोजन की खोज में रहती है। द्रव्य इस पूँजी को तरलता देता है और उसको गतिशीलता प्रदान करता है। जब भी उपक्रम का कोई नया क्षेत्र खुलता है तो द्रव्य उस ओर चला जाता है। इस प्रकार द्रव्य के कारण उत्पादन बढ़ता है।

किनले के अतिरिक्त अन्य अर्थशास्त्रियों ने द्रव्य के कुछ और भी कार्य बताये हैं जिनको भी हम आकस्मिक कार्य के अन्तर्गत सम्मिलित कर सकते हैं। वह कार्य निम्नलिखित हैं :—

(५) **द्रव्य शोधन क्षमता का गार्नटर** (Guarantor of Solvency)—केन्ट (Kent) के अनुसार द्रव्य प्रत्येक व्यक्ति की शोधनक्षमता को बनाये रखने का कार्य करता है क्योंकि कोई व्यक्ति तभी तक Solvent रहता है जब तक कि वह अपने उत्तरदायित्वों को द्रव्य में चुकाने में समर्थ है।

(६) **निर्णय का वाहक** (Bearer of Option) :—प्रो० ग्राह्म (Graham) के अनुसार द्रव्य निर्णय के वाहन का कार्य करता है। यह व्यक्ति को इस बात का अवसर प्रदान करता है कि वर्तमान में क्रय शक्ति का संचय करके भविष्य में उसका सर्वोत्तम उपयोग कर सके। मनुष्य जिस समय बचत करता है उस समय उसका उद्देश्य निर्धारित करना कठिन होता है अथवा उद्देश्य के परिवर्तन की सम्भावना रहती है। यदि बचत द्रव्य में की जाय तो उद्देश्य भविष्य में निश्चित किया जा सकता है और उसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी किया जा सकता है।

इस प्रकार से द्रव्य के यह आकस्मिक कार्य हैं। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री इनको द्रव्य के कार्य न मानकर द्रव्य के लाभ मानते हैं द्रव्य के कार्य तो वे केवल दो ही मानते हैं—विनिमय का माध्यम व विनिमय शक्ति का संचय। क्राउथर के

7. "If we have a proper cash reserve of money, we can use other things as media of exchange.......If we have not an adequate reserve of capital in the form of money, no credit system, however well designed, will act as a substitute" Hadley, 'Economics' p. 181.

अनुसार, "द्रव्य में दो गुण होते हैं। यह चपटा है जिस कारण इसको जमा किया जा सकता है। परन्तु यह गोल भी है जिससे कि यह चलता भी रह सकता है।"[9]

★

Q. 8. Define money. What are the qualities of good money material.

प्रश्न के प्रथम भाग के उत्तर के लिए प्रश्न नं० ३ देखें।

अच्छे द्रव्य पदार्थ के गुण (Qualities of Good Money Material)—मनुष्य ने विभिन्न गुणों से विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को द्रव्य के रूप में प्रयुक्त किया। एकदम ही उसने सिक्कों या कागज के नोटों को प्रयोग में लाना प्रारम्भ नहीं कर दिया बल्कि उसने द्रव्य के रूप में अनेक वस्तुओं—खालें, छालें, सीप, मवेशी, पशु आदि—का प्रयोग करके उनके दोषों का अनुभव किया और तब वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि बहुमूल्य वस्तुओं व कागज के नोटों में वे गुण बहुतायत से पाये जाते हैं जिनका मुद्रा के रूप में प्रयोग किये जाने वाले पदार्थों में होना अत्यन्त आवश्यक है। अतः यह स्पष्ट है कि किसी पदार्थ को द्रव्य के रूप में प्रयुक्त होने के लिये उसमें कुछ गुणों का होना अत्यन्त आवश्यक है। वे गुण निम्नलिखित हैं—

(१) द्रव्य की परिभाषा
(२) परिभाषाओं के तीन वर्ग
   (a) सर्वग्रहणीयता परिभाषायें,
   (b) वैधानिक परिभाषायें,
   (c) वर्णनात्मक परिभाषायें।
(३) अच्छे द्रव्य पदार्थ के गुण
   (a) सर्वमान्यता;
   (b) उपयोगिता;
   (c) वहनीयता;
   (d) अक्षयशीलता,
   (e) विभाजकता;
   (f) समानता;
   (g) अनुरूपता;
   (h) ढलाऊपन;
   (i) मूल्य में स्थिरता;
   (j) स्वल्पता।

(१) सर्वमान्यता (General Acceptability)—द्रव्य के लिए यह आवश्यक है कि जो भी वस्तु द्रव्य का कार्य करे वह सबको स्वीकृत हो। वह वस्तु, जो सर्वसाधारण को ग्राह्य न हो, समुचित रूप से द्रव्य का कार्य सम्पन्न नहीं कर सकती।

---

8. R. P. Kent. Money and Banking p. 10-11.

9. "Money has two properties. It is flat so that it can be filed up. But it is also round so that it can circulate." Crowther, An Outline of Money.

द्रव्य एक विनिमय का माध्यम है और लोग इसको इसीलिए स्वीकार करते हैं कि दूसरे भी इसको स्वीकार कर लेंगे। सोने, चांदी में यह गुण पाया जाता है तथा कागज के नोटों में कानूनी ग्राह्यता होती है।

(२) उपयोगिता व विनिमय-शक्ति (Utility and value)—द्रव्य पदार्थ में उपयोगिता व विनिमय-शक्ति का होना भी बहुत आवश्यक है क्योंकि यदि द्रव्य पदार्थ में यह दोनों गुण नहीं होंगे तो कोई व्यक्ति उसको वस्तुओं के बदले में स्वीकार नहीं करेगा। लाघलिन (Laughlin) के अनुसार, "Nothing which is not itself valuable can serve as a medium of exchange. No one would consciously give away commodities of value and which he might possibly be obliged to hold for a time. Otherwise, the whole purpose of exchange would be defeated since for a worthless medium of exchange one could not obtain other goods."[1]

(३) वहनीयता (Protability)—द्रव्य पदार्थ में यह गुण भी होना बहुत आवश्यक है कि उसके एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाने जाने में कम खर्च तथा आसानी हो। यह तब ही सम्भव हो सकता है कि उस वस्तु के छोटे से टुकड़े का भी बहुत अधिक मूल्य हो। दूसरे शब्दों में द्रव्य में थोड़ी मात्रा में अधिक मूल्य होना चाहिए।

(४) अक्षयशीलता (Durability)—द्रव्य बार-बार काम में आता है तथा भविष्य के लिए संचय करके भी रखा जाता है। इसलिए द्रव्य पदार्थ ऐसा होना चाहिए जो शीघ्र नष्ट न हो जाय। अतः धातु के सिक्कों का प्रचलन द्रव्य के रूप में काफी समय तक रहा।

(७) प्रत्यक्षता या सुगमता से पहचानी जा सके (Cognizability)—सिक्के ऐसे पदार्थ के बनने चाहियें जो सरलता से बगैर विशेष प्रयत्न के पहचाने जा सकें और असली तथा नकली सिक्कों में प्रत्येक व्यक्ति शीघ्रता और सरलता से अन्तर कर सके। यदि द्रव्य की प्रामाणिकता के लिये विशेष खोजबीन करनी पड़े तो इसमें बड़ी असुविधा होगी। सोने, चाँदी व कागज के नोटों में यह गुण होता है।

(८) ढलाऊपन (Malleability)—द्रव्य पदार्थ इस प्रकार का हो कि उसको गलाकर आवश्यकतानुसार सिक्कों में ढाला जा सके और इसको चाहे जैसा रूप दिया जा सके तथा इस पर चित्र, मोहर, चिह्न आदि बनाये जा सकें। सोने, चाँदी में यह गुण अधिक है।

(६) मूल्य में स्थिरता (Stability in value)—मुद्रा पदार्थ ऐसा हो कि उसके मूल्य में स्थिरता हो अर्थात् उसका मूल्य कम परिवर्तनशील हो क्योंकि वह दूसरी वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य को निर्धारित करने के लिये प्रामाणिक मापदंड होता है। इसके अतिरिक्त द्रव्य का संचय और उपयोग भी तभी हो सकता है जबकि द्रव्य पदार्थ के मूल्य में स्थायित्व हो। यह गुण सोने और चादी में अधिक मात्रा में पाया जाता है क्योंकि इसका वार्षिक उत्पादन बहुत कम है।

(१०) स्वल्पता (Scarcity)—जिस पदार्थ का द्रव्य हो वह पदार्थ बहुतायत से सुलभ न हो, दुर्लभ हो अर्थात् पूर्ति मांग से कम हो। यदि इसकी मात्रा इतनी अधिक है कि हर एक व्यक्ति उसे सुगमता से पा सकता है, तो उसे उपयुक्त विनिमय का माध्यम नहीं कहा जा सकता। क्राउथर (Crowther) भी इसी मत के हैं। उनके अनुसार, "द्रव्य का ..... स्वयं मूल्यवान होना आवश्यक नहीं। यह वास्तव में अपेक्षाकृत स्वल्प होना चाहिए। परन्तु यदि इसको अपेक्षाकृत न्यून रखने और मात्रा को अपेक्षाकृत स्थिर रखने की सावधानी न रक्खी जाय तो द्रव्य में ऐसी बेकार वस्तुयें पाई जाने लगेगी जैसे कागज के फटे हुए टुकड़े अथवा बैंक की पुस्तकों में किसी क्लर्क के कलम द्वारा किये गये निशान।"[2]

आदर्श द्रव्य पदार्थ (An Ideal Money Material)—यह कहना बहुत ही कठिन है कि कोई ऐसा पदार्थ है जिसमे यह सब गुण है। सोने और चाँदी मे इनमें से अधिकतर गुण पाये जाते हैं तथा दूसरा कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जिससे उनकी तुलना की जा सके। इसी कारण संसार के अधिकांश देशों में बहुत समय तक

2. "Money....need not itself be valuable. It must, indeed be relatively scarce, since it would hardly do if money could be plucked off every tree. But provided precautions are taken to keep it relatively scarce and, it may be added, comparatively invariable in amount—money can consist of things as worthless as a scrap of paper or the scratch of a clerk's pen in the books of a bank." Crowther, An Outline of Money, p. 12.

द्रव्य एक विनिमय का माध्यम है और लोग इसको इसीलिए स्वीकार करते हैं कि दूसरे भी इसको स्वीकार कर लेंगे। सोने, चांदी में यह गुण पाया जाता है तथा कागज के नोटों में कानूनी ग्राह्यता होती है।

(२) उपयोगिता व विनिमय-शक्ति (Utility and value)—द्रव्य पदार्थ में उपयोगिता व विनिमय-शक्ति का होना भी बहुत आवश्यक है क्योंकि यदि द्रव्य पदार्थ में यह दोनों गुण नहीं होंगे तो कोई व्यक्ति उसको वस्तुओं के बदले में स्वीकार नहीं करेगा। लाघलिन (Laughlin) के अनुसार, "Nothing which is not itself valuable can serve as a medium of exchange. No one would consciously give away commodities of value and which he might possibly be obliged to hold for a time. Otherwise, the whole purpose of exchange would be defeated since for a worthless medium of exchange one could not obtain other goods."[1]

(३) वहनीयता (Protability)—द्रव्य पदार्थ में यह गुण भी होना बहुत आवश्यक है कि उसके एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाने जाने में कम खर्च तथा आसानी हो। यह तब ही सम्भव हो सकता है कि उस वस्तु के छोटे से टुकड़े का भी बहुत अधिक मूल्य हो। दूसरे शब्दों में द्रव्य में थोड़ी मात्रा में अधिक मूल्य होना चाहिए।

(४) अक्षयशीलता (Durability)—द्रव्य बार-बार काम में आता है तथा भविष्य के लिये संचय करके भी रखा जाता है। इसलिए द्रव्य पदार्थ ऐसा होना चाहिये जो शीघ्र नष्ट न हो जाय। अतः धातु के सिक्कों का प्रचलन द्रव्य के रूप में काफी समय तक रहा।

(७) अनुरूपता या सुगमता से पहचानी जा सके (Cognizability)—सिक्के ऐसे पदार्थ के बनने चाहियें जो सरलता से बगैर विशेष प्रयत्न के पहचाने जा सकें और जाली तथा असली सिक्कों में प्रत्येक व्यक्ति शीघ्रता और सरलता से अन्तर कर सके। यदि द्रव्य की प्रामाणिकता के लिये विशेष खोजबीन करनी पड़े तो इसमें बड़ी असुविधा होगी। सोने, चाँदी व कागज के नोटों में यह गुण होता है।

(८) ढलाऊपन (Malleability)—द्रव्य पदार्थ इस प्रकार का हो कि उसको गलाकर आवश्यकतानुसार सिक्को में ढाला जा सके और इसको चाहे जैसा रूप दिया जा सके तथा इस पर चित्र, मोहर, चिह्न आदि बनाये जा सकें। सोने, चाँदी में यह गुण अधिक है।

(९) मूल्य में स्थिरता (Stability in value)—मुद्रा पदार्थ ऐसा हो कि उसके मूल्य में स्थिरता हो अर्थात् उसका मूल्य कम परिवर्तनशील हो क्योंकि वह दूसरी वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य को निर्धारित करने के लिये प्रामाणिक मापदंड होता है। इसके अतिरिक्त द्रव्य का सचय और उपयोग भी तभी हो सकता है जबकि द्रव्य पदार्थ के मूल्य में स्थायित्व हो। यह गुण सोने और चांदी में अधिक मात्रा में पाया जाता है क्योंकि इसका वार्षिक उत्पादन बहुत कम है।

(१०) स्वल्पता (Scarcity)—जिस पदार्थ का द्रव्य हो वह पदार्थ बहुतायत से सुलभ न हो, दुर्लभ हो अर्थात् पूर्ति माँग से कम हो। यदि इसकी मात्रा इतनी अधिक है कि हर एक व्यक्ति उसे सुगमता से पा सकता है, तो उसे उपयुक्त विनिमय का माध्यम नहीं कहा जा सकता। क्राउथर (Crowther) भी इसी मत के हैं। उनके अनुसार, "द्रव्य का ...... स्वयं मूल्यवान होना आवश्यक नहीं। यह वास्तव में अपेक्षाकृत स्वल्प होना चाहिए। परन्तु यदि इसको अपेक्षाकृत न्यून रखने और मात्रा की अपेक्षाकृत स्थिर रखने की सावधानी न रक्खी जाय तो द्रव्य में ऐसी बेकार वस्तुयें पाई जाने लगेगी जैसे कागज के फटे हुए टुकड़े अथवा बैंक की पुस्तकों में किसी क्लर्क के कलम द्वारा किये गये निशान।"[2]

आदर्श द्रव्य पदार्थ (An Ideal Money Material)—यह कहना बहुत ही कठिन है कि कोई ऐसा पदार्थ है जिसमें यह सब गुण हैं। सोने और चाँदी में इनमें से अधिकतर गुण पाये जाते हैं तथा दूसरा कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जिससे उनकी तुलना की जा सके। इसी कारण संसार के अधिकांश देशों ने बहुत समय तक

---

2. "Money...need not itself be valuable. It must, indeed be relatively scarce, since it would hardly do if money could be plucked off every tree. But provided precautions are taken to keep it relatively scarce and, it may be added, comparatively invariable in amount—money can consist of things as worthless as a scrap of paper or the scratch of a clerk's pen in the books of a bank." Crowther, An Outline of Money, p. 12.

इनका प्रयोग होता रहा है। परन्तु आजकल संसार का अधिकांश सोना अमेरिका के पास इकट्ठा हो गया है। अतः प्रत्येक देश सोने और चाँदी के सिक्के नहीं चला सकता और कागजी नोटों का चलन अधिक हो गया है। गत महायुद्ध के बाद से शायद ही कोई ऐसा देश हो जहां सोने और चाँदी के सिक्के चलन में हों। कागजी द्रव्य ही देश के भीतरी कार्यों के लिये काम में आ रहा है। परन्तु पत्र मुद्रा केवल तभी सुचारु रूप से चल सकती है जबकि उसका प्रबन्ध ठीक रूप से किया जाय। प्रबन्ध ठीक से न होने पर उसका मूल्य गिर जाता है।

☆

Q. 9. What is the social significance of money? Also mention the other main advantages of money? What are the main defects which are connected with the money?

(Agra 1952, 1961, 1962, Vikam 1960)

आधुनिक आर्थिक व्यवस्था में द्रव्य का एक विशेष स्थान है। यदि द्रव्य को वर्तमान समाज से हटा लिया जाय तो हमारी सारी आर्थिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जायगी। हमारे समाज में द्रव्य के आर्थिक महत्व के बारे में प्रसिद्ध अर्थ-शास्त्री ट्रेस्कॉट ने कहा है, "यदि द्रव्य हमारी अर्थ-व्यवस्था का हृदय नहीं तो रक्त-स्रोत तो अवश्य है।"[1]

विनिमय प्रणाली का सामाजिक प्रगति से अटूट सम्बन्ध (The Intimate Connection of the System of Exchange with Social Progress)—प्रचलित विनिमय पद्धति की सुविधाओं के हम इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि इसके ऐतिहासिक महत्व या इसके वर्तमान महत्व पर कभी विचार नहीं करते। परन्तु यह पद्धति वास्तव में सभ्यता के इतिहास का संक्षेप संग्रह है। जीवन का कोई भी पहलू ऐसा नहीं जिसको विनिमय की व्यवस्था या द्रव्यिक व्यवस्था ने प्रभावित न किया हो। कुछ लेखक इसके

(१) द्रव्य के सामाजिक लाभ :
- (i) विनिमय प्रणाली का देश की सामाजिक प्रणाली से अटूट सम्बन्ध होना;
- (ii) मुद्रा पद्धति का प्रचलन आर्थिक जीवन के अनुसार होना;
- (iii) द्रव्य व राष्ट्रीयता;
- (iv) द्रव्य व आर्थिक जीवन।

(२) द्रव्य के अन्य लाभ :
- (i) द्रव्य का उपभोक्ता को लाभ;
- (ii) द्रव्य का उत्पादक को लाभ;
- (iii) द्रव्य व श्रम विभाजन;
- (iv) द्रव्य व बड़े पैमाने पर उत्पादन;

1. 'If money is not the heart of our economic system, it can certainly be considered its blood stream." Paul B. Trescott, Money, Banking and Economic Welfare. p. 3

(v) द्रव्य व मूल्य-यंत्र,
(vi) द्रव्य व साख;
(vii) द्रव्य व नियोजन;
(viii) द्रव्य व पूंजी की गतिशीलता;
(ix) द्रव्य व पूंजी की तरलता।

(३) द्रव्य के महत्व के सम्बन्ध में : क्राउथर, चैंडलर, केन्ट व रॉबर्टसन के विचार।

(४) द्रव्य के दोष :
(i) द्रव्य के मूल्य में परिवर्तन होना;
(ii) द्रव्य का अत्यधिक प्रचलन;
(iii) द्रव्य व धन असमान वितरण,
(iv) द्रव्य अनेक अपराधों की जड़ है।

महत्व को यह कहकर कम करते हैं कि विनिमय की द्रव्यिक व्यवस्था सभ्यता व समृद्धि का कारण है। कुछ नैतिकता तथा द्रव्य की बुराइयों से प्रभावित होकर ऐसा कहते हैं कि यह उद्योग के लिये आवश्यक नहीं है तथा इसको समाप्त करके समाज को सुधारना चाहते हैं। जैसे J. S. Mill हमको बताते हैं कि "There cannot, in short be intrinsically a more insignificant thing in the economy of the country than money."[2] दूसरी ओर Prof. Kinley जैसे अर्थशास्त्री हैं जो द्रव्य के सामाजिक महत्व को इस प्रकार व्यक्त करते हैं, "Far from playing an unimportant role, money is now more than ever before, a social necessity, as necessary to the easy exchange of material goods as is writing or printing to the interchange of ideas. So interwoven with all phases of the life of society in the modern system of exchange that were it suddenly destroyed, much that is best in civilised life would be swept away; many of its noblest influences, which are commonly thought of as far removed from contact with thoughts of money, would vanish, much of the breadth of view and the toleration of spirit that comes from contract, even indirect and remote, with other peoples, workers in other fields, would be lost."[3]

विनिमय की पद्धति आर्थिक विकास की स्थिति का कारण व परिणाम होता है। व्यक्ति जीवन के परिवर्तन के साथ-साथ विनिमय पद्धति में भी परिवर्तन होता है। Hobson के शब्दों में, "Corresponding to the changes in productive methods under mechanical machinery we should find the rapid growth of a complex monetary system reflecting in its international and national character, in its elaborate structure of credit, the

2. J. S. Mill, Principles of Political Economy III, VII, page 3.
3. David Kinley, Money. Ch. I. page 2.

leading characteristics which we find in modern productive and distributive industry. The whole industrial movement might be regarded from the financial or monetary point of view."[4]

(२) **मुद्रा पद्धति का प्रचलन आर्थिक जीवन के अनुसार होना** (Adaptation of the monetary system to the prevailing stage of Economic life)—किसी भी समय द्रव्य का रूप व विनिमय का सम्पूर्ण यंत्र प्रचलित उद्योग व व्यापार के विकास के स्तर के अनुसार होता है। जहाँ पर व्यापार सीमित है, उद्योग पिछड़ा हुआ है और बाजार मूल्य कम है वहां पर सरल व सस्ते प्रकार का द्रव्य होता है, विनिमय-यंत्र सरल होता है तथा साख कम विकसित होता है। जहाँ पर उद्योग व व्यापार सुसंगठित, जटिल व महँगा है वहाँ पर द्रव्य भी अधिक लागत का होगा और विनिमय-यंत्र भी तुलना में अधिक जटिल व महँगा होता है। शिकारी युग में तीर, खाल आदि द्रव्य के रूप में काम आते थे परन्तु आज के जटिल विनिमय युग में, कागजी द्रव्य, सोने के सिक्के तथा साख द्रव्य ही द्रव्य के रूप में काम आते हैं। अत: मुद्रा देश की सम्पदा, विकास, उन्नति तथा जीवन की जटिलता पर ही आधारित होती है तथा उसी के अनुसार उसका रूप निश्चित होता है।

(३) **द्रव्य व राष्ट्रीयता** (Money and Nationalism)—विनिमय का आधुनिक यंत्र देश में राष्ट्रीयता की भावना को फैलाने का मुख्य कारण है। द्रव्य के अधिक प्रयोग से तथा विनिमय यंत्र के जटिल होने से गाँवों की आत्म-निर्भरता समाप्त हो गयी और लोगों को एक दूसरे पर निर्भर रहने के लाभों का पता लग गया। इससे लोगों में राष्ट्रीय भावना का प्रादुर्भाव हुआ। द्रव्य के अन्तर्राष्ट्रीय प्रयोग ने तथा राष्ट्रीयता की भावना ने अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को जन्म दिया। द्रव्य के प्रयोग से एक देश दूसरे पर अधिक निर्भर होने लगा। संसार में एक समान द्रव्य प्रणाली के होने से यह भावना और भी अधिक विकसित होगी।

(४) **द्रव्य व आर्थिक स्वतन्त्रता** (Money and Economic Freedom)—द्रव्य का लोगों को आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान करने में बहुत हाथ है। जब श्रमिकों को वस्तु में मजदूरी मिलती थी तो उनको अपनी मजदूरी को विभिन्न वस्तुओं पर खर्च करने की स्वतन्त्रता नहीं थी। द्रव्य के रूप में जब मजदूरी मिलने लगी तो उनको इस बात की पूरी स्वतन्त्रता हो गयी कि जो वस्तु चाहें खरीदें। इस प्रकार उनको आर्थिक स्वतन्त्रता मिल गयी और बहुत से सामाजिक सुधार स्वयं ही हो गये। Nicholson के अनुसार, "So far from being on evil, ... the extension of the use of money as a medium of exchange was the means of effecting great social reform."[5]

---

4. Hobson, Evolution of Modern Capitalism. page 7.
5. Nicholson, Money and Monetary Problems. page 17.

द्रव्य के अन्य लाभ (Other Advantages of Money)—द्रव्य के सामाजिक महत्व के अतिरिक्त समाज के विभिन्न वर्ग के लोगों को भी बहुत से लाभ हैं। इन लाभों का सम्बन्ध द्रव्य के सामाजिक महत्व से बहुत गूढ़ है क्योंकि समाज में रहकर ही इन वर्गों को यह लाभ प्राप्त होता है।

(१) द्रव्य का उपभोक्ता को लाभ (Advantages of Money to the Consumer)— उपभोक्ता को द्रव्य के चलन से अनगिनत लाभ हुये हैं। द्रव्य के होने से वह दूसरों की वस्तुओं तथा सेवाओं पर अपना अधिकार प्रकट कर सकता है। वह निश्चित कर सकता है कि किस वस्तु का उत्पादन किया जायगा और कितना किया जायगा। इस प्रकार से उपभोक्ता को सार्वभौमिकता (Consumer's Sovereignty) प्राप्त हो गयी। इसके अतिरिक्त उपभोक्ता को अपनी आय से अधिकतम सन्तुष्टि भी प्राप्त हो जाती है क्योंकि वह अपनी आय को सम-सीमान्त उपयोगिता नियम (Law of Equi-marginal Utility) के अनुसार खर्च कर सकता है। Robertson के अनुसार, "The first great achievement of money is that it enables man as consumer to generalise his purchasing power, and to make his claims on society in the form which suits him best .. And it helps each member of society to ensure that the means of enjoyment to which he has access yield him the greatest amount of actual satisfaction which is within his reach."[6]

(२) द्रव्य का उत्पादन को लाभ (Advantages of Money to the Producer)—उत्पादक को भी द्रव्य के होने से बहुत से लाभ हुये हैं। अब एक उत्पादक अपने व्यवसाय को अधिक कुशलता व मितव्ययता से संगठित कर सकता है। उसे उत्पादन के लिये साधनों को किराये पर लेना होता है। वह उत्पादन के साधनों को द्रव्य के रूप में पारिश्रमिक देता है। द्रव्य की सहायता से वह उन सबको इस प्रकार उत्पादन कार्य में लगाता है कि सबकी सीमान्त उत्पत्ति समान हो और उसको अधिकतम लाभ हो।

(३) द्रव्य व श्रम विभाजन (Money and Division of Labour)—आजकल का जटिल उत्पादन श्रम विभाजन पर निर्भर है। परन्तु श्रम विभाजन बहुत सीमा तक विनिमय पद्धति के सुगम संचालन पर निर्भर करता है और विनिमय पद्धति का सुगम संचालन द्रव्य पद्धति पर आधारित है। द्रव्य के होने से श्रम विभाजन व विशिष्टीकरण सम्भव हो सका है। Robertson के शब्दों में, "The civilisation and division of labour on which our economic structure is founded would be impossible if every man had to spend a large part of his time and energies in bartering his product for the

6. Robertson, Money. page 5.

materials of his industry and the goods which he requires for his own consumption."

(४) **बड़े पैमाने पर उत्पादन का द्रव्य** (Large Scale Production and Money)—द्रव्य के होने से ही आज बड़े-बड़े उद्योग स्थापित हो सके हैं तथा बड़े पैमाने पर उत्पत्ति हो सकी है। बड़े उद्योगों में बहुत बड़ी संख्या में मजदूर काम करते हैं। यदि उनको द्रव्य के रूप में मजदूरी नहीं दी जाती तो उद्योगपति को वह सब सामान मजदूरों को देना पड़ता जिनकी उनको आवश्यकता होती है। इससे उसको बहुत कठिनाई होती। परन्तु द्रव्य के होने से उनको बहुत सुविधा हो जाती है और वह द्रव्य के रूप में मजदूरी दे देता है।

(५) **मूल्य-यन्त्र व द्रव्य** (Money and Price-Mechanism)—द्रव्य के होने से ही आज मूल्य-यन्त्र क्रियाशील हो सका है। मूल्य यंत्र का आधुनिक आर्थिक व्यवस्था में कितना महत्व है इस पर दो विचार नहीं हो सकते। मूल्य-यंत्र ही देश की उत्पादन प्रणाली को नियंत्रित करता है तथा साधनों का प्रयोग भी मूल्य के अनुसार होता है। अतः द्रव्यिक व्यवस्था में ही मूल्य यंत्र सम्भव हो सका है।

(६) **द्रव्य व साख** (Money and Credit)—द्रव्य ने साख प्रणाली को सम्भव बनाया है जो कि धन उधार देने की पद्धति को सरलता प्रदान करता है। बैंक लोगों की छोटी-छोटी बचतों को इकट्ठा कर लेते हैं तथा उद्योगों को वह द्रव्य लिया या दिया जा सकता है। Robertson के शब्दों में, "The making of advances by one kind of businessman to another is also rendered much easier by the existence of money; so is investment loaning of its saving by the general public."

(७) **द्रव्य व नियोजन** (Money and Planning)—आजकल बहुत से देश आर्थिक नियोजन में लगे हुए हैं तथा इसके द्वारा अपना आर्थिक विकास करने का प्रयत्न कर रहे हैं। एक आयोजित अर्थ-व्यवस्था (Planned Economy) में नियोजन अधिकारी को यह निश्चय करना होता है कि किन वस्तुओं का उत्पादन होना है और कितना होना है। किस उत्पादन में कितना विनियोजन किया जायगा यह भी नियोजन अधिकारी को निश्चय करना होता है। यह सब निश्चय वह मूल्य यन्त्र की सहायता से करता है और मूल्य यन्त्र द्रव्य अर्थ-व्यवस्था (Money Economy) में ही सम्भव हो सकता है।

(८) **द्रव्य पूँजी की गतिशीलता में सहायता देता है** (Money gives Mobility to Capital)—द्रव्य के होने से पूँजी की गतिशीलता में बहुत वृद्धि हो गयी है। अब पूँजी को न केवल एक ही देश में एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजा जा सकता है बल्कि एक देश से दूसरे देश में पूँजी का स्थानान्तरण सम्भव हो सका है। बैंकों के साख-पत्रों ने तो पूँजी को बहुत ही अधिक गतिशीलता प्रदान कर दी है। इससे उद्योग व व्यापार का विकास सम्भव हो सका है।

(६) द्रव्य द्वारा पूँजी को सरलता (Money gives Liquidity to the Capital)—द्रव्य ने पूँजी को सरल बना दिया है क्योंकि इसको प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार कर लेता है और इसलिए इसके द्वारा प्रत्येक वस्तु खरीदी जा सकती है। परन्तु अन्य पदार्थों को प्रत्येक मनुष्य स्वीकार नहीं करता और इस कारण विनिमय सरलता से नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त जिस व्यक्ति के पास द्रव्य है वह जिस स्थान पर चाहे मनचाही वस्तु (यदि वह उपलब्ध है) किसी भी समय खरीद सकता है। Kinley के अनुसार "The possessor of money has a certain advantage over holders of other forms of wealth, because his goods are in general demand;...... The market for other things is more or less local; that for money is universal."[7]

इस प्रकार से द्रव्य का आधुनिक समाज में बहुत महत्व है। द्रव्य के कारण ही आज का आर्थिक विकास, आर्थिक क्रियायें और अनेक सामाजिक, धार्मिक व राजनैतिक कार्य सम्भव व सरल हो गये हैं। द्रव्य ही समस्त आर्थिक क्रियाओं व व्यापार आदि का जीवन है। द्रव्य ही वह केन्द्र है जिसके चारों ओर आर्थिक क्रिया होती है। मार्शल के शब्दों में "द्रव्य वह धुरी है जिसके चारों ओर आर्थिक विज्ञान चक्कर काटता है। मानव-जाति के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है। यह विनिमय अर्थ-व्यवस्था के लिए रक्त के समान है।"[8]

द्रव्य के महत्व को क्राउथर ने इन शब्दों में प्रगट किया है, "ज्ञान की प्रत्येक शाखा की अपनी-अपनी मूल खोज है—जैसे यन्त्र कला में चक्र, विज्ञान में अग्नि, राजनीति शास्त्र में वोट, इसी प्रकार अर्थशास्त्र और मनुष्य के कारोबार में द्रव्य सबसे उपयोगी आविष्कार है, जिस पर अन्य वस्तुएं आधारित हैं।"[9] वेंडलर ने भी इसके महत्व को स्वीकार करते हुये इसका वर्णन इन सुन्दर शब्दों में किया है, "There cannot, in short, be intrinsically a more significant thing, in the economy of society, than money, except in the character of a contrivance of sparing time and labour. It is a machine for doing quickly and commodiously, what would be done, though less quickly and commodiously, without it and money like othet types of machinery,

---

7. David Kinley, Money, p. 11.

8. "Money is the pivot round which economic science clusters. Money is very essential for mankind. It is like blood for exchange economy." Marshall, Money, Credit and Commerce, p. 264

9. "Every branch of knowledge has its fundamental discovery. In mechanics it is the wheel, in science fire, in Politics the vote. Similarly, in Economics in the whole commercial side of man's social existence, money in the essential invention on which the rest is based." Crowther, An Outline of Money, p. 17.

it only exerts a distinct and Independent influence of its own when it gets out of order."[10]

Kent के अनुसार "Money deserves to be ranked among the outstanding inventions of the entire history of mankind. By overcoming the difficulties of barter, it has made possible a tremendous saving of time and trouble in marshalling productive facilities and in distributing the output of industry to ultimate consumers. The sweeping technological progress of the past two centuries, the speclization of industry, the organization of production upon the basis of a minute division of labour, the establishment of nation-wide and international market–all would have been greatly impeded if not prevented by the absence of reasonably adequate monetary facilities."[11]

द्रव्य के इस महत्व के होते हुए भी बहुत से अर्थशास्त्री द्रव्य को महत्वहीन मानते हैं। उनके अनुसार द्रव्य केवल विनिमय करने और ऋण लेने का ही साधन है। यदि यह न हो तब भी विनिमय और ऋण का लेन-देन चलता रहेगा यद्यपि कठिनाइयां अवश्य होंगी। इस प्रकार क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के अनुसार द्रव्य का ऐसा स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है कि यह अर्थ-व्यवस्था पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव डाल सके और इसी कारण इन अर्थशास्त्रियों ने द्रव्य की समस्या को महत्वपूर्ण नहीं माना है।

परन्तु क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के विचार को हम ठीक मानकर द्रव्य के महत्व को हम कम नहीं कर सकते। जब कोई किसी वस्तु का अभ्यस्त हो जाता है तो वह उसके महत्व को वास्तविक रूप में तब तक नहीं समझ सकता जब तक उसके पास उस वस्तु की प्रचुरता रहती है। यही बात द्रव्य के सम्बन्ध में लागू होती है। द्रव्य के प्रयोग से हमारा दैनिक जीवन सरल हो गया है। और यह बात हम तभी ठीक-ठीक समझ सकते हैं जब द्रव्य का कुछ समय के लिए हमारे बीच से लोप हो जाय। Robertson के अनुसार, "We have become so accustomed to the use of money that it requires a little exercize of imagination to realise how much we owe to it."

द्रव्य के दोष (Drawbacks of Money)—उपरोक्त महत्व के होते हुए द्रव्य में कुछ इस प्रकार के दोष हैं जिसके कारण क्लासिकल अर्थशास्त्रियों व समाजवादी अर्थशास्त्रियों ने इसकी आलोचना की है। इन दोषों का मुख्य कारण यह है कि कभी-कभी द्रव्य अनियमित (Out of order) हो जाता है और इस अनियमितता का समाज व आर्थिक व्यवस्था पर विकट प्रभाव पड़ता है। द्रव्य के मुख्य दोष अग्रलिखित हैं :—

---

10. L. V. Chandler. An Introduction to Monetary Theory. page 5.
11. R. P. Kent. Money and Banking p. 3.

(१) द्रव्य की विनिमय शक्ति में परिवर्तन (Changes in the Value of Money)—द्रव्य की विनिमय शक्ति में परिवर्तन होते रहते है और इस परिवर्तन का विभिन्न वर्गों पर विभिन्न प्रभाव होता है। इससे अर्थ-व्यवस्था में अव्यवस्थता आ जाती है। समाज में सिर्फ मुख्यत. दो वर्गों के लोग होते हैं—एक जिनकी आय निश्चित होती है, दूसरे जिनकी आय निश्चित नही होती। द्रव्य की विनिमय शक्ति के बढ़ने से पहले वर्ग वालो को लाभ होता है तथा दूसरे वर्ग वालों को नुकसान होता है। इसी प्रकार द्रव्य की विनिमय शक्ति मे कमी होने से पहले वर्ग वालो को हानि होती है और दूसरे वर्ग को लाभ। इस प्रकार से समाज मे सदा ही किसी को लाभ व किसी को हानि होती रहती है क्योंकि आजकल द्रव्य की विनिमय शक्ति मे सदा ही परिवर्तन होता रहता है। L. V. Chandler के अनुसार, "It is easy to imagine the confusion and injustice that would result if the unit measuring weight—such as the ounce—were to shrink by two thirds in one period and than to double in the next. Yet money, which is probably the most important unit of measurement in the entire economic system has never been a constant, or even an approximately constant unit."[12] द्रव्य में इस प्रकार के परिवर्तन का देश के उद्योग व व्यवहार पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। व्यापार व उद्योग मे कोई स्थायित्व नही रहता तथा धन का उत्पादन भी कम हो जाता है। द्रव्य की विनिमय शक्ति के घटने से मूल्यों मे बहुत वृद्धि हो जाती है तथा उपभोक्ताओं को इससे बहुत कष्ट होता है। मूल्यो के बढ़ने से देश मे अशान्ति फैलने का भी डर रहता है जैसे कि सन् १९४८ मे खाद्य पदार्थों के मूल्य मे अत्यधिक वृद्धि हो जाने से लोगों ने खाद्य पदार्थों के गोदामों को लूट लिया।

Keynes के अनुसार, "Unemployment, the precarious life of the worker, the disappointment of expectations, the sudden loss of savings, the excessive windfall to individuals, the speculations, the profiteers-all proceed in large measure, from instability of the standard of value."

(२) द्रव्य का अत्यधिक प्रचलन (Over Issue of Money)—आजकल कागजी द्रव्य का अधिक प्रयोग किया जाता है जिसका कि कोई आन्तरिक मूल्य नहीं होता तथा सरकार को भी नोट छापने में अधिक खर्चा नही होता। आवश्यकता के समय सरकार अधिक द्रव्य का प्रचलन कर देती है और इससे द्रव्य की विनिमय शक्ति घट जाती है। विनिमय शक्ति घटने से जो हानि होती है उसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। पिछले महायुद्ध मे जर्मनी में मार्क इतना अधिक प्रचलित किया

12. L. V. Chandler, An Introduction to Monetary Theory, Page 7.

गया कि इसका मूल्य कागज के उस टुकड़े के बराबर भी नहीं रहा जिस पर कि यह छपा था।

(३) **धन का असमान वितरण** (Inequal Distribution of Wealth)—द्रव्य के होने से बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना हुई जिससे पूँजीवाद को प्रोत्साहन मिला है तथा समाज में धन का असमान वितरण हो गया है। संसार का अधिकांश धन कुछ पूँजीपतियों के हाथ में संग्रहीत हो गया है। धनी अधिक धनी होता गया है और गरीब अधिक गरीब। इससे लोगों की आय में बहुत अधिक अन्तर हो गया है। इसी कारण Marx व Robert Owen ने द्रव्य की कड़ी आलोचना की थी और कहा था कि समाज की सब बुराइयों का मूल केवल द्रव्य ही है।

(४) **अनेक अपराधों की जड़** (Root Cause of Many Crimes)—द्रव्य पर यह भी दोष लगाया जाता है कि चोरी, डकैती, गबन, विश्वासघात आदि दोष द्रव्य के कारण ही हैं व द्रव्य के महत्व के कारण ही किये जाते हैं। समाज में उसी व्यक्ति को अधिक महत्व दिया जाता है जिसके पास अधिक द्रव्य है और इसलिए अधिकाधिक धन (द्रव्य) को प्राप्त करने की लालसा ही अनेक प्रकार के अपराधों को जन्म देती है। इसलिए नैतिक पतन का एक कारण द्रव्य भी है।

इस प्रकार "द्रव्य एक अच्छा सेवक तो है परन्तु बुरा मालिक है।" यदि सेवक पर नियंत्रण न रखा जाय तो यह मालिक बन जाता है जो कि बुरा है। Robertson के अनुसार, "Thus money, which is a source of so many blessings to mankind, becomes also, unless we can control it, a source of peril and confusion."[13] G. D. H. Cole के शब्दों में "When anything goes wrong with it the result can be to prevent usefull things from being created, and to cause any amount of economic loss and human distress."[14] यदि द्रव्य पर ठीक प्रकार नियंत्रण रखा जाय तो इसकी हानियों को दूर किया जा सकता है। आजकल सरकार केन्द्रीय बैंकों के द्वारा द्रव्य की मात्रा पर नियंत्रण रखकर प्रयत्न करती है कि द्रव्य की विनिमय शक्ति में परिवर्तन होने के परिणाम स्वरूप जो हानियाँ हैं वह नहीं हों।

Q. 10 "Money is the pivot round which the whole economic science clusters." Discuss and point out the significance of money in a socialist economy. [Aga 1961]

आधुनिक आर्थिक व्यवस्था में द्रव्य का एक विशेष स्थान है। द्रव्य को यद्यपि कुछ अर्थशास्त्रियों ने मूल्यहीन समझा और आर्थिक व्यवस्था में इसको कोई

13. Robertson, Money, page 16.
14. G. D. H. Cole, Money its Present and Future, page 6.

(१) द्रव्य के महत्व का संक्षिप्त वर्णन।

(२) द्रव्य अर्थव्यवस्था की धुरी के रूप में :

(i) उत्पादन प्रारम्भ करने, उत्पत्ति के साधनों को एकत्र करने, बड़े पैमाने के उत्पादन व उत्पादन की बिक्री में अत्यन्त आवश्यक,

(ii) उपभोक्ता की अभिरुचि मालूम करने व आय से अधिकतम संतुष्टि प्राप्त करने में सहायक।

(iii) विनियोजन के लिये बचत, पूंजी के निर्माण व पूंजी की गतिशीलता में सहायक।

(३) सामाजिक अर्थव्यवस्था में द्रव्य का महत्वपूर्ण स्थान होना।

महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया, जैसे मिल ने कहा 'अर्थव्यवस्था में द्रव्य से महत्वहीन अन्य कोई और वस्तु नहीं हो सकती;' और एडम स्मिथ ने कहा 'द्रव्य उस सड़क के समान है जो स्वयं घास का तिनका भी उत्पन्न नहीं करती;' परन्तु अब द्रव्य आधुनिक उद्योग तन्त्र की धमनियों में रक्त का स्थान ग्रहण कर चुका है। इस समय यदि द्रव्य को वर्तमान समाज से हटा दिया जाय तो हमारी सारी आर्थिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जायगी। वास्तव में हम द्रव्य प्रयोगों तथा प्रचलित विनिमय पद्धति के इतने अभ्यस्त हो गए है कि इसके ऐतिहासिक महत्व या इसके वर्तमान महत्व पर कभी विचार नहीं करते। परन्तु इतिहास के प्रत्येक युग में द्रव्य ने अर्थव्यवस्था को प्रभावित किया। इसलिये मर्शल ने लिखा, "द्रव्य वह धुरी है जिसके चारों ओर आर्थिक विज्ञान चक्कर काटता है। मानव जाति के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है। यह विनिमय अर्थव्यवस्था के लिये रक्त के समान है।"[1]

द्रव्य-अर्थव्यवस्था की धुरी के रूप में :—

Money as pivot round which economic science clusters :—

किसी भी अर्थव्यवस्था में तीन आवश्यक क्रियाएँ होती हैं—उत्पादन, उपभोग और विनियोजन (Investment)। उत्पादन अर्थव्यवस्था की महत्वपूर्ण क्रिया है क्योंकि देश के व्यक्तियों के रहन-सहन और उपभोग का स्तर उत्पादन की मात्रा और गुण पर ही निर्भर है। कोई भी अर्थव्यवस्था उत्पादन में वृद्धि किये बिना अपना विकास नहीं कर सकती। उत्पादन से सम्बंधित दूसरी प्रक्रिया उपभोग है जिसकी मात्रा भी व्यक्तियों के रहन सहन के स्तर को प्रभावित करती है। उपभोग की गई वस्तुओं की मात्रा और गुण का प्रभाव आर्थिक कल्याण व आर्थिक सम्पन्नता पर

1. "Monsy is the pivot round which economic science clusters. Money is very essential for mankind. It is like blood for exchange economy." Marshall, Money, Credit and Commerce, p. 364.

पड़ता है। एक प्रकार से उपभोग उत्पादन का ध्येय है और दोनों क्रियाएँ आपस में एक दूसरे से सम्बन्धित है। विनियोजन तीसरी आवश्यक प्रक्रिया है जो उत्पादन को सम्भव बनाती है। बिना विनियोजन में वृद्धि किये उत्पादन व उपभोग में वृद्धि नहीं की जा सकती।

आधुनिक युग में यह तीनों प्रक्रियायें—उत्पादन,.उपभोग और विनियोजन, द्रव्य से नियंत्रित होती है और बिना द्रव्य के ये प्रक्रियाएँ पूर्ण नहीं हो सकती। द्रव्य की सहायता से ही वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है जिसको उपभोक्ता द्रव्य के माध्यम से खरीदते हैं। आय के सब भाग को उपभोग पर खर्च न करके इसके कुछ भाग को बचा लिया जाता है। यही बचत विनियोजित की जाती है जिससे उत्पादन में वृद्धि होती है। इस प्रकार द्रव्य ही इन तीनों क्रियाओं को नियंत्रित करता है। द्रव्य के बिना ये तीनों क्रियाएँ ठीक से नहीं चल पाएँगी। इसलिये यह कहना ठीक है कि द्रव्य ही वह धूरी है जिसके चारों ओर अर्थव्यवस्था चक्कर काटती है।

इस कथन का विस्तार से अध्ययन करने के लिये यह आवश्यक है कि यह देखा जाय की द्रव्य उत्पादन, उपभोग और विनियोजन को किस प्रकार से प्रभावित व नियंत्रित करती है। सबसे पहले उत्पादन को लिया जाय। उत्पादन प्रारम्भ करने से पहले यह देखना होता है कि किस वस्तु का उत्पादन किया जाय और कितना किया जाय। द्रव्य के अतिरिक्त कोई और ऐसा माध्यम नहीं है जो इस समस्या का समाधान कर सके। रावर्टसन ने इस महत्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "मौद्रिक अर्थव्यवस्था के होने से समाज को यह मालूम करने में सहायता मिलती है कि व्यक्तियों को किस वस्तु की कितनी आवश्यकता है। इससे यह निश्चित करने में सरलता होती है कि किस वस्तु का कितना उत्पादन किया जाय और उत्पत्ति के साधनों का सर्वोत्तम उपयोग किया जा सकता है।"[2]

उत्पादन प्रारम्भ करने के लिये उत्पत्ति के विभिन्न साधनों को एकत्रित करना पड़ता है। इस कार्य के लिये द्रव्य का होना आवश्यक है। एच० जी० मोल्टन (H. G. Moulton) के अनुसार, "उत्पत्ति के विभिन्न मूर्त साधनों को एकत्रित करने के लिये द्रव्य एक अभिन्न अनिवार्यता है। व्यापारी अपने कारखाने के निर्माण के लिये आवश्यक सामग्री जुटाने के लिये द्रव्य या इसके समान किसी दूसरी वस्तु का प्रयोग करता है। इस कारखाने के प्रारम्भ करने के लिये जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है उनके क्रय के लिये भी वह द्रव्य का प्रयोग करता है। द्रव्य के

2. "The existance of monetary economy helps society to discover what people want and how much they want it and decide what shall be produced and in what quantities, and to make best use of its limised productive power" D. H Robertson, Money. p, 5.

द्वारा ही वह निर्माणकार्य में प्रयुक्त होने वाले कच्चे माल को विश्व बाजार से खरीदता है। द्रव्य की सहायता से ही वह आवश्यक श्रमिकों, प्रबन्धकों और विशेषज्ञों की सेवायें प्राप्त करता है।"[3]

वस्तुओं का उत्पादन हो जाने पर ही उत्पादन प्रक्रिया समाप्त नहीं हो जाती बल्कि उत्पादित वस्तु का बाजार में बिकना अत्यन्त आवश्यक है। उत्पादित वस्तु यदि बाजार में नहीं बिकती तो बेकार रहती है। इस वस्तु के विक्रय में भी द्रव्य का महत्वपूर्ण स्थान है। आजकल जितना भी क्रय-विक्रय होता है वह मूल्य-यंत्र द्वारा निर्धारित होता है। यह मूल्य-यंत्र द्रव्य के होने से ही क्रियाशील हो सकता है। मूल्य-यंत्र ही देश की उत्पादन प्रणाली को नियमित करता है तथा साधनों का प्रयोग भी मूल्य के अनुसार होता है।

आधुनिक उत्पादन में तो द्रव्य का विशेष महत्व है क्योंकि द्रव्य के बिना बड़े पैमाने का आधुनिक उत्पादन सम्भव नहीं है। आजकल का जटिल उत्पादन श्रम विभाजन पर आधारित है। श्रम-विभाजन बहुत सीमा तक विनिमय पद्धति के सुगम संचालन पर निर्भर करता है और विनिमय पद्धति का सुगम संचालन द्रव्य पद्धति पर आधारित है।

द्रव्य के होने से ही आज बड़े-बड़े उद्योग स्थापित हो सके हैं तथा बड़े पैमाने पर उत्पत्ति सम्भव हो सकी है। बड़े उद्योगों में बहुत बड़ी संख्या में मजदूर काम करते हैं। यदि उनको द्रव्य के रूप में मजदूरी नहीं दी जाती तो उद्योगपति को वह सब सामान मजदूरों को देना पड़ता है जिनकी उनको आवश्यकता होती है। इससे उनको बहुत कठिनाई होती है। द्रव्य के होने से यह सब कठिनाई दूर हो जाती है।

उपभोग की क्रिया में भी द्रव्य से बहुत से लाभ हुए हैं। इनकी सहायता से प्रत्येक उपभोक्ता अपनी अभिरुचि बता सकता है और उसकी आवश्यकता के अनुसार उत्पादन होता है जिससे उपभोक्ता सार्वभौमिक बन जाता है। द्रव्य के होने से उपभोक्ता अपनी आय से अधिकतम संतुष्टि प्राप्त कर सकता है क्योंकि द्रव्य की सहायता से वह पारिवारिक बजट बनाकर उसके अनुसार आय खर्च कर सकता है।

विनियोजन के लिये बचत, पूँजी का निर्माण व पूँजी की गतिशीलता का होना आवश्यक है। द्रव्य की सहायता से व्यक्ति बचत करने में सफल होता है क्योंकि व्यक्ति अपनी सुविधानुसार द्रव्य की छोटी इकाइयाँ बचा लेता है जिसको वह बैंक में जमा कर देता है। बैंक इन जमाओं को उद्योगों को उधार दे देता है जो इसका

---

3. "Money is the undispensable pre-requisite to the assembling of the concrete instruments *of production*, the businessmen uses money, or its equivalent to purchase materials [illegible]
his factory: he uses m[illegible]
necessary for its equipme[illegible]
the world for the raw ma[illegible]
and he employs [illegible]

प्रयोग पूँजीगत वस्तुएँ व अन्य उत्पादन सामग्री खरीदने में करते हैं। इस प्रकार से बचत और पूंजी निर्माण चलता रहता है।

द्रव्य ने पूँजी को गतिशीलता व तरलता भी दी है। द्रव्य सर्वमान्य होता है और इसमें वहनीयता का गुण होता है। इस कारण इसको एक स्थान से दूसरे स्थान पर सरलता से तथा न्यूनतम खर्च पर ले जाया जा सकता है। सर्वमान्यता के कारण द्रव्य में तरलता भी बढ़ जाती है।

इस प्रकार द्रव्य का आधुनिक समाज में बहुत महत्व है। द्रव्य के कारण ही आज का आर्थिक विकास, आर्थिक क्रियाएँ और अनेक सामाजिक, धार्मिक व राजनैतिक कार्य सम्भव व सरल हो गये हैं। द्रव्य ही वह केन्द्र है जिसके चारों ओर आर्थिक क्रिया होती है। इसलिये मार्शल ने लिखा है, "द्रव्य वह धुरी है जिसके चारों ओर आर्थिक विज्ञान चक्कर काटता है। मानव जाति के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है। वह विनिमय अर्थव्यवस्था के लिये रक्त के समान है।"

द्रव्य के महत्व को क्राउथर ने इन शब्दों में प्रकट किया है, "ज्ञान की प्रत्येक शाखा की अपनी-अपनी मूल खोज है—जैसे यंत्र कला में चक्र, विज्ञान में अग्नि, राजनीति शास्त्र में वोट। इसी प्रकार अर्थशास्त्र और मनुष्य के कारोबार में द्रव्य सबसे उपयोगी आविष्कार है, जिस पर अन्य वस्तुयें आधारित हैं।"

समाजवादी अर्थव्यवस्था में द्रव्य का स्थान

Money in Socialistic Economy :

मूल्य-यंत्र के चलन और लाभ की भावना से प्रेरित होकर उत्पादन करने के कारण पूँजीवाद में द्रव्य का महत्वपूर्ण स्थान है। इस प्रकार की अर्थव्यवस्था में द्रव्य स्वतन्त्र रूप से कार्य करता है। यह इस अर्थव्यवस्था की धुरी होती है जिस पर सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था आधारित होती है। परन्तु समाजवादी द्रव्य को इतना महत्वपूर्ण स्थान नहीं देना चाहते क्योंकि इसके अनुसार द्रव्य के कारण ही सब आर्थिक व सामाजिक बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं। मार्क्स ने समाजवादी अर्थव्यवस्था में द्रव्य को कोई स्थान नहीं दिया और सोचा कि एक आदर्श समाजवादी व्यवस्था में वस्तुओं का क्रय-विक्रय न होकर प्रत्यक्ष विनिमय होगा। मार्क्स के इसी विचार से प्रभावित होकर बोल्शेविकों ने १९१७ की रूस की क्रान्ति के पश्चात् अपनी व्यवस्था से द्रव्य को समाप्त करने का प्रयत्न किया। परन्तु इस आदर्श को वे व्यवहारिक रूप देने में सफल नहीं हो सके। सन् १९२१ में लैनिन ने भी इस असफलता को इन शब्दों में स्वीकार किया, "बोल्शेविकों का यह विचार उनके जीवन की महान भूल थी कि समाजवादी गणना और नियंत्रण की अवधि के विना साम्यवाद का आगमन हो सकता है।" लरनर भी इसी विचार के थे। उनके अनुसार, "किसी भी अर्थव्यवस्था के लिये मूल्य-यंत्र के विना कुशलतापूर्वक कार्य करना असम्भव है।"[4]

4. "It is impossible for an economic system of any complexity to function with any reasonable degree of efficiency without a pricing mechanism." A. P. Lerner, Economic Theory and Socialist Economy, p. 55.

समाजवाद में द्रव्य का प्रमुख प्रयोग तो उत्पत्ति के साधनों का विभिन्न उपयोगों में वितरण करने के लिये होता है। यद्यपि यह ठीक है कि उत्पादन के लक्ष्य नियोजन अधिकारी या तानाशाह के द्वारा निर्धारित किये जाते हैं परन्तु इन लक्ष्यों के अनुसार विभिन्न उपयोगों में उत्पत्ति के साधनों का वितरण मूल्य-यन्त्र के द्वारा ही होता है, क्योंकि मूल्य-यंत्र के द्वारा ही इस बात का पता लग सकता है कि किस प्रयोग में साधनों का अधिक अच्छा उपयोग किया जा सकेगा।[5] इसीलिए रूस में उत्पादन के वास्तविक लक्ष्यों के साथ-साथ आर्थिक योजनाओं का वैत्तिक प्रतिरूप भी तैयार किया जाता है।

इसके अतिरिक्त, समाजवाद में अन्य कार्यों के लिए भी द्रव्य महत्वपूर्ण है। व्यक्तियों से कर एकत्रित करने, उनकी बचतों को जमा करने, मजदूरों का भुगतान करने तथा हिसाब-किताब रखने के लिये मुद्रा अत्यन्त आवश्यक है।

अतः यह स्पष्ट है कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के समान समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में भी द्रव्य का निश्चित महत्व होता है। यह अर्थव्यवस्था भी द्रव्य के बिना कार्य नहीं कर सकती। सन् १९१८ से १९२१ के दौरान में, जबकि रूस में वस्तुओं के मूल्य बहुत बढ़ रहे थे और द्रव्य का मूल्य गिर रहा था, रूस की साम्यवादी सरकार ने द्रव्य को समाप्त करने के प्रयत्न किये। इस कार्य में यह सफल नहीं हो सकी। इगलैंड रोबर्ट ओवन ने भी न्यूलेनार्क शायर मिल के मजदूरों को मजदूरी द्रव्य के स्थान पर कूपनों में देनी प्रारम्भ की। यह कूपन श्रम-घंटों (Labour Hours) में होते थे। वस्तुओं का मूल्य भी श्रम-घंटों में होता था। मजदूरों को इन कूपनों के बदले वस्तुयें मिल जाती थी। यह व्यवस्था भी अधिक समय नहीं चल सकी। इसलिये यह कहना गलत है कि समाजवादी अर्थव्यवस्था द्रव्य के बिना कार्य कर सकती है। प्रसिद्ध समाजवादी अर्थशास्त्री ओस्कार लैंगे (Oskar Lange) के अनुसार समाजवादी अर्थव्यवस्था में आर्थिक क्रियाओं का नियमन करने के लिये द्रव्य पर आधारित मूल्य-प्रणाली का होना अत्यन्त आवश्यक है।

★

Q. 11. "There cannot be intrinsically a more insignificant thing in the economy of society than money". "Explain this statement critically and discuss the functions and significance of money in society. *(Agre 1962, Jabalpur 1965)*

---

5. "Even if the aims of production should be determined by a dictator, the allocation of resources according to these aims would have to be the result of the working of a pricing process by means of which it is possible to compare the usefulness of the available resources in different fields of employment". George N. Halm, Monetary Theory, p. 13

आधुनिक अर्थव्यवस्था में द्रव्य के महत्व के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों के मतों में आधारभूत अन्तर है। एक ओर तो वे अर्थशास्त्री हैं जो आधुनिक आर्थिक व्यवस्था में द्रव्य को विशेष स्थान प्रदान करते हैं और कहते हैं कि यदि द्रव्य को वर्तमान समाज से हटा दिया जाय तो सारी आर्थिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जायगी। दूसरी ओर वे अर्थशास्त्री हैं जो द्रव्य को महत्वहीन मानते हैं। उनके अनुसार द्रव्य केवल विनिमय करने और ऋण लेने का ही साधन है। यदि यह न हो तब भी विनिमय और ऋण का लेन देन चलता रहेगा। इनके अनुसार द्रव्य का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है और इसलिये यह अर्थव्यवस्था पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं डालता। द्रव्य का स्वयं कोई मूल्य नहीं होता। द्रव्य तो केवल साधन मात्र है जिसके द्वारा हम विभिन्न वस्तुओं व सेवाओं का विनिमय करते हैं। यह स्वयं साध्य नहीं है, साध्य तो अधिकतम उत्पादन, अधिकतम सन्तुष्टि, अधिकतम रोजगार आदि हैं। द्रव्य तो इन साध्यों को प्राप्त करने का साधन मात्र है। इसीलिये मिल (Mill) ने कहा है "आधुनिक अर्थ-व्यवस्था में द्रव्य से अधिक स्वयं में महत्वहीन वस्तु नहीं हो सकती। यह केवल श्रम तथा समय की बचत में सहायता करता है। यह एक यंत्र है जो ऐसे कार्यों को जो द्रव्य के विना कुछ धीरे होते हैं शीघ्रता और सरलता से पूरा करता है।"[1] एडम

(१) द्रव्य की महत्वहीनता के सम्बन्ध में मिल का विचार।
(२) द्रव्य की महत्वहीनता :
 (i) द्रव्य का स्वयं कोई उपयोग नहीं होता;
 (ii) द्रव्य का उपयोग सदा वदलता रहा है;
(३) द्रव्य वस्तुओं और सेवाओं की उत्पत्ति व वितरण की प्रक्रियाओं में सहायक :
 (i) द्रव्य के कारण श्रम विभाजन सम्भव;
 (ii) बड़े पैमाने का उत्पादन सम्भव;
 (iii) बिक्री से पहले साधनों का भुगतान सम्भव;
 (iv) साख का उपयोग सम्भव;
 (v) विनिमय-शक्ति को द्रव्य में व्यक्त करना सम्भव होना;
 (vi) सामाजिक न्याय की प्राप्ति का साधन;
(४) द्रव्य के महत्व व महत्वहीनता के सम्बन्ध में क्राउथर, मार्शल चेंडलर व एडम स्मिथ के विचार।

1. "There cannot, in short, be intrinsically a more insignificant thing in the economy of society than money except in the character of a contrivance of sparing time and labour. It is a machine for doing quickly and commodiously, what would be done through less quickly and commodiously without it." J. S. Mill. *Principles of Economics* III p. 3. Quoted by L. V. Chandler, Economics of Money & Banking.

स्मिथ ने भी द्रव्य को महत्वहीन माना है और इसकी तुलना उस पथ से की है जो स्वयं घास का एक तिनका भी उत्पन्न नहीं करता। आधुनिक अर्थशास्त्रियों में राबर्टसन का भी इसी प्रकार का मत है। वे अपनी पुस्तक (Money) में लिखते हैं, "द्रव्य इतना महत्वपूर्ण विषय नहीं है जितना की उसे समझा जाता है; परन्तु फिर भी यह अर्थशास्त्र के अध्ययन की एक मनोरंजक और महत्वपूर्ण शाखा है।"[2]

द्रव्य का स्वयं कोई उपयोग नहीं होता। कंजूस को छोड़कर कोई भी व्यक्ति इसकी माँग, इसको जमा करने के लिये या उसका उपयोग करने के लिये, नहीं करता। वह तो द्रव्य की मांग केवल इसलिये करता है क्योंकि इससे वह उपभोग की वस्तुओं को खरीद कर अपनी आवश्यकता को सन्तुष्ट कर सके तथा उत्पत्ति के साधनों को आदर्श अनुपात में एकत्र करके अधिकतम उत्पत्ति कर सके। यह दोनों काम तभी हो सकते है जबकि किसी वस्तु में क्रय-शक्ति है। जब तक किसी वस्तु में क्रय-शक्ति है तब तक एक व्यक्ति इसको रखना चाहता है परन्तु क्रय-शक्ति न होने से वह इसको मुफ्त भी लेने के लिये तैयार नहीं होता। द्रव्य तो केवल इस प्रकार का साधन है जिससे प्रत्येक प्रकार की वस्तु प्राप्त हो जाती है। इसीलिये वेस्टन (Weston) ने कहा है कि, 'It (money) is a certificate that the claims a man has upon the stocks of goods, will be honoured by the community whenever he wants it to do so."

द्रव्य की उपरोक्त प्रकृति से यह परिणाम निकलता है कि द्रव्य का स्वयं कोई महत्व नहीं बल्कि इसके उपयोग का महत्व है। जो वस्तु भी इस उपयोग को पूरा करती है उसी का महत्व हो जाता है। द्रव्य स्वयं उत्पादन नहीं करता बल्कि उत्पादन करने में सहायता पहुँचाता है। जिस प्रकार से मशीन को ठीक प्रकार से चलाने के लिये किसी चिकने पदार्थ (lubricant) की आवश्यकता होती है जिससे मशीनों के पुर्जे ठीक प्रकार से कार्य करते रहें उसी प्रकार से आर्थिक कार्यों को सुव्यवस्थित रूप में चलाने के लिए द्रव्य की आवश्यकता होती है। द्रव्य आर्थिक मशीन के लिये चिकने पदार्थ (Lubricant) का काम करता है। इसलिये कोल (G. D. H. Cole) ने कहा था, 'Money itself creates nothing; it is a lubricant of real economic processes of production and distribution of goods and services and a means of attaining social justice."[3]

द्रव्य का स्वयं कोई महत्व नहीं है यह इस तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्य का स्वरूप सदा बदलता रहा है। विभिन्न युगों में द्रव्य ने विभिन्न रूप धारण

2. "Money is not such a vital subject as is often supposed, nevertheless it is an interesting and important branch of the study of economics" Money by D. Robertson.

3. Opt. cit. page 9.

किये और समाज के विकास के साथ-साथ इसका भी विकास हुआ है। परन्तु द्रव्य में एक विशेषता सदा रही है और वह विशेषता है सर्वमान्यता। द्रव्य को प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार करने के लिये तैयार हो जाता है तथा यदि किसी वस्तु को अधिकतर लोग स्वीकार न करें तो यह द्रव्य नहीं रह सकता। इस सम्बन्ध में Robertson का यह उद्धरण अवलोकनीय है, "If things which are intended to be money—the notes of certain governments, for instance, cease to be widely accepted in discharge of obligations, they cease to function as money and........ to be money. On the other hand, if things which have not been hitherto considered as money, such as tobacco or cattle or tins of bully heaps, become widely accepted in discharge of obligation, they become money.'[4] इससे यह स्पष्ट हो जाता है जो भी वस्तु सर्वमान्य हो जाती है उसी को द्रव्य कहने लगते हैं और इसीलिये प्रत्येक व्यक्ति इसको जमा करने का प्रयत्न करता है। आज भारत के नोटों को प्रत्येक भारतवासी बड़ी सरलता से स्वीकार कर लेता है और उसके बदले में प्रत्येक वस्तु का विनिमय करने के लिये तैयार हो जाता है। परन्तु यदि भारत की सरकार इन नोटों की विधिग्राह्यता (Legal tenderness) समाप्त कर देती है तो कोई भी व्यक्ति इनको लेने को तैयार नहीं होगा और यह नोट द्रव्य नहीं रहेंगे। भारत में पहले ५०० रुपये का नोट चलता था परन्तु इसके अविधिग्राह्य होने से इसने द्रव्य का कार्य करना समाप्त कर दिया। अत: द्रव्य स्वयं कुछ नहीं है और न ही इसका स्वयं कुछ महत्व है। यह तो द्रव्य का उपयोग है जो इसको महत्व प्रदान करता है।

यह देखने के बाद कि द्रव्य का स्वयं में कोई महत्व नहीं है अब यह देखना होगा कि द्रव्य किस प्रकार वस्तुओं व सेवाओं की उत्पत्ति व वितरण की प्रक्रियाओं prooesses) में सहायक का काम करता है। सबसे पहले हम वस्तुओं व सेवाओं की उत्पादन प्रक्रिया को लेते हैं। द्रव्य के कारण ही उत्पत्ति में विशिष्टीकरण तथा श्रम विभाजन सम्भव नहीं हो सका है। द्रव्य के बिना इस प्रकार का विशिष्टीकरण तथा श्रम विभाजन सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि इन दोनों विशेषताओं के होने से बहुत से व्यक्ति मिलकर एक प्रकार की वस्तु उत्पन्न करते हैं जिससे उनकी सब प्रकार की आवश्यकतायें सन्तुष्ट नहीं हो सकतीं। इसकी पूर्ति के लिये क्रय-विक्रय द्वारा विनिमय आवश्यक है। द्रव्य के बदले में वस्तु को बेच दिया जाता है। उससे जो धन प्राप्त होता वह उत्पत्ति के सब साधक आपस में बाँट लेते हैं तथा प्राप्त धन से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेते हैं।

द्रव्य की सहायता से उत्पादन का पैमाना भी बहुत बढ़ गया है क्योंकि अब मनुष्य एक प्रकार के काम में विशेषता प्राप्त कर लेता है और एक काम को लगातार

4. Robertson. Money. page 3.

करते रहने से उसकी कार्यक्षमता में वृद्धि हो जाती है जिसका प्रभाव उत्पादन की मात्रा पर पड़ता है। Robertson के अनुसार, "It enables man as producer to concentrate his attention on his own job, and so to add more effectively to the general flow of goods and services which constitutes the real income of the society."[5]

आजकल उत्पादन की प्रक्रिया बहुत लम्बी है। उत्पादन आरम्भ होने तथा उत्पादित वस्तु से आय प्राप्त होने में काफी समय लगता है परन्तु उससे पहले विभिन्न प्रकार के खर्च उत्पादक को करने होते हैं। मजदूरों को पारिश्रमिक देना होता है तथा कच्चे माल को खरीदना होता है। द्रव्य की सहायता से इनका भुगतान वस्तु बिकने से बहुत पहले करना सम्भव हो जाता है जिसे उत्पादन में बहुत अधिक सहायता मिलती है।

साख भी द्रव्य के कारण ही सम्भव हो सका है तथा साख से उत्पादन को कम सहायता नहीं मिलती। साख की सहायता से भुगतान करने में तथा हिसाब-किताब के समायोजन में भी बहुत अधिक सुविधा हो जाती है। इसके अतिरिक्त साख की उपस्थिति से पूँजी की गतिशीलता तथा मात्रा दोनों में वृद्धि हो जाती है। आजकल उत्पादन मिश्रित पूँजी कम्पनियों (Joint stock companies) द्वारा किया जाता है और उनको पूँजी अधिक मात्रा में एकत्र करनी होती है जिसको वे छोटी-छोटी बचतों (Savings) के रूप में इकट्ठा करते हैं। यदि द्रव्य न होता तो इनको एकत्र करना कठिन हो जाता। साथ-साथ बैंक इन बचतों को इकट्ठा करके उस स्थान पर भेज देते हैं जहाँ इनकी आवश्यकता सबसे अधिक होती है। इससे उत्पादन अधिकतम हो सकता है।

अन्त में, द्रव्य के होने से प्रत्येक वस्तु की विनिमय-शक्ति को द्रव्य में व्यक्त किया जाता है जिसे मूल्य (Price) कहते हैं। इस मूल्य की सहायता से प्रत्येक उत्पादक यह जान लेता है कि किस वस्तु की माँग अधिक है और उसको कितनी मात्रा में उत्पन्न किया जाय। इस प्रकार से मूल्य-यन्त्र (Price-mechanism) उत्पत्ति के साधनों को उस उद्योग में भेज देता है जहाँ उनकी सबसे अधिक आवश्यकता होती है। मूल्य-यन्त्र तभी कार्य कर सकता है जब द्रव्य हो। Robertson ने द्रव्य के इस लाभ को इन शब्दों में व्यक्त किया है, "The existence of a monetary economy helps society to discover what people want and how much they want it and so to decide what shall be produced and in what quantities. and to make the best use of its limited productive power."[6]

दूसरे, द्रव्य के होने से वस्तुओं व सेवाओं के वितरण की आर्थिक प्रक्रिया में बहुत अधिक सहायता मिलती है। आजकल के समय में जबकि उत्पादन विशिष्टीकरण

5. Ibid page 7
6. Ibid. page 5.

द्रव्य के स्वतन्त्र होने पर इसकी मात्रा में आवश्यकतानुसार परिवर्तन नहीं होते बल्कि जिस समय आवश्यकता नहीं होती उस समय परिवर्तन होते हैं। द्रव्य की मात्रा के परिवर्तन के प्रभाव विभिन्न वर्गों पर विभिन्न पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त द्रव्य में होने वाले परिवर्तन देश के उद्योग व व्यापार पर भी वहुत बुरा प्रभाव डालते हैं। व्यापार तथा उद्योग में कोई स्थायित्व नहीं रहता तथा वस्तुओं का उत्पादन भी कम हो जाता है।

द्रव्य के अनियंत्रित प्रयोग के कारण धन व सम्पत्ति के वितरण में असमानता आ जाती है। संसार का अधिकांश धन कुछ पूँजीपतियों के हाथ में केन्द्रित हो जाता है। धनी अधिक धनी होते जाते हैं और निर्धन अधिक गरीब। इससे लोगों की आय में वहुत अधिक अन्तर हो गया है। समाज में धन की इस असमानता के कारण ही सामाजिक व राजनैतिक क्रान्ति का सदा भय बना रहता है।

द्रव्य ऋण ग्रस्तता को भी प्रोत्साहन देता है। द्रव्य के कारण ऋण का लेन देन वहुत सरल हो गया है जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य को ऋण लेने में प्रोत्साहन मिला है; जिससे फिजूलखर्ची में वृद्धि हुई है। इसके अतिरिक्त सरल लेन-देन का प्रभाव उद्योगों पर भी पड़ा है जहाँ अति-पूँजीकरण (Over-capitalisation) का डर रहता है। इसका परिणाम अति-उत्पादन (Over-production) होता है जो अर्थव्यवस्था में अस्तव्यस्तता लाता है।

मनुष्य के नैतिक पतन का कारण भी द्रव्य है क्योंकि संसार की समस्त बुराइयाँ द्रव्य के कारण उत्पन्न होती है। चोरी, डकैती, गवन, विश्वासघात, हत्या, घूसखोरी आदि दोष द्रव्य के कारण ही है। एक जर्मन अर्थशास्त्री Von Mises के अनुसार, "Money is regarded as the cause of theft and murder, of deception and betrayal. Money is blamed when the prostitute sells her body and when the bribed judge pervents the law. It is money against which the moralist declaims when he wishes to oppose excessive wateralism. Significantly enough, avarice is called the love of money; and all evil is attributed to it."[1]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यद्यपि द्रव्य एक महत्वपूर्ण वस्तु है और हमारी अर्थव्यवस्था की धुरी व केन्द्र है; परन्तु यह अनेकों बुराइयों का कारण भी है। रोबर्टसन ने इस सम्बन्ध में ठीक लिखा है, "द्रव्य जो समाज के लिये अनेक लाभों का स्रोत है, यदि इस पर नियंत्रण न रखा जाय तो संकट का कारण भी बन सकता है।"[2] द्रव्य लाभों का स्रोत तभी तक रहता है जब तक कि इसको हम सेवक के

1. Von Mises, Theory ot Money and Credit. p. 93.

2. "Money which is a source of so many blessings to mankind, becomes also, unless we control it, a source of peril and confussion." D. H. Robertson Money, p. 16.

समान रखें और इसको अपनी इच्छानुसार कार्य न करने दे। यदि अपनी इच्छानुसार कार्य करने लगता है तो यह स्वामी बन जाता है और मनुष्य व अर्थव्यवस्था को हानि पहुँचाने लगता है। इसलिये यह कहना ठीक है कि "द्रव्य एक अच्छा सेवक तो है परन्तु बुरा स्वामी है।"

★

Q. 14 'Money itself creates nothing; it is a lubricant of real economic processes of production and distribution of goods and services and a means of attaining social justice". Discuss.

(Agra 1952, 1962 Vikram 1961, 1964)

सामाजिक जीवन मे द्रव्य को बहुत अधिक महत्व दिया जाता है। जिस व्यक्ति के पास जितना अधिक धन होता है समाज में उसका उतना ही अधिक प्रभुत्व होता है। द्रव्य के होने से व्यक्ति का जीवन स्तर ऊँचा होता है तथा उसकी कार्यक्षमता मे वृद्धि होती है। यही कारण है कि साधारण व्यक्ति द्रव्य को बहुत अधिक महत्व देता है और द्रव्य को ही सब कुछ मानता है। इसी महत्व को ध्यान में रखकर कहा गया है कि, "Money makes the mares go" अर्थात् बिना द्रव्य के कोई कार्य नही हो सकता। परन्तु आर्थिक दृष्टिकोण से यद्यपि द्रव्य का महत्व इससे अधिक ही है परन्तु स्वय द्रव्य को इतना महत्व प्रदान नही किया जाता क्योंकि द्रव्य का स्वयं कोई मूल्य नही होता। द्रव्य तो केवल साधन मात्र है जिसके द्वारा हम विभिन्न वस्तुओं व सेवाओं को विनिमय करते हैं। यह स्वय साध्य नही है, साध्य तो अधिकतम उत्पादन अधिकतम संतुष्टि, अधिकतम रोजगार आदि हैं। द्रव्य तो इन साध्यों को प्राप्त करने का साधन मात्र है। (It is not an end in itself; but a means to an end.)

> (१) द्रव्य साध्य नही साधन है।
> (२) द्रव्य का स्वयं कोई उपयोग नहीं होता; यह केवल वस्तुओं और सेवाओं को प्राप्त करने का साधन मात्र है।
> (३) द्रव्य वस्तुओ और सेवाओं की उत्पत्ति व वितरण की प्रक्रियाओं मे सहायक।

द्रव्य का स्वयं कोई उपयोग नहीं होता। कंजूस को छोड़कर कोई भी व्यक्ति इसकी मांग, इसको जमा करने के लिए या इसका उपयोग करने के लिए, नही करता वह तो द्रव्य की मांग केवल इसलिए करता है क्योंकि इससे वह उपभोग की वस्तुओ को खरीद कर अपनी आवश्यकता को संतुष्ट कर सके तथा उत्पत्ति के साधनों को आदर्श अनुपात मे एकत्र करके अधिकतम उत्पत्ति कर सके। यह दोनो काम तभी हो सकते हैं जब कि किसी वस्तु में क्रय-शक्ति है। जब तक किसी वस्तु में क्रय-शक्ति है तब तक व्यक्ति उसको रखना चाहता है परन्तु क्रय-शक्ति न होने से वह

इसको मुफ्त भी लेने के लिए तैयार नहीं होता। द्रव्य तो केवल इस प्रकार का साधन है जिससे प्रत्येक प्रकार की वस्तु प्राप्त हो जाती है। इसीलिये वेस्टन (Veston) ने कहा है कि, "It (money) is a certificate that the clames a man has upon the stocks of goods, will be honoured by the community whenever he wants it to do so."

द्रव्य की उपरोक्त प्रकृति से यह परिणाम निकलता है कि द्रव्य का स्वयं कोई महत्व नहीं बल्कि इसके उपयोग का महत्व है। जो वस्तु भी इस उपयोग को पूरा करती है उसी का महत्व हो जाता है। द्रव्य स्वयं उत्पादन नहीं करता बल्कि उत्पादन करने में सहायता पहुँचाता है। जिस प्रकार ने मशीन को ठीक प्रकार से चलाने के लिये किसी चिकने पदार्थ (lubricant) की आवश्यकता होती है जिससे मशीनों के पुर्जे ठीक प्रकार से कार्य करते रहें उसी प्रकार से आर्थिक कार्यों को सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए द्रव्य की आवश्यकता होती है। द्रव्य आर्थिक मशीन के लिए चिकने पदार्थ (lubricant) का काम करता है। इसीलिए कोल (G. D. H. Cole) ने कहा था, "Money itself creates nothing; it is a lubricant of real economic processes of production and distribution of goods and services and a means of attaining social justice."[1]

द्रव्य का स्वयं कोई महत्व नहीं है यह इस तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्य का स्वरूप सदा बदलता रहा है। विभिन्न युगों में द्रव्य ने विभिन्न रूप धारण किये और समाज के विकास के साथ-साथ इसका भी विकास हुआ है। परन्तु द्रव्य में एक विशेषता सदा रही है और वह विशेषता है सर्वमान्यता। द्रव्य को प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार करने के लिए तैयार हो जाता है तथा यदि किसी वस्तु को अधिकतर लोग स्वीकार न करें तो यह द्रव्य नहीं रह सकता। इस सम्बन्ध में Robertson का यह उद्धरण अवलोकनीय है, "If things which are intended to be money—the notes of certain governments, for instance, cease to be widely accepted in discharge of obligations they cease to functions as money and..... to be money. On the other hand, if things which have not been hitherto considered as money, such as tobacco or cattle or tins of bully heaps, become widely accepted in discharge of obligation, they become money."[2] इससे यह स्पष्ट हो जाता है जो भी वस्तु सर्वमान्य हो जाती है उसी को द्रव्य कहने लगते हैं और इसीलिये प्रत्येक व्यक्ति इसको जमा करने का प्रयत्न करता है। आज भारत के नोटों को प्रत्येक भारतवासी बड़ी सरलता से स्वीकार कर लेता है और उसके बदले में प्रत्येक वस्तु का विनिमय करने के लिए तैयार हो जाता है। परन्तु यदि भारत की

Ibid. page 9.
obertson. Money. page 3.

सरकार इन नोटों की विधिग्राह्यता (Legal tenderness) समाप्त कर देती है तो कोई भी व्यक्ति इसको लेने को तैयार नहीं होगा और यह नोट द्रव्य नहीं रहेंगे। भारत में पहले ५०० रुपये का नोट चलता था परन्तु इसके अविधिग्राह्य होने से इसने द्रव्य का कार्य करना समाप्त कर दिया। अत. द्रव्य स्वय कुछ नहीं है और न ही इसका स्वय कुछ महत्व है। यह तो द्रव्य का उपयोग है जो इसको महत्व प्रदान करता है।

यह देखने के बाद कि समाज मे द्रव्य का क्या कार्य है और इसका क्या महत्व है। सबसे पहले हम वस्तुओं व सेवाओं की उत्पादन प्रक्रिया को लेते है। द्रव्य के कारण ही उत्पत्ति मे विशिष्टीकरण तथा श्रम विभाजन सम्भव हो सका है। द्रव्य के बिना इस प्रकार का विशिष्टीकरण तथा श्रम विभाजन सम्भव नहीं हो सकता क्योकि इन दोनों विशेषताओं के होने से बहुत से व्यक्ति मिलकर एक प्रकार की वस्तु उत्पन्न करते हैं जिससे उनकी सब प्रकार की आवश्यकतायें सन्तुष्ट नहीं हो सकती। इसकी पूर्ति के लिये क्रय-विक्रय द्वारा विनिमय आवश्यक है। द्रव्य के बदले में वस्तु को बेच दिया जाता है। उससे जो धन प्राप्त होता वह उत्पत्ति के सब साधक आपस में बाँट लेते है तथा प्राप्त धन से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेते हैं।

द्रव्य की सहायता से उत्पादन का पैमाना भी बहुत बढ़ गया है क्योंकि अब मनुष्य एक प्रकार के काम मे विशेषता प्राप्त कर लेता है और एक काम को लगातार करते रहने से उसकी कार्यक्षमता मे वृद्धि हो जाती है जिसका प्रभाव उत्पादन की मात्रा पर पड़ता है। Robertson के अनुसार, "It enables man as producer to concentrate his attentian on his own job, and so to add more effectively to the general flow of goods and services which constitutes the real income of the society."[3]

आजकल उत्पादन की प्रक्रिया बहुत लम्बी है। उत्पादन प्रारम्भ होने तथा उत्पादित वस्तु से आय प्राप्त होने मे काफी समय लगता है परन्तु उसमे पहले विभिन्न प्रकार से खर्चे उत्पादक को करने होते हैं। मजदूरों को पारिश्रमिक देना होता है तथा कच्चे माल को खरीदना होता है। द्रव्य की सहायता से इनका भुगतान वस्तु बिकने से बहुत पहले करना सम्भव हो जाता है जिसे उत्पादन मे बहुत अधिक सहायता मिलती है।

साख भी द्रव्य के कारण ही सम्भव हो सका है तथा साख से उत्पादन को कम सहायता नहीं मिलती। साख की सहायता से भुगतान करने में तथा हिसाब-किताब के समायोजन में भी बहुत अधिक सुविधा हो जाती है। इसके अतिरिक्त साख की उपस्थिति से पूंजी की गतिशीलता तथा मात्रा दोनों में वृद्धि हो जाती है।

3. Ibid, page 7.

अन्त में, द्रव्य के होने से प्रत्येक वस्तु को निश्चित मौद्रिक मूल्य के रूप में व्यक्त किया जाता है जिसे मूल्य (Price) कहते हैं। इस मूल्य की सहायता से प्रत्येक उत्पादक यह जान लेता है कि किस वस्तु की मांग अधिक है और उसको कितनी मात्रा में उत्पन्न किया जाय। इस प्रकार से मूल्य-यन्त्र (Price mechanism) उत्पत्ति के साधनों को उस उद्योग में भेज देता है जहाँ उनकी सबसे अधिक आवश्यकता होती है। मूल्य-यन्त्र तभी काम कर सकता है जब द्रव्य हो। Robertson ने द्रव्य के इस लाभ को इन शब्दों में व्यक्त किया है, "The existence of a monetary economy helps society to discover what people want and how much they want it and so to decide what shall be produced and in what quantities, and to make the best use of its limited productive power."[4]

दूसरे, द्रव्य के होने से वस्तुओं व सेवाओं के वितरण की आर्थिक क्रिया में बहुत अधिक सहायता मिलती है। आजकल के समय में जबकि उत्पादन विशिष्टीकरण व श्रम विभाजन के आधार पर किया जाता है वस्तुओं व सेवाओं का वितरण बिना द्रव्य की सहायता से नहीं हो सकता। जब एक व्यक्ति एक प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन करता है या एक प्रकार की सेवाएँ प्रदान करता है तब वह उसके बदले में कोई ऐसी वस्तु प्राप्त करना चाहता है जिससे वह अपनी आवश्यकता की सब वस्तुयें सरलता से प्राप्त कर ले। ऐसी वस्तु द्रव्य ही है। इसके अतिरिक्त आजकल वस्तुओं व सेवाओं को उधार बहुत दिया जाता है और उनके भुगतान का प्रमाण द्रव्य ही है।

द्रव्य सामाजिक न्याय प्राप्त करने का साधन भी है। सामाजिक न्याय प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति हो। आज अधिकतर अर्थशास्त्री इस बात में विश्वास रखते हैं कि देश की मौद्रिक नीति (Monetary policy) से पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त किया व बनाये रक्खा जा सकता है। देश की मौद्रिक नीति से मांग को एक आवश्यक स्तर पर बनाये रख कर पूर्ण रोजगार को बनाये रक्खा जा सकता है। इसका अर्थ यह है कि देश में ...ी क्रय शक्ति हो कि वस्तु को उत्पन्न करने वाले तथा उनका वितरण करने वाले

4. Ibid. page 5.

व्यस्त रहे तथा माँग कम होने के डर से उत्पादन न घटायें । इसके लिये देश में आवश्यकतानुसार द्रव्य रहना चाहिये ।

द्रव्य के द्वारा प्रदान की गयी इन सहायताओं के कारण ही द्रव्य को इतना अधिक महत्व दिया गया है । इस बात को कोई भी मानने से मना नहीं कर सकता कि द्रव्य एक महत्वपूर्ण वस्तु है । क्राउथर ने कहा है, "ज्ञान की प्रत्येक शाखा की अपनी-अपनी मूल खोज है—जैसे यन्त्र कला में चक्र, विज्ञान में अग्नि, राजनीति शास्त्र में वोट, इसी प्रकार अर्थशास्त्र और मनुष्य के कारोबार में द्रव्य सबसे उपयोगी आविष्कार है । जिस पर बहुत सी बातें आधारित हैं ।"[5] मार्शल ने भी इसको "सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था की धुरी" ("Pivot round which economic science clusters") कहा है । परन्तु द्रव्य का महत्व उसके कार्यों के परिणामस्वरूप है । द्रव्य स्वयं अनुत्पादक है । Chandler के अनुसार, "Money is sterile in that by itself it can produce nothing useful, but it has a very high indirect productivity owing to its ability to facilitate exchange and specialization."[6] आदम स्मिथ (Adam Smith) ने भी इसकी तुलना एक सड़क से की है जिस पर से सारा सामान बिकने के लिए जाता है परन्तु जो स्वयं एक भी वस्तु उत्पन्न नहीं करती ।

★

Q. 15. What is the social significance of money ? do you advocate redistribution of incomes in a community ? If so, suggest methods.

(नोट—द्रव्य के सामाजिक महत्व को प्रश्न नं० ६ में विस्तार से लिख दिया गया है । उसी को यहाँ पर भी लिखना होगा । उसके बाद उत्तर में निम्नलिखित अंश को जोड़ दिया जायगा ।)

इस प्रकार से स्पष्ट है कि द्रव्य का सामाजिक जीवन में बहुत अधिक महत्व है । समाज के प्रत्येक वर्ग श्रमिक उपभोक्ता, उत्पादक आदि को इससे अत्यधिक लाभ प्राप्त होता है । सामाजिक प्रगति पर ही देश की विनिमय पद्धति निर्भर करती है और सामाजिक प्रगति के साथ-साथ ही विनिमय पद्धति का भी विकास हुआ है । परन्तु अत्यधिक सामाजिक महत्व के होते हुए भी द्रव्य के कारण सामाजिक जीवन में कुछ दोष आ गये हैं जिसके कारण द्रव्य के सामाजिक महत्व को कुछ अर्थशास्त्री नहीं मानते । इसका प्रमुख दोष, जिसका प्रभाव सामाजिक जीवन पर अधिक पड़ता

5. Crowther. An Outline of Money. page 16–17.
6. L. V. Chandler. An Introduction to Monetary Theory. page 2.

है, यह है कि द्रव्य के कारण बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना हुई है जिनमें बड़े पैमाने पर उत्पादन होता है। इन बड़े उद्योगों तथा बड़े उत्पादन के परिणामस्वरूप धन के वितरण की असमान हो जाने की प्रवृत्ति पाई जाती है। वर्तमान समय में यह दोष पूर्णतया हमारे समाज में आ गया है। संसार के अधिकतर देशों में धन का असमान वितरण है और अधिकांश धन कुछ पूंजीपतियों के हाथ में है।

प्रो० डेनियलस व श्री केम्पियन के अनुसार इंगलैंड में १% व्यक्तियों के पास देश की ६०% सम्पत्ति है जबकि ७५% के पास केवल ५% सम्पत्ति ही है।[1] यह असमान वितरण केवल सम्पत्ति तक ही सीमित नहीं रहता बल्कि व्यक्तियों की आय भी असमान हो जाती है। प्रो० कोलीन क्लार्क के अनुसार इंगलैंड में १०% लोग देश की राष्ट्रीय आय का ४२% भाग ले जाते हैं।[2] इसी प्रकार अमेरिका के राष्ट्रपति की आर्थिक रिपोर्ट के अनुसार सन् १९४८ में ५९% आय केवल २९% परिवारों को प्राप्त होती थी।[3] भारतवर्ष में भी शाह व खम्बाता के एक अनुमान के अनुसार ३५% लोगों के पास राष्ट्रीय आय का ६६% भाग है। धन के इस असमान वितरण से समाज में विभिन्न प्रकार की बुराइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। अधिकांश मनुष्यों की आवश्यकतायें पूर्ण नहीं हो पातीं वे अर्ध नग्न तथा अर्ध भोजन की अवस्था में रहते हैं। धन का असमान वितरण ही सब प्रकार के झगड़ों, क्राँतियों व अशान्तियों का कारण है।

परन्तु द्रव्य का यह दोष इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना इसको बताया जाता है क्योंकि यह दोष द्रव्य का नहीं बल्कि द्रव्य के प्रयोग का है। द्रव्य धन के वितरण का शासन है और धन का वितरण द्रव्य पर निर्भर नहीं करता बल्कि मनुष्य पर निर्भर करता है। धन स्वयं ही किसी के पास अधिक मात्रा में और दूसरे के पास कम मात्रा में नहीं चला जाता। यह तो मनुष्य पर निर्भर करता है कि वह धन का वितरण किस प्रकार से करे। यदि मनुष्य का दृष्टिकोण विस्तृत है तथा उसमें समाज कल्याण की की भावना अधिक है तब वह धन का समान वितरण करके इन दोषों को दूर कर सकता है।

यह देखने से पहले कि धन का असमान वितरण किस प्रकार से ठीक किया जाय यह भी जानना आवश्यक होगा कि धन के असमान वितरण का क्या कारण है और यह किस प्रकार से सम्भव होता है। धन का असमान वितरण आयों की असमानता के कारण है। जिस समाज में आयों (Incomes) में अधिक असमानता

1. Prof. Daniels and Mr. Campion, The Distribution of National Capital. p. 53–54.

2. Prof. Colin Clark, Economic Position of Great Britain. Quoted by A. C. Pigou. Socialism versus Capitalism. page 19.

3 Economic Report of the President. January 1950. See Samuelson Economics. page 63.

होगी वहाँ धन का वितरण उतना ही असमान होगा और जैसे-जैसे आयों की असमानता कम होती जायगी वैसे-वैसे धन की असमानता भी कम होती जायगी। इस लिये धन की असमानता को कम करने के लिये आय की असमानता को समाप्त करना होगा।

आय की असमानता को दूर करने के लिये दो प्रकार के कार्यों को करना आवश्यक होता है। पहला कार्य तो आय की वर्तमान असमानता को कम करना है और दूसरा कार्य, जो पहले के ही समान महत्वपूर्ण है, इस प्रकार के प्रयत्न करना है जिससे आगे चलकर धन की असमानता में वृद्धि न होने पावे। इसके लिये समाज में आय की असमानता को कम करना होगा। इन कार्यों को कम करने के लिये विभिन्न अर्थशास्त्रियों व राजनीतिवेत्ताओं ने विभिन्न प्रणालियाँ प्रतिपादित की हैं जिनको भी हम मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—पहली क्रांतिकारी योजना जिसका प्रतिपादन साम्यवाद करता है तथा दूसरी विकासवादी योजना (Evolutionary Scheme) जिसको शान्तिप्रिय समाजवादी प्रतिपादित करते है।

क्रान्तिकारी योजना के अनुसार क्रान्ति के द्वारा पूँजीवाद का अन्त कर दिया जायगा और उनकी सम्पत्ति पर सारे समाज का अधिकार हो जायगा। इसके उपरान्त प्रत्येक को धन उसकी आवश्यकता के अनुसार मिलेगा और लोगों की आय में अधिक अन्तर नहीं होगा। इससे धन की समानता सदा बनी रहेगी। रूस (Russia) में इसी प्रकार से आय का पुनर्वितरण किया गया। दूसरी योजना शान्तिप्रिय है, इसके अनुसार आय की वर्तमान असमानता को कर आदि के द्वारा दूर करना चाहिये तथा प्राप्त धन को गरीबों के कल्याण पर खर्च करना चाहिये। राज्य को उन लोगों पर अधिक कर लगाना चाहिये जिनकी आय अधिक है। व्यक्ति की मृत्यु पर उसकी सम्पत्ति पर कर लगाकर सरकार को अतिरिक्त धन को प्राप्त कर लेना चाहिये। इस प्रकार से प्राप्त धन को कम आय वाले पर व्यय करना चाहिए। साथ ही साथ धीरे-धीरे कम आय वालों की आय में वृद्धि होती जायगी और अधिक आय वालों की आय में कमी। इस प्रकार शान्तिप्रिय प्रणाली से आय का पुनर्वितरण हो जायगा।

आजकल अधिकतर अर्थशास्त्री इस बात से सहमत हैं कि आय का पुनर्वितरण होना चाहिये जिससे कि धन की असमानता कम हो जाय। परन्तु वाद-विवाद केवल प्रणाली पर है। यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो शान्तिप्रिय प्रणाली ही आय के पुनर्वितरण के लिये अधिक उपयुक्त है क्योंकि जो वस्तु शान्ति से प्राप्त की जाती है वह अधिक स्थायी होती है तथा झगड़े से प्राप्त वस्तु जितनी शीघ्र हस्तगत होती है उतनी ही शीघ्र हाथ से निकल भी जाती है। भारत में भी आय के पुनर्वितरण के सिद्धान्त को मान लिया गया है और दूसरी पंचवर्षीय योजना का एक मुख्य उद्देश्य धन की असमानताओं को कम करना ही है। परन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति

के लिये दूसरा ढंग ही अपनाया गया है। अतः धन का समान वितरण व आय का पुनर्वितरण क्रान्तिकारी प्रणाली से प्राप्त करना ठीक नहीं।

Q. 16 Briefly explain what is the nature of money ? What is the place of money in a capitalist and a socialist society ?

द्रव्य की प्रकृति (Nature of Money)—द्रव्य एक साधन है जिसके द्वारा हम विभिन्न वस्तुओं व सेवाओं का विनिमय करते हैं। यह स्वयं साध्य नहीं है बल्कि साध्य को प्राप्त करने का साधन है (It is not an end in itself; but a means to an end)। द्रव्य का स्वयं कोई उपयोग नहीं होता। कोई भी व्यक्ति (कंजूस को छोड़कर) द्रव्य को केवल इकट्ठा करने के लिये इसकी माँग नहीं करता; बल्कि इसलिये इसकी माँग करता है कि इसके द्वारा वह वस्तु क्रय करके अपनी आवश्यकताओं को संतुष्ट करता है। अत: जब तक वस्तु में क्रय शक्ति है तब तक प्रत्येक व्यक्ति इसको चाहता है परन्तु क्रय शक्ति न होने पर कोई व्यक्ति उसको अपने पास रखने के लिये तैयार नहीं होगा। Weston के अनुसार "Money allows the consumer to take his real income at the time and in the manner that suits him the best. It is a certificate that the claims a man has upon the stocks of goods, will be honoured by the community whenever he wants it to do so."

(१) द्रव्य स्वयं साध्य नहीं है बल्कि साध्य को प्राप्त करने का साधन है।
(२) स्वयं उत्पादक नहीं है बल्कि उत्पादन में सहायता देता है।
(३) पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में द्रव्य का महत्व।
(i) मूल्य-यंत्र को संभव बनाना।
(ii) उपभोक्ता को सार्वभौमिकता देना।
(iii) आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान करना।
(iv) उत्पादन को नियन्त्रित करना।
(४) समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में द्रव्य का महत्व कम होता है।

द्रव्य की उपरोक्त प्रकृति से यह परिणाम निकलता है कि द्रव्य का स्वयं कोई महत्व नहीं है बल्कि इसके उपयोग का महत्व है। जो वस्तु भी इस उपयोग को पूरा करती है उसी का महत्व हो जाता है। द्रव्य स्वयं उत्पादन नहीं करता बल्कि उत्पादन में सहायता करता है। जिस प्रकार से मशीनों को ठीक प्रकार से चलाने के लिये तेल की आवश्यकता होती है उसी प्रकार से आर्थिक कार्य को ठीक प्रकार से चलाने के लिये हमको द्रव्य की आवश्यकता होती है। G. D. H. Cole के अनुसार, "Money itself creates nothing; it is a lubricant of real economic processes

of product'on and distribution of goods and services a standard of value, and a means of storing claims to purchasing power."[1]

अतः द्रव्य स्वयं उत्पत्ति व वितरण नहीं करता बल्कि उत्पत्ति व वितरण करने में सहायता प्रदान करता है। यदि द्रव्य न होता तब भी यह कार्य होते रहते परन्तु द्रव्य के होने से यह कार्य सरलता से होने लगते हैं। द्रव्य के परिणामस्वरूप उत्पादन का पैमाना बढ़ जाता है और वितरण सरलता से हो जाता है। इसके अतिरिक्त द्रव्य एक माप है जिसके द्वारा विभिन्न वस्तुओं के मूल्यों को मापा जाता है तथा उनकी तुलना भी की जाती है। वास्तव में द्रव्य माप के रूप में आजकल अधिक महत्वपूर्ण है। बहुत बार हम वस्तु बेचते तथा खरीदते हैं परन्तु द्रव्य का वहाँ बिल्कुल भी प्रयोग नहीं होता। इसको केवल द्रव्य के रूप में माप लिया जाता है और हिसाब की किताब में दर्ज कर लिया जाता है। इसी प्रकार हिसाब की किताब में क्रय-विक्रय दर्ज होता है तथा हिसाब बराबर होता रहता है।

अतः द्रव्य का महत्व केवल उसके कार्यों के परिणामस्वरूप है। वह स्वयं अनुत्पादक है। L. V. Chandler के अनुसार, "Money is sterile in that by itself it can produce nothing useful, but it has a very high indirect productivity owing to its ability to facilitate exchange and specializations."[2] Adam Smith ने भी इसकी तुलना एक सड़क से की है जिस पर से सारा सामान होकर बिकने के लिये जाता है। परन्तु जो स्वयं एक भी वस्तु उत्पन्न नहीं करती।

द्रव्य तथा पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था (Money and the Capitalist Economy)—पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में द्रव्य का क्या स्थान है यह समझने के लिये पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का अर्थ समझना बहुत आवश्यक है। यहाँ पर पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था पर विस्तृत रूप से प्रकाश नहीं डाला जायगा क्योंकि हमारा मुख्य उद्देश्य पूँजीवाद का अध्ययन करना नहीं है। संक्षेप में, पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था उस अर्थ-व्यवस्था को कहते हैं जिसमें व्यक्ति को उत्पत्ति के साधनों पर अधिकार करने तथा उन्हें व्यक्तिगत लाभ के लिये उपयोग में लाने की सुविधा तथा स्वतन्त्रता होती है। अतः पूँजीवाद के मुख्य लक्षण हैं—आर्थिक स्वतन्त्रता, मूल्य-यन्त्र का पूर्ण संचालन, लाभ भावना, पूर्ण प्रतियोगिता, उत्पत्ति के साधनों पर व्यक्ति का अधिकार तथा उपभोक्ता की सार्वभौमिकता।

पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में क्योंकि आर्थिक स्वतन्त्रता होती है इसलिये प्रत्येक व्यक्ति उस व्यवसाय में धन लगाता है जिसमें उसको सबसे अधिक लाभ होता है। किस उद्योग में धन लगाया जायगा यह मूल्य-यन्त्र पर निर्भर करता है और इसलिए पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में द्रव्य का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है।

1. G. D. H. Cole. Money—The Present and Future, page 9.
2. L. V. Chandler : opt. cit. page 2.

पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में द्रव्य स्वतन्त्र रूप से कार्य करता है। यह इस अर्थ-व्यवस्था की धुरी है, क्योंकि द्रव्य पर ही आधुनिक अर्थ-व्यवस्था आधारित है। इस अर्थ-व्यवस्था की कार्य प्रणाली इसी के द्वारा निर्देशित व नियन्त्रित होती है। यह इसकी सीमा के बाहर कार्य नहीं कर सकती। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था को अपने को उपलब्ध-वित्त के साथ व्यवस्थित करना होता है और वित्त की उपलब्धि बहुत कुछ द्रव्य की मात्रा पर निर्भर है।

द्रव्य तथा समाजवादी अर्थ-व्यवस्था (Money and Socialist Economy)—समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में भी द्रव्य का स्थान मालूम करने के लिये समाजवादी अर्थ-व्यवस्था या समाजवाद का अर्थ समझना आवश्यक हो जाता है। डिकेन्सन (Dickenson) के अनुसार, "समाजवाद समाज का वह आर्थिक संगठन है जिसमें उत्पादन के समस्त भौतिक साधनों पर सम्पूर्ण समाज का स्वामित्व होता है तथा वे ऐसे अंगों द्वारा चलाये जाते हैं जो एक सामान्य योजना के अनुसार समाज का प्रतिनिधित्व करते हों, तथा समाज के प्रति उत्तरदायी हों और समाज के समस्त सदस्यों को ऐसे समाजवादी आधार पर किये गये उत्पादन के फलों से प्राप्त लाभ, समान अधिकारों के आधार पर प्राप्त करने का हक हो।"[3]

लाभ भावना का अभाव, उत्पत्ति के साधनों का सामाजिक स्वामित्व, प्रतियोगिता का अभाव, राज्य द्वारा उत्पादन तथा आर्थिक नियोजन, यह समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के मुख्य लक्षण हैं। मूल्य-यन्त्र व उपभोक्ता की सार्वभौमिकता जो दो मुख्य लक्षण पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में थे उनका प्रभाव इस अर्थ-व्यवस्था में रहता है।

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में मूल्य-यन्त्र का अभाव रहता है अर्थात् कौन सी वस्तु उत्पन्न होगी तथा कितनी उत्पन्न होगी यह मूल्य के अनुसार तय नहीं होता बल्कि राज्य के द्वारा तय होता है। "In a socialized economy, what should be produced and the allocation of the factors of production to different industries and establishments are matters that are decided by a planning authority."[4] राज्य मूल्य का लाभ का ध्यान नहीं रखती बल्कि कल्याण का विचार अधिक करती है। इसी प्रकार से उपभोक्ता की सार्वभौमिकता का भी अभाव रहता है। इस अर्थ-व्यवस्था में उपभोक्ता द्वारा उत्पादन

3. "Socialism is an economic organisation of society in which the material means of production are owned by the whole community and operated by organs representative of and responsible to the community according to a general plan, all members of the community being entitled to benefits from the results of such socialized planned production on the basis of equal rights." H D Dickenson Economics of Socialism, page 11.

4. Dodd & Hasek (Economics—Principles & Applications).

मूल्य यन्त्र (Price-Mechanism) पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का सबसे महत्वपूर्ण लक्षण है। एक अर्थशास्त्री के अनुसार "The price system has been historically grafted into the structure of the capitalist market with its incentive of private profit...The individualist exchange economy with its markets as the business nexus rests basically on price-mechanism." मूल्य-यन्त्र केवल द्रव्यिक अर्थ-व्यवस्था में ही सम्भव हो सकता है इसका वर्णन ऊपर कर दिया गया है। अत: यहाँ पर हमको यह देखना है कि मूल्य-यन्त्र का पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में क्या स्थान है और इससे द्रव्य का भी स्थान उपरोक्त अर्थ-व्यवस्था मे स्पष्ट हो जायगा क्योंकि मूल्य-यन्त्र द्रव्य बिना के सम्भव नही है।

मूल्य-यन्त्र ही पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में यह निश्चित करता है कि किस वस्तु का उत्पादन किया जाय और कितना उत्पादन किया जाय। उपभोक्ता मूल्य-यन्त्र के द्वारा बता देते हैं कि किस वस्तु की उनको आवश्यकता है और कितनी आवश्यकता है। यदि लोग कोई विशिष्ट वस्तु चाहते हैं और उसका मूल्य देने को उद्यत हैं, तो साधन उसी वस्तु के उत्पादन की ओर उन्मुख कर दिये जायेंगे। इसी प्रकार माँग के द्वारा उपभोक्ता यह निश्चित करते हैं कि उत्पादन कितना किया जाय।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक उत्पादन प्रणाली को किसी न किसी भविष्यवाणी पर निर्भर रहना पड़ता है। पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत मूल्य-यन्त्र ही सम्पूर्ण आवश्यक भविष्यवाणी करती है। मूल्य के घटने-बढ़ने से ही उत्पादन कम या अधिक होता है और उत्पादन कम या अधिक होने पर आर्थिक व्यवस्था की सुदृढ़ता निर्भर है। अत: देश में बेकारी, उत्पादन, उद्योगों का विकास व धन का उत्पादन सब मूल्य-यन्त्र पर ही निर्भर है।

उपभोक्ता की सार्वभौमिकता भी पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का मुख्य लक्षण है। उपभोक्ता की सार्वभौमिकता (Consumer's Sovereignty) द्रव्यिक अर्थ-व्यवस्था (Monetary Economy) में ही हो सकती है क्योंकि द्रव्य के द्वारा वह विभिन्न वस्तुओं की माँग प्रदर्शित कर सकता है तथा मूल्य के द्वारा वह बता सकता है कि उसको किस वस्तु की आवश्यकता है। इस प्रकार द्रव्य की सहायता से वह पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पत्ति की प्रकृति, रूप व सीमा को निर्धारित करता है।

इस प्रकार से मूल्य यन्त्र व उपभोक्ता की सार्वभौमिकता के कारण पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में द्रव्य का मुख्य स्थान है। यह ही एक ऐसा यन्त्र है जिसके द्वारा पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली पर नियन्त्रण रखा जाता है। यद्यपि अब राज्य प्रत्यक्ष रूप से भी पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली पर नियन्त्रण रखता है परन्तु पहले मूल्य-यन्त्र का ही प्रयोग किया जाता है। मूल्य-यन्त्र व उपभोक्ता की सार्वभौमिकता द्रव्य के कारण ही कार्य कर सकते हैं।

पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे द्रव्य स्वतन्त्र रूप से कार्य करता है। यह इस अर्थ-व्यवस्था की धुरी है, क्योंकि द्रव्य पर ही आधुनिक अर्थ-व्यवस्था आधारित है। इस अर्थ-व्यवस्था की सारी प्रणालीं इसी के द्वारा निर्देशित व नियन्त्रित होती है। वह इसकी सीमा के बाहर कार्य नहीं कर सकती। पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था को अपने को द्रव्य-वित्त के साथ व्यवस्थित करना होता है और वित्त भी उपलब्धि बहुत कुछ द्रव्य की मात्रा पर निर्भर है।

द्रव्य तथा समाजवादी अर्थ-व्यवस्था (Money and Socialist Economy)—समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे भी द्रव्य का स्थान मालूम करने के लिये समाजवादी अर्थ-व्यवस्था या समाजवाद का अर्थ समझना आवश्यक हो जाता है। डिकेन्सन (Dickenson) के अनुसार, "समाजवाद समाज का वह आर्थिक संगठन है जिसमे उत्पादन के समस्त भौतिक साधनों पर सम्पूर्ण समाज का स्वामित्व होता है तथा ये ऐसे अंगों द्वारा चलाये जाते हैं जो एक सामान्य योजना के अनुसार समाज का प्रतिनिधित्व करते हों, तथा समाज के प्रति उत्तरदायी हों और समाज के समस्त सदस्यों को ऐसे समाजवादी आधार पर किये गये उत्पादन के फलों से प्राप्त लाभ, समान अधिकारों के आधार पर प्राप्त करने का हक हो।"[3]

लाभ भावना का अभाव, उत्पत्ति के साधनों का सामाजिक स्वामित्व, प्रतियोगिता का अभाव, राज्य द्वारा उत्पादन तथा आर्थिक नियोजन, यह समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के मुख्य लक्षण हैं। मूल्य-यन्त्र व उपभोक्ता की सार्वभौमिकता जो दो मुख्य लक्षण पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में थे उनका प्रभाव इस अर्थ-व्यवस्था मे रहता है।

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे मूल्य-यन्त्र का अभाव रहता है अर्थात् कौन सी वस्तु उत्पन्न होगी तथा कितनी उत्पन्न होगी यह मूल्य के अनुसार तय नहीं होता बल्कि राज्य के द्वारा तय होता है। "In a socialized economy, what should be produced and the allocation of the factors of production to different industries and establishments are matters that are decided by a planning authority."[4] राज्य मूल्य का लाभ का ध्यान नहीं रखती बल्कि कल्याण का विचार अधिक करती है। इसी प्रकार से उपभोक्ता की सार्वभौमिकता का भी अभाव रहता है। इस अर्थ-व्यवस्था में उपभोक्ता द्वारा उत्पादन

---

3 "Socialism is an economic organisation of society in which the material means of production are owned by the whole community and operated by organs representative of and responsible to the community according to a general plan, all members of the community being entitled to benefits from the results of such socialized planned production on the basis of equal rights." H D Dickenson. Economics of Socialism, page 11.

4. Dodd & Hasek (Economics—Principles & Applications).

९

द्रव्य का मूल्य

(VALUE OF MONEY)

Q. 17. Study the factors which determine the value of money. Has the value of the Indian rupee fallen in recent years? Give reasons

द्रव्य के मूल्य से तात्पर्य उन सब वस्तुओं व सेवाओं की मात्रा से होता है जो द्रव्य की एक इकाई के बदले में प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार "द्रव्य की क्रय-शक्ति ही द्रव्य का मूल्य है जिसको हम सामान्य मूल्य-स्तर से ज्ञात करते है।" (बेनहम)। यदि देश में वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों में वृद्धि हो जाती है तो द्रव्य की क्रय-शक्ति (Purchasing power) में कमी हो जाती है तथा द्रव्य के मूल्य में कमी हो जाती है। इसका उल्टा परिणाम मूल्यों में कमी का होगा है। बैनहम (Benham) के अनुसार, "द्रव्य के मूल्यों को सामान्य मूल्य स्तर का प्रतिलोम (Reciprocal) माना जा सकता है। उदाहरण के लिये सामान्य मूल्य स्तर दुगना हो गया है तो इसका अर्थ यह है कि द्रव्य का मूल्य आधा हो गया है।"[1]

रूपरेखा —

(१) द्रव्य के मूल्य का अर्थ।
(२) द्रव्य की मांग व पूर्ति के द्वारा द्रव्य के मूल्य का निर्धारण।
(३) भारतीय रुपये के मूल्य में गिरावट के कारण —
(i) चलन में वृद्धि,
(ii) बैंक साख में वृद्धि;
(iii) उत्पादन की वृद्धि की दर में कमी,
(iv) योजना के खर्चों में वृद्धि,
(v) निर्यात वृद्धि प्रयत्न;
(vi) जनसंख्या में वृद्धि।

द्रव्य का मूल्य निर्धारण (Determination of the Value of Money)—यदि विस्तृत दृष्टिकोण से देखा जाये तो वास्तव में द्रव्य भी एक प्रकार की वस्तु है और इस वस्तु को सुविधा के लिए विनिमय का माध्यम (Medium of Exchange) व विनिमय-शक्ति का माप

1. "The value of money may be regarded as the reciprocal of the general level of price : for example, if the general level of prices has doubled, this means the value of money has halved." Benham, Economics.

(Measurement of Value) बना लिया गया है। इसलिये इसके मूल्य निर्धारण के लिये किसी अलग सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है बल्कि द्रव्य की मांग व इसकी पूर्ति के सन्तुलन से ही इसका मूल्य निर्धारित हो जाता है। क्राउथर के शब्दों में, "द्रव्य की मांग में वृद्धि होने पर, और साथ ही साथ द्रव्य की पूर्ति में वृद्धि न होने पर इसके मूल्य में वृद्धि हो जाती है—अर्थात् सामान्य मूल्य स्तर में ह्रास हो जाता है। इसी प्रकार से, द्रव्य की पूर्ति में वृद्धि होने का परिणाम, मांग में वृद्धि न होने पर, इसके मूल्य में ह्रास होगा अर्थात् सामान्य मूल्य स्तर में वृद्धि हो जायगी।"[2]

यहाँ पर एक समस्या यह आती है कि द्रव्य की मांग व पूर्ति का क्या अर्थ है क्योंकि वस्तुओं की मांग व पूर्ति तो स्वयं स्पष्ट है परन्तु द्रव्य की मांग व पूर्ति तो

मात्रा को प्रभावित करती है। यदि बैंक कम नकद रख कर उधार देते हैं तो द्रव्य की पूर्ति अधिक होगी तथा बैंक जब अधिक नकद जमा (Cash Deposits) रखने लगते हैं तो पूर्ति कम हो जाती है।

इससे द्रव्य की पूर्ति एक निश्चित समय पर मालूम हो जाती है; परन्तु जब हम द्रव्य की पूर्ति कुछ समय की अवधि मे (Over a period of time) मालूम करना चाहें तो एक और कारण द्रव्य की पूर्ति को प्रभावित करता है और वह है द्रव्य का चलन वेग (Velocity of money)। ब्रिगस व जार्डन के अनुसार "दिये हुये समय मे एक सिक्का जितनी बार क्रय करने के लिए काम मे आता है वह उसका चलन वेग कहलाता है।" एक ही सिक्का बार-बार विनिमय का कार्य करता है और द्रव्य की पूर्ति में वृद्धि करता है। सिक्को व कागज के नोटो के अतिरिक्त साख-द्रव्य (Credit money) भी कई बार विनिमय के लिये प्रयुक्त होता है और उसके चलन वेग का भी प्रभाव द्रव्य की पूर्ति पर पड़ता है।

इस प्रकार किसी विशेष समय (Particular moment) द्रव्य की पूर्ति विनिमय के लिये तत्पर कानूनी द्रव्य (Legal money) व बैंक साख-द्रव्य (credit money) की मात्रा पर निर्भर करती है। परन्तु यदि हमको किसी अवधि (period of time) में पूर्ति को मालूम करना है तो कानूनी द्रव्य व साख द्रव्य की मात्रा को इसके चलन वेग से गुणा (Multiply) करना होगा। क्राउथर के अनुसार, "If we want to know how much money has been used in the course of a year to make payments, the answer is the total amount of money in existence multiplied by the average number of times it has changed hands in the course of years."[3]

द्रव्य की मांग (Demand of Money)—द्रव्य की पूर्ति के अतिरिक्त द्रव्य की मांग भी द्रव्य के मूल्य निर्धारण को प्रभावित करती है। द्रव्य की पूर्ति की धारणा पर अर्थशास्त्रियों मे अधिक मतभेद नही है परन्तु द्रव्य की मांग के सम्बन्ध मे बहुत मतभेद है। यहाँ पर दोनो के विचारो को स्पष्ट करना आवश्यक होगा।

द्रव्य की मांग के सम्बन्ध में द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त (Quantity Theory of Money) वालो का, जिनमें फिशर (Fisher) व केमरर (Camerrer) मुख्य हैं, कहना है कि द्रव्य विनिमय का माध्यम है और इसीलिए इसकी मांग होती है। इसलिए द्रव्य की मांग उन सब लोगों से की जाती है जो वस्तु को बेचना चाहते हैं। अतः बाजार मे जितनी वस्तुयें एक समय में विनिमय के लिये आती हैं वह द्रव्य की मांग की मात्रा को निर्धारित करती हैं। जितनी अधिक वस्तुयें विनिमय के लिये आयेंगी उतनी ही अधिक मांग द्रव्य की होगी। फिशर के सूत्र के अनुसार मुद्रा की मांग 'P T' के बराबर होती है।

3. Crowther, An Outline of Money, page 118–119.

द्रव्य की माँग की इस धारणा को मार्शल (Marshall), पीगू (Pigou), हॉटरे (Hawtrey), कैनन (Cannan) तथा रोबर्टसन आदि अर्थशास्त्रियों ने नहीं माना है। उन्होंने कहा है कि द्रव्य की माँग उन लोगों के द्वारा नहीं की जाती जो वस्तुओं को वेचना चाहते हैं वल्कि उन लोगों के द्वारा की जाती है जो द्रव्य को अपने पास तरल रूप में रखना चाहते हैं। प्रो० कैनन (Cannan) ने कहा है, कि मकानों की वास्तविक मांग उन लोगों की ओर से होती है जो मकान में रहना चाहते हैं। मकानों के दलालों की मांग को इसकी वास्तविक मांग नहीं कह सकते। इसी प्रकार द्रव्य की माँग उग लोगों की ओर से होती है जो इसका उपयोग करना चाहते हैं।[4]

इस प्रकार इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुद्रा की माँग व्यापारिक सौदों पर निर्भर नहीं करती वल्कि इस वात पर निर्भर करती है कि जनता व विभिन्न संस्थायें कितना द्रव्य नकद जमा में रखना चाहते हैं। यह व्रिगस व जार्डन के अनुसार लोगों की आदत व आमदनी पर निर्भर करती है।

द्रव्य का मूल्य निर्धारण (Determination of the Value of Money)—द्रव्य का मूल्य भी, किसी दूसरी वस्तु के मूल्य के समान मांग व पूर्ति की शक्तियों से निर्धारित होता है। पूर्ति में वृद्धि न होने पर तथा माँग में वृद्धि होने पर द्रव्य के मूल्य में वृद्धि हो जाती है तथा वस्तुओं के मूल्य गिर जाते हैं। पूर्ति में वृद्धि होने पर मूल्य वढ़ जाते हैं तथा द्रव्य का मूल्य गिर जाता है।

भारतीय रुपये के मूल्य में गिरावट (Decline in the Value of Indian Rupee)—किसी भी देश के द्रव्य का मूल्य उस देश में प्रचलित मूल्य-स्तर पर निर्भर करता है। यदि मूल्य-स्तर में वृद्धि हो जाती है तो इसका अर्थ द्रव्य के मूल्य में ह्रास होता है। भारतीय रुपये के मूल्य को जानने के लिये भी हमें भारत में मूल्य-स्तर का परीक्षण करना होगा।

भारत में मूल्य-स्तर की तुलना करने के लिये आधार वर्ष सन् १६३६ को माना जाता था। सन् १६३६ की तुलना में सन् १६४७ के मूल्यों का सूचक अंक (Index Number) २६७·४ हो गया तथा दिसम्बर सन् १६५६ में यह और भी बढ़ कर ४२८·८ हो गया। परन्तु इस समय सरकार ने आधार वर्ष को सन् १६३६ से बदल कर सन् १६५२–५३ कर दिया। इसकी तुलना में भी मूल्य-स्तर में लगातार वृद्धि होती रही है। इन सन् १६५६ में थोक मूल्यों का सूचक अंक बढ़ कर ११५·३

4. "That belief seems to me to be exactly equal to a belief that the demand for houses comes not from the people who want to live in houses but from people who buy houses and sell them again [illegible]. The effective demand for houses evidently comes from people who want to hold houses, even the speculators want to hold for [illegible]." Cannan

हो गया, अप्रैल सन् १९६५ में खाद्य पदार्थों की वस्तुओं के मूल्य का सूचक अंक बढ़कर १३६ हो गया और अखिल भारतीय उपभोक्ता सूचक अंक मार्च सन् १९६५ मे १५६ (आधार, सन् १९४९–१००) तक पहुँच गया। इससे स्पष्ट है कि भारतवर्ष मे लगातार मूल्यो मे वृद्धि होती रही है *जिसके कारण रुपये का मूल्य गिरता जा रहा है।* Sh. H. V. R. Lenger, गवर्नर, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने २० अगस्त सन् १९५९ को बम्बई में बैंकर्स की एक सभा में भाषण करते हुए इस बात को स्वीकार कर लिया कि स्वतन्त्रता प्राप्ति से अब तक भारतीय रुपये के आन्तरिक मूल्य में बहुत कमी हो गयी है। उनके अनुसार पिछले १२ वर्षों में रुपये के मूल्य में २९ प्रतिशत का ह्रास हो गया है।

भारत के रुपये के मूल्य में गिरावट के बहुत से कारण रहे हैं जिनका सामूहिक प्रभाव मूल्यो में वृद्धि हुई है। मूल्यो में वृद्धि के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) चलन में वृद्धि (Increase in Currency)—पिछले वर्षों मे भारत में चलन की मात्रा में लगातार वृद्धि होती रही है। सन् १९५१–५२ मे चलन की मात्रा १,८०३·७९ करोड़ रुपये थी जो कि सन् १९५६–५७ में बढ़ कर २,३१२·८९ करोड़ हो गयी। इस प्रकार इन वर्षों मे चलन की मात्रा में लगभग ३५% की वृद्धि हुई है। *सन् १९६१ मे चलन की मात्रा ४१६८ करोड के लगभग थी।*

(२) बैंक साख में वृद्धि (Increase in Bank Credit)—चलन की मात्रा में वृद्धि के साथ बैंक साख की मात्रा मे भी वृद्धि हो रही है। सन् १९५१ में बैंक-साख ५७९·८ करोड़ रुपये के बराबर थी जो कि सन् १९५७ में बढ़कर ७४८·४ करोड हो गयी। इन वर्षों मे साख की मात्रा मे ६०% के लगभग वृद्धि हुई है। सन् अप्रैल १९६५ में बैंक-साख की मात्रा २११६ करोड़ रुपये थी। इसका प्रभाव द्रव्य की पूर्ति में वृद्धि हुआ है जिसका प्रभाव होता है मूल्यों में वृद्धि व द्रव्य के मूल्य में कमी।

(३) उत्पादन की वृद्धि की दर में कमी (Decrease in the Rate of Growth of Production)—चलन व बैंक-साख की मात्रा की वृद्धि के साथ-साथ जो बात दुःख की है, वह है, उत्पादन की वृद्धि की दर मे ह्रास। यह ह्रास औद्योगिक व कृषि दोनों ही क्षेत्र मे हुआ है। सन् १९५५ मे वृद्धि की दर ७·८% थी जो सन् १९५८ में घटकर १·५% रह गयी। कृषि क्षेत्र में भी उत्पादन में काफी कमी रही है। सन् १९५७–५८ में कृषि *उत्पादन ८·४ प्रतिशत गिर गया और खाद्य* पदार्थों के उत्पादन में तो ह्रास ११% के बराबर रहा। सन् १९६५–६६ में यद्यपि खाद्य पदार्थों मे वृद्धि की आशा है परन्तु मूल्यो मे कमी नही हुई है।

(४) योजना के खर्चों में वृद्धि (Increase in the Plan Outlay)—द्वितीय पंचवर्षीय योजना के व्यय में भी लगातार वृद्धि होती रही है जिसका प्रभाव मूल्यो पर पड़ा है। सन् १९५६–५७ में यह खर्चा ६३९ करोड़ था जो सन् १९५८–

५९ में बढ़कर ६८१ करोड़ हो गया। इसके साथ-साथ कृषि व औद्योगिक की वृद्धि दर में कम होती रही और चलन की पूर्ति (Supply of currency) वृद्धि।

(५) निर्यात वृद्धि प्रयत्न (Export Promotion Measures)— में कुछ समय से 'विदेशी विनिमय संकट' (Foreign Exchange Crisis) है जिसके कारण सरकार निर्यातों को बढ़ाने का प्रयत्न कर रही है। निर्यात से देश में कम माल लोगों के लिए रह जाता है और पूर्ति कम हो जाने से मूल्यों में वृद्धि हो गई है।

(६) जनसंख्या में वृद्धि (Increase in the Population) जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। जनसंख्या में वृद्धि ५० लाख प्रति दर से बढ़ती जा रही है। इससे माँग में निरन्तर वृद्धि हो रही है।

इस प्रकार से एक ओर तो चलन की मात्रा में वृद्धि हो गयी तथा दूसरी जनसंख्या में वृद्धि हो गयी और उत्पादन में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई। इसका प्रभाव हुआ मूल्य-स्तर में वृद्धि तथा रुपये के आन्तरिक मूल्य में कमी।

Q. 18. How is the variations in the value of money what are the defects in the system of Index numbers? To what can they be remedied? (Agra

कोई भी मनुष्य द्रव्य को केवल द्रव्य के लिये ही स्वीकार नहीं करता इसलिये स्वीकार करता है क्योंकि इसमें क्रय-शक्ति है। द्रव्य का वास्तविक सब वस्तुयें हैं जो एक समय व स्थान पर द्रव्य की एक निश्चित इकाई के बदले में प्राप्त हों। इसलिये द्रव्य के मूल्य का अर्थ यह है कि मुद्रा की एक इकाई के बदले अन्य वस्तुयें कितनी मात्रा में प्राप्त की जा सकती हैं। यदि एक रुपये के बदले हमें अधिक मात्रा में वस्तुयें प्राप्त हो सकती हैं, तो हम कहेंगे कि रुपये का मूल्य ऊँचा है और यदि कम मात्रा में वस्तुयें प्राप्त होती हैं तो रुपये का मूल्य नीचा माना जायगा। दूसरे शब्दों में द्रव्य में मूल्य का अर्थ द्रव्य की सामान्य क्रय-शक्ति (General purchasing power)

रूप रेखा :
(१) द्रव्य के मूल्य का अर्थ द्रव्य के मूल्य में होने परिवर्तन।
(२) परिवर्तनों को नापने के लिये सूचक-अंकों का बनाना।
(३) सूचक-अंक का अर्थ।
(४) सूचक-अंक के दोष।
(i) निश्चित परिवर्तनों पता नहीं लगता;
(ii) अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों तुलना नहीं होती;

से है। Robertson के अनुसार, "By the value of money we mean something exactly analogous to what we mean by the value of anything else say bread or cloth; that is to say, we mean the amount of things in general which will be given in exchange for a unit of money."[1]

(iii) विभिन्न समय के मूल्यों की तुलना नही होती;
(iv) केवल एक ही प्रकार के मूल्यों का माप;
(५) सूचक अंकों का महत्व।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि द्रव्य का मूल्य वस्तुओं के मूल्य पर निर्भर करता है परन्तु वस्तुओ के मूल्य कभी स्थिर नही रहते। उनमें समय-समय पर परिवर्तन होते रहते है। कभी मूल्य अधिक हो जाते हैं और कभी मूल्य कम हो जाते है। यदि सभी वस्तुओं के मूल्य साथ बढते या घटते तो द्रव्य के मूल्य में हुई कमी या वृद्धि को भी मालूम करना सरल हो जाता। परन्तु कठिनाई तो उस समय आती है जब कि वस्तुओ के मूल्य में उतार-चढ़ाव सदैव एक ही दिशा मे और एक ही अनुपात मे नही होते हैं। इसलिये द्रव्य के मूल्य मे परिवर्तन मालूम करने के लिये सब वस्तुओं के मूल्य का औसत निकाला जाता है और इस प्रकार एक विशेष समय पर निकाला गया मूल्यों का औसत ही सूचक-अक (Index Number) कहलाता है। हम किसी दो समय या स्थान के सूचक-अको की तुलना करके यह ज्ञात कर सकते हैं कि मूल्यों मे क्या सामान्य परिवर्तन (General change in prices) हुए हैं। मूल्यों के सामान्य परिवर्तनों को जानकर हम यह पता लगा सकते है कि द्रव्य के मूल्य मे क्या उतार चढाव हुए हैं। इसलिये द्रव्य के मूल्य के उत्तार-चढ़ाव को नापने के लिये सूचक-अको की पद्धति अपनायी जाती है।

सूचक-अंकों की परिभाषा घोष व चौधरी (Ghosh and Chaudhri) ने इस प्रकार से की है, "An Inddex Number is a number which indicates the level of a certain phenomenon at any given date in comparison with the level of the same phenomenon at some standard date."[2] साधारण शब्दों में हम कह सकते है कि वे अक, जो कि किसी विशेष समय पर किसी वस्तु के मूल्य की तरफ संकेत करते हैं, सूचक-अक कहलाते हैं या वे अंक जो सामान्य मूल्य स्तर के परिवर्तन को बताते हैं, मूल्य के सूचक-अंक कहलाते हैं।

सूचक-अक बनाने के लिए सर्वप्रथम एक ऐसे वर्ष का चुनाव किया जाता है, जिसमे वस्तुओं के मूल्य में अधिक उतार-चढ़ाव न हुआ हो। इसको आधार

1. Money : Robertson, page 17.

2. Statistics : Theory and Practice, Ghosh and Chaudhri, page 223.

वर्ष (Base year) कहते हैं। आधार वर्ष में वस्तुओं के मूल्यों को १०० के बराबर मान लिया जाता है। चालू वर्ष के मूल्यों को भी एकत्र किया जाता है और फिर यह देखा जाता है कि जो वस्तु पहले १०० की मिलती थी वह अब कितने की मिलती हैं। इस प्रकार से सब प्रतिशतों को मालूम कर लिया जाता है और उनको जोड़कर वस्तुओं की मात्रा से भाग दे दिया जाता है। जो भागफल आता है वह उस वर्ष का सूचक अंक कहलाता है।

सूचक-अंक के दोष (Defects of Index Numbers)—इन सूचक-अंकों के बनाने में बहुत सी कठिनाइयाँ सामने आती हैं जिसके कारण सूचक-अंकों में बहुत से दोष आ गये हैं और उन दोषों के कारण सूचक-अंकों के द्वारा द्रव्य के मूल्य का ठीक-ठीक पता नहीं लग सकता। सूचक-अंक के कुछ महत्वपूर्ण दोष निम्नलिखित हैं :—

(१) सूचक-अंकों से हम केवल मूल्यों में परिवर्तन का अनुमान ही लगा सकते हैं। निश्चित परिवर्तन के बारे में इनके द्वारा कुछ पता नहीं चल सकता। उनके आँकड़ों को भी बिल्कुल सही नहीं माना जा सकता और उनका मतलब भी भिन्न-भिन्न लगाया जा सकता है। इसीलिये राबर्टसन (Robertson) ने कहा है, "Neither in theory nor perhaps in practice is it possible to measure accurately change in the value of money."[3] इसी प्रकार मार्शल (Marshall) का कहना है कि, "A perfectly exact measure of purchasing power is not only unattainable but even unthinkable."

(२) सूचक-अंक के आधार पर द्रव्य के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों की तुलना करना कठिन होता है। क्योंकि अलग-अलग देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं का उपयोग होता है जबकि सूचक-अंक में एक ही प्रकार की वस्तुओं को रखना आवश्यक होता है जिससे कि दोनों वर्षों के मूल्य अनुपातों में समानता रहे।

(३) सूचक-अंकों के द्वारा विभिन्न समयों में मूल्यों की तुलना करना भी सरल नहीं होता क्योंकि समय में अन्तर हो जाने से वस्तुओं के उपभोग की प्रकृति भी बदल जाती है। पुरानी वस्तुओं का उपयोग होना कम हो जाता है या बन्द हो जाता है तथा नई वस्तुओं का उपभोग अधिक मात्रा में होने लगता है। सन् १६३६ में जिस प्रकार का कपड़ा उपयोग में आता था उस प्रकार का कपड़ा अब उपयोग में नहीं आता।

(४) इस प्रकार के सूचक-अंक से केवल एक ही प्रकार के मूल्यों का माप हो सकता है। एक सूचक-अंक जिस उपयोग के लिए बनाया गया है वह उसी उपयोग में आ सकता है तथा दूसरी प्रकार से उसका उपयोग नहीं हो सकता। एक सूचक-अंक जिसका उद्देश्य मिल मजदूरों के रहन-सहन के स्तर की लागत करने के

3. Robertson, Money, page 27.

लिये बनाया गया है कृषि मजदूरों के रहन-सहन के स्तर की लागत के बारे में कुछ नही बता सकता क्योंकि मिल मजदूर भिन्न प्रकार की वस्तुओ का उपभोग करते हैं और कृषि मजदूर अन्य प्रकार की वस्तुओ को काम में लाते हैं। इस प्रकार एक ही सूचक अंक से यह पता नही लग सकता कि विभिन्न वर्गों पर मूल्य परिवर्तन का क्या प्रभाव पड़ेगा ?

इसलिये कालबोर्न (Coulborn) ने कहा है, "इस प्रकार कोई भी सामान्य मूल्य स्तर संग्रह नही किया जा सकता क्योकि भिन्न-भिन्न मूल्यों में एकत्र करने की व्यवहारिक कठिनाइयाँ तथा आधार वर्ष के उचित और अगले वर्षों के अनुरूप उनका महत्व निकालने की कठिनाइया ऐसी है जो व्यवहार मे दूर नही की जा सकती।"

परन्तु इन दोषो के होते हुये भी सूचक अको का महत्व अर्थशास्त्र मे बहुत अधिक है और इनसे अर्थशास्त्रियो, व्यापारियो तथा राजनीतिज्ञों को बहुत लाभ होता है। इनके आधार पर ही बहुत सी राजनीतिक नीतियाँ बनायी जाती हैं। सूचक अको के द्वारा हम यह मालूम कर सकते है कि किस वर्ग का जीवन स्तर ऊँचा उठ रहा है। विभिन्न व्यवसाओ मे मजदूरी तय करने मे भी इनसे सहायता मिलती है। इनके द्वारा हम यह ज्ञात कर सकते हैं कि द्रव्य की क्रय-शक्ति कितनी है और किस दशा मे परिवर्तित हो रही है।

इस प्रकार देखा जाय तो सूचक-अक वर्तमान युग मे महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनके द्वारा ही मुद्रा की विनिमय शक्ति अथवा क्रय शक्ति की वृद्धि तथा ह्रास के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। मुद्रा की क्रय-शक्ति के परिवर्तन से देश मे बहुत से लोगो को बहुत हानि उठानी पड़ती है और इसलिये मुद्रा की मात्रा को नियन्त्रित करने की आवश्यकता होती है। इस सम्बन्ध मे सूचक-अंक बहुत सहायक सिद्ध होते हैं। प्रो० फिशर ने ठीक ही कहा है, "वस्तुओं के मूल्य स्तर स्थायी रखने तथा व्यापार मे स्थिरता और स्थायीपन स्थापित करने के लिये सूचक-अंक बहुत ही उपयोगी हैं। इनकी सहायता से आर्थिक, व्यापारिक तथा वित्त सम्बन्धी सभी समस्याओ को समझने में आसानी होती है।"

अतः सूचक-अंकों के इन दोषों के होते हुए भी प्रत्येक देश विभिन्न प्रकार के सूचक-अंको को बनाने का कार्य करता है। बहुत सी स्वतन्त्र संस्थायें भी सूचक अंको को बना कर समय-समय पर प्रकाशित करती रहती हैं। सूचक-अंको के दोषों का जहां तक सम्बन्ध है उनको पूर्णतया दूर नही किया जा सकता। परन्तु फिर भी कुछ दोषों का तीव्रता को दूर किया जा सकता है। जैसे सूचक अंकों का एक दोष यह है कि उनसे केवल एक ही प्रकार के मूल्य का माप हो सकता है। हम अपने उद्देश्य के अनुसार ही सूचक-अंक को बनाकर जिस प्रकार के मूल्य को मापना चाहते हैं माप सकते हैं। इसके अतिरिक्त Reversal Tests तथा Chain-index-numbers की सहायता से सूचक-अंकों के दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु इस सम्बन्ध में आर्थिक सफलता नही मिल सकी है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि सूचक अंकों के इन दोषों के होते हुए भी हम इनके उपयोग को छोड़ नहीं सकते। इसका कारण यह है कि जब तक मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनों को नापने का अन्य कोई साधन उपलब्ध न हो तब तक सूचक अंक का महत्व किसी भी प्रकार से कम नहीं हो सकता। सूचक अंकों को बनाते समय अधिक सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है। यदि मूल्यों को ठीक प्रकार से एकत्रित किया जाय, औसत निकालने में सावधानी रक्खी जाय तो सूचक अंक बहुत कुछ सच्चे परिणाम दे देते हैं।

☆

Q. 19. Give a critical but brief discussion of the quantity theory of money as enunciated by Fisher, Pigou and Keynes.
(Agra 1964)

Q. 20. Examine critically the Quantiy Theory of Money.
(Raj. 1956)

Q. 21. Examine carefully the Quantity Theory of Money. What recent advances have been made in the theory dealing with the determination of the value of money? (Agra 1957, 1952)

मुद्रा के मूल्य की धारणा का अर्थशास्त्र में बहुत महत्व है परन्तु साथ ही साथ यह धारणा अनिश्चित (Vague) है। यह कहना बहुत ही सरल है, जैसा कि प्रो० सेलिगमैन (Seligman) ने कहा है कि "मुद्रा का मूल्य मुद्रा की क्रय-शक्ति होती है" (Value of money is the purchasing power of money)। साथ ही यह कहना भी कोई कठिन नहीं होगा कि मुद्रा के मूल्य को देश में प्रचलित वस्तुओं के मूल्य से जाना जा सकता है। यह सरलता यहीं तक सीमित है। जब हम मुद्रा के मूल्य को मापने का प्रयत्न करते है तो बहुत सी कठिनाइयाँ हमारे सामने आती हैं जिसके कारण हम मुद्रा के मूल्य को पूर्णतया (Absolutely) नहीं नाप सकते है। भाग्यवश हम द्रव्य के पूर्ण मूल्य को जानने का प्रयत्न भी नहीं करते। समस्या तो द्रव्य के सापेक्षित मूल्य (Relative value) को जानकर ही पूरी हो जाती है। एक रुपया पहले से अधिक वस्तुएँ क्रय करता है या कम यह जानकर भी हमारा उद्देश्य बहुत कुछ पूरा हो जाता है जैसा कि क्राउथर (Crowther) ने कहा है कि "यह नापने की आवश्यकता नहीं है कि स्वयं द्रव्य का मूल्य कितना है

(१) मुद्रा के मूल्य का अर्थ।
(२) मुद्रा के मूल्य के सम्बन्ध में परिमाण सिद्धान्त।
(३) परिमाण सिद्धान्त का अर्थ व मान्यताएँ।
(४) समीकरण व उसकी व्याख्या।
(५) इस सिद्धान्त में पीगू व कीन्स द्वारा किये गये सुधार।

बल्कि द्रव्य के मूल्य में क्या परिवर्तन हुआ है।"[1] और विभिन्न मुद्रा के सिद्धान्त (Theories of money) यह बताते हैं कि मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन क्यों होता है। इन सिद्धान्तों में सबसे प्राचीन मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त (The Quantity Theory of Money) है जो यह बताता है कि मुद्रा का मूल्य तथा इसमें परिवर्तन सदा मुद्रा के परिमाण द्वारा निश्चित होता है। यह सिद्धान्त इतना पुराना है कि यह पता आसानी से नहीं लग पाता कि इस सिद्धान्त का निर्माण सर्वप्रथम किसने किया। वैसे यह माना जाता है कि १६वीं शताब्दी में एक इटैलियन लेखक डेवनजेटी (Davanzatti) ने इसका प्रतिपादन सर्वप्रथम किया और बाद में लॉक व ह्यूम (Locke and Hume) ने इसका विकास किया। फिशर (Fisher) व केमरर (Kemmerer) ने इस सिद्धान्त की विस्तार से व्याख्या की।

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त बताता है कि अन्य बातें समान रहने पर, द्रव्य के परिमाण में परिवर्तन का प्रत्यक्ष अनुपातिक (Direct proportional) प्रभाव मूल्य स्तर पर पड़ता है तथा विपरीत अनुपातिक (Inverse proportional) प्रभाव द्रव्य के मूल्य पर। टॉसिग (Taussig) ने इसकी व्याख्या इस प्रकार से की है, "अन्य बातें समान रहने पर, यदि द्रव्य का परिमाण दुगुना कर दिया जाय तो वस्तुओं के मूल्य पहले से दुगुने हो जायेंगे तथा द्रव्य का मूल्य आधा, और अन्य बातें समान रहने पर यदि द्रव्य का परिमाण आधा कर दिया जाय तो वस्तुओं के मूल्य पहले से आधे हो जायेंगे और द्रव्य का मूल्य दुगुना।"[2] मिल (Mill) ने इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए कहा है कि "यदि अन्य बातें समान रहें तो मुद्रा के मूल्य में उसके परिमाण की विपरीत दिशा में परिवर्तन होते हैं, परिमाण की प्रत्येक वृद्धि मूल्य को उसी अनुपात में घटाती है और परिमाण की प्रत्येक कमी उसे उसी अनुपात में बढ़ाती है।"[3]

विक्सेल (Wicksell) ने भी इसी बात को दूसरे शब्दों में व्यक्त किया है। वह कहता है, "मुद्रा के मूल्य अथवा मुद्रा की क्रय-शक्ति में उसके परिमाण के उल्टे

---

1. "What needs to be measured is not so much the value of money itself as changes in the value of money." Crowther, An Outline of Money. p. 91.

2. "Double the quantity of money and, other things being equal, prices will be twice as high as before, and, the value of money one half. Halve the quantity of money and, other things being equal, prices will be one half of what they were before and the value of money double." Taussig, Principles of Economics Vol. I. p. 250.

3. "The value of money, other things being the same, varies inversely as its quantity, every increase of quantity lowers the value and every dimunation raising it in a ratio exactly equivalent." J. S. Mill, Political Economy, Vol. II. page 15.

अनुपात में परिवर्तन होते हैं, जिस कारण मुद्रा के परिमाण की प्रत्येक वृद्धि अथवा कमी, यदि अन्य बातें समान रहें, वस्तुओं और सेवाओं में उसकी क्रय-शक्ति में अनुपातिक कमी अथवा वृद्धि उत्पन्न करेगी और इस प्रकार वस्तुओं के मूल्यों में वैसी ही वृद्धि या कमी होगी।"[4]

अन्य बातें समान रहें (Ceteris paribus or other things being equal)—यह सिद्धान्त उसी समय कार्यशील होता है जब अन्य बातों में कोई परिवर्तन न हो। यह बातें बहुत महत्वपूर्ण हैं तथा निम्नलिखित हैं:—

व्यापार की मात्रा स्थिर रहे (The volume of transactions must remain constant)—इसका अर्थ यह है कि द्रव्य के द्वारा जो कार्य किया जाता है है उसमें कोई अन्तर नहीं होना चाहिये अर्थात् द्रव्य की मांग में कोई परिवर्तन न हो। विनिमय-साध्य वस्तुओं के परिमाण के साथ-साथ इनके भ्रमण वेग में भी कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिये।"[5]

(२) वस्तु विनिमय सौदे (Barter transactions)—वस्तु-विनिमय द्वारा जो सौदे किये जाते हैं उनकी गणना व्यापार की मात्रा में नहीं करनी चाहिये। यदि उनकी गणना करें तो इसको मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि या द्रव्य की माँग में कमी मानना चाहिये।

(३) द्रव्य का चलन-वेग (Velocity of money)—द्रव्य के चलन-वेग में तथा साख-द्रव्य (Bank-money) के चलन-वेग में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिये।

(४) साख मुद्रा चलन का अनुपात (Ratio of Bank Money and Currency)—यह सिद्धान्त इस बात की कल्पना कर लेता है कि आय का एक निश्चित प्रतिशत बैंकों में जमा होता है तथा बैंकों में भी जमा तथा नकद कोषों (Cash deposits) में एक निश्चित अनुपात रहता है तथा इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता।

---

4. "The value or purchasing power of money varies in inverse proportion to its quantity, so that an increase or decrease in the quantity of money, other things being equal, will cause a proportionate decrease or increase in its purchasing power in terms of other goods, and thus a corresponding increase or decrease in all commodity prices." K. Wicksell, Lectures on Political Economy. page 141.

5 एक वस्तु का जितनी बार विनिमय किया जाता है उतना ही उसका भ्रमण वेग (Velocity) कहलाता है। यहां उसका अभिप्राय यह है कि यदि एक वस्तु का अन्तिम उपभोग से पहले तीन बार विनिमय किया जाता है तो उसमें कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिये।

अतः इस सिद्धान्त के प्रवर्तक यह मान लेते है कि अल्पकाल में यह सब बातें स्थिर रहती हैं और तब मुद्रा के परिमाण का सीधा व अनुपातिक प्रभाव मूल्य स्तर पर पड़ता है और विपरीत व अनुपातिक प्रभाव मुद्रा के मूल्य पर। फिशर ने इसको स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि द्रव्य की मांग अल्पकाल में स्थिर क्यों रहती है ? उन्हीं के शब्दों को हिन्दी में : "अल्पकाल में व्यवसाय अथवा मुद्रा द्वारा किया हुआ कार्य यथास्थिर रहता है' क्योंकि इस काल मे जनसंख्या मे परिवर्तन नही होते, प्रति व्यक्ति उत्पादन नही बदलता है और उत्पत्ति का जो प्रतिशत उत्पादकों द्वारा उपयोग किया जाता है, वह भी यथास्थिर रहता है। वस्तु-विनिमय तथा मुद्रा-विनिमय का अनुपात भी नहीं बदलता है और वस्तुओं के प्रचलन के वेग मे भी परिवर्तन नहीं होने हैं। इस काल मे उत्पादन की रीतियों तथा लोगों की उपभोग सम्बन्धी आदतें भी लगभग निश्चित होती है। इस प्रकार मुद्रा की मांग स्थिर रहती है।"[6]

परिमाण सिद्धान्त का समीकरण (The Equation of the Quantity Theory of Money)—मुद्रा के परिमाण तथा मुद्रा के मूल्य के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए समीकरण का उपयोग किया गया है जिसमें समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है। प्रो० फिशर का सूत्र सबसे अच्छा माना जाता है जो इस प्रकार है :—

$$P = \frac{MV + M'V'}{T}$$

यहाँ पर P = मूल्य स्तर या $\frac{1}{P}$ = द्रव्य का मूल्य

M = कानूनी ग्राह्य द्रव्य (Legal Tender Money)

M' = बैंक द्रव्य (Bank Money)

V = कानूनी द्रव्य का चलन वेग (Velocity of M)

V' = बैंक द्रव्य का चलन वेग (Velocity of M')

T = समस्त व्यापार सौदे (Total Exchange Transaction)

यहाँ फिशर ने यह माना है कि अल्पकाल में V, V' तथा T में कोई परिवर्तन नही होता तथा M व M' का अनुपात भी स्थिर रहता है। इसलिए M के परिवर्तन का सीधा प्रभाव P पर पड़ता है तथा $\frac{I}{P}$ पर उल्टा।

इस सिद्धान्त में किये गये सुधार (Advances made in this Theory)—फिशर के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त की आलोचना आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने की है

6. Irving Fisher, The Purchasing Power of Money. page 142-55.

तथा बताया है कि यह सिद्धान्त द्रव्य के मूल्य निर्धारण के वास्तविक कारणों पर प्रकाश नहीं डालता। यह सिद्धान्त यह मान लेता है कि द्रव्य की आवश्यकता केवल विनिमय के लिये ही है। यह (द्रव्य) एक रेलवे टिकिट के समान है जो जमा करने के लिये नहीं लिया जाता बल्कि अपने स्थान तक पहुँचने के लिये लिया जाता है।[7]

बेन्हम (Benham) के अनुसार यह निष्कर्ष (मुद्रा परिणाम पर वस्तुओं को मूल्य निर्भर होना) इस तथ्य से निकलता है कि द्रव्य केवल टिकिट है जो विनिमय के माध्यम का काम करता है।[8]

इन अर्थशास्त्रियों का कहना यह है कि द्रव्य की माँग क्रय-विक्रय के लिये वर्तमान वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा पर निर्भर नहीं करती। बल्कि द्रव्य की माँग इस बात पर निर्भर करती है कि लोग कितना द्रव्य नकद में जमा रखना चाहते हैं। केनन के इस सम्बन्ध में कहा है कि यह विचार कि द्रव्य की माँग विनिमय की मात्रा पर निर्भर करती है मुझको "इस प्रकार लगती है जैसे कहा जाय कि मकानों की माँग उन व्यक्तियों की ओर से नहीं होती जो मकानों में रहना चाहते हैं बल्कि उन लोगों की ओर से होती है जो मकानों को बेचने के लिये खरीदते हैं। मकानों की कार्यशील माँग उन लोगों की ओर से होती है जो मकानों को रखना चाहते हैं।"[9]

इस प्रकार द्रव्य के मूल्य पर द्रव्य के परिणाम का प्रभाव नहीं पड़ता बल्कि द्रव्य की माँग का प्रभाव पड़ता है जो चैंडलर (Chandler) के शब्दों में द्रव्य को जमा रखने की व्यक्तिगत मांगों का कुल जोड़ होती है।[10]

लोगों की इस द्रव्य की माँग पर व्यापारिक दशाओं का प्रभाव पड़ता है और व्यापार में तेजी व मन्दी के कारण द्रव्य की माँग भी अधिक या कम होती है।

---

7. "It is just like a railway ticket which is not bought for the fun of holding it but as a means of reaching a certain destination."

8. "This conclusion springs from the belief that money is only a kind of counter or ticket serving as a medium of exchange." Benham. Economics.

9. "That belief seems to me to be exactly equal to a belief that the demand for houses comes not from the people who want to live in houses but from people who buy houses and sell them again forthwith. The effective demand for houses evidently comes from those who want to hold houses, even the speculator wants to hold houses, for sometimes."

10. "The demond for money within a specified area at a given time is merely the sum of individual demands for money to hold." L. V. Chandler. An Introduction to Monetary Theory. page 61.

मन्दीकाल (Depression) में साधारणतया लोग मुद्रा की माँग अधिक करते हैं जिससे उसका मूल्य बढ़ जाता है तथा वस्तुओं की कीमतों में ह्रास हो जाता है। तेजी के काल में साहसी द्रव्य को नये-नये व्यवसायों में लगाना चाहते हैं जिससे सूद की दर बढ़ जाती है और लोग द्रव्य को जमा नहीं करते। द्रव्य की माँग कम हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप मुद्रा का मूल्य गिर जाता है तथा वस्तुओं की कीमत बढ़ जाती है।

मार्शल, केनन, हाट्रे (Hawtrey), पीगू तथा राबर्टसन आदि अर्थशास्त्री इसी विचारधारा के हैं। इनसे पहले के विचारक भी इस प्रकार के विचार रखते थे। मार्शल ने बताया है कि पैटी (Petty), लॉक (Locke) तथा केन्टीलोन (Cantillon) के लेखों में माँग की धारणा के सम्बन्ध में इस प्रकार के विचार मिलते हैं।

इन अर्थशास्त्रियों ने जिनको केम्ब्रिज विचारधारा (Cambridge School) के नाम से पुकारा जाता है, एक समीकरण प्रस्तुत किया है जिसको केम्ब्रिज समीकरण (Cambridge equation) कहते हैं। यह इस प्रकार है :—

$$P = \frac{M}{KR}$$

P = मूल्य स्तर (Price Level)

M = द्रव्य की इकाइयों की संख्या (Number of Units of Money)

R = समाज की वास्तविक आय (Real income of the Community)

K = R का वह अनुपात जिसे द्रव्य के रूप में रखते हैं। (The proportion of R held in the form of money)

Keyne's "Real Balance" Quantity Equation—कीन्स ने केम्ब्रिज समीकरण में कुछ परिवर्तन करके एक नया समीकरण दिया है जिसको वह "Real Balance" Quantity Equation के नाम से पुकारता है। वह यह मानता है कि लोग 'उपभोग की इकाइयों' को खरीदने के लिये कुछ क्रय-शक्ति नकद में रखते हैं। मान लो k बराबर है उन उपभोग की इकाइयों के जिनके लिये नकद के रूप में क्रय-शक्ति जमा की जाती है (k = Number of Consumption units which the public want to keep in cash)

k' = उपभोग की वे इकाइयां जिनके लिये साख-मुद्रा में क्रय-शक्ति का संचय किया जाता है अर्थात् कुल बैंक जमा का वह भाग जो चैक से निकाला जा सकता है। (Number of consumption units which the public hold in bank deposits. It is that part of total bank deposits which can be withdrawn by cheque.)

r=बैंकों के नकद-कोष तथा निक्षेपों का अनुपात (Proportion of the bank cash reserves to their deposists)

n=चलन की समस्त मात्रा (Total quantity of cash)

p=उपभोग इकाइयों का मूल्य (Price of Consumption units)

इस प्रकार से,

$$n = p\,(k + rk')$$

कीन्स के समीकरण का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह इस कल्पना को त्याग देता है कि द्रव्य की मांग वस्तुओं पर निर्भर करती है। इसके अतिरिक्त द्रव्य के चलन वेग पर ध्यान केन्द्रित करने के स्थान पर यह मानता है कि मूल्य स्तर लोगों की इस आदत पर निर्भर करता है कि वे आय का कितना भाग नकद के रूप में रखेंगे। परन्तु इस समीकरण का व्यवहारिक मूल्य इसलिये कम हो जाता है क्योंकि k तथा k' के अनुपात को आंकड़ों के आधार पर निश्चित रूप से नहीं जाना जा सकता।

पीगू का संशोधन (Amendment by Prof. Pigou)—प्रो० पीगू ने भी कैम्ब्रिज समीकरण में कुछ संशोधन करके एक अलग समीकरण दिया है जो इस प्रकार से है :—

$$P = \frac{KR}{M}\left\{c + h\,(1 - c)\right\}$$

इसमें P; K; R; M तो वही अर्थ है जो कैम्ब्रिज समीकरण में है। यहाँ c=नकदी का वह भाग जो जनता विधि-ग्राह्य मुद्रा के रूप में जमा रखती है। (That part of cash which is held in the form of legal-tender money)

h=वैंकों द्वारा जमा किये हुए निक्षेपों का विधि ग्राह्य भाग (The proportion of legal tender to deposists held by banks.)

इस समीकरण में पीगू ने साख-मुद्रा के महत्व को भी स्वीकार कर लिया है परन्तु कीन्स ने इसकी आलोचना की है।

बचत और विनियोग का सिद्धान्त (The Saving & Investment Theory)—इस सिद्धान्त के समर्थक यह बतलाते हैं कि देश में वस्तुओं का मूल्य स्तर मुद्रा के परिमाण पर निर्भर नहीं रहता बल्कि लोगों की बचत करने की इच्छा तथा विनियोग के सम्बन्ध पर निर्भर करता है। जब लोगों की बचत करने की इच्छा अधिक होती है तथा विनियोग कम होता है तो मूल्य नीचे की ओर आते हैं और द्रव्य का मूल्य बढ़ जाता है। जिस समय बचत कम होती है तथा विनियोग अधिक होता है उस समय मूल्य बढ़ जाते हैं तथा द्रव्य का मूल्य गिर जाता है।

इस प्रकार यह सिद्धान्त फिशर के सिद्धान्त से अच्छा है क्योंकि यह बताता है कि द्रव्य का मूल्य द्रव्य के परिमाण पर निर्भर नहीं करता बल्कि यह इस बात पर

निर्भर करता है कि हम अपनी वास्तविक आय का कितना भाग नकद के रूप में रखना चाहते हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मन्दी काल में द्रव्य के परिमाण में वृद्धि करने पर भी वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि नहीं होती। परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त बिलकुल गलत है। अपनी आधारभूत धारणा में यह बिल्कुल ठीक है। जैसा कि क्राउथर (Crowther) ने कहा है, 'बचत और विनियोग का सम्बन्ध रोजगार व मूल्यों के अल्पकालीन उतार-चढ़ाव को नियन्त्रित करता है। यदि बचत विनियोग से अधिक है तो मूल्य सन्तुलन स्तर से नीचे गिर जायेंगे। यदि बचत विनियोग से कम है तो मूल्य अपने सन्तुलन स्तर से ऊपर उठ जायेंगे। परन्तु सन्तुलन बिन्दु स्वयं अपूर्णता से प्रचलित द्रव्य की मात्रा पर निर्भर करता है। मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त समुद्र का औसत स्तर बताता है और विनियोग बचत का सिद्धान्त ज्वार भाटा की तीव्रता।'[11]

★

Q. 22. "The quantity Theory of Money in its earliest and crude form is useless and misleading as no economist now believes in any fixed and automatic relationship between the quantity of money and the general level of prices." Examine this statement and point out how value of money is determined. (Agra 1961)

प्रत्येक वस्तु का मूल्य माँग और पूर्ति की शक्तियों से निश्चित होता है और इनमें से किसी एक शक्ति में परिवर्तन हो जाने से मूल्य में भी परिवर्तन हो जाता है। अर्थशास्त्रियों ने इसी सिद्धान्त को मौद्रिक जगत में भी लागू किया है और कहा है कि द्रव्य का मूल्य भी माँग व पूर्ति के अनुसार निश्चित होता है। इस सिद्धान्त को द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त

रूपरेखा :—

(i) द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त का अर्थ, समीकरण व मान्यतायें [संक्षिप्त वर्णन]

11. "The relationship between Savings and Investment governs the short period fluctuations of employment and of prices. If Savings are in excess of Investment, then prices will tend to slump below their equilibrium level. If savings are less than Investment, prices will tend to rise above their equilibrium level. But the equilibrium level itself is at least roughly determined by the quantity of money in existence. The Quantity Theory of money explains, as it were, the average level of the sea, the Savings and Investment theory explains the violence of the tides" Crowther. An Outline of Money. page 158-59

की कुल मात्रा। यहाँ वह यह मान लेता है कि V; V' तथा T में कोई परिवर्तन नहीं होता तथा M और M' का अनुपात निश्चित रहता है तो M व M' की मात्रा का सीधा प्रभाव P पर पड़ता है।

इस सिद्धान्त में 'अन्य बातें समान रहें' एक महत्वपूर्ण वाक्य है जो लगभग प्रत्येक आर्थिक नियम के साथ लगा रहता है। यहाँ पर इस वाक्य का अर्थ है कि व्यापार की मात्रा स्थिर रहनी चाहिये; कानूनी द्रव्य व बैंक द्रव्य का चलन वेग स्थिर रहे; कानूनी द्रव्य व बैंक द्रव्य का अनुपात स्थिर रहे तथा अदल-बदल द्वारा विनिमय न हो।

इस सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of this Theory)— यह सिद्धांत बहुत ही पुराना है। १६ वीं शताब्दी में डेवेंजेटी (Davanzatti) ने इसका प्रतिपादन सर्वप्रथम किया था। बाद में लॉक (Locke) व ह्यूम (Hume) ने इसका प्रचार किया और क्लासिकल अर्थशास्त्रियों (Classical Economists) ने भी इसका समर्थन किया। अमेरिका में इसका विशेष महत्व रहा है जहाँ पर प्रो० इरविंग फिशर (Irving Fisher) तथा एडविन केमरर (Edvin Kamerrar) ने इस सिद्धांत की विस्तार से व्याख्या की। परन्तु आधुनिक काल में इस सिद्धान्त का महत्व, इसके प्रारम्भिक रूप में कम होता जा रहा है क्योंकि आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार यह मुद्रा के मूल्य को ठीक प्रकार से मापने में असफल है। इस सिद्धांत की आलोचना बहुत सी कमियों के कारण की जाती हैं जो इस सिद्धांत में निहित हैं।

सर्वप्रथम इसकी आलोचना इस आधार पर की जाती है कि यह सिद्धान्त कुछ बातों को स्थिर व स्वतन्त्र मान लेता है परन्तु वे केवल दीर्घकाल में ही परिवर्तित नहीं होतीं बल्कि अल्पकाल में भी परिवर्तित होती हैं तथा एक कारण (Factor) में परिवर्तन का प्रभाव दूसरे पर पड़ता है। परन्तु केवल इसी के आधार पर इस सिद्धान्त की आलोचना नहीं की जा सकती क्योंकि अधिकतर वैज्ञानिक नियमों के साथ यह कल्पना कर ली जाती है कि अन्य बातों में परिवर्तन नहीं होगा। इस सिद्धान्त की सत्यता को गलत करने के लिये यह बताना होगा कि द्रव्य के परिमाण या मूल्य स्तर में पविर्तन होने से अन्य बातों में अवश्य परिवर्तन होगा।[2]

जिन बातों को यह सिद्धांत स्थिर मान लेता है वे स्थिर नहीं रहते तथा उनमें परिवर्तन होता रहता है। संसार में निरन्तर वैज्ञानिक खोज होती रहती है, जिससे उत्पादन के ढंग में परिवर्तन होता रहता है क्योंकि नया ज्ञान, मशीन आदि के कारण उत्पादन में वृद्धि हो जाती है। इसके अतिरिक्त जनसंख्या के आकार में तथा लोगों की आदत में परिवर्तन के कारण वस्तुओं के चलन वेग में वृद्धि या कमी हो जाती है।

2. "The Quantity Theory can be objected to if we can show that the other things must change if either the quantity of money, or the price level (the two variable factors in the equation) changes."

इसके अतिरिक्त मूल्य-स्तर को प्रभावित करने वाले कारण भी स्वतन्त्र नहीं हैं तथा प्रत्येक एक दूसरे पर निर्भर है। M में परिवर्तन होने का प्रभाव V पर पड़ता है जैसे कि पिछले महायुद्ध के बाद जर्मन मार्क (German Mark) की कीमत में लगातार ह्रास हो रहा था और लोग इसको अपने पास नहीं रखते थे। मार्क के आते ही वे इसको वस्तुओं में बदल लेते थे। इससे M में वृद्धि से V में बहुत वृद्धि हो गयी थी। इसी प्रकार P का प्रभाव भी V पर पड़ता है। मूल्यों के बढ़ने पर यदि लोगों को यह आशा हो कि मूल्य और बढ़ेंगे तो V बढ़ जाता है और यदि लोग किसी प्रकार यह जान लें कि मूल्य घटने वाले हैं तो V घट जाता है। इसी प्रकार M व P का प्रभाव T पर पड़ता है। द्रव्य की मात्रा व मूल्यों के बढ़ने पर देश में उत्पादन अधिक होने लगता है तथा T में वृद्धि हो जाती है। साथ ही साथ द्रव्य की मात्रा भी अन्य कारणों के प्रभावों से स्वतन्त्र नहीं है। मूल्य स्तर तथा उत्पादन मात्रा का प्रभाव द्रव्य की मात्रा पर पड़ता है।

लिविनस्काई (Lewinsky) ने भी इसकी आलोचना करते हुए लिखा है, "Most authors imagine that the monetary wheel is connected by belt exclusively with the wheel of prices, while all other parts are unaffected by movements of M. and P. Such a theory is completely wrong and artificial representation of the real mechanism. All its parts are inter-related. M is not only setting in motion P but equally T, V, V' and the relation of M to M'. The wheels are not only turning form left to right but we have equally movements in the opposite direction. When P is charging, velocities are adapting themselves to the modified conditions most easily..... P is influencing T, production increases and decraeses according to the state of prices. M itself is partly regulated by P."[3]

फिशर ने इस प्रसंग में कहा है कि अन्य बातें केवल अल्पकाल या संक्रान्ति काल (Transitional period) में ही परिवर्तन होते हैं दीर्घकाल में नहीं। परन्तु जैसा कि कीन्स (Keynes) ने कहा है, "दीर्घकाल में हम सब मर जायेंगे।" ("In the long run, we may all be dead.")

(२) यह सिद्धान्त यह मान लेता है कि द्रव्य के परिमाण में परिवर्तन का प्रभाव सदा मूल्यों पर पड़ता है और मूल्यों में अनुपातिक परिवर्तन होता है। परन्तु जैसा कि कोलहाटकर (Kolhatkar) ने कहा है, "द्रव्य में कोई जादू नहीं है जो

3. Lewinsky, Money, Credit and Prices, page 35-36.

यह मूल्यों को प्रभावित करे। मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन सदा ही मूल्यों को प्रभावित नहीं करता।"[4]

यह बात (कि मुद्रा परिमाण का अनुपातिक प्रभाव मूल्यों पर पड़ता है) उसी समय ठीक हो सकती है जब हम पूर्ण रोजगार (Full-Employment) की कल्पना कर लें। सेम्युलसन (Samuelson) ने लिखा है, "यदि कोई पूर्ण-रोजगार व स्थिर कुल उत्पादन की अत्यधिक अवास्तविक कल्पना को मान लें तभी कुल खर्चे में वृद्धि से मूल्यों में अनुपातिक वृद्धि ही जायेगी।"[5]

(३) यह सिद्धान्त यह स्पष्ट नहीं करता कि मुद्रा के परिमाण के परिवर्तन किस प्रकार कीमत-स्तर पर अपना प्रभाव डालते हैं। Kolhatkar ने कहा है, "Even as the equation stands, it does not throw any light on the route by which money comes to influence the price-level." द्रव्य के परिमाण के परिवर्तन का सीधा प्रभाव वस्तुओं के मूल्यों पर नहीं पड़ता बल्कि सबसे पहले सूद की दर पर पड़ता है और उत्पादन व मूल्यों पर प्रभाव सूद की दर का होता है। इसके अतिरिक्त द्रव्य अर्थव्यवस्था में विभिन्न स्थानों से प्रवेश करता है। द्रव्य के परिमाण का प्रभाव पूँजी, वस्तुओं व सहायक वस्तुओं पर पहले पड़कर उपभोग की वस्तुओं पर बाद में पड़ सकता है या यह लोगों की आय को पहले प्रभावित कर सकता है और मूल्यों को बाद में। इसीलिए कीन्स (Keynes) के अनुसार मुद्रा के मूल्य सिद्धान्त का उद्देश्य केवल मुद्रा परिमाण तथा कीमतों के पारस्परिक सम्बन्ध का उल्लेख करना ही नहीं होना चाहिये बल्कि उससे सम्बन्धित सारी बातों का स्पष्टीकरण करना होना चाहिये।[6]

व्हिट्टेकर (Whittaker) के शब्दों में, "The quantity theory is admirable as an elucidation of the mechanism involved in the price-level, but as an explanation of causation it has serious shortcomings."

---

4. "Money has no magic in it to affect prices. A change in the quantity of money does not always affect prices." Kolhatkar.

5. "Only if one were to make the highly unreallistic assumption of full employment and constant total output, only then would an increase in the total spending always send prices up proportionately." Samuelson, Economics, page 292.

6. "The fundamental problem of monetary theory is not merely to establish identities or statistical equations relating e. g., the turnover of monetary instruments to the turnover of things traded for money. The real task of such a theory is to treat the problem dynamically," Keynes, A Treatise on Money, Vol I, page 133.

(४) बहुत से लेखकों ने चलन गति (Velocity of circulation) की धारणा की ही आलोचना की है जैसा कि मार्शल ने कहा है, "The quantity theory does not explain the cause which govern rapidity of circulation" आधुनिक अर्थशास्त्री चलन-वेग में ह्रास व वृद्धि के स्थान पर द्रव्य की मांग की वृद्धि व ह्रास को अधिक महत्व देते हैं।

(५) इस सूत्र में M का तात्पर्य एक विशेष काल में (At a point of time) द्रव्य की मात्रा से है तथा V का तात्पर्य किसी अवधि में (Period of time) द्रव्य के चलन वेग से है। किसी अवधि में वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों को मालूम करने के लिये दोनों को गुणा करना ठीक नहीं होगा।

(६) इस सिद्धान्त को 'विनिमय सूत्र' की सहायता से स्पष्ट किया जाता है परन्तु निकलसन (Nicholson) के अनुसार इस से किसी महत्वपूर्ण बात का पता नहीं चलता और न किसी उद्देश्य की पूर्ति होती है। भिवानी (Bhiwani) के अनुसार, "The morey given in exchange is equal to the price paid for the goods is selfevident truth. The equation does not point out which is the cause and which is effect. It is only another way of stating the obvious fact"

(७) इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कीन्स (Keynes) ने कहा है कि विनिमय का सूत्र द्रव्य की क्रय-शक्ति को ठीक ठीक नहीं नापता। यह सूत्र प्रत्येक प्रकार के द्रव्य सौदे के औसत मूल्यों को निर्धारित करता है। T के अन्तर्गत जिन सौदों (Transactions) को सम्मिलित किया जाता है वे अधिकांशत: औद्योगिक, व्यापारिक तथा वैत्तिक (Financial) होते हैं। परन्तु द्रव्य की विनिमय शक्ति में हम केवल उन्हीं सौदों को सम्मिलित करते हैं जिनका सम्बन्ध उपभोग पदार्थों व सेवाओं से होता है और जो कि कुल सौदों का छोटा सा भाग है। इसीलिये कीन्स का कहना है कि यह सिद्धान्त मुद्रा की क्रय-शक्ति का माप न बनकर नकद सौदों का माप (Cash Transactions Standard) बन जाता है।

(८) यह सिद्धान्त दीर्घकालीन तथ्य-सन्तुलन की स्थिति की व्याख्या करता है। यह अल्पकालीन जगत के तथ्य को स्पष्ट नहीं करता जहाँ पर बहुत से कारण लगातार कार्यशील होते रहते हैं तथा सन्तुलन की स्थिति को बनने नहीं देते। वास्तविक जगत में केवल संक्रान्ति की स्थिति पाई जाती है और 'संतुलन काल के समान है जो कभी नहीं आता।' इसके अतिरिक्त मूल्यों व द्रव्य के परिमाण का जो सम्बन्ध यह सिद्धान्त बताता है, वह केवल उसी समय ठीक है जब देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति हो। कीन्स ने इस सम्बन्ध में लिखा है, "In eqilibrium—i. e. when factors of production are fully employed, when the public is neither bullish nor bearish of securities and is maintaining in the form of saving-deposits neither more nor less then the 'normal'

proportion of its total wealth, and when the volume of saving is equal both to the cost and to the nature of new investments—there is a unique relationship between the quantity of money and the price-levels of consumption goods and of output as a whole, of such a character that if the quantity of money were double the price levels would be double also."[7]

परन्तु इस प्रकार की स्थिति क्या कभी मिल सकती है ? और क्योंकि इस प्रकार की स्थिति कठिनता से मिलती है। इसलिये यह सिद्धान्त बेकार है।

(९) मार्शल, पीगू, हटिरे, केनन तथा रावर्टसन जैसे अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा की माँग की धारणा को नया रूप दिया है। द्रव्य परिमाण सिद्धान्त के अनुसार द्रव्य की माँग केवल वस्तुयें खरीदने के लिये ही होती है। परन्तु उपरोक्त अर्थशास्त्रियों के अनुसार, जिनको कैम्ब्रिज विचारधारा के अर्थशास्त्री कहा जाता है, द्रव्य केवल विनिमय माध्यम का ही कार्य नहीं करता बल्कि वस्तुओं के मूल्य का सचय भी इसी में किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति भावी आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिये कुछ द्रव्य को जमा करके रखता है और मुद्रा की माँग उन लोगों की ओर से होती है जो उसको सचय करके रखते हैं। अत द्रव्य की माँग व्यावारिक सौदो पर निर्भर नहीं करती है।

(१०) इस सिद्धान्त की एक मुख्य कमी यह भी है कि यह सिद्धान्त मूल्य-स्तर के उन परिवर्तनों को समझाने मे असफल रहता है जो व्यापार चक्रों के कारण उत्पन्न होते है। इस सिद्धान्त के अनुसार मूल्य-स्तर मे प्रत्येक परिवर्तन द्रव्य के परिमाण मे परिवर्तन के कारण होता है और यदि मूल्य गिरते हुये हों तो द्रव्य की मात्रा में वृद्धि करके इसको बढ़ाया जा सकता है। यह बात तो हो सकती है कि यदि द्रव्य की मात्रा मे वृद्धि न करने से मूल्यों मे ह्रास हो जाता है परन्तु इस प्रकार के भी बहुत से उदाहरण है जबकि मुद्रा-अधिकारी ने द्रव्य की मात्रा बढ़ा कर मूल्यों मे वृद्धि करने का प्रयत्न किया परन्तु वे सफल नहीं रही। सन् १९२९ का मंदी का उदाहरण इसका प्रमाण है कि जब मुद्रा के परिमाण मे वृद्धि करने पर भी मूल्य गिरते गये। इस सम्बन्ध मे क्राउथर (Crowther) ने कहा है कि, "घोड़े को पानी पीने से रोका जा सकता है, परन्तु यदि वह प्यासा नहीं है तो कितना ही उसको पानी के पास ले जाइये वह पानी नहीं पीयेगा।"[8]

इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त व्यापार चक्रो के ठीक कारण व प्रकृति को भी स्पष्ट नहीं करता। यह सिद्धान्त मान लेता है कि व्यापार-क्रिया का सीधा

7. Keynes, opt. cit. page 146-47.

8. "The horse can evidently be stopped from drinking, but no amount of leading him to the water will make him drink if he is not thirsty." Crowther, An Outline of Money. p 135.

Q. 23. Examine critically the quantity theory of money. How far can the explanation of Keynes about the determination of the value of money be considered satisfactory ? Discuss.

(Vikram 1960, Agra 1960, Jabalpur 1965)

प्रश्न के प्रथम भाग के लिये प्रश्न २१ के उत्तर को देखें और दूसरे भाग के लिये प्रश्न २४ के उत्तर को देखें।

---

9. "The modern tendency in economic thinking is in fact to discard the old notion of the quantity of money as a causative factor in the state of business and a determinant of the value of money and to regard it as a consequence........The value of money, in fact, is a consequence of the total of incomes rather than of the quantity of

[illegible]bid. p. 136.

Q. 24. Explain the Cambridge Equation and point out how far it explains changes in price level. (Vikram 1964, 1961)

Q. 25. "The modern tendency in economic thinking indeed is to discard the old notion of the quantity of money as a causative factor in the state of business and a determinant of the value of money and to regard it as a consequence" Discuss the statement. (Agra 1963)

द्रव्य के मूल्य-निर्धारण के सम्बन्ध द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त एक प्राचीन सिद्धान्त था जिसका प्रतिपादक फिशर था। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री इस सिद्धान्त से सहमत नहीं है क्योंकि उनका विचार है कि द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त द्रव्य के मूल्य निर्धारण के वास्तविक कारणों पर प्रकाश नहीं डालता। यह सिद्धान्त यह मान लेता है कि द्रव्य की आवश्यकता केवल विनिमय के लिये होती है तथा द्रव्य की माँग क्रय-विक्रय के लिये वर्तमान वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा पर निर्भर करती है। इस सिद्धान्त के आलोचकों के अनुसार द्रव्य की माँग इस बात पर निर्भर करती है कि लोग कितना रुपया नकद में जमा रखना चाहते है। इस प्रकार इनके अनुसार द्रव्य के मूल्य पर द्रव्य के परिमाण का प्रभाव नहीं पड़ता बल्कि द्रव्य की माँग का प्रभाव पड़ता है। द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त के इस संशोधन को केम्ब्रिज समीकरण (Cambridge Equation) का नाम दिया जाता है। इसकी विवेचना करने वालों में मुख्य अर्थशास्त्री, मार्शल, हाट्रे, कैनन, पीगू, राबर्टसन व कीन्स थे। परन्तु यह सिद्धान्त केवल इन्हीं अर्थशास्त्रियों ने प्रतिपादित नहीं किया। इनसे पहले पैटी (Petty), लॉक (Locke) केन्टिलन (Contillon), एडम स्मिथ आदि ने भी इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये थे।

रूप रेखा :

(१) परिमाण सिद्धान्त में आधुनिक अर्थशास्त्रियों द्वारा संशोधन।
(२) परिमाण सिद्धान्त का केम्ब्रिज या नकद-बाकी समीकरण।
(३) इस समीकरण की विशेषतायें :
  (a) व्यक्ति अपनी आय का कुछ भाग नकद में रखते हैं;
  (b) द्रव्य की माँग पर व्यक्तियों की तरलता पसंदगी का प्रभाव पड़ता है;
  (c) अन्य बातों का प्रभाव,
(४) केम्ब्रिज समीकरण की व्याख्या।
(५) यह समीकरण फिशर के समीकरण से अच्छा है।
(६) इस समीकरण के दोष।
(७) कीन्स का वास्तविक बाकी समीकरण—इसकी व्याख्या, गुण व दोष।
(८) कीन्स के मौलिक समीकरण तथा उनकी आलोचना।

केम्ब्रिज समीकरण की विशेषताएं
Characteristics of Cambridge Equation

केम्ब्रिज समीकरण की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित है :

(१) व्यक्ति अपनी आय का कुछ भाग नकद मे रखते हैं। फिशर ने मान लिया था कि समाज मे आय और व्यय सदा बराबर होता है जिस कारण द्रव्य की मांग कुल सौदों के मूल्य के बराबर होती है। फिशर की मान्यता गलत थी क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति भविष्य की अनिश्चितता के कारण आय मे एक भाग को खर्च नहीं करता बल्कि बचा कर रख लेता है। नकद रूप मे रखने के लिए जितने द्रव्य की आवश्यकता होती है उसे ही केम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों ने द्रव्य की मांग माना। कैनन ने इस सम्बन्ध मे कहा है कि "यह विचार कि द्रव्य की मांग विनिमय की मात्रा पर निर्भर करती है मुझ को इस प्रकार लगती है जैसे कहा जाय कि मकानों की मांग उन व्यक्तियों की ओर से नहीं होती जो मकानों मे रहना चाहते हैं बल्कि उन लोगों की ओर से होती है जो मकानों को बेचने के लिये खरीदते हैं। मकानों की कार्यशील मांग उन लोगों की ओर से होती है जो मकानों को रखना चाहते है।"[2]

(२) द्रव्य की मांग पर व्यक्तियों की 'तरलता पसंदगी' (Liquidity preference) का प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति द्रव्य को या तो तरल रूप मे रखता है या उसका खर्च व नियोजन कर देता है। द्रव्य की मांग इस पर निर्भर करती है कि व्यक्ति अपनी आय का कितना भाग तरल रूप मे रखना चाहता है। और कितने भाग को खर्च या विनियोजित करना करना चाहता है। जिस देश में तरलता पसंदगी अधिक होगी वहां द्रव्य की माग भी अधिक होगी।

(३) "द्रव्य की तरलता-पसंदगी पर आय प्राप्त होने की अवधि, वस्तुओं के मूल्य, जनसंख्या की मात्रा, धन के वितरण, व्यवसाय की दशा, लेन-देन की आदत द्रव्य की चलन-गति आदि का भी प्रभाव पड़ता है।" आय प्राप्त होने व खर्च होने मे समय कम होने, वस्तुओं के मूल्य कम होने, जनसंख्या कम होने, धन का वितरण असमान होने, तेजी काल, साख पत्रों का अधिक प्रयोग और द्रव्य की चलन गति (Velocity) तेज होने पर द्रव्य की मांग कम होती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि केम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों ने नकद सौदों (Cash transactions) के स्थान पर नकद बाकी पर अधिक ध्यान दिया जिस कारण इनके सिद्धान्त को नकद सौदे सिद्धान्त (Cash Blance Theory) कहते है। इन्होंने द्रव्य

2 "That belief seems to me to be exactly equal to a belief that the demand for houses comes not from the people who want to live in houses but from people who buy houses and sell them again forthwith. The effective demand for houses evidently comes from those who want to hold houses, even the speculator wants to hold houses, for sometimes." Cannan.

की पूर्ति के स्थान पर द्रव्य की मांग को अधिक महत्व दिया। इसीलिये बहुत अर्थशास्त्रियों ने इसे द्रव्य का मांग सिद्धान्त (Demand Theory of Money) का का नाम दिया।

केम्ब्रिज समीकरण

Cambridge Equations

नकद सौदे सिद्धान्त या द्रव्य के मांग सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिये दो केम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों—पीगू तथा कीन्स ने दो समीकरण दिये।

प्रो० पीगू ने जो समीकरण दिया है वह निम्न है :

$$P = \frac{KR}{M}$$

यहाँ

P=अन्तिम वस्तुओं का मूल्य स्तर,

K=वास्तविक आय का वह अनुपात जिसे लोग नकद बाकी के रूप में रखते हैं,

R=समाज की वास्तविक आय,

M=द्रव्य की इकाइयों की संख्या।

उदाहरण के लिए यदि समाज की वास्तविक आय (R) 10,000 इकाइयाँ है और लोग अपनी आय का $\frac{1}{10}$ भाग नकद बाकी में रखना चाहते हैं और द्रव्य की इकाइयों की संख्या (M) 25,000 है तो द्रव्य का मूल्य (P) इस प्रकार होगा।

$$= \frac{\frac{1}{10} \times 10{,}000}{25{,}000} = \frac{1}{25} \text{ इकाई}$$

द्रव्य की एक इकाई का मूल्य $\frac{1}{25}$ इकाई (वस्तु) होगा।

उपरोक्त समीकरण में बैंक जमाओं (Bank deposits) को सम्मिलित नहीं किया गया था। इसलिये इस कमी को दूर करने के लिये पीगू ने इस समीकरण को संशोधित करके एक नया समीकरण दिया जो इस प्रकार है।

$$P = \frac{KR}{M}\left\{c + h(1 = c)\right\}$$

इसमें P, K, R, M का तो वही अर्थ है जो कि पहले समीकरण में था। यहाँ c=नकदी का वह भाग जो जनता विधिग्राह्य मुद्रा के रूप में जमा करती है और h=बैंकों द्वारा जमा किये हुए निपेक्षों का विधिग्राह्य अनुपात।[3]

---

3 मार्शल ने यह समीकरण इस प्रकार दिया है।

$$M = K\,Y$$

M और K का अर्थ उपरोक्त समीकरण वाला ही है। Y=राष्ट्रीय आय।

समीकरण की समालोचना
Critical Estimate of the Equation

यह समीकरण फिशर के समीकरण से कई प्रकार से अच्छी है। सबसे पहले तो यह समीकरण यह स्पष्ट करती है कि नकद बाकी की माँग व्यापार की मात्रा की अनिश्चित आवश्यकताओं के कारण ही उत्पन्न नही होती बल्कि उपभोग-वस्तुओ के क्रय करने के लिये भी होती है। दूसरे, यह समीकरण अल्पकालीन परिवर्तनों के प्रभाव को भी स्पष्ट करता है। फिशर ने अपने सिद्धान्त मे केवल दीर्घकालीन परिवर्तनो के प्रभावो को ही ध्यान मे रखा था। तीसरे, यह समीकरण यह भी बताती है कि आय, उत्पादन और रोजगार को स्थायित्व प्रदान करने मे कुल माँग का क्या प्रभाव होता है। चौथे, यह मालूम करना सरल है कि व्यक्तियो के पास नकद बाकी के कोष कितने है। नकद भुगतानो (Cash transactions) का पता लगाना सरल नहीं है। अन्त में, यह समीकरण द्रव्य के अतिरिक्त साख-द्रव्य तथा अन्य तरल विनियोगों को भी सम्पत्ति का एक अग मानता है। हिक्स के अनुसार इस समीकरण में वस्तुओ की माँग के वास्तविक कारण पर प्रकाश डाला गया है और उसके प्रभाव को भी स्पष्ट किया गया है।

पीगू द्वारा प्रतिपादित केम्ब्रिज समीकरण फिशर के समीकरण से अच्छा है परन्तु इसमे भी कुछ दोष है जो निम्नलिखित हैं.—

(१) इस समीकरण के अनुसार नकद बाकियों को उपभोग वस्तुओ पर खर्च करने के लिए ही रखा जाता है। परन्तु यह पूर्णतया सत्य नही है क्योंकि लोग व्यापारिक, सट्टे व आकस्मिक कार्यों के लिये भी नकद बाकियों को रखते हैं।

(२) इस समीकरण ने द्रव्य के एक कार्य को अत्यधिक महत्व दिया है और दूसरे कार्य पर कोई विशेष ध्यान नही दिया है। इसमे द्रव्य के मूल्य-सचय के कार्य को अधिक महत्त्व दिया गया है जबकि विनिमय के माध्यम के कार्य को कम महत्त्व दिया गया है।

(३) इस समीकरण के दो तत्वों c और h का निश्चित माप सम्भव नही है। इसके अतिरिक्त R का ठीक-ठीक अनुमान लगाना कठिन है।

(४) इस समीकरण से हम मूल्यो में होने वाले उन परिवर्तनो का अध्ययन नही कर सक्ते जो बचत व विनियोग के असन्तुलन के कारण उत्पन्न होते है।

कीन्स का वास्तविक-बाकी समीकरण
Keynes' Real Balance Equation

कीन्स पीगू द्वारा प्रतिपादित समीकरण से सहमत नही थे जिस कारण उन्होंने एक नया समीकरण दिया जो वास्तविक-बाकी समीकरण के नाम से जाना जाता है। यह समीकरण निम्न है :—

$$n = p\,(k + rk')$$

इस समीकरण में

n=चलन की समस्त मात्रा;

p=उपभोग की इकाइयों का मूल्य;

k=उपभोग की वे इकाइयां जिनके लिये नकद के रूप में क्रय-शक्ति जमा की जाती है;

r=बैंकों के नकद-कोषों तथा निक्षेपों का अनुपात;

k'=उपभोग की वे इकाइयाँ जिनके लिए साख-द्रव्य के रूप में क्रय शक्ति को संचित किया जाता है अर्थात् कुल बैंक जमा का वह भाग जो चैक्स द्वारा निकाला जा सकता है।

इस समीकरण में कीन्स ने बताया कि लोग उपभोग की वस्तुओं को खरीदने के लिये अपने पास कुछ द्रव्य रखते हैं ; इसे उन्होंने उपभोग की इकाइयां कहा। इन उपभोग की इकाइयों का कुछ भाग लोग अपने पास नकद में रखते हैं और कुछ बैंक में जमा कर देते है। बैंक भी अपनी जमा का कुछ भाग नकद में रखते है और बाकी उधार दे देते हैं। लोगों की द्रव्य की तरलता-पसंदगी (नकद रखने की आदत) लगभग स्थिर रहती है जिस कारण k, k' तथा r में परिवर्तन नहीं होता। अतः द्रव्य की मात्रा के अनुसार ही वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन होता है।

अपने समीकरण में कीन्स ने यह भी बताया कि द्रव्य की पूर्ति के परिवर्तन के साथ-साथ मूल्य-स्तर में परिवर्तन होना आवश्यक नहीं है क्योंकि द्रव्य की मात्रा में वृद्धि होने पर यदि लोग अधिक द्रव्य नकद के रूप में अपने पास रखने लगते है तो मूल्य-स्तर में वृद्धि नहीं होती। इसके अतिरिक्त यदि बैंक जमाओं में कमी हो जाय तो मूल्यों में द्रव्य की मात्रा से अधिक वृद्धि होगी। इस प्रकार कीन्स ने बताया कि व्यक्तियों की तरलता-पसंदगी तथा बैंकों की नकद बाकी रखने की नीति का प्रभाव द्रव्य के मूल्य पर पड़ता है।

कीन्स के समीकरण का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह इस कल्पना को त्याग देता है कि द्रव्य की माँग वस्तुओं पर निर्भर करती है। इसके अतिरिक्त द्रव्य के चलन वेग पर ध्यान केन्द्रित करने के स्थान पर वह यह मानता है कि मूल्य स्तर लोगों की इस आदत पर निर्भर करता है कि वे आय का कितना भाग नकद के रूप में रखेंगे। कीन्स ने साख-द्रव्य के महत्त्व व प्रभाव को भी स्वीकार किया।

समीकरण के दोष

Defects of the Equation

फिशर व पीगू के समीकरणों के समान कीन्स के समीकरण में भी कुछ दोष है। कीन्स स्वयं इन दोषों से परिचित थे और उन्होंने इनका वर्णन अपनी पुस्तक A Treatise on Money में किया। सर्वप्रथम तो, यह समीकरण केवल उपभोग इकाइयों के मूल्यों को मापता है जिसका अर्थ है कि लोग केवल उपभोग वस्तुओं को

प्राप्त करने के लिये ही द्रव्य को जमा करते हैं। परन्तु वास्तविकता यह नहीं है क्योंकि लोग अनेकों अन्य कारणों (व्यक्तिगत व व्यापारिक) से प्रभावित होकर द्रव्य को जमा करते हैं।

दूसरे, इस समीकरण के अनुसार k' में परिवर्तन जनता की जमा करने की आदत पर निर्भर करता है, परन्तु यह मान्यता पूर्णतः ठीक नहीं है क्योंकि k' में परिवर्तन बैंक दर या सम्पूर्ण व्यापारिक स्थिति में परिवर्तन के कारण भी हो सकता है।

तीसरे, इस समीकरण में n और p में एक आनुपातिक स्थापित किया गया है परन्तु अल्प काल में यह सम्बन्ध नहीं रह पाता क्योंकि n में परिवर्तन के कारण k, k' तथा r में परिवर्तन हो जाते हैं। इस दशा में n और p में आनुपातिक सम्बन्ध केवल दीर्घकाल में ही रह पाता है।

इन दोषों के कारण कीन्स ने एक दूसरा समीकरण प्रस्तुत किया जो इस प्रकार था।

$$P = \frac{M}{C}$$

यहाँ

P = मूल्य स्तर,

M = कुल द्रव्य की मात्रा;

C = वस्तुओं के लिये रखी गई नकद बाकी।

परन्तु यह समीकरण भी अन्य समीकरणों का संशोधित रूप है। इसमें कोई नवीनता नहीं है।

कीन्स के मौलिक समीकरण
(Keynes Fundamental Equations)

कीन्स अपने द्वारा प्रतिपादित वास्तविक शेषों समीकरण (Real-Balance Equation) से सन्तुष्ट नहीं थे क्योंकि इसमें उत्पादन व विनियोग सम्बन्धी का एक ही वर्ग से रखा गया था। इसलिये उन्होंने इस समीकरण के स्थान पर कुछ मौलिक समीकरणों का प्रतिपादन किया जो उनके दृष्टिकोण का अत्यधिक गत्यात्मक (Dynamic) रूप में करते हैं। इन समीकरणों में बचत व विनियोग को विशेष महत्व दिया गया और यह भी दिखाया गया कि द्रव्य की मात्रा के परिवर्तनों का प्रभाव दूसरी आर्थिक बातों, उत्पादन, आय के वितरण और पूँजी के स्वरूप पर किस प्रकार पड़ता है। इन समीकरणों में दो समीकरण विशेष हैं। इनका वर्णन निम्न है —

यहाँ—

P = उपभोग की एक इकाई का मूल्य,

E = समाज की कुल आय की मात्रा (एक अवधि के दौरान में),

O = एक अवधि के दौरान में उत्पादन की मात्रा,

1′ = नई विनियोजन वस्तुओं का उत्पादन-व्यय,

S = आय में से की गई कुल बचत,

R = उपभोग वस्तुओं की मात्रा जिसका एक अवधि के दौरान में उत्पादन होता है।

यह समीकरण उपभोग इकाइयों के मूल्य में होने वाले कारणों को स्पष्ट करता है। इस समीकरण में उपभोग इकाई के मूल्य में परिवर्तन तीन कारणों से होता है।

(i) उत्पादन-व्यय $\left(\frac{E}{o}\right)$ में परिवर्तन के कारण;

(ii) विनियोजन की नई वस्तुओं के उत्पादन व्यय में परिवर्तन के कारण और

(iii) बचत की मात्रा (s) में परिवर्तन के कारण।

कीन्स का दूसरी मौलिक समीकरण निम्न है :—

$$\pi = \frac{E}{o} + \frac{1 - s}{o}$$

यहाँ—

π = सामान्य मूल्य स्तर

I = नई विनियोजन वस्तुओं का बाजार मूल्य।

अन्य शब्दों का अर्थ उपरोक्त समीकरण के समान ही है।

इस समीकरण के अनुसार भी सामान्य मूल्य स्तर (π) उसी समय स्थिर रहता है जबकि उत्पादन व्यय में परिवर्तन नहीं होता और विनियोजन की नई वस्तुओं का बाजार मूल्य कुल बचत की मात्रा के बराबर हो। इस प्रकार यह समीकरण भी पहले समीकरण के समान ही है।

कीन्स के मौलिक समीकरणों की एक मुख्य विशेषता यह है कि ये समीकरण स्पष्ट करते हैं कि साम्य की आदर्श स्थिति में मुद्रा की मात्रा और p व π के मध्य एक फलनीय सम्बन्ध (Functional Relation) रहता है। इसके अतिरिक्त ये समीकरण द्रव्य के मूल्य में होने वाले अस्थाई असामयिक परिवर्तनों को मापते हैं। कीन्स ने द्रव्य के मूल्य पर उपभोग, बचत, विनियोजन तथा लाभों के प्रभावों पर भी ध्यान दिया जिस कारण उनके समीकरण अधिक वैज्ञानिक व तर्कपूर्ण हो गये। इन समीकरणों की श्रेष्ठता के कारण ही इनका प्रयोग व्यापार चक्र की अवस्थाओं के अध्ययन के लिये किया जाता है।

आलोचना
Criticism

कीन्स के मौलिक समीकरण हालांकि द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त की तुलना में उत्तम हैं परन्तु इसमें भी कुछ कमियां है जिनका वर्णन अर्थशास्त्रियों ने इस प्रकार किया है :—

(१) प्रो० हेनसन के अनुसार कीन्स के मौलिक समीकरण केवल स्थिर अर्थव्यवस्थाओं में ही लागू हो सकते हैं। गत्यात्मक अर्थ-व्यवस्था (Dynamic economy) में प्रौद्योगिक (Technological) उन्नति होती रहती है। जिसके कारण उत्पादन वस्तुओं और उपभोग वस्तुओं का उत्पादन व्यय समान नहीं रहता। कीन्स का समीकरण इस मान्यता पर आधारित है कि दोनों प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन व्यय बराबर होता है।

(२) कीन्स के समीकरण मूल्यों में परिवर्तन की क्रियाओं को पूर्णत स्पष्ट नहीं करते। कीन्स के अनुसार मूल्यों में परिवर्तन उस समय होता है जबकि समीकरणों के परिवर्तनशील तत्वों में परिवर्तन हो। परन्तु कई बार इन तत्वों में परिवर्तन हुए बिना भी मूल्यों मे परिवर्तन हो जाता है।

(३) अपने समीकरण की विवेचना मे कीन्स ने आय, लाभ और हानि की जो परिभाषाएँ दी हैं वे पूर्णतया उपयुक्त नहीं है। कीन्स का यह विचार भी ठीक नहीं है कि लाभ-हानि का कारण किसी अवधि के दौरान में बचत व विनियोजन में अन्तर होना है।

(४) कीन्स के अनुसार बचत व विनियोगों की समानता के होने पर आर्थिक स्थिरता स्थापित होती है। परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। बचत व विनियोजन की समानता के आर्थिक स्थिरता के बिना भी प्राप्त किया जा सकता है। पूर्ण रोजगार की दशा मे ही बचत व विनियोग तथा आर्थिक स्थिरता मे प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है, अन्य दशाओं मे नहीं।

(५) ये समीकरण मूल्य स्तर में परिवर्तन लाने वाले समस्त कारणों को स्पष्ट नहीं करते। इसके अतिरिक्त मूल्य के परिवर्तनों पर बहुत से उन कारणों का भी प्रभाव पड़ता है जिनका वर्णन इन समीकरणों में नहीं किया गया है। इस कारण ये समीकरण मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के समान हो जाते हैं।

(६) कीन्स का विचार था कि उनके समीकरण गत्यात्मक है। किन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। उनके समीकरण स्थिर है।

(७) कीन्स के समीकरण निश्चित उत्पादन की अवास्तविक मान्यता पर आधारित है। कीन्स ने यह माना था कि द्रव्य की मात्रा में वृद्धि या कमी होने का प्रभाव उत्पादन की मात्रा पर नहीं पड़ता। कीन्स ने स्वयं इस कथन में लिखा था,
My so-called "fundamental equations" were an i

taken on the assumpti ɔn of given output. They attempted to show hɔw, assuming the given output, forces could develop which involved a prɔift disequilitrium and thus required a change in the level of output. But the dynamic development, as distinct from the instantaneous picture, was left incomplete and extremenly cɔnfused."[4]

इस प्रकार कीन्स के मौलिक समीकरण भी, द्रव्य के परिणाम सिद्धान्त के समान, दोष युक्त नहीं है। कीन्स स्वयं इन दोषों से अवगत था। इसलिये उसने अपनी पुस्तक A Treatise of Money में मौलिक समीकरणों की कमियों को बताते हुये लिखा "दसवें अध्याय के मौलिक समीकरण स्वयं में एकरूपताओं से अधिक नहीं है, और इस प्रकार वास्तविक रूप में वे उन एकरूपताओं से श्रेष्ठ नहीं है जिनका प्रतिपादन पहले किया गया था। वास्तव में इनमें एक दोष यह है कि इनके तत्वों का वर्तमान ज्ञान की सहायता से, सांख्यकीय निर्धारण नहीं किया जा सकता।"[5] इस प्रकार ये समीकरणों वास्तविक महत्व के न रह कर केवल बौद्धिक खिलौने (Intellectual toys) मात्र रह जाते हैं।

☆

Q. 26. Give reasons for the view that the saving and investment theory marks an improvment on the order formation of quantity theory in explaning price changes. (Agra 1962)

Q. 27. What in your opinion, is the most satisfactory explanation of the determination of the general level of prices ? (Vikram 1962)

Q. 28. "The modern tendency in economic thinking, indeed is to discard the old notion of the quantity of money as a causative factor in the state of business and a determinent of the value of money and to regard it as a consequence." Discuss the statement. (Agra 1953)

द्रव्य के मूल्य की धारणा का अर्थशास्त्र में बहुत महत्व है परन्तु साथ ही साथ यह धारणा अनिश्चित है। यह कहना बहुत सरल है कि द्रव्य का मूल्य द्रव्य की

4. The General Theory of Employment, Interest and Money, preface p. VII.

5. "The Fundamental Equations of chapter 10 are in themselves no more than identities, and therefore, not intrinsically superior to other identities which have been propounded, connecing monetary factors. Indeed they have a disadvantage in that their elements are not those which it is easiest to determine statistically in the present state of our knowledge." J. M. Keynes, A Treatise on Money, Vol. ... page 22.

क्रय-शक्ति होती है। साथ ही यह कहना भी कठिन नहीं होगा कि द्रव्य के मूल्य को देश में प्रचलित वस्तुओं के मूल्य से जाना जा सकता है। परन्तु यह सरलता यहीं तक सीमित है। जब हम द्रव्य के मूल्य को मापने का प्रयत्न करते हैं तो हमारे सामने बहुत सी कठिनाइयाँ आती हैं जिसके कारण हम द्रव्य के मूल्य को पूर्णतया नहीं नाप सकते। परन्तु फिर भी अर्थशास्त्री द्रव्य के मूल्य को मापने का प्रयत्न करते हैं। इस सम्बन्ध मे तीन सिद्धान्त प्रमुख हैं—

रूपरेखा :

(१) द्रव्य के मूल्य के सम्बन्ध में दो पुराने सिद्धान्त—वस्तु सिद्धान्त और परिमाण सिद्धान्त।

(२) पुराने सिद्धान्तो मे कमियाँ तथा बचत व विनियोजन का आधुनिक सिद्धान्त।

(३) इस सिद्धान्त की व्याख्या।

(४) यह सिद्धान्त पुराने सिद्धान्तों से किस प्रकार अच्छा है।

(१) द्रव्य का वस्तु सिद्धान्त;

(२) द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त;

(३) बचत और विनियोग का सिद्धान्त।

द्रव्य का वस्तु सिद्धान्त

Commodity Theory of Money

द्रव्य के वस्तु सिद्धान्त के प्रवर्तकों का यह विचार है कि द्रव्य भी अन्य वस्तुओं के समान एक वस्तु है और इसलिये द्रव्य का मूल्य भी अन्य वस्तुओं के समान तय होता है। वस्तुओ का मूल्य वस्तु की माँग और पूर्ति पर निर्भर करता है। द्रव्य का मूल्य भी द्रव्य की माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है। इस सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए राबर्टसन ने लिखा है, "एक बार फिर यह कहना सत्य होगा कि द्रव्य आर्थिक वस्तुओं मे से एक है। अत इसका मूल्य मुख्यत: उन्हीं दो कारणो—माग और पूर्ति की मात्रा द्वारा तय होता है तो अन्य वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करते हैं।"[1] राबर्टसन के अतिरिक्त लौघलिन (Laughlin), वारेन (Warren) और पियर्सन (Pearson) ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया।

यह सिद्धान्त आधुनिक समय में स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि अब धातु मुद्रा का प्रचलन नहीं है। आजकल प्रत्येक देश मे कागजी नोटो का प्रचलन है

1. "Once more we can keep on the right lines if we start by remembering that money is only one of many economic things. Its value, therefore, is primarily determined by exactly the same two factors as determine the value of any other thing, namely, the conditions of demand for it and quantity of it available." D. H. Robertson, Money, p. 28.

जो सरकारी आज्ञा के आधार पर चलन में होते हैं। इनका अपना कोई मूल्य नहीं होता।

द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त

Quantity Theory of Money

द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त यह बताता है कि द्रव्य का मूल्य तथा इसमें परिवर्तन सदा द्रव्य के परिमाण द्वारा निश्चित होता है। यह सिद्धान्त इतना पुराना है कि यह पता सरलता से नहीं लग पाता कि इस सिद्धान्त का निर्माण सर्वप्रथम किसने किया। वैसे यह माना जाता है कि १६ वीं शताब्दी में एक इटेलियन लेखक डेवेनजेटी (Davanzatti) ने इसका प्रतिपादन सर्वप्रथम किया था। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में चार मुख्य विचार तथा समीकरण हैं—

(i) नकद-भुगतान (Cash Transaction) समीकरण जिसका प्रतिपादन फिशर ने किया था;

(ii) केम्ब्रिज अथवा नकद-बाकी समीकरण (Cash Balance Equation) जिसका प्रतिपादन पीगू ने किया;

(iii) कीन्स का वास्तविक बाकी समीकरण (Real Balance Equation); और

(iv) कीन्स के मौलिक समीकरण (Fundamental Equations)।

पहला समीकरण अमेरिकन अर्थशास्त्री फिशर ने प्रतिपादित किया जिसके अनुसार द्रव्य का मूल्य चलन में द्रव्य की मात्रा पर निर्भर करता है। द्रव्य की मात्रा बढ़ने पर द्रव्य का मूल्य गिर जाता है और द्रव्य की मात्रा कम हो जाने पर द्रव्य का मूल्य बढ़ जाता है। इस सिद्धान्त को फिशर ने इस समीकरण द्वारा स्पष्ट किया—

$$P=\frac{MV+M'V'}{T}$$

इस समीकरण में M=कानूनी ग्राह्य द्रव्य

V=M का चलन वेग

M'=बैंक द्रव्य

V'=M'का चलन वेग

T=समस्त व्यापार सौदे

P=मूल्य स्तर।

यहाँ फिशर ने माना कि अल्पकाल में V, V' तथा T में कोई परिवर्तन नहीं होता तथा M व M' का अनुपात भी स्थिर रहता है। इसलिये M के परिवर्तन का सीधा प्रभाव P पर पड़ता है।

केम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों ने फिशर के समीकरण को ठीक नही माना क्योंकि इस समीकरण के अनुसार द्रव्य की माँग क्रय-विक्रय के लिये वर्तमान वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा पर निर्भर करती है। केम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों ने यह माना कि द्रव्य की मांग इस बात पर निर्भर करती है कि लोग कितना द्रव्य नकद मे रखना चाहते है। इनके अनुसार द्रव्य के मूल्य पर द्रव्य के परिमाण का प्रभाव नही पड़ता बल्कि द्रव्य की मांग का प्रभाव पड़ता है जो चेंडलर के शब्दो मे द्रव्य को जमा रखने की व्यक्तिगत मांगों का कुल जोड़ होती है। केम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों ने भी अपने सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिये एक समीकरण प्रस्तुत किया, जो निम्न है—

$$P=\frac{KR}{M}$$

पीगू ने इस समीकरण मे संशोधन करके निम्न समीकरण दिया—

$$P=\frac{KR}{M}\{c+p(1-c)\}$$

इस समीकरण मे पीगू ने साख-द्रव्य के महत्व को स्वीकार कर लिया।

कीन्स प्रारम्भ में तो पीगू के समीकरण से सहमत थे परन्तु बाद मे उन्होंने एक नया समीकरण प्रस्तुत किया जो वास्तविक बाकी समीकरण के नाम से जाना जाता है। यह समीकरण निम्न है—

$$n=h(k+rk')$$

बाद मे कीन्स ने अपने वास्तविक बाकी समीकरण को सुधार कर मौलिक समीकरणों का प्रतिपादन किया। ये समीकरण निम्न हैं :—

पहला समीकरण $P=\frac{E}{O}+\frac{I'-S}{R}$

दूसरा समीकरण : $\pi=\frac{E}{O}+\frac{I-S}{O}$

[उपरोक्त सभी समीकरणों के विवेचन के लिये प्रश्न २५ के उत्तर को देखें]

आधुनिक विचार
Modern Views

आधुनिक अर्थशास्त्री परिमाण सिद्धान्त के दोनो विचारों को स्वीकार नहीं करते क्योंकि दोनों में कोई मौलिक अन्तर नही है। यद्यपि बहुत से आधुनिक अर्थशास्त्री द्रव्य की पूर्ति व मांग तथा सामान्य मूल्य-स्तर के सम्बन्धों के बारे में नकद भुगतानों व नकद बाकी सिद्धान्तो के निष्कर्षों को स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु उनमे से बहुत इसे मानते हैं कि ये सिद्धान्त उन कारणो को स्पष्ट नही करते जो द्रव्य के मूल्यों मे होने वाले परिवर्तनों को प्रभावित करते हैं। ये सिद्धान्त यह तो स्पष्ट

करते हैं कि एक निश्चित समय मूल्य-स्तर क्या है परन्तु ये यह स्पष्ट नहीं करते मूल्य-स्तर में परिवर्तन किस प्रकार होता है।

क्राउथर ने इन सिद्धान्तों के विरुद्ध दो मुख्य आरोप लगाये हैं—एक तो यह द्रव्य के मूल्य-निर्धारण के सम्बन्ध में द्रव्यके परिमाण को ही एक कारण मानता है। दूसरे, यह सिद्धान्त मूल्य स्तर को बहुत अधिक महत्व देता है और मानता है कि व्यापार क्रिया का सीधा सम्बन्ध वस्तुओं के मूल्यों से होता है। मूल्य बढ़ने पर व्यापारिक क्रिया तेजी से होने लगती है और मूल्य कम होने पर धीरे। इस प्रकार यह मूल्य-परिवर्तन को व्यापार चक्र का कारण मानता है। परन्तु वास्तव में व्यापार चक्र मूल्य परिवर्तन का परिणाम न होकर कारण है। मूल्य परिवर्तन के कारण व्यापार चक्र नहीं आते बल्कि व्यापार चक्र के कारण मूल्य परिवर्तन होते हैं।

सिद्धान्त की इन कमियों के कारण अर्थशास्त्री इस बात को नहीं मानते कि द्रव्य का मूल्य द्रव्य के परिमाण पर निर्भर करता है। क्राउथर के अनुसार, "आर्थिक विचारधारा में आधुनिक प्रवृत्ति इस पुराने विचार का खण्डन करती है कि द्रव्य की मात्रा ही व्यापार के स्तर का कारण व द्रव्य के मूल्य का निर्धारक है बल्कि यह तो इसका परिणाम है। द्रव्य का मूल्य तो, वास्तव में, द्रव्य के परिमाण के बजाय कुल आयों पर निर्भर करता है।"

आधुनिक सिद्धान्त
Modern Theory

द्रव्य के मूल्य-निर्धारण के सम्बन्ध में आधुनिक सिद्धान्त बचत और विनियोग का है। इस सिद्धान्त के अनुसार देश में मूल्य-स्तर द्रव्य के परिमाण पर निर्भर नहीं रहता बल्कि लोगों की बचत की इच्छा तथा विनियोग के सम्बन्ध पर निर्भर करता है। जब लोगों में बचत करने की इच्छा अधिक होती है तथा विनियोग कम होता है तो मूल्य नीचे की ओर आते हैं और द्रव्य का मूल्य बढ़ जाता है। जिस समय बचत कम होती है तथा विनियोग अधिक होता है उस समय मूल्य बढ़ जाते हैं तथा द्रव्य का मूल्य गिर जाता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार—एक दिये हुए समय के दौरान में द्रव्य का मूल्य द्रव्यिक आय के प्रवाह (Flow of mony income) तथा वास्तविक आय (Real income) के प्रवाह के सम्बन्धों पर निर्भर करता है। द्रव्यिक आय का प्रवाह द्रव्य की कुल मात्रा तथा आय-चलनगति (income velocity) पर निर्भर करता है। द्रव्य की कुल मात्रा देश की मौद्रिक व बैंकिंग व्यवस्था पर निर्भर करती है और आय की चलनगति उत्पादकों की लाभ सम्बन्धी आशा उत्पादन की अवधि तथा व्यक्तियों की अपनी द्रव्यिक आय को व्यय करने के निर्णय आदि पर निर्भर होती है। वास्तविक आय (वस्तुएँ और सेवाएँ) फिशर समीकरण के T और केम्ब्रिज समीकरण के R के समान, बहुत सी बातों पर निर्भर है जैसे साधनों की

उपलब्धता, देश में आर्थिक उन्नति की अवस्था, प्रौद्योगिक ज्ञान आदि। किसी समय के दौरान में उत्पन्न हुई कुल द्रव्यिक आय उस समय के दौरान उत्पादित वस्तुओं के मौद्रिक मूल्य के बराबर होती है। परन्तु नई उत्पादित वस्तुओं के खरीदने के लिये दिया जाने वाला द्रव्य उत्पादित द्रव्य से कम या अधिक हो सकता है क्योंकि या तो लोग अधिक या कम बचत करने लगते है। इसके अतिरिक्त द्रव्य उत्पन्न व नष्ट भी होता रहता है। इस प्रकार बचत व विनियोग का बराबर होना आवश्यक नहीं होता। बचत व विनियोग के बराबर होने पर मूल्य स्थिर रहते हैं, जब बचत विनियोजन से बढ़ जाती है तो मूल्य-स्तर गिरने लगता है और जब विनियोजन बचत से अधिक होने लगता है तो मूल्य बढ़ने लगते है।

इस प्रकार यह सिद्धान्त फिशर के सिद्धान्त से अच्छा है क्योंकि यह बताता है कि द्रव्य का मूल्य द्रव्य के परिमाण पर निर्भर नहीं करता बल्कि यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम अपनी वास्तविक आय का कितना भाग नकद के रूप में रखना चाहते हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मन्दी काल में द्रव्य के परिमाण में वृद्धि करने पर भी वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि नहीं होती।

अतः आर्थिक विचारधारा की आधुनिक प्रवृत्ति इस आधुनिक विचार का खण्डन करती है कि द्रव्य की मात्रा ही व्यापार के स्तर का कारण व द्रव्य के मूल्य का निर्धारक है बल्कि यह तो इसका परिणाम है। द्रव्य का मूल्य तो, वास्तव में, द्रव्य के परिमाण के स्थान पर कुल आयों पर निर्भर करता है। थोमस टुके (Thomas Tooke) ने भी इस सम्बन्ध में लिखा है: 'वस्तुओं के मूल्य द्रव्य पर निर्भर नहीं करते ......बल्कि इसके विपरीत द्रव्य की कुल मात्रा मूल्यों का परिणाम होती है'' ।[2]

★

Q. 29. "The quantity equations remain the most illuminating summary of the forces determining the general level of prices." Do you agree. *(Agra 1963, 59, Jabalpur 1965,* **Raj. 1964)**

Q. 30. Distinguish between the cash balances approach and the cash transactions approach to the general price-level. **(Raj. 1962)**

Q. 31. Compare the Fisher's equation with the Cambridge version of the quantity theory of money. What do you prefer and why? **(Raj. 1958)**

[फिशर द्वारा प्रतिपादित समीकरण के लिये प्रश्न २१ के उत्तर को देखें। केम्ब्रिज समीकरण के लिए प्रश्न २५ के उत्तर को देखें]

---

2. "That the prics of commodities do not depend upon money ... but than, on the contrary the amount of circulating medium is a cousequence of prices" Thomas Tooke, An Enquiry into the Currency Principle, p. p. 121-128

फिशर का नकद-भुगतान समीकरण व केम्ब्रिज समीकरण
Cash Transaction and Cambridge Equations

द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त का दो प्रमुख विचारधाराओं—नकद-भुगतान व नकद बाकी—ने अध्ययन किया है। पहली विचारधारा पुरानी है और बाद वाली विचारधारा एक सुधार के रूप में प्रस्तुत की गई है। इसलिए इन दोनों में काफी अन्तर है। फिर भी दोनों में कुछ समानता भी है। प्रथम, नकद भुगतान समीकरण में V तथा केम्ब्रिज समीकरण में k एक दूसरे का प्रतिस्थापन है। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि फिशर ने अवधि विशेष पर जोर दिया और केम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों ने विशेष समय पर। दूसरे, राबर्टसन का विचार है कि दोनों समीकरण एक ही समस्या के दो विभिन्न पहलूओं का अध्ययन करते है। फिशर के सिद्धान्त का सम्वन्ध सक्रिय मुद्रा से है और केम्ब्रिज समीकरण का निष्क्रय मुद्रा से। इसलिये दोनों एक दूसरे के विरोधी नहीं है।

दोनों में अन्तर
Differences

इन समस्याओं के होने पर भी दोनों समीकरणों में महत्त्वपूर्ण अन्तर है। ये दोनों समीकरण मांग और पूर्ति सिद्धान्त के दो पहलूओं पर आधारित हैं। फिशर ने अपने समीकरण में द्रव्य की पूर्ति को महत्त्व दिया जबकि केम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों ने द्रव्य की माँग को अधिक महत्त्व दिया। इस प्रकार फिशर ने द्रव्य की उस मात्रा को महत्त्व दिया जो भुगतान कार्यों के लिये रखी जाती है। केम्ब्रिज समीकरण में द्रव्य को विनिमय शक्ति के संचय का साधन माना गया। अतः प्रथम में द्रव्य के विनिमय के माध्यम के कार्य को और द्वितीय में विनिमय शक्ति के संचय के कार्य को महत्त्व दिया।

दूसरे, फिशर ने अपने समीकरण में दीर्वकालीन परिवर्तनों को महत्त्व दिया और केम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों ने अल्पकालीन परिवर्तनों को।

तीसरे, फिशर का सिद्धान्त समय की अवधि की ओर संकेत करता है और केम्ब्रिज सिद्धान्त निश्चित समय की ओर।

दोनों समीकरणों में केम्ब्रिज समीकरण अधिक तर्कपूर्ण व वैज्ञानिक है। केम्ब्रिज समीकरण यह बताता है कि द्रव्य का मूल्य द्रव्य के परिमाण पर निर्भर नहीं करता बल्कि इस बात पर निर्भर करता है कि हम अपनी वास्तविक आय का कितना भाग नकद में रखना चाहते हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मन्दीकाल में द्रव्य के परिमाण में वृद्धि करने पर भी वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि नहीं होती। दूसरे, यह अल्पकालीन परिवर्तनों के प्रभावों को भी स्पष्ट करता है। तीसरे, यह समीकरण यह भी बताता है कि आय, उत्पादन और रोजगार को स्थायित्व प्रदान करने में कुल मांग का क्या प्रभाव होता है। अन्त में, यह मालूम करना सरल होता है कि

व्यक्तियों के पास नकद बाकी के कोष कितने है। नकद भुगतानों का पता लगाना सरल नहीं है।

★

Q. 32. "Keynes' Treatise on money represents a transition from the monetary theory of the quantity equations to the modern theory of income, output and employment" Discuss. (Agra 1956)

Q. 33. Explain the theory of money and pries as propounded by Keynes. How does it mark an advance upon the Quantity Theory of Money. (Agra 1965)

कीन्स द्रव्य के मूल्य के प्राचीन सिद्धान्त से सहमत नहीं था क्योंकि यह सिद्धान्त द्रव्य के मूल्य मे होने वाले परिवर्तनों का वैज्ञानिक व तर्कपूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत नही करता था। इसलिये उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक The General Theory of Employment, Interest and Money में द्रव्य के मूल्य के सम्बध में एक नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया जो द्रव्य के मूल्य सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त मे उन्होंने यह स्पष्ट किया कि द्रव्य के परिमाण और द्रव्य के मूल्य मे कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है। कीन्स का विचार था कि द्रव्य के परिमाण में होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव एकदम मूल्य-स्तर पर नहीं पड़ता बल्कि पहले ब्याज की दर पर पडता है और फिर विनियोग की मात्रा, रोजगार की स्थिति, आय व उत्पादन की मात्रा के द्वारा मूल्य स्तर प्रभावित होता है। इस प्रकार उनके अनुसार द्रव्य के परिमाण व मूल्य स्तर मे सम्बन्ध अप्रत्यक्ष व दूर का है।

रूपरेखा

(१) कीन्स का द्रव्य व मूल्यो का सिद्धान्त।

(२) इस सिद्धान्त की व्याख्या।

(३) इस सिद्धान्त की मान्यताएँ।

(a) द्रव्य की मात्रा एकदम मूल्य स्तर को प्रभावित नहीं करती;

(b) द्रव्य का सिद्धान्त सामान्य मूल्य सिद्धान्त से भिन्न नही है;

(c) इस सिद्धान्त का सम्बन्ध उत्पत्ति के सिद्धान्त से है:

(d) प्रभावपूर्ण मॉग व द्रव्य की मात्रा में अनुपातिक सम्बन्ध है।

(४) यह सिद्धान्त फिशर के सिद्धांत से अच्छा है।

(५) सिद्धात मे कमियाँ।

कीन्स के सिद्धान्त की विवेचना

Explaination of Keynes Theory

कीन्स ने अपने सिद्धान्त में यह बताया कि द्रव्य की मात्रा मे परिवर्तन होने पर मूल्य-स्तर किस प्रकार से प्रभावित होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार द्रव्य की मात्रा में वृद्धि होने का प्रत्यक्ष प्रभाव ब्याज की दर पर पड़ता है। द्रव्य की मात्रा

में वृद्धि के परिणामस्वरूप व्याज की दर कम हो जाती है क्योंकि लोगों की तरलता पसंदगी (Liquidity Preference) की आवश्यकता तथा सट्टेबाजी के उद्देश्य (Speculative motive) को पूरा करने के लिये अधिक मात्रा में द्रव्य प्राप्त हो जाता है। व्याज की दर में कमी होने से पूँजी की सीमान्त उत्पादकता (Marginal Efficiency of Capital) उतनी हीं रहती है परन्तु द्रव्य की मात्रा में वृद्धि होने के कारण देश में विनियोजन की मात्रा में वृद्धि होने लगती है। विनियोजन की मात्रा में वृद्धि होने के कारण देश में आय, रोजगार तथा उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होने लगती है। उत्पादन में वृद्धि उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) के अन्तर्गत होती है तथा मजदूर भी अधिक वेतनों की माँग करने लगते हैं। इससे उत्पादन व्यय बढ़ जाता है। इस प्रकार आय, रोजगार व उत्पादन में वृद्धि होने पर भी मूल्य स्तर में वृद्धि होती है। प्रारम्भ में रोजगार में वृद्धि मूल्यों की तुलना में अधिक होती है परन्तु जैसे-जैसे पूर्ण-रोजगार (Full Employment) की स्थिति निकट आती जाती है वैसे-वैसे मूल्यों में वृद्धि बढ़ती जाती है और रोजगार में वृद्धि कम होती जाती है। पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त हो जाने के पश्चात् रोजगार में वृद्धि नहीं होती। इस विन्दु के पश्चात् यदि द्रव्य की मात्रा में वृद्धि होती है तो रोजगार में वृद्धि नहीं होती बल्कि केवल मूल्य ही बढ़ते हैं। कीन्स के सिद्धान्त को तालिका के रूप में इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं :—

द्रव्य की मात्रा में परिवर्तन → व्याज की दर में परिवर्तन → विनियोग की मात्रा में परिवर्तन → आय, रोजगार व उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन → उत्पादन लागत में परिवर्तन → मूल्यों में परिवर्तन

सिद्धान्त की मान्यताएँ
Assumptions of the Theory

कीन्स का यह सिद्धान्त निम्न दो मान्यताओं पर आधारित है।

(१) पूर्ण रोजगार की स्थिति तक उत्पत्ति के साधनों की पूर्ति से रोजगार, आय और उत्पादन की मात्रा, फिर उत्पादन व्यय तथा अन्त में मूल्य स्तर प्रभावित होता है। अतः द्रव्य की मात्रा में वृद्धि होने के बहुत समय पश्चात् मूल्य स्तर प्रभावित होता है। इसके अतिरिक्त यह आवश्यक नहीं है कि द्रव्य की मात्रा में परिवर्तन हो जाने पर मूल्य स्तर भी परिवर्तित हो जाय।। मूल्यों पर व्याज की दर के अतिरिक्त पूंजी की सीमान्त उत्पादकता और उपभोग की प्रवृति का भी प्रभाव पड़ता है। द्रव्य की मात्रा में वृद्धि होने पर भी यदि पूंजी की सीमान्त उत्पादकता और उपभोग की प्रवृत्ति में कमी हो जाय तो मूल्य स्तर में वृद्धि नहीं होती। इस प्रकार द्रव्य की मात्रा तथा मूल्य स्तर में प्रत्यक्ष, अनुपातिक व सरल सम्बन्ध नहीं है।

(२) दूसरे, द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त का मूल्य निर्धारण के सामान्य सिद्धांत से कोई सम्वन्ध नहीं है। कीन्स के अनुसार द्रव्य का सिद्धान्त सामान्य मूल्य सिद्धान्त

से भिन्न नही है इस प्रकार यह द्रव्य के सिद्धान्त को अर्थशास्त्र के सामान्य सिद्धात से मिला देता है। अर्थशास्त्र के सामान्य मूल्य सिद्धांत के अनुसार किसी वस्तु का मूल्य माग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा उस स्थान पर निर्धारित होता है जहाँ वस्तु की सीमान्त लागत व सीमान्त आय बराबर होती है। इस प्रकार मूल्य निर्धारण पर उत्पादन व्यय व अल्पकालीन माग व पूर्ति की लोच का प्रभाव पड़ता है। कीन्स ने द्रव्य के मूल्य निर्धारण की समस्या का अध्ययन करते समय इन तत्वों को भी ध्यान में रखा। उन्होने बताया कि वस्तुओं के मूल्यों मे लागत-वृद्धि के कारण वढोतरी होती है और उत्पादन लागत में वृद्धि उत्पादन न रोजगार की वेलोच अल्पकलीन पूर्ति के कारण होती है।

(३) अपने सिद्धान्त के द्वारा कीन्स ने द्रव्य के सिद्धान्त का सम्बन्ध उत्पत्ति के सिद्धान्त से स्थापित कर दिया। उत्पत्ति के सिद्धान्त के द्वारा ही उसने द्रव्य के सिद्धान्त का सम्बन्ध सामान्य मूल्य सिद्धान्त से स्थापित किया। उन्होंने बताया कि द्रव्य की मात्रा के परिवर्तन किस प्रकार पूर्णतः लोचदार होती है और पूर्ण रोजगार के विन्दु के पश्चात् पूर्ति पूर्णतः बेलोचदार हो जाती है।

(२) प्रभावपूर्ण माग (Effective demand) की वृद्धि तथा द्रव्य की मात्रा मे वृद्धि का अनुपातिक सम्बन्ध है।

उपरोक्त मान्यताओ के आधार कीन्स के सिद्धान्त की निम्न परिभाषा दी जा सकती है "जब तक वेरोजगारी की स्थिति है, रोजगार मे उसी अनुपात से परिवर्तन होंगे जिस अनुपात से द्रव्य की मात्रा परिवर्तित होगी और जब पूर्ण रोजगार की स्थिति होगी तो मूल्य मे द्रव्य की मात्रा के ठीक अनुपात में परिवर्तन होंगे।"[1]

सिद्धान्त का महत्व
Importance of the Theory

कीन्स का सिद्धान्त फिशर के परिमाण सिद्धान्त से कई प्रकार से अच्छा है। एक तो इस सिद्धान्त ने परिमाण सिद्धान्त के इस निष्कर्ष के गलत सिद्ध कर दिया कि द्रव्य की मात्रा और मूल्य स्तर में प्रत्यक्ष व अनुपातिक सम्बन्ध होता है। कीन्स ने तर्कपूर्ण विश्लेषण द्वारा यह स्पष्ट किया कि द्रव्य की मात्रा व मूल्यों का सम्बन्ध अप्रत्यक्ष व अनिश्चित है। द्रव्य की मात्रा मे वृद्धि होने का एक दम प्रभाव मूल्यों पर नही पड़ता बल्कि पहले व्याज की दर प्रभावित होती है, फिर विनियोग की मात्रा, फिर ब्याज की दर को प्रभावित करके उत्पत्ति की मात्रा को प्रभावित कर देते हैं जिससे वस्तुओं के मूल्य प्रभावित होते हैं।

1. "So long as there is unemployment, employment will change in the same proportion as the quantity of money; and when there is full employment price will change in the same proportion as the quantity of money." J M. Keynes, The General Theory of Employment, Interst and Money, p. 296.

इस प्रकार कीन्स का सिद्धान्त द्रव्य के पुराने सिद्धान्त से अच्छा है। डिलार्ड (Dillard) ने द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त की तुलना में कीन्स के सिद्धान्त की उत्तमता को इन शब्दों में स्पष्ट किया है। "यह सिद्धान्त इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि द्रव्य की मात्रा में वृद्धि सदा स्फीतिक होती है। यह निष्कर्ष केवल तभी सत्य होता है जब कि यह मान लिया जाय कि उत्पत्ति के साधन पूर्ण रोजगार की स्थिति में है, परन्तु यदि इस मान्यता को छोड़ दिया जाय तो यह निष्कर्ष गलत सिद्ध हो जाता है। इस दशा में मूल्यों का सिद्धान्त द्रव्य का मूल्य या मूल्य स्तरों का सिद्धान्त मात्रा रह जाता है। द्रव्य आवश्यक रूप से एक तेल (Lubricant) है जो कि वस्तु-विनिमय से अधिक कार्यकुशल होने के कारण उपयोगी है। इस सिद्धान्त में द्रव्य के परिमाण तथा रोजगार में परिवर्तनों के अत्यन्त महत्वपूर्ण सम्बन्धों को भुला दिया जाता है। द्रव्य का सिद्धान्त अर्थशास्त्र के उस सिद्धान्त के मुख्य शरीर से अलग रहता है जिसका मूल्य और उत्पत्ति से सम्बन्ध है।"[2]

सिद्धान्त के दोष
Defects of the Theory

कीन्स के सिद्धान्त में एक मुख्य दोष यह है कि इस सिद्धान्त के निष्कर्ष हमेशा ठीक नहीं होते। इस सिद्धान्त का एक मुख्य निष्कर्ष यह है कि पूर्ण रोजगार की स्थिति से पहले रोजगार की स्थिति में ठीक उसी अनुपात से परिवर्तन होते हैं जिस अनुपात से द्रव्य की मात्रा में। पूर्ण रोजगार की स्थिति के पश्चात मूल्यों में द्रव्य की मात्रा के अनुपात से परिवर्तन होते हैं। यह निष्कर्ष सदा ठीक नहीं होता क्योंकि कई दशाओं में पूर्ण रोजगार की स्थिति से पहले भी मूल्यों में वृद्धि हो सकती है। यह वृद्धि निम्न दशाओं में होती है :—

(१) बेरोजगारी दूर होने पर श्रमिकों की मोल-भाव करने की शक्ति बढ़ जाती है और उनके वेतन दर बढ़ाने होते हैं। इससे उत्पादन व्यय बढ़ जाता है जिससे मूल्य प्रभावित होते हैं।

---

2. "It leads to the conclusions that all increase in the quantity of money tend to be inflationary, a conclusion quite valid under the assumption that resurces are fully employed, but a nonsense conclusion when this special assumption. is dropped. Theory of prices become nothing more than a theory of price levels, that is, of value of money. Money is essentially a lubricant which is useful because it is more efficient than barter. The extremely important relations between changes in the quantity of money and changes in employment are ignored........Monetary theory remains outside the main body of of economy, which is concerned with value and output." D. Dillard, Economics of John Maynard Keynes, pp. 225-226.

(२) अल्पकाल में क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) लागू होता है जिस कारण उत्पादन लागत बढ़ने लगती है।

(३) आर्थिक प्रणाली की अपूर्णताओ के कारण उत्पादन के क्षेत्र मे बहुत सी कठिनाइयाँ आ जाती हैं जिससे उत्पत्ति की मात्रा व्यय से कम बढ़ती है।

इस प्रकार यद्यपि इस सिद्धान्त मे कुछ कमियाँ है परन्तु फिर भी यह सिद्धात द्रव्य के प्राचीन परिमाण सिद्धान्त की तुलना मे अधिक वास्तविक व उत्तम है क्योंकि यह इस धारणा को दूर कर देता है कि द्रव्य की मात्रा और मूल्यो में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। साथ ही यह सिद्धान्त द्रव्य के सिद्धान्त को अर्थशास्त्र के सामान्य मूल्य सिद्धान्त से सम्बन्धित कर देती है।

३

मौद्रिक मान

MONETARY STANDARD

Q. 34. What are the essential features that a monetary system should have before it can be looked upon as satisfactory? How far are such features present in the Indian monetary system?

(Agra 1961, Vikram 1964)

मौद्रिक व्यवस्था वह व्यवस्था कहलाती है जिसमें देश की प्रमाणित मुद्रा (Standard money) का सम्बन्ध किसी वस्तु की निश्चित इकाई से निर्धारित कर दिया जाता है और देश की मौद्रिक नीति के द्वारा मुद्रा के मूल्य को स्थिर रखने का प्रयत्न किया जाता है। उदाहरण के लिये जब देश की मुद्रा की इकाई का मूल्य स्वर्ण की निश्चित मात्रा से निर्धारित कर दिया जाता है तो इसे स्वर्ण-मान कहते हैं। रजत मान में मुद्रा का सम्बन्ध चाँदी की मात्रा से निश्चित कर दिया जाता है। द्विधातुमान में मुद्रा का मूल्य स्वर्ण व रजत दोनों में तय कर दिया जाता है। यदि किसी देश की मुद्रा का सम्बन्ध किसी भी धातु में निश्चित न किया जाय तो यह पत्र मुद्रा मान कहलाता है।

रूप रेखा :

(१) मुद्रा व्यवस्था की व्याख्या तथा इसका देश की अर्थ-व्यवस्था में स्थान।

(२) मुद्रा व्यवस्था की आवश्यक विशेषताएं :

(a) मुद्रा के मूल्य में स्थिरता;
(b) लोच;
(c) स्थिर मूल्य-स्तर;
(d) विनिमय स्थिरता;
(e) पूर्ण रोजगार;
(f) मितव्ययतापूर्ण।

(३) भारतीय मौद्रिक व्यवस्था की समालोचना।

मौद्रिक व्यवस्था का देश की अर्थ-व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान होता [illegible]ीक चुनाव पर ही मौद्रिक स्थिरता (monetary stability) निर्भर [illegible] मान का ठीक-ठीक चुनाव किया जाय तो देश में वस्तुओं का [illegible] और रोजगार ठीक स्तर पर बना रहता है।

[illegible]ौद्रिक व्यवस्था का चुनाव करते समय प्रत्येक देश को बहुत सी [illegible]चना प[illegible]। सबसे पहले तो मौद्रिक व्यवस्था इस प्रकार की

होनी चाहिये कि वह लोगों में मुद्रा की स्थिरता के सम्बन्ध में विश्वास उत्पन्न करे। जब तक लोगों के मन में मुद्रा-व्यवस्था में विश्वास बना रहता है तब तक ही वह ठीक प्रकार से कार्य करती है। विश्वास समाप्त हो जाने पर मुद्रा-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है और देश को अपनी मुद्रा का सम्बन्ध दूसरे देश की मुद्रा से स्थापित करना पड़ता है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी में लोगों का विश्वास मुद्रा-व्यवस्था में समाप्त हो गया। इसलिये वहाँ कोई भी अपने देश की मुद्रा नहीं रखना चाहता था। प्रत्येक व्यक्ति स्वर्ण या अमेरिकन डालर रखना चाहता था।

दूसरे, मौद्रिक व्यवस्था में लोच (Elasticity) होनी चाहिये। किसी भी देश की अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा की माँग वर्ष भर एक सी नहीं रहती। जिस समय व्यापारिक क्रिया अधिक व तेजी से होती है उस समय मुद्रा की आवश्यकता अधिक होती है। शिथिल व्यापार के समय मुद्रा की आवश्यकता कम हो जाती है। मुद्रा व्यवस्था इस प्रकार की होनी चाहिये कि कम मुद्रा की आवश्यकता के समय मुद्रा की मात्रा कम हो जाय और अधिक आवश्यकता के समय मुद्रा की मात्रा बढ़ जाय। यदि मुद्रा की मात्रा में इस प्रकार परिवर्तन नहीं होगा तो देश के मूल्य-स्तर में अत्यधिक उच्चावचन होते रहेंगे।

तीसरे, मुद्रा व्यवस्था (monetary system) इस प्रकार की होना चाहिये कि देश में मूल्य-स्तर स्थिर रहे। क्योंकि मूल्यों की अस्थिरता के कारण देश में मुद्रा स्फीति व संकुचन (Inflation and deflation) की स्थितियाँ आती रहती हैं। ये स्थितियाँ देश में आर्थिक अस्थिरता उत्पन्न कर देती है जिससे आर्थिक व सामाजिक अशान्ति उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त आर्थिक अस्थिरता सचयी (cumulative) होती है। एक बार प्रारम्भ होने के पश्चात् यह दिन प्रतिदिन बढ़ती चली जाती है। तीसा (thirtees) की मंदी के पश्चात् यह विचार दृढ़ हो गया है कि मौद्रिक व्यवस्था का उद्देश्य मूल्यों की स्थिरता को बनाये रखना होना चाहिये।

चौथे, मौद्रिक व्यवस्था के द्वारा विनिमय स्थिरता (exchange stability) भी स्थापित होनी चाहिये। स्वर्ण-मान के इसी लाभ के कारण संसार के विभिन्न देशों ने इसको बहुत समय तक अपनाये रखा। यह स्थिरता उन देशों के लिये तो और भी अधिक महत्वपूर्ण है जो विदेशी व्यापार अधिक मात्रा में करते हैं।

पाँचवे, अच्छी मौद्रिक व्यवस्था वह कहलाती है जो देश में पूर्ण रोजगार की आदर्श अवस्था को प्राप्त करने में सहायक हो। बेरोजगारी एक मूलभूत आर्थिक बुराई है जिसके कारण अनेकों दूसरी बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं। तीसा की महान मंदी के पश्चात् मुद्रा व्यवस्था का वह उद्देश्य काफी महत्वपूर्ण हो गया है।

छटे, मुद्रा व्यवस्था को मितव्ययतापूर्ण (Economical) होना चाहिये। मुद्रा के चलन के लिये स्वर्ण या दूसरी बहुमूल्य धातु के कोषों को बेकार में जमा करके

नहीं रखना चाहिये । आजकल धातु मान का महत्व इसीलिये कम हो गया है क्योंकि इसमें धातुओं के बहुत बड़े कोष रखने पड़ते हैं ।

भारतीय मुद्रा व्यवस्था

Indian Monetary System

भारतवर्ष में पत्र मुद्रा चलन है और नोट निर्गमन का एक-मात्र अधिकार रिजर्व बैंक आफ इन्डिया को है। यह बैंक २०० करोड़ रुपये के कोष रख कर जितने चाहे नोट छाप सकता है। इस २०० करोड़ रुपये में कम से कम ११५ करोड़ रुपये का स्वर्ण होना चाहिये। बाकी कोष विदेशी प्रतिभूतियों (Foreign securities) में हो सकता है।

भारतीय मुद्रा व्यवस्था अच्छी मुद्रा व्यवस्था की कई आवश्यकताओं को पूरा करती है। यहाँ की मुद्रा व्यवस्था मितव्ययी है क्योंकि नोट निगर्मन के लिये स्वर्ण के अधिक कोषों की आवश्यकता नहीं है। जनता में विश्वास को बनाये रखने के लिये केवल ११५ करोड़ रुपये के स्वर्ण कोषों की आवश्यकता है। हमारी मुद्रा व्यवस्था लोचपूर्ण भी है। रिजर्व बैंक व्यस्तकाल में प्रथम श्रेणी के व्यापारिक बिलों (First Class Commerical Bills) के आधार पर उधार देकर मुद्रा की पूर्ति को बढ़ा देता है और मंदी काल में प्रतिभूतियाँ (Securities) बेचकर अतिरिक्त मुद्रा को चलन से बाहर निकाल लेता है। जनता का विश्वास भी यहाँ की मौद्रिक व्यवस्था में है।

उपरोक्त बातों के अतिरिक्त कुछ आवश्यक तथ्य भारतीय मुद्रा व्यवस्था में अधिकता से नहीं है। हमारी मुद्रा व्यवस्था मूल्य स्तरों को स्थिर रखने, विनिमय दर की स्थिरता को बनाये रखने और पूर्ण रोजगार की आदर्श अवस्था को प्राप्त करने में अधिक सफल नहीं हुई है। परन्तु इस प्रकार की असफलता केवल भारत तक ही सीमित नहीं है। विकसित/देशों की मुद्रा व्यवस्थायें भी इन उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफल नहीं हुई हैं।

★

Q. 35. Explain what you mean by bimetallism and show how it works better on the international than on the national plans. Did any important country adopt bimetallism in the world ?

(Agra 1948)

द्विधातुमान वह मुद्रा व्यवस्था (Monetary system) है जिसमें स्वर्ण एवं रजत दोनों धातु के ही सिक्के साथ-साथ प्रामाणिक मुद्रा (Standard Money)

के रूप मे चलते हो तथा असीमित कानूनी ग्राह्य (Unlimited legel tender) हो।

द्विधातुमान तीन प्रकार का होता है :—

(१) शुद्ध द्विधातुमान (Pure Bimetallic Standard)

(२) पगु द्विधातुमान (Limping Bimetallic Standard)

(३) समानुपात द्विधातुमान (Parallel Bimetallic Standard)

शुद्ध-द्विधातुमान (Pure Bimetallic Standard)—इस मान के मुख्य लक्षण निम्नलिखित हैं :—

(१) मुद्रा व्यवस्था मे एक साथ दो धातु के सिक्के चलन मे होने चाहिएँ। ये दोनों ही सिक्के विनिमय के माध्यम (Medium of exchange) तथा मूल्य-मापन (Measurement of value) का कार्य करते है। यह दो धातुएँ सदा स्वर्ण व रजत ही होती हैं।

रूपरेखा :—

(१) द्विधातुमान का अर्थ व इसके विभिन्न रूप।
- (a) शुद्ध द्विधातुमान;
- (b) पगु द्विधातुमान;
- (c) समानुपात द्विधातुमान।

(२) द्विधातुमान का विकास।

(३) द्विधातुमान के लाभ।
- (a) द्रव्य के मूल्य मे स्थिरता;
- (b) विदेशी व्यापार की सुविधा व विनिमय दरों मे स्थिरता,
- (c) द्रव्य की पूर्ति का अभाव न होना।
- (d) सूद की दर का कम होना,
- (e) स्वर्ण की कमी का महसूस न होना।

(४) द्विधातुमान के दोष।

(२) दोनो सिक्कों की इकाइयों का सम्बन्ध सरकार के द्वारा निश्चित कर दिया जाता है जिसको टकसाली दर (Mint Ratio) कहते हैं और सरकार इसी दर पर दोनों सिक्कों का एक दूसरे से विनिमय करती है। सरकार अपने सिक्के को स्वर्ण व रजत दोनो मे ही परिभाषित कर देती है और इससे टकसाली दर निश्चित हो जाती है। जैसे सन् १७६२ के अमेरिकन मुद्रण नियम के अनुसार एक डालर २४·७५ ग्रेन स्वर्ण तथा ३७१·२५ ग्रेन रजत के बराबर था। इस प्रकार दोनों की टकसाली दर १ : १५ हो गयी थी।

(३) स्वर्ण व रजत, दोनों ही सिक्के असीमित कानूनी ग्राह्य होते हैं। यदि किसी व्यक्ति को अपने ऋण का भुगतान करना है तो वह स्वर्ण सिक्के, रजत सिक्के या दोनों सिक्कों मे भुगतान कर सकता है।

(४) स्वर्ण व रजत दोनो धातुओं का स्वतन्त्र टकण (Free Coinage) होता है तथा सरकार को दोनों धातुओ के स्वतन्त्र बाजार की व्यवस्था करनी होती है।

इसका उद्देश्य स्वर्ण व रजत दोनों के सिक्कों का मूल्य, देश के भीतर व देश के बाहर, उनमें निहित मूल्य के बराबर करना होता है।

(५) प्रत्येक प्रकार की पत्र-मुद्रा तथा साख-मुद्रा स्वर्ण व रजत सिक्कों में परिवर्तनशील होती है।

पंगु द्विधातुमान (Limping Bimetallic Standard)—यह द्विधातुमान का एक परिवर्तन रूप है जिसमें द्विधातुमान के कुछ दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। फ्रांस में इस मान का उपयोग सन् १८०३ में किया था जिससे द्विधातुमान में ग्रेशम के नियम को लागू होने से रोका जा सके।

इस मान में स्वर्ण व रजत दोनों ही प्रकार के सिक्के चलन में होते हैं। यह दोनों ही असीमित कानूनी ग्राह्य होते हैं तथा टकसाली दर सरकार के द्वारा निश्चित करदी जाती है। परन्तु इस मान मे दोनों धातुओं के स्वतन्त्र टंकण को समाप्त करके केवल एक धातु का स्वतन्त्र टंकण रहने दिये जाता है तथा दूसरे का स्वतन्त्र टंकण समाप्त कर दिया जाता है। इसको पंगुमान इसलिए ही कहा जाता है कि जिस धातु का स्वतन्त्र टंकण नहीं होता वह कठिनाई से (लंगड़ाते हुए) चालू रहता है।

यह मान सन् १८०३ में फ्रांस में अपनाया गया था। वहाँ स्वर्ण व रजत दोनों के सिक्के प्रामाणिक मुद्रा के रूप में चलते थे, असीमित कानूनी ग्राह्य थे तथा उनकी दर सरकार से निश्चित थी। परन्तु सरकार ने रजत के स्वतन्त्र टंकण को समाप्त कर दिया था।

समानुपात द्विधातुमान (Parallel Bimetallic Standard)—इस मान को समानान्तर या व्यकल्पित द्विधातुमान भी कहते हैं। इसका उद्देश्य भी बाजार दर (Market rate) तथा टकसाली दर के अन्तर को समाप्त करना है जिससे ग्रेशम का नियम लागू न हो सके।

समानुपात द्विधातुमान में दो धातुओं के सिक्के चलन में होते हैं, दोनों के सिक्के असीमित कानूनी ग्राह्य होते हैं, दोनों का स्वतन्त्र टंकण भी होता है। परन्तु इस मान में सरकार के द्वारा कोई निश्चित टकसाली दर घोषित नहीं की जाती। बाजार में धातुओं के मूल्यों के आधार पर विनिमय अनुपात को स्वयं निश्चित होने के लिये छोड़ दिया जाता है। बाजार में प्रचलित दर को ही सरकार अधिकृत दर मान लेती है। अतः टकसाली दर स्थिर नहीं होती बल्कि बाजार में धातुओं के मूल्यों के अनुसार बदलती रहती है। इससे ग्रेशम का नियम लागू नहीं होता।

इस मान में एक दोष यह है कि टकसाली दर में परिवर्तन होते रहने के कारण व्यापार में बड़ी असुविधा होती है।

इस मान को इंगलैंड ने सन् १६६३ में कुछ समय के लिये अपनाया था।

द्विधातुमान का इतिहास (History of the Bimetallic Standard)—द्विधातुमान संसार में काफी समय तक प्रचलित रहा। १९वीं शताब्दी में तो इसको

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनाने के सम्बन्ध मे बहुत प्रयत्न किये गये जो कि सफल नही हो पाये।

द्विधातुमान को अपनाने वाला पहला देश इंगलैंड था जिसने सन् १७१७ में रजतमान को छोड़ कर द्विधातुमान को स्वीकार किया था। अमेरिका ने (Mint Act of 1792) पास करके उसी वर्ष मे इसको अपनाया परन्तु वहाँ पर यह अधिक सफल नही हो सका। सन् १८७३ मे इसके कुछ अश का परित्याग अमेरिका ने किया और सन् १८७९ मे इसको पूर्ण रूप से छोड़ दिया। फ्रास मे यह मान सन् १८०३ में स्थापित हुआ और १५½ औस चादी को १ औस सोने के बराबर कर दिया। सन् १८४८ तक यह प्रणाली बिना किसी रुकावट के कार्य करती रही; परन्तु सन् १८४९–५० के मध्य सोने की खानों का पता लगने के कारण स्वर्ण की पूर्ति मे अत्यधिक वृद्धि हो गयी तथा चादी की तुलना में इसका मूल्य गिरने लगा। इससे बाजार दर में उच्चावचन अधिक होने लगे तथा ग्रेशम का नियम लागू होने लगा जिसमे नीचे मूल्य का सिक्का ऊँचे मूल्य के सिक्के को चलन से बाहर निकाल देता है। इस स्थिति मे एक देश दो धातुओ के अनुपात को अधिक समय तक स्थिर नही रख सकता परन्तु कई देश एक साथ ऐसा कर सकते हैं।

ग्रेशम के नियम को लागू होने से रोकने के लिये सन् १८६५ मे फ्रास, स्विटजरलैंड, बैलजियम तथा इटली ने एक लैटिन मौद्रिक सघ (Latin Monetary Union) का निर्माण किया। कुछ वर्ष बाद ग्रीस, सर्विया (Servia), रूमानिया तथा दक्षिणी अमेरिका के कुछ राज्यों ने भी इस संघ की सदस्यता स्वीकार कर ली। परन्तु सन् १८७४ से चांदी की नयी खानो के आविष्कार के कारण चादी की पूर्ति मे बहुत वृद्धि हो गयी और चादी के मूल्य में भारी गिरावट आ गयी। इस मान वाले देशों मे स्वर्ण मूल्यों मे वृद्धि के कारण स्वर्ण मुद्रा का लोप होने लगा। ग्रेशम का नियम लागू होने के कारण यह मान चालू न रह सका तथा सन् १८७४ में यह संघ भी टूट गया।

१९वी शताब्दी के अन्त मे इस मान की स्थापना के लिये बहुत से प्रयत्न किये गये जो कि सफल नही हो पाये। सन् १८७८ तथा १८९२ में दो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-सम्मेलन (International Montery Conferences) ब्रुसेल्स मे हुई जिनमें द्विधातुमान को अन्तर्राष्ट्रीय ढंग पर अपनाने के लिए जोर दिया गया। परन्तु इंगलैंड के विरोध के कारण इन सम्मेलनो को सफलता नही मिल सकी और सन् १९०० में द्विधातुमान को सदा के लिए त्याग दिया गया।

अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान का उद्देश्य बढते हुये उत्पादन की आवश्यकताओं के अनुसार द्रव्य की पूर्ति में वृद्धि करना था क्योंकि जब दो धातुओ के द्रव्य एक साथ चलते हैं तो द्रव्य की पूर्ति अधिक हो जाती है। बैंकिंग के विकास के कारण तथा कागजी द्रव्य तथा साख पत्रो के प्रयोग के कारण द्विधातुमान के इस मान का कोई

महत्व नहीं रहा है। इसलिये भी अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान के विचार को छोड़ दिया गया।

द्विधातुमान के लाभ (Advantages of Bimetallic Standard)—द्विधातुमान का वर्तमान समय में कोई महत्व नहीं है परन्तु १९वीं शताब्दी में अनेक प्रयत्न इस मान को स्थापित करने के लिए किए गये थे। ये प्रयत्न द्विधातुमान के उन लाभों के कारण किये गए थे जो द्विधातुमान को एक धातु मान की तुलना में प्राप्त थे। ये लाभ निम्न हैं:—

द्रव्य के मूल्य की स्थिरता (Stability in the Purchasing Power of Money)—द्विधातुमान में एक महत्वपूर्ण लाभ यह है कि इस मान में द्रव्य की क्रय-शक्ति में स्थिरता बनी रहती है। जब केवल एक धातु मुद्रा मान का कार्य करती है तो उसकी पूर्ति में होने वाले परिवर्तनों के कारण मुद्रा का मूल्य बदलता रहता है। परन्तु द्विधातुमान के अन्तर्राष्ट्रीय प्रयोग में सोने व चांदी का अभाव दूसरी धातु के उत्पादन से पूरा हो जाता है जिससे दोनों धातुओं की मुद्रा के मूल्य में स्थिरता रहती है। इस मान में एक धातु की पूर्ति में होने वाले परिवर्तन दूसरी धातु की पूर्ति में विपरीत दिशा में होने वाले परिवर्तनों के साथ सन्तुलित हो जाते हैं। जेवन्स (Jevons) ने इस सम्बन्ध में दो शराबियों का उदाहरण दिया है। दो नशे में चूर शराबियों को यदि आपस में बांध दिया जाए तो वे अधिक दूर तक चल सकेंगे क्योंकि उनमें से यदि एक दाईं ओर को गिरेगा और दूसरा बाईं ओर को तो वे दोनों एक दूसरे के साथ सन्तुलित हो जायेंगे। परन्तु जब वे अलग-अलग चलते हैं तो उनमें से एक दाईं ओर को गिर जायगा दूसरा बाईं ओर को और वे केवल कुछ दूर तक ही चल पायेंगे। इसी प्रकार सोने की कमी चाँदी के अधिक उत्पादन से या चाँदी की कमी सोने के अधिक उत्पादन से दूर होकर द्विधातुमान में द्रव्य के मूल्य में स्थिरता बनी रहती है।

द्विधातुमान को इस कारण भी अच्छा माना जाता है क्योंकि चलन में प्रचलित दो प्रकार के द्रव्य एक दूसरे पर क्षतिपूरक (Compensatory) प्रभाव डालते हैं जिससे सभी वस्तुओं के मूल्य स्थिर रहते हैं। जेवन्स ने इसको सन्तुलनकारी कार्य (Equilibratory action) कहा है जिसकी व्याख्या उसने इस प्रकार से की है:—

यदि स्वर्ण की तुलना में रजत अधिक मूल्यवान बन जाय, तो द्विधातुमान वाले देश में एकदम स्वर्ण के आयात की प्रवृत्ति बढ़ जाती है जिससे कि इसके सिक्के बनवाकर वैधानिक दर पर रजत सिक्कों से बदलवा लिये जायें तथा उनका निर्यात किया जाय। यदि स्वर्ण का मूल्य बढ़ जाय तो प्रभाव विपरीत होगा; स्वर्ण को रक्खा जायगा तथा रजत का उपयोग अधिक किया जायगा। अतः किसी भी समय एक ही धातु मूल्य का मान (Standard of value) होगी, दोनों नहीं, परन्तु क्योंकि यहाँ पर दूसरी धातु भी है इसलिए दोनों के मूल्यों में परिवर्तन अधिक नहीं होते। यह दोनों धातुओं के मूल्यों को अन्य वस्तुओं के मूल्यों की तुलना में गिरने या चढ़ने से

तो नहीं रोक सकता परन्तु वह मांग व पूर्ति में होने वाले परिवर्तनों को एक विस्तृत क्षेत्र में फैला देता है और एक धातु पर ही इन परिवर्तनों का प्रभाव नहीं पड़ता।"

उसने इस तर्क को एक उदाहरण से स्पष्ट करते हुए लिखा है, "मान लीजिए कि पानी की दो टंकियाँ हैं जिनमें पानी का घटना बढ़ना स्वतन्त्र रूप से होता रहता है। चूंकि इन दोनों को आपस में जोड़ने वाला कोई पाइप नहीं है इसलिए प्रत्येक में पानी का स्तर अपने ही परिवर्तनों से प्रभावित होगा दूसरे के परिवर्तनों से नहीं। अब मान लीजिये दोनों का एक पाइप द्वारा पारस्परिक सम्बन्ध कर दिया जाता है। ऐसी दशा में यदि पानी किसी भी टंकी से घटता-बढ़ता है तो दूसरी टंकी पर भी उसका प्रभाव पड़ने लगेगा और घटत या बढ़त दोनों टंकियों में बराबर फैल जायगी, जिससे पानी के स्तर में कोई भारी उतार-चढ़ाव नहीं आने पावेगा।"*

(२) विदेशी व्यापार की सुविधा व विनिमय दरों की स्थिरता (Convenience in Foreign Trade and Stability in the Rate of Exchange)—द्विधातुमान वाले देशों को अन्य देशों से व्यापार करने में अधिक सुविधा रहती है क्योंकि इनकी विनिमय दर स्वर्णमान व रजतमान वाले दोनों देशों से सरलता से निश्चित हो जाती है। इसके अतिरिक्त विनिमय दरों की स्थिरता को भी प्राप्त किया जा सकता है। स्वर्ण व रजत के स्वतन्त्र आयात-निर्यात होने के कारण सब देशों में

1. "If silver becomes more valueble... compared with gold, there arises at once a tendency to import gold into any country possessing the double standard so that it may be coined there and exchanged for a legally equivalent weight of silver coin to be exported again... If gold rose in value comparted with silver the action would be reversed, gold would be absorved and silver liberated. At any moment the standard of value is doubtless one metal or the other, and not both, yet the fact that there is an alternation tends to make each vary much less than it would otherwise do. It cannot prevent both metals from falling or rising in value compared with other commodities, but it can throw variations of supply and demand over a larg area instead of having each metal to be affected merely by its own accidents."

"Imagine two reservoirs of water each subject to independent variations of supply and demand. In the absence of any connecting pipe, the level of water in each will be subject to its own fluctuations only. But if we open a connection, the water in both will assume a certain mean level and effects of any excessive supply or demand will be distributed over the whole are of both reservoirs." Money and Mechanism of Exchange. W. S. Jevons. page. 120–40

इन दोनों धातुओं के मूल्यों में समानता रहती है। इससे दोनों धातुओं का विनिमय अनुपात सब देशों में एक रहने की प्रवृत्ति रखता है और विदेशी विनिमय दरों में होने वाले परिवर्तनों को कम से कम कर दिया जाता है। विनिमय दर की स्थिरता से भी विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है।

(३) द्रव्य की पूर्ति का अभाव न होना (No Paucity of Money)—द्विधातुमान वाले देशों में एक साथ दो धातु के सिक्के प्रचलित होते हैं जिसके कारण वहाँ द्रव्य की कमी नहीं रहने पाती। यदि स्वर्ण के कोष अल्प हों तो उस कमी को रजत के कोषों की अधिकता से दूर किया जा सकता है और रजत कोषों की कमी को स्वर्ण कोषों से। एक धातुमान में एक ही धातु की कुल पूर्ति मुद्रा की सम्पूर्ण आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकती।

(४) सूद की दर का कम होना (Low Rate of Interest Prevails)—द्विधातुमान के अपनाने से देश में सूद की दर कम हो जाती है। देश में मुद्रा की पूर्ति अधिक होने के कारण बैंक्स के पास जमा भी अधिक रहते हैं और वे साख का निर्माण अधिक करना चाहते हैं। अधिक साख का निर्माण करने के लिए यह आवश्यक है कि सूद की दर कम रक्खी जाय। इससे उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की अपेक्षा द्विधातुमान को इसलिए भी अच्छा माना गया था क्योंकि स्वर्ण के कोष समस्त संसार की मौद्रिक आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकते।

इन सब लाभों के कारण ही १९वीं शताब्दी के अन्त में इस मान को अपनाने के सम्बन्ध में संसार के बहुत से देशों ने प्रयत्न किये थे।

द्विधातुमान के दोष (Disadvantages of Bimetallism)—द्विधातुमान में बहुत से दोष निहित हैं, जो निम्नलिखित हैं:—

(१) ग्रेशम के नियम का लागू होना (Application of Gresham's Law)—द्विधातुमान यदि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनाया न जाकर केवल एक ही देश के द्वारा अपनाया जाय तो यह मान सफल नहीं हो पाता क्योंकि ग्रेशम का नियम लागू होने लगता है। इस नियम के अनुसार जो धातु बाजार में टकसाल की अपेक्षा महंगी होती है उसके सिक्के चलन में नहीं रहते और केवल सस्ती धातु के सिक्के चलन में रहते हैं।[2]

(२) व्यवहार में धातुमान नहीं रहता (In practice Bimetallism does not work):—द्विधातुमान केवल सिद्धान्त में ही रहता है तथा व्यवहार में इसकी प्रवृत्ति एक धातुमान की ओर ही है। ग्रेशम का नियम लागू होने पर केवल एक ही

2. "The forms of money which are relatively over-valued for monetary purposes will supplant the under valued forms." Steiner anb Shapiro : Money and Banking. p. 37.

प्रकार की धातु के सिक्के चलन मे रहते हैं और क्योंकि द्विधातुमान मे सदा ही टक-साली दर व बाजार दर में अन्तर रहता है इसलिये चलन मे केवल एक ही प्रकार के सिक्के रहते हैं। अतः इसको बारी-बारी का मान (Alternating Standard) भी कहते हैं क्योंकि दोनों धातुओं के सिक्के एक साथ चलन में न रहकर कभी सोने के सिक्के चलन मे रहते हैं कभी चाँदी के। गेयर (Gayer) ने इस मान की आलोचना इस सम्बन्ध मे इस प्रकार से की है, "It combines the worst features of both the Gold and Paper Standards while it is actually in operation, and tends in practice to become gold or silver mono-metallism."

(३) द्विधातुमान की आवश्यकता अब इस कारण नहीं रही है कि यह चलन की पर्याप्त पूर्ति प्रदान नहीं करता है। कागज का द्रव्य के समान प्रयोग होने के कारण द्रव्य की स्वल्पता नहीं हो पाती। सरकारें भी कठिनाई के समय अधिक नोट छाप कर अपनी आवश्यकता को पूरी कर लेती हैं। इस प्रकार इस सम्बन्ध में द्विधातुमान का महत्व समाप्त हो गया है।

(४) विदेशी विनिमय प्रणाली को अब इतनी अधिक पूर्णता प्रदान कर दी गयी है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सुविधा के लिए द्विधातुमान की आवश्यकता नहीं रही है।

(५) जहाँ तक मूल्यों की स्थिरता का सम्बन्ध है, स्वर्ण व रजतमान मे मूल्यों की स्थिरता अधिक होती है। जेवन्स के दो शराबियों के उदाहरण के उत्तर मे यह कहा जाता है कि हाथ बंधे हुए दो उन्मत्त व्यक्तियों के स्थान पर एक गम्भीर व्यक्ति अधिक दूर तक चल सकता है।

(६) द्विधातुमान में सोने व चाँदी की माँग व पूर्ति मे परिवर्तन होने के कारण सोने और चाँदी की टकसाली दर को बनाये रखना सम्भव नहीं हो पाता। इससे व्यापार में भुगतानों के निपटाने में बहुत कठिनाई होती है। भुगतान लेने वाले महँगी धातु के सिक्के लेना चाहेंगे और भुगतान करने वाले सस्ती धातु में भुगतान देना चाहेंगे। इस कारण काफी असुविधा रहेगी। इससे सट्टे के कार्यों को भी प्रोत्साहन मिलेगा और मौद्रिक व्यवस्था के कार्य-संचालन मे भी बहुत सी जटिलताएँ सामने आयेंगी। कालबोर्न (Coulborn) के अनुसार "It (working of bimetallism) is a record of commercial dislocation and national rivalry engendering for example, egocentric patriotism of the mercantile system."[3]

(७) क्षतिपूरक सिद्धान्त ठीक प्रकार से कार्य नहीं कर पाता। द्विधातुमान के समर्थकों का कहना है कि क्षतिपूरक कार्य-संचालन के कारण मूल्य स्तर में स्थिरता आ जाती है। परन्तु आलोचकों का कथन है कि अधिकांश स्थितियों में

3. A Discussion of Money. page 125.

यह सिद्धान्त कार्य नहीं कर पाता। यदि दोनों ही धातुओं के मूल्यों में परिवर्तन एक ही दिशा में हो तो मूल्यों में भी भारी उच्चावचन होने लगते हैं। दूसरे, यदि किसी एक धातु की पूर्ति बहुत अधिक बढ़ जाय तो क्षतिपूरक शक्तियाँ भी उसके मूल्य में होने वाले परिवर्तनों को नहीं रोक सकतीं। इस दशा में टकसाली व बाजारी दर में अन्तर बना रहता है। इसके अतिरिक्त क्षतिपूरक सिद्धान्त की सफलता के लिये द्विधातुमान वाले देश के पास के दोनों धातुओं के इतने अधिक कोष होने चाहियें कि सोने व चाँदी के काफी निर्यात पर भी यह कम न हों। धातुओं के इतने बड़े कोषों का होना व्यवहार में सम्भव नहीं है।

इस प्रकार द्विधातुमान के लाभ व दोषों पर विचार करने के बाद यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान संसार में इसका कोई महत्व नहीं है। यह मान केवल तभी सफल हो सकता है जबकि इसको अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित किया जाय क्योंकि तब ग्रेशम के नियम की कार्यशीलता रुक जाती है। इसके अतिरिक्त इस अवस्था में द्विधातुमान की क्रिया अधिक सफलता से कार्य कर सकती है और टकसाली अनुपात बाजारी अनुपात के बराबर बना रहता है। परन्तु अब कोई भी देश इसको अपनाने के लिये तैयार नहीं है और इस कारण इसकी स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सम्भव नहीं है।

वर्तमान संसार में द्विधातुमान तो क्या किसी भी धातुमान का कोई भविष्य नहीं है। अब हम धातुमान को छोड़ कर बहुत आगे बढ़ गये हैं और संसार के लगभग सभी देशों ने पत्र-मान को अपना रक्खा है। धातुमान का अब किसी भी रूप में अपनाया जाना सम्भव नहीं है और इस सम्बन्ध में जितने भी प्रयत्न किये गये सब असफल रहे। सन् १९४४ के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन (International Monetary Conference) में भी इस बात को स्वीकार कर लिया गया कि वर्तमान संसार धातुमान को ग्रहण करने में असमर्थ है। अतः द्विधातुमान सम्बन्धी वाद-विवाद बेकार है।

Q. 36. What do you understand by gold standard? What are the advantages and disadvantages of domestic gold standard? What were the causes of the break-down of the gold standard in the early thirties?

Q. 37. Bring out the limitations of a gold standard in the context of an expansionist economy. What led to its breakdown in the inter-war periods? ***(Agra 1964)***

एक धातुवाद (Mono-Metalism) में स्वर्णमान मौद्रिकमान (Monetary Standard) का एक मुख्य रूप है। इसकी मुख्य विशेषता यह है कि इसमें सोना मूल्य

का प्रमाप होता है। स्वर्णमान में प्रमाणित मुद्रा (Standard Coin) का मूल्य प्रत्यक्ष (Direct) या परोक्ष (Indirect) रूप से सोने की धातु या सिक्के के मूल्य से सम्बद्ध रखा जाता है। *Robertson* के अनुसार, "A gold standard country is one in which for all practical purposes, all kinds of money are ultimately convertible into full-bodied gold money and that full-bodied gold money is itself freely convertible into ordinary gold and freely exportable."[1] साधारण स्थिति में सोने के सिक्के ही चलन में रहते हैं और उनकी स्वतन्त्र ढलाई (Free Coinage) होती है तथा वे असीमित कानूनी ग्राह्य (Unlimited Legal Tender) होते हैं। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि सोने के सिक्के ही चलन में हों। यदि सोने के सिक्के चलन में न हों तथा कागज के नोट या सांकेतिक सिक्के (Token coins) चलन में हों और यह सोने की धातु या सोने के सिक्कों में परिवर्तनशील हो तो भी इस पद्धति को स्वर्णमान कहा जाता है। हेबरलर (Haberler) का कहना है कि स्वर्णमान का, "संकुचित अर्थ उस मौद्रिक प्रणाली से है जिसमें मान्य विशिष्टता के स्वर्ण सिक्के या स्वर्ण सर्टीफिकेट जिनके पीछे शत-प्रतिशत स्वर्ण रखा हो, चलन में हों। विस्तृत अर्थ में इसके अन्तर्गत वह दशायें भी आ जाती है जिनमें पत्र मुद्रा या रौप्य सिक्के कानूनन ग्राह्य हों परन्तु वह स्वर्णमान में एक निश्चित दर पर परिवर्तनीय हों। स्वर्ण के सिक्कों को गलाने की मनाही नहीं होनी चाहिये।"

रूपरेखा :—

(1) स्वर्णमान की व्याख्या व परिभाषा।

(2) घरेलू स्वर्णमान के लाभ—
   (a) विश्वास का होना;
   (b) मौद्रिक प्रणाली का स्वयं संचालन;
   (c) मूल्य-स्तर में स्थिरता।

(3) घरेलू स्वर्णमान के दोष :—
   (a) केवल अच्छे समय का मित्र;
   (b) स्वयं संचालित नहीं रहता;
   (c) मूल्य स्तरों में उतार चढ़ाव,
   (d) महंगा मान,
   (e) स्वतन्त्र मान नहीं है;
   (f) सूद की दरों में परिवर्तन;
   (g) द्रव्य का मूल्य प्राकृतिक शक्तियों पर निर्भर।

(4) स्वर्णमान के समाप्त होने के कारण :—
   (a) स्वर्णमान-संचालन नियमों का पालन न करना;
   (b) स्वर्णमान के उद्देश्यों को न मानना;
   (c) युद्ध क्षतिपूर्ति व अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व;
   (d) राजनैतिक अनिश्चितता;
   (e) लोचहीन आर्थिक ढांचा;
   (f) आर्थिक व्यवस्था।

1. Robertson, Money, page 67.

उपरोक्त बातों को ध्यान में रखकर स्वर्णमान की परिभाषा संक्षेप में इस प्रकार की जा सकती है, "स्वर्णमान उस मौद्रिक मान को कहते हैं जिसमें देश की प्रमाणिक मुद्रा सोने के सिक्कों के रूप में हो या सोने में परिवर्त्य हो या जिसमें प्रमाणिक मुद्रा का विनिमय मूल्य सोने के आधार पर निर्धारित किया गया हो।"

स्वर्णमान के लाभ (Advantages of Gold Standard)—स्वर्णमान संसार में बहुत समय तक रहा (लगभग सन् १८१६ से सन् १९३६ तक) तथा संसार के अधिकाँश देशों ने इसको अपनाया। इसका मुख्य कारण यह है कि स्वर्णमान के चलन के बहुत से लाभ थे। स्वर्णमान के लाभ के दो रूप हैं। कुछ लाभ तो उस समय प्राप्त होते हैं जब कि केवल एक ही देश में स्वर्णमान हो तथा दूसरे देशों में स्वर्णमान न हो। अन्य लाभ उस समय प्राप्त होते हैं जब कि संसार के दूसरे देशों में भी स्वर्णमान का प्रचलन हो। सबसे पहले हम यह देखेंगे कि केवल एक ही देश में स्वर्णमान के होने से क्या लाभ होते है।

घरेलू स्वर्णमान के लाभ (Advantages of Domestic Gold Standard)—जब स्वर्णमान केवल एक ही देश में प्रचलित हो तो उस देश को बहुत से लाभ प्राप्त होते हैं। उन लाभों का वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता है:—

(१) विश्वास (Confidence)—स्वर्णमान से जनता का मुद्रा प्रणाली में विश्वास उत्पन्न होता है क्योंकि सोने का आन्तरिक मूल्य बहुत अधिक होता है तथा ससार के सब व्यक्ति इसको बिना किसी संकोच के स्वीकार कर लेते हैं। यह बात कागजी द्रव्य के बारे में ठीक नहीं है। सोना यदि द्रव्य के रूप में प्रयुक्त होना बन्द भी हो जाय तो लोगों को कोई कठिनाई नहीं होगी क्योंकि यह फिर भी विनिमय शक्ति का संचय करके रखने के काम में आ सकता है परन्तु यदि कागजी द्रव्य अपना मौद्रिक रूप खो बैठे तो यह एकदम बेकार हो जायगा।

यदि सोने के सिक्के न चलें और उनके स्थान पर कागज के नोट चलते हों जो कि सोने में परिवर्तनशील हों तब भी जनता का विश्वास मुद्रा प्रणाली में बना रहता है क्योंकि जनता समझती है कि कागज के नोट केवल सोने का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं और जब भी वे चाहेंगे उनको सोने की धातु या सोने के सिक्के मिल जायेंगे।

(२) मौद्रिक प्रणाली का स्वयं संचालन (Automatic Operation of the Monetary System)—स्वर्णमान के इस लाभ पर वे अर्थशास्त्री अधिक महत्व देते हैं जो यह नहीं चाहते कि द्रव्य की मात्रा सरकारी अधिकारियों या केन्द्रीय बैंक के कर्मचारियों की नीति से निर्धारित हो। अतः वे कहते हैं कि द्रव्य की पूर्ति देश में वर्तमान स्वर्ण-कोष से निर्धारित होनी चाहिये और कुछ लोगों के हाथ में इसका नियंत्रण नहीं होना चाहिये।

स्वर्णमान मे यह सम्भव होता है क्योंकि देश मे द्रव्य की मात्रा स्वर्णकोष पर आधारित होती है। देश मे यदि स्वर्ण-कोष अधिक होते है तो द्रव्य की मात्रा में वृद्धि हो जाती है तथा स्वर्ण मात्रा मे कमी होने पर द्रव्य मे भी कमी हो जाती है। यह इस कारण होता है कि द्रव्य निर्गम अधिकारी (Money Issuing Authority) केवल उतना ही द्रव्य का प्रचलन कर सकता है जितना उसके पास सोना है। यदि उनके पास सोना कम है तो द्रव्य की मात्रा मनमानी मात्रा मे नही बढ़ा सकता। इसी प्रकार से बैंक भी असीमित मात्रा मे साख का सृजन नही कर सकते क्योंकि उनको साख के सृजन के लिये द्रव्य का कोष रखना होता है और द्रव्य सोने की मात्रा से नियन्त्रित होता है। अत, संक्षेप मे, मौद्रिक कार्यों के लिए उपलब्ध स्वर्ण-मात्रा ही द्रव्य की पूर्ति निर्धारित करती है तथा किसी बोर्ड या कमीशन को असाधारण शक्तियां देने की आवश्यकता नही पड़ती।

(२) मूल्य-स्तर मे स्थिरता (Stability of the Price-Level) —Kent के शब्दो मे, "Probably the most compelling argument which can be presented in favor of a specific monetary standard, from the domestic as apart from the international point of view, is that it makes possible a reasonable degree of stability in the price level over a long period of time."[2] स्वर्णमान के द्वारा देश मे मूल्यों मे स्थिरता आ जाती है। यह इसका सबसे बड़ा लाभ है क्योंकि अर्थ-व्यवस्था की अधिकतर समस्याए मूल्य-स्तर मे परिवर्तन से सम्बन्धित है। इस परिवर्तन से देश के उद्योगों की आर्थिक स्थिति बहुत प्रभावित होती है तथा समाज के विभिन्न वर्गों पर भी इसका प्रभाव होता है जिससे कुछ को बहुत हानि उठानी पड़ती है।

[illegible] इसका यह अर्थ नहीं है कि स्वर्णमान मे मूल्यों मे सदा ही स्थिरता रहती है। विभिन्न देशों के सूचक अक देखने से पता चलता है कि मूल्य स्तरों मे बहुत परिवर्तन हुये हैं। Federal Reserve Bank of New York के सूचक अंक (Index Number) के अनुसार सयुक्त अमेरिका (U. S A.) मे सामान्य मूल्य स्तर सन् १९१३ मे १०० था तथा सन् १९२० मे यह बढ़कर १९३ हो गया, सन् १९२२ में गिर कर १५८ हो गया, तथा सन् १९२९ मे यह बढ़कर १७६ हो गया तथा फिर सन् १९३३ मे गिर कर १२६ हो गया। अत यहाँ यह मतलब नही कि स्वर्णमान मे मूल्य पूर्णतया स्थिर रहते हैं बल्कि स्वर्णमान मे मूल्य दूसरे मानो (Standards) की अपेक्षा अधिक स्थिर रहते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि स्वर्णमान मे स्वर्ण की पूर्ति स्थिर रहती है क्योंकि स्वर्ण का उत्पादन बहुत कम है। इस मान मे स्वर्ण की पूर्ति पर द्रव्य की पूर्ति निर्भर करती है और स्वर्ण पूर्ति में तुलनात्मक स्थिरता रहने के कारण द्रव्य-पूर्ति भी स्थिर रहती है। मूल्य स्तर द्रव्य-पूर्ति पर निर्भर करता है तथा स्वर्णमान में द्रव्य-पूर्ति स्थिर रहने के कारण मूल्य स्तरों में भी स्थिरता आ जाती है।

2. R. P. Kent. Money and Banking. page, 22.

जो अर्थशास्त्री स्वर्णमान में मूल्य अधिक स्थिर मानते हैं वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि यदि स्वर्ण उत्पादन में जनसंख्या की वृद्धि व्यापार की वृद्धि के साथ-साथ कदम न रखे तो मूल्यस्तरों में स्थिरता आ जाती है। इस बारे में काफी अध्ययन किया गया है कि स्वर्ण उत्पादन में किस दर से वृद्धि हो जिससे कि बढ़ती हुई मौद्रिक आवश्यकतायें (Monetary requirements) सन्तुष्ट हो सकें। Prof. Gustav Cassel ने सन् १८५० से सन् १९१० तक के समय का अध्ययन किया और अनुमान लगाया कि मूल्य स्तरों में स्थिरता लाने के लिये उपरोक्त युग में प्रत्येक वर्ष ३% की वृद्धि स्वर्ण उत्पादन में होनी चाहिए। Joseph Kitchin ने Prof. Gustav Cassel के परिणाम को ठीक करने का प्रयत्न किया और अनुमान लगाया कि स्वर्ण स्टॉक में ३·१%प्रतिवर्ष वृद्धि उपरोक्त युग में होनी चाहिये। इन अर्थशास्त्रियों ने यह भी बताया कि जब स्वर्ण स्टाक में वृद्धि आवश्यक प्रतिशत (Desired percentage) से कम होती है तो मूल्य स्तर गिर जाते हैं और जब आवश्यक प्रतिशत से अधिक होती है तो मूल्य स्तर बढ़ जाते हैं।

अतः इस मान के समर्थक यह कहते हैं कि स्वर्णमान में मूल्यों में अधिक स्थिरता आ जाती है।

घरेलू स्वर्णमान के दोष (Disadvantages of Domestic Gold Standard)—स्वर्णमान के आलोचक उपरोक्त लाभों से प्रभावित नहीं हैं और स्वर्णमान की आलोचना करते समय इसको अवास्तविक, कल्पित व अव्यवहारिक बताते है। इसकी आलोचना निम्न प्रकार से की जाती है :—

(१) **केवल "अच्छे दिनों का मित्र"** ("Fair weather Standard")—स्वर्णमान के आलोचक इस बात का उत्तर देते हुए कि स्वर्णमान से लोगों में विश्वास उत्पन्न होता है कहते हैं कि यह मान केवल "अच्छे दिनों का मित्र" है। स्वर्णमान केवल सामान्य स्थिति (Prosperity) अच्छी मजदूरी, ऊँचे लाभ व पूर्ण रोजगार) में ही काम कर सकता है। "The smooth functioning of the gold standard mechanism required a degree of flexibility and stability in the economic structure of the world which may be obtainable only as a result of a highly fortuitous combination of circumstances."[3] जब स्थिति सामान्य नहीं रहती तो स्वर्णमान का कार्य ठीक प्रकार से नहीं हो पाता और इसको स्थगित कर देना होता है। असामान्य स्थिति में लोग अपने नोटों को सोने में बदलने लगते है और सरकार अपने स्वर्ण कोषों को बचाने के लिये स्वर्णमान को स्थगित कर देती है। अतः ऐसे समय में जब कि जनता में विश्वास उत्पन्न किया जाना चाहिए स्वर्णमान विश्वास कायम रखने में सफल नहीं रहता और जब जनता में विश्वास की कोई आवश्यकता नहीं होती उस समय विश्वास कायम रखता है।

3. R. Chatterji. Modern Economics.

युद्ध व आर्थिक संकट के समय स्वर्णमान का त्याग करके ही समस्या का हल निकलता है।

इन्ही विचारो को Hansen ने इस प्रकार व्यक्त किया है, "The successful functioning of the pre 1914 gold standard was greatly facilitated by the circumstance that it operated in a rapidly expanding economy and under the favourable condition of an upward trend in prices. Its precarious working and ultimate overthrow in the inter-war period may similarly be traced to the hostile environment it encountered during that period."

(२) स्वय सचालन व प्रबन्ध (Management vs Automatic operation)—स्वर्णमान के आलोचक कहते हैं कि स्वर्णमान स्वय सचालित मान नहीं रहा है बल्कि प्रबन्धित मान हो गया है। प्रथम महायुद्ध के बाद मौद्रिक सगठन में महान् परिवर्तन हो गया है और स्वर्णमान का स्वयं सचालन बहुत कठिन हो गया है। प्रथम महायुद्ध के बाद मौद्रिक संस्था स्वर्ण की मात्रा के परिवर्तन के प्रभावों को द्रव्य की मात्रा, मूल्य स्तर व सूद की दर पर नही पड़ने देना चाहती क्योंकि युद्ध के बाद कुछ देशों के पास बहुत अधिक सोना इकट्ठा हो गया है तथा कुछ के पास बहुत कम रह गया। यदि स्वर्णमान को स्वतन्त्र कार्य करने दिया जाय तो इन देशों की अर्थ-व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

इसके अतिरिक्त स्वर्णमान के आलोचक यह भी कहते हैं कि यदि स्वर्णमान को स्वतन्त्र छोड दिया जाय तो इससे लाभ के स्थान पर हानि अधिक होगी। स्वर्णमान के नियमों के अनुसार यदि स्वर्णमात्रा बढ जाती है तो बैंक जमा व द्रव्य की मात्रा में वृद्धि हो जानी चाहिए और स्वर्णमात्रा की कमी के साथ द्रव्य की मात्रा मे कमी हो जानी चाहिए। परन्तु द्रव्य की आवश्यकता व मौद्रिक कार्यों (Monetary purposes) के लिये स्वर्ण मात्रा में कोई सम्बन्ध नही है। स्वर्ण की पूर्ति स्वर्ण उत्पादन पर निर्भर करती है। नयी स्वर्ण खानों के मिलने से स्वर्ण का उत्पादन बढ़ जाता है तथा स्वर्ण मात्रा के बढ़ने से द्रव्य की मात्रा बढ़ जाती है जिसका प्रभाव मूल्यों पर पड़ता है और मूल्यों में भी वृद्धि हो जाती है। इसी प्रकार यदि खानो को गहरा खोदने के कारण स्वर्ण उत्पादन कम हो जाता है तो मूल्य भी कम हो जाते हैं। परन्तु स्वर्ण मात्रा व मूल्यों मे कमी और वृद्धि देश की अर्थ-व्यवस्था के अनुसार नही हो पाती। यदि देश मे अन्य उद्योगों का उत्पादन बढ रहा हो तो द्रव्य की अधिक आवश्यकता होती है। परन्तु यदि स्वर्ण उपलब्ध नही होगा तो द्रव्य की मात्रा नही बढ़ सकेगी और उत्पादन पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। अतः यह हो सकता है कि जब स्वर्ण मात्रा में वृद्धि हो तो देश को कम द्रव्य की आवश्यकता हो और जब देश को अधिक द्रव्य की आवश्यकता हो तो स्वर्ण मात्रा कम हो जाय। इस

अमेरिका की सहायता के कारण चल रहा था। सन् १९२९ का Wall Street Boom और उसके बाद की संसार व्यापी मंदी (Depression) ही पुनःस्थापित स्वर्णमान की समाप्ति का कारण हुई। योरप में फैलती हुई राजनैतिक तनातनी भी इसके टूटने का मुख्य कारण थी। Austria के Credit Austalt Bank के फेल होने के कारण और इसके बाद अनेक जर्मन बैंकों के फेल होने से वित्तीय भय (Financial Panic) उत्पन्न हो गया और स्वर्णमान के टूटने का कारण बन गया। इंगलैंड ने सितम्बर सन् १९३१ में स्वर्णमान को त्याग दिया और अमेरिका ने भी सन् १९३३ में स्वर्णमान को छोड़ दिया। फ्रांस, बेलजियम, हॉलैंड, स्विट्जरलैंड तथा इटली ही ऐसे देश रह गये जहाँ स्वर्णमान था। परन्तु इन देशों ने भी मुद्रा संकुचन का कटु दबाव (acute deflationary pressure) महसूस किया जिसके कारण इनको भी स्वर्णमान को छोड़ देना पड़ा।

यद्यपि स्वर्णमान के समाप्त होने का मुख्य कारण अमेरिकी सहायता की समाप्ति था, परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण कारण भी थे जिनके कारण स्वर्णमान कार्यशील न रह सका। वे कारण निम्नलिखित थे :—

(१) स्वर्णमान-संचालन के नियमों का पालन न करना—स्वर्णमान के संचालन के लिये यह आवश्यक है कि स्वर्णमान पर आधारित सभी देश स्वर्णमान संचालन नियमों का पालन करें। परन्तु युद्धोत्तर-काल में अधिकतर देशों ने विशेषकर शक्तिशाली देशों ने स्वर्णमान नियमों का पालन नहीं किया। स्वर्णमान का मुख्य नियम यह है कि जब किसी देश में सोने की मात्रा में वृद्धि हो जाय तो देश में मुद्रा-पूर्ति भी बढ़ जाय तथा साख का प्रसार हो। स्वर्ण मात्रा की कमी से मुद्रा-पूर्ति कम हो तथा साख का संकुचन हो। परन्तु युद्धकाल के बाद अधिकतर देशों ने इस नियम का पालन नहीं किया। विभिन्न केन्द्रीय बैंकों ने स्वर्ण आयात-निर्यात के परिणामों को क्रियाशील नहीं होने दिया। संसार में स्वर्णकोष का अधिकांश भाग फ्रांस तथा अमेरिका के कोषों में जमा हो गया था। परन्तु इन देशों के केन्द्रीय बैंकों ने उचित मात्रा में साख प्रसार नहीं करने दिया। दूसरी ओर इंगलैंड आदि देशों में स्वर्ण-मात्रा कम होने पर भी Bank of England की नीति के कारण मुद्रा-पूर्ति में कमी नहीं हुई। यद्यपि यह सब देश में आन्तरिक स्थायित्व के लिये किया गया था परन्तु यह स्वर्ण-मान के स्वयं संचालन (Automatic functioning) के विरुद्ध था।

(२) स्वर्ण-मान के उद्देश्यों को न मानना—सन् १९३० के बाद विभिन्न देशों के केन्द्रीय बैंकों ने स्वर्ण-मान के उद्देश्यों को मानना कम कर दिया। स्वर्ण-मान का मुख्य उद्देश्य है विनिमय दरों को स्थिर रखना (Stable Rate of Exchange)। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये प्रत्येक देश को अन्तर्राष्ट्रीय स्थिरता के लिये राष्ट्रीय हितों का बलिदान करना होता है। इस मान में आन्तरिक मूल्यों को स्थिर रखने की नीति का पालन नहीं किया जा सकता तथा देश में वस्तुओं की कीमतों में और बाह्य मूल्य-स्तरों में समता रहनी चाहिए। परन्तु उस समय की स्थिति के

अनुसार देश की आन्तरिक मूल्य स्थिरता का त्याग बाह्य मूल्य स्थिरता के लिए नहीं किया जा सकता था। प्रत्येक देश अपनी आन्तरिक आर्थिक स्थिरता के प्रति अधिक सचेत था। इसलिए देश के आन्तरिक मूल्यों को अन्तर्राष्ट्रीय प्रभावों से सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया जा रहा था। अतः आन्तरिक स्थिरता को अधिक महत्व देने के कारण विनिमय दर स्थिर न रह सकी और स्वर्ण-मान टूट गया।

(३) **युद्ध क्षतिपूर्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व** (War Reparations and International Obligations)—प्रथम महायुद्ध के बाद विजित देशों पर (विशेष कर जर्मनी पर) अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व व युद्ध क्षतिपूर्ति दायित्व हो गये। इसका भार स्वर्णमान पर पड़ा और वह इसको सहन न कर सका। जर्मनी को युद्ध के बाद बहुत सा धन क्षतिपूर्ति के रूप में फ्राँस व अमेरिका को देना था। जर्मनी यह युद्ध क्षतिपूर्ति वस्तुओं के रूप में देना चाहता था परन्तु फ्राँस और अमेरिका ने वस्तुओं में क्षतिपूर्ति को लेना स्वीकार न किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने उन देशों को क्षतिपूर्ति का भुगतान करने के लिये अधिक ऋण देना भी पसन्द न किया। उपरोक्त देश स्वर्ण के रूप में ही क्षतिपूर्ति मांगते थे। यही नहीं, लेनदार देशों ने वस्तुओं के आयात पर भारी कर लगा दिया। इसके फलस्वरूप जर्मनी अपनी वस्तुओं को बेचकर स्वर्ण प्राप्त नहीं कर सकता था परिणामस्वरूप संसार का सोना अमेरिका और फ्राँस में इकट्ठा हो गया। विशेष रूप से अमेरिका में, जहाँ संसार का लगभग ८०% सोना है। इसके अतिरिक्त संरक्षण करों के कारण इनका सोना बाहर नहीं जा सकता था। जो सोना दूसरे देशों में रह गया वह इतना नहीं था कि वह सफलतापूर्वक स्वर्णमान को स्थापित रख सकता।

(४) **राजनीतिक अनिश्चितता** के कारण बहुत से यूरोप के देशों ने अपनी पूँजी का कुछ भाग विदेशी बैंकों विशेषकर बैंक ऑफ इंगलैंड में जमा कर रक्खा था। लोगों को हर समय युद्ध, गृहयुद्ध तथा हड़तालों आदि का डर बना रहता था, इस कारण वह डर कर ऐसे देशों में अपना धन लगाते थे, जिनको वह आर्थिक दृष्टि से मजबूत समझते थे। इस पूँजी को किसी भी समय तनिक से भय के आभास-मात्र से निकाला जा सकता था। इसलिये इसको Hot Money कहते थे। इस Hot Money के आवागमन के कारण स्वर्णमान का रहना कठिन हो गया। जब युद्ध का भय हुआ तो फ्राँस के लोगों ने ब्रिटेन में अपनी पूँजी का भाग निकलवाना प्रारम्भ कर दिया। इसलिए इंगलैंड में सन् १९३१ में स्वर्णमान समाप्त हो गया क्योंकि इंगलैंड बड़ी मात्रा में अपने सोने के साधनों को देश से बाहर भेजने के लिये तैयार न था। अतः स्वर्णमान का कोष स्थगित कर दिया और स्वर्णमान समाप्त हो गया।

(५) **लोचहीन आर्थिक ढांचा** (Inelastic Economic Structure)—प्रथम महायुद्ध के बाद अधिकतर देशों का आर्थिक ढांचा लोचहीन हो गया जबकि स्वर्ण-मान के लिये लोचपूर्ण आर्थिक ढांचे की आवश्यकता है। लोचपूर्ण आर्थिक स्थिति में लागत

तथा स्वर्ण गति से मूल्यो में परिवर्तन होना चाहिये। परन्तु दो महायुद्धों के बीच मूल्य व लागत में से किसी में भी लोच नहीं रही। एकाधिकार व गुटबन्दी के कारण वस्तु के मूल्य निश्चित रूप से स्थिर हो चुके थे तथा ट्रेड यूनियन के शक्तिशाली हो जाने के कारण मजदूरी मे भी किसी प्रकार की कमी नहीं हो सकती थी। अत. स्वर्ण गति के अनुसार मूल्यों में परिवर्तन न हो सका।

(६) यह मान केवल उसी समय क्रियाशील हो सकता है जब देश में आर्थिक सुव्यवस्था व शान्ति हो। संकट के समय यह मान सदैव असफल हो जाता है। युद्धोत्तर काल मे आर्थिक स्थिति स्थिर न रह सकी और यह मान भी न चल सका।

इस प्रकार से प्रथम युद्ध काल के बाद स्थिति इस प्रकार की हो गई कि विभिन्न देशो के लिये स्वर्ण-मान पर रहना कठिन हो गया। अत. युद्धोत्तर काल में इसे बड़ा धक्का लगा धीरे-धीरे करके ससार के सब देशों ने स्वर्णमान को छोड दिया और इसका अन्त हो गया। अब इसका केवल सैद्धान्तिक महत्व ही रह गया है।

☆

Q. 38. What do you know about the international aspect of the gold standard? What are the advantages and disadvantages when the gold standard is adopted by many countries? What are the requisites of the internation. l gold standard?

स्वर्णमान का महत्व केवल इसमें ही नहीं है कि यह घरेलू मौद्रिक प्रणाली का आधार है बल्कि यह अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय का माध्यम व विनिमय-शक्ति के संचय का साधन भी है। जब ससार के बहुत से देश अपनी मुद्रा का मूल्य स्वर्ण की निश्चित मात्रा में तय कर देते है तो इसको हम अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान कहते हैं। Gregory के अनुसार, "The only intelligible meaning to be assigned, to the phrase, the international gold standard is the simultaneous presence, in a group of countries, of arrangements by which, in each of them, gold is convertable at a fixed rate into

रूपरेखा :—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान का अर्थ।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के लाभ :—

(a) अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय का माध्यम व विनिमय शक्ति के सचय का साधन;

(b) विदेशी विनिमय दरो मे स्थिरता;

(c) मूल्य दरों में समता।

the local currency and the local currency into gold, and by which gold movements from any one of these areas to any of the others are freely permitted by all of them.' कोई देश स्वर्णमान को न अपनाकर भी अपना कार्य ठीक प्रकार से चला सकता है जैसे कि आजकल अधिकांश देशों में कागज के नोट चलते हैं। परन्तु इस कागज के नोटों को दूसरा देश स्वीकार नहीं करता और इस प्रकार दो देशों की मौद्रिक प्रणालियों में प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहता। परन्तु सोना एक ऐसी वस्तु है जिसको प्रत्येक देश प्रसन्नता से स्वीकार कर लेता है। अतः यहाँ पर स्वर्णमान के अन्तर्राष्ट्रीय पहलू पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। अर्थात् हमको यह देखना है कि जब सोना संसार के बहुत से देशों द्वारा मौद्रिक मान के रूप में प्रयुक्त होता है तो इससे क्या हानि तथा लाभ होते हैं?

(३) अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के दोष :
(a) मूल्य स्तर में अस्थिरता;
(b) स्वर्ण आवाजाही का प्रतिकूल प्रभाव।
(४) अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की आवश्यकताएँ।
(a) स्वर्ण का अन्तर्राष्ट्रीयकरण;
(b) स्वर्ण कोषों का समान वितरण;
(c) विदेशी व्यापार की स्वतन्त्रता
(d) अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों का कम होना;
(e) आन्तरिक लोच;
(f) राजनैतिक स्थिरता;

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के लाभ (Advantages of International Gold Standard)—अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के होने से सब देशों को बहुत से लाभ प्राप्त होते हैं, ऐसा उन लोगों का मत है जो स्वर्णमान के समर्थक हैं। वे लाभ ये हैं:—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय का माध्यम व विनिमय-शक्ति के संचय का साधन (International Medium of Exchange and Standard of Value)—स्वर्णमान का स्पष्ट लाभ यह है कि संसार का प्रत्येक देश इसको विनिमय के माध्यम के रूप में स्वीकार कर लेता है। यह एक ऐसा द्रव्य है जो कि राष्ट्रीय सीमाओं को पार कर जाता है क्योंकि सोने को एक देश से दूसरे देश में भेजा जा सकता है। जिनके पास सोना है वह संसार के किसी भी देश से मनचाही वस्तु खरीद सकता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति इसको प्रसन्नता से स्वीकार कर लेता है परन्तु एक भारतीय भारत सरकार के नोट से अमेरिका या फ्रांस में कुछ वस्तु नहीं खरीद सकता।

स्वर्ण अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय शक्ति के संचय का साधन भी है। Kent के शब्दों में, "In serving as an international standard of value, gold makes possible the precise comparison of the worth of goods located in differenc countries. Thus, for example, the relative

desirability of buying and selling in dozens of foreign markets can readily be determind."[1]।

(२) विदेशी विनिमय दरों में स्थिरता (Stability in Foriegn Exchange Rates)—अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से स्वर्णमान का सबसे महत्वपूर्ण लाभ यह है कि यह विदेशी विनिमय दरों को स्थिरता प्रदान करता है। स्वर्ण देशों की मुद्रा का आधार सोना होता है परन्तु इसको अलग-अलग नाम से पुकारते हैं जैसे इंगलैंड में पाउण्ड, अमेरिका में डालर, चीन में येन। इनके नाम तो यद्यपि अलग-अलग हैं परन्तु सबका आधार सोना ही है। एक देश की मौद्रिक इकाई (Monetary Unit) का मूल्य सोने की एक निश्चित मात्रा के मूल्य के बराबर होता है और देश की सरकार या केन्द्रीय बैंक के ऊपर अपरिमित मात्रा में स्वर्ण के क्रय-विक्रय का उत्तरदायित्व रहता है, तो उस देश के द्रव्य का निश्चित मूल्य दूसरे देश के द्रव्य की तुलना में मालूम किया जा सकता है। उदाहरण के लिये, स्वर्णमान टूटने से पहले, इंगलैंड का पाउण्ड ११३·००१६ ग्रेन शुद्ध सोने के बराबर था और अमेरिका का डालर २३·२२ ग्रेन शुद्ध सोने के बराबर था। अतः यहाँ दो मुद्राओं की दर मालूम करना बहुत ही सरल था। एक पाउण्ड ४·८६६५ डालर के बराबर था क्योंकि एक पाउण्ड में डालर की तुलना में ४·८६६५ गुना अधिक सोना था तो इस प्रकार एक पाउण्ड का विनिमय मूल्य ४·८६६५ डालर था। इस मूल्य में घट-बढ़ अधिक काल तक उतने से अधिक नहीं हो सकती जितना लन्दन से न्यूयार्क अथवा न्यूयार्क से लन्दन को इतना सोना लाने ले जाने में व्यय करना पड़ेगा। यदि दर इससे ऊँची-नीची होने लगेगी तो लन्दन से पाउण्ड न्यूयार्क को आकर डालर में बदला जाने लगेगा या न्यूयार्क से डालर लन्दन जाकर पाउण्ड में बदला जाने लगेगा।

इसलिये स्वर्णमान के समर्थक यह कहते हैं कि इस मान में परिवर्तन बहुत कम होते हैं और यदि होते भी हैं तो स्वर्ण आयात तथा निर्यात बिन्दुओं (Gold Import & Export Points) के भीतर ही। दीर्घकाल में यह ठीक हो जाते हैं। Gregory के अनुसार, "From the standpoint of business and commerce, the great advantage of the international gold standard is precisely that, whilst it is in working order, it eliminates fluctuating rates of exchange."

(३) मूल्य स्तरों की समता (Parity of Price Levels)—अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के होने से सब देशों के मूल्य स्तरों में समता आ जाती है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सुविधा हो जाती है। जिस प्रकार से घरेलू स्वर्णमान में स्वयं संचालन की क्रिया से आन्तरिक मूल्य स्तर स्थिर रहता है उसी प्रकार स्वयं संचालन की क्रिया से अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य स्तर भी समान व स्थिर रहता है।

---

1. R. P. Kent. Money and Banking. page 38.

स्वर्णमान में स्वर्ण के आयात-निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं रहता। इसलिये स्वर्ण के आयात-निर्यात से मूल्य स्तर में भी वृद्धि व कमी होती है और इस कमी व वृद्धि के कारण विभिन्न देशों के मूल्य स्तरों में सन्तुलन स्थापित हो जाता है। इस प्रकार कोई देश बहुत अधिक समय तक निम्न मूल्य स्तर के कारण लाभ नहीं उठा सकता और दूसरा उच्च मूल्य स्तर के कारण हानि नहीं उठा सकता। जिस देश का मूल्य स्तर नीचा है उस देश के निर्यात अधिक होंगे जिससे सोना दूसरे देशों से उस देश में आना प्रारम्भ हो जायेगा। इस प्रकार उस देश की स्वर्ण मात्रा में वृद्धि हो जायेगी जिसका प्रभाव द्रव्य की पूर्ति पर पड़ेगा। द्रव्य की पूर्ति बढ़ जाने से मूल्य-स्तर में भी वृद्धि होगी। दूसरी ओर जिस देश में मूल्य स्तर ऊँचा था वहाँ से स्वर्ण का निर्यात होने लगेगा क्योंकि उसके आयात अधिक हैं। स्वर्ण निर्यात से स्वर्ण मात्रा कम हो जायगी और परिणामस्वरूप द्रव्य की पूर्ति भी कम हो जायेगी। इससे मूल्य स्तर भी गिर जायेगा। इस प्रकार स्वर्ण निर्यात व आयात से मूल्य स्तर में कमी व वृद्धि होगी तथा दोनों देशों के मूल्य स्तरों में समता स्थापित हो जायेगी। विभिन्न देशों के मूल्य स्तरों के सन्तुलन (Adjustment) को स्वर्ण आवाजाही का सिद्धान्त (Theory of Gold Movements') या 'Theory of the Price-specie-flow Mechanism' कहते हैं। यह तभी सफल होता है जबकि 'स्वर्णमान के सिद्धान्तों' का ठीक से से पालन किया जाता है।

विभिन्न देशों के मूल्य-स्तरों में समता होने से विभिन्न देशों के भुगतान सन्तुलन में भी समानता स्थापित हो जाती है। Gregory के अनुसार, "The International Gold Standard is a device for securing fixity of exchange rates and maintaining an integrated price income structure over the whole range of gold standard countries."

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के दोष (Disadvantages of International Gold Standard)—अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के कुछ दोष भी हैं जो कि निम्नलिखित हैं :—

(१) **स्थिर विनिमय दर व अस्थिर मूल्य स्तर** (Exchange Rate stability and Price Level Instability)—स्वर्णमान में विनिमय दर को स्थिर रखने के लिये आन्तरिक मूल्य स्तर की स्थिरता का त्याग करना पड़ता है क्योंकि यदि कोई देश सामान्य व्यापार की स्थिति रखना चाहता है तो उसको दूसरे देश के मूल्य स्तर से Adjustment करना पड़ता है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय लेनदेन व विनिमय दर में तो स्थिरता आ जाती है परन्तु इसमें स्वतन्त्र द्रव्य-सम्बन्धी नीति का त्याग करना पड़ता है। Kent के अनुसार, "As exchange rates are subject to only very minor fluctuations when they are determined according to gold parities, "play" in the price relationships existing between two or more nations must be met by direct adjustments of internal price

levels."[2] यदि एक देश में मूल्य स्तर गिर जाता है, और उसकी दूसरे देश से विनिमय दर में कोई परिवर्तन नही हो सकता तो दूसरे देश को अपना आन्तरिक मूल्य स्तर गिराना होता है। इस प्रकार कोई देश व्यापार मन्दी (Depression) या बेरोजगारी को दूर करने के लिये पूँजी विस्तार (Capital Expansion) की नीति को अपनाना चाहे तो सफल नही होता।

इस सम्बन्ध में सन् १९२५ से सन् १९३१ के काल में इंगलैंड की जो दशा दृढ विनिमय दर (Inflexible Exchange Rate) के कारण हुई उसका उदाहरण दिया जा सकता है। अधिकतर अर्थशास्त्री (जैसे T. E. Gregory) इस बात से सहमत हैं कि जब सन् १९२५ ई० में इंगलैंड ने स्वर्णमान को पुनः स्थापित किया तो पाउण्ड की विनिमय दर बहुत ऊँची रक्खी। इसकी विनिमय दर अमेरिका के साथ १ पाउण्ड=४·८६६५ डालर पर तय हुई। परन्तु यह दर ऊँची थी और इंगलैण्ड का सामान अमेरिका के लिये महगा पड़ता था। इसका परिणाम यह हुआ कि इंगलैण्ड के अमेरिका व दूसरे देशों को निर्यात घटने लगे और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता के कारण इंगलैंड को अपनी लागत मे बहुत कमी करना आवश्यक हो गया परन्तु आन्तरिक परिस्थितियों के कारण वह लागत को कम न कर सका। लागत की दृढता व पाउण्ड के उच्च बाह्य मूल्य के कारण इंगलैंड के बहुत से उद्योगों मे—कोयला, लोहा, कपड़ा—मन्दी आ गई। यदि विनिमय दर में दृढता नही होती और विनिमय दर को पौण्ड १=४·०० शिलिंग या पौण्ड १=४·२५ शिलिंग पर गिरने दिया जाता तो इंगलैंड सामने आन्तरिक मूल्य स्तर को गिराने की समस्या न आती।

(२) स्वर्ण आवाजाही का प्रतिकूल प्रभाव (Unfavourable Effects of Gold Movements)—एक देश मे दूसरे देश मे स्वर्ण को आवाजाही (Movements) से कुछ देशों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। स्वर्ण की आवाजाही के द्वारा प्रत्येक प्रकार की अव्यवस्था को भी प्रसारित (Transmit) कर दिया जाता है। Kent के अनुसार, "Gold serves, as it were, as a highly efficient conductor through which the economic shocks felt in particular countries are quickly passed on to the other countries. No gold standard country can effectively insulate itself from these shocks."[3] स्वर्ण आवाजाही केवल मूल्य स्तरो की विभिन्नता के कारण ही नही होती बल्कि सूद की दरो मे विभिन्नता, असमान विनियोजन सुविधाओं तथा देश की मुद्रा मे विश्वास की कमी के कारण भी स्वर्ण का निर्यात होता है। स्वर्ण आवाजाही का प्रभाव केवल उसी देश पर नही होता जिसने स्वर्ण का निर्यात किया है बल्कि उस देश पर भी होता है जिसमे स्वर्ण का आयात हुआ है।

---

2. Ibid page 41.
3. Ibid. page 42.

यह बात एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है। मान लो भारत व इंगलैंड दो देश हैं जो स्वर्णमान पर आधारित हैं। इंगलैंड में शान्ति व सुव्यवस्था है तथा भारत में बहुत अशान्ति है। इस अशान्ति के परिणामस्वरूप, जिन लोगों की भारत में सम्पत्ति है (विदेशी या स्वदेशी) वे अपनी सम्पत्ति को इंगलैंड में भेजना चाहेंगे। सम्पत्ति के भेजने के कारण बहुत अधिक सोना भारत से इंगलैंड जायगा और इंगलैंड की मौद्रिक स्थिरता (Monetary Stabi lity) भी खतरे में पड़ जायगी। अतः भारत की अशान्ति का परिणाम इंगलैंड को सहना होगा। इस प्रकार स्वर्ण के निर्यात व आयात से बहुत से प्रतिकूल प्रभाव पड़ जायेंगे जैसे कि इंगलैंड में द्रव्य की मात्रा आवश्यकता से अधिक हो जायगी और भारत में आवश्यकता से कम।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की आवश्यकतायें (Requisites of the International Gold Standard)—स्वर्णमान के अन्तर्राष्ट्रीय पहलू व इसके हानि लाभ पर अभी विचार किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि स्वर्णमान के सफल होने के लिये यह आवश्यक है कि यह संसार के अधिक से अधिक देशों द्वारा अपनाया जाय। परन्तु इसको अन्तर्राष्ट्रीय रूप से सफल होने के लिये कुछ आवश्यक बातों का पूरा होना बहुत आवश्यक है। ये आवश्यक बातें निम्नलिखित हैं:—

(१) **स्वर्णमान का बहुत से देशों द्वारा अपनाया जाना** (Adoption of the Gold Standard by Many Countries)—*अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के लिये यह आवश्यक है कि स्वर्णमान अधिक से अधिक देशों के द्वारा, विशेषकर शक्तिशाली देशों द्वारा, अपनाया जाय। जितने अधिक देश अपनी मुद्रा का सम्बन्ध स्वर्ण से स्थापित कर देंगे स्वर्णमान उतना ही अधिक अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय शक्ति के माप और विनिमय के माध्यम के रूप में सफल हो सकेगा। अतः प्रत्येक देश को 'स्वर्ण परिवार' (Gold Family) का सदस्य होना चाहिए और चाहे वह किसी भी स्वर्णमान के रूप को अपनाये परन्तु उसको अपनी मुद्रा को स्वर्ण की निश्चित मात्रा में व्यक्त करना चाहिये।*

(२) **यथेष्ट कोषों का समान वितरण** (Adequate Reserves Equitably Distributed)—*अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के लिये संसार में यथेष्ट स्वर्ण कोषों का होना भी बहुत आवश्यक है जिससे कि सब देशों की मौद्रिक आवश्यकतायें पूरी हो सकें। केवल यथेष्ट स्वर्ण कोषों का होना ही अनिवार्य नहीं है बल्कि इन स्वर्ण कोषों का सब देशों में समान वितरण भी होना चाहिये। यदि किसी देश के पास यथेष्ट सोना नहीं होगा तो वह स्वर्णमान पर स्थिर नहीं रह सकता और उसको स्वर्ण-मान छोड़ना होगा क्योंकि जब भी उसके पास से बहुत सा सोना दूसरे देशों को चला जायेगा तो उसके पास स्वर्ण मात्रा कम रह जायगी और वह अपनी आन्तरिक आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकेगा। इसलिए प्रत्येक देश के पास इतना सोना अवश्य हो कि स्वर्ण निर्यात के बाद भी उस देश में मुद्रा की अधिक कमी न हो।*

(३) विदेशी व्यापार की स्वतन्त्रता (Freedom of Foreign Trade)—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर भी किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं होना चाहिए और विदेशी व्यापार की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। जिस देश की सीमाओं में सोना उत्पन्न नहीं होता उसको इस बात की स्वतन्त्रता हो कि अपना सामान बेच कर उसके बदले में सोना प्राप्त कर सके। यदि किसी देश में आयात पर नियन्त्रण लगा रहता है तो उसके पास स्वर्ण की मात्रा बढ़ती रहेगी और आयात नियन्त्रित होने के कारण स्वर्ण निर्यात नहीं होगा या बहुत कम होगा। दूसरे देशों से स्वर्ण निर्यात होता रहेगा और उनके पास स्वर्ण की कमी हो जायगी क्योंकि उनके माल के निर्यात पर प्रतिबन्ध है।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय ऋण के अत्यधिक बोझ से बचाव (Avoidance of a Heavy Burden of International Indebtedness)—अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के सफल संचालन के लिए किसी देश पर अधिक अन्तर्राष्ट्रीय ऋण नहीं होना चाहिए। यदि किसी देश का विदेशी ऋण बहुत अधिक बढ़ जाता है तो निर्यात से प्राप्त अधिकतर आय मूल और ब्याज के भुगतान में ही निकल जाती है। उसके पास विदेशी मुद्रा नहीं बचती जिससे वह आवश्यक कच्चा माल या अन्य वस्तुएँ प्राप्त कर सके। इसके अतिरिक्त Kent के अनुसार "Furthermore, should any event, such as a world depression, cause a material decrease in the value of the country's exports, it might have to exhaust its gold reserves in maintaining its gold solvency, that is, in meeting the required payments of interest and principal upon its foreign obligations."[1]

(५) आन्तरिक लोच (Internal flexibility)—अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के लिए आन्तरिक लोच की भी बहुत आवश्यकता है। मूल्यों व सूद की दर में लचक महत्वपूर्ण है क्योंकि इनमें परिवर्तन होने से स्वर्ण कोषों में समायोजन होता है। जहाँ स्वर्ण कोषों की अधिकता होती है वहाँ मूल्य घटने से वह कम हो जाते हैं तथा जहाँ स्वर्ण कोष कम होते हैं वहाँ वह मूल्य घट जाने से बढ़ जाते हैं। इस प्रकार से स्वर्ण कोषों में समानता स्थापित हो जाती है।

(६) राजनैतिक स्थिरता (Political Stability)—अधिकतर राज्यों में राजनैतिक स्थिरता होनी चाहिए क्योंकि यदि किसी देश में आन्तरिक अशान्ति, अस्थिरता व सरकार के गिरने का डर होता है तो उस देश के लोग भविष्य के लिए चिन्ताग्रस्त हो जाते हैं और वे बैंकों की ओर भागने लगते हैं, सोने को जमा करने लगते हैं या दूसरे देशों को भेजने लगते हैं, इससे उस देश के स्वर्ण कोष बहुत कम हो जाते हैं और वह स्वर्णमान पर स्थिर नहीं रह सकता।

1. Ibid. page 45.

इस प्रकार से स्वर्णमान के अन्तर्राष्ट्रीय संचालन के लिये उपरोक्त सब बातों का होना आवश्यक है। Kent के शब्दों में 'World conditions must be such that every ill wind will not presage the coolapse of the gold standard in any country which zealously desires to retain membership in the gold block, for a frail and tottering standard is probably productive of more harm than good. Every country should be able to maintain the standard without too great sacrifice and to the extent that countries are permitted to fall by the wayside the usefulness of gold as international money is reduced.''

Q. 39. Explain the working of the Gold Exchange Standard. What are its advantages and disadvantages ?

स्वर्ण-विनिमय मान (Gold Exchange Standard)—स्वर्ण-विनिमय मान भी प्रथम महायुद्ध के बाद प्रकाश में आया हालांकि इससे पहले भी बहुत से देशों ने इसको अपना रक्खा था। पहला देश जिसने स्वर्ण-विनिमय मान को अपनाया हालैंड था। हालैंड ने इस मान को सन् १८७७ में अपनाया था। रूस सन् १८९४ ई० में इस मान पर आया। युद्ध के बाद भी इसको जारी करने की प्रवृत्ति मध्य योरप के कुछ देशों में पाई गई। जेनेवा में हुए सन् १९२२ के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन ने भी इसको अपनाने की सिफारिश की। स्वर्ण-विनिमय मान दो प्रकार का होता है। एक मे अपने देश में बिल्कुल भी स्वर्ण-कोष नहीं रक्खा जाता और जो अपने द्रव्यिक मान के लिये दूसरे देशों के स्वर्ण-कोष पर निर्भर करते हैं। दूसरा, अपने देश में भी कुछ स्वर्ण-कोष रक्खा जाता है और दूसरे देश के स्वर्ण-कोष पर भी निर्भर किया जाता है। इसके मुख्य लक्षण यह हैं—

(१) इसका पहला गुण तो स्वर्ण-मुद्रा मान व स्वर्ण-धातु मान के समान ही है अर्थात् देश के द्रव्य का मूल्य सोने की मात्रा से एक विशिष्ट दर पर निर्धारित किया जाता है।

(२) स्वर्ण-धातु मान के समान इस मान में सोने के सिक्के नहीं चलते और न देश के आन्तरिक कार्य के लिये सोना दिया जाता है। देश में द्रव्य के कार्य के लिये कागज के नोट तथा चांदी-तांबे आदि के सांकेतिक सिक्के चलते हैं।

(३) इस मान के अन्तर्गत मुद्रा प्रत्यक्ष रूप से स्वर्ण में परिवर्तनीय नहीं होती। दूसरी ओर यह किसी विदेशी मुद्रा में परिवर्तनशील होती है जो कि स्वर्ण-मान पर आधारित है। इस मुद्रा-मान में सरकार पर इस बात का उत्तरदायित्व रहता है कि वह विदेशों को भुगतान करने के लिये आन्तरिक मुद्रा के बदले में विदेशी मुद्रा

(जो सोने पर आधारित है) या सोना बिना किसी सीमा के देती रहे। आन्तरिक कार्य के लिये मुद्रा के बदले सोना नहीं मिल सकता। इस प्रकार केवल एक ही कार्य के लिए (केवल विदेशों का भुगतान करने के लिए ही) देश की प्रचलित मुद्रा को सोने मे बदला जा सकता है। उदाहरण के लिये भारतवर्ष मे सन् १६०० से सन् १६१४ तक स्वर्ण-विनिमय-मान था तथा इंगलैंड मे स्वर्ण-मान था। भारतीय रुपया इंगलैंड की मुद्रा मे परिवर्तनीय था तथा इंगलैंड की मुद्रा स्वर्ण पर आधारित थी। भारतीय सरकार विदेशी व्यापार के लिये इंगलैंड की करेंसी देती थी।

(४) इस मान मे स्वर्ण का आयात निर्यात नही होता।

(५) स्वर्ण की स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई (Free Coinage) नहीं होती।

(६) इस मान मे यह आवश्यक है कि दूसरे देश मे एक स्वर्ण-कोष रहे और पीछे चलने वाले देश मे स्थानीय मुद्रा का कोष रहे ताकि मुद्रा का विनिमय मूल्य घटे-बढे नही।

(७) दोनो देशों मे ड्राफ्ट (Draft) स्वतन्त्रता से बेचे जाते है ताकि वास्तविक विनिमय-दर मे स्थिर दर से अधिक परिवर्तन न हो।

स्वर्ण-विनिमय-मान की कार्य विधि (Working of the Gold-Exchange Standard)—स्वर्ण-विनिमय मान इस प्रकार से कार्य करता है। सरकार या केंद्रीय बैंक, अपने देश मे पूर्ण स्वर्ण-कोष रखने के स्थान पर, दूसरे देश के बैंक के पास (जो कि स्वर्ण-धातु या स्वर्ण-द्रव्य मान पर होता है) कुछ कोष रखती है तथा उस देश से ड्राफ्ट खरीदने तथा उस देश को ड्राफ्ट बेचने का समझौता कर लेती है। यदि कोई व्यक्ति सोना प्राप्त करना चाहता है तो वह अपने देश के केन्द्रीय बैंक मे रुपया जमा कर देता है और दूसरे देश के नाम (जिस देश मे उसका स्वर्ण-कोष रक्खा हुआ है) ड्राफ्ट प्राप्त कर लेता है। यदि वह सोना बेचना चाहता है, तो वह इसको अपने देश के केन्द्रीय बैंक के पास नही बेच सकता। बल्कि वह दूसरे देश के केन्द्रीय बैंक को बेचता है और वहां से उस देश की मुद्रा प्राप्त करके उसके बदले में अपने देश की मुद्रा प्राप्त करता है।

जब अपने देश का केन्द्रीय बैंक अपने विदेशी जमा पर ड्राफ्ट बेचता है तो वह सोने को भेजने की लागत भी जोड़ देता है। इसी प्रकार जब वह ड्राफ्ट खरीदता है तो उतना अंश निकाल देता है जितना कि सोने को आयात करने मे होता है। यदि वह इससे अधिक धन लेता है तो वह स्वर्ण-विनिमय मान के सिद्धान्तों का पालन नही करता। परन्तु व्यवहार मे इस प्रकार का अधिक धन ले लिया जाता है। इस के अतिरिक्त यह नियम बना कर कि केवल बड़ी मात्रा के ही (Amount) ड्राफ्ट खरीदे व बेचे जायेंगे, भी इसी मान के सिद्धान्तों का खंडन कर दिया जाता है क्योंकि इससे जिनके पास कम धन होता है वे सोना नहीं प्राप्त कर सकते।

स्वर्ण-विनिमय-मान के लाभ (Advantages of the Gold Exchange Standard)—(१) स्वर्ण-विनिमय-मान यदि ठीक प्रकार से कार्य करता रहे तो सोने की बहुत बचत होती है। सिक्कों की घिसाई (Abrasion) से जो हानि होती है, वह नहीं होने पाती, और बचे हुये सोने को अन्य उपयोग में लाया जा सकता है। सोने को पैक करने, भेजने आदि की लागत भी बच जाती है और स्वर्ण को सुरक्षित रखने के लिए सेफ (Vaults) आदि की भी आवश्यकता नहीं होती।

(२) इस मान पर आधारित देशों को लाभ के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा स्थायित्व की दृष्टि से भी यह मान लाभदायक है। प्रथम महायुद्ध के तुरन्त बाद लोगों में यह विश्वास हो गया कि वर्तमान सोने के स्टाक सारे संसार की मौद्रिक व्यवस्था के लिये यथेष्ट नहीं थे। यह मत इस कारण ठीक था क्योंकि महायुद्धकाल में मुद्रा-स्फीति (inflation) के कारण केन्द्रीय बैंक व व्यापारिक बैंकों की देनदारी बहुत बढ़ गयी थी और सोने की वर्तमान मात्रा से उनको पूरा करना असंभव था। स्वर्ण-विनिमय-मान के अपनाने से सोने की मांग को कम करने में बहुत सहायता मिली और स्वर्ण के उपयोग में भी बहुत मितव्ययता भी हुई।

(३) यह मुद्रा के बाहरी मूल्य को स्थिर रखती है जिससे विदेशी व्यापार में बहुत सहायता मिलती है।

स्वर्ण-विनिमय-मान के दोष (Defects of the Gold-Exchange Standard)—परन्तु उपरोक्त लाभों के होते हुए भी इस स्वर्णमान में निम्नलिखित दोष हैं—

(१) स्वर्णमान का एक आवश्यक गुण, 'स्वयं चालक व्यवस्था' (Automatic System) इसमें नहीं पाया जाता है। इसमें मुद्रा तथा विनिमय पर नियन्त्रण रखना बहुत आवश्यक होता है और इसलिये यह एक नियंत्रित मान (Managed Standard) बन जाता है।

(२) जो देश राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को अधिक महत्व देते हैं वे इस मान की आलोचना करते हैं क्योंकि इस मान के अन्तर्गत विदेश में स्वर्ण कोष रक्खा जाता है तथा अपने देश में विदेशी मुद्रा का कोष रखना होता है। किसी विदेशी मुद्रा में रिजर्व रखना राष्ट्रीय गौरव को धक्का पहुँचाता है।

(३) इस मान में सबसे बड़ा दोष यह है कि देश की मुद्रा-नीति (Monetary Policy) स्वतन्त्र नहीं रहती। एक देश की मुद्रा नीति दूसरे देश की मुद्रा नीति पर आश्रित हो जाती है। अतः यह एक परतंत्र मान (Dependent Standard) है। इसकी सत्ता उस देश के स्वर्णमान के सफलतापूर्वक चलने पर निर्भर है, जिसकी करेंसी के साथ स्वर्ण विनिमय मान की करेंसी बंधी हुई है।

(४) इस मान में लोच की कमी (Lack of elasticity) होती है। ड्राफ्ट को पूरा करने के लिये जब एक बार नोट निर्गमित (Issued) कर दिये जाते हैं तो मुद्रा

का विस्तार हो जाता है। परन्तु एक बार निर्गमन हो जाने पर इनका चलन जारी रहता है और कोई ऐसा उपाय नहीं है जिससे मुद्रा का संकुचन हो सके।

(५) इस मान को अपनाने से बहुत-सा बेकार का खर्चा करना पड़ता है क्योंकि व्यर्थ मे दो कोष (Reserve) रखने पड़ते है। भारत मे तो ऐसे तीन कोष थे, जिनके प्रतिरूप इंगलैंड मे होते थे। यह कोष इस प्रकार थे :—

(a) स्वर्णमान कोष (Gold Standard Reserve)।

(b) पत्र चलन कोष (Paper Currency Reserve)।

(c) भारत सरकार के शेष (Government of India's Balances)।

(६) यह प्रणाली सरल नहीं है तथा साधारण जनता इसको सरलता से नहीं समझ सकती है। अशिक्षित जनता की समझ मे तो आना असम्भव है और ऐसी प्रणाली जिसे देश की अधिकांश जनता नहीं समझ सकती जनता की विश्वासपात्र नहीं हो सकती। इसीलिये हिल्टन यंग कमीशन (Hilton Young Commission) ने इसे भारत के लिये उचित नहीं समझा।

(७) इसमें अनुचित मुद्रा स्थिति की सम्भावना भी रहती है, क्योंकि इस पद्धति का प्रबन्ध तथा संचालन सरकार के हाथ मे रहता है और वह मन चाहे जैसी फेर-बदल कर सकती है।

(८) स्तूपीकरण व अस्तूपीकरण (Pyramiding and Depyramiding)—उपरोक्त दोषों के अतिरिक्त इस मान का मुख्य दोष यह है कि यह दो या अधिक देशों की मौद्रिक व्यवस्था में खतरनाक स्तूपीकरण (Dangerous Pyramiding) को सम्भव बनाता है जिसका आधार एक स्वर्णकोष (Single Gold Reserve) होता है। यह स्तूप वास्तव में उल्टा होता है। सबसे नीचे स्वर्ण-कोष होता है और विभिन्न देशों के साख द्रव्य व कागजी द्रव्य के फैलाव के साथ ऊपर को बढ़ता जाता है। इस प्रकार से यह कथन, कि अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से, स्वर्णमान मे मितव्ययता हो जाती है, गलत है क्योंकि Kent के शब्दों मे, "A limited quantity of gold continues to be available to the countries having gold-coin and bullion standard and to the countries having the exchange standard, whether it is concentrated in the former or parcelled out among both classes."[2]

उदाहरण के लिये इंगलैंड मे स्वर्ण-मुद्रा मान (Gold Currency Standard) है और पौंड ६००० करोड़ का सोने का कोष है। इस स्वर्ण कोष के आधार पर इंगलैंड में बैंक नोट, सरकारी कागजी नोट, सांकेतिक सिक्को तथा बैंक मांग जमा (Bank Demand Deposits) की मात्रा देश के मौद्रिक कानून (Monetary Laws)

1. R. P. Kent. Money and Banking. page 35-36.
2. R. P. Kent. Money and Banking. page 35.

से निर्धारित होगी । अब मान लीजिये कि भारत में स्वर्ण विनिमय मान है तथा भारत इंगलैंड को १००० करोड़ पौंड का सामान बेचता है और इस धन को जो वस्तु बेचने से प्राप्त होता है इंगलैंड के बैंक में ही जमा कर देता है या अल्पकालीन प्रतिभूतियों (Short-term securities) में लगा देता है । इंगलैंड को स्वर्ण का बिल्कुल भी निर्यात नहीं करना पड़ा है और इसीलिये इसको साख द्रव्य (credit money) को कम करने की कोई आवश्यकता नहीं है । दूसरी ओर, भारत यह समझता है कि उसके पास पौंड १००० करोड़ का स्वर्ण-कोष है और इसके आधार पर बैंक नोट, बैंक माँग जमा व अन्य साख द्रव्य का ढाँचा (Super structure) खड़ा कर देता है । इस प्रकार दोनों देश इस कल्पना में विश्वास करने लगते हैं कि कोष ७००० करोड़ पौंड के हैं जबकि इसमें से १००० करोड़ पौंड की राशि बिल्कुल काल्पनिक है ।

स्तूपीकरण (Pyramiding) की बुराई उस समय मालूम पड़ती है जबकि अस्तूपीकरण (Depyramiding) की क्रिया प्रारम्भ होती हैं । यद्यपि भारत साधारणतया अपने स्वर्ण-कोष के लिये इंगलैंड में अपने जमा तथा अल्पकालीन विनियोजन (Short-term investments) पर निर्भर करने को तैयार है, परन्तु इसको अधिकार है कि जब भी यह चाहे इनको स्वर्ण में बदल ले तथा अपने देश में ले आये । भारतवर्ष के राजनीतिज्ञ (Statesmen) यह समझ सकते है कि इंगलैंड में उनके जमा सुरक्षित नहीं हैं और इंगलैंड की दशाओं का सूक्ष्मता से अध्ययन करते रहते हैं जिससे कि जैसे ही वहाँ दशा खराब हो वहाँ से अपने जमा हटा लें । मान लीजिये, इंगलैंड में आर्थिक संकट (Economic crisis) आ जाता है और भारत इंगलैंड में अपने जमा को सोने में बदल लेता है और हटा कर दूसरे देश में जमा करा देता है । इसके परिणामस्वरूप इंगलैंड में अब केवल ५००० करोड़ पौंड के ही स्वर्ण-कोप रह जाते हैं जबकि यह ६००० करोड़ पौंड के कोष मानता चला आ रहा था । अब यदि वह स्वर्णमान के नियमों (Rules of the Gold Standard) का पालन करता है तो उसको स्वर्ण के निर्यात के कारण साख द्रव्य की मात्रा में बहुत कमी करनी होगी जिसका बहुत बुरा परिणाम हो सकता है । दूसरी स्थिति यह हो सकती है कि इंगलैंड स्वर्णमान का त्याग कर दे (Suspend the gold standard) और भारत को स्वर्ण इंगलैंड से बाहर न ले जाने दे परन्तु इसके भी बहुत बुरे परिणाम हो सकते हैं तथा दोनों देशों के सम्बन्ध बिगड़ सकते हैं । इस प्रकार अस्तूपीकरण (Depyramiding) के कारण जो समस्या उत्पन्न होती है उसका कोई हल होना कठिन है ।

इन सब कारणों को ध्यान में रखकर ही हिल्टन यंग (Hilton Young Commission) ने इसकी कटु आलोचना की थी और भारत के लिये इसको अपनाने की राय नहीं दी थी । स्वर्णमान के समाप्त होने के बाद यह भी समाप्त हो गया है ।

Q. 40 Write short notes on :—
(a) Gold Currency Standard.
(b) Gold Bullion Standard.
(c) Gold Parity Standard.
(d) Rules of the Gold Standard Game.

(a) स्वर्ण-मुद्रा मान (Gold Currency Standard)—यह स्वर्णमान का सबसे प्राचीन व प्रारम्भिक रूप है। इंगलैंड में यह मान सन् १६१४ तक रहा तथा अमेरिका में सन् १६३३ तक रहा। इसको 'पूर्ण स्वर्णमान' (Full Gold Standard) भी कहा जाता है। इस मान की मुख्य विशेषतायें (Chief characteristics) यह है :—

(१) स्वर्ण-मुद्रा का आधार (Gold, the basis of Monetary Unit)—देश की प्रामाणिक मुद्रा (Standard Coin) का मूल्य स्वर्ण की निश्चित मात्रा से सम्बद्ध होता है। देश की सरकार द्रव्य की इकाई के सोने के अंश को नियत कर देती है। जैसे सन् १६१४ तक इगलैंड में स्वर्ण मुद्रा मान था और ब्रिटेन के सावरन में १२३·२७४४७ ग्रेन स्टैण्डर्ड सोना होता था और इस प्रकार एक ट्राय औंस के स्टैण्डर्ड सोने में ३ पाउण्ड १७ शिलिंग १०½ पैंस बनते थे। इस प्रकार इस मान में द्रव्य का आधार सोना होता है।

(२) सोने की स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई (Free Coinage of Gold)—स्वर्ण मुद्रा मान में सोने की स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई होती है अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार होता है कि वह सोना सरकार के पास ले जाय और इसके बदले में सोने के सिक्के प्राप्त कर ले। इसके लिए यह आवश्यक होता है कि स्वर्ण मुद्रा मान में प्रामाणिक मुद्रा का वास्तविक मूल्य (Real Value or Intrinsic Value) अंकित मूल्य (Face Value or Market Value) के बराबर हो।

(३) सोने का स्वतन्त्र बाजार (Free Gold Market)—स्वर्ण मुद्रा मान में सोने का बाजार पूर्णतया स्वतन्त्र होता है अर्थात् लोगों को स्वतन्त्रता होती है कि कानूनी तौर से सोना प्राप्त कर सकें तथा उसका मनमाना उपयोग कर सकें। वे चाहे तो इसका निर्यात करें, चाहे इसके जेवर बनवायें तथा चाहे उसके सिक्के बनवायें। किसी भी कार्य पर नियन्त्रण नहीं होता। सिक्कों के गलाने पर भी किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं रहता। सोने का स्वतन्त्र आयात-निर्यात होने की आज्ञा रहती है। इससे विनिमय दरों व मूल्य स्तरों में स्थिरता बनी रहती है। यदि सोने का स्वतन्त्र बाजार न हो अर्थात् इसके आयात-निर्यात या क्रय-विक्रय पर नियन्त्रण हो तो देश में स्वर्ण मुद्रा मान नहीं रहता।

(४) प्रमाणिक सिक्के (Standard Coins)—स्वर्ण मुद्रा मान में प्रामाणिक सिक्का सोने का होता है जिसका कि वास्तविक व अंकित मूल्य बराबर होता है। यह प्रमाणिक सिक्के असीमित कानूनी ग्राह्य होते हैं। यदि स्वर्ण सिक्के नहीं चलते

तो नोट व सांकेतिक सिक्के पूर्ण रूप से स्वर्ण धातु या स्वर्ण सिक्कों में परिवर्त्य होते है ।

(b) **स्वर्ण धातु मान** (Gold Bullion Standard)—स्वर्ण धातु मान स्वर्ण मुद्रा मान का संशोधित रूप है । इसकी खोज सबसे पहले रिकार्डो (Ricardo) ने की थी । इस व्यवस्था में स्वर्ण मुद्राओं का प्रचलन नहीं होताग्रोर न उनकी स्वतंत्र ढलाई की ही कोई व्यवस्था होती है । चलन में केवल पत्रमुद्रा का ही उपयोग होता है । सांकेतिक मुद्रा चाँदी अथवा किसी अन्य धातु (जैसे ताँवा आदि) की होती है । द्रव्य इकाई, स्वर्ण-मुद्रा मान के समान, सोने के एक निश्चित वजन की होती है, पर इसके सिक्के नहीं ढलते और न ही नोटों को ऐसे सिक्कों में वदले जाने का प्रवन्ध होता है । सरकार सोने के प्रामाणिक पाँसे या छड़ (Gold Bars) रखती है और आवश्यकता पड़ने पर नोटों को इन पाँसों से बदला जा सकता है । अत: यद्यपि इस मान में सोने के सिक्के नहीं चलते परन्तु पत्र-मुद्रा का सम्बन्ध पूर्णतया सोने के साथ रहता है, इसीलिए पत्र-मुद्रा के वदले में विना रुकावट सोना देने का आयोजन रहता है । सोना ही वस्तुओं के मूल्यों का प्रमाप होता है । सोने के आयात-निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता, यह अवाध होता है ।

इस प्रकार के मौद्रिक मान का चलन सन् १९१४–१८ के युद्ध के वाद कुछ देशों में हुआ था । इंगलैंड में सन् १९२५ से १९३१ तक रहा । बैंक आफ इंगलैंड ४०० औंस सोने की छड़ें ३ पौंड १७ शिलिंग ९ पैसे फी औंस की दर से खरीदता था तथा ३ पौंड १७ शिलिंग १०½ पैस फी औंस की दर से बेचता था । क्रय-विक्रय की न्यूनतम सीमा ४०० औंस थी तथा कोई भी उच्चतम सीमा निर्धारित नहीं की गई थी । भारत में सन् १९२५ में हिलटन यंग कमीशन (Hilton Young Commission) के सुझावों पर स्वर्ण धातु मान अपनाया गया । सरकार २१ रुपये ३ आने १० पाई की दर पर १०६५ तोला या इससे अधिक सोना खरीद तथा वेच सकती थी ।

स्वर्ण धातु मान के विशेष लाभ (Special Advantages of the Gold Bullion Standard)—स्वर्ण धातु मान के समर्थक यह कहते हैं कि इस मान में स्वर्णमान के सब गुण तो होते ही हैं परन्तु इसके अतिरिक्त और भी विशेष गुण प्राप्त होते हैं जो कि स्वर्णमान में प्राप्त नहीं होते । इसके अतिरिक्त स्वर्ण-करन्सी-मान के अनेक दोष दूर हो जाते हैं । भारत में हिल्टन यंग कमीशन (Hilton Young Commission) ने भी इसी कारण इस मान को भारत के लिये स्वीकृत किया था । इसके लाभ यह हैं :—

(१) यह मान वहुत ही मितव्ययी है क्योंकि इसमें सोने के सिक्के नहीं चलते । सोने के सिक्कों को ढालने का व्यय वच जाता है तथा दिन प्रति दिन के कार्य के लिये जनता सस्ती मुद्रा का प्रयोग करती है । इसलिए इस पद्धति को 'स्वर्ण मान विना स्वर्ण-मुद्राओं के' (Gold standard without gold coins) कहते हैं ।

(२) सोने का अपव्यय बच जाता है क्योंकि सोने के सिक्के न चलने के कारण सोने का घिसाव नहीं होता।

(३) इससे राज्य का सम्मान बना रहता है क्योंकि सोने का स्वतन्त्र आयात अथवा निर्यात हो सकता है।

(४) सोने के कोष छोटी-छोटी मात्राओं में देश के विभिन्न व्यक्तियों के पास बिखरे नहीं पड़े रहते बल्कि देश में एक संस्था के पास सामाजिक लाभ (Social good) के लिये ठीक से रखे रहते हैं।

(५) इसमें मुद्रा के रूप में स्वयं ही सोने की धातु चली नहीं रहती बल्कि सोना अन्य औद्योगिक व अमौद्रिक कार्यों के लिये भी प्रयुक्त किया जा सकता है क्योंकि केवल उतना ही सोना कोष में रखना पर्याप्त होता है जितने से सरकार न्यूनतम परिमाण में सोना लेने वालों की मांग पूरी कर सके।

(६) स्वर्णचलन मान की तरह यह पद्धति भी स्वयं चालक (Automatic) होती है। इसमें सोने का क्रय विक्रय करके द्रव्य की पूर्ति में वृद्धि व कमी की जा सकती है। जब केन्द्रीय बैंक सोना बेचता है तो लोगों के पास द्रव्य की मात्रा कम हो जाती है तथा देश में मुद्रा संकुचन हो जाता है। दूसरी ओर जब केन्द्रीय बैंक सोना क्रय करता है तो लोगों के पास द्रव्य की मात्रा बढ़ जाती है और मुद्रा प्रसार हो जाता है। इस प्रकार इसमें लोच बनी रहती है।

(७) स्वर्ण-चलन-मान के अन्य सभी गुण भी इसको प्राप्त हो जाते हैं जैसे-आंतरिक मूल्यों में स्थिरता, विनिमय दर में स्थिरता तथा लेन-देन का बैलेंस ठीक होना।

स्वर्ण-धातु मान के दोष (Disadvantages of the Gold Bullion Standard)—स्वर्ण धातु-मान के उपरोक्त लाभ होते हुए भी इस मान के बहुत से महत्वपूर्ण दोष हैं। सबसे पहला दोष यह है कि इसमें केवल कहने के लिये तो नोटों के बदले सोना मिल सकता है परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं होता क्योंकि साधारण मनुष्य कभी भी इतने नोट इकट्ठे नहीं कर सकता कि ४०० औंस या १०६५ तोले सोना खरीद सके। इसलिये स्वर्ण-धातु-मान में मुद्रा के विस्तार और संकुचन को स्वचालित (Automatic) नहीं रखा जा सकता।

दूसरे, इसमें सोने का क्रय-विक्रय व स्वर्ण-धातु-मान को चलाना दोनों ही कार्य एक ही संस्था (देश की सरकार या केन्द्रीय बैंक) के पास होता है। अतः इस पद्धति में सरकार या केन्द्रीय बैंक हस्तक्षेप करती रहती है और कभी-कभी यह हस्तक्षेप बहुत अधिक सीमा तक बढ़ जाता है।

तीसरे, यह कहना भी ठीक नहीं कि यह मान बहुत मितव्ययी है, क्योंकि इसमें स्वर्ण कोष बनाये रखने पर खर्च करना होता है तथा साथ ही साथ कागजी नोट या अन्य सिक्के बनाने में खर्च होता है।

का तुलनात्मक अध्ययन करना होगा क्योंकि हम यह निश्चित करना चाहते हैं कि कौन सा मान अच्छा है ।

रूपरेखा:—

(1) स्वर्णमान की व्याख्या तथा परिभाषा ।
(2) स्वर्णमान के लाभ ।
(3) स्वर्णमान के दोष ।
(4) प्रबन्धित मुद्रामान ।
(5) यह मान स्वर्णमान से किस प्रकार अच्छा है ?

स्वर्ण का इतिहास पुराना होने के कारण पहले स्वर्णमान को ही ले लेते हैं । प्रो० रोबर्टसन के अनुसार, "स्वर्णमान वह अवस्था है जिसमें कोई देश अपनी मुद्रा की इकाई का मूल्य और सोने की एक निश्चित मात्रा का मूल्य एक दूसरे के बराबर रखता है ।"[1] कोलबोर्न (Coulborn) के शब्दों में, "स्वर्णमान एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत किसी चलन की मुद्रा की प्रमुख इकाई निश्चित प्रमाण के सोने की निश्चित मात्रा में बदली जा सकती है ।"[2] केमरर ने भी स्वर्णमान को इस प्रकार से परिभाषित किया है, "स्वर्णमान वह मौद्रिक अवस्था है जिसमें मूल्य की वह इकाई जिसमें मूल्यों, मजदूरियों तथा उधारों को व्यक्त किया जाता है तथा चुकाया जाता है, स्वतन्त्र स्वर्ण बाजार में सोने की एक निश्चित मात्रा के बराबर होती है ।"[3] प्रो० बेन्हम (Benham) के अनुसार, "A country is on the gold standard when it maintains the value—purchasing power—of its monetary unit to the value—purchasing power—of a defined weight of gold."

इस प्रकार से स्पष्ट हो जाता है कि स्वर्णमान वह मान है जिसमें या तो सोने के सिक्के (Gold Coins) चलन में होते हैं और यदि स्वर्ण के सिक्के चलन में नहीं होते तो प्रचलित सिक्के (जो कि कागज या अन्य धातु के होते हैं) प्रत्यक्ष वा परोक्ष रूप से स्वर्ण धातु में परिवर्तनशील होते हैं । स्वर्णमान की कुछ विशेषतायें हैं जो इस प्रकार हैं :—

---

1. "Gold standard is a state of affairs in which a country keeps the value of its monetary unit and value of a defined weight of gold at an equality with one another." Robertson. Money. Page 67.

2. "The gold standard is an arrangement whereby the chief piece of money of a country is exchangable with a fixed quantity of gold of a specific quality." Coulborn., W. A. L., An Introduction to Money, page 117.

3. "Gold standard is a money system where the unit of value, in which prices and wages and debts are customarily expressed and paid, consists of the value of a fixed quantity of gold in a free gold market." Kamerrer. Gold and the Gold Standard, page 135-36.

(१) देश को अपनी मुद्रा इकाई के मूल्य को स्वर्ण में परिभाषित करना होता है।

(२) देश की सरकार को स्वर्ण की अनिश्चित मात्रा में खरीदना तथा बेचना होता है।

(३) यदि स्वर्ण के सिक्के नहीं चलते तो अन्य मुद्रा स्वर्ण धातु में परिवर्तनशील होती है।

(४) स्वर्ण का आयात तथा निर्यात स्वतन्त्र होता है।

(५) स्वर्ण के सिक्कों का स्वतन्त्र टंकण (Free Coinage) होता है। केवल वहाँ जहाँ शुद्ध स्वर्णमान (Pure Gold Standard) होता है।

स्वर्णमान के लाभ (Anvantages of the Gold Standard)—स्वर्णमान को संसार के बड़े-बड़े देशों का सरक्षण प्राप्त रहा है और ससार के अधिकतर देशों ने इसको किसी न किसी रूप में अपनाया है। इसका मुख्य कारण इस मान के बहुत से लाभ हैं जो इस प्रकार हैं :—

(१) स्वर्णमान में मुद्रा अधिकारी पर नियन्त्रण रहता है और वह केवल उतनी ही मुद्रा का चलन कर सकता है जितना उसके पास स्वर्ण है। वह अपनी इच्छानुसार मुद्रा का प्रसार नहीं कर सकता जिससे मुद्रा स्फीति का डर नहीं रहता। इससे देश के आन्तरिक मूल्य मे स्थिरता बनी रहती है जो बहुत आवश्यक है।

(२) स्वर्ण का उत्पादन लगभग स्थिर रहता है। इसके उत्पादन में बहुत अधिक वृद्धि या कमी नहीं आने पाती जिससे स्वर्ण मूल्यों में भी अधिक कमी या वृद्धि नहीं होने पाती। जब मुद्रा स्वर्ण पर निर्भर होती है तथा स्वर्ण के उत्पादन मे अधिक परिवर्तन नहीं होते तो मुद्रा की पूर्ति भी लगभग स्थिर रहती है।

(३) यह एक ऐसा मान है जो स्वतन्त्र है। जैसा कि कोल (Cole) ने कहा है कि "The Gold Standard is essentially a laisser-faire standard." इस पर सरकार की बदलती हुई राजनीति का प्रभाव नहीं पड़ता।

(४) स्वर्णमान में जनता का अत्यधिक विश्वास रहता है क्योंकि लोगों को मालूम है कि जब भी वे नोट सरकार के पास ले जायेंगे उनको इसके बदले मे स्वर्ण मिल जायगा। इसके अतिरिक्त, स्वर्ण का अपना मूल्य भी होता है और इसलिए विमुद्रीकरण (Demonetization) होने पर लोगों को हानि नहीं होती।

(५) स्वर्णमान से शोधनशेष (Balance of Payments) में अपने आप सन्तुलन स्थापित हो जाता है और इसलिए इसको स्वयं-चालक मान (Automatic Standard) कहा जाता है। यदि एक देश का शोधनशेष पक्ष मे हो जाता है तो दूसरे देशों से सोना इस देश मे आने लगता है। इससे उस देश के स्वर्ण कोष (Gold Reserves) बढ़ जाते है और चलन की मात्रा मे वृद्धि हो जाती है। चलन की मात्रा के बढ़ जाने से वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं और निर्यात कम हो जाते हैं

और आयात अधिक। इसमें स्वर्ण देश से बाहर जाने लगता है। इस प्रकार स्वर्ण के आयात-निर्यात से स्वयं ही शोधनाशेप में सन्तुलन स्थापित हो जाता है और इसीलिए केनन (Cannan) ने इसे 'मूर्ख सिद्ध व मक्कार सिद्ध' ('Fool proof & knave proof) कहा है क्योंकि देश की मूर्खता व बेईमानी का इस मान के चलन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(६) विनिमय दर में भी स्थिरता रहती है क्योंकि दोनों देशों की मुद्रा का सम्बन्ध स्वर्ण की निश्चित मात्रा से होता है और विनिमय दर स्वर्ण निर्यात बिन्दु व स्वर्ण आयात बिन्दु के मध्य ही चक्कर काटता रहता है।

(७) स्वर्णमान में एक सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा के सब लाभ प्राप्त हो जाते हैं क्योंकि प्रत्येक देश में (यदि सब देशों में स्वर्णमान हो) मुद्रा का मूल्य स्वर्ण में नापा जा सकता है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बहुत अधिक सुविधा हो जाती है। इस सम्बन्ध में फाऊलर समिति (Fowler Committee) के सामने अपने विचारों को रखते समय मार्शल (Marshall) ने कहा था, "The change to a gold basis is like a movement towards bringing the railway gauge on the side branches of the world's railways into unison with the main lines."

(८) स्वर्णमान से देश की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ जाती है क्योंकि जब प्रत्येक देश में दस में से नौ व्यक्ति स्वर्णमान को सबसे अच्छा मानते हैं तो यह सर्वोत्तम है।

(९) स्वर्णमान से अन्तर्राष्ट्रीय विनियोजन (International Investment) में बहुत सुविधा हो जाती है। इस सम्बन्ध में कीन्स (Keynes) ने Manchester Guardian में लिखा था, "If gold standard could be reintroduced throughout Europe, we all agree that this would promote, as nothing else can, the revival not only of trade and of production but of international credit and the movement of capital to where it is needed most."

स्वर्णमान के दोष (Disadvantages of the Gold Standard)—उपरोक्त लाभों के होते हुये भी स्वर्णमान का महत्व अब लगभग समाप्त हो गया है और किसी भी देश में आज स्वर्णमान नहीं है। स्वर्णमान को पिछड़ा मान (Primitive Standard) के नाम से पुकारा जाता है। इसका मुख्य कारण इसके कुछ दोष हैं :—

(१) स्वर्णमान का एक लाभ यह बताया जाता है कि इस मान में मुद्रा अधिकारी पर नियन्त्रण रहता है और वह मनमानी मुद्रा का प्रसार नहीं कर सकता। परन्तु [illegible] के अनुसार इस उद्देश्य को पूरा करने के लिये अन्य दूसरे तरीके हैं जो इतने खर्चीले नहीं हैं। मुद्रा के प्रसार को सीमित करके मुद्रा स्फीति को रोकने

की तुलना क्राउथर ने ढलान पर चलती मोटर का पेट्रोल निकाल कर रोकने से की है।[4]

(२) यह मान अस्थिर है क्योंकि इस मान में मुद्रा की मात्रा की स्थिरता नहीं रहती बल्कि स्वर्ण मात्रा व मुद्रा की मात्रा का अनुपात स्थिर रहता है। स्वर्ण-मान में स्वर्ण आयात-निर्यात के कारण स्वर्ण मात्रा में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है और इसलिये न तो द्रव्य का आन्तरिक मूल्य स्थिर रहता है और न बाहरी मूल्य।

(३) स्वर्णमान में कोई देश यदि मूल्यों, रोजगार, आमदनी व उत्पादन के स्तर के सम्बन्ध में स्वतन्त्र नीति अपनाना चाहे तो सफल नहीं हो सकता क्योंकि मुद्रा की मात्रा स्वर्ण की मात्रा पर निर्भर करती है और स्वर्ण की मात्रा पर मुद्रा अधिकारी का कोई वास्तविक नियन्त्रण स्वर्णमान में नहीं होता।

(४) स्वर्णमान अमितव्ययी है क्योंकि इसमें बहुत सा सोना बेकार सरकार के खजाने में जमा रहता है जो अन्य उत्पादक कार्यों में प्रयुक्त हो सकता था। इसके अतिरिक्त स्वर्ण के सिक्के चलने से उनमें घिसावट आती है जिनको कागज के नोटों के चलन से रोका जा सकता है।

(५) आधुनिक काल में जनता के विश्वास का तथा मुद्रा के स्वर्ण आधार का कोई सम्बन्ध नहीं है। आजकल प्रत्येक देश में अपरिवर्तनीय कागजी नोट हैं और उनमें लोगों का उतना ही विश्वास है जितना स्वर्ण सिक्कों में था। अब द्रव्य का मूल्य धातु पर निर्भर नहीं करता बल्कि द्रव्य की विनिमय शक्ति पर निर्भर करता है। क्राउथर के अनुसार, "The value of a currency depends in the long run on the confidence people repose in it, and that confidence may be as great when the currency is inconvertible paper as when it is hard gold coin."

(६) स्वर्णमान में लोचकता (Elasticity) का गुण नहीं है। देशों में व्यापार की वृद्धि के साथ द्रव्य की अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है परन्तु स्वर्ण-मान में इस आवश्यकता को पूरा नहीं किया जा सकता क्योंकि मुद्रा की मात्रा स्वर्ण की मात्रा पर निर्भर करती है जिस पर देश का नियन्त्रण नहीं होता।

(७) स्वर्णमान उसी समय सफल हो सकता है जब सब देशों के पास स्वर्ण कोष समान हो।

(८) यदि किसी देश में निरन्तर स्वर्ण आयात होता रहे तो वहाँ मुद्रा स्फीति की दशा उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार से यदि किसी देश से निरन्तर

4. "To hope to prevent inflation by limiting the expansion of the currency is like hoping to stop a moter car that is running downhill by turning of the petrol". Crowther, An Outline of Money, page 321.

स्वर्ण निर्यात होता रहे तो वहाँ मुद्रा संकुचन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इन दोनों का प्रभाव देश की आर्थिक अवस्था पर बुरा पड़ता है।

(९) यह मान अच्छे समय का साथी है (Fair weather Standard) अर्थात् यह उसी समय तक कार्यशील होता है जब तक दशायें अनुकूल होती हैं। आर्थिक संकट के समय इसको छोड़ना पड़ता है।

(१०) मुद्रा के बाहरी मूल्य की स्थिरता के लिये आंतरिक मूल्य की स्थिरता को त्यागना होता है। यदि देश से स्वर्ण बाहर जाने लगता है तो विदेशी विनिमय दर को स्थिर करने के लिये मुद्रा की मात्रा को घटाया जाता है जिससे मूल्य कम हो जाय। इस प्रकार आन्तरिक मूल्य स्तर विदेशी मूल्य के लिये बढ़ाया या घटाया जाता है।

प्रवन्धित द्रव्य मुद्रा (Managed Currency)—इस प्रकार से स्पष्ट हो जाता है कि स्वर्णमान व्यवहार में उतनी कार्यकुशलता से कार्यशील नहीं होता जितना इसके बारे में सिद्धान्त में सोचा जाता है। वस्तुओं के मूल्यों में स्थिरता नहीं रहती। उसमें निरन्तर वृद्धि या ह्रास होता रहता है। १९ वीं शताब्दी का मौद्रिक इतिहास इसका स्पष्ट उदाहरण है। मूल्यों के भविष्य के बारे में भी ठीक पता नहीं रहता क्योंकि जैसा कि रोबर्टसन (Robertson) ने कहा है, "Prices are likely to be upset by the discovery of new mines or processes of mining, by a decision on the part of some states to achieve gold standard, or to some other states to abandon it, by a sloughing off of the hereditary taboos of the Indian ryot, or the London Banker."

स्वर्णमान की इन कमियों के कारण ही स्वयं-चालित मान (Automatic Standard) को संसार के लगभग सब ही देशों ने त्याग दिया और धीरे-धीरे प्रवन्धित मान को अपना लिया। प्रवन्धित मान को प्रो० सेन व प्रो० दास ने इस प्रकार परिभाषित किया है, "The expression refer to that monetary standard where the value of money is managed by the Central Bank according to a particular plan." इसी को प्रो० भिवानी (Bhiwani) ने इन शब्दों में स्पष्ट किया है, "When the Government adopts some definite policy in the monetary system of the country with some definite object in view, the currency is said to be managed."

इस प्रकार से प्रवन्धित मुद्रा (Managed currency) का आशय उस स्थिति से है जब देश की सरकार एक निश्चित उद्देश्य के अनुसार मुद्रा की मात्रा को नियन्त्रित करती है। मुद्रा की मात्रा स्वर्ण या रजत कोषों पर निर्भर नहीं करती बल्कि सरकार अपनी नीति के अनुसार मुद्रा की मात्रा को निर्धारित करती है। स्वर्ण के बढ़ जाने से या घट जाने से मुद्रा की मात्रा में वृद्धि या कमी नहीं होती। अतः प्रवन्धित मुद्रा में द्रव्य का मूल्य सरकार के द्वारा निश्चित किया जाता है।

प्रबन्धित मुद्रा से मतलब पत्र मुद्रा से लिया जाता है। परन्तु इस प्रकार का सोचना गलत है क्योंकि स्वर्ण मान भी उतना ही प्रबन्धित हो सकता है जितना पत्र मान है। बैंकिंग नीतियों, (बैंक दर की नीति व खुले बाजार की क्रियायें) विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control) द्वारा तथा विनिमय की दर को नियन्त्रित करके स्वर्ण-मान को प्रबन्धित बनाया जा सकता है और ऐसा किया जा चुका है।

प्रबन्धमान के समर्थक यह मानते हैं कि इस प्रकार के मान में मूल्यों के परिवर्तनों पर देश का मौद्रिक अधिकारी नियन्त्रण रखता है जिससे मूल्यों में स्थिरता आ जाती है। देश को भी स्वतन्त्रता मिल जाती है कि वह अपने देश की आर्थिक अवस्थाओं को देखते हुए जिस प्रकार की नीति चाहे अपनाये। दूसरे देश की गलतियों का शिकार प्रत्येक देश को नहीं बनना पड़ता। इसके अतिरिक्त प्रत्येक देश की अर्थ-व्यवस्था बहुत कुछ दृढ़ बन गयी है जबकि स्वर्णमान के स्वयं-चलन (Automatic working) के लिये लचकीली अर्थ-व्यवस्था (Flexible economic system) की आवश्यकता होती है। साथ ही साथ संसार के स्वर्ण उत्पादन में कोई विशेष वृद्धि नहीं हो रही है जिसका अर्थ यह होगा कि मूल्य स्तर में ह्रास होता जायगा जबकि देश के आर्थिक विकास के लिये बढ़ते हुए मूल्य स्तर का होना आवश्यक है।

इस प्रकार से प्रबन्धित मान बुरा नहीं है यदि इसका प्रबन्ध ठीक प्रकार से किया जाय। परन्तु प्रबन्धित मान में भी कुछ कमियाँ हैं जिसके कारण इसकी आलोचना की जाती है। इस मान में मुद्रा की मात्रा सरकार की राजनीतिक धारणाओं पर अधिक निर्भर करती है। जब भी सरकार को द्रव्य की आवश्यकता होती है अधिक मुद्रा का प्रसार करके उस आवश्यकता को पूरा कर लेती है। वह जनता पर टैक्स लगाकर सामाजिक अप्रियता (Social unpopularity) से बचना चाहती है क्योंकि वह खुल्लम-खुल्ला ऐसा नहीं कर सकती। प्रबन्धित मान से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को भी हानि होती है और यदि मुद्रा का प्रबन्ध ठीक प्रकार से न किया जाय तो लोगों को बहुत हानि होती है। कुछ अर्थशास्त्रियों ने प्रबन्धित मान को 'व्यापार की शराब' (Alcohol of commerce) कहा है जो सरकारी अफसरों के मस्तिष्कों को खराब कर देती है। और वे आत्म-संयम व गम्भीर निर्णय की भावना को खोकर अत्यधिक मुद्रा का प्रसार करते जाते हैं।

दोनों मानों के सापेक्षिक गुण दोषों को देखकर यह कहा जा सकता है कि स्वर्णमान का अब इस संसार में कोई भविष्य नहीं है क्योंकि पूर्ण-रोजगार की अवस्था स्वर्णमान के आधार पर स्थापित व कार्यशील नहीं हो सकती। बेरोजगारी को दूर करने के लिये मूल्यों में क्रमिक वृद्धि होनी चाहिये परन्तु श्रीमती रोबिंसन के अनुसार स्वर्णमान का झुकाव मुद्रा संकुचन की ओर है क्योंकि जिस देश से सोना निर्यात होता है उस देश को अवश्य ही मुद्रा का संकुचन करना होता है और इसीलिये इस मान में मूल्यों की क्रमिक वृद्धि नहीं होती।

जब तक संसार अलग-अलग आर्थिक इकाइयों में विभाजित है जिसमें प्रत्येक इकाई अपने राष्ट्रीय हितों को अधिक महत्व देती है स्वर्णमान क्रियाशील नहीं हो सकता। क्राउथर के अनुसार, "The central truth is that no nation is willing to allow its economic structure to be regulated by the general average of world conditions. Each insists on retaining i economic sovereignty, its indefeasible right to pursue a policy of i own. So long as this feeling lasts, a gold standard, or any standa which postulates unvarying exchange rates is impossible."[5] कीन्स त कैसल (Cassel) का भी विचार है कि भविष्य में स्वर्णमान की स्थापना लग असम्भव है क्योंकि मूल्य की अस्थिरता के कारण स्वर्ण ने मौद्रिक क्षेत्र में अपना मह नष्ट कर दिया है।

स्वर्णमान व प्रबन्धित मान दोनों के अपने-अपने लाभ हैं तथा दोनों की सीमा है और इसलिए यह निश्चित करना कि कौनसा मान अधिक ठीक है, बहुत कठि है। क्राउथर ने इस सम्बन्ध में एक सुझाव दिया है कि दोनों मानों में समझौता क लिया जाय अर्थात् विनिमय दरों को अल्पकाल में स्थिर रक्खा जाय परन्तु आवश्यकत पड़ने पर उनमें परिवर्तन कर दिया जाय। क्राउथर के ही शब्दों में, "But better reason for refusing to choo e is that it is possible to loo forward to a compromise between the two extremes. It may well b that the international monetary system of future will be one i which the exchanges are kept stable within the short period, bu are moved from time to time."[6] अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना से इस विचार को व्यवहारिक रूप दे दिया गया है। यह विनिमय समीकरण कोषों (Exchange Equalisation Funds) का तथा International Tripartite Monetary Agreement का अन्तर्राष्ट्रीय रूप है जिसने स्वर्णमान को हटाने का प्रयत्न किया था। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के द्वारा स्वर्णमान की स्थापना नहीं की गई है परन्तु स्वर्ण को मूल्यों के अन्तिम मान के रूप में रखकर एक अंश तक सोने को अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य स्तर तथा विनिमय दरों का आधार बनाया है। प्रत्येक देश को अपने चलन की कीमत स्वर्ण या अमेरिकन डालर में परिभाषित करनी होती है। इससे विनिमय दर के निर्धारण में सरलता हो जाती है। इस दर में २०% तक का परिवर्तन आसानी से किया जा सकता है। परन्तु इससे अधिक के परिवर्तन के लिये $\frac{3}{4}$ सदस्यों की अनुमति लेनी होती है।

5. Crowther, An Outline of Money, page 421.
6. Ibid. page 424.

Q. 42. "The Gold Standard is essentially a laissez faire standard." (Cole) Discuss this statement in the light of the currency history of Britain and the U S. A between 1920 and 1931.

(Agra 1953)

Q. 43 "The operation of the Gold Standard required certain "rules of the game" to be observed by the countries concerned. When the rules came to be violated, the standard had to face considerable difficulties.' Examine in the light of this statement the causes responsible for the collapse of the Gold Standard during the inter-war period.

(Agra 1963, Raj. 1964)

Q. 44. "The Gold Standard is a jealous God. It will work provided it is given exclusive devotion." Discuss this statement with reference to the causes of the breakdown of the gold standard during the inter war period.

(Vikram 1962, Jabalpur 1965, Agra 1962)

Q. 45. "A country which stays on The Gold Standard there by gives up the privilege of following whatever monetary policy it likes." Discuss and point out the causes which led to the breakdown of the gold standard after 1929.

(Vikram 1960)

रूपरेखा

(१) स्वर्णमान की स्वतन्त्र प्रकृति,

(२) स्वर्णमान के उद्देश्य तथा नियम।

(३) इतिहास के उदाहरण

(४) स्वर्णमान टूटने के कारण

संसार मे विभिन्न समय मे विभिन्न धातुओं मे द्रव्य के मूल्य को व्यक्त किया गया है। स्वर्ण भी एक महत्वपूर्ण धातु रही है जिसमें द्रव्य के मूल्य को मापा गया है। स्वर्णमान की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह रही है कि या तो चलन मे स्वर्ण सिक्के रहे हैं और यदि स्वर्ण सिक्के द्रव्य की तरह प्रयुक्त नहीं किये गये तो देश की प्रचलित मुद्रा स्वर्ण धातु मे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से परिवर्तनशील रही है। इसका परिणाम यह रहा है कि देश मे चलन की मात्रा स्वर्ण की कुल मात्रा पर निर्भर रही है। वास्तविक स्वर्णमान मे उतने ही सिक्के चलाये जा सकते है जितने के बराबर मौद्रिक अधिकारी के पास स्वर्ण धातु किसी भी रूप मे होती है। इसलिये इस मान को नियन्त्रण-रहित मान (Laissez-faire standard) कहा जाता है क्योंकि इसको स्थापित करने के लिये किसी प्रकार की 'नियन्त्रित करने की नीति' (restrictive policy) अपनाने की आवश्यकता नहीं पड़ती और सत्य तो यह है कि यदि इस मान पर नियन्त्रण लगा दिये जाये तो यह ठीक प्रकार से कार्यशील नहीं होता तथा इसके लाभ पूर्णतया प्राप्त नहीं होते।
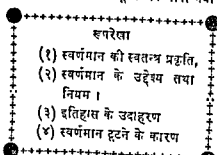
स्वर्ण की स्वतन्त्र प्रकृति (Laissez-faire nature) तथा स्वयं चलन (Automatic working) कार्य का पता यह देखकर लग सकता है कि स्वर्णमान किस प्रकार से कार्य करता है। मान लीजिये कि एक देश में केवल स्वर्ण के सिक्के चलते हैं और यदि कागज के नोट चलते हैं तो वे पूर्ण रूप से स्वर्ण सिक्कों या स्वर्ण धातु में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से परिवर्तनशील होते हैं। इसलिये देश में मुद्रा की मात्रा या द्रव्य की पूर्ति का सम्बन्ध स्वर्ण धातु की मात्रा से होता है। यदि स्वर्ण निर्यात हो जाता है तो स्वर्ण धातु की मात्रा कम हो जाती है तथा धातु कम हो जाने से मुद्रा भी कम हो जाती है जिसका प्रभाव मूल्यों पर पड़ता है और मूल्य भी कम हो जाते हैं। मूल्य कम हो जाने से वस्तुएँ दूसरे देशों को जाने लगती हैं और स्वर्ण का आयात होने लगता है जिससे मुद्रा बढ़ जाती है तथा मूल्य बढ़ जाते हैं। इस प्रकार जब स्वर्ण धातु का सम्बन्ध मुद्रा से कर दिया जाता है तो देश के मूल्य स्तर में स्थिरता आ जाती है। यदि कभी मूल्य कम या अधिक हो जाते हैं तो स्वर्ण के आयात निर्यात से स्वयं ठीक हो जाते हैं। देश की सरकार या मुद्रा अधिकारी को किसी प्रकार की नीति का पालन करने या हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसीलिये यह स्वतन्त्र मान है।

स्वर्णमान का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य विदेशी विनिमय दरों को स्थिर रखना होता है और यह भी उसी समय हो सकता है जब स्वर्णमान स्वतन्त्र हो और उस पर किसी प्रकार का नियंत्रण न हो। यदि किसी देश का व्यापार शेष (Balance of trade) विपरीत हो जाता है तो स्वर्ण इस देश से निर्यात होने लगता है। देश में स्वर्ण की मात्रा कम रह जाती है और मुद्रा की मात्रा भी, जिससे वस्तुओं के मूल्य गिर जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति सस्ते बाजार में खरीदता है और इसलिये इस देश का माल बाहर जाने लगेगा, व्यापारशेष ठीक हो जायेगा तथा विनिमय दर समता पर आ जायेगी। यह तभी हो सकता है जब स्वर्णमान को स्वतन्त्रत रूप से कार्यशील होने दिया जाता है। यदि बैंक दर व खुले बाजार की क्रियाओं द्वारा स्वर्णमान के चलन को नियन्त्रित कर दिया जाता है तो यह स्वर्णमान न रह कर प्रबन्धित मान (Managed standard) हो जाता है।

स्वर्ण-मान के नियम (Rules of the Gold Standard)—स्वर्णमान के स्वतन्त्र व स्वयं चलन के लिये यह आवश्यक है कि स्वर्णमान के नियमों का पूर्ण रूप से पालन किया जाना चाहिये जिनको 'स्वर्णमान खेल के नियम' (Rules of the Gold Standard Game) कहा जाता है। यह नियम स्पष्ट कर देते हैं कि यह मान स्वतन्त्र व स्वयं चालक है।

स्वर्णमान के खेल का पहला नियम यह है कि व्यापार पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होना चाहिये अर्थात् वस्तुओं के आयात-निर्यात पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं होना चाहिये। संरक्षण, आर्थिक राष्ट्रीयवाद, कोटा पद्धति (Quota System) तथा

अन्य दूसरी प्रकार के व्यापार नियन्त्रण स्वर्णमान खेल के विरुद्ध है और इस प्रकार के नियन्त्रणों से इस मान की स्वतन्त्रता व स्वय-चालकता समाप्त हो जाती है।

इस मान की स्वतन्त्र कार्यशीलता के लिये दूसरा महत्वपूर्ण नियम है कि मौद्रिक अधिकारी को अहस्तक्षेप की नीति को अपनाना चाहिये। स्वर्ण के आयात-निर्यात पर जो भी प्रभाव मुद्रा की मात्रा, मजदूरी, मूल्यो, व्यापार व विनिमय दर पर पड़ते हो उनको पूर्ण रूप से कार्यशील होने देना चाहिये। यदि स्वर्ण देश में आता है तो मुद्रा की मात्रा को बढ़ने देना चाहिये और स्वर्ण के बाहर जाने पर मुद्रा की मात्रा को कम होने देना चाहिये। सरकार व मौद्रिक अधिकारी को स्वर्ण के आयात-निर्यात के प्रभावो को नष्ट नही करना चाहिये। क्राउथर के अनुसार, "The golden rule of the gold standard is · expand credit when gold comes in . contract credit when gold is going out."[1]

ये नियम इस बात को सिद्ध करते है कि स्वर्णमान एक स्वतन्त्र मान है और स्वतन्त्र रूप से ही कार्यशील होने पर यह अपने लाभ प्रदान कर सकता है।

स्वर्णमान एक स्वतन्त्र मान—मौद्रिक इतिहास से स्पष्ट (Gold Standard a laissez-gaire standard—justified by the monetary history)—उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वर्णमान केवल स्वतन्त्र वातावरण मे ही कार्य कर कर सकता है और उसके सचालन पर यदि नियन्त्रण लगा दिये जायें तो वह पूर्ण रूप से कार्यशील नही होता। यह बात मौद्रिक इतिहास से भी स्पष्ट हो जाती है।

सन् १९१४ तक इगलैंड, अमेरिका व अन्य यूरोपियन देशो मे स्वर्ण चलन मान था और पूर्ण सफलता के साथ यह अपना कार्य कर रहा था। प्रत्येक देश ने इसके कार्य पर नियन्त्रण नही लगा रक्खे थे और स्वर्ण चलन मान के कारण मुद्रा की मात्रा स्वर्ण की मात्रा पर निर्भर रहती थी। व्यापार पर भी नियन्त्रण नही थे। स्वर्ण के आयात-निर्यात के सम्बन्ध मे सरकारों की नीति मुक्त थी और बाह्य व्यापार पर भी किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर मूल्यो मे स्थिरता थी। इस सफल सचालन का कारण 'स्वर्णमान खेल के नियमों' का पूर्ण रूप से पालन करना था।

परन्तु १९१४ मे प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हो गया है और स्वर्णमान का चलन स्वतन्त्र व स्वयं चालक न रह सका। स्वर्णमान के नियमो का पालन पूर्ण रूप से न हो सका और इसका परिणाम यह हुआ कि स्वर्णमान टूट गया। अधिकतर देशो ने अपनी मुद्रा को अपरिवर्तनीय घोषित कर दिया और स्वर्ण की मात्रा का द्रव्य की मात्रा से कोई सम्बन्ध नही रहा। प्रत्येक देश ने स्वर्ण मात्रा की तुलना मे बहुत अधिक नोट चला दिये। साथ ही साथ स्वर्ण के आयात-निर्यात व वस्तुओ के आयात-

1. Crowther, An Outline of Money, page 342.

स्वर्ण की स्वतन्त्र प्रकृति (Laissez-faire nature) तथा स्वयं चलन (Autcmaiic working) कार्य का पता यह देखकर लग सकता है कि स्वर्णमान किस प्रकार से कार्य करता है। मान लीजिये कि एक देश में केवल स्वर्ण के सिक्के चलते हैं और यदि कागज के नोट चलते हैं तो वे पूर्ण रूप से स्वर्ण सिक्कों या स्वर्ण धातु में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से परिवर्तनशील होते हैं। इसलिये देश में मुद्रा की मात्रा या द्रव्य की पूर्ति का सम्बन्ध स्वर्ण धातु की मात्रा से होता है। यदि स्वर्ण निर्यात हो जाता है तो स्वर्ण धातु की मात्रा कम हो जाती है तथा धातु कम हो जाने से मुद्रा भी कम हो जाती है जिसका प्रभाव मूल्यों पर पड़ता है और मूल्य भी कम हो जाते हैं। मूल्य कम हो जाने से वस्तुयें दूसरे देशों को जाने लगती हैं और स्वर्ण का आयात होने लगता है जिससे मुद्रा बढ़ जाती है तथा मूल्य बढ़ जाते हैं। इस प्रकार जब स्वर्ण धातु का सम्बन्ध मुद्रा से कर दिया जाता है तो देश के मूल्य स्तर में स्थिरता आ जाती है। यदि कभी मूल्य कम या अधिक हो जाते हैं तो स्वर्ण के आयात निर्यात से स्वयं ठीक हो जाते हैं। देश की सरकार या मुद्रा अधिकारी को किसी प्रकार की नीति का पालन करने या हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसीलिये यह स्वतन्त्र मान है।

स्वर्णमान का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य विदेशी विनिमय दरों को स्थिर रखना होता है और यह भी उसी समय हो सकता है जब स्वर्णमान स्वतन्त्र हो और उस पर किसी प्रकार का नियंत्रण न हो। यदि किसी देश का व्यापार शेष (Balance of trade) विपरीत हो जाता है तो स्वर्ण इस देश से निर्यात होने लगता है। देश में स्वर्ण की मात्रा कम रह जाती है और मुद्रा की मात्रा भी, जिससे वस्तुओं के मूल्य गिर जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति सस्ते बाजार में खरीदता है और इसलिये इस देश का माल बाहर जाने लगेगा, व्यापाराशेष ठीक हो जायेगा तथा विनिमय दर समता पर आ जायेगी। यह तभी हो सकता है जब स्वर्णमान को स्वतन्त्रत रूप से कार्यशील होने दिया जाता है। यदि बैंक दर व खुले बाजार की क्रियाओं द्वारा स्वर्णमान के चलन को नियन्त्रित कर दिया जाता है तो यह स्वर्णमान न रह कर प्रबन्धित मान (Managed standard) हो जाता है।

स्वर्ण-मान के नियम (Rules of the Gold Standard)—स्वर्णमान के स्वतन्त्र व स्वयं चलन के लिये यह आवश्यक है कि स्वर्णमान के नियमों का पूर्ण रूप से पालन किया जाना चाहिये जिनको 'स्वर्णमान खेल के नियम' (Rules of the Gold Standard Game) कहा जाता है। यह नियम स्पष्ट कर देते हैं कि यह मान स्वतन्त्र व स्वयं चालक है।

स्वर्णमान के खेल का पहला नियम यह है कि व्यापार पूर्ण रूप
होना चाहिये अर्थात् वस्तुओं के आयात-निर्यात पर किसी प्रकार
होना चाहिये। संरक्षण, आर्थिक राष्ट्रीयवाद, कोटा पद्धति (Qu

गिरने नही दिया जाता था। इस प्रकार की दृढ़ अर्थव्यवस्था मे स्वर्णमान का चलन सम्भव नही था।

स्वर्ण के असमान वितरण के कारण बहुत से देशो के पास स्वर्ण की मात्रा बहुत कम हो गई और इसलिये उन्होने स्वर्ण-निर्यात को प्रत्येक प्रकार से रोकने का प्रयत्न किया जिससे मुद्रा-व्यवस्था न टूट जाय। इससे स्वर्णमान की स्वयं चालकता समाप्त हो गयी। इसके अतिरिक्त समस्त देशो मे आर्थिक राष्ट्रीयवाद का विकास हो गया और प्रत्येक देश आत्म-निर्भर होने का प्रयत्न करने लगा। इसलिये विभिन्न देशो ने कोटा (Quota), लाइसेंस (License), आयात-नियन्त्रण, प्रशुल्क नीति (Fiscal Policy) द्वारा उद्योगो को सरक्षण (Protection) दिया। इससे भी स्वर्णमान की स्वयं चालकता नष्ट हो गयी।

इस प्रकार से स्पष्ट हो जाता है कि स्वर्णमान एक स्वतन्त्र मान (Laissez-faire Standard) है जो उसी समय कार्य कर सकता है जब इसको कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता दे दी जाय। सन् १९१४ तक इसके कार्य पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही था और उस समय तक इसने पूर्ण सफलता के साथ काम किया। परन्तु प्रथम महायुद्ध के दौरान मे व उसके बाद इस प्रकार की राजनीतिक व आर्थिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयी कि स्वर्णमान स्वतन्त्र रूप से कार्य नही कर सकता था। पुराना मौद्रिक सहयोग समाप्त हो चुका था और विनिमय दर की स्थिरता के स्थान पर आन्तरिक मूल्यो की स्थिरता को अधिक महत्व दिया जाने लगा था। विदेशी व्यापार पर भी विभिन्न प्रकार के नियन्त्रण लगाये गये थे। इस प्रकार एक स्वतन्त्र मान को नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया गया परन्तु स्वतन्त्र प्रकृति वाला दासता स्वीकार न कर सका और धीरे-धीरे स्वर्णमान ससार से विदा हो गया। सितम्बर १९३१ मे इगलैंड ने स्वर्णमान त्याग दिया और अमेरिका ने १९३२ मे; अन्य देशों ने भी इसको छोड दिया और १९३६ मे फ्रास ने भी इसको ससार से अन्तिम रूप से विदा कर दिया।

[स्वर्णमान टूटने के कारणों के लिये प्रश्न ४६ को देखे।]

☆

Q. 46. What are the rules of the 'Gold Standard Game'? Discuss the causes which were responsible for the breakdown of the Gold Standard after 1931? (Raj. 1959)

(d) स्वर्णमान क्रीड़ा नियम (Rules of the Gold Standard Game)—स्वर्णमान के सफल संचालक के लिये यह आवश्यक है कि देश के मुद्रा अधिकारी (Monetary Authority) को कुछ नियमों का पालन करना चाहिए। यदि इन नियमो का पालन नही किया जाता तो स्वर्णमान कार्यशील नही हो सकता। इन

ने इन नियमों का पूर्ण रूप से पालन किया। परन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद इन नियमों को पूरा न किया जा सका और इस कारण स्वर्णमान का भी खण्डन हो गया।

स्वर्णमान का समाप्त होना (Break-down of the Gold Standard)—दो महायुद्धों के बीच स्वर्णमान अधिक दिनों तक न चल सका। प्रारम्भ से ही यह अमेरिका की सहायता के कारण चल रहा था। सन् १९२९ का Wall Street Boom और उसके बाद की संसार विस्तृत मंदी (Depression) ही पुनर्स्थापित स्वर्णमान की समाप्ति का कारण हुई। योरुप में फैलती हुई राजनैतिक तनातनी भी इसके टूटने का मुख्य कारण थी। Austria के Credit Austalt Bank के फेल होने के कारण और इसके बाद अनेक जर्मन बैंकों के फेल होने से वित्तीय भय (Financial Panic) उत्पन्न हो गया और स्वर्णमान के टूटने का कारण बन गया। इंगलैंड ने सितम्बर सन् १९३१ में स्वर्णमान को त्याग दिया और अमेरिका ने भी सन् १९३३ में स्वर्णमान को छोड़ दिया। फ्रांस, बेलजियम, हॉलैंड, स्विट्जरलैंड तथा इटली ही ऐसे देश रह गये जहां स्वर्णमान था। परन्तु इन देशों ने भी मुद्रा संकुचन का कटु दबाव (acute deflationary pressure) महसूस किया जिसके कारण इनको भी स्वर्णमान को छोड़ देना पड़ा।

यद्यपि स्वर्णमान के समाप्त होने का मुख्य कारण अमेरिकी सहायता की समाप्ति था, परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण कारण भी थे। जिनके कारण स्वर्णमान कार्यशील न रह सका। वे कारण निम्नलिखित थे :—

(१) स्वर्णमान-संचालन के नियमों का पालन न करना :—स्वर्णमान के संचालन के लिये यह आवश्यक है कि स्वर्ण मान पर आधारित सभी देश स्वर्णमान-संचालन नियमों का पालन करें। परन्तु युद्धोत्तर-काल में अधिकतर देशों ने विशेषकर शक्तिशाली देशों ने स्वर्णमान नियमों का पालन नहीं किया। स्वर्णमान का मुख्य नियम यह है जब किसी देश में सोने की मात्रा में वृद्धि हो जाय तो देश में मुद्रा-पूर्ति भी बढ़ जाय तथा साख का प्रसार हो। स्वर्ण मात्रा की कमी से मुद्रा-पूर्ति कम हो तथा साख का संकुचन हो। परन्तु युद्ध-काल के बाद अधिकतर देशों ने इस नियम का पालन नहीं किया। विभिन्न केन्द्रीय बैंकों ने स्वर्ण आयात-निर्यात के परिणामों को क्रियाशील नहीं होने दिया। संसार में स्वर्णकोष का अधिकांश भाग फ्रांस तथा अमेरिका के कोषों में जमा हो गया था। परन्तु उक्त देशों के केन्द्रीय बैंकों ने उचित मात्रा में साख-प्रसार नहीं करने दिया। दूसरी ओर इंगलैंड आदि देशों में स्वर्ण-मात्रा कम होने पर भी Bank of England की नीति के कारण मुद्रा-पूर्ति में कमी नहीं हुई। यद्यपि यह सब देश में आन्तरिक स्थायित्व के लिये किया गया था परन्तु यह स्वर्णमान के स्वयं सचालन (Automatic functioning) के विरुद्ध था।

(२) स्वर्ण-मान के उद्देश्यों को न मानना :—सन् १९३० के बाद विभिन्न देशों के केन्द्रीय बैंकों ने स्वर्ण-मान के उद्देश्यों को मानना कम कर दिया। स्वर्ण-मान का मुख्य उद्देश्य है विनिमय दरों को स्थिर रखना (Stable Rate of Exchange)।

ने इन नियमों का पूर्ण रूप से पालन किया। परन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद इन नियमों को पूरा न किया जा सका और इस कारण स्वर्णमान का भी खंडन हो गया।

स्वर्णमान का समाप्त होना (Break-down of the Gold Standard)—दो महायुद्धों के बीच स्वर्णमान अधिक दिनों तक न चल सका। प्रारम्भ से ही यह अमेरिका की सहायता के कारण चल रहा था। सन् १६२६ का Wall Street Boom और उसके बाद की संसार विस्तृत मंदी (Depression) ही पुनर्स्थापित स्वर्णमान की समाप्ति का कारण हुई। योरुप में फैलती हुई राजनैतिक तनातनी भी इसके टूटने का मुख्य कारण थी। Austria के Credit Austalt Bank के फेल होने के कारण और इसके बाद अनेक जर्मन बैंकों के फेल होने से वित्तीय भय (Financial Panic) उत्पन्न हो गया और स्वर्णमान के टूटने का कारण बन गया। इंगलैंड ने सितम्बर सन् १६३१ में स्वर्णमान को त्याग दिया और अमेरिका ने भी सन् १६३३ में स्वर्णमान को छोड़ दिया। फ्रांस, बेलजियम, हॉलैंड, स्विट्जरलैंड तथा इटली ही ऐसे देश रह गये जहां स्वर्णमान था। परन्तु इन देशों ने भी मुद्रा संकुचन का कटु दबाव (acute deflationary pressure) महसूस किया जिसके कारण इनको भी स्वर्णमान को छोड़ देना पड़ा।

यद्यपि स्वर्णमान के समाप्त होने का मुख्य कारण अमेरिकी सहायता की समाप्ति था, परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण कारण भी थे। जिनके कारण स्वर्णमान कार्यशील न रह सका। वे कारण निम्नलिखित थे —

(१) स्वर्णमान-सचालन के नियमों का पालन न करना :—स्वर्णमान के संचालन के लिये यह आवश्यक है कि स्वर्णमान पर आधारित सभी देश स्वर्णमान-सचालन नियमों का पालन करें। परन्तु युद्धोत्तर-काल में अधिकतर देशों ने विशेषकर शक्ति-शाली देशों ने स्वर्णमान नियमों का पालन नहीं किया। स्वर्णमान का मुख्य नियम यह है जब किसी देश में सोने की मात्रा में वृद्धि हो जाय तो देश में मुद्रा-पूर्ति भी बढ़ जाय तथा साख का प्रसार हो। स्वर्ण मात्रा की कमी से मुद्रा-पूर्ति कम हो तथा साख का संकुचन हो। परन्तु युद्ध-काल के बाद अधिकतर देशों ने इस नियम का पालन नहीं किया। विभिन्न केन्द्रीय बैंकों ने स्वर्ण आयात-निर्यात के परिणामों को क्रियाशील नहीं होने दिया। संसार में स्वर्णकोष का अधिकांश भाग फ्रांस तथा अमेरिका के कोषों में जमा हो गया था। परन्तु उक्त देशों के केन्द्रीय बैंकों में उचित मात्रा में साख प्रसार नहीं करने दिया। दूसरी ओर इंगलैंड आदि देशों में स्वर्ण-मात्रा कम होने पर भी Bank of England की नीति के कारण मुद्रा-पूर्ति में कमी नहीं हुई। यद्यपि यह सब देश में आन्तरिक स्थायित्व के लिये किया गया था परन्तु यह स्वर्णमान के स्वयं सचालय (Automatic functioning) के विरुद्ध था।

(२) स्वर्ण-मान के उद्देश्यों को न मानना :—सन् १६३० के बाद विभिन्न देशों के केन्द्रीय बैंकों ने स्वर्ण-मान के उद्देश्यों को मानना कम कर दिया। स्वर्ण-मान का मुख्य उद्देश्य है विनिमय दरों को स्थिर रखना (Stable Rate of Exchange)।

को स्थापित कर लिया। प्रथम महायुद्ध के पूर्व संसार के लगभग सभी देशों ने किसी न किसी रूप में स्वर्णमान को स्वीकार कर लिया। चीन ही एक महत्वपूर्ण देश था जिसने स्वर्णमान को स्थापित नहीं किया था।

प्रथम महायुद्ध से पूर्व स्वर्णमान
(Gold Standard before First World War)—

प्रथम महायुद्ध से पूर्व स्वर्णमान स्वर्ण चलन मान के रूप में था और विभिन्न देशों ने स्वर्ण के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध नहीं लगा रखे थे। परन्तु प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ होने पर स्वर्ण का निर्यात बन्द कर दिया गया जिस कारण स्वर्णमान अपने अन्तर्राष्ट्रीय कार्य को पूरा नहीं कर सका। आन्तरिक क्षेत्र में भी देशों में कागज की मुद्रा की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता को समाप्त कर दिया। इस प्रकार धीरे-धीरे सब देशों ने स्वर्णमान का त्याग कर दिया। युद्ध की समाप्ति पर स्वर्णमान केवल संयुक्त राज्य अमेरिका तथा लेटिन अमेरिका के सात देशों में विद्यमान था।

स्वर्णमान की पुनः स्थापना
(Restoration of Gold Standard)—

महायुद्ध के पश्चात् सब देशों के सम्मुख यह समस्या आई कि कौन से मौद्रिक मान को अपनाया जाय। इस समस्या पर विचार करने के लिए सन् १९२० में बुशेल्स में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन (Internatonal Monetary Conference) हुआ जिसने यह निश्चय किया कि स्वर्णमान फिर से स्थापित किया जाय सबसे पहले अमेरिका ने स्वर्णमान को अपनाया। अमेरिका के पश्चात् सन् १९२४ में जर्मनी ने स्वर्णमान अपनाया। इंगलैंड ने जर्मनी का समर्थन सन् १९२५ में किया और पौंड का मूल्य भी युद्ध-पूर्व स्तर पर अर्थात् ४·८६६ डालर के बराबर तय कर दिया। इसके पश्चात् अन्य देशों ने भी स्वर्णमान को स्वीकार कर लिया। सन् १९२८ तक संसार के सभी प्रमुख देश (फ्रांस, बेल्जियम तथा इटली को छोड़ कर) स्वर्णमान पर लौट आये।

इंगलैंड ने कई कारणों से स्वर्णमान की पुनः स्थापना की। एक तो स्वर्णमान को बनाये रखने के कारण विश्व मौद्रिक जगत (World Monetary Field) में अमेरिका का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। इंगलैंड इसको कम करना चाहता था जिसके लिये स्वर्णमान को अपनाना आवश्यक था। दूसरे, इंगलैंड सदा से ही स्वर्ण-मान का समर्थक रहा था। महायुद्ध में विवश होकर उसे स्वर्णमान का त्याग करना पड़ा था। इसलिए स्थिति के सामान्य हो जाने पर वह शीघ्र से शीघ्र स्वर्णमान को स्थापित करना चाहता था।

विश्व-युद्ध के पश्चात् अपनाया गया स्वर्णमान पुराने स्वर्णमान से कई बातों में भिन्न था। एक तो अमेरिका के अतिरिक्त अन्य देशों में स्वर्ण की मुद्राएँ चलन में नहीं थीं। दूसरे अर्थ-व्यवस्थायें स्वतन्त्र नहीं रही थीं। उनके संचालन में राज्य

का हस्तक्षेप बहुत बढ गया था। तीसरे, राजनैतिक शान्ति व आर्थिक सम्पन्नता बहुत कम देशों में थी।

स्वर्णमान का समाप्त होना (Break-down of the Gold Standard)—दो महायुद्धों के बीच स्वर्णमान अधिक दिनों तक न चल सका। प्रारम्भ से ही यह अमेरिका की सहायता के कारण चल रहा था। सन् १९२९ का Wall Street Boom और उसके बाद की संसार विस्तृत मन्दी (Depression) ही पुनः स्थापित स्वर्णमान की समाप्ति का कारण हुई। योरप मे फैलती हुई राजनैतिक तनातनी भी इसके टूटने का मुख्य कारण थी। Austria के Credit Austalt Bank के फेल होने के कारण और इसके बाद अनेक जर्मन बैंको के फेल होने से वित्तीय भय (Financial panic) उत्पन्न हो गया और स्वर्णमान के टूटने का कारण बन गया। इंगलैंड ने सितम्बर सन् १९३१ मे स्वर्णमान को त्याग दिया और अमेरिका ने भी सन् १९३३ में स्वर्णमान को छोड दिया। फ्रास, बेलजियम, हालैंड, स्वीट्जरलैंड तथा इटली ही ऐसे देश रह गये जहां स्वर्णमान था। परन्तु इन देशों ने भी मुद्रा संकुचन का कटु दबाव (Acute deflationary Pressure) महसूस किया जिसके कारण इनको भी स्वर्णमान को छोड देना पडा।

यद्यपि स्वर्णमान के समाप्त होने का मुख्य कारण अमरीकी सहायता की समाप्ति था, परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण कारण भी थे जिनके कारण स्वर्णमान कार्यशील न रह सका। वे कारण निम्नलिखित थे :—

(१) स्वर्णमान-संचालन के नियमों का पालन न करना—स्वर्णमान के संचालन के लिए यह आवश्यक है कि स्वर्णमान पर आधारित सभी देश स्वर्णमान-संचालन नियमों का पालन करें। परन्तु युद्धोत्तर-काल मे अधिकतर देशो ने विशेषकर शक्तिशाली देशो ने स्वर्णमान नियमों का पालन नही किया। स्वर्णमान का मुख्य नियम यह है कि जब किसी देश मे सोने की मात्रा मे वृद्धि हो जाय तो देश मे मुद्रा-पूर्ति भी बढ़ जाय तथा साख का प्रसार हो। स्वर्ण मात्रा की कमी से मुद्रा-पूर्ति कम हो तथा साख का सकुचन हो। परन्तु युद्ध काल के बाद अधिकतर देशों ने इस नियम का पालन नही किया। विभिन्न केन्द्रीय बैंको ने स्वर्ण आयात-निर्यात के परिणामों को क्रियाशील नही होने दिया। संसार में स्वर्णकोष का अधिकांश भाग फ्रास तथा अमेरिका के कोषो मे जमा हो गया था। परन्तु उक्त देशों के केन्द्रीय बैंको ने उचित मात्रा में साख-प्रसार नही करने दिया। दूसरी ओर इंगलैंड आदि देशों में स्वर्ण-मात्रा कम होने पर भी Bank of England की नीति के कारण मुद्रा-पूर्ति में कमी नहीं हुई। यद्यपि यह सब देश में आन्तरिक स्थायित्व के लिये किया गया था परन्तु यह स्वर्ण-मान के स्वयं संचालन (Automatic functioning) के विरुद्ध था।

(२) स्वर्ण-मान के उद्देश्यों को न मानना—सन् १९३० के बाद विभिन्न देशों के केन्द्रीय बैंकों ने स्वर्ण-मान के उद्देश्यो को मानना कम कर दिया। स्वर्ण-मान का मुख्य उद्देश्य है विनिमय दरों को स्थिर रखना (Stable Rate of Exchange)।

इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये प्रत्येक देश को अन्तर्राष्ट्रीय स्थिरता के लिये राष्ट्रीय हितों का बलिदान करना होता है। इस मान में आन्तरिक मूल्यों को स्थिर रखने की नीति का पालन नहीं किया जा सकता तथा देश में वस्तुओं की कीमतों में और बाह्य मूल्य-स्तरों में समता रहनी चाहिए। परन्तु उस समय की स्थिति के अनुसार देश की आन्तरिक मूल्य स्थिरता का त्याग बाह्य मूल्य स्थिरता के लिये नहीं किया जा सकता था। प्रत्येक देश अपनी आन्तरिक आर्थिक स्थिरता के प्रति अधिक सचेत था। इसलिये देश के आन्तरिक मूल्यों को अन्तर्राष्ट्रीय प्रभावों से सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया जा रहा था। अत: आन्तरिक स्थिरता को अधिक महत्व देने के कारण विनिमय दर स्थिर न रह सकी और स्वर्ण-मान टूट गया।

(३) युद्ध क्षतिपूर्ति तथा अन्तराष्ट्रीय उत्तरदायित्व (War Reparations and Internatinal Obligations)—प्रथम महायुद्ध के बाद विजित देशों पर (विशेषकर जर्मनी पर) अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व व युद्ध क्षतिपूर्ति दायित्व हो गये। इसका भार स्वर्ण-मान पर पड़ा और वह इसको सहन न कर सका। जर्मनी को युद्ध के बाद बहुत सा धन क्षतिपूर्ति के रूप में फ्रांस व अमेरिका को देना था। जर्मनी यह युद्ध क्षतिपूर्ति वस्तुओं के रूप में देना चाहता था परन्तु फ्रांस और अमेरिका ने वस्तुओं में क्षतिपूर्ति को लेना स्वीकार न किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने उन देशों को क्षतिपूर्ति का भुगतान करने के लिये अधिक ऋण देना भी पसन्द न किया। उपरोक्त देश स्वर्ण के रूप में ही क्षतिपूर्ति माँगते थे। यही नहीं, लेनदार देशों ने वस्तुओं के आयात पर भारी कर लगा दिया। इसके फलस्वरूप जर्मनी अपनी वस्तुओं को बेचकर स्वर्ण प्राप्त नहीं कर सकता था परिणामस्वरूप संसार का सोना अमेरिका और फ्रांस में इकट्ठा हो गया। विशेष रूप से अमेरिका में, जहाँ संसार का लगभग ८०% सोना है। इसके अतिरिक्त संरक्षण करों के कारण इनका सोना बाहर नहीं जा सकता था। जो सोना दूसरे देशों में रह गया वह इतना नहीं था कि वह सफलतापूर्वक स्वर्ण-मान को स्थापित रख सकता।

(४) राजनीतिक अनिश्चितता के कारण बहुत से यूरोप के देशों ने अपनी पूँजी का कुछ भाग विदेशी बैंकों विशेषकर बैंक ऑफ इंगलैंड में जमा कर रक्खा था। लोगों का हर समय युद्ध, गृहयुद्ध तथा हड़तालों आदि का डर बना रहता था, इस कारण वह डर कर ऐसे देशों में अपना धन लगाते थे, जिनको वह आर्थिक दृष्टि से मजबूत समझते थे। इस पूँजी को किसी भी समय तनिक से भय के आभास-मात्र से निकाला जा सकता था। इसलिये इसको Hot Money कहते थे। इस Hot Money के आवागमन के कारण स्वर्ण-मान का रहना कठिन हो गया। जब युद्ध का भय हुआ तो फ्रांस के लोगों ने ब्रिटेन में अपनी पूँजी का भाग निकलवाना प्रारम्भ कर दिया। इसलिये इंगलैंड में सन् १९३१ में स्वर्ण-मान समाप्त हो गया क्योंकि इंगलैंड बड़ी मात्रा में अपने सोने के साधनों को देश से बाहर भेजने के लिये तैयार न था। अत: स्वर्ण-मान का कोष स्थगित कर दिया और स्वर्ण-मान समाप्त हो गया।

(५) लोचहीन आर्थिक ढांचा (Inelastic Economic Structure)—प्रथम महायुद्ध के बाद अधिकतर देशों का आर्थिक ढांचा लोचहीन हो गया जबकि स्वर्ण-मान के लिये लोचपूर्ण आर्थिक ढांचे की आवश्यकता है। लोचपूर्ण आर्थिक स्थिति में लागत तथा स्वर्ण गति से मूल्यों में परिवर्तन होना चाहिये। परन्तु दो महायुद्धों के बीच मूल्य व लागत में से किसी में भी लोचता नहीं रही। एकाधिकार व गुटबन्दी के कारण वस्तु के मूल्य निश्चित रूप से स्थिर हो चुके थे तथा ट्रेड यूनियन के शक्तिशाली हो जाने के कारण मजदूरी में भी किसी प्रकार की कमी नहीं हो सकती थी। अतः स्वर्ण गति के अनुसार मूल्यों में परिवर्तन न हो सका।

(६) यह मान केवल उसी समय क्रियाशील हो सकता है जब देश में आर्थिक सुव्यवस्था व शान्ति हो। संकट के समय यह मान सदैव असफल हो जाता है। युद्धोत्तर काल में आर्थिक स्थिति स्थिर न रह सकी और यह मान भी न चल सका।

इस प्रकार से प्रथम युद्ध काल के बाद स्थिति इस प्रकार की हो गई कि विभिन्न देशों के लिये स्वर्ण-मान पर रहना कठिन हो गया। अतः युद्धोत्तर काल में इसे बड़ा धक्का लगा धीरे-धीरे करके संसार के सब देशों ने स्वर्णमान को छोड़ दिया और इसका अन्त ही गया। अब इसका केवल सैद्धान्तिक महत्व ही रह गया है।

✶

Q. 48. Explain the functions of the gold standard. Is the managed paper currency an improvement over it ? If so, give reasons.
(Agra 1965)

एक धातुवाद में स्वर्णमान मौद्रिक मान का एक मुख्य रूप है जो प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक संसार के लगभग सभी देशों में प्रचलित था। युद्ध के पश्चात् इंगलैंड ने इसको पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया जिसमें वह सफल नहीं हो सका। इस मान की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें सोना मूल्य का प्रमाप होता है। प्रमाणिक मुद्रा का मूल्य प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सोने की धातु या सिक्के के मूल्य से सम्बद्ध रखा जाता है। साधारण स्थिति में सोने के सिक्के ही चलन में रहते हैं और उनकी स्वतन्त्र ढलाई होती है तथा वे असीमित कानूनी ग्राह्य होते हैं। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि सोने के सिक्के ही चलन में हो। यदि सोने के सिक्के चलन में न हो तथा कागज के

रूपरेखा —
(१) स्वर्णमान की व्याख्या।
(२) स्वर्णमान के कार्य।
(१) मूल्य स्थिरता।
(२) विनिमय स्थिरता।
(३) प्रबंध-मान व स्वर्णमान की तुलना।

नोट या सांकेतिक सिक्के (Token Coins) चलन में हों और ये सोने की धातु या सोने के सिक्कों में परिवर्तनशील हो तो भी इस पद्धति को स्वर्णमान कहा जाता है। हेबरलर (Haberler) का कहना है कि स्वर्णमान का, "संकुचित अर्थ उस मौद्रिक प्रणाली से है जिसमें मान्य विशिष्टता के स्वर्ण सिक्के या स्वणं सर्टीफिकेट जिनके पीछे शत-प्रतिशत स्वर्ण रखा हो, चलन में हों। विस्तृत अर्थ में इसके अन्तर्गत वह दशायें भी आ जाती हैं जिनमें पत्र मुद्रा या रौप्य सिक्के कानूनन ग्राह्य हों परन्तु वह स्वर्ण-मान में एक निश्चित दर पर परिवर्तनीय हों। स्वर्ण के सिक्कों को गलाने की मनाही नहीं होनी चाहिये।"

उपरोक्त बातों को ध्यान में रखकर स्वर्णमान की परिभाषा संक्षेप में इस प्रकार की जा सकती है, "स्वर्णमान उस मौद्रिकमान को कहते हैं जिसमें देश की प्रमाणिक मुद्रा सोने के सिक्कों के रूप में हो या सोने में परिवर्त्य हो या जिसमें प्रमाणिक मुद्रा का विनिमय मूल्य सोने के आधार पर निर्धारित किया गया हो।"

स्वर्णमान के कार्य

(Functions of Gold Standard)

स्वर्णमान के कार्यक्षेत्र के दो रूप हैं। एक तो स्वर्णमान केवल एक ही देश के द्वारा अपनाया जाय तथा दूसरे देशों में यह प्रचलित न हो। इसको राष्ट्रीय स्वर्ण मान (National Gold Standard) कहते हैं। दूसरे, स्वर्णमान संसार के अन्य देशों के द्वारा भी अपनाया जाता है। इसको अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान कहते हैं। दोनों क्षेत्रों में स्वर्णमान के कार्य अलग-अलग होते हैं। प्रथम क्षेत्र में स्वर्णमान का कार्य आन्तरिक मूल्यों को स्थिर रखना होता है। दूसरे क्षेत्र में द्रव्य की इकाई के बाह्य मूल्य को स्थिर बनाये रखना इसका कार्य होता है। यहाँ दोनों कार्यों का वर्णन करना होगा :—

(१) मूल्य-स्तर में स्थिरता बनाये रखना
(Maintaining Price Stability)

आन्तरिक स्वर्णमान का महत्वपूर्ण कार्य मूल्य-स्तर में स्थिरता को बनाये रखना होता है। स्वर्णमान का यह कार्य इस मान्यता पर आधारित है कि संसार में स्वर्ण का उत्पादन लगभग स्थिर रहता है और इसमें अत्यधिक उच्चावचन नहीं होते। चलन में स्वर्ण के सिक्के प्रचलित होते हैं। यदि स्वर्ण के सिक्के नहीं होते तो कागज के नोट स्वर्ण धातु या स्वर्ण सिक्कों में परिवर्तनशील होते हैं। इस कारण देश में द्रव्य की मात्रा स्थिर रहती है क्योंकि यह स्वर्ण की मात्रा पर आधारित होती है जो कि स्थिर रहती है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि स्वर्णमान में मूल्यों में सदा ही स्थिरता रहती है। स्वर्णमान वाले देशों के सूचक अंक देखने से पता चलता है कि मूल्य-स्तरों में बहुत परिवर्तन हुए है। Federal Reserve Bank of New York के सूचक अंक

के अनुसार संयुक्त राज्य अमेरिका में सामान्य मूल्य-स्तर सन् १९१३ में १०० था जो सन् १९२० में बढ़ कर १९३ हो गया, सन् १९२२ में गिर कर १५८ हो गया तथा सन् १९२९ में बढ़कर १७६ हो गया। अतः यहाँ यह मतलब नहीं है कि स्वर्ण-मान में मूल्य पूर्णतया स्थिर रहते हैं बल्कि स्वर्णमान में मूल्य दूसरे मानों (Standards) की अपेक्षा अधिक स्थिर रहते हैं। कारण स्पष्ट है। मूल्य-स्तर द्रव्य-पूर्ति पर निर्भर करता है तथा स्वर्णमान में द्रव्य-पूर्ति स्थिर रहने के कारण मूल्य-स्तरों में भी स्थिरता आ जाती है।

विदेशी दरों में स्थिरता

(Stability in Exchange Rates)

अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से स्वर्णमान का महत्वपूर्ण कार्य विदेशी विनिमय दरों की स्थिरता को बनाये रखना है। स्वर्ण देशों की मुद्रा का आधार सोना होता है परन्तु इसको अलग-अलग नाम से पुकारते हैं जैसे इगलैंड में पाउन्ड, अमेरिका में डालर आदि। एक देश की मौद्रिक इकाई का मूल्य सोने की एक निश्चित मात्रा के मूल्य के बराबर होता है और देश की सरकार या केन्द्रीय बैंक असीमित मात्रा में स्वर्ण के क्रय-विक्रय का उत्तरदायित्व लेता है। इन दोनों बातों के कारण स्वर्णमान देशों की चलन इकाइयों के मध्य स्थायी विनिमय दर निश्चित हो जाती है। उदाहरण के लिये स्वर्णमान टूटने से पहले इगलैंड का पाउन्ड ११३·००१५ ग्रेन शुद्ध सोने के बराबर था और अमेरिका का डालर २३·२२ ग्रेन सोने के बराबर था। इस प्रकार पाउन्ड व डालर के मध्यवही अनुपात होगा जो ११३·००१५ ग्रेन तथा २३·२२ ग्रेन शुद्ध स्वर्ण के मध्य है, अर्थात् एक पाउन्ड का मूल्य ४·८६६५ डालर होगा।

इस मूल्य में घट-बढ़ अधिक काल तक उतने से अधिक नहीं हो सकती जितनी इंगलैंड से अमेरिका को सोना लाने ले जाने में व्यय करना पड़ेगा। यदि दर इससे ऊँची नीची होने लगेगी तो लन्दन से पाउन्ड न्यूयार्क को जाकर डालर में बदला जाने लगेगा या न्यूयार्क से डालर लन्दन जाकर पाउन्ड में बदला जाने लगेगा।

इस प्रकार इस मान में विनिमय दर में परिवर्तन बहुत कम होते हैं और यदि होते भी हैं तो स्वर्ण आयात तथा निर्यात बिन्दुओं के भीतर ही। दीर्घकाल में वह भी ठीक हो जाता है।

["प्रचलित मान से स्वर्णमान किस प्रकार अच्छा है ?" इस सम्बन्ध में प्रश्न ४१ के उत्तर को देखो।]

☆

Q. 49. Compare briefly the main featurs of the International Monetary Fund with those of the International Gold Standerd.

(Vikram 1962)

Q. 50. What is the present position of gold in the monetary system of the world ? Would you favour a return to the gold standard as it prevailed during the early part of the present century ?

(Raj. 1953)

Q. 51. 'The International Monetary Fund involves a return to the gold standard in a modified form.' Discuss this statement critically. **(Agra 1964)**

संसार के विभिन्न देशों में वहुत समय तक अपने मौद्रिक मान को स्वर्ण पर आधारित करने का फैशन रहा। परन्तु वदलते हुए समय और वढ़ती हुई चलन की आवश्यकताओं के कारण स्वर्णमान का महत्व कम होता गया। प्रथम महायुद्ध काल में यह मान कार्य न कर सका। इस महायुद्ध के पश्चात् इसको पुनर्स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। संसार के महत्वपूर्ण देश इसको पुनर्स्थापित करने में सफल भी हो गये परन्तु अधिक समय तक वे स्वर्णमान को नहीं चला सके। सन् १९२९ से स्वर्णमान का पतन आरम्भ हो गया और सन् १९३९ तक संसार के सब देशों ने इसका त्याग कर दिया।

स्वर्णमान के समाप्त होने के पश्चात् विभिन्न देशों की सरकारों के सामने यह समस्या आई कि किस वस्तु को मौद्रिक मान का आधार वनाया जाय। साथ ही विभिन्न देश स्वर्ण के साथ अपनी मुद्रा का सम्वन्ध समाप्त करना नहीं चाहते थे। इसलिये सन् १९४४ में ब्रेटनवुड्स मे एक (Brattenwoods) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन (International Monetary Conference) हुआ जिसमें ४४ देशों ने भाग लिया। इस सम्मेलन ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) स्थापित करने का सुझाव दिया। इस कोष के स्थापित हो जाने से स्वर्णमान के समस्त लाभ प्राप्त होने की सम्भावना थी जबकि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के कारण स्वर्णमान के दोष नहीं रहते।

इस कोष के समस्त देशों को अपनी मुद्रा का मूल्य स्वर्ण की शुद्ध मात्रा या अमेरिकन डालर (जिसका मूल्य स्वर्ण की निश्चित मात्रा में था) में निर्धारित करना था। इसके साथ ही प्रत्येक देश का कोटा निश्चित कर दिया गया। इन कोटे का २५ प्रतिशत या अपने स्वर्ण कोष का १० प्रतिशत (दोनों में जो भी कम हो) स्वर्ण में जमा करना था। यदि कोष के पास किसी मुद्रा की कमी हो जाती तो कोष उस मुद्रा को दुर्लभ मुद्रा (Hard Currency) घोषित करके उसे स्वर्ण से खरीद सकता था। इसी प्रकार यदि किसी देश की मुद्रा उसके कोटे से अधिक हो जाती है तो उसे उस मात्रा को सोने से खरीदना होता है। इस कोष ने स्वर्ण का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य ३५ डालर प्रति विशुद्ध (Pure gold) औंस तय कर दिया। विभिन्न देशों के मध्य इसी दर पर स्वर्ण का क्रय-विक्रय होना था।

कुछ व्यक्तियों का विचार है कि इस प्रणाली द्वारा स्वर्णमान फिर से स्थापित हो गया क्योंकि प्रत्येक देश की मुद्रा का मूल्य स्वर्ण पर आधारित

हो गया। इसके अतिरिक्त प्रत्येक देश को एक निश्चित विनिमय दर को स्थिर रखना था। यद्यपि प्रत्येक देश इस दर में मामूली परिवर्तन कर सकता था परन्तु अधिक परिवर्तन करने के लिये कोष की आज्ञा लेनी होती थी।

कुछ दशाओं मे स्वर्णमान का यह रूप पुराने स्वर्णमान से अच्छा था। एक तो स्वर्ण कोषों का अन्तर्राष्ट्रीयकरण हो गया। प्रत्येक देश के लिये अलग-अलग स्वर्ण कोषो का रखना आवश्यक नहीं रहा। इसलिये निर्धन देश भी स्वर्णमान के लाभों को प्राप्त कर सकते थे। दूसरे, इस पद्धति को अपना लेने से वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की स्थापना हो गई। तीसरे, स्वर्ण निर्यात वाला देश स्वर्ण को वापिस प्राप्त कर सकता था।

स्वर्णमान का यह रूप स्वर्णमान के पुराने रूप से कई बातो मे भिन्न है। एक तो पुराने स्वर्णमान मे स्वर्ण आन्तरिक मुद्रा की मात्रा का आधार होता था। कोई भी देश स्वर्णकोषो की मात्रा मे वृद्धि किये बिना अपनी मुद्रा की मात्रा में वृद्धि नहीं कर सकता था। परन्तु इस व्यवस्था मे देश अपनी मुद्रा की मात्रा का सम्बन्ध स्वर्ण की मात्रा से नही रखता। दूसरे, पुराने स्वर्णमान में विनिमय दर पूर्ण रूप मे स्थिर होती थी। वर्तमान रूप मे यह परिवर्तनशील है। तीसरे, पुराना स्वर्णमान दृढ था जिसमे देश स्वतन्त्र मुद्रा नीति को नही अपना सकता था। इस मान में प्रत्येक देश स्वतन्त्र मुद्रा नीति को अपना कर मूल्यों को स्थिर रख सकता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पुराने स्वर्णमान के समाप्त हो जाने के पश्चात् भी मौद्रिक व्यवस्थाओं मे स्वर्ण का महत्व समाप्त नही हुआ है। आगे आने वाले समय मे भी स्वर्ण का निश्चित स्थान अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो मे रहेगा। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना मे इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है।

पुराने स्वर्णमान की स्थापना
(Establishment of Old Gold Standard)

एक प्रश्न बार-बार उठाया जाता है कि क्या भविष्य में पुराने स्वर्णमान को स्थापित करना सम्भव होगा। इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते कि भविष्य की मौद्रिक व्यवस्था में पुराने स्वर्णमान का कोई स्थान नहीं होगा। इसके कई कारण हैं। एक तो, अन्तर युद्ध काल (Inter-War period) मे यह स्पष्ट हो गया है कि बदली हुई वर्तमान अवस्था मे पुराने स्वर्ण का कार्य करना लगभग असम्भव है क्योंकि मौद्रिक व्यवस्थाओ मे मौलिक (Fundamental) परिवर्तन आ गया है। दूसरे, पुराने स्वर्णमान की सफलता के लिये स्वतन्त्र व्यापार का अपनाना अत्यन्त आवश्यक है। नियंत्रित व्यापार (Restricted Trade) में स्वर्णमान किसी भी प्रकार से कार्य नही कर सकता। इस समय संसार के लगभग सभी देश नियंत्रित व्यापार की नीति को अपनाये हुये हैं। पिछड़े व अविकसित देशों के लिये तो स्वतन्त्र व्यापार सम्भव है ही

नहीं। विकसित देश भी जैसे इंगलैंड जो पहले स्वतन्त्र व्यापार के पक्षपाती थे अब नियंत्रित व्यापार की नीति में विश्वास करने लगे हैं।

तीसरे, स्वर्णमान की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि स्वर्ण कोषों का वितरण सब देशों में लगभग समान हो जिससे विभिन्न देशों के मूल्य-स्तरों में भिन्नता न हो। परन्तु आज संसार का आधे से अधिक स्वर्ण अमेरिका के पास है। इस अवस्था में संसार के अन्य देश स्वर्णमान पर वापस नहीं आ सकते।

चौथे, आज की मौद्रिक व्यवस्था में पूर्ण रोजगार व स्थिर मूल्यों को विनिमय स्थिरता (Exchange Stability) से अधिक महत्व दिया जाता है। विशुद्ध स्वर्णमान (Pure Gold Standard) में विनिमय स्थिरता को अधिक महत्व दिया जाता है। जिसके कारण कोई देश आर्थिक व मौद्रिक नीति का पालन नहीं कर सकता। परन्तु आज प्रत्येक देश स्वतन्त्र नीति अपनाना चाहता है।

पांचवे, विशुद्ध स्वर्णमान में अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों का भार कम होना चाहिये और अधिकतर ऋण अल्पकालीन होने चाहियें। परन्तु आजकल अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों का भार वहुत अधिक है। इसके अतिरिक्त अधिकतर ऋण दीर्घकालीन हैं क्योंकि ये ऋण विकसित देशों द्वारा अविकसित देशों को दिये जाते हैं। इस दशा में पुराना स्वर्णमान कार्यशील नहीं हो सकता।

छटे, आज का आर्थिक ढांचा लोचपूर्ण नहीं है वल्कि दृढ़ है। पुराने स्वर्णमान के लिये आर्थिक व्यवस्था का लोचपूर्ण होना अत्यन्त आवश्यक है।

अन्त में, आज के युग में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की कमी है। प्रत्येक देश अपनी आवश्यकता को प्राथमिकता देता है। पुराने स्वर्णमान में अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व व्यापारिक सहयोग की आवश्यकता अत्यन्त आवश्यक है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पुराने स्वर्णमान को, जो कि इस शताब्दी के प्रारम्भ में प्रचलन में था, अपनाना असम्भव है। आधुनिक मौद्रिक विशेषज्ञों कीन्स और गुस्टव आदि का भी यह विचार था कि स्वर्ण के मूल्य में अस्थिरता के कारण इसका मौद्रिक क्षेत्र में कोई महत्व नहीं रहा है। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना के बाद से पुराने स्वर्णमान की आवश्यकता ही नहीं रही है।

Q. 52. "Under the gold standard of the strategic variable is the domestic cost price structure and under variable rates it is the rate of exchange, but with the system of managed flexibility (assured under the I. M. F.) both the domestic incomes and the exchange rates are to ramain stable." Comment. **[Agra 1959]**

स्वर्णमान में देश की मुद्रा की इकाई के मूल्य को स्वर्ण की निश्चित मात्रा में निर्धारित कर दी जाती है। इससे स्वर्णमान वाले देशों की मुद्राओं के मूल्य स्थिर

रहते है और उनके बीच की विनिमय दर भी स्थिर रहती है। इसका यह अर्थ नही है कि स्वर्णमान वाले देशो की विनिमय दरो मे परिवर्तन नहीं होते। परिवर्तन होते तो अवश्य है परन्तु ये परिवर्तन निर्धारित सीमाओं के अन्दर होते है। ये सीमायें स्वर्ण बिन्दु कहलाते है। जब भी देश के लागत ढाचे (Cost structure) मे असन्तुलन होता है तो स्वर्ण धातु के आवागमन से सन्तुलन स्थापित हो जाता है जिस देश से स्वर्ण का निर्यात होता है उस देश मे लागत-मूल्य-ढांचे (Cost-price-structure) की प्रकृति नीचे की ओर गिरने की होती है। इस देश मे लागत-मूल्य ढांचे का समायोजन निचले स्तर पर ही होता है। दूसरी ओर स्वर्ण आयात करने वाले देश मे लागत-मूल्य-ढांचे की प्रवृत्ति नीचे की ओर गिरने की होती है और इसी स्तर पर समायोजन होता है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्वर्णमान वाले देशो मे विनिमय दरो में परिवर्तन हमेशा स्वर्ण बिन्दुओं द्वारा निर्धारित सीमाओ के भीतर ही होते हैं। इसको एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। यदि एक देश मे एक निश्चित विनिमय दर पर भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल हो जाता है तो विनिमय दर तो स्थायी रहता है क्योंकि यह स्वर्ण के टकसाली मूल्य पर आधारित है। परन्तु इस प्रतिकूलता का प्रभाव स्वर्ण के आयात-निर्यात पर पडेगा। इस देश मे स्वर्ण का निर्यात दूसरे देश को होने लगेगा। स्वर्ण की मात्रा कम होने के कारण मुद्रा की मात्रा कम हो जायगी और मूल्य-स्तर प्रभावित होगा। इसके दूसरी ओर, दूसरे देश में स्वर्ण के आयातो के कारण स्वर्ण की मात्रा मे वृद्धि हो जायगी। मुद्रा की मात्रा भी बढ़ेगी और मूल्य-स्तर भी। इस प्रकार स्वर्ण आवागमन के कारण पहले देश मे मूल्य गिरेंगे और दूसरे मे बढ़ेंगे। पहले देश के निर्यात बढ़ जायेंगे और दूसरे देश के आयात।

दोनो देशों के आयात-निर्यातो पर, स्वर्ण आवागमन के अतिरिक्त, व्यक्तियो की मांग, का भी प्रभाव पडता है। पहले देश मे स्वर्ण निर्यातो के कारण मुद्रा सकुचन (deflation) की स्थिति आ जाती है जिसका प्रभाव व्यक्तियों की आय पर पड़ता है। लोगों की आय कम हो जाती है। आय कम होने से लोगों की क्रय-शक्ति घट जाती है और उनकी घरेलू व विदेशी वस्तुओ की मांग कम हो जाती है। देश मे आयात के लिये मांग कम हो जाती है। प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन अनुकुल बनने लगता है। दूसरे देश मे स्वर्ण आयातो के कारण मुद्रा-प्रसार (Inflation) होने लगता है और व्यक्तियों की आय बढ़ने लगती है। वे अधिक वस्तुओ की मांग करने लगते हैं और इस देश के आयात बढने लगते हैं। अनुकूल भुगतान-सन्तुलन प्रतिकूल बनने लगता है।

इस प्रकार स्वर्णमान देशो में स्वर्ण का आवागमन तब तक चलता रहता है जब तक आयात-निर्यात में सन्तुलन स्थापित नहीं हो जाता। अतः स्वर्णमान में आन्तरिक मूल्य-लागत-ढाचा (Internal price-cost-structure) एक महत्वपूर्ण घटक है जिसमें परिवर्तन होता रहता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य देशों ने अपनी अर्थव्यवस्थाओं में एक नई प्रकार की व्यवस्था की स्थापना की जिससे स्थिर व परिवर्तनशील दोनो विनिमय दरों के लाभों को प्राप्त किया जा सके। इस कोष के सदस्य-देशों ने अपनी मुद्रा का मूल्य शुद्ध स्वर्ण की मात्रा मे घोषित किया, परन्तु वह देश स्वर्ण के आयात निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाने के लिये स्वतन्त्र था और उसके लिये यह आवश्यक नही था कि वह अपनी मुद्रा के बदले मे स्वर्ण दें। ये देश अपनी विनिमय दर मे बिना कोष की आज्ञा के परिवर्तन नहीं कर सकते थे। साथ ही परिवर्तन करने के सम्बन्ध मे कुछ नियम थे और आवश्यकता पड़ने पर कोई देश अपनी मुद्रा के विदेशी मूल्य मे परिवर्तन कर सकता था।

इस प्रकार नई व्यवस्था मे स्वर्णमान व प्रबन्धित मुद्रा मान, लचकीले विनिमय दर और स्थिर विनिमय दर का समन्वय कर दिया।

Q. 53. "The gold standard limits the freedom of national monetary policies but it safeguards any nation against the excessive instability of which badly mismanaged inconvertible currencies have proved themselves capable." Crowther. Explain.

[Vikram 1961, Agra 1957, 1954]

प्रश्न के उत्तर के लिए प्रश्न ४५ को देखें।

Q. 54. 'A country which stays on the gold standard thereby gives up the privilege of following whatever monetary policy it likes.' Discuss and point out the causes which led to the breakdown of the gold standard after 1929. [Agra 1960]

प्रश्न के उत्तर के लिये प्रश्न ४५ को देखें।

Q. 55. "The domestic gold standard does not stabilise the volume of currency but forces it to fluctuate. It merely stablishes the relation between the volume of gold and the volume of currency" How far does the world's monetary history during the last hundred years confirm this view? Explain clearly. (Agra 1959)

विभिन्न समय मे विभिन्न प्रकार की वस्तुओ ने द्रव्य का कार्य किया है। प्रारम्भ मे वस्तुयें द्रव्य का कार्य करती थी, बाद में धातु विशेषकर सोना और चांदी ने बहुत समय तक द्रव्य का कार्य किया और आधुनिक काल मे कागज के नोट द्रव्य का कार्य करते है। मौद्रिक इतिहास मे सोने ने बहुत समय तक द्रव्य का कार्य किया और अब भी इसको बहुत कुछ महत्व प्रदान किया जाता है परन्तु अब इसका स्थान

लगती हैं। परिणामस्वरूप स्वर्ण दूसरे देशों से आने लगता है। स्वर्ण की मात्रा बढ़ जाने से देश में द्रव्य का परिमाण बढ़ जाता है। इसके फलस्वरूप वस्तुओं का मूल्य बढ़ने लगेगा। मूल्यों के बढ़ने से रहन-सहन की लागत में वृद्धि हो जायगी और मजदूर अधिक मजदूरी की मांग करने लगेंगे जिससे मूल्य और बढ़ेंगे। ऊँचे मूल्य होने के कारण सस्ते मूल्य वाले देश इस देश में अपना सामान भेजना प्रारम्भ कर देंगे। इस देश के निर्यात कम हो जांयेंगे। इससे स्वर्ण का निर्यात होने लगेगा जिससे द्रव्य की मात्रा में कमी करनी पड़ेगी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आन्तरिक स्वर्णमान चलन की मात्रा को स्थायित्व प्रदान नहीं करता। यह केवल स्वर्ण की मात्रा और चलन की मात्रा के बीच के सम्बन्ध का नियमन करता है। इस कारण स्वर्णमान वाले देश में मूल्य-स्तर स्थिर नहीं रहता बल्कि परिवर्तित होता रहता है।

इस तथ्य को १९ वीं शताब्दी के मौद्रिक इतिहास से स्पष्ट किया जा सकता है। सन् १८२० और १८५० के मध्य स्वर्ण के उत्पादन में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई। परिणामस्वरूप चलन की मात्रा स्थिर रही जबकि उत्पादन में वृद्धि हुई। और वस्तुओं के मूल्य गिरने लगे। सन् १८५० के बाद कैलीफोर्निया और आस्ट्रेलिया में सोने की खानों का पता चलने के कारण स्वर्ण-उत्पादन में वृद्धि हो गई और चलन की मात्रा भी बढ़ गई। इससे मूल्य बढ़ने लगे। सन् १८७३ के बाद से फिर स्वर्ण की मात्रा में कमी आने के कारण चलन की मात्रा कम हो गई और मूल्य गिरने लगे। सन् १८९३ के बाद दक्षिणी अफ्रीका में खानों का पता लगने के कारण मुद्रा की मात्रा व मूल्यों में फिर वृद्धि हो गई।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आन्तरिक स्वर्णमान चलन की मात्रा को स्थायी नहीं बनाता बल्कि उसमें परिवर्तन करता रहता है क्योंकि चलन की मात्रा का सम्बन्ध स्वर्ण की मात्रा में स्थापित हो जाता है। स्वर्ण की मात्रा में परिवर्तन होने पर चलन की मात्रा में भी परिवर्तन होते हैं। अतः स्वर्णमान में केवल स्वर्ण की मात्रा और चलन की मात्रा में ही सम्बन्ध स्थापित होता है।

Q. 56. Write a short note on different methods of note Issue.

नोट निर्गमन के विभिन्न तरीके
(Different Methods of Note Issue)

लम्बा है और नोट निर्गमन के सिद्धान्तों व तरीकों में समय-समय पर प्रचलित विचारधारा के अनुसार परिवर्तन होता रहा है। नोट निर्गमन के सम्बन्ध में दो सिद्धान्त अधिक प्रचलित रहे हैं—एक चलन सिद्धान्त (Currency principle) तथा दूसरा बैंकिंग सिद्धान्त (Banking principle)। नोट निर्गमन के विभिन्न तरीकों का अध्ययन करने से पहले इन दोनों सिद्धान्तों पर विचार करना अधिक अच्छा होगा क्योंकि नोट निर्गमन के तरीके इन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित हैं।

रूपरेखा

(१) नोट निर्गमन के दो सिद्धान्त—
- (a) चलन सिद्धान्त;
- (b) बैंकिंग सिद्धान्त।

(२) नोट निर्गमन के तरीके —
- (a) निश्चित विश्वसनीय रीति;
- (b) अधिकतम विश्वसनीय चलन रीति,
- (c) आनुपातिक निधि पद्धति;
- (d) आंशिक अनुपात निधि पद्धति,
- (e) न्यूनतम निधि पद्धति;
- (f) कोषागार विपत्र निधि,
- (g) साधारण निधि पद्धति।

चलन सिद्धान्त
(Currency Principle)

चलन सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि नोटों के प्रयोग का उद्देश्य बहुमूल्य धातुओं के उपयोग को कम करना तथा मुद्रा के हस्तांतरण को सुविधाजनक बनाना है। इसलिये इस सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा अधिकारी को अपने पास नोटों के बराबर धातु कोष रखना चाहिये। इस प्रकार देश में नोटों की मात्रा देश के धातु कोषों से निर्धारित होनी चाहिये।

इस सिद्धान्त में सुरक्षा और जनता के विश्वास को सबसे अधिक महत्व दिया जाता है। नोटों के अधिक निर्गमन की सम्भावना न रहने के कारण मुद्रा-प्रणाली सुरक्षित रहती है और जनता का पूर्ण विश्वास बना रहता है। परन्तु इस सिद्धान्त में साख की उपयोगिता पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता और पत्र मुद्रा का कोई लाभ प्राप्त नहीं होता। सबसे बड़ी कमी तो इस प्रणाली में यह है कि मुद्रा प्रणाली बेलोचदार (Inelastic) हो जाती है और देश की आवश्यकता के अनुसार मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन नहीं किये जाते। मुद्रा प्रणाली में लोच के न होने से व्यापार और उद्योग के विकास में बहुत बाधा पड़ती है। इसके अतिरिक्त यह प्रणाली अमितव्ययी भी है क्योंकि सोने और चाँदी के कोष सरकार के पास बेकार पड़े रहते हैं, उनका कोई उपयोग नहीं हो पाता।

बैंकिंग सिद्धान्त
(Banking Principle)

चलन सिद्धान्त के दोषों को दूर करने के लिये बैंकिंग सिद्धान्त का विकास हुआ। यह सिद्धांत इस बात पर जोर देता है कि देश की मुद्रा-प्रणाली में लोच होनी

चाहिये और मुद्रा की मात्रा में देश की आवश्यकतानुसार परिवर्तन होना चाहिये। इस कारण इस सिद्धांत को नोट निर्गमन का लोच सिद्धांत (Elasticity Principle of Note Issue) भी कहते हैं।

इस सिद्धांत के अनुसार मुद्रा अधिकारी कुल चलन का कुछ भाग सोने चाँदी के रूप में रखता है और शेष नोट बिना धातु कोष के निर्गम करता है। इस प्रकार बैंकों को स्वतन्त्रता रहती है कि वे देश की आवश्यकतानुसार बिना शत-प्रतिशत कोषों को रखे नोट का निर्गमन करते रहे।

इस सिद्धांत का प्रमुख लाभ यह है कि मुद्रा-प्रणाली लोचपूर्ण रहती है। मुद्रा-अधिकारी औद्योगिक तथा व्यावसायिक आवश्यकताओं के अनुसार मुद्रा की मात्रा को घटाता बढ़ाता रहता है। दूसरे, इस सिद्धांत के आधार पर नोट-निर्गमन करने से बहुमूल्य धातुओं के उपयोग में बचत हो जाती है। परन्तु इस सिद्धांत में नोटों के अति-निर्गमन का भय रहता है। इसलिये सुरक्षा कम रहती है और जनता का विश्वास भी टूट जाने का डर बना रहगा है।

आधुनिक युग में चलन-सिद्धांत का कोई महत्व नहीं है क्योंकि किसी भी देश के पास सोने और चाँदी के इतने अधिक कोष नहीं हैं कि वे उसके आधार पर नोटों का निर्गमन कर सके। आज प्रत्येक देश में कोषों की लोच को प्रधानता दी जाती है और आधुनिक विचारधारा तो यह है कि नोटों के लिये किसी भी धातु के कोष की आड़ की आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त नोट निर्गमन व मुद्रा नीति पर सरकार का बहुत अधिक नियन्त्रण रहता है जिसके कारण मुद्रा अधिकारी को मनमाना करने का अवसर नहीं मिलता। अतः संसार के सब देशों ने बैंकिंग सिद्धांत पर आधारित एक संकुचित व नियन्त्रित पत्र-मुद्रा प्रणाली को अपनाया है।

नोट निर्गमन के तरीके

(Methods of Note Issue)

नोट निर्गमन के सिद्धांतों के आधार पर विभिन्न देशों ने नोट निर्गमन के विभिन्न तरीकों को अपनाया है। यहाँ पर उनका अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है :—

(१) **निश्चित विश्वसनीय रीति** (Fixed Fiduciary System) – यह रीति इंगलैण्ड में प्रचलित हैं जिसको उसने सन् १८४४ के बैंक चार्टर एक्ट (Bank Charter Act, के अनुसार अपनाया है। इंगलैण्ड के अतिरिक्त जापान, फिनलैण्ड, इटली और नार्वे ने भी कुछ संशोधन के बाद इसे अपनाया था। भारत में भी सन् १८८ और सन् १९२० के बीच यह प्रणाली प्रचलित रही।

रीति का आधार चलन सिद्धान्त है। मुद्रा अधिकारी को यह अधिकार है कि एक सीमा तक बिना किसी प्रकार के धातु के कोष रखे नोटों

की जाती है उसके पीछे शत-प्रतिशत का धात्विक कोष रखा जाता है। जो मुद्रा बिना किसी धातु कोष की आड़ के निर्गमित की जाती है उसे विश्वसनीय निर्गम (Fiduciary issue) कहते हैं और उसके पीछे सरकारी प्रतिभूतियों की आड़ रखी जाती है। देश की आवश्यकता के अनुसार विश्वसनीय निर्गम की मात्रा में परिवर्तन किया जा सकता है। इंगलैंड मे सन् १८४४ में यह मात्रा १४० लाख पौण्ड थी, परन्तु स्वर्ण कोषों की कमी और मुद्रा विस्तार की आवश्यकता के कारण सन् १६२८ में इसे बढ़ा कर २६ करोड़ पौण्ड कर दिया गया। सन् १६३६ में यह सीमा ३,००० लाख पौण्ड कर दी गई थी। सन् १६४६ मे यह १४,५०० लाख पौण्ड थी, परन्तु जनवरी सन् १६५० मे यह केवल १३,००० लाख पौण्ड रह गई थी।

भारत में प्रारम्भ मे केवल ४ करोड़ रुपये की अरक्षित मात्रा रखी गई थी जिसको बढ़ा कर २६ करोड़ रुपये कर दिया गया था। भारत मे द्रव्य की मांग मे समय-समय पर अधिक परिवर्तन होने के कारण इस रीति को चालू न रखा जा सका और सन् १६२० में इसे छोड़ दिया गया।

अधिकतम विश्वसनीय चलन रीति (Maximum Fiduciary System)—यह रीति निश्चित विश्वसनीय रीति की ही परिवर्तित है। इस रीति मे सरकार कानून द्वारा पत्र मुद्रा को अधिकतम मात्रा निश्चित कर देती है और देश का मुद्रा अधिकारी इस सीमा तक ही नोटों का चलन कर सकता है, परन्तु इस निश्चित सीमा से आगे मुद्रा अधिकारी एक भी नोट नही छाप सकता चाहे उसके पास शत-प्रतिशत से अधिक के भी धातु कोष हों। नोटों के बदले मे कितने धातु कोष रखे जायेंगे, यह मुद्रा अधिकारी स्वयं निश्चित कर लेता है। वह अपने अनुभव और इच्छा से आवश्यकतानुसार कोष रखता है और समय पड़ने पर वह बिना कोष के भी नोट छाप सकता है।

इस रीति मे नोट चलन की अधिकतम सीमा निर्धारित करते समय बहुत सावधानी रखी जाती है और यह सीमा इतनी रक्खी जाती है कि देश की चलन सम्बन्धी साधारण आवश्यकतायें बिना किसी कठिनाई के पूरी हो जाय। देश की आवश्यकतानुसार समय-समय पर इस मात्रा को बढ़ाया जा सकता है।

यह रीति सन् १८७० से सन् १६२८ तक फ्रांस में प्रचलित रही और वहां पर नोट निर्गमन की अधिकतम सीमा ५,८४,३१० लाख फ्रैंक थी। इंगलैण्ड में भी मैकमिलन समिति (Macmillan Committee) ने इसी को अपनाने का सुझाव दिया था।

इस रीति का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसमें मितव्ययिता है क्योंकि स्वर्ण को अनावश्यक रूप से कोषागार में बन्द करके रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

दूसरे इसमें लोच है क्योंकि सरकार सोच समझकर देश की व्यापारिक व औद्योगिक आवश्यकताओं को देखकर नोट निर्गमन की अधिकतम सीमा निर्धारित करती है। अन्त में, यह रीति सुरक्षा की दृष्टि से भी अच्छी है क्योंकि इसमें अधिक निर्गमन का डर नहीं रहता। इसलिए जनता का विश्वास भी बना रहता है।

इस रीति के कुछ दोष भी हैं। एक तो यह रीति व्यवहार में या तो बहुत अधिक दृढ़ (rigid) हो जाती है या बहुत अधिक लोचपूर्ण। यदि सरकार देश की आवश्यकताओं के अनुसार अधिकतम सीमा में वृद्धि नहीं करती तो यह रीति दृढ़ हो जाती है और अगर बार-बार परिवर्तन करती है तो यह बहुत अधिक लचकीली हो जाती है। दूसरे, सरकार इसका दुरुपयोग भी कर सकती है। वह अपनी आय बढ़ाने के लिये समय-समय पर अधिकतम सीमा में वृद्धि करती रहती है और इससे मुद्रा-स्फीति का डर हो जाता है।

आनुपातिक निधि पद्धति

(The Proportional Reserve System)

नोट प्रचलन की यह पद्धति बैंकिंग सिद्धान्त पर आधारित है। बैंक के पास जो रुपया जमा होता है उसका कुछ भाग वह नगद में रखकर बाकी उधार दे देता है। इसी प्रकार केन्द्रीय बैंक नोटों के एक न्यूनतम प्रतिशत भाग के बदले में स्वर्ण या रजत के कोष रखता है और शेष के पीछे सरकारी प्रतिभूतियाँ, स्वीकृत बिल (Approved Bills), विदेशी विनिमय, विदेशी प्रतिभूतियाँ या अन्य प्रकार के स्वीकृत विनियोगों या प्रमाण-पत्रों को रखता है। धातु के कोषों का प्रतिशत सामान्यतः ३० या ४० रखा जाता है। संकट या आवश्यकता के समय केन्द्रीय बैंक कुछ समय के लिये रक्षित कोष न्यूनतम दर से भी कम कर सकता है। परन्तु उस समय उसे एक प्रकार का कर देना पड़ता है जो दर की कमी तथा अवधि के अनुसार बढ़ता जाता है।

इस रीति को सबसे पहले अमेरिका ने अपनाया था। प्रथम महायुद्ध के बाद यह और भी प्रचलित हो गया। फ्रांस ने सन् १९२८ में और बाद में जर्मन ने भी इसको अपना लिया। हिल्टन यंग आयोग की सिफारिशों के आधार पर भारत सरकार ने सन् १९२७ में ग्रहण किया था और सन् १९३४ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में इसे स्थान दिया था। अब यह संसार के प्रमुख देशों में प्रचलित है।

इस प्रणाली का सबसे महत्वपूर्ण गुण इसकी लोचकता है। एक धातु द्रव्य प्राप्त होने पर नोटों को ढाई तीन गुना बढ़ाया जा सकता है और एक धातु द्रव्य कम होने पर इसी अनुपात में नोटों को कम किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त

आवश्यकता पड़ने पर स्वर्ण निधि का प्रतिशत घटाकर पत्र-मुद्रा का आवश्यक विस्तार किया जा सकता है।

इस प्रणाली के कुछ दोष भी हैं। एक तो, कीन्स के अनुसार, नोट निर्गमन करने वाले अधिकारी के पास सोना चांदी काफी मात्रा में बेकार पड़ा रहता है। दूसरे एक व्यवहारिक कठिनाई यह है कि परिवर्तनशीलता को बनाये रखना कठिन होता है। नोट को सिक्के में परिवर्तित करने पर सोने की मात्रा कानूनी अनुपात से कम रह जाती है। इसलिये अनुपात सम्बन्धी कानून को भंग किये बिना नोटों के बदले में सोना दे देना सम्भव नहीं होता। अन्त में, इस रीति में एक कमी यह है कि एक सोने का सिक्का कम होने पर तीन नोट उसी समय कम नहीं होते, वे चलते रहते हैं। बैंक के पास नोट आने पर ही वह उनको समाप्त कर सकता है। अतः हर समय रक्षित कोष की दर का पालन नहीं होता।

आंशिक अनुपात निधि-प्रणाली

(The Percentage Method)

यह प्रणाली अनुपातिक निधि पद्धति का ही एक संशोधित रूप है जिसमें कुल नोटों की मात्रा का एक निश्चित अनुपात स्वर्ण व रजत के कोषों, विदेशी मुद्रा, विदेशी प्रतिभूतियों, विनिमय बिल तथा अन्य अल्पकालीन विनियोगों में रखा जाता है। इस प्रणाली की विशेषता यह है कि सोने की निश्चित व न्यूनतम मात्रा निर्धारित कर दी जाती है और नोटों की प्रत्येक वृद्धि के साथ सोने की मात्रा को बढ़ाने की आवश्यकता नहीं होती। भारत में सन् १९५६ से पहले यही प्रणाली प्रचलित थी। रिजर्व बैंक के नोट प्रकाशन विभाग में नोटों की कुल मात्रा का कम से कम ४०% भाग धातु विधि, जिसमें सोने के सिक्के, सोना और स्टर्लिंग साख पत्र होते थे, के रूप में रखना पड़ता था। इस कोष में सोना हर समय कम से कम ४० करोड़ रुपये का होना चाहिए था। शेष ६०% अन्य प्रतिभूतियों व साख पत्र के रूप में रहता था।

इस प्रणाली में वे सब तो प्राप्त होते ही हैं जो अनुपातिक निधि पद्धति में प्राप्त होते हैं। साथ ही इसमें सोने की बचत भी हो जाती है और मुद्रा प्रणाली में लोच भी बनी रहती है। परन्तु अनुपातिक निधि पद्धति पर आधारित होने के कारण उसके दोष तो इसमें आ ही जाते हैं, साथ ही यह प्रणाली सुरक्षित भी नहीं है क्योंकि नोटों के सुरक्षित कोष का एक बड़ा भाग विदेशी साख-पत्रों में विनियोजित रहता है।

न्यूनतम निधि पद्धति

(Minimum Deposit System)

इस प्रणाली में धातु-कोष की निश्चित मात्रा निर्धारित कर दी जाती है और मुद्रा अधिकारी का कार्य निश्चित मूल्य की धातु विधि को अपने पास बनाये रखना

Selected Readings

(1) G. Crowther : An Outline of Money ch. IX

(2) R. P. Kent . Money and Banking chs. 2 and 3

(3) L. C. Chandler : Economics of Money and Banking ch. 4

(4) G. Halm : Monetary Theory. ch. 12

(5) Steiner and Shappiro : Money and Banking. ch. III

(6) R. G. Thomas : Our Modern Banking and Monetary System. ch. II

होता है। इसके पश्चात् उसको छूट होती है कि वह जितनी मात्रा में चाहे नोट छा भारत में सन् १९५६ के बाद से यही प्रणाली प्रचलित है। रिजर्व बैंक सन् १९५६ ११५ करोड़ रुपये का सोना और ४०० करोड़ रुपये की विदेशी प्रतिभूतियां चाहे जितने नोट छाप सकता था। सन् १९५७ में इसमें संशोधन कर विदे प्रतिभूतियों की मात्रा को ४०० करोड़ से घटा कर ८५ करोड़ रुपये कर दि गया है।

कोषागार-विपत्र निधि पद्धति
(Bonus Deposit System)

इस पद्धति में केन्द्रीय बैंक नोटों का निर्गमन करने के लिये किसी प्रकार धातु के कोष नहीं रखता। वह कोषागार-विपत्रों (Treasury Bills) तथा सरका प्रतिभूतियों के आधार पर ही नोटों का निर्गमन करता है।

भारतवर्ष ने इस प्रणाली को सन् १९०२ में अपनाया था सन् १९०५ विदेशी विनिमय संकट के कारण इसको छोड़ देना पड़ा। अमेरिका ने भी सन् १९१ में इस प्रणाली का उपयोग किया था परन्तु प्रणाली की अत्यधिक अस्थिरता औ लोचहीनता के कारण इसे छोड़ दिया।

इस प्रणाली का लाभ यह है कि चलनाधिक्य (Over Issue) का भय नहीं रहता क्योंकि केन्द्रीय बैंक बिना सरकारी प्रतिभूतियों को खरीदे नोटों का निर्गमन नहीं कर सकता। परन्तु इस प्रणाली में लोच की कमी है।

साधारण निधि प्रणाली
(Simple Deposit System)

इस प्रणाली में नोटों की कीमत के पीछे शत-प्रतिशत धातु, कोष रखने होते हैं। यह पूर्ण रूप से नोट निर्गमन के चलन सिद्धान्त पर आधारित है और इसलिये उसके सब गुण-दोष इसमें हैं।

निर्गमन की सबसे अच्छी पद्धति
(Best System of Note Issue)

यहां पर हमने नोट निर्गमन के विभिन्न तरीकों को देखा। यह कहना बहुत ही कठिन है कि इनमें से कौन सी प्रणाली सबसे अच्छी है? अलग-अलग देशों के लिये एक ही पद्धति ठीक नहीं हो सकती। साथ ही एक देश के लिये एक पद्धति भी हमेशा के लिये ठीक नहीं हो सकती। किसी समय कौन सी पद्धति अधिक अच्छी होगी यह बहुत सी बातों पर निर्भर है जैसे, देश में स्वर्ण-पूर्ति मुद्रा बाजार की दशा, व्यापारिक आवश्यकतायें, आदि आदि। परन्तु एक चलन पद्धति में लोचकता, मितव्ययता, परिवर्तनशीलता तथा चलना-धिक्य पर रोक, यह सब गुण अवश्य होने चाहियें।

Selected Readings

(1) G. Crowther : An Outline of Money ch. IX
(2) R. P. Kent : Money and Banking chs. 2 and 3
(3) L. C. Chandler : Economics of Money and Banking ch. 4
(4) G. Halm : Monetary Theory. ch. 12
(5) Steiner and Shappiro : Money and Banking. ch. III
(6) R. G. Thomas : Our Modern Banking and Monetary System. ch. II

४

व्यापार चक्र
(Trade Cycles)

Q. 57. "Whatever doubt there may be about the regularity of causation of the cycle, it is possible to describe five states or conditions of the economic system which, if put together in order, would constitute a standard cycle." —K. E. Boulding

Describe analytically the five phases of a trade cycle.

(Vikram 1962)

Q. 58. *What do you understand by 'trade cycle'? Trace the important phases of trade cycle, indicating the extent to which such phases are related to and susceptible to control by the credit machinery of a modern community.*

पिछले सैंकड़ों वर्षों में विभिन्न देशों ने अत्यधिक आर्थिक विकास किया है और प्रत्येक वस्तु के उत्पादन में आशातीत वृद्धि हुई है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आर्थिक उन्नति बाधारहित रही है, बल्कि समय-समय पर इसमें इस प्रकार के झटके आते रहते हैं जो आर्थिक विकास को कुछ समय के लिये बिल्कुल रोक देते हैं या यह कहना चाहिये आर्थिक विकास के स्थान पर आर्थिक अवनति होने लगती है। परन्तु यह अवस्था अधिक समय नहीं रहती और शीघ्र ही यह आर्थिक अवनति विकास में बदल जाती तथा यह विकास और भी तेजी से होने लगता है। आर्थिक विकास व अवनति उत्पादन, रोजगार, कीमतों व आयों (Incomes) पर निर्भर करती है। उत्पादन कम होने पर रोजगार भी गिरने लगता है तथा कीमतों व आयों में भी

१. व्यापार चक्र के विभिन्न रूप—
   (i) दीर्घकालीन चक्र;
   (ii) छोटे चक्र;
   (iii) बहुत छोटे चक्र।
२. व्यापार चक्र की परिभाषायें हाट्रे, कीन्स व मिचैल के द्वारा।
३. व्यापार चक्र की विशेषतायें:—
   (i) नियतकालिकत्व;
   (ii) सर्वव्यापकता;
   (iii) अन्तर्राष्ट्रीय;
   (iv) सब उद्योगों पर प्रभाव;
   (v) लहरदार चलनगति।
४. व्यापार चक्र की गति—
   (i) मन्दी काल;

गिरावट आ जाती है जिससे आर्थिक विकास रुक जाता है। विपरीत प्रभाव उत्पादन, रोजगार, कीमतों व आयों में वृद्धि का होना है। उत्पादन व मूल्यों में यह परिवर्तन किसी बेडंगे तरीके से नहीं होता बल्कि एक नियमित रूप से होता है। यदि हम किसी देश में उत्पादन व मूल्यों में परिवर्तनों का अध्ययन करें तो हम देखेंगे कि कुछ समय तक मूल्य बढ़ते हैं परन्तु फिर मूल्य गिरने लगते हैं और कुछ समय बाद मूल्य दोबारा बढ़ने लगते हैं। यह परिवर्तन नियमित समयान्तरों में होता है तथा इसी को व्यापार चक्र या व्यवसाय-चक्र (Trade Cycle or Business Cycle) कहते हैं।

(ii) पुनर्जीवन;
(iii) तेजी काल;
(iv) पूर्ण रोजगार;
(v) पुनर्पतन।

व्यापार-चक्र के विभिन्न रूप
(Different forms Trade Cycles)

व्यापार चक्र में जो मूल्यों व रोजगार में परिवर्तन होते हैं उनको तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है जो निम्न प्रकार से हैं :—

(१) दीर्घकालीन चक्र (The Long Cycle or the Kondratieff Cycle)–यह मूल्यों व उत्पादन में वह परिवर्तन है जो लगभग ५० से ६० वर्ष तक रहते हैं। कोनड्रेटिफ (Kondratieff) ने सांख्यकीक अध्ययन करके दो चक्रों के बारे में पूरा विवरण दिया है जो सन् १७८६ से सन् १८१४ तक तथा सन् १८१४ से सन् १८९६ तक रही। तीसरे चक्र के पहले आधे भाग (सन् १८९६ से सन् १९२० तक) का अध्ययन किया गया है। इन परिवर्तनों की नियमितता यह स्पष्ट करती है कि यह किन्हीं असंगत (Random) कारणों से नहीं हुये। शुमपीटर (Schumpeter) के अनुसार प्रथम चक्र का ऊर्ध्वमुखी क्रम (Upward movement) औद्योगिक क्रान्ति के कारण था, दूसरे चक्र में परिवर्तन का कारण भाप व इस्पात का उपयोग तथा तीसरे चक्र में परिवर्तन का कारण विद्युत शक्ति का अन्वेषण, रसायन-शास्त्र का विकास तथा यन्त्रों का अधिक उपयोग है।

(२) छोटे चक्र (Short Cycles or Jugler Cycles)—इन चक्रों का समय ६ वर्ष से १० वर्ष तक रहता है और जगलर (Jugler) वह व्यक्ति था जिसने इन चक्रों की ओर सबसे पहले ध्यान आकर्षित किया था। उसी के नाम पर इनको जगलर चक्र (Jugler Cycles) कहते हैं। यह चक्र अधिक नियमितता से आते रहते हैं और व्यापार चक्रों से सम्बन्धित अधिकतर सिद्धान्त इसी के सम्बन्ध में है।

(३) बहुत छोटे चक्र (Short Cycles or Kitchn Cycles)—इनकी अवधि बहुत ही कम होती है लगभग ४० माह। प्रायः प्रत्येक जगलर चक्र तीन बहुत छोटे चक्रों में विभाजित होती है।

व्यापार चक्र की परिभाषा
(Definition of Trade Cycle)

व्यापार-चक्र के सम्बन्ध में विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने परिभाषायें दी हैं जो इस प्रकार से है :

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री हाट्रे (Hawtrey) ने व्यापार-चक्र की परिभाषा करते हुये लिखा है कि "व्यापार-चक्र में अच्छे व्यापार व बुरे व्यापार के काल सम्मिलित है जो एक दूसरे के बाद आते रहते हैं। अच्छे व्यापार के काल की विशेषता यह है कि इसमें मूल्य बढ़ते हैं और बेरोजगारी की मात्रा कम होती है तथा बुरे व्यापार काल में मूल्य गिरते हैं तथा बेरोजगारी की मात्रा बढ़ती है।"[1]

कीन्स (Keynes) के अनुसार, "इन विशेष प्रकार के उच्चावचनों को व्यापार-चक्र का नाम इस कारण दिया जाता है क्योंकि इनकी एक अनोखी विशेषता यह है कि एक दिशा में अधिक गति केवल अपना ही उपचार प्रस्तुत नहीं करती बल्कि दूसरी दिशा में अधिक गति को भी प्रोत्साहित करती है।"[2]

मिचेल (Mitchell) के अनुसार, "व्यापार-चक्र संगठित समाज की आर्थिक क्रियाओं में होने वाली उच्चावचनों का ही एक प्रकार है। 'व्यापार' विशेषण इस धारणा को केवल उन क्रियाओं के परिवर्तनों तक सीमित कर देता है जो व्यापारिक पैमाने पर व्यवस्थित रूप से संचालित की जाती है। 'चक्र' संज्ञा उन उच्चावचनों को अलग कर देती है जो नियमितता के साथ बार-बार नहीं होते।"[3]

इस प्रकार से स्पष्ट है कि व्यापारिक क्रियाओं में तेजी व मन्दी की ढेकुल गति (See-saw movements) ही व्यापार-चक्र कहलाती है। संक्षेप में व्यापार-चक्र

---

1. "A trade cycle is composed of periods of good trade characterised by rising prises and low unemployment percentages, alternating with periods of bad trade characterised by falling prices and high unemployment percentage." R. G. Hawtrey. Trade and Credit, page 83.

2. "These special type of fluctuations are called business cycle because it is the peculiar characteristic of such fluctuations than an excess movement in one direction tends to bring into operation not only its own remedy but a stimulus to an excessm ovement in the other direction." Lord J. M. Keynes. Treatise on Money. Vol. I. page 268.

3. "Business cycles are fluctuations in the economic activities of organised communities. The adjective 'business' restricts the concept to fiuctuations in activities which are systematically conducted on a commercial basis. The noun 'Cycle' bars out fluctuations which do not recur with a measure of regularity. W: C. Mitchell, Business Cycles, Vol. I page 468.

उन अनुरूप उच्चावचनों (Rhythmic fluctuations) को कहा जा सकता है जो लगभग नियमित रूप से बार-बार प्रकट होते हैं।

व्यापार-चक्र की विशेषतायें
(Characteristics of Trade Cycle)

व्यापार-चक्र की कुछ मुख्य विशेषतायें है जिनका उल्लेख यहां पर किया जा सकता है।

व्यापार-चक्र की पहली विशेषता नियतकालिकत्व (Periodicity) है। व्यापार-चक्र नियत समय के बाद स्वय आते रहते है। इस नियत समय की अवधि यद्यपि निश्चित नही है। परन्तु नियतकालिकत्व को सिद्ध करने के लिये यह पर्याप्त है कि तेजी काल व मन्दी काल एक दूसरे के बाद आते रहते हैं। व्यापारी इस नियमितता से इतना अधिक परिचित होते हैं कि मन्दी काल व तेजी काल के आने की पूर्वसूचना उनको पहले ही मिल जाती है।

दूसरी, विशेषता है, सर्वव्यापकता (Synchronism) इसका अर्थ यह है कि व्यापार-चक्र का प्रभाव एक समय में लगभग सब ही उद्योगों पर पड़ता है। व्यापार जगत एक इकाई के समान है और यदि उसमे एक स्थान पर कोई घटना होती है तो उसका पूरा प्रभाव दूसरे स्थानो पर भी होता है। एक उद्योग मे जब व्यापार अधिक तेजी से होता है तो इसका प्रभाव दूसरे उद्योगो पर पड़ता है और उनमे भी अभिवृद्धि (Boom) की अवस्था आ जाती है। इसी प्रकार से एक उद्योग में मंदी आने पर यह मजदूरो को अलग कर देती है और वे बेरोजगार होने के कारण अपनी मांग कम कर देते हैं। इसका प्रभाव दूसरे उद्योगों पर फैलता है कि उनको उत्पादन कम करना पड़ता है और मंदी काल अन्य उद्योगो मे फैलने लगता है।

तीसरे, व्यापार-चक्र अन्तर्राष्ट्रीय होते हैं। एक देश के व्यापारिक सम्बन्ध दूसरे देशों से होने के कारण यदि एक देश में मूल्यो व रोजगार मे कोई परिवर्तन आता है तो उसका प्रभाव दूसरे देशों की आर्थिक स्थिति पर भी अवश्य पड़ता है। हाँ ! यह आवश्यक नहीं है कि सब देशों पर इसका एक-सा प्रभाव पडे। सन् १६२६ की विश्वव्यापी मन्दी व्यापार चक्रो की अन्तर्राष्ट्रीयता का एक उदाहरण दिया जा सकता है।

चौथे, मूल्यों के उच्चावचनों का प्रभाव यद्यपि सब उद्योगों पर पड़ता है। परन्तु सब उद्योगों पर उनका समान प्रभाव नही पड़ता। यह देखा गया है कि निर्माणात्मक उद्योगो (Constructional Industries) जैसे जहाज निर्माण, इंजीनियरिंग व विनियोजन सामान (Investment goods) बनाने वाले उद्योगों मे उच्चावचन अधिक होते हैं। उपभोग की वस्तुयें बनाने वाले उद्योगों में उच्चावचन इतने अधिक नही होते।

अन्त में, व्यापार-चक्रों की चलनगति लहरदार (Wave like) होती है। यदि विभिन्न चक्रों को ग्राफ पेपर पर बनाया जाय तो वे लगभग समान प्रकार की होंगी। पीगू के अनुसार,

"A 'typical' cycle constructed by making as it were a composite photograph of all the recorded cycles would not materially differ in form very widely from any one of them. But this typical cycle is not an exact replica of any individual cycle. The rhythm is rough and imperfect. All the recorded cycles are members of the same family but among them there are no twins."[4]

अमेरिकन आर्थिक संघ (American Economic Association) की एक रिपोर्ट में व्यापार-चक्रों की सामान्य विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार से किया गया है :—

(१) कृषि के अतिरिक्त मूल्य व उत्पादन एक ही दिशा में परिवर्तित होते हैं।

(२) पूँजीगत वस्तुओं तथा अविनाशील वस्तुओं के कुल व्यय में उपभोग वस्तुओं तथा विनाशील वस्तुओं की तुलना में अधिक उच्चावचन होता है। अतः उन उद्योगों में जो पूँजीगत व अविनाशील वस्तुओं के उत्पादन में लगी है अधिक उच्चावचन होते हैं।

(३) व्यवसायिक चल सम्पत्ति की तालिका के चालू व्यय में कुल विक्रय की तुलना में अधिक परिवर्तन होता है।

(४) कुल उत्पादन व रोजगार में परिवर्तनों का सीधा प्रभाव द्रव्य (मुद्रा व बैंक द्रव्य दोनों) की मात्रा व चलनगति के परिवर्तनों पर पड़ता है।

(५) निर्मित वस्तुओं के मूल्य तुलनात्मक रूप से अधिक दृढ़ होते हैं जबकि सम्बन्धित वस्तुओं के मूल्य तुलनात्मक रूप से अधिक लोचदार होते हैं।

(६) लाभ से आय में अन्य साधनों की आय की तुलना में अधिक उच्चावचन होते हैं।

व्यापार-चक्र की गति
(Course of a Trade Cycle)

व्यापार-चक्र की गति को पांच मुख्य अवस्थाओं में विभक्त किया जा सकता है—मंदी काल (depression), पुनर्जीवन (recovery), पूर्ण रोजगार (full employment), तेजी काल (boom) और पुनर्पतन (recession)।

मंदीकाल (Depression)—व्यापार-चक्र की गति का अध्ययन करने के लिये हम उस अवस्था से प्रारम्भ कर सकते हैं जब व्यापार की गति धीमी होती है और

4. A. C. Pigou, Industrial Fluctuations, pages 15–16.

चारों ओर मन्दी फैली होती है। मूल्य-स्तर बहुत नीचा गिर जाता है जिसके कारण उत्पादन कम कर दिया जाता है और बेरोजगारी फैलती है। द्रव्य की क्रय-शक्ति तो बहुत अधिक हो जाती है परन्तु बेरोजगारी के कारण लोगो के पास द्रव्य की मात्रा कम होती हैं तथा समाज की सामान्य क्रयशक्ति भी कम हो जाती है। इससे माँग गिर जाती है और उत्पादन क्रिया-उत्पादक वस्तुओ के उत्पादन की तथा उपभोग वस्तुओ के उत्पादन की–बहुत धीमी हो जाती है। *उत्पादक वस्तुओं के उत्पादन की* क्रिया विशेषतः अधिक धीमी हो जाती है। उत्पादक के पास स्टाक जमा हो जाते है और बिना बिकी वस्तुओ की मात्रा बढ़ती जाती है।

पूर्ण रोजगार (Full Employment) :—धीरे-धीरे पुनर्जीवन की अवस्था पूर्ण रोजगार की अवस्था मे प्रवेश कर जाती है जिसको सम्पन्नता (prosperity) भी कहा जाता है। इस दशा मे अर्थव्यवस्था अनुकूलतम (optimum) स्तर पर होती है। उत्पत्ति के साधनो का पूर्ण प्रयोग होता है। रोजगार पूर्णता तक पहुँच जाता है। काम करने की शक्ति और इच्छा रखने वाला कोई भी व्यक्ति बेकार नही रहता। इस समय अर्थव्यवस्था स्थिर दशा में रहती है।

पुनर्जीवन (Recovery) :—यह अवस्था अधिक दिनो तक नही रहती क्योकि जब मन्दी काल कुछ समय तक रहता है तो लोग व व्यापारिक संस्थायें केवल उपभोग वस्तुयें ही खरीदती रहती है और स्थायी वस्तुयें नही खरीदती। परन्तु कुछ समय बाद यह स्थायी वस्तुयें भी समाप्त होने लगती हैं और उनका खरीदना आवश्यक हो जाता है। उत्पादक उनको खरीदने की आज्ञायें देते है जिससे स्थायी वस्तुओ के उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है। इन वस्तुओ को बनाने के लिये व्यक्तियो की आवश्यकता पड़ती है जिससे रोजगार बढ़ता है तथा उपभोग वस्तुओ की माग बढ़ती है और उनका उत्पादन बढाने के लिये और अधिक उत्पादन वस्तुओं की मांग की जाती है। उत्पादक व उपभोग दोनो वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहन मिलने के कारण दोनों प्रकार के उद्योगो का विकास होता है। कीन्स के शब्दों में पूँजी की सीमान्त कार्यक्षमता (Marginal Efficiency of Capital) बढ़ जाती है तथा व्यापार को अधिक प्रोत्साहन मिलता है।

तेजी काल (Boom)—पुनर्जीवन की लहर पूर्ण रोजगार की अवस्था पर नही रुक जाती बल्कि तेजी की अवस्था की ओर बढती है। पुराने उद्योगों का विकास होता है तथा नये-नये उद्योग खुलने लगते हैं। रोजगार बढ़ता है और साथ-साथ मजदूरी भी। इससे माग बढ़ती है और वस्तुओं के मूल्य ऊँचे हो जाते हैं। मूल्य बढ़ने पर व्यापारियों व उत्पादकों के लाभ भी अधिक हो जाते हैं और मजदूरी की तुलना मे उनमें वृद्धि अधिक हो जाती है। देश मे आशावाद फैलता है और साथ ही लाभ अधिक होने के कारण विनियोजन की मात्रा बढ़ती है जिसके परिणामस्वरूप रोजगार, आय व व्यापार की मात्रा भी बढ़ जाती है। बैंकों पर भी इसका प्रभाव पड़ता है और

वे अधिक साख देने लगते हैं जिससे उत्पादकों को अधिक विनियोजन के लिए अधिक प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रकार से चारों ओर तेजी से व्यापार होने लगता है और इस अवस्था को तेजीकाल कहते हैं।

पुनर्पतन (Recession)—यह अवस्था कुछ वर्षों तक रहती है और जिस प्रकार से मन्दी काल में इस प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई थीं जिससे तेजी काल प्रारम्भ हो गया उसी प्रकार तेजी काल में इस प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं कि तेजी काल समाप्त हो जाता है और मन्दी काल प्रारम्भ हो जाता है। तेजी काल में अत्यधिक उत्पादन क्रिया के कारण सब साधन काम में लग जाते हैं परन्तु फिर भी उनकी माँग बढ़ती जाती है जिससे उनका मूल्य बढ़ जाता है। कच्चा माल, मजदूर, पूँजी आदि सबके मूल्यों में वृद्धि हो जाने के कारण उत्पादन लागत अधिक हो जाती है। दूसरी ओर साधनों की कार्यक्षमता घटने लगती है क्योंकि अधिक माँग के कारण कम कार्यकुशल साधनों का भी प्रयोग किया जाने लगता है और काम की अधिकता के कारण अपव्यय भी बढ़ जाता है। द्रव्य बाजार भी मंहगा हो जाता है। साख की मांग अधिक हो जाने से सूद की दर बढ़ जाती है और विनियोजना की मात्रा भी कम हो जाती है।

अतः एक ओर तो उत्पादन लागतें व सूद की दर बढ़ जाती है और दूसरी ओर कार्यक्षमता कम होने से वस्तुओं के मूल्य अधिक हो जाते हैं। अपने लाभों को एक स्तर पर स्थिर रखने के लिये उत्पादक मूल्य बढ़ाते चले जाते हैं। इसके अतिरिक्त अधिकतर व्यापार उधार ली हुई पूँजी से किया जाता है और जिस समय तेजी काल अपनी उच्चतम विन्दु पर होता है उस समय उधार की मात्रा अधिकतम होती है। सूद की दर बढ़ते जाने से लाभ उतना नहीं होता जितनी आशा थी और वैंक उधार देना कम कर देते हैं। कभी-कभीं वे उधार दिया हुआ द्रव्य भी वापिस माँगने लगते हैं और पुराने ऋणों के भुगतान के लिये नये ऋणों की मांग की जाती है। यह ऋण न मिलने पर तेजी काल की अवस्था समाप्त होनी प्रारम्भ हो जाती है। मिचैल के अनुसार,

"Thus prosperity ultimately brings on conditions which start a liquidation of the huge credits which pit has pilled up. And in the course of this liquidation,, prosperity merges into crisis."[5]

इस प्रकार मन्दी की अवस्था प्रारम्भ हो जाती है। उत्पादन गिरने लगता है, वेरोजगारी फैलने लगती है, आय कम होने लगती है और उपभोग व्यय गिरने लगता है। विनियोजन गिर जाता है और उत्पादक वस्तुओं की माँग कम हो जाती है। मूल्य गिरते हैं जिससे उत्पादकों को हतोत्साहन मिलता है। इससे वेरोजगारी और फैलती है और आय और कम होती है। कुछ समय वाद यह मन्दी काल फिर तेजी काल को प्रोत्साहन दे देता है।

---

5 Mitchell, Business Cycles.

इस प्रकार व्यापार चामदी काल से प्रारम्भ होता है, कुछ समय पश्चात् पुनर्जीवन प्रारम्भ हो जाता है जिसमें उत्पादन क्रिया को प्रोत्साहन मिलता है। कुछ समय पश्चात् यह विस्तार कम होने लगता है और संकुचन की अवस्था आ जाती है। इस अवस्था की समाप्ति पुनर्जीवन से होती है जो तेजी काल को जन्म देती है। इस प्रवृत्ति को निम्न रेखा चित्र के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—
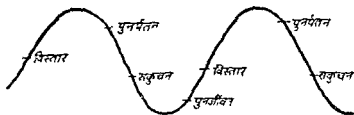
लार्ड ओवरस्टोन ने व्यापार चक्र गति का वर्णन इस प्रकार किया है, "घोर मंदी की दशा, तत्पश्चात् सुधार, बढ़ता हुआ विश्वास, सम्पन्नता, उत्सुकता, अत्यधिक व्यापार की प्रवृत्ति, दबाव, पीड़ा, पुन घोर मंदी में परिवर्तन।"[6]

Q. 59. Discuss the important theories of trade cycles and in this connection point out the contribution made by Keynes to this branch of economic theory. (Agra 1962)

Q. 60. What are trade cycles ? Explain fully some of the theories that have been advanced to explian the occurance of trade cycles.

(Agra 1959, 1951)

Q. 61. Discuss the different theories of trade cycles.

(Agra 1961)

विश्व के आर्थिक जीवन में समृद्धि और मन्दी (Boom and slump), सम्पन्नता और विपन्नता (Prosperity and depression) की अवस्थायें एक दूसरे

---

6 "State of quiescence, next improvement, growing confidence prosperity, excitement, over trading-convulsion pressure, distress, ending again in quiescence." Quoted by Marshall in Money, Credit, and Commerce, p. 246.

के बाद आती रहती हैं। व्यापार अथवा व्यवसाय सम्बन्धी क्रियाओं का सूचना क्रम जो समृद्धि और विपन्नता की अवस्थाओं से होकर गुजरता है, व्यापार चक्र (Trade cycle) अथवा व्यवसायिक चक्र (Business cycle) कहलाता है।

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री हाट्रे (Hawtrey) ने "व्यापार चक्र की परिभाषा करते हुए लिखा है कि व्यापार-चक्र में अच्छे व्यापार व बुरे व्यापार के काल सम्मिलित हैं जो एक दूसरे के बाद आते रहते हैं। अच्छे व्यापार के काल की विशेषता यह है कि इसमें मूल्य बढ़ते हैं और बेरोजगारी की मात्रा कम होती है तथा बुरे व्यापार काल में मूल्य गिरते हैं तथा बेरोजगारी की मात्रा बढ़ती है।"[1]

कीन्स (Keynes) के अनुसार "इन विशेप प्रकार के उच्चावचनों को व्यापार-चक्र का नाम इस कारण दिया जाता है क्योंकि इनकी एक अनोखी विशेपता यह है कि एक दिशा में अधिक गति केवल अपना ही उपचार प्रस्तुत नहीं करती बल्कि दूसरी दिशा में अधिक गति को भी प्रोत्साहित करती है।"[2]

व्यापार चक्रों के सिद्धनत

१. अमौद्रिक सिद्धान्त

(i) जलवायु सिद्धान्त;
(ii) मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त;
(ii) प्रतियोगिता या अधिक उत्पादन का सिद्धान्त;
(iv) अधिक बचत या न्यून उपभोग का सिद्धान्त;
(v) स्वयं उत्पादन सिद्धान्त।

२. मौद्रिक सिद्धान्त

(i) हाट्रे का विशुद्ध मौद्रिक सिद्धान्त;
(ii) हेयक का अधिक साख का सिद्धोन्त;
(iii) कीन्स का बचत व विनि। योजन का सिद्धान्त
(iv) हिक्स का गुणक प्रक्रिया और गतिवर्धन सिद्धान्त;
(v) राबर्टसन का सिद्धान्त।

---

1. "A trade cycle is composed of periods of good trade characterised by rising prises and low unemployment percentages, alternating with periods of bad trade characterized by falling prices and high unemployment percentages" R G. Hawtrey. Trade and Credit. page 83.

2. "These special type of fluctuations are called business cycle because it is the peculiar characteristic of such fluctuations than an excess movement in one direction tends to bring into operation not only its own remedy but a stimulus to an excess movement in the other direction." Lord J. M. Keynes. Treatise on Money. Vol. I. page 278.

मिचैल (Mitchell) के अनुसार, "व्यापार चक्र संगठित समाज की आर्थिक क्रियाओं में होने वाली उच्चावचनों का ही एक प्रकार है। 'व्यापार' विशेषण इस धारणा को केवल उन क्रियाओं के परिवर्तनों तक सीमित कर देता है जो व्यापारिक पैमाने पर व्यवस्थित रूप से सम्पादित की जाती हैं। 'चक्र' शब्द उन उच्चावचनों को अलग कर देता है जो नियमितता के साथ बार-बार नहीं होते।"[3]

इस प्रकार से स्पष्ट है कि व्यापारिक क्रियाओं में तेजी व मन्दी की ढेंकुल गति (See-saw movement) ही व्यापार चक्र कहलाती है। संक्षेप में व्यापार-चक्र उन अनुरूप उच्चावचनों (Rhythmic fluctuations) को कहा जा सकता है जो लगभग नियमित रूप से बार-बार प्रकट होते हैं।

व्यापार चक्रों के सिद्धान्त

(Theories of Trade Cycles)

कुछ व्यक्तियों का विचार है कि व्यापार चक्र केवल आकस्मिक होते हैं और इनके बार-बार उत्पन्न होने के बारे में कोई निश्चित कारण नहीं दिया जा सकता। परन्तु अर्थशास्त्री इस तर्क से सहमत नहीं हैं और उन्होंने व्यापार चक्रों के उत्पन्न होने के सम्बन्ध में निश्चित सिद्धान्त प्रतिपादन किये हैं। इन सिद्धान्तों को हम मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—एक वह वर्ग जो मौद्रिक कारणों को व्यापार चक्र का कारण मानता है और दूसरा वह वर्ग जो अमौद्रिक कारणों को आर्थिक उतार-चढ़ावों का कारण मानता है। यहाँ विभिन्न सिद्धान्तों का संक्षेप में वर्णन करना आवश्यक हो जाता है।

अमौद्रिक सिद्धान्त

(Non-Montary Theory)

जलवायु सिद्धान्त

Climatic Theory.

इस सिद्धान्त के अनुसार जलवायु सम्बन्धी कारणों का खेती की उपज पर प्रभाव पड़ता है और खेती की उपज उद्योग-धन्धों को प्रभावित करती है। इस प्रकार जलवायु के कारण कम उपज होने पर औद्योगिक उत्पादन प्रभावित होता है तथा व्यापार-चक्र प्रारम्भ हो जाता है।

---

3. "Business cycles are fluctuations in the econemic activities of organised communities. The adjective 'business' restricts the concept to fluctuations in activities which are systematically conducted on a commercial basis The noun 'Cycle' bars out fluctuations which do not recur with a measure of regularity."—W. C. Mitchell, Business Cycles Vol. I. page 468.

यह सिद्धान्त हरशैल के सुझाव पर जैवन्स ने प्रतिपादन किया था। इस सिद्धान्त के अनुसार १०-११ वर्षों पश्चात् सूर्य पर कुछ धब्वे देखे जाते हैं जिससे सूर्य से कम गर्मी निकलती है और वर्षा कम होती है। कम वर्षा से फसल खराव हो जाती है और उद्योग-धन्धों का कच्चा माल नहीं मिल पाता। उनको अपना उत्पादन गिराना पड़ता है जिससे वेरोजगारी फैलती है और मन्दी काल प्रारम्भ हो जाता है।

कुछ संशोधन के साथ इस सिद्धान्त को मूरे (Moore) तथा वेवरिज (Beveridge) ने भी स्वीकार किया है।

आलोचना (Criticism) :—यह ठीक है कि कृषि की सम्पन्नता का प्रभाव उद्योग-धन्धों पर पड़ता है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि व्यापार चक्रों का एकमात्र कारण जलवायु सम्बन्धी ही है। यह सिद्धान्त व्यापार चक्र के केवल एक कारण की ओर ही इशारा करता है। इसको व्यापार चक्र का एकमात्र कारण मान लेना गलती होगी। दूसरे यह सिद्धान्त इस बात को भी स्पष्ट नहीं करता कि मन्दी काल की अपेक्षा तेजी काल में पूंजीगत वस्तुओं का अधिक उत्पादन क्यों होता है। तीसरे, सूर्य के धब्बों का प्रभाव सब देशों के कृषि उद्योग पर एकसा पड़ना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता। चौथे, वैज्ञानिक विकास के कारण इस सिद्धान्त का महत्व वहुत कम रह गया।

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त
Psychological Theory.

यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित, अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित किया गया था जिसको मार्शल, पीगू, लिविंगटन, रिकार्डो व मिल आदि की सहमति प्राप्त थी। इन अर्थशास्त्रियों का विचार था व्यापार चक्र का कारण जलवायु, वाढ़ या आविष्कार आदि नहीं वल्कि स्वयं मनुष्य की मानसिक दशा है। इन्होंने अपने सिद्धान्त को भीड़ मनोवृत्ति (Crowd psychology) से सम्वद्ध किया।

इस सिद्धान्त के अनुसार व्यापार की सफलता वहुत कुछ व्यापारियों के अनुमान पर निर्भर होती है। और व्यापारियों पर आशावादिता और निराशावादिता का वहुत प्रभाव पड़ता है। जव एक व्यापारी का अनुमान ठीक हो जाता है तो वह आशावादी हो जाता है। वह अपने व्यापार का विस्तार करता है। उसकी आशावादिता का प्रभाव दूसरों पर पड़ता है और व्यापार में तेजी और चढ़ाव की प्रवृत्ति दिखाई पड़ने लगती है। इसके विपरीत जव किसी का अनुमान गलत हो जाता है तो व्यवसायी वर्ग निराशावादी हो जाता है तथा मन्दी की अवस्था प्रारम्भ हो जाती है।

आलोचना (Criticism)—यह सिद्धान्त भी केवल एक सीमा तक ही ठीक है। परन्तु इस सिद्धान्त में कुछ मुख्य कमियां हैं। एक तो यह सिद्धान्त नहीं वताता

कि मन्दी और समृद्धि कैसे प्रारम्भ होती है। दूसरे, इस सिद्धान्त से यह भी पता नही चलता कि व्यापार चक्र नियमित रूप से क्यों उत्पन्न होते हैं। तीसरे, यह कहना भी गलत है कि व्यापार चक्रों पर जलवायु, आविष्कार आदि बाहरी कारणों का प्रभाव नहीं पड़ता। अन्त में, यह मौद्रिक कारणों पर भी कोई विचार नही करता।

प्रतियोगिता या अधिक उत्पादन का सिद्धान्त
Competition or Over Production Theory.

इस सिद्धान्त के अनुसार व्यापार चक्र का प्रमुख कारण प्रतियोगिता और अधिक उत्पादन है। दोनों एक दूसरे से सम्बन्धित हैं और स्वतन्त्र व प्रतियोगी अर्थव्यवस्था की विशेषतायें हैं।

प्रतियोगिता के कारण व्यापार चक्र दो प्रकार से प्रारम्भ होता है। एक तो प्रतियोगिता से अधिक उत्पादन होने लगता है और दूसरे उत्पादन लागत बढ जाती है। प्रथम को चैपमैन (Chapman) ने धनात्मक पहलू (Positive aspect) कहा है और दूसरे को ऋणात्मक पहलू (Negative aspect)।

पूँजीवादी उत्पादन में उत्पादकों की क्रियाओं में समयोजन नही होता तथा प्रत्येक उत्पादक बाजार की माँग का अनुमान अलग-अलग लगाता है तथा बाजार की कुछ माँग का अधिकांश भाग स्वयं पूरा करना चाहता है। इसके परिणामस्वरूप अधि-उत्पादन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसमें माल बेकार पड़ा रहता है और कोई खरीदार नही होता तथा आर्थिक मन्दी प्रारम्भ हो जाती है। इसके अतिरिक्त प्रतिस्पर्द्धा के कारण बाजार में वस्तु की उत्पादन लागत भी बढ जाती है। प्रत्येक उत्पादक अधिक उत्पन्न करने के लिये अधिक साधनों की माँग करता है जिससे उनका मूल्य बढ़ जाता है और वस्तु की उत्पादन लागत मे भी वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार एक ओर तो अधि-उत्पादन होता है और दूसरी ओर लागत बढने से मूल्य बढ जाता है। आर्थिक मन्दी प्रारम्भ होकर व्यापारिक चक्र चालू हो जाता है।

आलोचना (Criticism)—इस सिद्धान्त मे भी बहुत सी कमियाँ हैं। उपरोक्त दो सिद्धान्तो के समान यह सिद्धान्त भी नहीं यह बताता कि चक्रिय उच्चावचनों में नियमितता क्यों होती है और व्यापार चक्र अपना मार्ग पूरा करने मे एक निश्चित समय क्यों लेता है तथा प्रत्येक उद्योग तथा व्यापार पर इसका प्रभाव एक साथ ही क्यो पड़ता है। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त से यह पता भी नहीं लगता कि व्यापार चक्र का कारण सामान्य अधिक उत्पादन है या विशिष्ट अधिक उत्पादन।

अधिक बचत या न्यून उपभोग सिद्धान्त
(Over Savings or Under Investment Theory)

इस सिद्धान्त के मुख्य प्रतिपादक होबसन (Hobson), मेजर डगलस (Major Douglas), फोस्टर (Foster) तथा कैचिंग (Catching) थे। यह व्यापार चक्र की

व्याख्या करने वाला सबसे पुराना सिद्धान्त है और समय-समय पर इस सिद्धान्त की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की गई है।

इस सिद्धान्त के अनुसार समाज में गरीबों और अमीरों के मध्य आयों की असमानता होने के कारण उपभोग कम होता है और बचत अधिक होती है। इससे व्यापार चक्र उत्पन्न होते हैं। पूँजीवादी समाज में कुछ लोग बहुत धनी होते हैं जो अपनी सारी आय का उपभोग नहीं कर सकते और इसलिये बचत स्वयं ही अधिक हो जाती है। इस बचत का विनियोजन किया जाता है जिससे उत्पादन अधिक हो जाता है। दूसरी ओर गरीब लोग अधिक होते हैं तथा उनके पास क्रयशक्ति बहुत कम होती है। वे सब वस्तुओं को खरीद नहीं सकते। परिणाम यह होता है कि बाजार में पूर्ति अधिक बढ़ जाती है तथा मांग कम रहती है जिससे आर्थिक मन्दी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

आलोचना (Criticism)—इस सिद्धान्त की भी विस्तृत आलोचना की गई है। एक तो यह सिद्धान्त मन्दी काल की व्याख्या करता है व्यापार चक्र की नहीं। दूसरे, यह तर्क समझ में नहीं आता कि धनी व्यक्ति अधिक बचत ही क्यों करते चले जाते हैं। वे विलासिता की वस्तुओं पर भी तो अधिक खर्च कर सकते हैं। तीसरे, यह मान्यता भी पूर्णतया ठीक नहीं है कि जितनी बचतें हैं उन सब का विनियोजन कर दिया जायेगा। बहुत सी बचतें जोड़ (Hoard) कर भी रख ली जाती हैं। चौथे, मूल्यों में सामान्य परिवर्तन उपभोग वस्तुओं की मांग में और पूर्ति में हुए परिवर्तन के कारण नहीं होता बल्कि अन्य आर्थिक व अमौद्रिक कारणों से भी होता है।

स्वयं उत्पादन सिद्धान्त
(Self-generation Theory)

यह सिद्धान्त मिचैल के द्वारा प्रतिपादित किया गया था जिसके अनुसार वर्तमान पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का सामान्य स्वभाव ही व्यापार के लिये उत्तरदायी है। व्यापार चक्र का विश्लेषण करके मिचैल ने इस सिद्धान्त को समझाया।

समृद्धि या तेजी काल में उत्पादक आशावादी होते हैं जिसके कारण वे माल का संग्रह प्रारम्भ कर देते हैं। इस दशा में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जाती है और मूल्य भी बढ़ जाते हैं। अर्थव्यवस्था में संघर्ष होने के कारण उत्पादन व्ययों (Production costs) की अपेक्षा विक्रय-मूल्य (Selling Price) तेजी से बढ़ने लगते हैं। इनसे उत्पादन को लाभ होता है, वे उत्पादन बढ़ाते हैं जिससे रोजगार बढ़ता है, ऋणों के लिये माँग बढ़ती है तथा सूद की दर में वृद्धि हो जाती है।

एक सीमा के पश्चात् साधनों का पूर्ण उपयोग होने लगता है और लागतें तेजी से बढ़ने लगती हैं। इसी समय माँग में वृद्धि रुक जाती है, मूल्य गिरने लगते हैं, लाभों में कमी आ जाती है और उत्पादन कम होने लगता है। इस प्रकार अवसाद या मन्दी काल प्रारम्भ हो जाता है।

आलोचना (Criticism)—इस सिद्धान्त में भी कई कमियाँ हैं। यह कहा जाता है कि व्यापार चक्र स्वयं उत्पादनशील नहीं होते। यदि ये इस प्रकृति के होते तो प्रत्येक अगली तेजी पिछली मन्दी से वही सम्बन्ध रखती, जो कि पिछली मन्दी का पिछली तेजी से था। परन्तु व्यवहार में यह बात देखने मे नही आती। एक प्रबल तेजी के बाद प्रबल मन्दी तो आती है परन्तु दोनो की प्रबलता समान नही होती।

मौद्रिक सिद्धान्त

(Monetary Theories)

कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार अमौद्रिक कारण जैसे युद्ध, भूचाल, हड़ताल, फसलों की बरबादी आदि देश की अर्थव्यवस्था में अस्थायी मंदी उत्पन्न कर सकते हैं परन्तु ये कारण व्यापार चक्र के रूप में पूर्ण व स्थायी मन्दी उत्पन्न नही कर सकते। इन अर्थशास्त्रियों के द्वारा, जिनमे हाट्रे, हेयक, राबर्टनसन, कीन्स, हिक्स व शुम्पटर हैं, व्यापार चक्र मौद्रिक तथ्य होते हैं। इनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त निम्न हैं :—

विशुद्ध मौद्रिक सिद्धान्त—हाट्रे
(Pure Monetary Theory—Hawtrey)

हाट्रे ने व्यापार चक्र को पूर्णतया मौद्रिक तथ्य माना है। उसने माना कि आधुनिक युग में बैंक साख ही भुगतान का मुख्य तरीका है, और साख की प्रवृत्ति अस्थिर है। इसलिए हाट्रे के मत से व्यापार सम्बन्धी परिवर्तन बैंकों की साख सम्बन्धी नीति के परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होते हैं। बैंक अधिक साख का निर्माण कर सकते हैं। ऐसा करने के लिये वे सूद की दर को कम कर देते हैं। कम सूद की दर के लालच से व्यापारी बैंको से अधिक ऋण लेकर अपने व्यापार का विस्तार करते हैं। वे उत्पादकों से अधिक माल की माग करते हैं जो अधिक उत्पादन के लिये मशीनों की मांग करते हैं। इस प्रकार व्यापार चक्र का ऊर्ध्वमुखी क्रम (Upward movement) प्रारम्भ हो जाता है।

यह ऊर्ध्वमुखी क्रम अधिक समय तक नही चल पाता क्योंकि बैंक असीमित मात्रा में साख प्रदान नही कर सकता। उसकी साख विस्तार की बहुत सी सीमायें होती हैं। इसलिये एक सीमा के पश्चात् बैंक अधिक उधार देना बन्द कर देते हैं और दिये हुये ऋणों को वापिस मागने लगते है। इससे व्यापार का विस्तार केवल रुक ही नही जाता बल्कि सकुचन होने लगता है। उत्पादन गिरने लगता है, बेरोजगारी फैलने लगती और मन्दी काल प्रारम्भ हो जाता है।

आलोचना (Criticism) :—यह कथन ठीक है कि समृद्धि साख पर निर्भर करती है परन्तु यह नही कहा जा सकता कि केवल साख ही व्यापार चक्र का कारण है। दूसरे, इस सिद्धान्त की यह मान्यता भी गलत है कि यदि मूल्यों में स्थिरता आ जाये तो व्यापार चक्र उत्पन्न नही होंगे। तीसरे, केवल साख के विस्तार या संकुचन

पर तेजी या मन्दी निर्भर नहीं करती वल्कि तेजी या मन्दी पर भी साख का विस्तार व संकुचन निर्भर करता है। चौथे, यह आवश्यक नहीं है कि सूद की दर में वृद्धि होने व्यापारी साख लेना वन्द कर देंगे। अधिक लाभ की आशा में वे अधिक ऋण ले सकते हैं।

अधिक साख का सिद्धान्त—हेयक

Over-Issue of Credit Theory—Hayck

हेयक के अनुसार व्यापार चक्र उस समय प्रारम्भ होता है जबकि प्राकृतिक सूद की दर और सूद की बाजार दर में अन्तर हो जाता है। सूद की बाजार दर प्राकृतिक दर से कम हो जाने पर उत्पादकों के लिये उद्योगों का विस्तार करना लाभप्रद हो जाता है। इसके लिये उनको अधिक साख की आवश्यकता पड़ती है। ऐच्छिक बचतें कम होने के कारण यह ऋण बैंकों द्वारा दिया जाता है। साख के विस्तार से मुद्रास्फीति की दशा उत्पन्न हो जाती है, उत्पादकों का लाभ बढ़ता रहता है और वे अधिक साख की माँग करते रहते हैं।

परन्तु बैंक असीमित मात्रा में साख का निर्माण नहीं कर सकते। जब बैंक उधार देना वन्द कर देते हैं तो उत्पादन गिरने लगता है और मन्दी काल प्रारम्भ हो जाता है।

आलोचना (Criticism)—यह सिद्धान्त व्यवहारिक व काल्पनिक मान्यताओं पर आधारित है। यह पूर्णतया सत्य नहीं है कि बचत और विनियोजन सन्तुलन की स्थिति में समान रहते हैं और सूद की दर में कमी इस सन्तुलन को समाप्त कर देती है। दूसरे, हेयक ने सम्पन्नता के काल का ठीक से वर्णन नहीं किया है। तीसरे, हेयक का यह निष्कर्ष गलत है कि बैंकों द्वारा ऋण देना सदा हानिकारक होता है।

कीन्स का सिद्धान्त

Keynes Theory.

कीन्स के अनुसार "व्यापार का चक्र का वर्णन तथा उसकी व्याख्या सूद की दर के अनुसार पूँजी की सीमान्त कार्यक्षमता के परिवर्तनों के रूप में की जा सकती है।" उनका यह कहना है कि पूँजी की सीमान्त कार्यक्षमता में चक्रिय उच्चावचन के कारण सूद की दर में जो परिवर्तन आते हैं उनके कारण व्यापार चक्र उत्पन्न होते हैं। व्यापार चक्रों में सूद की दर। जो पूँजी की सीमान्त कार्यक्षमता के साथ मिल कर, विनियोजन को निश्चित करती है, तुलनात्मक रूप से अधिक स्थिर रहती है। इसी प्रकार प्रयोग की प्रवृत्ति भी सूद की दर के समान अधिक परिवर्तनशील नहीं होती। अतः रोजगार की मात्रा का निर्धारण करने वाले तीन तत्वों—पूँजी की सीमान्त कार्यक्षमता, सूद की दर और उपयोग की प्रवृत्ति में से पूँजी की कार्यक्षमता ही सबसे महत्वपूर्ण कारण है जो चक्रिय उच्चावचनों प्रभावित करता है।

आलोचना (Criticism) कीन्स का यह निष्कर्ष ठीक नहीं है कि विनियोजनो पर सूद की दर का प्रभाव पड़ता है और सूद की दर मे कमी करके मन्दीकाल को समाप्त किया जा सकता है। दूसरे, कीन्स ने यह नहीं बताया कि व्यापार चक्रो मे नियमितता क्यो होती है। तीसरे, कीन्स के सिद्धान्त मे व पीगू के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त में कुछ आधार भूत अन्तर नही है।

गुणक प्रक्रिया और गतिवर्धन सिद्धान्त

Multiplier-Action & Acceleration Principle

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हिक्स ने किया था और गुणक प्रक्रिया और गतिवर्धन सिद्धान्त के सम्मिलित प्रभावो को व्यापार चक्र का कारण माना था। इसके अनुसार विनियोजन दो प्रकार का होता है—स्वभाविक (Autonomous), जिन पर उत्पादन मात्रा के परिवर्तनो का प्रभाव नही पड़ता और प्रेरित (Induced) जो उत्पत्ति की मात्रा मे परिवर्तन के साथ साथ परिवर्तित होते हैं।

हिक्स के अनुसार जब किसी नये आविष्कार के कारण स्वाभाविक विनियोजन मे वृद्धि होती है तो प्रेरित विनियोजन भी बढ़ता है। इस वृद्धि को समाप्ति पर स्वाभाविक विनियोजन अपने पूर्व स्तर पर आ जाता है, परन्तु प्रेरित विनियोजन के साथ यह बात नही है। यह उत्पत्ति की वृद्धि को प्रोत्साहन देता है और उत्पत्ति की वृद्धि इसको प्रोत्साहन देती है। इस प्रकार गुणक प्रक्रिया और गतिवर्धन सिद्धान्त के कारण तेजी काल प्रारम्भ हो जाता है। यह तब तक नही होता जब तक कि पूर्ण रोजगार का बिन्दु नहीं आ जाता। इससे ऊपर यह नही बढने पाता। कुछ समय यह पूर्ण रोजगार की सीमा के साथ ही चलता रहता है और कुछ समय पश्चात् इसकी प्रवृत्ति नीचे की ओर गिरने की हो जाती है।

इस सिद्धान्त की आलोचना मुख्यत. कॉलडर (Kaldor) ने की जिनके अनुसार हिक्स ने गतिवर्धन सिद्धान्त का ठीक-ठीक प्रयोग नही किया है।

रावर्टसन का सिद्धान्त

The Theory by Robertson

रावर्टसन के अनुसार व्यापार चक्र का मुख्य कारण वास्तविक लागतों और वास्तविक मांगो मे होने वाले वे परिवर्तन हैं जिनके कारण आर्थिक प्रगति नियमित गति से न होकर अनियमित गति से होती है। यद्यपि ये परिवर्तन देश की अर्थव्यवस्था के लिये आवश्यक हैं परन्तु ये व्यवस्था को अस्थिर बना देते हैं। कुछ संस्थागत कारण (Institutional factors) जिनमे मजदूरी प्रणाली व मुद्रा प्रणाली मुख्य है, इन परिवर्तनो को अनुपयुक्त बना देते हैं।

हाट्रे के समान रावर्टसन भी देश की बैंकिंग प्रणाली को व्यापार-चक्र का कारण मानता है। मानलिया किसी वर्ष कृषि की अच्छी फसल हुई है और किसान फसल को बेचने से पहले इसके मूल्य का प्रयोग करना चाहता है। वह बैंक

से अल्पकालीन ऋण ले लेता है। कृषि पर निर्भर उद्योग, अच्छी फसल की आशा से उत्पादन बढ़ाते हैं और बैंकों से ऋण ले लेते हैं। बैंकों को अल्पकालीन ऋणों की दोहरी मांग को पूरा करना पड़ता है और वह साख का निर्माण करता है। इससे मुद्रा का विस्तार होता है लोगों के पास क्रयशक्ति बढ़ती हैं, उनकी माँग में वृद्धि होती है और मूल्य बढ़ने लगते हैं। परन्तु बैंकों की साख निर्माण की एक सीमा होती है। वे कुछ समय पश्चात् साख देना बन्द कर देते हैं और पुराने ऋणों को वापस मांगने लगते हैं। उद्योगों में निराशा फैलने लगती है और मन्दी प्रारम्भ हो जाती है।

आलोचना (Criticism)—इस सिद्धान्त में कुछ दोष हैं। एक तो वास्तविक तथ्यों से इस सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती। यह सत्य नहीं है कि अच्छी फसल विस्तार काल के लिये अनुकूल दशायें उप्पन्न करती है। दूसरे, इस सिद्धान्त में हमें टेढ़े-मेढ़े तर्क (Circuler reasoning) में डाल देता है। कुल मांग में वृद्धि होने पर विस्तार तेजी से प्रारम्भ होती है। परन्तु बिना तेजी के कुल मांग में वृद्धि नहीं हो सकती। तीसरे, यह इस अव्यवहारिक मान्यता पर आधारित है कि उद्योग अपनी पूर्ण क्षमता पर कार्य करते हैं।

इन सब सिद्धांतों से स्पष्ट है कि कोई भी एक सिद्धांत व्यापार चक्र के कारण को स्पष्ट नही करता। व्यापार चक्र एक बहुत ही जटिल तथ्य है और इसके लिये कोई एक कारण निर्धारित नहीं किया जा सकता। जलवायु के कारण उत्पत्ति अधिक या कम होती है और मनोवैज्ञानिक कारणों से लोगो में आशावादिता तथा निराशा-वादिता फैलती है। प्रतिस्पर्द्धा तथा अधिक बचत से उत्पादन कम या अधिक होता है और मौद्रिक कारण तेजी या मन्दी को प्रोत्साहित करते हैं। इन सब कारणों के मिलने से ही व्यापार चक्र उत्पन्न होते हैं।

विश्व के आर्थिक जीवन में समृद्धि और मन्दी, सम्पन्नता और विपन्नता की अवस्थायें एक दूसरे के बाद आती रहती हैं। व्यापार अथवा व्यवसाय सम्बन्धी क्रियाओं का समूचा क्रम जो समृद्धि और विपन्नता की अवस्थाओं से होकर गुजरता है, व्यापार चक्र कहलाता है।

व्यापार चक्र का क्या कारण है? यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है जिस पर विभिन्न अर्थशास्त्रियों के विभिन्न मत हैं। कुछ अर्थशास्त्री, जेवन्स आदि, व्यापार चक्रों को प्राकृतिक कारणों से उत्पन्न मानने हैं, जबकि दूसरे, मुख्यत: पीगू, इसको मनोवैज्ञानिक कारणों का परिणाम मानते हैं। कुछ अर्थशास्त्री इसको मौद्रिक तथ्य मानते हैं और कीन्स ने इस सम्बन्ध में बचत व विनियोजन के सन्तुलन का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। यहाँ हमारा सम्बन्ध हेयक (Hayek) और कीन्स (Keynes) के सिद्धान्तों से है।

★

Q. 62. Explain the view that trade cycle is caused by a discrepency between saving and investment. (Raj. 1962)

Q. 63. Evaluate the contribution of Keynes to the discussion of business cycles. (Patna 1960)

हेयक का सिद्धान्त

(Hayek's Theory)

डाक्टर हेयक ने व्यापार चक्र के सम्बन्ध में द्रव्य के अधिक विनियोजन के सिद्धान्त (Monetary over-investment theory) का प्रतिपादन किया है। हेयक के अनुसार व्यापार चक्र का मुख्य कारण मौद्रिक है। व्यापार चक्र उस समय उत्पन्न होते हैं जब विनियोजन अधिक होने लगता है। हेयक के अनुसार, "कृत्रिम रूप में कम ब्याज-दर पर (ब्याज की बाजार दर प्राकृतिक दर से कम होती है) अधिक साख निर्मित करना ही व्यापार चक्रों के लिये पूर्णतः उत्तरदायी होता है।"

हेयक के अनुसार व्यापार चक्र उस समय प्रारम्भ होता है जबकि प्राकृतिक सूद की दर (Natural rate of interest) और सूद की बाजार दर (Market rate of interest) में अन्तर हो जाता है जब दोनों सूद की दरें समान होती हैं तो अर्थव्यवस्था सन्तुलन की स्थिति में होती है क्योंकि इस बिन्दु पर बाजार में बचत और विनियोजन एक दूसरे के बराबर होते हैं। जबकि प्राकृतिक सूद की दर और सूद की बाजार दर में अन्तर हो जाता है तो अर्थव्यवस्था असन्तुलित हो जाती है जिससे व्यापार चक्र प्रारम्भ हो जाता है।

हेयक ने बताया कि जब सूद की बाजार दर प्राकृतिक सूद की दर से कम हो जाती है तो उत्पादकों को उत्पादन बढ़ाने में लाभ होने लगता है। उत्पत्ति का पैमाना बढ़ाने के लिये वे पूँजीगत सामान(Capital goods) जैसे मशीन आदि की माँग करने लगते है जिसे खरीदने के लिये अधिक धन की आवश्यकता होती है। ऐच्छिक बचतें (Voluntary savings) इतनी नहीं होती कि विनियोजनों की इन बढ़ी हुई माँगों को पूरा कर सके। अत. उत्पादक बैंकों से उधार माँगने लगते हैं जो अधिक सूद के लालच में उधार देने लगते हैं। साख की मात्रा में वृद्धि हो जाने के कारण मुद्रा स्फीति (Inflation) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और मूल्य बढ़ने लगते हैं। इससे उत्पादकों को अधिक लाभ होने लगता है, वे अधिक साख की माँग करने लगते हैं और बैंक अधिक साख का निर्माण करते रहते हैं। इस प्रकार पूँजी की माँग और ऐच्छिक बचतों में अन्तर बढ़ता जाता है जिसको बैंक साख का निर्माण करके पूरा करते हैं।

परन्तु बैंक असीमित मात्रा में साख का निर्माण नहीं कर सकते। उन पर केन्द्रीय बैंक (Central Bank) की ओर से कुछ नियन्त्रण लगे होते हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें अपने पास नकद का एक न्यूनतम कोष रखना होता है। अतः बैंक उधार

देना बन्द कर देते हैं या अधिक सूद की दर पर उधार देते हैं। इससे बाजार की सूद की दर बढ़ जाती है, उत्पादक अपना उत्पादन कम करने लगते हैं, कारखाने बंद होने लगते हैं, वेतन कम होने लगते हैं और बेरोजगारी फैलने लगती है। इस प्रकार मन्दी प्रारम्भ हो जाती है।

व्यापार चक्र को दूर करने के लिये हेयक ने तटस्थ मुद्रा (Neutral money) की धारणा का विकास किया। इसका अर्थ यह है कि मुद्रा का प्रबन्ध इस प्रकार का होना चाहिए कि यह आर्थिक घटनाओं के प्रति तटस्थ रह सके। हेयक का यह विचार था कि प्रभावपूर्ण मुद्रा की मात्रा में होने वाले लगभग सभी परिवर्तन उत्पादन प्रणाली को अस्त-व्यस्त कर देते हैं। इसलिये समस्या के समाधान के लिये केवल मूल्य-स्तर को स्थिर रखना ही आवश्यक नहीं है बल्कि प्रभावपूर्ण मुद्रा की मात्रा में भी स्थायित्व आना आवश्यक है।

आलोचना
(Criticism)

यह सिद्धान्त एक दृष्टिकोण से अच्छा है कि यह इस बात को स्पष्ट करता है कि पूँजीगत वस्तुओं के निर्माण के उद्योगों में, उपभोग-वस्तुओं वाले उद्योगों की अपेक्षा, व्यापार चक्रों की गति अधिक तीव्र क्यों होती है ?

परन्तु हेयक के सिद्धान्त में बहुत सी कमियाँ हैं। एक तो यह सिद्धान्त अव्यवहारिक व काल्पनिक मान्यताओं पर आधारित है। यह मान्यता पूर्णतया सत्य नहीं है कि सन्तुलन की स्थिति में बचत और विनियोजन समान होते हैं। साथ ही यह भी गलत है कि सूद की दर में कमी इस सन्तुलन को समाप्त कर देती है। इन मान्यताओं की अव्यवहारिकता के कारण ही हेयक ने इन दोनों को छोड़ दिया था और अपने सिद्धान्त को लाभ के दृष्टिकोण से प्रतिपादित किया था। परन्तु यह धारणा भी पूर्णतया व्यवहारिक नहीं है।

दूसरे, हेयक के अनुसार उत्पादन की प्रणाली का लम्बा होना ठीक नहीं है क्योंकि यह ऐच्छिक बचत पर आधारित न होकर साख के विस्तार पर आधारित है। परन्तु व्यवहारिक जीवन में उस सीमा का पता लगाना कठिन है जहाँ ऐच्छिक बचत समाप्त होती है और बैंकों द्वारा साख का निर्माण प्रारम्भ होता है।

तीसरे, हेयक ने सम्पन्नता के उस काल का ठीक से वर्णन नहीं किया है जो मंदी काल में समाप्ति पर प्रारम्भ होती है। यह सम्भव है कि मंदीकाल की समाप्ति पर, जबकि उत्पत्ति के अधिकांश साधन बेकार होते हैं साख में विस्तार होने के साथ साथ पूँजीगत और उपभोग वस्तुओं का उत्पादन भी बढ़ गया।

चौथे, यह भी सम्भव नहीं है कि विनियोजन में परिवर्तन होने पर उत्पत्ति के साधनों को अल्पकालीन प्रणाली से निकाल कर दीर्घकालीन प्रणाली में स्थानांतरित कर दिया जाय।

पाँचवें, हेयक का निष्कर्ष यह था कि बैंकों द्वारा साख का निर्माण करना व ऋण देना सदा हानिकारक है क्योंकि इसी के कारण अर्थव्यवस्था में तेजी काल व मन्दीकाल आते हैं। यह निष्कर्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि साख निर्माण हानिकारक नहीं है बल्कि अर्थव्यवस्था के सफल सचालन के लिये आवश्यक है।

कीन्स ने व्यापार चक्रों के सम्बन्ध में नवीन सिद्धान्त 'बचत और विनियोजन सिद्धान्त' (Savings and Investment Theory) का प्रतिपादन किया जिसके अनुसार व्यापार चक्रो का कारण 'पूँजी की सीमात कार्यक्षमता' (Marginal Efficiency of capital) में होने वाले परिवर्तन हैं।

कीन्स का सिद्धान्त

(Keynes' Theory)

कीन्स ने अपनी पुस्तक The General Theory of Employment, Interest and Money मे बताया कि 'व्यापार चक्र का वर्णन तथा उसकी व्याख्या सूद की दर के अनुसार पूँजी की सीमान्त कार्यक्षमता के परिवर्तनो के रूप में की जा सकती है।" उनके अनुसार पूँजी की सीमात कार्यक्षमता मे चक्रीय उच्चावचन (Cyclical fluctuations) के कारण सूद की दर मे जो परिवर्तन आते हैं उनके कारण व्यापार चक्र उत्पन्न होते हैं। व्यापार चक्रो मे सूद की दर, जो पूँजी की सीमांत कार्यक्षमता के साथ मिलकर, विनियोजन को निश्चित करती है, तुलनात्मक रूप से अधिक स्थिर होती है। इसी प्रकार उपभोग की प्रवृत्ति (Propensity to consume) भी सूद की दर के समान अधिक परिवर्तनशील नहीं होती। अतः रोजगार की मात्रा का निर्धारण करने वाले तीन तत्वो—पूँजी की सीमात कार्य-क्षमता, सूद की दर और उपभोग की प्रवृत्ति—मे से पूँजी की सीमात कार्यक्षमता ही सबसे महत्वपूर्ण कारण है जो चक्रिय उच्चावचनो को प्रभावित करता है।

कीन्स के सिद्धान्त को समझने के लिये हम विस्तार काल (Period of expansion) से प्रारम्भ कर सकते हैं जो बाद मे समृद्धि (Boom) में परिवर्तित हो जाता है। इस काल मे उत्पादकों का दृष्टिकोण आशावादी होता है, पूँजी की कार्यक्षमता ऊँची होती है और रोजगार बढ़ता हुआ होता है। गुणक प्रभावों (Multiplier effects) के कारण प्रत्येक नये विनियोजन से उपभोग बढ़ता है और आयों में कई गुनी वृद्धि हो जाती है। धीरे-धीरे विस्तार काल तेजी काल में प्रवेश कर जाता है और पूजी की सीमान्त कार्यक्षमता को गिराने वाले कारण महत्वपूर्ण होने लगते हैं।

पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता पर दो ओर से दबाव पड़ता है। एक तो नये पूंजीगत सामान की उत्पादन लागत बढ़ने लगती है क्योंकि श्रम व अन्य सामान की कमी होने लगती है, और दूसरे, बाजार मे अत्यधिक सामान आ जाता है जो बिना बिका पड़ा रहता है। इससे उत्पादकों की भविष्य की आशावादिता समाप्त हो

जाती है। लागतों व स्टाकों के बढ़ने और प्रतियोगिताओं की संख्या में वृद्धि होने के कारण आशावादिता पहले संदेह में और फिर निराशावाद में वदल जाती है। इस समय पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता में आकस्मिक और कभी-कभी भयंकर कमी हो जाती है। इस कमी के साथ-साथ आने वाली निराशावादिता हतोत्साहन लोगों की द्रव्य की तरलता-पसन्दगी में तेजी से वृद्धि कर देता है। जिससे सूद की दर बढ़ जाती है। इस प्रकार पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता में ह्रास के साथ-साथ सूद की दर में वृद्धि, विनियोजन में आशातीत पतन ला सकती है। अतः अवसाद का उत्तरदायित्व पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता के ह्रास पर है, सूद की दर पर नहीं।

जिस प्रकार पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता में ह्रास होने के कारण अवसाद काल (Depression) प्रारम्भ होता है उसी प्रकार पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता में वृद्धि होने से विस्तार काल प्रारम्भ होता है। अवसाद के अन्तिम चरण में पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता में वृद्धि होने लगती है। यह कई कारणों से होती है। एक तो एकत्रित चल-सम्पत्ति (Inventories) समाप्त होने लगती है, दूसरे, पूंजीगत वस्तुओं को बदलने की आवश्यकता महसूस होने लगती है, तीसरे, नये आविष्कारों की प्रेरणा होने लगती है। साथ ही सूद की दर में भी वृद्धि होने लगती है क्योंकि बैंकों के पास मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने लगती है और व्यक्तियों की द्रव्य की तरलता पसन्दगी कम हो जाती है। इससे विनियोजनों की मात्रा में वृद्धि होने लगती है, जिससे उत्पादन बढ़ता है, लोगों की आयें बढ़ती हैं, उपभोग बढ़ता है, रोजगार बढ़ता है और व्यापारों का विस्तार किया जाता है। इस प्रकार तेजी काल प्रारम्भ हो जाता है।

अतः कीन्स ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि व्यापार चक्रों का मुख्य कारण सूद की दरों में होने वाले परिवर्तन नहीं है बल्कि पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता में कमी या वृद्धि है। हालांकि जो कारण पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता को प्रभावित करते हैं वे, द्रव्य की तरलता पसन्दगी के माध्यम से, सूद की दर को भी प्रभावित करते हैं, परन्तु द्रव्य की तरलता पसन्दगी में परिवर्तन बाद में होते हैं पहले पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता में परिवर्तन होते हैं। इस प्रकार अवसाद या विस्तार का उत्तरदायित्व पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता पर है, सूद की दर पर नहीं।

आलोचना

(Criticism)

यद्यपि कीन्स का सिद्धान्त कुछ दृष्टिकोणों से उपयुक्त है परन्तु इसमें बहुत सी कमियाँ हैं। एक तो कीन्स का यह निष्कर्ष ठीक नहीं था कि विनियोजनाओं पर सूद की दर का प्रभाव पड़ता है और सूद की दर में कमी करके मंदी काल को समाप्त किया जा सकता है। आधुनिक विचारधारा, जो कुछ अन्वेषणों पर आधारित है, यह है कि सूद की दर में कमी हो जाने पर भी विनियोजन में वृद्धि होना आवश्यक

नही है। इस सम्बन्ध मे बेन्हम (Benham) का यह कथन उल्लेखनीय है . "उद्योगपति अपने व्यापार का विस्तार या नये व्यापार का प्रारम्भ तभी करते हैं जब कि उनको यह आशा हो जाती है कि उनकी बनाई हुई वस्तुओ की माँग बढ़ जायगी या उनको उत्पन्न करने व बेचने की लागत इतनी कम हो जायेगी कि वे पहले से अधिक वस्तुयें बेचकर लाभ प्राप्त कर सकेंगे।" इसी सम्बन्ध मे क्राउथर ने लिखा है कि सूद की दर उत्पादक को प्रभावित नही कर सकती क्योंकि आप घोड़े को पानी के पास ले जा सकते हैं उसको पानी पीने को विवश नही कर सकते।

दूसरे, कीन्स ने यह नही बताया कि व्यापार चक्रो में नियमितता क्यो होती है। बार-बार व्यापार चक्र एक नियत समय पर ही क्यो आते है और उनका एक निश्चित सा मार्ग क्यों होता है।

तीसरे, कीन्स का व्यापार चक्र का सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के बहुत निकट है क्योकि कीन्स के अनुसार व्यापार चक्रो का मुख्य कारण पूजी की सीमान्त कार्यक्षमता मे परिवर्तन है। यह पूजी की सीमान्त कार्यक्षमता, उसके अनुसार, विनियोजनकर्त्ताओं के मनोविज्ञान पर निर्भर करती है। इस प्रकार पीगू के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त और कीन्स के सिद्धान्त मे कोई आधारभूत अन्तर नही रहता क्योकि दोनों के अनुसार व्यापार चक्र का कारण विनियोजनकर्त्ताओं का मनोविज्ञान हो जाता है।

(व्यापार चक्रो के उपचार के लिए प्रश्न ७८ को देखें।)

★

Q. 69. Do you agree with the view of Hawtrey that the trade cycle is a purely monetary phenomenon? What are the non monetary factors which bring about periods of economic prosperity and depression? [Jabalpur 1965 Vikram 1960]

Q. 70. Give a critical account of the various monetary theories advanced from time to time to explain the alternating periods of economic prosperity and depression. [Agra 1963, 1959]

Q. 71. Explain the monetary theories of trade cycles. (Vikram 1963)

Q. 72. Give a critical account of the various monetary theories advanced from time to time to explain the alternating periods of economic prosperity and depression. [Raj. 1964]

Q. 73. Explain the monetary causes of booms and depressions in industrial activities. [Agra 1961]

Q. 74. Discuss critically the purely monetary theory of the trade cycle. [Allahabad 1959]

जाती है। लागतों व स्टाकों के बढ़ने और प्रतियोगिताओं की संख्या में वृद्धि होने के कारण आशावादिता पहले संदेह में और फिर निराशावाद में बदल जाती है। इस समय पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता में आकस्मिक और कभी-कभी भयंकर कमी हो जाती है। इस कमी के साथ-साथ आने वाली निराशावादिता हतोत्साहन लोगों की द्रव्य की तरलता-पसन्दगी में तेजी से वृद्धि कर देता है। जिससे सूद की दर बढ़ जाती है। इस प्रकार पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता में ह्रास के साथ-साथ सूद की दर में वृद्धि, विनियोजन में आशातीत पतन ला सकती है। अतः अवसाद का उत्तरदायित्व पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता के ह्रास पर है, सूद की दर पर नहीं।

जिस प्रकार पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता में ह्रास होने के कारण अवसाद काल (Depression) प्रारम्भ होता है उसी प्रकार पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता में वृद्धि होने से विस्तार काल प्रारम्भ होता है। अवसाद के अन्तिम चरण में पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता में वृद्धि होने लगती है। यह कई कारणों से होती है। एक तो एकत्रित चल-सम्पत्ति (Inventories) समाप्त होने लगती है, दूसरे, पूंजीगत वस्तुओं को बदलने की आवश्यकता महसूस होने लगती है, तीसरे, नये आविष्कारों की प्रेरणा होने लगती है। साथ ही सूद की दर में भी वृद्धि होने लगती है क्यों वैंकों के पास मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने लगती है और व्यक्तियों की द्र तरलता पसन्दगी कम हो जाती है। इससे विनियोजनों की मात्रा में वृद्धि हो है, जिससे उत्पादन बढ़ता है, लोगों की आयें बढ़ती हैं, उपभोग बढ़ता है बढ़ता है और व्यापारों का विस्तार किया जाता है। इस प्रकार तेजी हो जाता है।

अतः कीन्स ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि व्यापा कारण सूद की दरों में होने वाले परिवर्तन नहीं है बल्कि पूंजी क्षमता में कमी या वृद्धि है। हालांकि जो कारण पूंजी की सीम प्रभावित करते हैं वे, द्रव्य की तरलता पसन्दगी के माध्यम से प्रभावित करते हैं, परन्तु द्रव्य की तरलता पसन्दगी में प पहले पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता में परिवर्तन होते हैं। विस्तार का उत्तरदायित्व पूंजी की सीमान्त कार्य पर नहीं।

नही है। इस सम्बन्ध में बेन्हम (Benham) का यह कथन उल्लेखनीय है : "उद्योगपति अपने व्यापार का विस्तार या नये व्यापार का प्रारम्भ तभी करते हैं जब कि उनको यह आशा हो जाती है कि उनकी बनाई हुई वस्तुओं की माँग बढ़ जायगी या उनको उत्पन्न करने व बेचने की लागत इतनी कम हो जायेगी कि वे पहले से अधिक वस्तुयें बेचकर लाभ प्राप्त कर सकेंगे।" इसी सम्बन्ध में क्राउथर ने लिखा है कि सूद की दर उत्पादक को प्रभावित नही कर सकती क्योंकि आप घोड़े को पानी के पास ले जा सकते हैं उसको पानी पीने को विवश नही कर सकते।

दूसरे, कीन्स ने यह नही बताया कि व्यापार चक्रो मे नियमितता क्यो होती है। बार-बार व्यापार चक्र एक नियत समय पर ही क्यो आते है और उनका एक निश्चित सा मार्ग क्यो होता है।

तीसरे, कीन्स का व्यापार चक्र का सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के बहुत निकट है क्योंकि कीन्स के अनुसार व्यापार चक्रो का मुख्य कारण पूजी की सीमान्त कार्यक्षमता मे परिवर्तन है। यह पूजी की सीमान्त कार्यक्षमता, उसके अनुसार, विनियोजनकर्त्ताओं के मनोविज्ञान पर निर्भर करती है। इस प्रकार पीगू के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त और कीन्स के सिद्धान्त मे कोई आधारभूत अन्तर नहीं रहता क्योंकि दोनों के अनुसार व्यापार चक्र का कारण विनियोजनकर्त्ताओ का मनोविज्ञान हो जाता है।

(व्यापार चक्रो के उपचार के लिए प्रश्न ७८ को देखें।)

★

Q. 69. Do you agree with the view of Hawtrey that the trade cycle is a purely monetary phenomenon ? What are the non monetary factors which bring about periods of economic prosperity and depression ? [Jabalpur 1965 Vikram 1960]

Q. 70. Give a critical account of the various monetary theories advanced from time to time to explain the alternating periods of economic prosperity and depression. [Agra 1963, 1959]

Q. 71. Explain the monetary theories of trade cycles. [Vikram 1963]

Q. 72. Give a critical account of the various monetary theories advanced from time to time to explain the alternating periods of economic prosperity and depression. [Raj. 1964]

Q. 73. Explain the monetary causes of booms and depressions in industrial activities. [Agra 1961]

Q. 74. Discuss critically the purely monetary theory of the trade cycle. [Allahabad 1959]

Q. 75. "Trade cycle is a purely monetary phenomenon." (Hawtrey) Do you agree with this view? Are there any non-monetray factors which affect a trade cycle? **(Agra 1960, 1957, 1963)**

विश्व के आर्थिक जीवन में समृद्धि और मन्दी (Boom and slump), सम्पन्नता और विपन्नता (Prosperity and depression) की अवस्थायें एक दूसरे के वाद आती रहती हैं। व्यापार अथवा व्यवसाय सम्बन्धी क्रियाओं का समूचा क्रम जो समृद्धि और विपन्नता की अवस्थाओं से होकर गुजरता है, व्यापार चक्र (Trade cycle) अथवा व्यवसायिक चक्र (Business cycle) कहलाता है। कीन्स ने व्यापार चक्र की परिभाषा इस प्रकार से दी है, "A trade cycle is composed of periods of good trade characterised, by rising prices and the low unemployment percentages altering with periods of bad trade characterised by falling prices and high unemployment percentages."[1] हाट्र (Hawtrey) ने व्यापार-चक्र के लिये कहा है कि व्यापार-चक्र में दो प्रवृत्तियाँ होती हैं, अच्छे व्यापार का काल जिसमें मूल्य बढ़ते हैं और वेरोजगारी का प्रतिशत बहुत ही कम होता है तथा खराव व्यापार जिसमें मूल्य गिरते हैं और वेरोजगारी का प्रतिशत बहुत बढ़ जाता है। इस प्रकार सामान्यतः हम कह सकते हैं कि व्यापारिक महँगाइयाँ या अभिवृद्धि (Boom) और उसके पश्चात् आने वाली मन्दी (Slump) की अवस्थायें मिलकर एक व्यापार चक्र का निर्माण करती हैं।

व्यापार चक्र का क्या कारण है? यह एक बहुत ही विवादग्रस्त प्रश्न है जिस पर विभिन्न अर्थशास्त्रियों के विभिन्न मत हैं तथा एकमतता दुर्लभ है। कुछ अर्थशास्त्री, जेवन्स (Jevons) आदि व्यापार-चक्रों को प्राकृतिक कारणों से उत्पन्न मानते हैं, जबकि कुछ दूसरे मुख्यतः पीगू (Pigou) इसको मनोवैज्ञानिक कारणों का परिणाम बताते हैं। समाजवादी इसका कारण अधिक बचत (Over-saving) मानते हैं तथा अन्य अर्थशास्त्री अधिक उत्पादन को। कीन्स (Keynes) ने अपना बचत व विनियोजन (Saving and Investment) के सन्तुलन का अलग ही सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। कुछ प्रमुख अर्थशास्त्रियों के अनुसार जिनके नेता हॉट्रे (Hawtrey) हैं, व्यापार चक्र विशुद्ध रूप से एक मौद्रिक तथ्य (Monetary phenomenon) माना है। यहां पर हमको उन्हीं के सिद्धान्त पर विशेषतः ध्यान देना है।

• **व्यापार-चक्र का मौद्रिक सिद्धान्त (Monetary Theory of the Trade Cycle)**—इस सिद्धान्त के प्रवर्तक व्यापार-चक्र को मनोवैज्ञानिक या जलवायु सम्बन्धी कारणों का परिणाम नहीं मानते बल्कि उनके अनुसार व्यापार चक्र, पूर्णतः एक मौद्रिक तथ्य है।" इसके प्रमुख प्रतिपादकों में आर० जी० हाट्रे (R. G. Hawtrey)

1. J. M. Keynes, A Treatise of Money. Vol. I. P. 78.

का नाम मुख्य है। वित्तीय व्यवस्था (Financial Organisation) अर्थात् बैंकिंग व साख-व्यवस्था ही इसके अनुसार व्यापार-चक्र के लिये उत्तरदायी है।

आधुनिक युग में बैंक साख ही भुगतान का मुख्य तरीका है; और साख की प्रवृत्ति अस्थिरता की है। इसलिये हॉट्रे के मत में व्यापार सम्बन्धी परिवर्तन बैंकों की साख सम्बन्धी नीति के परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होता है। अमौद्रिक कारण जैसे अकाल, युद्ध, बाढ़ आदि व्यापार चक्र के लिये आंशिक रूप से उत्तरदायी हैं।

व्यापार चक्र का ऊर्ध्वमुखी क्रम (Upward movement) बैंक साख के विस्तार के कारण उत्पन्न होता है। अधिकांश व्यापार उधार लिये हुये रुपये से किया जाता है। जब बैंक अधिक साख को उत्पन्न करते हैं तो उन्हें सूद की दर (Rate of interest) को कम करना होता है। व्यापारियों पर सूद की दर का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। सूद की दर में जरा सी भी कमी या अधिकता होने पर वे उधार की मात्रा में काफी कमी या वृद्धि कर देते हैं। सूद की दर कम होने पर व्यापारी अधिक मात्रा में रुपया उधार लेते हैं और अपने व्यापार का विस्तार करते हैं। वे उत्पादकों से अधिक माल की माँग करते हैं जिससे उत्पादक भी अपना उत्पादन बढ़ाते हैं। उत्पादक उत्पादन बढ़ाने के लिये अधिक मशीनों का प्रयोग करते हैं तथा अधिक मशीनों की माँग करते हैं जिसके कारण मशीन बनाने वाले उद्योगों का विस्तार होता है। उत्पादन के बढ़ने से तथा व्यापार के विस्तार से अधिक लोगों को रोजगार मिलता है और उनकी आय में वृद्धि हो जाती है। उनके पास विनिमय-शक्ति (Purchasing power) की अधिकता होने से वे अधिक वस्तुओं की माँग करते हैं, इससे मूल्य बढ़ते हैं और व्यापारी फिर उत्पादन में वृद्धि करते हैं जिससे रोजगार में वृद्धि होकर लोगों की विनिमय-शक्ति और बढ़ जाती है जिसका प्रभाव माँग पर पड़ता है।

उत्पादन बढ़ाने के लिये व व्यापार के विस्तार के लिये उत्पादक तथा व्यापारी अधिक साख की माँग करते हैं परन्तु बैंक असीमित मात्रा में साख की उत्पत्ति नहीं कर सकते। अधिक साख उत्पन्न करने से रक्षित-कोष अनुपात (Reserve ratio) कम हो जाता है और बैंकों को व्याकुल होकर अधिक साख का निर्गमन बन्द करना पड़ता है। केवल इतना ही नहीं होता बल्कि बैंक अपना उधार वापिस माँगने लगते हैं जो कि वे एकदम नहीं लौटा सकते। सूद की दर भी बढ़ जाती है। व्यापारी अपने व्यापार को कम कर देते हैं तथा उत्पादकों से कम माल की माँग करते हैं जिससे उत्पादकों को भी उत्पादन में कमी करनी पड़ती है। प्रत्येक व्यापारी माल को बेच कर नकद प्राप्त करना चाहता है और उधार न मिलने से बहुत सी सीमान्त फर्में बन्द हो जाती है। इससे बेरोजगारी फैलती है, माँग कम होती है, मूल्य घटता है तथा उत्पादन कम होता है। यह चक्र चलता रहता है जब तक कि

बैंक सूद की दर कम नहीं कर देते। सूद की दर में कमी होने से फिर व्यापार में विस्तार व उत्पादन में वृद्धि होने लगती है और इस प्रकार चक्र चलता रहता है। इस प्रकार जमा करने व जमा न करने तथा साख विस्तार व साख संकुचन के मौद्रिक तथ्य ही व्यापार चक्र के कारण है।

इस सिद्धान्त के प्रवर्त्तकों का यह कथन ठीक है कि व्यापार की समृद्धि साख पर निर्भर होती है क्योंकि वित्त ही व्यापार का जीवन है। परन्तु फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि साख के कारण ही संकट उत्पन्न होता है। अधिक से अधिक हम यह कह सकते है कि मौद्रिक कारण समृद्धि या मन्दी के विकास में सहायक होते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि मूल्यों में स्थिरता आ जाय तो व्यापार चक्र उत्पन्न नहीं होगा। परन्तु इस सिद्धान्त की यह धारणा गलत है। यदि हम मूल्यों को स्थिर भी कर दें तब भी व्यापार चक्र को नहीं रोक सकेंगे। पीगू ने इसका सुन्दर उदाहरण दिया है। उसने कहा कि पहाड़ पर चढ़ने के लिये कुल्हाड़े (Ice-axe) की आवश्यकता होती है तथा इसके बिना कोई पर्वतारोही पर्वत पर चढ़ने की नहीं सोच सकता। परन्तु यदि कुल्हाड़े (Ice-axe) की बिक्री रोक दी जाय तो पर्वतारोहण समाप्त नहीं हो जायगा।[2]

इसके अतिरिक्त साख संकुचन व विस्तार पर ही व्यापारिक मन्दी या तेजी निर्भर नहीं करती बल्कि स्वयं साख भी व्यापार की तेजी और मन्दी की आशा के अनुसार ही विस्तृत या संकुचित होती है। साथ ही व्यापार चक्र की एक विशेषता सर्वव्यापकता (Synchronism) है और इसलिए व्यापार-चक्र का कारण किसी एक देश के बैंकों के कार्य नहीं हो सकता।

अतः यह स्पष्ट है कि व्यापार-चक्र एक "विशुद्ध मौद्रिक तथ्य" नहीं है और इस पर दूसरे अन्य अ-मौद्रिक कारणों का भी प्रभाव पड़ता है। वह अ-मौद्रिक कारण निम्नलिखित हैं :—

मौसम (Climate)—बहुत से अर्थशास्त्री व्यापार-चक्र का सम्बन्ध मौसम से स्थापित करते हैं। कृषि बहुत कुछ मौसम पर निर्भर करती है। अनुकूल मौसम

---

2. "In modern mountaineering there is an almost perfect corelation between the possession of an ice-axe and the ascent of snow mountains. Practically nobody ever ascends a snow mountain who has not previously bought an axe···but this does not prove that if the purchase of ice-axes was prohibited by law, snow mountains would no longer be ascended." Pigou-A., C. Industrial Fluctuations, page 197.

होने पर कृषि की अच्छी फसल होती है तथा प्रतिकूल मौसम होने पर खराब। कृषि की फसल पर खाद्य पदार्थों का मूल्य निर्भर करता है तथा खाद्य पदार्थों के मूल्य से ही अन्य वस्तुओं के मूल्य निर्धारित होते हैं। इसके अतिरिक्त कृषि द्वारा ही विभिन्न उद्योगो को कच्चा माल प्रदान किया जाता है। फसल खराब होने से कृषकों की क्रय-शक्ति गिर जाती है तथा उद्योगों को कम कच्चा माल मिलने से उत्पादन कम होता है। इसका विपरीत परिणाम फसल अच्छी होने का होता है।

मनोवैज्ञानिक कारण (Psychological Theory)—व्यापार की सफलता बहुत कुछ *व्यापारियो के अनुमान पर निर्भर होती है और व्यापारियों पर आशा-*वादिता और निराशावादिता का बहुत प्रभाव पडता है। जब एक व्यापारी का अनुमान ठीक हो जाता है तो वह आशावादी हो जाता है। वह अपने व्यापार का विस्तार करता है। उसकी आशावादिता का प्रभाव दूसरो पर पडता है और व्यापार मे तेजी और चढाव की प्रवृत्ति दिखाई पड़ने लगती है। इसके विपरीत जब किसी का अनुमान गलत हो जाता है तो व्यवसायी वर्ग निराशावादी हो जाता है तथा मंदी की अवस्था प्रारम्भ हो जाती है।

प्रतिस्पर्द्धा अथवा अधि-उत्पादन (Competition or Over Production)—पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के कारण बाजार मे प्रतिस्पर्द्धा होती है और इस प्रतिस्पर्द्धा के परिणामस्वरूप भी व्यापार चक्र होता है। प्रतिस्पर्द्धा के दो परिणाम होते हैं जिनके कारण व्यापार चक्र उत्पन्न होता है—एक तो अधिक उत्पादन तथा दूसरे उत्पादन लागत में वृद्धि।

पूँजीवादी उत्पादन मे उत्पादकों की क्रियाओ मे समायोजन नही होता तथा प्रत्येक उत्पादक बाजार की माँग का अनुमान अलग-अलग लगाता है तथा बाजार की कुछ माँग का अधिकांश भाग स्वयं पूरा करना चाहता है। इसके परिणामस्वरूप अधि-उत्पादन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसमे माल बेकार पड़ा रहता है और कोई खरीदार नही होता तथा आर्थिक मंदी प्रारम्भ हो जाती है। इसके अतिरिक्त प्रतिस्पर्द्धा के कारण बाजार मे वस्तु की उत्पादन लागत भी बढ जाती है। प्रत्येक उत्पादक अधिक उत्पन्न करने के लिये अधिक साधनो की माँग करता है जिससे उनका मूल्य बढ़ जाता है और वस्तु की उत्पादन लागत में भी वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार एक ओर तो अधि-उत्पादन होता है और दूसरी ओर लागत बढ़ने से मूल्य बढ़ जाता है। आर्थिक मदी प्रारम्भ होकर व्यापारिक चक्र चालू हो जाता है।

अत्यधिक बचत और अर्द्ध-उपयोग (Over Saving and Under Consumption)—अत्यधिक बचत व अर्द्ध-उपभोग भी व्यापार चक्र का कारण है। पूँजीवादी समाज में कुछ लोग बहुत धनी होते हैं जो अपनी सारी आय का उपभोग नही कर सकते और इसलिये बचत स्वयं ही अधिक हो जाती है। इस बचत का विनियोजन किया जाता है जिससे उत्पादन अधिक हो जाता है। दूसरी ओर गरीब लोग अधिक

होते हैं तथा उनके पास क्रय शक्ति बहुत कम होती है। वे सब वस्तुओं को खरीद नहीं सकते। परिणाम यह होता है कि बाजार में पूर्ति अधिक बढ़ जाती है तथा मांग कम रहती है जिससे आर्थिक मंदी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

कीन्स के विचार (Keynes view)—कीन्स ने पूँजी की सीमान्त क्षमता (Marginal efficiency of capital) में होने वाले उतार चढ़ावों को व्यापार चक्र का कारण बताया है। कीन्स के अनुसार पूँजी की सीमान्त क्षमता में वृद्धि होने पर विनियोग (Investment) को प्रोत्साहन मिलता है जिसके फलस्वरूप व्यापार में तेजी प्रारम्भ हो जाती है। इसके विपरीत पूँजी की सीमान्त क्षमता के घट जाने पर पूँजी के विनियोग की मात्रा भी कम हो जाती है और मंदी प्रारम्भ हो जाती है।

अत: यह स्पष्ट है कि व्यापार चक्र को हम "विशुद्ध मौद्रिक तथ्य" नहीं कह सकते क्योंकि व्यापार चक्र बहुत से कारणों का परिणाम है। यह एक बहुत ही "जटिल तथ्य" (Complex phenomenon) है और इसलिये इसके लिये कोई एक कारण निर्धारित नहीं किया जा सकता है। जलवायु के कारण उत्पत्ति अधिक या कम होती है और मनोवैज्ञानिक कारणों से लोगों में आशावादिता तथा निराशावादिता फैलती है। प्रतिस्पर्द्धा व अधिक बचत से उत्पादन कम या अधिक होता है और मौद्रिक कारण तेजी या मन्दी को प्रोत्साहन देते हैं। इन सब कारणों के मिलने से ही व्यापार चक्र उत्पन्न होता है।

★

Q. 76. Trace the important phases of Trade Cycles, indicating the extent to which such phases are related to and susceptible to control by the credit mechinary of a modern community. (Agra 1946)

Q. 77. Differentiate between Dr. Hayek's and Hick's theories of trade cycles. Suggest measures to meet trade crisis. (Agra 1954)

Q. 78. Discuss the measures proposed to control the trade cycles in recent years.

[हियक और हिक्स के सिद्धान्त को प्रश्न ६१ व ६२ में देखो।]

उत्पादन क्रियाओं का क्रम एकसा नहीं रहता तथा इसमें स्थिरता नहीं रहती। घण्टे के पेन्डुलम की भाँति कभी यह ऊपर उठती है और कभी नीचे गिरती है। इसके क्रम की तुलना साँप की चाल से की जा सकती है जो कभी सीधा नहीं चलता। उत्पादन क्रियाओं की इस अस्थिरता को ही व्यापार चक्र कहते हैं। व्यापार चक्र का अर्थ है कि कभी तो व्यापार में तेजी की प्रवृत्ति होती है और कभी मन्दी की। इन दोनों प्रवृत्तियों का रोजगार की मात्रा, द्रव्य की क्रय-शक्ति, व्यापार की गति आदि पर इतना विपरीत प्रभाव पड़ता है कि आजकल अधिकांश

अर्थशास्त्री इसी चिन्तन में लगे हुये हैं कि व्यापार चक्रों को किस प्रकार से दूर किया जाय। बहुत से अर्थशास्त्रियों ने व्यापार चक्रों के निराकरण के उपाय बताये हैं परन्तु उसमे आपस में समानता नही है। इसका कारण यह है कि व्यापार चक्रो के कारणो पर भी वे अलग-अलग मत रखते हैं तथा व्यापार चक्र के कारण के अनुसार ही निराकरण के उपाय बताते हैं। जो व्यापार चक्र को मौद्रिक तथ्य मानते हैं, वे द्रव्य की पूर्ति को नियन्त्रित करने को कहते है। अर्द्ध-उपभोग को व्यापार चक्र का कारण मानने वाले आय की समानता ही इसका निराकरण बताते हैं। जो अर्थशास्त्री विनियोजन की मात्रा के उतार-चढ़ाव के कारण व्यापार-चक्र की उत्पत्ति मानते हैं, वे कहते हैं कि विनियोजन की मात्रा को नियन्त्रित करना चाहिये। इस प्रकार से व्यापार-चक्रों के निराकरण के लिये विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न उपाय बताये हैं। उन उपायों को हम निम्नलिखित तीन भागों में बाँट सकते हैं :—

(१) मौद्रिक नीति (Monetary Policy),
(२) सटकर नीति (Fiscal Policy),
(३) अन्तर्राष्ट्रीय उपाय (International Measures)।

(१) मौद्रिक नीति (Monetary Policy)—द्रव्य व साख की मात्रा का बहुत अधिक प्रभाव व्यापार पर पड़ता है तथा द्रव्य व साख के विस्तार पर ही मुख्यतः व्यापार तथा उत्पादन मे वृद्धि सम्भव होती है। इसलिये देश की मौद्रिक नीति के द्वारा ही व्यापार-चक्रो को रोकने पर अधिक महत्व दिया जाता है। ठीक प्रकार की मौद्रिक नीति का पालन करने से तेजी या मन्दी को रोका जा सकता है या उसकी तीव्रता को कम किया जा सकता है। मौद्रिक नीति के अन्तर्गत, ऋण, सूद की दर, मौद्रिक प्रमाण, सार्वजनिक ऋण व इसके प्रबन्ध से सम्बन्धित बैंकिंग व साख नीति सम्मिलित हैं। देश का केन्द्रीय बैंक बैंकिंग व साख नीति का निर्धारण करता है। जिसके आधार पर ही साख की मात्रा व मुद्रा की पूर्ति निर्भर करती है। साख नीति में परिवर्तन करके केन्द्रीय बैंक साख की मात्रा व मुद्रा की पूर्ति कम या अधिक कर सकता है और साख कम या अधिक होने से व्यापार का भी संकुचन व विस्तार होगा।

केन्द्रीय बैंक साख की मात्रा मे परिवर्तन बहुत से उपायों से कर सकता है जिनमे से दो उपाय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। एक बैंक दर में परिवर्तन करना तथा दूसरा खुले बाजार की क्रिया द्वारा द्रव्य की मात्रा को कम या अधिक करना। जिस समय देश मे तेजी काल है और व्यापारी तथा उत्पादक व्यापार व उत्पादन क्रियाओ का अन्धाधुन्ध विस्तार कर रहे हैं उस समय केन्द्रीय बैंक, बैंक की दर (Bank rate) मे वृद्धि कर देता है जिससे दूसरे बैंक भी अपनी उधार देने की दर मे वृद्धि कर देते हैं। सूद की दर मे वृद्धि के कारण उधार लेने वाले उधार लेने की

मात्रा में कमी कर देते हैं तथा विस्तार पर रोक लग जाती है। साथ ही तेजी काल में व मुद्रा-स्फीति (Inflation) की अवस्था में जब लोगों के पास क्रय-शक्ति बहुत अधिक होती है तो केन्द्रीय बैंक सरकारी प्रतिभूतियों (Government Securities) को बेचना प्रारम्भ कर देता है। लोगों के पास से द्रव्य केन्द्रीय बैंक के पास आ जाता है तथा बैंकों की जमा भी कम हो जाने के कारण वे साख का विस्तार अधिक नहीं कर सकते।

मन्दी काल में बाजार में धन की कमी होती है और इस कारण सस्ते व सरल द्रव्य (Cheap and easy money) की नीति को अपनाने की आवश्यकता होती है। केन्द्रीय बैंक, बैंक दर में कमी कर देता है जिसके परिणामस्वरूप अन्य बैंक भी सूद की दर में कमी कर देते हैं और साख सस्ती होने पर व्यापारी व उत्पादक अधिक मात्रा में उधार लेते हैं। सरकारी प्रतिभूतियों को भी केन्द्रीय बैंक खरीदना आरम्भ कर देता है और लोगों के पास मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाती है।

केन्द्रीय बैंक दो प्रकार का साख नियन्त्रण करता है—मात्रात्मक (Quantitative) तथा गुणात्मक (Qualitative)। मात्रात्मक नियन्त्रण का ध्येय साख की मात्रा में कमी या वृद्धि करना होता है। यह नियन्त्रण बैंकों के सुरक्षित कोष को प्रभावित करके किया जाता है। गुणात्मक नियन्त्रण में बैंक यह निर्धारित करता है कि किस कार्य के लिये ऋण दिया जाय और किस कार्य के लिये न दिया जाय।

बहुत समय तक इन उपायों को बहुत महत्व मिलता रहा, परन्तु सन् १९२९ के विश्व मन्दीकाल (World Depression) में इनके असफल होने से इनको महत्व मिलना कम हो गया। अब फिर मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिये इन उपायों को काम में लाया जाने लगा है। परन्तु इन उपायों की सफलता कई कारणों से सीमित है। यह आवश्यक नहीं होता कि केन्द्रीय बैंक में बैंक दर कम या अधिक होने से अन्य बैंक भी अपनी सूद की दर कम या अधिक कर दें। आजकल बैंक अधिकतर अपने ही साधनों पर निर्भर रहते हैं और इसलिए केन्द्रीय बैंक की बैंक दर नीति का अधिक प्रभाव उन पर नहीं पड़ता। बैंकों की उधार देने की नीति पर बैंक दर की अपेक्षा देश की प्रचलित आर्थिक अवस्था का अधिक प्रभाव पड़ता है। देश में तेजी काल के समय बैंक दर अधिक होने पर भी साख की माँग अधिक होने के कारण बैंक साख अधिक देते रहते हैं। इसके विपरीत मन्दी काल में सूद की दर कम होने पर भी कोई द्रव्य उधार लेने को तैयार नहीं होता। इसके अतिरिक्त व्यापारियों व उत्पादकों को साख केवल बैंकों से नहीं मिलती, बल्कि अन्य साधनों से भी मिलती है और उन पर केन्द्रीय बैंक का कोई प्रभाव न होने के कारण बैंक दर का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इन उपायों की सफलता के लिए बैंकों को केन्द्रीय बैंक की नीति के साथ-साथ चलना आवश्यक होता है और बैंक दर के घटने-बढ़ने तथा सरकारी प्रतिभूतियों के खरीदने-बेचने के साथ अन्य बैंकों के जमा भी कम या अधिक होने चाहियें। परन्तु प्रत्येक

देश की बैंकिंग व्यवस्था इतनी लोच पूर्ण नहीं होती कि केन्द्रीय बैंक इच्छानुसार परिवर्तन बैंकों की नीति में करा सके।

इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्रियों में इस बात पर ही मतभेद है कि व्यापार-चक्र मौद्रिक तथ्य है या नहीं। जो अर्थशास्त्री इसको मौद्रिक तथ्य नहीं मानते वे मौद्रिक उपायों की सफलता में भी अधिक विश्वास नहीं रखते।

तटकर नीति (Fiscal Policy)—मौद्रिक नीति की असफलता के कारण अर्थशास्त्रियों ने नये उपायों की खोज की और तटकर उपायों के महत्व को समझा। प्रारम्भ में तो इसका महत्व केवल मौद्रिक नीति के पूरक के रूप में ही था, परन्तु बाद में यह एक स्वतन्त्र नीति के रूप में प्रयुक्त होने लगी और इसने बहुत सीमा तक मौद्रिक नीति को प्रतिस्थापित कर दिया। तटकर नीति के अन्तर्गत राज्य व्यय तथा राज्य कर आदि आते हैं और इनका बहुत अधिक प्रभाव मूल्यों, उत्पादन व रोजगार पर पड़ता है।

कीन्स (Keynes) ने इस नीति पर अधिक महत्व दिया था। मन्दी काल में उत्पादक व व्यापारी विनियोजन करने के लिये तैयार नहीं होते क्योंकि उनको हानि का डर रहता है। इसके कारण बेरोजगारी भी बहुत फैल जाती है जिससे लोगों की 'उपभोग की प्रवृत्ति' (Propensity to Consume) घट जाती है। सरकार को अपने प्रयत्नों के द्वारा दोनों कमियों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए अर्थात् विनियोजन को प्रोत्साहित करना चाहिए तथा उपभोग की प्रवृत्ति को भी बढ़ावा देना चाहिए। ऐसा करने के लिये यह आवश्यक है कि सरकार व्यक्तिगत विनियोजन पर ही निर्भर न करे बल्कि स्वयं विनियोजन करे। सरकार को चाहिए कि सार्वजनिक निर्माण कार्य के विस्तृत कार्यक्रम को चालू करे। इससे अधिक लोगों को रोजगार मिल सकेगा और उनकी उपभोग की प्रवृत्ति भी बढ़ जायेगी। उपभोग की प्रवृत्ति में वृद्धि होने से वे अधिक वस्तुओं की माँग करेंगे जिससे व्यक्तिगत साहसियों को प्रोत्साहन मिलेगा और अधिक विनियोजन करके अधिक वस्तुओं का उत्पादन होगा। उनके उत्पादन बढ़ने से व्यक्तिगत क्षेत्र में भी रोजगार बढ़ेगा और उपभोग की प्रवृत्ति और बढ़ेगी जिससे और अधिक माग होगी तथा अधिक उत्पादन होगा। इस प्रकार से मंदीकाल को दूर किया जा सकेगा।

सार्वजनिक निर्माण कार्य के साथ-साथ सरकार को कर नीति के द्वारा भी विनियोजन व उद्योग उत्पादन को प्रोत्साहन देना चाहिए। इस सम्बन्ध में राज्य पूंजी के विनियोक्ताओं (Investors) को कर सम्बन्धी सुविधायें और पूंजी की घिसाई सम्बन्धी भत्ते आदि देकर विभिन्न उद्योगों को प्रोत्साहित कर सकता है।

तेजी काल में इससे विपरीत नीति को अपनाना होता है। सरकार सार्वजनिक निर्माण के कार्यों पर रोक लगा देती है या बन्द कर देती है जिससे व्यक्तियों

की उपभोग की प्रवृत्ति कम हो सके। साथ ही अधिक कर लगाकर अतिरिक्त क्रय-शक्ति लोगों से ले लेती है तथा अधिक उत्पादन को निरुत्साहित करती है।

इस प्रकार से इस नीति के प्रवर्तकों का कहना है कि राज्य को सन्तुलित बजट नहीं बनाने चाहिये, बल्कि तेजी काल के बजटों में बचत (Surplus) होनी चाहिए तथा मन्दी काल के बजट घाटे (Deficit) के होने चाहियें।

यह तो उस समय के लिए है जबकि तेजी या मन्दी प्रारम्भ हो गई हो। परन्तु सरकार को दीर्घकाल में आर्थिक स्थिरता बनाये रखने का प्रयत्न करना चाहिए। सरकार इस ध्येय की पूर्ति को व्यक्तिगत विनियोजन में हुए परिवर्तनों का सार्वजनिक विनियोजन से समायोजन करके कर सकती है। इसको 'तटकर नीति का क्षतिपूरक कार्य ("Compensatory action of the fiscal policy") कहते हैं।

इस नीति का इतना अधिक महत्व होते हुए भी इसकी सीमाओं को नहीं भुलाया जा सकता। सबसे अधिक कठिनाई तो प्रजातान्त्रिक देश में आती है जहाँ पर घाटे व बचत दोनों प्रकार के बजटों की तीव्र आलोचना होती है। घाटे के बजट बनाने पर कहा जाता है कि सरकार सार्वजनिक धन को मितव्ययता से खर्च नहीं कर रही है। बचत के बजट में सरकार को अधिक कर लगाने के लिये दोषी ठहराया जाता है तथा कर की दर में कमी करने को कहा जाता है। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक निर्माण के कार्यों को मन्दी काल तक के लिए रोक कर नहीं रखा जा सकता क्योंकि उनकी आवश्यकता उस समय भी बहुत अधिक हो सकती है जब तेजी काल हो। इस नीति की एक सीमा और है कि विशिष्ट साधनों (Specific factors) को एक उपयोग से दूसरे उपयोग में नहीं लगाया जा सकता। केवल अविशिष्ट साधनों (Non-specific factors) को ही किसी भी उपयोग में लगाया जा सकता है।

American Economic Association के शब्दों में, "In a system where the great majority of workers are in private employment, government stablisation policy consists primarily in altering the general economic climate so as to instigate or offset developing fluctuations in private business."

इन सीमाओं के होते हुए भी इस नीति के महत्व को कम नहीं किया जा सकता। इस नीति के सफल परिणाम के लिये यह आवश्यक है कि इसको मौद्रिक नीति के साथ समायोजित किया जाय।

अन्तर्राष्ट्रीय उपाय (International Measures)—व्यापार-चक्र की एक विशेषता है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय तथ्य (International phenomenon) है तथा किसी भी देश में हुई आर्थिक घटनाओं का प्रभाव दूसरे देशों पर भी पड़ता है। इस

लिये यदि व्यापार-चक्र को समाप्त करना है तो यह आवश्यक है कि कुछ इस प्रकार के उपाय किये जायें जिनका सम्बन्ध समस्त देशों से हो क्योंकि यदि एक देश व्यापार-चक्र को दूर करने का प्रयत्न कर रहा है और दूसरे देश मे तेजी या मन्दी प्रारम्भ हो जाती है तो उसका प्रभाव दूसरे देश पर भी पड़ेगा और उसके सब प्रयत्न विफल हो जायेंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय उपायों मे सबसे महत्वपूर्ण उपाय अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादन नियन्त्रण है। बहुत सी वस्तुयें इस प्रकार की होती है जो अन्तर्राष्ट्रीय महत्व की होती हैं और उनके मूल्यों मे यदि एक देश मे परिवर्तन हो जाय तो उसका प्रभाव दूसरे देशों पर भी पड़ता है और व्यापार-चक्र प्रारम्भ हो जाता है। परन्तु उत्पादन नियन्त्रण अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कठिन होता है। फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय बफर स्टाक्स (Buffer Stocks) रखकर पूर्ति मे होने वाले आकस्मिक परिवर्तनों को रोका जा सकता है। साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय विनियोजन नियन्त्रण से भी पिछड़े देशो का विकास किया जा सकता है और उनके रहन-सहन के स्तर मे वृद्धि करके आय की असमानताओं को दूर किया जा सकता है।

उपरोक्त उपाय तो उस समय के है जबकि व्यापार-चक्र प्रारम्भ हो जाता है और इन उपायो के द्वारा उसकी तीव्रता और अवधि कम करने का प्रयत्न किया जाता है। परन्तु अधिक ध्यान उन उपायो पर देना आवश्यक है जिनमे व्यापार चक्र उत्पन्न ही न हो और वे समाप्त हो जायें। इसके लिये हमको देखना होगा कि व्यापार-चक्र किस प्रकार से उत्पन्न होते हैं और उनकी प्रकृति क्या है। इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों मे एकमतता नही है। परन्तु फिर भी व्यापार-चक्र से मूल्यो मे परिवर्तन होता है जिसका प्रभाव उत्पादन व रोजगार पर पड़ता है जिससे तेजी काल व मन्दी काल आता है। इस पर सब ही सहमत हैं। इसलिये यदि हम चाहते हैं कि व्यापार-चक्र को उत्पन्न ही न होने दिया जाय तो मूल्यों में होने वाले उतार-चढ़ाव को रोकना होगा तथा लगभग स्थिर मूल्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करना होगा। मूल्यों मे अत्यधिक उतार-चढाव को रोकने के लिये उत्पादन को नियन्त्रित करना आवश्यक है। यदि कारखानो मे तैयार माल की माँग के सम्बन्ध मे सही-सही तथ्य और आँकड़े इकट्ठे किये जायें और उनका प्रकाशन किया जाय तो उनकी सहायता से व्यवसायियों को बेहद खतरनाक ढंग पर आशावादी होने से रोका जा सकता है, और उन्हें व्यापारिक अभिवृद्धि की ओर बढ़ने से रोका जा सकता है।

आर्थिक नियोजन (Economic Planning) करके भी व्यापार-चक्रो को काफी सीमा तक दूर किया जा सकता है। आर्थिक नियोजन के द्वारा देश के समस्त साधनो को ध्यान में रखकर उत्पादन लक्ष्यो को निर्धारित किया जाता है और देश की समस्त उत्पादन क्रियाओं को समायोजित किया जाता है। इस प्रकार से देश मे मूल्यों व उत्पादन मे बहुत अधिक उतार-चढाव नही होने पाता।

अतः यह स्पष्ट है कि व्यापार-चक्रों के नियन्त्रण के लिये कोई एक निश्चित उपाय नहीं बताया जा सकता। व्यापार-चक्र विभिन्न देशों में विभिन्न कारणों से उत्पन्न होते हैं और जो उपाय किये जायें, वे उन कारणों को ध्यान में रखकर ही किये जाने चाहियें। इसके अतिरिक्त देश की सरकार सदा व्यापार-चक्रों के प्रति सजग रहे और जब भी तेजी या मन्दी के जन्म के चिन्ह दिखाई पड़ें तुरन्त उनको दूर करने का प्रयत्न किया जाय। व्यापार-चक्रों को प्रारम्भ में ही दूर करना सरल होता है परन्तु यदि व्यापार-चक्र प्रारम्भिक अवस्था से निकल जाते हैं तो उन पर नियन्त्रण करना अधिक कठिन हो जाता है।

Selected Readings

1. J. R. Hicks : A Theory of Trade Cycle.
2. A. N. Hansen : Fiscal Policy and Business Cycles.
3. A. C. Pigou : Industrial Fluctuations.
4. R. G. Hawtrey : Trade and Credit.
5. G. N. Halm : Economics of Money and Banking.
6. J. S. Duesenberry : Business Cycles and Economic Growth.
7. J. A. Schunpeter : Business Cyeles.
8. G. Crowthes : An Outline of Money.

१५

मुद्रा-स्फीति व मुद्रा-संकुचन
(Inflation and Deflation)

Q. 79. Define inflation and explain its various forms.
(Agra 1962)

Q. 80. Explain the various types of inflation. Why is it regarded as undesirable ? (Raj. 1954)

Q. 81. What is meant by inflation ? What are its dangers and how can they be combated ?

अर्थशास्त्र की शब्दावली मे से यदि किसी शब्द का सबसे अधिक प्रयोग किया गया है तो वह मुद्रा-स्फीति (Inflation) है। यद्यपि लाखो व्यक्ति इस शब्द का प्रयोग करते हैं परन्तु बहुत कम ही इसके वास्तविक अर्थ को समझते हैं और बहुत कम ने ही इसको स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।[1] प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियो ने भी या तो इसकी व्याख्या करते समय इसको अधूरा छोड दिया है अथवा वैज्ञानिक निश्चितता के साथ परिभाषित करने का प्रयत्न ही नही किया है। डा० मल्होत्रा ने इसी सम्बन्ध में लिखते हुए कहा है, "Inflation is one of those economic terms which cannot be precisely defined and some well-known writers on money have either confussedly left some 'mistiness' about it or not attempted to define it with scientific precision."[2]

रूपरेखा :
(१) मुद्रा स्फीति की व्याख्या व विभिन्न अर्थशास्त्रियो द्वारा परिभाषा।
(२) मुद्रा स्फीति के विभिन्न रूप
(a) वस्तु स्फीति;
(b) पूँजी स्फीति;
(c) लाभ स्फीति,
(d) आय स्फीति।
(३) मुद्रा स्फीति को रोकने के उपाय।
(a) मौद्रिक उपाय;
(b) नैतिक उपाय,
(c) प्रत्यक्ष उपाय;
(d) अन्य उपाय।

1. "Although many millions of people are now using that term, very few of them have tried to define for themselves what exactly they mean by it." —Paul Einzig, Inflation. page 12.

2. Dr. D. K. Malhotra : History and Problems of Indian Currency 1835–1959. page 12.

मुद्रा प्रसार के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की परिभाषायें प्रचलित हैं जो मुद्रा प्रसार की प्रकृति के बारे में एक मत नहीं है। बहुत पहले प्रो० पीगू ने मुद्रा प्रसार की परिभाषा करते हुए इसको मूल्यों में वह वृद्धि बताया था जो सरकार के द्रव्य व बैंक के कार्य में हस्तक्षेप के कारण होती है।[3]

परन्तु अब अधिकतर अर्थशास्त्री इस परिभाषा से सहमत नहीं हैं और स्वयं पीगू ने भी इसको गलत मान लिया था।

वर्तमान अर्थशास्त्री यद्यपि सविस्तार विवरण के सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं, परन्तु इस बात पर लगभग सब सहमत हैं कि मुद्रा प्रसार का आशय साख व द्रव्य, अथवा क्रय-शक्ति में सामान्य आवश्यकता से अधिक वृद्धि से है। ग्रेगरी (Gregory) के अनुसार क्रय-शक्ति की मात्रा में असामान्य वृद्धि मुद्रा प्रसार है। हाट्रे (Hawtrey) ने भी मुद्रा के अत्यधिक प्रसार को मुद्रा प्रसार माना है।

केमरर (Kemmerer) ने मुद्रा प्रसार की परिभाषा इस प्रकार दी है—मुद्रा प्रसार तब हुआ करता है जब मुद्रा तथा चैक्स के द्वारा प्रचलित बैंक जमा की पूर्ति विनिमय के माध्यम की कुल मांग से इस प्रकार बढ़ जाय कि सामान्य मूल्य स्तर बढ़ने लगें।"[4]

इन सब परिभाषाओं में एक कमी यह है कि ये केवल मौद्रिक स्फीति (Monetary Inflation) को ही बताती हैं और मूल्य स्फीति (Price Inflation) को एक दम छोड़ देती हैं। यह बहुत बार देखने में आता है कि मूल्य, मुद्रा में वृद्धि के कारण नहीं बढ़ते बल्कि मूल्य की वृद्धि के कारण भी मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होती है। जर्मनी में सन् १९२३ में मुद्रा की मात्रा मूल्यों से कम थी और मूल्यों में वृद्धि के कारण ही मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होती थी। इसी प्रकार सन १९५०-५१ में आयात किये गये कच्चे माल के मूल्यों में वृद्धि के कारण ही मुद्रा व साख की मात्रा में वृद्धि की गयी। ये दोनों अवस्थाएँ यद्यपि स्फीति की थीं परन्तु उपरोक्त परिभाषाओं के अनुसार उनको मुद्रा-स्फीति नहीं कहा जा सकता।

मुद्रा-स्फीति की इन परिभाषाओं के दोषों को पॉल एनजिग (Paul Einzig) ने इन शब्दों में व्यक्त किया है, "What is wrong whith them is that they are trying to reduce to a lifeless mathematical formula the movem-

3. "Inflation is that part of the rise in prices that is consequent upon Governmental interference with money and banking." — A. C Pigou : Economics of Welfare.

4. "Inflation is said to occur whenever the supply of money and bank deposists circulating through cheques, so called 'deposit currency' increases, relatively to the demand for media of exchange in such a way as to bring about a general rise in the price level." —Kemmerer, A. B. C. of Inflation.

ents of a vicious spiral. According to them there is inflation if at some given moment or during some given period the volume of money (or purchasing power) exceeds requirements prevailing at the same moment of during the same period. Yet in reality the same arithmetical ratio between the two quantities may mean inflation or deflation according to the direction in which the vicious spiral tends to move."[5]

मुद्रा-स्फीति के इन दोषों को दूर करने का प्रयत्न बहुत से अर्थशास्त्रियों ने किया है जिनमे क्राउथर (Crowther) का नाम मुख्य रूप से आता है। उनके अनुसार, "मुद्रा-स्फीति वह अवस्था है जिसमें मुद्रा का मूल्य गिर रहा हो अर्थात् मूल्य स्तर बढ़ रहा हो।"[6] यह परिभाषा भी दो कारणों से ठीक नहीं है। प्रथम तो यह कोई परिभाषा नहीं है बल्कि मुद्रा-स्फीति का पर्यायवाची शब्द है। यह उस प्रवृत्ति को तो बताता है जो मुद्रा-स्फीति में होती है (मूल्य स्तर के बढ़ने की) परन्तु कारण व परिणाम में सम्बन्ध नहीं बताती। दूसरे मूल्यों में होने वाली प्रत्येक वृद्धि को मुद्रा-स्फीति नहीं कहा जा सकता जैसे मन्दी काल (Depression period) के बाद जब मूल्य बढ़ते हैं तो यह मुद्रा-स्फीति की स्थिति नहीं कहला सकती।

पॉल इनजिग ने मुद्रा-स्फीति की परिभाषा अधिक वैज्ञानिक ढंग से की है उनके अनुसार, "मुद्रा-स्फीति क्रय-शक्ति की एक विस्तारात्मक प्रवृत्ति है जो बढ़े हुए मूल्य-स्तर का कारण है या उसका परिणाम है।"[7]

इस परिभाषा मे उन्होंने यह बताने का प्रयत्न किया है कि मुद्रा-स्फीति केवल उसी समय नहीं होती जब मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि होने के कारण मूल्यों मे वृद्धि हो, बल्कि यदि मूल्य वृद्धि के परिणामस्वरूप मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो तो वह भी मुद्रा-स्फीति की स्थिति है। इस परिभाषा मे यह बात महत्वपूर्ण नहीं है कि किसी विशेष समय द्रव्य आवश्यकता से अधिक है या क्रय-शक्ति की मात्रा वस्तुओं की मात्रा से अधिक है। जो सबसे महत्वपूर्ण बात है वह यह है कि एक ऐसा विषैला चक्र चल रहा है जिसमे मूल्य, मजदूरी, मौद्रिक आवश्यकतायें, मुद्रा की मात्रा आदि एक दूसरे को ऊपर की ओर की दिशा में प्रभावित करें। इनमें से कोई सा भी कारण अधिक प्रभावपूर्ण हो सकता है। अतः मुद्रा-स्फीति के बारे में

5. "Paul Einzig, Inflation. Page 14–15.

6. "Inflation is a state in which the value of money is falling i. e. prices are rising......" —Geoffrey Crowther. Page 107.

7. "Inflation is an expansionary trend of purchasing power that tends to cause, or to be the effect of, an increase of the price level." Paul Einzig, Inflation, Page 17.

जानने के लिये हमे विषैले चक्र के एक चित्र को नहीं देखना चाहिये वल्कि चित्रों के एक क्रम या सिनेचित्र को देखना चाहिये।

दूसरे स्थान पर उन्होंने मुद्रा-स्फीति को और भी अधिक वैज्ञानिक रूप देते हुए लिखा है कि मुद्रा-स्फीति में मूल्य, मजदूरी, मुद्रा आवश्यकता व मुद्रा की मात्रा का सन्तुलन टूट जाता है और यदि यह सन्तुलन फिर से स्थापित हो जाय तो मुद्रा-स्फीति की स्थिति नही रहती। इस वात को ध्यान में रखते हुये उन्होंने मुद्रा-स्फीति की पहली परिभाषा में इस प्रकार संशोधन किया है, मुद्रा-स्फीति को उस असन्तुलन की अवस्था कहा जा सकता है जिसमें क्रय-शक्ति में वृद्धि के कारण या परिणाम-स्वरूप मूल्य स्तर में वृद्धि हो जाय।"[8]

लार्ड कीन्स (Keynes) ने अपनी परिभाषा पूर्ण रोजगार (Full Employment) के दृष्टिकोण से करते हुए लिखा है कि शुद्ध मुद्रा प्रसार (Pure inflation) उस अवस्था में होता है जब देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति पहुँच जाय और वेकार साधन समाप्त हो जायें पर मुद्रा की मात्रा में वृद्धि की जाय। पूर्ण रोजगार से पूर्व की स्थिति में यदि मुद्रा की पूर्ति को बढ़ाया जाता है तो यह सब पूर्ति मूल्यों में वृद्धि नहीं करती। इसका कुछ भाग तो वेकार साधनों को काम में लगाने के काम आता है तथा कुछ उत्पादन लागत व मूल्यों को वढ़ाता है। इसे कीन्स ने अर्द्ध-मुद्रा-स्फीति (Semi-inflation) की स्थिति कहा है।

मुद्रा-स्फीति के विभिन्न रूप (Diffierent Forms of Inflation)—मुद्रा-स्फीति विभिन्न रूपों में हो सकती है। कीन्स ने अपनी पुस्तक (Treatise on Money) में चार प्रकार की मुद्रा-स्फीति का वर्णन किया है :—

(१) वस्तु स्फीति (Commodity Inflation)
(२) पूँजी स्फीति (Capital Inflation)
(३) लाभ स्फीति (Profit Inflation)
(४) आय स्फीति (Income Inflation)।

एक साधारण प्रकार की मुद्रा-स्फीति को, जब वस्तुओं के मूल्य वढ़ रहे हों, कीन्स ने वस्तु स्फीति कहा है। इस प्रकार की मुद्रा-स्फीति में उत्पत्ति के साधनों को उनकी उत्पत्ति के अनुपात में कम पारिश्रमिक मिलता है और उत्पादन लागत की तुलना में वस्तु के मूल्यों में अधिक वृद्धि होती है। आय स्फीति में, इसी प्रकार से उत्पादन लागत में कमी हो जाती है परन्तु मूल्यों में कमी न होने के कारण लाभ की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। पूँजी स्फीति में विनियोजित वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो जाती है जबकि इनकी लागत में कोई वृद्धि नहीं होती। लाभ स्फीति में उत्पादन के

8. "Inflation may be defined as a state of inequilibrium in which an expansion of purchasing power tends to cause, or is the effect of, an increase of the price level." —Ibid. Page 22

साधनों का मूल्य तो पहले के समान ही रहता है, परन्तु उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि हो जाने से उत्पादन का परिमाण बहुत बढ़ जाता है जिससे उत्पादन में लाभ की मात्रा बढ़ जाती है।

अपनी दूसरी पुस्तक The General Theory of Money, Interest and Employment में कीन्स ने अपने विचार प्रदत्त किये और मुद्रा-स्फीति को शुद्ध मुद्रा-स्फीति व अर्द्ध-मुद्रा-स्फीति में वर्गीकृत किया।

प्रो० पीगू ने मुद्रा-स्फीति का भेद दो प्रकार से किया है :—पूर्ण मुद्रा प्रसार (Full Inflation) व आंशिक मुद्रा प्रसार (Partial Inflation)। उनके अनुसार *मुद्रा-स्फीति में मूल्यों के बढ़ने से उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है और उत्पादन के* साधनों को अधिक रोजगार मिलता है जिससे पूर्ण रोजगार की स्थिति स्थापित हो जाती है। इस स्थिति पर पहुँचने के पश्चात् यदि उत्पत्ति की अपेक्षा मौद्रिक आय अधिक तेजी के साथ बढ़ती है तो इसे पूर्ण मुद्रा-स्फीति कहा जाता है। पूर्ण रोजगार की अवस्था पहुँचने से पहले भी मौद्रिक आय में वृद्धि उत्पत्ति-कार्यों में वृद्धि की अपेक्षा तेजी से हो सकती है, परन्तु इस अवस्था को पीगू ने आंशिक मुद्रा-स्फीति कहा है।

मुद्रा-स्फीति खुली (Open) व दबी (Supressed) हुई भी हो सकती है। यदि सरकारी प्रयत्नों व नीतियों के परिणामस्वरूप मुद्रा-स्फीति की तीव्रता पर नियन्त्रण लगा दिया जाय तो यह दबी हुई मुद्रा-स्फीति कहलाती है। परन्तु जब आय के व्यय करने पर कोई नियन्त्रण नहीं होता तो इसे खुली हुई मुद्रा-स्फीति कहते हैं।

मुद्रा-स्फीति का वर्गीकरण कारणों के आधार पर इस प्रकार से किया जा सकता है :—

(१) चलन स्फीति (Currency Inflation)

(२) साख-स्फीति (Credit Inflation),

(३) क्रय-शक्ति स्फीति (Purchasing Power Inflation),

(४) बजट द्वारा स्फीति (Budgetary Inflation),

(५) करारोपण द्वारा मूल्य स्फीति (Price Inflation through Taxation),

(६) अधिक विनियोजन द्वारा स्फीति (Inflation through Oover-investment),

(७) कम उत्पादन द्वारा स्फीति (Inflation through Under-production),

(८) अवमूल्यन द्वारा स्फीति (Inflation through Devaluation)'

(९) आयात की हुई स्फीति (Imported Inflation),

(१०) वस्तु मूल्य स्फीति (Commodity Price Inflation)।

(मुद्रा-स्फीति के कुप्रभावों के लिये प्रश्न ८१ को देखिये :)

मुद्रा-स्फीति को रोकने के उपाय (Steps to Check Inflation)—उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि मुद्रा-स्फीति के बहुत ही बुरे प्रभाव समाज व देश की अर्थ-व्यवस्था पर पड़ते हैं। दीर्घकाल में यह अर्थ-व्यवस्था को तहस-नहस ही कर देती है और इसलिये वे लोग भी जो इसके ठीक अर्थ को नहीं समझते इसको बहुत बुरा मानते हैं। पाल इर्नजिग के अनुसार, "That term has acquired an ominous meaning as a result of experience on the European mainland since 1914. Even people who have no idea about its precise meaning feel that it spells disaster, distress and despair."[9]

इसलिये सरकार सदा इस बात का प्रयत्न करती है कि देश में मुद्रा-स्फीति की अवस्था उत्पन्न न हो और यदि हो भी जाय तो वह अधिक दिनों तक न रह सके। मुद्रा-स्फीति का मुख्य लक्षण मूल्य स्तर में वृद्धि है और इनको रोकने के लिये यह ही प्रयत्न करना होता है कि मूल्य-स्तर में होती हुई वृद्धि रुक जाय। इस कारण मुद्रा-स्फीति के नियन्त्रण से सम्बन्धित उपाय दो श्रेणी में वर्गीकृत किये जा सकते है। (१) वे उपाय जिनके द्वारा मुद्रा के विस्तार को रोका जा सकता है तथा (२) वे उपाय जिनके द्वारा उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है।

(१) मुद्रा-स्फीति को रोकने के उपायों को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) मौद्रिक उपाय, (२) वैत्तिक उपाय, (३) प्रत्यक्ष उपाय, तथा (४) अन्य उपाय।

(१) **मौद्रिक उपाय** (Monetary Measures)—मौद्रिक उपाय का मुख्य उद्देश्य देश में प्रचलित मुद्रा व साख की मात्रा में कमी करना होता है जिससे क्रय-शक्ति की मात्रा कम हो जाये तथा द्रव्य की पूर्ति कम हो जाय। इन उपायों में मुख्य ये हैं:—

(i) नोटों की मात्रा को कम किया जाय और केन्द्रीय बैंक अपने नोट चलन में से निकाल ले। परन्तु ऐसा करना कठिन होता है क्योंकि जो नोट एक बार चलन में डाल दिये जाते हैं उनको निकालना लगभग असम्भव होता है। इसके अतिरिक्त मुद्रा-स्फीति की दशा में सरकार को अधिक क्रय-शक्ति की आवश्यकता होती है। इसलिए सरकार ऐसा कर सकती है कि अधिक नोटों का निर्गमन बन्द कर दिया जाय।

(ii) साख का नियन्त्रण किया जाय और केन्द्रिय बैंक विभिन्न क्रियाओं के द्वारा साख की मात्रा को कम कर दे। ऐसा करने के लिये केन्द्रीय बैंक के पास

9 Ibid page II.

विभिन्न प्रकार के साधन होते हैं। सरकारी प्रतिभूतियों को बेच कर, बैंक दर की मात्रा में वृद्धि करके, सुरक्षित दर को बढ़ा कर व अन्य तरीकों से केन्द्रीय बैंक साख की मात्रा को कम कर देता है।

(iii) कुछ मुख्य प्रकार के कोषों को रोक दिया जाता है जैसे कुछ विशेष कोष के जमाकर्त्ताओं को आदेश दे दिया जाय कि वे अपनी जमा से कुछ भी वस्तु क्रय नहीं कर सकते।

(iv) मुद्रा के बाहरी मूल्य को बढ़ा दिया जाए जिससे वस्तुओं की विदेशी माँग कम हो जावे।

(v) कभी-कभी द्रव्य की इकाई का मूल्य इतना गिर जाता है कि जनता का विश्वास उसमें बिल्कुल समाप्त हो जाता है। ऐसी अवस्था मे सरकार के सामने केवल एक चारा रह जाता है कि वह प्रचलित मुद्रा का विमुद्रीकरण कर दे तथा नयी मुद्रा प्रचलित करे। प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी में ऐसा ही हुआ था।

(२) वैत्तिक उपाय (Fiscal Measures)—केवल मौद्रिक उपाय ही मुद्रा-स्फीति को नहीं रोक सकते और इसलिए उनको अधिक सफल बनाने के लिए वैत्तिक उपायों का भी सहारा लिया जाता है। मुख्य वैत्तिक उपाय निम्नलिखित हैः—

(i) सरकारी व्यय में कमी करके मुद्रा-स्फीति की तीव्रता को कम किया जा सकता है क्योंकि व्यक्तियों की आय का बहुत बड़ा भाग सरकारी व्यय का होता है और सरकारी व्यय में कमी होने पर व्यक्तियों के पास क्रय-शक्ति की मात्रा मे कमी हो जाती है।

(ii) सरकारी कर नीति भी मुद्रा-स्फीति पर रोक लगा सकती है। पुराने करों की दर में वृद्धि करके तथा नये करो को लगा कर लोगो के पास क्रय-शक्ति को कम किया जा सकता है। कर नीति इस प्रकार की होनी चाहिए कि इससे वस्तुओं की माँग तो कम हो जाए परन्तु उत्पादन को प्रोत्साहन मिले।

(iii) जनता से उधार लेना भी मुद्रा-स्फीति को रोकने का एक प्रभावशाली तरीका है। सरकार अधिक उधार लेने के लिए आकर्षक सूद की दर पर बचत बॉंड चलाती है और व्यक्तियों के पास से अतिरिक्त क्रय-शक्ति सरकार के पास पहुँच जाती है।

(३) प्रत्यक्ष तरीके (Direct Methods)—प्रत्यक्ष तरीके दो प्रकार के हो सकते हैं—स्वयंकृत तथा अनिवार्य। स्वयंकृत तरीको मे व्यक्ति स्वयं बचत करते हैं और उपभोग की मात्रा को कम कर देते हैं। परन्तु स्वयंकृत तरीकों का सफल होना कठिन है क्योंकि मुद्रा-स्फीति मे मूल्य इतने बढ जाते है कि लोग चाहने पर भी बचत नही कर पाते। इसलिये अनिवार्य तरीकों का उपयोग किया जाता है जिसमें सरकार लोगों को अनिवार्य रूप से बचत करने के लिए बाध्य करती है। कर्मचारियों व श्रमिकों की वेतन से कटौती करके उसको जमा कर दिया जाता है और इस रकम को श्रमिक एक निश्चित अवधि तक नहीं निकाल सकते।

(४) अन्य तरीके (Other Methods)—मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए अन्य तरीकों का भी उपयोग किया जा सकता है जो इस प्रकार हैं:—

(i) उत्पादन की मात्रा में वृद्धि करके। मुद्रा-स्फीति का एक लक्षण यह है कि वस्तुओं के मूल्य बढ़ते जाते हैं और यदि वस्तुओं की मात्रा में वृद्धि की जाए तो मूल्य का बढ़ना रुक जाएगा।

(ii) मजदूरी को स्थिर करके। मजदूरी में लगातार वृद्धि से भी लोगों के पास क्रय-शक्ति बढ़ती जाती है जिससे मुद्रा-स्फीति को प्रोत्साहन मिलता है। मजदूरी को एक स्तर पर स्थिर करके मुद्रा-स्फीति की वृद्धि को रोका जा सकता है।

(iii) सट्टे के कार्यों से भी मूल्यों में वृद्धि होती है और उनको नियन्त्रित करके उनकी वृद्धि को रोका जा सकता है।

(iv) मूल्य नियन्त्रण न राशनिंग द्वारा भी मुद्रा-स्फीति की गति को रोका जाता है। मूल्य नियन्त्रण द्वारा वस्तुओं का अधिकतम मूल्य निश्चित कर दिया जाता है और उससे अधिक पर वस्तुओं को नहीं बेचा जा सकता। राशनिंग द्वारा वस्तुओं का वितरण इस प्रकार से किया जाता है कि किसी को उसकी आवश्यकता से अधिक वस्तुयें न मिलें। राशन प्रणाली द्वारा वितरण करने के लिये सरकारी या सहकारी दुकानें खोली जाती हैं जिन पर वस्तुयें निश्चित मूल्य पर वेची जाती हैं।

(v) आयात को प्रोत्साहित करके तथा निर्यात को हतोत्साहित करके सरकार वस्तुओं की कमी को दूर कर सकती है जिससे वस्तुओं के मूल्य अधिक न बढ़ने पायें।

इस प्रकार मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए विभिन्न उपायों का प्रयोग किया जा सकता है परन्तु इनकी सफलता केवल एक साधन के उपयोग पर निर्भर नहीं करती वलिक सब का उपभोग सामूहिक रूप से किया जाना चाहिए। मुद्रा-स्फीति इस प्रकार की दैत्या है कि जिस पर यदि चारों ओर से आक्रमण न किया जाय तो इसको समाप्त नहीं किया जा सकता।

★

Q. 82. Discuss the effects of Inflation and Deflation on different classes of people in society **(Jabalpur 1965)**

Q. 83. "Inflation is unjust and deflation is inexpedient; of the two, perhaps, deflation is worse." Explain. **(Agra 1953)**

Q. 84. "One conclusion we may venture: that deflation is an important handicap to short run economic development, and that long continued inflation may be a handicap to long run development." K. E. Boulding. Comment. **(Vikram 1963)**

मुद्रा के दोषों में एक महत्वपूर्ण दोष यह वताया जाता है कि मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होता रहता है। मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन का अर्थ है कि समय-समय पर

वस्तुओं के मूल्य में उतार-चढ़ाव होता है और वस्तु के मूल्य के परिवर्तन का विपरीत परिवर्तन मुद्रा के मूल्य में होता है। मुद्रा के मूल्यों के इन परिवर्तनों के कारण विभिन्न अर्थ-व्यवस्थाओं में समय-समय पर तेजी और मन्दी काल आता रहता है। और जब यह तेजी और मन्दी की अवस्था बहुत आगे बढ़ जाती है तो मुद्रा-स्फीति (Inflation) तथा मुद्रा-संकुचन (Deflation) का रूप ले लेती है। समाज व अर्थ-व्यवस्था के लिये यह दोनों ही अवस्थायें बुरी हैं। परन्तु यह क्यों तथा किस प्रकार बुरी है यह समझने से पहले मुद्रा-स्फीति व मुद्रा संकुचन के अर्थों को समझना भी आवश्यक होगा।

(१) मुद्रा-स्फीति की व्याख्या व परिभाषा।
(२) मुद्रा स्फीति किस प्रकार अपने प्रभावों के कारण आक्षेप पूर्ण है।
(३) मुद्रा संकुचन का अर्थ।
(४) मुद्रा संकुचन किस प्रकार अपने प्रभावों के कारण अनुचित है।
(५) मुद्रा-स्फीति व मुद्रा संकुचन के प्रभावों की तुलना।

मुद्रा-स्फीति (Inflation)—मुद्रा-स्फीति इस प्रकार का आर्थिक शब्द (Economic Term) है जिसको पूर्णतः निश्चितता के साथ परिभाषित नहीं किया जा सकता। प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों ने या तो इसकी व्याख्या करते समय इसको अधूरा छोड़ दिया है अथवा वैज्ञानिक निश्चितता के साथ परिभाषित करने का प्रयत्न ही नहीं किया है। डाक्टर मल्होत्रा (Dr Malhotra) ने इसी सम्बन्ध में लिखते हुए कहा है, "Inflation is one of those economic terms which cannot be precisely defined and some well-known writers on money have confusedly left some "mistiness about it or not attempted to define it with scientific precision "[1] परन्तु परिभाषा के सम्बन्ध निश्चितता व एकमतता के न होते हुए भी मुद्रा-स्फीति के सामान्य अर्थ के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों में आधारभूत मतभेद नहीं है। सामान्यतः मुद्रा-स्फीति का आशय उस दशा से होता है जब कि देश में द्रव्य की मात्रा के बढ़ जाने से वस्तुओं का मूल्य बहुत अधिक बढ़ जाता है और द्रव्य का मूल्य बहुत गिर जाता है। इसी बात को ध्यान में रखते हुये क्राउथर ने लिखा है, "सबसे सरल तथा सबसे उपयोगी परिभाषा यह कहलाती है कि स्फीति वह स्थिति है जिसमें द्रव्य का मूल्य गिरता रहता है अर्थात् वस्तुओं के मूल्य बढ़ते रहते हैं।"[2] इसी प्रकार से केमरर (Kemmerer) का विचार

1. Dr. D. K. Malhotra: History and Problems of Indian Currency, page. 2
2. "Inflation is a state in which the value of Money is falling i. e. price on rsiing." Crowther : An Outime of Money. page 107.

है, कि "यदि मुद्रा की मात्रा अधिक हो और वस्तुओं की मात्रा उत्पादन घटने के कारण कम हो जाय तो मुद्रा-स्फीति होती है।" पीगू ने मुद्रा-स्फीति का सम्बन्ध मौद्रिक आय व उत्पादन क्रिया से स्थापित करते हुये लिखा है, "मुद्रा-स्फीति की अवस्था तब होती है जब कि मौद्रिक आय उत्पादन क्रिया कि तुलना में अधिक तेजी से रही हो।" एक दूसरे स्थान पर पीगू ने लिखा है, "मुद्रा-स्फीति उस समय होती है, जब कि उत्पादक साधनों द्वारा किये गये काम की तुलना में, जिनको भुगतान के रूप में मौद्रिक आय प्राप्त होती है, मौद्रिक आय अधिज तेजी से बढ़ रही हो।"[3]

मुद्रा-स्फीति अन्यायपूर्ण है (Inflation is Unjust)—मुद्रा-स्फीति में द्रव्य की मात्रा बढ़ जाने या उत्पादन कम हो जाने के कारण वस्तुओं के मूल्य बढ़ने लगते हैं जिनका प्रभाव समाज के विभिन्न वर्गों पर विभिन्न प्रकार का पड़ता है। समाज के विभिन्न अंगों पर मुद्रा-स्फीति का प्रभाव दो क्रियाओं के द्वारा पड़ता है, धन का वितरण तथा धन का उत्पादन। मुद्रा-स्फीति का प्रभाव धन के वितरण पर विपरीत पड़ता है, क्योंकि इस अवस्था में धन का पुनर्वितरण हो जाता है जिसका बहुत नुकसान विनियोजन करने वाले वर्ग पर पड़ता है। उत्पादक वर्ग को अधिक लाभ पहुँचता है क्योंकि उसके लाभों की मात्रा बहुत अधिक बढ़ जाती है। श्रमिक वर्ग को भी बहुत हानि होती है, क्योंकि उसकी वास्तविक आय में कमी हो जाती है।

मुद्रा-स्फीति में सबसे अधिक हानि विनियोजन करने वाले व्यक्तियों को उठानी पड़ती है क्योंकि विनियोजन करने के लिये वे द्रव्य में बचत करके रखते हैं जिसका मूल्य कम होता चला जाता है। इसके अतिरिक्त जो लोग अपनी बचत को सरकारी प्रतिभूतियों, डिबेन्चर्स आदि में विनियोजित कर देते हैं, उनकी वास्तविक आय कम हो जाती है क्योंकि द्रव्यिक आय की क्रय-शक्ति कम हो जाती है। सन् १८९६ से सन् १९१४ तक के बीच जिन व्यक्तियों ने इंगलैंड सरकार की प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों में धन लगा रखा था, उनकी आय की क्रय-शक्ति १३९ से घटकर १०० रह गई और सन् १९२० में तो केवल ३४ रह गई। इसके साथ ही सन् १९१४ में आयकर की दर ७½ प्रतिशत थी जो सन् २९२१ में बढ़कर ३० हो गई। इस प्रकार एक ओर तो उनकी आय में कमी होती जाती है, दूसरी ओर करों की मात्रा बढ़ती जाती है। इसका प्रभाव पूंजी के संचय पर पड़ता है। लोगों की बचत करने की इच्छा कम होती जाती है। बचत करने के लिए यह आवश्यक है कि बचत करने

3. "Inflation exists when money income is expanding more than in proportion to income-earning activity." —Economic Journal, December 1914, p. 439.

At another place he wrote, "Inflation is taking place when Money Income is expanding relatively to the output of work by productive agents for which it is the payment."—Pigou, Veil of Money. p. 14.

वाले व्यक्तियों को यह विश्वास हो कि उनकी बचत के मूल्य मे किसी प्रकार की कमी नहीं होगी मुद्रा-स्फीति में यह विश्वास टूट जाता है। इसका प्रभाव उत्पादन पर भी पड़ता है। उत्पादन के लिये पूंजी की आवश्यकता होती है और मुद्रा-स्फीति की दशा मे पूंजी की मात्रा कम हो जाती है।

उत्पादक को मुद्रा-स्फीति की दशा में अत्यधिक लाभ होता है क्योंकि मूल्य के लगातार बढ़ते रहने से उसकी वस्तुओं का मूल्य भी लगातार बढ़ता रहता है। उत्पादन में समय लगता है; जिस समय उत्पादन करने के लिये कच्चा माल आदि खरीदता है, उस समय मूल्य कम होते हैं परन्तु जिस समय वह वस्तु उत्पन्न करके बाजार में बेचने के लिये रखता है तो उसका मूल्य बढ़ जाता है और उसको अनार्जित आय (Unearned Income) प्राप्त होती है। उधार लेने वाले व्यक्ति को भी लाभ होता है क्योकि जिस समय उसने ऋण लेकर वस्तुओं को खरीदा था उस समय मूल्य कम थे परन्तु मूल्य बढने पर वह कम वस्तुओं को बेच कर ही उतना ऋण वापस कर सकता है। उदाहरण के लिये अप्रैल सन् १६१६ मे इगलैंड का सूचक अंक १०० था जो मार्च सन् १६२० मे बढ़कर १४६ हो गया। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस व्यक्ति ने अप्रैल सन् १६१६ मे ऋण लिया था उसको ४६% का लाभ हुआ। यदि वह उस धन से केवल वस्तुयें ही खरीद कर रख लेता है तथा कुछ नही करता तब भी उसको लाभ होता है। इस प्रकार दोनों वर्गों को लाभ होता है जिसका सम्बन्ध उनकी योग्यता से बिल्कुल भी नही होता। कीन्स (Keynes) के अनुसार, "Any one who can borrow money and is not exceptionally unlucky must make a profit, which he may have done little to deserve." दूसरी ओर, ऋण देने वाले को नुकसान होता है क्योंकि जितना द्रव्य उसने पहले दिया था अब उसके बदले मे वह कम वस्तुयें खरीद सकता है। मान लो उसके द्वारा दिये गये ऋण के बदले मे १०० वस्तुयें खरीदी गयी थी जिस पर उससे ५ प्रतिशत का ब्याज लिया था। द्रव्य के मूल्य गिरने पर अब केवल ६० वस्तुयें ही खरीदी जा सकती है। अत. उसका सूद भी मिलाकर केवल ६४$\frac{1}{2}$ के बराबर धन मिलेगा और ५ प्रतिशत सूद होने के स्थान पर ५$\frac{1}{2}$ प्रतिशत का ऋणात्मक सूद (Negative Interest of mius 5$\frac{1}{2}$%) मिलेगा। उपभोक्ताओ व निश्चित आय वाले व्यक्तियो को भी इसमें हानि उठानी पड़ती है।

मुद्रा-स्फीति के इन कारणों के आधार पर ही कीन्स ने कहा है कि 'मुद्रा-स्फीति अन्यायपूर्ण है।' यह धन के वितरण का एक शक्तिशाली इंजन है जो एक व्यक्ति से धन लेकर दूसरे व्यक्ति को देता है। परन्तु धन का वितरण यह अन्धा होकर करता है और किसी व्यक्ति के गुण दोष पर ध्यान नही देता। जिन लोगों ने अत्यधिक त्याग करके बचतें की थी, उनका मूल्य एकदम बहुत कम हो जाता है। Vernon Bartlett ने अपनी पुस्तक New Germany Explained मे उस व्यक्ति

का उदाहरण दिया है जिसने अपनी समस्त पूँजी को सरकारी प्रतिभूतियों में लगा दिया था। उस समय वह बहुत ही अक्लमन्द समझा गया था परन्तु सन् १९१४-१८ की मुद्रा-स्फीति में वह भूखा मर गया, क्योंकि उन सब प्रतिभूतियों से वह एक समय का भोजन भी प्राप्त न कर सकता था। दूसरे व्यक्तियों ने जो शराबी था, शराब की बोतलों को शराब के पीपे में भर दिया और उनको ही बेचकर वह अमीर बन गया।

वस्तुओं के मूल्य अधिक बढ़ जाते हैं तथा प्रत्येक के उपभोग की मात्रा में कमी हो जाती है। सेम्यूसन ने लिखा है, "पहले हम जेब में द्रव्य ले जाते थे तथा टोकरी में खाद्य पदार्थ लाते थे। अब टोकरी में द्रव्य ले जाते हैं तथा जेब में खाद्य पदार्थ लाते हैं।" डा० मुरन्जन ने भी बढ़े हुए मूल्यों का उदाहरण देते हुए लिखा है, "A pair of shoe laces costs more, than a shoe had once cost–no more than a fashionable store with two thousand pairs of shoes had cost before, to repair a broken window more then the whole house had formerly cost, a book more than the printer's works with hundred presses."[4]

मुद्रा-स्फीति को अन्यायपूर्ण इस कारण भी कहा जाता है क्योंकि यह अदृश्य करारोपण के समान है। सरकार नोट छापकर तथा हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit-Budgeting) करके वस्तुओं के मूल्य बढ़ा देती है और इस प्रकार वस्तुओं को जनता के उपभोग से छीनकर सरकारी कार्यों में उपयोग किया जाता है। इसका भार गरीब जनता पर अधिक पड़ता है, क्योंकि उनकी आय में विशेष वृद्धि नहीं होती परन्तु वस्तुओं के मूल्य बहुत बढ़ जाते हैं। यही कारण है कि प्रो० वकील ने इसे अदृश्य डकैती कहा है। प्रो० वकील (Prof. C. N. Vakil) के ही शब्दों में, "Inflation may be compared to robbery. Both deprive the victim of some possession with the difference that the robber is visible, inflation is invisible, the robber's victim may be one or few at a time, the victims of inflation are the whole nation, the robber may be dragged to a court of law, inflation is legal."[5]

मुद्रा-स्फीति इस कारण भी अन्यायपूर्ण है क्योंकि इससे समाज में कृत्रिम सम्पन्नता (Artificial Prosperity) उत्पन्न हो जाती है जिससे मूल्यों में सदा शनैः शनैः वृद्धि होती रहती है और कुछ समय के पश्चात् यह मूल्य वृद्धि अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। उस समय मूल्य गिरने लगते हैं तथा व्यापारियों को नुकसान होने लगता है।

अतः मुद्रा-स्फीति से निश्चित आय वालों को, विनियोजनकर्ता को तथा ऋणदाता को बहुत नुकसान उठाना पड़ता है। उद्योगपति व व्यापारी को लाभ

4. S. K. Muranjan, Shadows of Hyper Inflation.
5. C. N. Vakil. Financial Burden of War on India.

होता है परन्तु वह भी क्षणिक है। इसी कारण कीन्स ने मुद्रा-स्फीति को अन्यायपूर्ण कहा है। डा० मल्होत्रा ने भी लिखा है, "It is extremely indiscriminate, haphazard and inequitable in effects, in as much as it places the heaviest burden on the weakest shoulders and effects arb trary redistribution of wealth."[6]

मुद्रा संकुचन अनुपयुक्त है (Deflation inexpedient)—कीन्स ने मुद्रा स्फीति को अन्यायपूर्ण बताते हुये मुद्रा सकुचन को अनुपयुक्त बताया है जिसका प्रभाव कभी भी समाज मे नहीं रहनी चाहिए। मुद्रा-स्फीति के समान मुद्रा-सकुचन की भी कोई सर्वमान्य परिभाषा नही है, परन्तु सामान्यतः इसका अर्थ मूल्यो के गिरने तथा द्रव्य के मूल्यो में वृद्धि से लिया जाता है। जब किसी देश मे मुद्रा की पूर्ति वहाँ के व्यापार, व्यवसाय तथा अन्य विनिमय कार्यों की आवश्यकता के लिये मुद्रा की माँग से कम होती है जिसके परिणामस्वरूप वस्तुओ और सेवाओं का मूल्य कम हो जाता है, तब इसे मुद्रा-सकुचन की अवस्था कहते हैं। प्रो० पीगू ने मुद्रा संकुचन की परिभाषा इस प्रकार से दी है, "जब किसी समाज की मौद्रिक आय की तुलना मे वहाँ पर वस्तुओं और सेवाओ का उत्पादन अधिक तेजी से बढता है जिससे मुद्रा की क्रय-शक्ति बढ जाती है अथवा वस्तुओं और सेवाओ का मूल्य गिर जाता है, तब मूल्यों के कम हो जाने की इस स्थिति को मुद्रा-सकुचन कहते हैं।"

मुद्रा-संकुचन के आर्थिक परिणाम मुद्रा-स्फीति से भी बुरे होते हैं। गिरते हुये मूल्यो का सबसे बुरा प्रभाव व्यापारी व उत्पादक वर्ग पर पड़ता है क्योकि मूल्यों के गिरने से उनकी द्रव्यिक आय (Money Income) तो गिर जाती है, परन्तु कर व मजदूरों की मजदूरी का भार उतना ही रहता है। इसका प्रभाव देश के उत्पादन व रोजगार पर पडता है, क्योंकि बहुत से उद्योगों का उत्पादन कम होने से तथा बहुत से उद्योगों के बन्द हो जाने से बेरोजगारी फैलती है। यह कहा जाता है कि मुद्रा-संकुचन मे निश्चित आय वालो को लाभ होता है क्योकि वे उस आय के बदले मे पहले से अधिक वस्तुयें व सेवायें खरीद सकते हैं, परन्तु साथ ही उनके अधिकारियों की आय में कमी हो जाने के कारण बहुत से व्यक्तियो को नौकरी से हटा दिया जाता है अथवा कम मजदूरी पर काम करने के लिये कहा जाता है। कृषकों को भी अत्यधिक हानि होती है क्योंकि फसल के बोने व काटने मे बहुत अधिक समय का अन्तर होता है। इसलिये कीन्स (Keynes) ने मुद्रा-सकुचन को अनुपयुक्त बताते हुये लिखा है, "The Deflation which causes falling prices means impoverishment to labour and to enterprise by leading entrepreneurs to restrict production, in their endeavour to avoid loss to themselves; and is therefore disasterous to employment."

6. Dr. D. K. Malhotra : History & Problems of Indian Currency, page xv.

होता है।"[7] अतः मनुष्य मात्र के लाभ के लिये देश में वस्तुओं के मूल्यों में अस्थिरता होनी चाहिये जिससे रोजगार, उत्पादन व सामान्य व्यापारिक दशाओं में स्थिरता स्थापित हो सके। इसी महत्व को स्वीकार करते हुये वाडिया और जोशी (Wadia and Joshi) ने अपनी पुस्तक में लिखा है, "There is no nobler work for the enlightened humanity of to-day than that of controlling money and monetary policy of regulating the supply of capital and the level of prices and the habits of consumption in the general interest of mankind." कीन्स ने भी इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि पूंजीवाद को जीवित रखने के रखने लिये द्रव्य के मूल्य में स्थिरता की आवश्यकता है। इसी सम्बन्ध में उसने लिखा है, "The individualistic capitalism of to-day, precisely because it entrusts saving to the individual investor and production to the individual employer, presumes a stable measuring-rod of value, and cannot be efficient prehaps cannot survive—without one."

Q. 85. Explain briefly the causes of war-time inflation of currency in India What steps were taken by the Government of India to combat inflation? (Agra 1952)

युद्ध काल में युद्ध के संचालन के लिये धन की बहुत अधिक आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता को सरकार व्यक्तियों पर अधिक कर लगा कर तथा उनसे अधिक द्रव्य उधार लेकर पूरा कर सकती है। परन्तु युद्ध की कुल लागत आजकल के युग में इतनी अधिक होती है कि इन दोनों साधनों से भी उसको पूरा नहीं किया जा सकता। कर की एक सीमा होती है जिससे अधिक कर नहीं लगाये जा सकते क्योंकि कर की बचत करने की योग्यता तथा बचत करने की इच्छा पर जो प्रभाव पड़ता है उसको ध्यान में रखना होता है। इसके अतिरिक्त उत्पादन

रूपरेखा

(१) युद्ध काल में मुद्रा स्फीति तथा इस पर विभिन्न अर्थशास्त्रियों के विचार।

(२) भारत में मुद्रा स्फीति के कारण—

(a) चलन व साख मुद्रा की मात्रा में वृद्धि,

(b) उत्पत्ति में कम वृद्धि,

7. "Both rising and falling prices create an unstable equilibrium which means disturbance in industry and unequal gains or losses to different classes. It is not high or low prices as such which do the harm, but rising or falling prices." Seligman.

पर भी कर का विपरीत प्रभाव पड़ता है और सरकार अधिक कर लगाकर उत्पादन को हतोत्साहित नहीं करना चाहती। दूसरी ओर युद्ध में मूल्य बढ़ने के कारण लोगों की बचत करने की शक्ति कम हो जाती है और अधिक बचत करके सरकार को अधिक द्रव्य नहीं दे सकते। सरकार के सामने अब केवल एक ही उपाय रह जाता है और वह है अधिक नोट छाप कर अपना व्यय पूरा करने का। सरकार या तो अपने आप ही नोट छापती है अथवा केन्द्रीय बैंक को अपनी प्रतिभूतियाँ दे देती है और केन्द्रीय बैंक उनके आधार पर नोट छाप कर सरकार को रुपया उधार दे देता है। नोट किसी भी प्रकार से छापे जायें, परन्तु उनका एक ही प्रभाव होता है—देश में चलन (Currency) की मात्रा में वृद्धि जिस कारण वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते है और देश मे मुद्रा-स्फीति की अवस्था प्रारम्भ हो जाती है।

(c) वस्तुओं का युद्ध के लिए प्रयोग,
(d) यातायात सुविधाओं में कमी,
(e) सट्टेबाजी,
(f) सरकारी नीति की असफलता,
(g) रक्षा व्यय में बढ़ोत्तरी।

(३) मुद्रा स्फीति को रोकने के उपाय

(a) करारोपण,
(b) जनता से ऋण,
(c) अनिवार्य बचत योजनायें,
(d) सट्टेबाजी पर रोक,
(e) मूल्य नियन्त्रण,
(f) उत्पादन में वृद्धि का प्रयत्न,
(g) ऊँचे मूल्य के नोटों का विमुद्रीकरण।

प्रथम महायुद्ध व द्वितीय महायुद्ध में लगभग प्रत्येक देश में इस प्रकार से अधिक नोट छाप कर युद्ध के व्यय को पूरा किया गया। प्रथम युद्ध में जर्मनी में तो इतने अधिक नोट छापे गये कि २०० नोट के कागज बनाने की मिल रात दिन काम कर रही थीं तथा १५० नोट छापने के कारखाने २,००० प्रेसों पर रात दिन नोट छाप रहे थे।[1] द्वितीय महायुद्ध में भारत भी नोट छापने के कारण उत्पन्न हुई मुद्रा-स्फीति के प्रभाव से न बच सका। भारत की सरकार ने स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के आधार पर नोटों को छापा जिसके कारण देश में चलन की मात्रा बढ़ गयी। परन्तु साथ ही साथ उत्पादन में अधिक वृद्धि नहीं हुई और वस्तुओं के मूल्य बढ़ते गये। सन् १९३७ में चलन की मात्रा १७८ करोड़ रुपये थी, जो मार्च सन् १९४२ तक बढ़ कर ४२१ करोड़ हो गयी। अतः इस दौरान में चलन में १३७ प्रतिशत की वृद्धि हुई। मूल्य स्तर भी ४८ प्रतिशत बढ़ गया।

भारत की मुद्रा-स्फीति के सम्बन्ध में एक बात महत्वपूर्ण है कि मुद्रा-स्फीति की तीव्रता की ओर भारतीय सरकार का ध्यान बहुत समय तक नहीं गया। प्रारम्भ में सरकार ने इस बात को मानने से मना कर दिया कि भारत में मुद्रा-स्फीति की

1. See Stopler, German Economy. 1870-1910. page 152-55.

कोई समस्या है। सन् १९४२ मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की सेन्ट्रल बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स की रिपोर्ट मे कहा गया था, "यद्यपि भारत मे मुद्रा-स्फीति के अधिकतर लक्षण वर्तमान है परन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि मुद्रा-स्फीति यहां गम्भीर रूप मे प्रस्तुत है।"[2] इसी बात को वित्त मन्त्री ने मार्च सन् १९४३ के अपने बजट भाषण मे कहा, "There is not the remotest risk of inflation of the nature and on scale which occurred in some of the countries which suffered bitter defeat in the last war." इसी वर्ष श्री घनश्याम दास बिडला ने भी इस बात को मानने से इन्कार कर दिया कि भारत मे मुद्रा-स्फीति की दशा है। बल्कि उन्होंने कहा था कि मूल्यों मे वृद्धि वस्तुओं की कमी के कारण है। परन्तु इसी समय बहुत से भारतीय अर्थशास्त्री मुद्रा-स्फीति की तीव्रता पर जोर दे रहे थे और इस बात को स्पष्ट करने का प्रयत्न कर रहे थे कि भारत मे अत्यधिक मुद्रा-स्फीति है। श्री वकील (Mr. C N. Vakil) ने जनवरी सन् १९४३ मे अपनी पुस्तक The Falling Rupee से मुद्रा-स्फीति की गम्भीरता को बताने का प्रयत्न किया। १२ अप्रैल सन् १९४३ को बीस भारतीय अर्थशास्त्रियो ने एक Menifesto जारी किया जिसमे उन्होंने यह बताया कि भारत मे मुद्रा-स्फीति की स्थिति वर्तमान है और इसका कारण युद्ध के व्यवस्थित करने का तरीका है। अब भारत सरकार भी इस स्थिति को न छुपा सकी और वित्त सदस्य ने मार्च सन् १९४४ मे इस बात को मान लिया कि भारत में मुद्रा-स्फीति है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि भारत मे मुद्रा-स्फीति युद्धकाल मे प्रारम्भ हो गयी थी, जो अब तक वर्तमान है। इस मुद्रा-स्फीति के मुख्य कारण निम्नलिखित थे :—

(१) मुद्रा-स्फीति का मुख्य कारण देश में चलन तथा साख-मुद्रा की मात्रा में विस्तार था। सन् १९३९ तथा सन् १९४८ के बीच चलन की मात्रा १७९ करोड़ से बढ़ कर १,३१० करोड़ रुपया हो गयी और साख-मुद्रा १२६ करोड से बढ़ कर ४४४ करोड रुपया। इस अधिक मुद्रा के चलन का मुख्य कारण यह था कि युद्ध के दिनो में भारत ने बहुत अधिक धन ब्रिटिश सरकार पर खर्च किया था तथा बहुत सा सामान ब्रिटिश सरकार को दिया था। ब्रिटिश सरकार ने इसके बदले स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ दी और इसके आधार पर भारत सरकार ने रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया से नोट छापने को कहा। इन छापे गये नोटों से भारत के व्यापारियों को इंगलैंड द्वारा खरीदी हुई वस्तुओ और सेवाओं की कीमत चुका दी गयी। इसके अतिरिक्त भारत ने अमेरिका को जो वस्तुएँ बेची थी उसके बदले जो डालर मिले थे उनको भी साम्राज्य डालर कोष में जमा कर दिया गया और स्टर्लिंग प्रतिभूतियों को ले लिया गया। इस प्रकार युद्ध के अन्त में भारत का इंगलैंड पर लगभग १,६०० करोड़ रुपये ऋण हो गया था।

2. "Although most of the recognized elements of inflation are present, there is no evidence that inflation is present in the country in any serious form."

(२) मुद्रा-स्फीति का दूसरा मुख्य कारण यह था कि उत्पादन में को वृद्धि नहीं हो रही थी। एक ओर तो मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होती जा रही थी दूसरी ओर खाद्य पदार्थों व अन्य वस्तुओं की पूर्ति में कोई विशेष वृद्धि नहीं हो रही थी। बर्मा पर जापानियों का अधिकार हो जाने के कारण वहाँ से आने वाली खाद्य पूर्ति बन्द हो गयी और भारत में खाद्य पदार्थों की कमी के कारण मूल्यों में वृद्धि होने लगी। देश के भीतर खाद्यान्न की कमी होती जा रही थी, क्योंकि भारत सरकार लंका, दक्षिण अफ्रीका तथा मध्यपूर्व युद्ध क्षेत्रों को लगातार अनाज भेज रही थी। खाद्यान्न की कमी के साथ आयात भी कम होते जा रहे थे। इंगलैंड व अन्य देश युद्ध में लगे हुए थे और इस कारण वे अतिरिक्त सामान को भारत नहीं भेज पा रहे थे। यातायात के साधनों को भी युद्ध कार्यों में लगा दिया गया था और आयात के लिये इन साधनों को प्राप्त करना कठिन ही नहीं असम्भव सा लग रहा था। सन् १९४२–४३ में आयात सन् १९३८–३९ से घटकर केवल ३७·९ प्रतिशत रह गये थे। इन दोनों के साथ तीसरी बात यह थी कि भारत में निर्मित वस्तुओं की भी कमी हो रही थी। आवश्यक मशीनों व कच्चे माल की कमी के कारण देश के भीतरी उत्पादन में समुचित वृद्धि नहीं हो रही थी।

(३) भारत में वस्तुओं की कमी का एक महत्वपूर्ण कारण यह भी था कि *भारतीय उत्पादन का बहुत बड़ा भाग युद्ध कार्यों के लिये खरीद लिया गया था,* जिससे जनता को अधिक वस्तुयें प्राप्त हो रही थीं। अनुमान लगाया जाता है कि युद्ध काल में लगभग २,००० करोड़ रुपये का माल युद्ध कार्यों के लिए खरीदा गया था इससे भी मूल्यों के चढ़ने व मुद्रा-स्फीति के फैलने को प्रोत्साहन मिला।

(४) **यातायात सम्बन्धी सुविधाओं की कमी** के कारण भी वस्तुओं का सन्तोषजनक वितरण नहीं हो पा रहा था। रेलों व बस आदि का उपयोग युद्ध कार्यों के लिए किया जा रहा था और साधारण जनता के लिए टायरों व पैट्रोल की बहुत कमी थी। इस कारण प्रत्येक स्थान पर वस्तुयें आसानी से नहीं जा पा रही थीं और बहुत से स्थानों पर मूल्य अत्यधिक बढ़ गये थे। इसने मुद्रा-स्फीति को और भी तीव्र बना दिया।

(५) **सट्टेबाजी** व वस्तुओं की जमा करने (Hoarding) की प्रवृत्तियों को भी बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला और लोगों ने वस्तुओं को जमा करना शुरू कर दिया। इससे बाजार में वस्तुओं की कृत्रिम दुर्लभता उत्पन्न हो गई। एक ओर मुद्रा-प्रसार के कारण लोगों के पास अधिक क्रय-शक्ति थी, दूसरी ओर बाजार में वस्तुओं की कमी थी। इसका सामूहिक प्रभाव मुद्रा-स्फीति की प्रवृत्ति हुई।

(६) मूल्य-नियन्त्रण (Price Control) तथा राशनिंग (Rationing) की **सरकारी नीति भी असफल रही।** यह नीति चोर बाजारी व बढ़ते हुए मूल्यों को न रोक सकी। शासन के ढीलेपन के कारण चोर बाजारी को प्रोत्साहन मिला।

(७) भारत सरकार के बढ़ते हुए रक्षा व्यय ने भी मुद्रा-स्फीति को प्रोत्साहन दिया। इस रक्षा व्यय को मुद्रा-प्रसार करके ही पूरा किया गया। सन् १९३८-३९ में यह व्यय ४६·१८ करोड रुपये था जो सन् १९४४-४५ मे ३९५·४६ करोड रुपये हो गया। युद्ध काल में अकेले सुरक्षा पर १२०० करोड रुपया खर्च किया गया था।

इस प्रकार भारत में युद्ध के परिणामस्वरूप मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो गई। प्रारम्भ मे तो, जैसा ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, सरकार का विश्वास था कि भारत में मुद्रा-स्फीति है ही नहीं और इसलिये उसने इस ओर कोई ध्यान नही दिया। परन्तु सन् १९४२-४३ मे भारतीय अर्थशास्त्रियों के शोर मचाने से तथा परिस्थिति गम्भीर होने पर सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ और उसने मुद्रा-स्फीति को रोकने के प्रयत्न किये। मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिये सरकार ने जो प्रयत्न किये, उनका वर्णन निम्न प्रकार किया जा सकता है.—

(१) कर लगाना (Taxation)—जनता के पास क्रय-शक्ति की मात्रा को कम करने के लिये सरकार ने पुराने करों की दर मे वृद्धि कर दी तथा नये करो को लगाया। सन् १९४० में आय कर के साथ २५ प्रतिशत का अतिरिक्त कर (Surcharge) लगाया गया। सन् १९४२ मे अधिक लाभ कर (Excess Profit Tax) को भी बढाकर ६६⅔ प्रतिशत कर दिया गया और अतिरिक्त कर (Surcharge) भी २५ प्रतिशत से बढाकर ३३·३३ प्रतिशत कर दिया गया।

(२) जनता से ऋण लेना—(Borrowing form the Public)—जनता से भी सरकार ने अधिक ऋण प्राप्त करने का प्रयत्न किया। केन्द्रीय सरकार ने सीधे जनता से तथा प्रान्तीय सरकारो की सहायता से भी अधिक मात्रा में ऋण प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इन ऋणों को प्राप्त करने के लिये सरकार ने ब्याज की लाभदायक दरें रक्खी। दस वर्षीय डिफेंस सेविंग्स बैंक एकाउंट (Defence Savings Bank Account) तथा नेशनल सेविंग्स सर्टिफिकेट (National Savings Certificates) का प्रकाशन भी काफी मात्रा मे किया गया।

(३) अनिवार्य बचत योजनायें (Compulsory Savings Schemes)—मुद्रा-स्फीति को नियन्त्रित करने के लिये सरकार ने एक और उपाय अनिवार्य बचत की योजनाओ का प्रचलित किया। इस रकम को युद्ध समाप्त होने के एक वर्ष बाद ही निकाला जा सकता था, परन्तु इस पर २·५० प्रतिशत का ब्याज मिलता था। अनिवार्य योजना को अधिक लाभ कर पर भी लागू कर दिया गया। सन् १९४३ मे अधिक लाभ कर का ⅙ भाग अनिवार्य रूप मे जमा करना पड़ता था जो सन् १९४४-४५ मे बढ़ाकर १९/६४ कर दिया गया। इस योजना ने व्यक्तिगत की मात्रा को कम कर दिया और इसने मुद्रा-स्फीति पर रोक का काम किया।

(४) सट्टे बाजी पर रोक (Check on Speculation)—युद्ध काल मे सट्टेबाजी पर भी रोक लगा दी गई। कपास, प्रमुख वस्तुओं व सोना चाँदी के भविष्य

अमेरिका में १३८ तथा कनाडा में १४१ था। अक्टूबर सन् १९४४ में जर्मनी व जापान का सूचक अंक भी भारत से कम था। जर्मनी का सूचक अंक १११ तथा जापान का १६५ था।

युद्ध समाप्त होने पर यह आशा की जाती थी कि भारत में मुद्रा-स्फीति कम हो जायगी परन्तु इस मुद्रा-स्फीति की तीव्रता कम होने के स्थान पर बढ़ती ही गयी। अगस्त सन् १९४५ में थोक सूचक अंक २४४·१ था, जो नवम्बर सन् १९४६ में बढ़कर २८९·६ हो गया। नवम्बर सन् १९४७ तक सूचक अंक कुछ स्थिर रहा और २८९·६ तथा २९९·३ बीच ही रहा, परन्तु नवम्बर सन् १९४७ के बाद से सूचक अंक में फिर वृद्धि हो गई। दिसम्बर सन् १९४७ में ३११·६ हो गया और मार्च सन् १९४८ तक ३४३·६ हो गया। मूल्यों में वृद्धि यहीं तक नहीं रुकी रही बल्कि ६ अगस्त सन् १९४८ तक यह सूचक अंक ३८३ हो गया। इसके बाद भी इसमें वृद्धि होती रही और सामान्य मूल्य स्तर अप्रैल सन् १९५१ में ४७५·५ हो गया। इसके साथ ही चलन की मात्रा में भी वृद्धि होती रही। सन् १९४५ में १·१३६ करोड़ रुपये के नोट थे जो सन् १९५१--५२ में बढ़कर १८०३·७६ करोड़ रुपए के हो गये। इस प्रकार युद्ध के बाद भी मुद्रा-स्फीति में कमी नहीं हुई, बल्कि बढ़ती ही गई। युद्धकाल के बाद की मुद्रा-स्फीति के कारण निम्नलिखित हैं :—

(c) उत्पादन में कमी;
(d) वस्तुओं की मांग में वृद्धि;
(e) निर्यात वृद्धि प्रयत्न;
(f) युद्धकालीन आय का उपयोग;
(g) सरकारी योजनाओं की असफलता।

(३) मुद्रा स्फीति के उत्पादन, श्रमिकों, मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों तथा जमा करने वालों पर प्रभाव।

(४) मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिये किये गये उपाय:-
(a) वित्तीय उपाय,
(b) मौद्रिक उपाय,
(c) विभिन्न नियन्त्रण,
(d) उत्पादन को प्रोत्साहन,
(e) बचत के बजट।

(१) मुद्रा व साख का प्रसार (Expansion of Currency and Credit)—मुद्रा व साख का प्रसार केवल युद्धकाल में नहीं रहा बल्कि इसके बाद भी साख व मुद्रा की मात्रा में निरन्तर वृद्धि होती रही। सरकार अपने व्यय को कम भी करना चाहती तो वह ऐसा न कर सकती थी क्योंकि युद्ध के बाद स्वतन्त्र होने के बाद भारत में अवस्थायें ही इस प्रकार की हो गई थीं कि सरकार को अधिक व्यय करना पड़ा। स्वतन्त्रता के बाद विस्थापित पुरुषों व स्त्रियों (Displaced Men and Women) के पुनर्निवास के लिये बहुत सा धन व्यय करना पड़ा। काश्मीर व हैदराबाद की समस्याओं के कारण भी सरकार का व्यय बढ़ता ही गया। नोटों की मात्रा सन् १९५१--५२ में १८०३·७६ करोड़ से बढ़कर सन् १९५६-५७ में

व्यापार पर रोक लगा दी गई। सरकार ने यह प्रयत्न किया कि जो भी व्यापार हो वह नकद में हो।

(५) मूल्य नियन्त्रण (Price Control)—अत्यधिक क्रय-शक्ति के कारण सरकार ने मूल्य नियन्त्रण व वस्तुओं का राशनिंग करके भी वस्तुओं के मूल्यों को रोकने का प्रयत्न किया। प्रारम्भ में तो सरकार इस कार्य में सफल नहीं रही परन्तु बाद के समय में सरकार को कुछ सफलता मिल गई।

(६) उत्पादन में वृद्धि का प्रयत्न (Efforts of raise the Production)—इसके साथ ही सरकार ने खाद्यान्न व अन्य वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि करने का प्रयत्न किया। अधिक अन्न उत्पन्न करने के लिये सरकार ने "अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन" (Grow More Food Campaign) को प्रारम्भ किया। अन्य वस्तुओं के उत्पादन को अधिक करने के लिये भी सरकार ने प्रयत्न किये। नये उद्योगों को पाँच वर्षों के लिये आय कर से मुक्त कर दिया गया।

(७) ऊँचे मूल्य के नोटों का विमुद्रीकरण (Demonetization of the Notes of High Value)—मुद्रा-स्फीति पर रोक लगाने के लिये तथा सट्टेबाजी और चोरबाजारी को रोकने के लिये जनवरी सन् १९४७ में ऊँचे मूल्य के बैंक नोट (विमुद्रीकरण) आदेश जारी किये गये जिसके अनुसार ५००, १,००० तथा १०,००० रुपये के नोटों का विमुद्रीकरण कर दिया गया।

इस प्रकार सरकार ने मुद्रा-स्फीति को रोकने के प्रयत्न किये। परन्तु यह उपाय इतने बाद में किये गये थे कि वे पूरे तरीके से मुद्रा-स्फीति को नियन्त्रण न कर सकें। बहुत से भारतीय अर्थशास्त्री इन उपायों को प्रभावशाली नहीं समझते थे, तथा उनकी राय में और अधिक प्रभावशाली व शक्तिशाली उपायों का प्रयोग होना चाहिये था।

Q. 86. Examine carefully the causes and effects post-war inflation in India. **(Agra and Vikram 1960)**

Q. 87. What are the causes and effects of the post-war inflation in India ? Explain the measures taken by the Government to combat inflation during post-war period.

युद्ध समाप्त होने पर भारत में तीव्र मुद्रा-स्फीति थी। भारत की मुद्रा-स्फीति की मात्रा इंगलैंड व अमेरिका की मुद्रा-स्फीति से भी तीव्र थी। मार्च सन् १९४५ में भारत का थोक सूचक अंक ३१० था जबकि इंगलैंड में यह १७२,

> **रूपरेखा**
> (१) युद्ध उपरान्त मुद्रा-स्फीति।
> (२) इस मुद्रा-स्फीति के कारण—
> (a) मुद्रा व साख का प्रसार;
> (b) हीनार्थ प्रबन्धन;

अमेरिका मे १३८ तथा कनाडा मे १४१ था। अक्टूबर सन् १९४४ मे जर्मनी व जापान का सूचक अंक भी भारत मे कम था। जर्मनी का सूचक अक १११ तथा जापान का १६५ था।

युद्ध समाप्त होने पर यह आशा की जाती थी कि भारत मे मुद्रा-स्फीति कम हो जायगी परन्तु इस मुद्रा-स्फीति की तीव्रता कम होने के स्थान पर बढती ही गयी। अगस्त सन् १९४५ मे थोक सूचक अक २४४·१ था, जो नवम्बर सन् १९४६ मे बढकर २८९·६ हो गया। नवम्बर सन् १९४७ तक सूचक अक कुछ स्थिर रहा और २८९·६ तथा, २९९·३ बीच ही रहा, परन्तु नवम्बर सन् १९४७ के बाद से सूचक अक मे फिर वृद्धि हो गई। दिसम्बर सन् १९४७ मे ३११·६ हो गया और मार्च सन् १९४८ तक ३४३·६ हो गया। मूल्यो मे वृद्धि यही तक नही रुकी रही वल्कि ६ अगस्त सन् १९४८ तक यह सूचक अक ३८३ हो गया। इसके बाद भी इसमे वृद्धि होती रही और सामान्य मूल्य स्तर अप्रैल सन् १९५१ मे ४७५:५ हो गया। इसके साथ ही चलन की मात्रा मे भी वृद्धि होती रही। सन् १९४५ मे १·१३९ करोड रुपये के नोट थे जो सन् १९५१--५२ में बढ़कर १८०३·७६ करोड़ रुपए के हो गये। इस प्रकार युद्ध के बाद भी मुद्रा-स्फीति में कमी नही हुई, वल्कि बढ़ती ही गई। युद्धकाल के बाद की मुद्रा-स्फीति के कारण निम्नलिखित हैं :—

(c) उत्पादन में कमी,
(d) वस्तुओं की माग मे वृद्धि;
(e) निर्यात वृद्धि प्रयत्न;
(f) युद्धकालीन आय का उपयोग;
(g) सरकारी योजनाओं की असफलता।

(३) मुद्रा स्फीति के उत्पादन, श्रमिकों, मध्यम श्रेणी के व्यक्तियो तथा जमा करने वालो पर प्रभाव।

(४) मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिये किये गये उपाय.—
(a) वित्तीय उपाय,
(b) मौद्रिक उपाय,
(c) विभिन्न नियन्त्रण,
(d) उत्पादन को प्रोत्साहन,
(e) बचत के बजट।

(१) मुद्रा व साख का प्रसार (Expansion of Currency and Credit)—मुद्रा व साख का प्रसार केवल युद्धकाल मे नही रहा बल्कि इसके बाद भी साख व मुद्रा की मात्रा में निरन्तर वृद्धि होती रही। सरकार अपने व्यय को कम भी करना चाहती तो वह ऐसा न कर सकती थी क्योंकि युद्ध के बाद स्वतन्त्र होने के बाद भारत मे अवस्थायें ही इस प्रकार की हो गई थीं कि सरकार को अधिक व्यय करना पड़ा। स्वतन्त्रता के बाद विस्थापित पुरुषो व स्त्रियों (Displaced Men and Women) के पुनर्निवास के लिये बहुत सा धन व्यय करना पड़ा। काश्मीर व हैदराबाद की समस्याओं के कारण भी सरकार का व्यय बढ़ता ही गया। नोटो की मात्रा सन् १९५१--५२ में १८०३·७६ करोड से बढ़कर सन् १९५६-५७ मे

२,३१२·८६ करोड़ हो गई तथा साख की मात्रा सन् १९५१ में ५७६·८ करोड़ से बढ़कर सन् १९५७ में ७४८·४ करोड़ हो गयी।

(२) हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit Financing)—स्वतन्त्रता के बाद भारत में आर्थिक नियोजन (Economic Planning) को अपना लिया गया और तीव्र औद्योगीकरण को आर्थिक नियोजन के मुख्य उद्देश्यों में से एक मान लिया गया है। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अत्यधिक विनियोजन (Investment) किया जा रहा है। परन्तु इस नियोजन को पूरा करने के लिये भारत के पास अधिक धन नहीं है। विदेशी सहायता के बावजूद भी इस विनियोजन को पूरा नहीं किया जा सकता। अतः हीनार्थ प्रबन्धन की नीति को अपनाया जा रहा है, जिसमें घाटे के बजट को अधिक नोट छाप कर पूरा किया जाता है। इससे देश में अत्यधिक मुद्रा का प्रसार हो जाता है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भी १२०० करोड़ रुपये के हीनार्थ प्रबन्धन का आयोजन है परन्तु आशा की जाती है कि कुल वास्तविक हीनार्थ प्रबन्धन इस से अधिक होगा।

(३) उत्पादन में कमी (Reduction in Production)—चलन व बैंक साख की मात्रा में वृद्धि के साथ-साथ जिस बात ने मुद्रा-स्फीति की दशा को अत्यधिक गम्भीर बना दिया है, वह है उत्पादन की वृद्धि की दर (Rate of increase of the production) में ह्रास। यह ह्रास औद्योगिक व कृषि दोनों ही क्षेत्र में हुआ है। सन् १९५५ में वृद्धि की दर ७·८ प्रतिशत थी, जो सन् १९५८ में घट कर १·५ प्रतिशत रह गई। कृषि क्षेत्र में भी उत्पादन में पर्याप्त कमी रही। सन् १९५८-५९ में कृषि उत्पादन ८·४ प्रतिशत गिर गया और खाद्य पदार्थों के उत्पादन में तो ह्रास ११ प्रतिशत के बराबर रहा।

(४) वस्तुओं की मांग में वृद्धि (Increase in the Demand of the Commodities)—चलन व साख की मात्रा में वृद्धि तथा उत्पादन की वृद्धि की दर में कमी के साथ वस्तुओं की माँग में निरन्तर वृद्धि हो रही है। मांग में यह वृद्धि दो कारणों से है। एक तो भारतवर्ष में जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। जनसंख्या में वृद्धि ५० लाख प्रतिवर्ष की दर से होती जा रही है। इससे मांग में लगातार वृद्धि हो रही है। दूसरे चलन की मात्रा में वृद्धि होने पर लोगों के पास क्रय-शक्ति बढ़ रही है और वे अधिक वस्तुओं की माँग कर रहे हैं।

(५) निर्यात वृद्धि प्रयत्न (Export Promotion Measures)—भारतवर्ष को पंचवर्षीय योजनाओं को पूरा करने के लिये अधिक विदेशी विनिमय की आवश्यकता है। इस विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) को प्राप्त करने के लिये भारत की सरकार अधिक वस्तुओं का निर्यात करने का प्रयत्न कर रही है। निर्यात की वृद्धि के साथ-साथ यदि उत्पादन में अधिक वृद्धि न हो तो देश में आन्तरिक उपभोग (Internal Consumption) के लिये कम वस्तुयें रह जाती हैं, इससे पूर्ति कम हो जाने से मूल्य बढ़ने लगे हैं।

(६) युद्धकाल में लोगों ने चोरबाजारी में बहुत अधिक धन कमाया था जो कि अब चलन में आने लगा था। यह कहना बहुत ही कठिन है कि इस द्रव्य की मात्रा कितनी है? परन्तु अनुमान लगाया जाता है कि यह मात्रा ५०० करोड रुपये से कम नहीं होगी। इस द्रव्य के चलन में आने से मुद्रा-स्फीति की प्रवृत्तियाँ तेज हो गई थी।

(७) सरकार ने यह सोचा था कि लोगों के पास जितनी अधिक क्रय-शक्ति है, यह अल्प बचतों व ऋणों के रूप मे प्राप्त कर ली जायगी। परन्तु सरकार की योजनाओं को अधिक सफलता नहीं मिल सकी और लोगों के पास क्रय-शक्ति अधिक मात्रा मे ही रही।

इस प्रकार से कहा जा सकता है कि मुद्रा-स्फीति का मुख्य कारण चलन व बैंक साख की मात्रा में वृद्धि और उत्पादन की मात्रा मे उसी प्रकार की वृद्धि न होना है।

मुद्रा-स्फीति के प्रभाव (Effects of Inflation)—युद्धकाल मे जो मुद्रा-स्फीति भारत में प्रारम्भ हुई थी, वह अब भी समाप्त नही हो पाई है। दूसरी ओर इसकी गति में कोई कमी महसूस नहीं होती। मुद्रा-स्फीति के कारण इसके प्रभाव विभिन्न प्रकार से हुये हैं और उनको हम निम्न प्रकार मे लिख सकते हैं :—

उत्पादन (Production)—उत्पादन पर मुद्रा-स्फीति का प्रभाव यह होता है कि मूल्यों की वृद्धि की आशा से उत्पादन बढने लगता है। परन्तु मूल्यों की वृद्धि के साथ ही साथ उद्योग की लागत भी बढ़ती जाती है। प्राचीन काल में यह समझा जाता था कि मूल्यों के बढने पर मजदूरी नही बढती, परन्तु उतनी ही रहती है और इसलिये उत्पादन की लागत मे कोई विशेष वृद्धि नही होने पाती। परन्तु महायुद्ध बाद से श्रमिक संघो (Trade Unions) का बहुत अधिक विकास हो जाने के कारण मजदूर अपनी मजदूरी बढवाने में सफल हो जाते हैं। इस कारण उत्पादन की लागत बढ़ जाती है और उत्पादन अधिक नही बढ़ने पाता। भारत मे भी यही दशा रही है। मजदूरी, कच्चे माल व मशीन आदि के मूल्यो मे वृद्धि होने के कारण उत्पादन में बहुत अधिक वृद्धि नही हुई है। जितनी तेजी से मुद्रा-स्फीति हो रही है, उतनी तेजी से उत्पादन मे वृद्धि नही हो रही है।

श्रमिक (Labour)—मुद्रा-स्फीति के कारण से आवश्यक आवश्यकताओं की वस्तुओं के मूल्यों मे बहुत अधिक वृद्धि हो गई है। जिसके परिणामस्वरूप रहन-सहन की लागत बढ़ गई है। मजदूरों का काम उनकी वर्तमान मजदूरी से नहीं चलता और वे मजदूरी बढ़वाने के लिये माँग करते हैं। उनकी माँगों के पूरा न होने पर हड़ताल व तालाबन्दी (Strikes and Lockouts) होती है, जिससे उत्पादन और भी कम होता है। मुद्रा-स्फीति को और प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि मूल्य और अधिक बढ़ जाते हैं। देश मे भी अशान्ति व अस्थिरता फैलती है। सन् १९४१ के बाद से मजदूरों के झगड़े बहुत अधिक बढ़ गये हैं। सन् १९३९ में मजदूरों की

(Wealth Tax), भेंट कर (Gift Tax) आदि इस प्रकार के नये कर थे जिनका उद्देश्य व्यक्तियों से क्रय-शक्ति को कम करना था।

देश में बचत को अधिक प्रोत्साहन दिया गया। छ: महीने तथा एक वर्ष के ट्रेजरी बिलों का पूरा उपयोग किया गया। छोटी बचतों को अधिक महत्व दिया गया। जनता से ऋण प्राप्त करने के लिए बॉन्डस तथा सर्टिफिकेट्स (Bonds and Certificates) चालू किये गये, जिन पर सूद की दर अधिक थी। अगस्त सन् १६४६ से अनिवार्य बचत योजना को कार्यान्वित किया गया। गावों से धन खीचने के लिए डाकखाने से सेविंग्स बैंक खातों (Savings Bank Accounts) का गाँवों में प्रसार किया।

(२) मौद्रिक उपाय (Monetary Measures)—इस बात का प्रयत्न किया गया कि रिजर्व बैंक द्वारा दी गयी साख की मात्रा में कमी कर दी जाय। प्रारम्भ में तो इस उपाय को अधिक सफलता नहीं मिली, परन्तु बाद मे पर्याप्त सफलता मिल गयी। सन् १६४६ मे बैंकिंग एक्ट के अनुसार प्रत्येक बैंक व बीमा कम्पनी के लिये यह आवश्यक हो गया कि वह अपनी जमा का २५ प्रतिशत सरकारी प्रतिभूतियों मे रक्खे। सन् १६५६ के रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट मे सशोधन के परिणामस्वरूप रिजर्व बैंक को यह अधिकार हो गया कि वह बैंकों से अपनी मांग व समय देय का अधिक भाग उनके पास रखने के लिये कह दे। नवम्बर सन् १६५१ में रिजर्व बैंक ने बैंक दर भी ३ प्रतिशत से बढ़ा कर ३½ प्रतिशत कर दी। इसका प्रभाव देश पर काफी अच्छा हुआ। बैंक साख की मात्रा मे कमी हो गयी तथा स्वर्ण व रजत के मूल्य मे भी कमी हो गयी। स्वर्ण सन् १६५१ में ११४ रुपये तोला बिक रहा था जो कि सन् १६५५ मे ७७ रुपये तोला हो गया। रिजर्व बैंक ने सरकारी प्रतिभूतियों को भी खरीदना बन्द कर दिया। समय-समय पर इसने बैंकों को इस प्रकार के आदेश दिये कि वे किस प्रकार के कार्यों के लिए रुपया उधार दें तथा उधार देने के लिए जमानत पर कितनी सीमा रक्खें।

(३) नियन्त्रण (Controls)—सरकार ने देश की अर्थव्यवस्था पर विभिन्न प्रकार के नियन्त्रण लगायें, बैंकिंग कम्पनियों व विनियोजन ट्रस्ट्स के खोलने पर नियन्त्रण लगाये तथा उत्पादन कम्पनियों को प्रोत्साहन दिया। पूजी वस्तुओं के आयात को प्रथम महत्व दिया गया तथा अनावश्यक वस्तुओं के आयात पर रोक लगायी गयी। विनिमय नियन्त्रण को भी लगाया गया। सरकार ने खाद्य मूल्यों को एक निश्चित सीमा से ऊपर न बढ़ने का प्रयत्न किया। इस सम्बन्ध मे खाद्यान्न का आयात किया गया तथा सस्ते अनाज की दूकानें खोली गयीं। एक लाभांश मर्यादाकरण एक्ट (Divident Limitation Act) भी पास किया गया, जिसके अनुसार लाभांश ६ प्रतिशत से अधिक नहीं हो सका।

(४) उत्पादन को प्रोत्साहन (Encouragement to Production)—कृषि तथा उद्योगों में उत्पादन को प्रोत्साहन देने के लिये अनेक प्रयत्न किये गये।

बीजों, खादों तथा सिचाई की सुविधायें बढ़ा कर अधिक अन्न उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया। अधिक भूमि को कृषि योग्य बनाया गया। पहले तीन वर्षों के लिए नये उद्योगों को आय कर से छूट दे दी गयी और नीजि विनियोजन को प्रोत्साहन देने के लिये उद्योगों का राष्ट्रीयकरण १० वर्ष के लिए स्थगित कर दिया गया। सरकारी सहायता उद्योगों की स्थापना के लिए दी गयी। कच्ची सामग्री तथा मशीनरी के आयात पर आयात कर कम कर दिये गये तथा उद्योगों को पर्याप्त मात्रा में पूंजी देने के लिये इंडस्ट्रियल फाइनेन्स कॉर्पोरेशन की स्थापना की गई।

(५) बचत के बजट (Surplus Budgets)—प्रारम्भ के वर्षों में सरकार ने बचत के बजट बनाये। सन् १९५१–५२ के बजट में ६२·६१ करोड़ रुपये की बचत रक्खी गयी। परन्तु यह नीति अधिक समय तक न चल सकी और पंचवर्षीय योजनाओं के प्रारम्भ से घाटे के बजट बनने लगे।

Q. 88. What are the causes of present inflationary conditions in India? Point out the policy of the Government and checks by the Reserve Bank of India to stop the growth of inflation.

द्वितीय महायुद्ध से भारत में मुद्रा-स्फीति का चक्र प्रारम्भ हुआ था जिसकी तीव्रता में अभी तक कमी नहीं हुई है वरन् वृद्धि ही होती जा रही है। यद्यपि प्रारम्भ में हमारे मूल्य-स्तर पर मुद्रा-स्फीति का प्रभाव बहुत कम था किन्तु धीरे-धीरे यह प्रभाव बढ़ता गया और सन् १९४८ के पश्चात् भयंकर रूप धारण कर लिया। युद्धोत्तर काल (Post-war period) में यह समझा जाता था कि युद्ध की दशायें समाप्त हो जाने के साथ-साथ मुद्रा-स्फीति की स्थिति का भी यदि अन्त नहीं हो जाएगा तो तीव्रता अवश्य कम हो जायगी। परन्तु युद्धोत्तर काल में भी मुद्रा-स्फीति का दोष बराबर बना रहा और पहले से भी अधिक भयंकर रूप धारण कर गया। इस समय हम तीव्र मुद्रा-स्फीति के मध्य हैं।

मुद्रा-स्फीति की वृद्धि एक सीमा के बाद ठीक नहीं रहती क्योंकि मूल्य इतने अधिक हो जाते हैं कि उनका सहज अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। श्री मुरंजन (Muranjan) ने जर्मनी में मुद्रा-स्फीति के समय वहाँ की अर्थ-व्यवस्था का वर्णन इस प्रकार से किया है, "सड़कों पर मोटरों के लिये लाखों में देना पड़ता था, कागज के नोट Reichsbank से दूसरे बैंक्स तथा मोटर गाड़ियों में ले जाये जाते थे, और एक पखवाड़े बाद एक व्यक्ति ने कूड़े के ढेर से १० लाख मार्क के नोट उठाये जिनको भिखारी ने फेंक दिया था। ...कुछ लड़कों को बन्दरगाह पर साबुन की पेटी मिल गई जो वहाँ भूल से रह गई थी और उसमें से एक टिकिया रोज बेचकर वे

महीनों मोटरों में घूमते फिरे तथा राजाओं की भांति रहे जबकि उनके मां-बाप जो पहले बहुत खुशहाल थे भिखारियों की तरह रह रहे थे।"[1]

इसलिये मुद्रा-स्फीति की समस्या पर गम्भीरता से विचार करना होगा क्योंकि यह एक आर्थिक बुराई ही नहीं है बल्कि सामाजिक बुराई भी है। प्रो० सी० एन० वकील ने मुद्रा-स्फीति की तुलना एक डाकू से की है। उनके अनुसार, "दोनों ही हमारा धन लूटते हैं, अन्तर केवल इतना है कि डाकू दिखलाई देता है परन्तु मुद्रा प्रसार अदृश्य रहता है, डाकू के शिकार एक समय में एक या कुछ व्यक्ति ही होते हैं, किन्तु मुद्रा-स्फीति का शिकार समस्त राष्ट्र होता है, डाकू पर मकदमा चलाया जा सकता है परन्तु मुद्रा-स्फीति कानूनन है।"[2]

भारत में मुद्रा-स्फीति (Inflation in India)—मुद्रा-स्फीति की समस्या को ठीक प्रकार से समझने के लिये यह आवश्यक है हम इसकी तीव्रता को स्पष्टतः समझ लें जिससे इनको दूर करने के उपायों पर प्रभावपूर्ण तरीके से विचार किया जा सके। मुद्रा-स्फीति की प्रवृत्ति (Inflationary trends) पर विचार करने के के लिये भारतीय अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन, मुद्रा व साख की पूर्ति तथा मूल्यों की प्रवृत्तियों पर विचार करना होगा।

भारत में मुद्रा-पूर्ति (Money Supply in India)—किसी भी देश की मुद्रा-पूर्ति मे देश की विधि ग्राह्य मुद्रा (Legal Tender Currency), जिसमें विभिन्न मूल्यों के नोट तथा सिक्के सम्मिलित है, तथा बैंकों की माग देय (Demand liabilities) जिनको बैंको के द्वारा निकाला जा सकता है, सम्मिलित होती है। भारत में मुद्रा पूर्ति मे परिवर्तन तथा वर्तमान स्थिति का पता अग्रलिखित तालिका से लग सकता है :—

---

1. "On street cars one paid in milions, lorries carried the paper money from the Reichsbank to the other banks, and a fortnight later one found hundred thousand mark notes in the gutter, a beggar had thrown them away contemptuously........Some adolescent boys who had found a case of soap forgotten in the harbour disported themselves for months in cars and lived like kings, selling a cake everyday, while their parents formerly well to-do, slunk about like beggars." From Hyper-Inflation to Devaluation. S. K, Muranjan. Pages 8-9

2. Inflation may be compared to robbery. Both deprive the victim of some possession with the difference that robber is visible, inflation is invisible the robber's victim may be one or a few at a time, the victims of inflation are whole nation; the robber may be dragged to the court of law but inflation is legal." Prof. C. N. Vakil. Financial Burden of War on India.

तालिका—१

वर्ष	मुद्रा पूर्ति (करोड़ रुपयों में)
१९५०—५१	१,६७९·४५
१९५१—५२	१,८०३·७६
१९५२—५३	१,७९४·७१
१९५३—५४	१,७९३·९७
१९५४—५५	१,८२०·६३
१९५५—५६	२,१८४·४५
१९५६—५७	२,३१२·८९
१९५७—५८	२,३८८·८३
१९५८—५९	२,४९८·७५
१९५९—६०	२,७०५·०१

अग्रिम तालिका पर एक दृष्टि डालने से यह स्पष्ट है कि मुद्रा पूर्ति में लगातार वृद्धि होती रही है। सन् १९५२—५३ की तुलना में मुद्रा पूर्ति में ५० प्रतिशत की वृद्धि हुई है। इस प्रकार जनता के पास क्रय-शक्ति में अत्यधिक वृद्धि हो गई है और जैसा कि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त (Quantity Theory of Money) बताता है, मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होने पर इसकी क्रय-शक्ति अथवा मूल्य में गिरावट होने लगती है।

बैंक साख की मात्रा (Amount of Bank Credit)—बैंकों द्वारा उत्पन्न की गई साख भी द्रव्य की मात्रा में वृद्धि करती है और इसका प्रभाव मूल्यों पर व द्रव्य के मूल्य पर पड़ता है। भारत में बैंक साख की मात्रा का अनुमान निम्नलिखित तालिका से हो सकता है :—

तालिका—२

वर्ष	कुल बैंक साख (लाख रुपयों में)
१९५०—५१	४५८,९०
१९५५—५६	६३२,४६
१९५६—५७	७८१,६४
१९५७—५८	८९०,८०
१९५८—५९	८९९,१७
१९५९—६०	९८७,४९

उपरोक्त तालिका भी स्पष्ट करती है कि पिछले १० वर्षों में बैंक साख की मात्रा लगभग दुगुनी हो गई है। सन् १९५०—५१ में बैंक साख केवल ४५८,९० लाख रुपये की थी जो सन् १९५९—६० में ९८७,४९ लाख रुपये की हो गई। इसने भी मुद्रा प्रसार के विकास में सहयोग दिया है।

देश में मुद्रा की मांग (Demand for Money in the Country)—मुद्रा के मूल्य पर मुद्रा की मांग का भी प्रभाव पड़ता है। परन्तु मुद्रा की मांग क्या है ? वर्तमान अर्थव्यवस्था मुख्यत विनिमय अर्थव्यवस्था (Exchange economy) है जो विनिमय के माध्यम व वितरण के लिए द्रव्य पर निर्भर है। समस्त वस्तुओं का सापेक्षित मूल्य तथा भूत, वर्तमान तथा भविष्य का ऋण सब द्रव्य में मापा जाता है और इन सबको राष्ट्रीय आय (National Income) के माध्यम से माप सकते हैं। इसलिये राष्ट्रीय आय के स्तर के विकास को मालूम करके हम द्रव्य की मांग का कुछ अनुमान लगा सकते हैं।

भारत में भी राष्ट्रीय आय से पता लग जायगा कि द्रव्य की मांग मे कितनी वृद्धि हुई है और यदि राष्ट्रीय आय मे मुद्रा की पूर्ति की तुलना मे कम वृद्धि हुई तो स्पष्ट हो जायगा कि मुद्रा-स्फीति की दशायें समाप्त नहीं हुई है। सन् १९५०-५१ में वर्तमान मूल्यों पर कुल राष्ट्रीय आय ९५३०० करोड रुपये थी जो सन् १९५८-५९ मे १२४७०० करोड रुपये हो गयी। इस दौरान मे राष्ट्रीय आय मे लगभग २८ प्रतिशत से २९ प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस प्रकार द्रव्य की मांग मे २८-२९ प्रतिशत की वृद्धि हुई है परन्तु मुद्रा की पूर्ति मे ५० प्रतिशत की वृद्धि हुई है। अत मुद्रा-स्फीति की तीव्रता अधिक हो गई है।

देश में मूल्य स्तर व रहन-सहन को लागत (Price level and the Cost of Living in the Country)—यदि देश मे लगातार मूल्यो व रहन-सहन की लागत मे पर्याप्त वृद्धि होती जाय तो मुद्रा-स्फीति की दशा स्पष्ट होती है। भारत मे इन दोनो में लगातार वृद्धि हो रही है। सन् १९५४-५५ की तुलना मे अब मूल्य स्तर ३० प्रतिशत बढ गया है तथा रहन-सहन की लागत मे ४० प्रतिशत की वृद्धि हो गयी है। अत: अब एक भारतीय एक रुपये से केवल ६० नये पैसे के बराबर ही वस्तुयें खरीद सकता है।

भारत में वर्तमान मुद्रा-स्फीति का कारण (Cause of the Present Inflationary Condition in India)—भारतवर्ष मे वर्तमान मुद्रा-स्फीति का मुख्य कारण हमारी विकास योजनाओं पर किया जाने वाला पूंजीगत व्यय (Capital expenditure) है। इस समय हमारे देश मे एक प्रकार की विकास सम्बन्धी मुद्रा-स्फीति है जो युद्धकालीन व युद्धोत्तर मुद्रा-स्फीति से एकदम भिन्न है। युद्धकालीन मुद्रा-स्फीति वस्तुओ की कमी के कारण थी परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से विकास योजनाओं पर अत्यधिक रुपया व्यय करने का प्रबन्ध किया गया। प्रथम योजना पर लगभग २००० करोड़ रुपये व्यय किये गये तथा द्वितीय योजना पर ४८०० करोड़ रुपये व्यय करने का अनुमान था। इस व्यय को सरकार अपने साधनों से तथा विदेशी सहायता से भी पूरा न कर सकी। इन साधनो में कमी के कारण जो घाटे की स्थिति उत्पन्न हुई उसको पूरा करने के लिये सरकार ने रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया से रुपया उधार लिया। अधिक नोट छाप कर रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया

ने यह उधार दिया। घाटे की इस वित्त अवस्था (Deficit financing) के कारण मुद्रा की पूर्ति तो बढ़ती गयी परन्तु साथ ही उसी अनुपात से मुद्रा की माँग में वृद्धि न होने के कारण मुद्रा-स्फीति की दशायें बढ़ती गईं। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में घाटे की वित्त व्यवस्था (Deficit financing) निम्नलिखित मात्रा में की गयी :—

प्रथम पंचवर्षीय योजना	४१६ करोड़ रुपये
द्वितीय पंचवर्षीय योजना	१,१७५ करोड़ रुपये
तृतीय पंचवर्षीय योजना	५५० करोड़ रुपये (अनुमानित)

मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिये प्रयत्न की आवश्यकता (Necessity for the Methods to check the Inflation)—विकासशील अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा-स्फीति का होना आवश्यक है और घने बसे हुए कृषि प्रधान देश में जहाँ औद्योगीकरण का सम्बन्ध श्रम की गतिशीलता से सम्बन्धित हो मूल्यों का बढ़ना और भी आवश्यक हो जाता है। Sunit Banerjea के अनुसार, "A mild and balanced dose of inflation is a necessary (though not sufficient) condition for economic growth—particularly in a densely-populated, agriculturally-baptized country where increasing industrilisation is associated with the mobility of labour force." प्रो० कैलडोर (Prof. Kaldor) व प्रो० रोबर्टसन (Prof. D. H. Robertson) ने भी आर्थिक विकास की स्थायी दर को आवश्यक समझा है।

यद्यपि मुद्रा-स्फीति व आर्थिक विकास दोनों साथ-साथ ही होते हैं और इस प्रकार यह Chicken-egg problem है जिसमें यह बताना कठिन है कि पहले क्या घटित हुआ, परन्तु फिर भी मुद्रा-स्फीति को एक सीमा से आगे बढ़ने नहीं दिया जा सकता। इस मुद्रा-स्फीति के घोड़े को कुछ सीमाओं में रखना आवश्यक होगा क्योंकि यदि इसको स्वतन्त्र छोड़ दिया गया तो यह अर्थव्यवस्था को आर्थिक असमायोजनों व असन्तुलित विकास की भयंकर स्थिति की ओर ले जायगा।[4]

मुद्रा-स्फीति एक इस प्रकार की बुराई है जिसको शीघ्र से शीघ्र दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। श्री एन० डान्डेकर (Sh. N. Dandekar) ने मुद्रा-स्फीति के सम्बन्ध में लिखा है, "Inflation is an unmitigated evil to the large masses of people. In the free economy that we have in our country, with the institution of private property, it constitutes the greatest

3. Sh. Sunit Banerjea Growth with Inflation. The Hindustan y, Sunday. June 14. 1960 Economic Survey.

"But this horse of inflation should be kept within certain as because, if left to itself, it will lead the economy to the ice of economic maladjustments and lopsided development."

danger to the confidence of the people in the social, political and economic institutions of the country. If inflation is not arrested in time, the people will lose faith in the capacity of democracy to achieve planned development. And the way will then be clear for a communist take-over from within, assisted by world communism which is now poised on our northern boundaries for just such an opportunity. The Roman Empire fell before the onslaught of barbarians largely because the people themselves were no longer interested in its countinuance in consequence of the complete erosion of its economic, social and political fabric by continuous and uncontrollable inflation and the resulting corruption. That is also what happened in China. Let not history repeat itself in India."[5]

मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिये किये गए प्रयत्न (Methods adopted to check Inflation)—यह स्पष्ट है कि मुद्रा-स्फीति के विकास को असीमित रूप से बढ़ने नहीं दिया जा सकता। भारत सरकार व रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने भी भारत में प्रचलित मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिये विभिन्न प्रयत्न किये जिनको इस प्रकार लिखा जा सकता है :—

(१) सरकार अपने व्यय में बचत कर रही है जिससे उस राशि को उत्पादन कार्य के लिये व्यय किया जा सके। केन्द्रीय सरकार ने विभिन्न राज्य सरकारों को आदेश दिया है कि वे अपने प्रशासनीय खर्चों (Administrative expenses) को कम से कम कर दें। सरकारी कार्यालयों में बेकार के स्थानों को समाप्त किया जा रहा है, मन्त्रियों के भत्तों पर रोक लगायी जा रही है तथा और भी विभिन्न साधन इस सम्बन्ध में प्रयुक्त किये जा रहे हैं।

(२) बचत को प्रोत्साहन देने का भरसक प्रयत्न किया जा रहा है और ग्रामीण क्षेत्रों से बचत एकत्र करने पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। सन् १९५९-६० में सरकार को ८४ करोड़ रुपया प्राप्त हुआ जबकि १९५८-५९ में केवल ८० करोड़ रुपया ही प्राप्त हो पाया था।

सन् १९५९-६० में सरकार ने बचतों को प्रोत्साहन देने के लिये बहुत से उपाय किए। एक नयी Pay-roll Scheme प्रारम्भ की जो कि बड़ी संस्थाओं, कारखानों आदि में कार्य करने वाले कर्मचारियों के लिये है। इस योजना में कर्मचारियों की स्वीकृति से उनकी मजदूरी में से कटौती करके उसे छोटी बचतों में विनियोजित किया जा सकता है। इस योजना में मालिकों को National Savings Certificates पर एक प्रतिशत की तथा Treasury Savings Deposits Certificates पर आधा प्रतिशत की कमीशन भी दी जाती है। प्रोविडेन्ट फाण्ड में से

5. Sh. N. Dandekar. Third Plan and Legacy of Inflation. Industrial Times, Ist January 1961. page 25.

Treasury Savings Deposits Certificates में जमा कराने की ५०,००० रुपयों की सीमा को भी समाप्त कर दिया गया है। १ अक्टूबर सन् १९५९ से अनुसूचित (Scheduled) व सहकारी (Co-operative) बैंक्स को यह अधिकार मिल गया कि वे १२ प्रतिशत की दस्तूरी (Brokerage) पर Treasury Savings Deposits Certificates के लिये चन्दा एकत्रित करें। छोटे विनियोजनकर्त्ता भी Annuity Certificates Scheme का लाभ उठा सकें, इसलिये २ जनवरी सन् १९६० से 15 Year Annuity Certificates चालू किए गए जो १,३३० रुपए के हैं जिसमें १५ वर्ष तक १० रुपये महीना मिलता है। इसके अतिरिक्त संगठन सम्बन्धी परिवर्तन भी किये गये जैसे Central Savings Advisory Committee तथा Women's Savings Campaign with a Central Advisory Board को आपस में मिला दिया गया। इसी प्रकार राज्यों में State Savings Advisory Committee तथा Women's Savings Campaign with State Advisory Boards को भी मिला दिया गया। अधिकृत एजेन्टस को कमीशन देने का कार्य खजानों (Treasuries) से डाकखानों को सौंप दिया गया है क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रों के एजेन्टस को खजानों तक पहुँचने में बहुत कठिनाइयाँ होती थीं।

(३) विकास योजनाओं में घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit Financing) की मात्रा रोक लगायी गई क्योंकि यह ही मुद्रा-स्फीति को बढ़ाने का मुख्य कारण था। द्वितीय योजना में १२०० करोड़ रुपये के घाटे की वित्त-व्यवस्था का आयोजन था परन्तु अनुमान है कि वास्तविक घाटे की वित्त-व्यवस्था ११७५ करोड़ रुपये ही होगी। तृतीय योजना में तो घाटे की वित्त-व्यवस्था को बहुत ही कम कर दिया गया है और केवल ५५० करोड़ की घाटे की वित्त-व्यवस्था का आयोजन किया गया है।

(४) औद्योगिक तथा कृषि सम्बन्धी उत्पादन में तेजी के साथ वृद्धि करने का प्रयत्न किया जा रहा है। कृषि उत्पादन का सूचक अंक (Index number) सन् १९५०-५१ में ९५·६ से बढ़कर सन् १९५८-५९ में १३१ हो गया तथा औद्योगिक उत्पादन का सूचक अंक भी सन् १९५१ में १०० से बढ़ कर सन् १९५८-५९ में १५१·१ हो गया। तृतीय योजना काल में भी उत्पादन में वृद्धि पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया गया है। कृषि-उत्पादन में ३० से ३३ प्रतिशत तक की वृद्धि करने का प्रयत्न किया जायेगा। खाद्य उत्पादन में तो ४० प्रतिशत तक की वृद्धि का अनुमान है। औद्योगिक क्षेत्र में इस प्रकार के उद्योगों को विशेष महत्व दिया गया है जो भारतीय अर्थव्यवस्था को आत्म-निर्भर (Self-sustaind) बना दें जैसे लोहा, इस्पात, मशीन निर्माण उद्योग, उत्पादक वस्तु निर्माण उद्योग (*Producer's* goods manufac'uring industries) व उपभोग वस्तुओं का निर्माण करने वाले का भी पर्याप्त विस्तार किया जायगा।

(५) उचित मूल्य सम्बन्धी नीति (Price Policy) का निर्माण किया जा रहा है जिसमें वित्तीय साधनों, मौद्रिक नियन्त्रणों व प्रत्यक्ष नियन्त्रण व वितरण द्वारा मूल्यों को बढ़ने से रोका जायगा।

(६) देश मे जब तक खाद्य उत्पादन आवश्यकता के बराबर न हो जाये तब तक आयातों पर निर्भर करना होगा। इस कमी को पूरा करने के लिये अमेरिका से P. L. 480 के अन्तर्गत सहायता प्राप्त की जाती है। बर्मा व United Arab Republic से भी चावल के आयात के सम्बन्ध मे समझौते किये गये हैं। खाद्य पदार्थों के मूल्यो को स्थिरता प्रदान करने के लिए 'बफर स्टॉक्स' (Buffer Stocks) का निर्माण किया जा रहा है। ६ मई सन् १९६० मे अमेरिका से एक समझौता किया गया था जिसके अनुसार अगले चार वर्षों में P. L 480 के अन्तर्गत १६ मिलियन मैट्रिक टन गेहूँ व १ मिलियन मैट्रिक टन चावल आयात किया जायेगा जिसमें से एक चौथाई भाग बफर स्टॉक्स बनाने के लिए काम में लाया जायेगा। इन बफर स्टॉक्स के लिये बम्बई व हापुड़ मे आधुनिक व यन्त्रीकृत Silo-elevators बनाये गये हैं।

(७) साख नियन्त्रण की नीति को अधिक प्रभावपूर्ण बनाया जा रहा है तथा साख नियन्त्रणों को अधिक कठोर कर दिया गया है। Reserve Bank की Report of Currency and Finance मे इस सम्बन्ध मे बैंक की नीति का वर्णन इन शब्दों में किया गया है, "In recent years, the Reserve Bank's monetary policy has been one of 'controlled expansion' – a policy of general restraint alongside action to augment the flow of credit into specific sectors, in particular agriculture."[6]

रिजर्व बैंक ने साख नियन्त्रण के केवल बैंक दर व खुले बाजार की क्रियाओं के पुराने तरीको को ही नही अपनाया है बल्कि उत्कृष्ट साख नीति (Selective Credit Policy) को भी अपनाया है। साख को महंगा बनाने के लिये बैंक दर को नवम्बर सन् १९५१ मे ३ से ३½ प्रतिशत कर दिया जिसको सन् १९५७ में बढ़ाकर ४ प्रतिशत कर दिया गया। रिजर्व बैंक ने अनुसूचित बैंको (Scheduled Banks) को अपने अग्रिम (Advances) कम करने का भी आदेश दिया जिसको मान कर बैंकों ने साख की मात्रा कम कर दी। उत्कृष्ट साख नीति (Selective Credit Policy) का भी उपयोग किया गया। खाद्य पदार्थों पर साख देने की सीमा में ५ प्रतिशत को वृद्धि कर दी तथा कम से कम सीमा ४० प्रतिशत कर दी। पिछले वर्ष की तुलना में खाद्य [illegible] आधार पर ऋण देने का प्रतिशत भी निश्चित कर [illegible] चीनी व मूंगफली पर भी लागू कर दिया

[illegible] Finance for the Year 1959-60.

गया। कुछ समय बाद विभिन्न सरकारों की खाद्य पदार्थों के क्रय की नीति में परिवर्तन तथा खाद्य-क्षेत्रों के निर्माण के कारण बैंक ने इस नीति को अधिक लोचपूर्ण बना दिया। आगे मूंगफली पर इस नियन्त्रण को अधिक कठोर बना दिया गया। कपास के बीजों को छोड़ कर तिलहन पर भी इस नीति को लागू कर दिया गया।

मूल्यों में वृद्धि व सट्टे के कार्यों को रोकने के लिये ११ मार्च सन् १९६० को रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने साख नियन्त्रण के दो नये उपायों की घोषणा की। पहला उपाय तो यह था कि ११ मार्च सन् १९६० के बाद अनुसूचित बैंकों की समय तथा माँग जमा में जो वृद्धि होगी उसका २५ प्रतिशत रिजर्व बैंक में जमा करना होगा। बाद में (मई में) इस २५ प्रतिशत की मात्रा को बढ़ाकर ५० प्रतिशत कर दिया गया। दूसरे, शेयर्ज के आधार पर (Preferencial Shares को छोड़कर) जो भी बैंक ५,००० रुपये से अधिक उधार देगा, उस पर ५० प्रतिशत की सीमा रक्खी जायगी। इसके साथ ही रिजर्व बैंक ने बैंकों को बदला व्यापार (Badla Transactions) में भी भाग लेने से मना कर दिया।

रिजर्व बैंक ने दुर्लभ मुद्रा नीति (Dearer Money Policy) को और भी अधिक आगे बढ़ाया और १ अक्टूबर सन् १९६० को एक नयी नीति की घोषणा की। इस नीति के अनुसार रिजर्व बैंक ने प्रत्येक बैंक का ऋण लेने का कोटा निधारित कर दिया जो कि उन कोषों का ५० प्रतिशत था जो बैंकों को रिजर्व बैंक के पास वैधानिक रूप से रखने होते थे। इस कोटे की मात्रा तक जो ऋण लिया जायगा उस पर केवल बैंक दर के बराबर ही सूद लिया जायगा। इस कोटे से अधिक के ऋण लेने पर बक दर से अधिक सूद लिया जायगा। सूद की दर इस प्रकार होगी:—

ऋण	सूद की दर
(i) कोटे से १०० प्रतिशत अधिक परन्तु २०० प्रतिशत से अधिक नहीं।	सूद की दर बैंक दर से १ प्रतिशत अधिक।
(ii) कोटे से २०० प्रतिशत अधिक।	सूद की दर बैंक दर से २ प्रतिशत अधिक।

इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने बैंकों को यह भी आदेश दिया कि १ अक्टूबर सन् १९६० से नये व पुराने ऋणों पर तथा सुरक्षित व असुरक्षित ऋणों पर ५ प्रतिशत की दर ली जाय। अन्य बैंकों को दिये गये ऋणों पर यह आदेश लागू नहीं होगा। इसके साथ ही रिजर्व बैंक ने यह भी कहा कि बैंक्स अपने सूद की दर के ढांचे (Structure of the interest rates) में इस प्रकार के परिवर्तन करें कि सूद की दरों में कम से कम ½ प्रतिशत की वृद्धि हो जाय। बैंकों को यह भी कहा गया कि वे एक अक्टूबर सन् १९६० से जमाओं पर बैंक दर से २ प्रतिशत कम से अधिक व्याज न दें।

इस नीति की घोषणा के साथ ही रिजर्व बैंक ने उस नियन्त्रण को समाप्त कर दिया जिसके अनुसार बैंकों को अपनी जमा का २५ प्रतिशत (बाद में ५० प्रतिशत) जमा करना पड़ता था।

इस प्रकार से रिजर्व बैंक ने मौद्रिक नीति से मुद्रा-स्फीति को नियन्त्रण में रखने का प्रयत्न किया है और यह अपने कार्य में पर्याप्त रूप से सफल भी रहा है।

(७) सरकार ने वर्तमान करों की दर में वृद्धि करके तथा नये कर लगा कर जनता के पास क्रय-शक्ति कम करने का प्रयत्न किया है। आय कर की दर ३६०० से घटाकर ३००० कर दी गई। क्रय कर (Sale Tax) लगाये गये तथा उनकी दर में भी वृद्धि की गई। भेंट कर (Gift Tax), सम्पत्ति कर (Wealth Tax), व्यय कर (Expenditure Tax) आदि भी लगाये गये।

इस प्रकार सरकार की ओर से भरसक प्रयत्न मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिये किये जा रहे हैं और आशा की जाती है कि यदि मुद्रा-स्फीति की दशा समाप्त नहीं हो जायगी तो उसकी तीव्रता अवश्य कम हो जायगी।

★

Q 89 "Fluctuations in prices are of the profoundest social significance, and may exert immesurable influence of the production and distribution of wealth." Explain

आजकल संसार में विनिमय अर्थव्यवस्था (Exchange economy) है। जिसमें समस्त व्यापार द्रव्य की सहायता से होता है। द्रव्य की सहायता से विनिमय करने में प्रत्येक वस्तु की विनिमय शक्ति द्रव्य में व्यक्त की जाती है जिसको मूल्य कहते हैं।[1] द्रव्यिक अर्थव्यवस्था (Monetary economy) में मूल्य या मूल्य यन्त्र (Price mechanism), जो कि अधिक उपयुक्त शब्द होगा ही अर्थव्यवस्था का समायोजक (adjuster) होता है और समस्त उपभोग व उत्पादन के द्वारा वितरण पर भी पड़ता है तथा यह देश की वितरण प्रणाली में मूलभूत परिवर्तन ला देता है। मूल्यों में परिवर्तन होने से केवल उत्पादन, उपभोग व वितरण पर ही गम्भीर प्रभाव नहीं पड़ते बल्कि

(१) मूल्यों में परिवर्तन।
(२) मूल्यों में परिवर्तन के प्रभाव।
- (a) उत्पादन व रोजगार पर;
- (b) वितरण पर;
- (c) निश्चित आय वर्ग पर;
- (d) व्यवसायिक वर्ग पर;
- (e) समाज पर।

1. "When value is expressed in terms of money it is called price."

सामाजिक व राजनैतिक प्रभाव भी महत्वपूर्ण होते हैं तथा समस्त आर्थिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है। यहां पर, इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम मूल्य में परिवर्तनों के उत्पादन, उपभोग व वितरण पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करे, और देखें कि इसके परिवर्तन के सामाजिक दुष्परिणाम क्या हैं ?

मूल्यों में परिवर्तन (Changes in Prices)—मूल्यों में परिवर्तन के प्रभावों को देखने से पहले मूल्यों में परिवर्तनों की प्रकृति को समझना आवश्यक होगा। मूल्यों में परिवर्तन दो प्रकार के होते हैं, तथा सामान्य परिवर्तन (General Changes) जो कि लगभग सब ही वस्तुओं के मूल्यों में होते हैं, तथा विशिष्ट परिवर्तन (Particular Changes) जो केवल कुछ वस्तुओं के मूल्यों में होते हैं और इनमें परिवर्तन का कारण मौसम की स्थिति में परिवर्तन, उत्पादन कला (Technique of production) में परिवर्तन आदि होता है।

यहाँ पर हमारा ध्यान सामान्य मूल्यों पर ही केन्द्रित होगा। परन्तु एक बात स्पष्ट करनी आवश्यक होगी कि सामान्य परिवर्तन का आशय यह नहीं है कि सब वस्तुओं के मूल्यों में एक सा ही परिवर्तन हो। कुछ वस्तुओं के मूल्यों में अधिक परिवर्तन हो सकते हैं, कुछ के में कम। कुछ मूल्य बढ़ सकते हैं कुछ घट सकते हैं। इन परिवर्तनों की विभिन्नता के होते हुये भी मूल्यों की सामान्य प्रवृत्ति एक ही दिशा में होती है—मूल्य गिरते हैं अथवा बढ़ते हैं।

मूल्य भी कई प्रकार के होते हैं और उनकी चंचलता भी भिन्न-भिन्न होती है। कच्चे माल व कृषि पदार्थों के मूल्यों में अन्य मूल्यों की तुलना में अधिक परिवर्तन होते हैं। इसका मुख्य कारण यह होता है कि इनकी पूर्ति को मांग की तुलना में शीघ्र व सरलता से समायोजित नहीं किया जा सकता। फिर भी सरकारों ने इसके परिवर्तनों को नियंत्रित करने का प्रयत्न किया है परन्तु अधिक सफलता नहीं मिल सकी है। कच्चे माल व कृषि पदार्थों की तुलना में निर्मित वस्तुओं (Manufactured goods) के मूल्यों में इतने अधिक परिवर्तन नहीं होते क्योंकि इनके मूल्य अधिकतर उत्पादकों द्वारा नियन्त्रित किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त इन वस्तुओं की उत्पादन लागत लगभग दृढ़ होती है और उत्पादक को मूल्यों का परिवर्तन लाभदायक नहीं होता इसलिये उत्पादक इनकी पूर्ति को मांग के अनुसार समायोजित करके मूल्यों को स्थिर रखने का प्रयत्न करता है।

मजदूर व सेवाओं के मूल्यों में परिवर्तन बहुत ही कम होता है क्योंकि श्रम-संघों के संगठन के कारण मजदूरी आदि में कमी करना लगभग असम्भव है। वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होने पर अवश्य ये अपनी मजदूरी बढ़ाने में सफल हो जाते हैं।

अन्त में, कुछ मूल्य व भुगतान समझौतों के द्वारा दीर्घ-काल के लिये निश्चित होते हैं और वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन होने का विशेष प्रभाव उन पर नहीं पड़ता जैसे, वेतन, दीर्घ-कालीन ऋणों पर सूद, किराये, बीमे का प्रीमियम आदि। इनमें परिवर्तन दीर्घकाल में होते हैं तथा धीरे-धीरे होते हैं।

मूल्यों में परिवर्तनों का प्रभाव (Consequences of Changing Prices)—मूल्यों में सामान्य परिवर्तन का प्रभाव समाज के सब वर्गों पर तथा अर्थव्यवस्था के सब अंगों पर एक सा नहीं पड़ता। यह परिवर्तन उत्पादन, वितरण तथा रोजगार के स्तर को भी परिवर्तित कर देते हैं जिनका अध्ययन करना आवश्यक व महत्वपूर्ण है।

मूल्यों में परिवर्तनों का उत्पादन व रोजगार पर प्रभाव (Effects of Changes in Prices on Production and Employment)—मूल्य स्तर में होने वाले परिवर्तन समाज में रोजगार की मात्रा तथा वास्तविक धन के उत्पादन पर गहरा प्रभाव डालते हैं। उत्पादन का वर्तमान तरीका जटिल श्रम-विभाजन पर आधारित है तथा खर्चदार है। इसलिये उत्पादन करने में तथा उससे आय प्राप्त करने के बीच बहुत समय होता है। उत्पादन भावी लाभ की आशा से ही उत्पादन करता है। मूल्यों में वृद्धि से उसकी लाभ की मात्रा में वृद्धि हो जाती है और वह अधिक उत्पादन करता है। इसके विपरीत मूल्यों के गिर जाने से उसका लाभ भी गिर जाता है जिसके कारण अधिक उत्पादन लाभदायक नहीं होता। इसलिए मूल्यों के बढ़ने पर उत्पादक को लाभ की आशा अधिक होती है और वह अधिक जोखिम उठाने के लिए तैयार हो जाता है। इसके अतिरिक्त उत्पादक को इस कारण भी लाभ होता है क्योंकि उत्पादन लागतें उसी अनुपात में नहीं बढ़ती जिस अनुपात में मूल्य बढ़ते हैं। इससे विनियोजन व उत्पादन बढ़ता है तथा रोजगार की मात्रा में भी वृद्धि हो जाती है क्योंकि उत्पादन बढ़ाने के लिए अधिक व्यक्तियों व साधनों को उत्पादन में लगाना पड़ता है। उत्पादन केवल पुराने उद्योगों में ही नहीं बढ़ता बल्कि लाभ प्राप्त करने के लिए नये-नये उद्योग भी स्थापित होने लगते हैं जिससे उत्पादन व रोजगार में और अधिक वृद्धि होती है। बढ़ते हुये मूल्यों का उत्पादन व रोजगार पर प्रभाव रोबर्टसन (Robertson) ने इन शब्दों में व्यक्त किया है, "It is not the rising prices that empty the work-houses and the employment exchange registers, and fill the factories and the shipyards? And is it not better that all should be busy, even though grumbling at the cost of living than that some should be living cheaply and others left on the streets?"[2]

मूल्यों में कमी होने पर उत्पादकों के लाभ में भी कमी होने लगती है। साथ ही उनकी लागत में कोई विशेष कमी नहीं हो पाती क्योंकि मजदूरी लगभग निश्चित होती है तथा अन्य उत्पादन वस्तुयें भी कच्चा माल आदि की अधिक मूल्यों पर खरीद होती है। इसलिये मूल्यों के गिरने पर जब लाभ की आशा कम होती है तो उत्पादन व रोजगार की मात्रा दोनों ही गिर जाते हैं। उद्योग केवल अपना उत्पादन ही कम नहीं कर देते बल्कि बहुत सी उत्पादक इकाइयाँ (Productive units) बन्द भी हो

2. Robertson, Money. p 139.

मूल्यों के गिरने का विपरीत परिणाम इन पर होता है। इनकी आय की क्रय-शक्ति बढ़ जाने के कारण वे अधिक वस्तुओं का उपभोग कर सकते हैं।

(ब) वस्तुओं के मूल्यों के बढ़ने का प्रभाव मजदूरों पर विपरीत होता है क्योंकि मजदूरी की दरें न तो मूल्यों के साथ बढ़ती हैं न वे उस अनुपात में बढ़ती हैं जिस अनुपात में मूल्य-स्तर बढ़ता है। यह एक आर्थिक नियम है कि मजदूरी सदा मूल्यों से पीछे रहती है।

फिर भी मजदूरों को दो प्रकार से लाभ होता है। एक तो यदि मजदूर संगठित हैं तो वे मूल्यों के साथ-साथ मजदूरी बढ़वाने में सफल हो जाते हैं। यदि मजदूरी रहन-सहन की लागत से सम्बद्ध है तो उसमें वृद्धि अपने आप ही हो जाती है, परन्तु रहन-सहन की लागत से सम्बन्धित न होने पर मजदूरी बढ़ने में समय लगता है और यह जितना अधिक होगा मजदूरों को उतनी ही अधिक हानि उठानी होगी। दूसरा लाभ मजदूरों को इस प्रकार से होता है कि मूल्यों के बढ़ने से उत्पादन की मात्रा भी बढ़ती है और बेरोजगारी में कमी होकर रोजगार की मात्रा में वृद्धि होती है। श्रम परिवारों की मौद्रिक आय बढ़ती जाती है क्योंकि परिवार के सभी सदस्यों को काम मिल जाता है। इस प्रकार मूल्यों के बढ़ने से यद्यपि मजदूर-वर्ग को हानि होती है परन्तु फिर भी यह हानि इतनी नहीं होती जितनी व्यवसायिक) व वेतन प्राप्त निश्चित आय वाले वर्ग को।

गिरते हुये मूल्यों के समय मजदूर वर्ग को एक प्रकार से लाभ होता है तथा दूसरे प्रकार से हानि। लाभ तो आय की क्रय-शक्ति बढ़ जाने के कारण होता है। मूल्यों के गिरने से रहन-सहन की लागत भी बढ़ जाती है। परन्तु रोजगार की दृष्टि से मजदूर वर्ग को हानि होती है। गिरते मूल्य उत्पादन को कम करते हैं जिससे मजदूरों में बेरोजगारी फैलती है। श्रम परिवारों के बहुत से सदस्य बेकार हो जाने के कारण परिवार की आय कम हो जाती है। इस प्रकार गिरते हुये मूल्यों के समय क्रय-शक्ति बढ़ जाने के कारण भी मजदूर-वर्ग को लाभ नहीं होता क्योंकि उनमें बहुत से बेकार हो जाते हैं।

(३) व्यापारी व उत्पादक वर्ग (Businessmen and Producers)—मूल्यों के बढ़ने का वास्तविक लाभ उत्पादकों व व्यापारियों को होता है। इन दोनों प्रकार के वर्गों को लाभ कई प्रकार से होता है। एक तो उत्पादकों का व्यय लगभग स्थिर रहता है जबकि वस्तुओं के मूल्य बढ़ते चले जाते हैं। मजदूरी में एकदम वृद्धि नहीं होती, कच्चा माल भी कम मूल्यों पर खरीदा होता है तथा सूद की दर, कर्मचारियों का वेतन आदि भी स्थिर रहता है। लागत में स्थिरता के विपरीत मूल्य तेजी से बढ़ने लगते हैं और उत्पादकों की लाभ की सीमा (Margin of profit) बढ़ती चली जाती है। दूसरे, उत्पादन क्रिया तेजी से होने लगती है। जिसके कारण व्यापार व उत्पादन अधिक होकर लाभ अधिक मिलता है। किसानों को और भी अधिक लाभ होता है क्योंकि कृषि सम्बन्धी वस्तुओं का मूल्य अन्य प्रकार की वस्तुओं की अपेक्षा

अधिक तेजी के साथ बढ़ता है। व्यापारियों को लाभ भी होता है क्योंकि उन्होंने स्टॉक्स कम मूल्य पर खरीदे होते हैं परन्तु बेचते बढ़े हुये मूल्य पर है। अतः मूल्यों के बढ़ने पर चारों ओर व्यवसायिक आशावाद (Business optimism) फैल जाता है।

मूल्यों के गिरने का विपरीत प्रभाव व्यापारियों व उत्पादकों पर होता है। लागत दृढ होने व मूल्यों के गिरने के कारण लाभ की सीमा (Margin of profit) गिरती जाता है और व्यवसायिक निराशावाद (Business pessimism) फैल जाता है।

मूल्य परिवर्तन के सामाजिक प्रभाव (Social Effects of Price Changes)–मूल्य परिवर्तनों के केवल आर्थिक प्रभाव ही बुरे नहीं होते बल्कि सामाजिक प्रभाव भी हानिकारक होते हैं। मूल्य परिवर्तन से सामाजिक अशान्ति बढ़ जाती है। वस्तुओं के मूल्य बढ़ने पर मजदूर अधिक मजदूरी की मांग करते है। जिसको उत्पादक मानने से मना कर देते हैं। परिणामस्वरूप हड़ताल आदि होती हैं जिससे दंगे-फिसाद व मार-पीट बढ़ती है। मजदूरों व पूँजीपति मे वर्ग-संघर्ष होता है जिससे सामाजिक अशान्ति फैलती है। वस्तुओं की कमी हो जाने के कारण चोर-बाजारी को प्रोत्साहन मिलता है। समाज मे लोगों का नैतिक पतन होता है और यह केवल व्यापारियों तक ही सीमित नही रहता है बल्कि सरकारी अधिकारियो तक मे फैल जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय को बढाने के लिये उचित अनुचित व नैतिक अनैतिक साधनों का प्रयोग करता है। डा० मूरन्जन ने जर्मनी मे फैलें सन् १९१४-१८ के मध्य अत्यधिक तेजी से बढ़ते हुए मूल्यों के सामाजिक परिणामो का वर्णन The World Yesterday से उद्धृत कुछ पंक्तियों मे इस प्रकार किया है :

"All values were changed, and not only material ones, the laws of the State were flouted, no tradition, no moral code was respected, Berlin was transformed into the Babylon of the world. Bars, amusement parks, red light houses sprang up like mushrooms ... . . In the collapse of all values a kind of madness gained hold particularly in the bourgeois circles which until then had been unshaken in their probity. Young girls bragged proudly of their perversion, to be sixteen and still under the suspicion of virgivity would have been considered a disgrace in any school of Berlin at that time, every girl wanted to be able to tell of her adventures, and the more exotic the better .. ..''[@]

गिरते हुए मूल्यों के सामाजिक प्रभाव भी कम बुरे नही हैं। मूल्य गिरने मे उत्पादकों को हानि होती है और वे मजदूरी कम करने का प्रयत्न करते हैं तथा

Ibid. page 9.

जाती हैं जिससे उत्पादन की मात्रा और भी अधिक गिर जाती है तथा बेरोजगारी अधिक फैलती है।

मूल्यों में परिवर्तन का वितरण पर प्रभाव (Effects of Changes in the Prices on Distribution)—मूल्यों के परिवर्तन का प्रभाव केवल उत्पादन व रोजगार की मात्रा तक ही सीमित नहीं रहता बल्कि धन के वितरण पर इन परिवर्तनों के गम्भीर प्रभाव पड़ते हैं और धन का लगभग पुनर्वितरण हो जाता है। वितरण पर मूल्य परिवर्तनों का प्रभाव देखने के लिये हमें समाज को कुछ वर्गों में विभाजित करना होगा।

लार्ड जे० एम० कीन्स (Lord J. M. Keynes) ने अपनी पुस्तक Tract on Monetary Reform में समाज को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित किया है :—

(१) वह वर्ग जिसमें व्यक्तियों की आय लगभग निश्चित होती है जैसे विनियोगी जिन्होंने दीर्घकालीन विनियोजन कर रक्खे हैं और उस पर निश्चित आय प्राप्त होती है।

(२) वह वर्ग जिसमें व्यक्तियों की आय यद्यपि अल्पकाल में स्थिर होती है परन्तु मूल्यों मे परिवर्तन के साथ साथ समायोजित भी हो जाती है। इस वर्ग को पुनः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है :—

(अ) व्यवसायी व वेतन प्राप्त व्यक्ति जैसे वकील, डाक्टर, अध्यापक व सरकारी कर्मचारी आदि। इनकी आय समझौते या प्रचलित व्यवहार से निश्चित होती है परन्तु अधिक मूल्य परिवर्तन पर यह परिवर्तन के अनुसार समायोजित हो जाती है।

(ब) मजदूरी प्राप्त व्यक्तियों का वर्ग। इनकी आय व्यवसायी व वेतन प्राप्त व्यक्तियों की तुलना में शीघ्र समायोजित हो जाती है।

(३) उन व्यक्तियों का वर्ग जिनकी आय मूल्यों में परिवर्तन के साथ परिवर्तित तथा समायोजित होती रहती है जैसे उत्पादक व व्यापारी।

समाज में व्यक्तियों का उपरोक्त वर्गीकरण पूर्ण व दृढ़ नहीं है क्योंकि एक ही व्यक्ति एक साथ कई वर्गों में सम्मिलित हो सकता है।

यहां पर हमें देखना होगा कि मूल्यों में परिवर्तन से इन विभिन्न वर्गों पर क्या प्रभाव पड़ता है।

(१) निश्चित आय वाला वर्ग (Fixed Income Group) :—इस वर्ग में वह व्यक्ति सम्मिलित हैं जिन्होंने दीर्घकाल के लिये पूंजी का विनियोजन किया हुआ है और उसकी आय पर निर्भर करते हैं। इनमें साधारण हिस्सेदारों को तथा उन व्यक्तियों को सम्मिलित नहीं किया जाता जिन्होंने अपने ही उद्योग में रुपया लगाया हुआ है और [illegible] उनकी आय पर मूल्य परिवर्तनों का प्रभाव पड़ता है। [illegible] विनियोजकों को उद्योग से [illegible]

मतलब नही होता जैसे ऋण-पत्र अधिकारी (Debentures Holders)। मूल्यों के बढ़ने का अथवा द्रव्य के मूल्य में कमी होने का इन पर बुरा प्रभाव पड़ता है क्योंकि इनकी आय तो पहले के समान ही रहती है परन्तु उसकी क्रय-शक्ति गिर जाती है और वे पहले से कम वस्तुयें खरीद पाते हैं। एक German Southerner ने जर्मनी की मुद्रा-स्फीति के समय इस वर्ग पर मूल्य वृद्धि के प्रभावों को इस प्रकार व्यक्त किया था, "पहले हम दुकानों पर जेबो मे द्रव्य लेकर जाते थे तथा अपनी टोकरियो में खाद्य पदार्थ लेकर लौटते थे। परन्तु अब हम टोकरियो मे द्रव्य लेकर जाते है तथा जेबो मे खाद्य पदार्थ लेकर लौटते हैं।"[3]

इसी वर्ग पर पड़ने वाले प्रभावो को बताने के लिये डा० मुरन्जन ने The World Yesterday से आस्ट्रीया के मे मुद्रा-स्फीति के सम्बन्ध मे निम्नलिखित अंश उद्धृत किया है, "एक व्यक्ति जो ४० वर्षों से बचा रहा था तथा जिसने देश-भक्ति के कारण सब बचत को युद्ध पत्रो (War bonds) मे विनियोजित कर दिया था, भिखारी बन गया।"[4]

मूल्यों के गिरने का विपरीत प्रभाव विनियोजन-कर्त्ताओ पर पड़ता है क्योंकि वस्तुओं के मूल्य गिरने से द्रव्य का मूल्य अधिक हो जाता है और विनियोजन-कर्त्ताओं की आय पहले के ही समान रहने मे उनकी क्रय-शक्ति अधिक हो जाती है। इस काल में व्यक्तियों को बचत करने का प्रोत्साहन मिलता है।

(२) (अ) व्यावसायिक व निश्चित आय वाले व्यक्तियों को भी मूल्यों के बढने पर हानि उठानी पड़ती है क्योंकि अल्पकाल मे उनकी आय लगभग स्थिर रहती है परन्तु रहन-सहन की लागत (Cost of living) लगातार बढती रहती है। यद्यपि वस्तुओं के मूल्य लगातार बढ़ते रहने है तो इनको महगाई भत्ता (Dearness allowance) या बोनस के रूप मे कुछ सहायता मिल जाती है। डाक्टर व वकील आदि भी अपनी फीस बढ़ाकर बढे हुये रहन-सहन की लागत के प्रभाव को कम करने का प्रयत्न करते हैं परन्तु मे कानून व प्रचलित व्यवहार के कारण अपनी फीस को अधिक नही बढ़ा सकते। मध्यम वर्ग वालो को तो इसमे बहुत परेशानी उठानी पड़ती है क्योंकि सामाजिक प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिये वे व्यय मे तो कमी नही कर सकते परन्तु व्यय की मात्रा बढ़ जाती है। यह वर्ग तो लगभग बिल्कुल समाप्त ही हो जाता है।

3. "We used to go the stores with money in our pockets and came back with food in our baskets. Now we go with money in baskets and return with food in our pockets." Remarks of a German Southerner. Quoted by Samuelson, P. A,' Economics P. 283.

4. "A man who had been saving for forty years and who furthermore had patriotically invested his all in war bonds become a beggar." Dr. S K. Muranjan, From Hyper-Inflation to Devaluation. page 7.

मूल्यों के गिरने का विपरीत परिणाम इन पर होता है। इनकी आय की क्रय-शक्ति बढ़ जाने के कारण ये अधिक वस्तुओं का उपभोग कर सकते हैं।

(व) वस्तुओं के मूल्यों के बढ़ने का प्रभाव मजदूरों पर विपरीत होता है क्योंकि मजदूरी की दरें न तो मूल्यों के साथ बढ़ती हैं न वे उस अनुपात में बढ़ती हैं जिस अनुपात में मूल्य-स्तर बढ़ता है। यह एक आर्थिक नियम है कि मजदूरी सदा मूल्यों से पीछे रहती है।

फिर भी मजदूरों को दो प्रकार से लाभ होता है। एक तो यदि मजदूर संगठित हैं तो वे मूल्यों के साथ-साथ मजदूरी बढ़वाने में सफल हो जाते हैं। यदि मजदूरी रहन-सहन की लागत से सम्बद्ध है तो उसमें वृद्धि अपने आप ही हो जाती है, परन्तु रहन-सहन की लागत से सम्बन्धित न होने पर मजदूरी बढ़ने में समय लगता है और यह जितना अधिक होगा मजदूरों को उतनी ही अधिक हानि उठानी होगी। दूसरा लाभ मजदूरों को इस प्रकार से होता है कि मूल्यों के बढ़ने से उत्पादन की मात्रा भी बढ़ती है और बेरोजगारी में कमी होकर रोजगार की मात्रा में वृद्धि होती है। श्रम परिवारों की मौद्रिक आय बढ़ती जाती है क्योंकि परिवार के सभी सदस्यों को काम मिल जाता है। इस प्रकार मूल्यों के बढ़ने से यद्यपि मजदूर-वर्ग को हानि होती है परन्तु फिर भी यह हानि इतनी नहीं होती जितनी व्यवसायिक] व वेतन प्राप्त निश्चित आय वाले वर्ग को।

गिरते हुये मूल्यों के समय मजदूर वर्ग को एक प्रकार से लाभ होता है तथा दूसरे प्रकार से हानि। लाभ तो आय की क्रय-शक्ति बढ़ जाने के कारण होता है। मूल्यों के गिरने से रहन-सहन की लागत भी बढ़ जाती है। परन्तु रोजगार की दृष्टि से मजदूर वर्ग को हानि होती है। गिरते मूल्य उत्पादन को कम करते हैं जिससे मजदूरों में बेरोजगारी फैलती है। श्रम परिवारों के बहुत से सदस्य बेकार हो जाने के कारण परिवार की आय कम हो जाती है। इस प्रकार गिरते हुये मूल्यों के समय क्रय-शक्ति बढ़ जाने के कारण भी मजदूर-वर्ग को लाभ नहीं होता क्योंकि उनमें बहुत से बेकार हो जाते हैं।

(३) व्यापारी व उत्पादक वर्ग (Businessmen and Producers)—मूल्यों के बढ़ने का वास्तविक लाभ उत्पादकों व व्यापारियों को होता है। इन दोनों प्रकार के वर्गों को लाभ कई प्रकार से होता है। एक तो उत्पादकों का व्यय लगभग स्थिर रहता है जबकि वस्तुओं के मूल्य बढ़ते चले जाते हैं। मजदूरी में एकदम वृद्धि नहीं होती, कच्चा माल भी कम मूल्यों पर खरीदा होता है तथा सूद की दर, कर्मचारियों का वेतन आदि भी स्थिर रहता है। लागत में स्थिरता के विपरीत मूल्य तेजी से बढ़ने लगते हैं और उत्पादकों की लाभ की सीमा (Margin of profit) बढ़ती चली जाती है। दूसरे, उत्पादन क्रिया तेजी से होने लगती है। जिसके कारण व्यापार व उत्पादन अधिक होकर लाभ अधिक मिलता है। किसानों को और भी अधिक लाभ होता है क्योंकि कृषि सम्बन्धी वस्तुओं का मूल्य अन्य प्रकार की वस्तुओं की अपेक्षा

अधिक तेजी के साथ बढ़ता है। व्यापारियों को लाभ भी होता है क्योंकि उन्होंने स्टॉक्स कम मूल्य पर खरीदे होते हैं परन्तु बेचते बढ़े हुये मूल्य पर हैं। अतः मूल्यों के बढ़ने पर चारों ओर व्यवसायिक आशावाद (Business optimism) फैल जाता है।

मूल्यों के गिरने का विपरीत प्रभाव व्यापारियों व उत्पादकों पर होता है। लागत दृढ़ होने व मूल्यों के गिरने के कारण लाभ की सीमा (Margin of profit) गिरती जाती है और व्यवसायिक निराशावाद (Business pessimism) फैल जाता है।

मूल्य परिवर्तन के सामाजिक प्रभाव (Social Effects of Price Changes)—मूल्य परिवर्तनों के केवल आर्थिक प्रभाव ही बुरे नही होते बल्कि सामाजिक प्रभाव भी हानिकारक होते हैं। मूल्य परिवर्तन से सामाजिक अशान्ति बढ़ जाती है। वस्तुओं के मूल्य बढ़ने पर मजदूर अधिक मजदूरी की माँग करते है। जिसको उत्पादक मानने से मना कर देते हैं। परिणामस्वरूप हड़ताल आदि होती हैं जिसमे दंगे-फिसाद व मार-पीट बढ़ती है। मजदूरो व पूँजीपति मे वर्ग-संघर्ष होता है जिससे सामाजिक अशान्ति फैलती है। वस्तुओं की कमी हो जाने के कारण चोर-बाजारी को प्रोत्साहन मिलता है। समाज में लोगों का नैतिक पतन होता है और यह केवल व्यापारियो तक ही सीमित नही रहता है बल्कि सरकारी अधिकारियो तक मे फैल जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय को बढाने के लिये उचित अनुचित व नैतिक अनैतिक साधनों का प्रयोग करता है। डा० मुरन्जन ने जर्मनी मे फैले सन् १९१४-१८ के मध्य अत्यधिक तेजी से बढते हुए मूल्यों के सामाजिक परिणामों का वर्णन The World Yesterday से उद्धृत कुछ पंक्तियों मे इस प्रकार किया है :

"All values were changed, and not only material ones, the laws of the State were flouted, no tradition, no moral code was respected, Berlin was transformed into the Babylon of the world. Bars, amusement parks, red light houses sprang up like mushrooms ..... In the collapse of all values a kind of madness gained hold particularly in the bourgeois circles which until then had been unshaken in their probity. Young girls bragged proudly of their perversion, to be sixteen and still under the suspicion of virgivity would have been considered a disgrace in any school of Berlin at that time, every girl wanted to be able to tell of her adventures, and the more exotic the better .. .."[6]

गिरते हुए मूल्यों के सामाजिक प्रभाव भी कम बुरे नही हैं। मूल्य गिरने में उत्पादकों को हानि होती है और वे मजदूरी कम करने का प्रयत्न करते हैं तथा

Ibid. page 9.

मजदूरों को काम पर से हटाते हैं। इससे श्रमिक वर्ग व पूँजीपति वर्ग में संघर्ष होता है जिसके कारण समाज में अशान्ति फैलती है। व्यवसायिक निराशावाद से व्यापारिक साहस लगभग समाप्त हो जाता है।

इस प्रकार वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तनों का उत्पादन और वितरण पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है और यह परिवर्तन अधिक सामाजिक महत्व रखते हैं। प्रो० सेलिगमैन (Prof Seligman) ने ठीक ही लिखा है कि "बढ़ते हुए तथा गिरते हुए मूल्यों के कारण देश की अर्थ-व्यवस्था में एक ऐसी अस्थिरता आ जाती है जिससे कृषि, व्यापार तथा उद्योग की स्थिति डांवाडोल हो जाती है और समाज के विभिन्न वर्गों को विषय अनुपात में लाभ तथा हानि होती है। अतः वस्तुओं में मूल्यों में अस्थिरता नहीं रहनी चाहिये।"

मूल्यों में होने वाले वाले परिवर्तन देश आर्थिक जीवन में अनिश्चितता और अस्थिरता उत्पन्न कर देते हैं, जिसके कारण उन्नति के मार्ग में भारी बाधाएं उपस्थित होती हैं। इनके कारण विदेशी व्यापार का आधार समुचित तथा स्थायी नहीं रह पाता और राज्य को देश की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिरता बनाये रखने के लिये भारी प्रयत्न करने पड़ते हैं।

Q. 90. State what you understand by the term 'inflation.' To what causes can it be ascribed and what consiquencies follow from it? Illustrate your answer from conditions in India during and after last war.

प्रश्न के उत्तर के लिये प्रश्न ८१, ८५ व ७६ के उत्तरों को देखो।

———

६
मौद्रिक प्रबन्ध
(Monetary Management)

Q. 91. 'Monetary stability is in itself a good, and worth pursuing, provided we do not make the mistake either of pursuing it as the only good or of confusing it with the rigidity of supply which may infact not induce stability but endemic depression.' (Cole) Discuss. (Agra 1956, 1952)

द्रव्य स्वयं अनुत्पादक है और इसमें वस्तुओं को उत्पन्न करने की क्षमता नहीं होती; परन्तु यदि इसके साथ कोई बात गलत हो जाती है तो यह अच्छी बातों को नहीं होने देता और देश की अर्थव्यवस्था को अत्यधिक हानि पहुँचाता है। इसी कारण प्रो० कोल (Cole) ने कहा है कि यदि हम उत्पादन व वितरण सम्बन्धी समस्याओं को ठीक प्रकार से सुलझाना चाहते हैं तो मौद्रिक व्यवस्था (Monetary arrangements) को ठीक करना होगा क्योंकि जब मौद्रिक व्यवस्था ही ठीक नहीं होगी तो कोई भी वस्तु ठीक प्रकार से कार्य नहीं कर सकेगी। मौद्रिक व्यवस्था को ठीक रखने के लिये यह आवश्यक है कि द्रव्य के मूल्य में अत्यधिक उच्चावचन न होने दिया जाय क्योंकि देश में जितनी भी बुराइयां फैलती हैं उनका मुख्य कारण द्रव्य के मूल्य में परिवर्तन होना होता है और द्रव्य के साथ यह कठिनाई है कि इसका मूल्य स्थिर नहीं रह पाता। रोबर्टसन (Robertson) ने भी कहा है, "The greatest evil of the money is that its value does not, even in ordinary times, remain perfectly stable, and in times of disturbance is liable to very great variation." और जब द्रव्य के मूल्य में परिवर्तन हो जाता है तो यह 'व्यवस्थारहित' (Out of order) हो जाता है तथा तब इसको व्यवस्थित करना कठिन हो जाता है। चैंडलर (Chandler) के अनुसार कोई भी ऐसी मौद्रिक व्यवस्था का विकास नहीं हुआ है जिसने पूर्णता को प्राप्त किया हो; प्रत्येक व्यवस्था की प्रवृत्ति व्यवस्थारहित हो जाने की है और तब यह अपना स्वतन्त्र प्रभाव डालने लगती है।[1]

---

1. "Unfortunately no monetary system as yet evolved has functioned; perfectly or even approached perfection, each has displaced an unfortunate proneness to "get out of order and to exert" a distinct and independent influence of its own." Chandler : An Introduction to Monetary Theory, page 6.

महायुद्धों के दौरान में मुद्रा के मूल्य में इतने अधिक परिवर्तन हुए कि अधिकांश अर्थशास्त्रियों का ध्यान इस ओर आकर्षित हो गया। उन्होंने इस समस्या का अध्ययन किया और बहुत से अर्थशास्त्री इस बात से सहमत हो गये कि मुद्रा के मूल्य में जो परिवर्तन हो रहे हैं, उनका मुख्य कारण मुद्रा की पूर्ति में कमी या अधिकता होना है। हेयक (Hayek) इस सिद्धान्त के मुख्य प्रवर्त्तक थे। उनके अनुसार द्रव्य अदल-बदल के कार्य को दो भागों से विभाजित कर देता है—क्रय तथा विक्रय। यह दोनों एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं परन्तु सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिये उनका योग बराबर होना चाहिए। द्रव्य की पूर्ति अधिक होने से वस्तुओं की माँग बढ़ जाती है परन्तु इस माँग के साथ-साथ वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं। इसी प्रकार द्रव्य की पूर्ति कम कर देने से वस्तुओं की माँग कम हो जाती है परन्तु पूर्ति एक दम कम न होने से वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं। इस प्रकार मौद्रिक अस्थिरता के कारण मूल्य-स्तर में उच्चावचन होते रहते हैं। प्रो० हाम (Halm) ने इन अर्थशास्त्रियों के विचारों को इन शब्दों में व्यक्त किया है, "Creation as well as destruction of money spoil the equivalence of total supply and demand; they are the disturbing monetary germ injected into the economic body by a monetary policy which is not neutral."[2]

इस प्रकार प्रो० हेयक (Hayek) व उनके साथियों का विचार है कि आधुनिक अर्थव्यवस्था में सबसे दुखदायी परिवर्तन मुद्रा की मात्रा के परिवर्तनों के कारण ही उत्पन्न होते हैं। इसलिये उन्होंने तटस्थ मुद्रा नीति को प्रतिपादित किया है जिसके अनुसार मुद्रा मात्रा के परिवर्तनों का प्रभाव मूल्यों पर नहीं पड़ना चाहिए। उनके अनुसार मुद्रा की मात्रा को स्थिर रखना चाहिए जिससे कि मुद्रा के मूल्य में अत्यधिक उच्चावचन न हो सके। परन्तु अधिकतर अर्थशास्त्री इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं। प्रो० कोल ने, जिनके कथन पर ही हम विचार कर रहे हैं, इस सिद्धान्त को आंशिक रूप से स्वीकार किया है।

प्रो० कोल ने मौद्रिक स्थिरता को कुछ सीमा तक ठीक माना है। हमें केवल मौद्रिक स्थिरता को ही उत्तम (Only good) नहीं मानना चाहिए क्योंकि इससे लाभ के स्थान पर हानि होने लगती है। द्रव्य की पूर्ति में परिवर्तन होने पर सब मूल्यों में एक से परिवर्तन नहीं होते। इस बढ़ी हुई पूर्ति की प्रतिक्रिया विभिन्न मूल्यों पर विभिन्न होगी जिससे कि मूल्यों का परस्पर सम्बन्ध नष्ट हो जायगा। इससे हो सकता है कि कुछ को लाभ पहुंचे परन्तु अल्पकाल में अधिकतर वर्गों पर इसका प्रभाव हानिकारक होगा तथा इसके परिणाम अन्यायपूर्ण व असुविधाजनक होंगे। इसीलिये उन्होंने कहा है, "It is plainly true that we should, as far as we can without causing greater evil, try to immunize our economic system from the effects of unnecessary changes in

2. George N. Halm : Monetary Theory, page 123.

the supply of money and to offset the consequences of changes in supply which are not responses to any real change in the need for means of payment."[3]

इस मौद्रिक स्थिरता की नीति को किसी सीमा तक ठीक समझने के कुछ कारण हैं। सबसे पहला कारण तो यह है कि विभिन्न देशों की जो मुद्रा-स्फीति व मुद्रा संकुचन की अवस्थायें उत्पन्न होती हैं, उनका मुख्य कारण मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन होना है। इन दोनों दशाओं में समाज के विभिन्न वर्गों पर विभिन्न प्रभाव पड़ते हैं तथा इस देश की अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है। इसलिए कीन्स (Keynes) का मत है कि "मुद्रा-स्फीति अन्यायपूर्ण है और मुद्रा-संकुचन अनुपयुक्त।"[4]

इस कारण यह माना जाता है कि यदि मौद्रिक स्थिरता से द्रव्य के मूल्य में स्थिरता ला दी जाए तो यह सब बुराइयाँ यदि रुक नहीं जायेंगी तो कम अवश्य हो जाएँगी। हाम (Halm) के अनुसार, "In an unbalanced world, suffering from alternate shocks of inflation and deflation, it might seem that the value of money should be kept completely stable and that money should be prevented from exercising disturbing and disruptive influences upon the economic system."

दूसरे यह भी कहा जाता है कि द्रव्य मूल्यमापन का कार्य करता है और प्रत्येक वस्तु को, जो मूल्यमाप का कार्य करती है, स्थिर रहना चाहिये। यदि नित्य मन बदलता रहेगा तो विनिमय कार्य में बहुत अधिक असुविधा होगी। इसके अतिरिक्त द्रव्य भविष्य के भुगतान का मान भी है और यदि द्रव्य के मूल्य में परिवर्तन होता रहेगा तो भुगतान समझौतों के भार में भी परिवर्तन होता रहेगा तथा ऋणदाता व ऋणी दोनों पर अलग-अलग प्रभाव पड़ेगा। चेंडलर ने लिखा है, "If money is to serve satisfactorily as a unit for measuring the values of economic goods and a standard of deferred payments, it must itsef have a constant or nearly constant value. It is easy to imagine the confusion and injustices that would result if the unit for measuring weight—such as the ounce—were to shrink by two-thirds in one pound and then to double in the next."[5]

3. C. D. H. Cole. Money—Its Prensent and Future.

4. "Inflation is unjust and deflation is inexpedeint." J. M. Keynes.

5. V. Chandler ; An Introduction to Monetary Theory. page 7.

तीसरे बहुत से अर्थशास्त्री यह मानते हैं कि व्यापार-चक्रों (Busin cycles) का मुख्य कारण द्रव्य की मात्रा में परिवर्तन तथा वस्तुओं के मूल्यों उच्चावचन है। यदि मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन न होने दिया जाय तो व्यापार-च का क्रम भी रुक जायगा तथा देश में व्यापारिक व आर्थिक स्थिरता स्थापित जायगी।

परन्तु कोल का विचार यहाँ पर यह है कि देश में सामान्य मूल्य स्तर स्थिर करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये बल्कि कुछ वस्तुओं के मूल्यों को स्थि करने का प्रयत्न करना चाहिये जिनका महत्व देश की अर्थ-व्यवस्था में बहुत अधि हो। इसके अतिरिक्त वह मूल्यों का स्थायीकरण दीर्घकाल के लिये नहीं चाहते बल्कि अल्पकाल के लिये चाहते हैं। उन्हीं के शब्दों में, "It would, indeed, under any form of the control be manifestly unwise to stabilize the price of anything for ever, or for an indefinitely long period. But there is much to be said for stabilizing over short periods the prices of the main farm products, and perhaps of others, or at least of setting limits to their short term fluctuations."

स्थायी मुद्रा नीति के पक्ष में आजकल अधिकतर अर्थशास्त्री नहीं हैं। स्वयं कोल ने इस सिद्धान्त का खंडन किया है क्योंकि इस नीति का पालन करने में बहुत सी बाधायें हैं तथा इस नीति का दीर्घकालीन प्रभाव भी देश के उत्पादन व आर्थिक विकास पर अच्छा नहीं पड़ता।

सबसे पहले तो उन अर्थशास्त्रियों में ही मतभेद है जो स्थायी मुद्रा पूर्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। उनमें से कुछ तो इस पक्ष में हैं कि मुद्रा की पूर्ति सदा के लिये स्थिर रहनी चाहिए जबकि कुछ का विचार यह है कि जनसंख्या में परिवर्तन होने पर या लोगों की द्रव्य काम में लाने की आदत (Money-using habit) में परिवर्तन हो जाने पर द्रव्य की पूर्ति में भी परिवर्तन हो जाना चाहिए। इस बात पर भी यदि अधिक ध्यान न दिया जाय तो इस बात का पता नहीं लग पाता कि स्थिर-द्रव्य-पूर्ति-नीति सिद्धान्त वालों का आशय द्रव्य-पूर्ति से क्या है? यदि द्रव्य का अर्थ केवल नोट व सिक्कों से ही है तो बैंक साख की पूर्ति में कमी या अधिकता करने के लिए स्वतन्त्र रहेंगे। साख को भी द्रव्य में सम्मिलित कर लेने पर यह कठिनाई सम्मुख आयेगी कि बैंकों को अधिकतम साख प्रदान करने के लिए किस प्रकार बाध्य किया जाय क्योंकि बैंकों के लिए एक ऐसी सीमा तो निर्धारित की जा सकती है जिससे अधिक वे साख न दे सकें परन्तु यदि बैंक उस सीमा से कम ही साख प्रदान करने लगें तो कोई इस प्रकार का उपाय नहीं है जिससे उनको ऐसा करने से रोका जाय। इस स्थिति में द्रव्य की पूर्ति एक स्थान पर स्थिर न रहकर उससे कम भी हो सकेगी।

इस कठिनाई को भी यदि कुछ समय के लिये छोड़ दिया जाय, तब भी यह नीति असुविधाजनक तथा अन्यायपूर्ण है। यह असुविधा व अन्याय उस असुविधा व

अन्याय से अधिक होगे जो द्रव्य की पूर्ति मे वृद्धि करने पर होते हैं। कोल ने एक स्थान पर लिखा है, "It may be necessary, for sufficient reasons, to put up with these inconvenience and injustices when we think the good outweighs them; and we may reach the conclusion that those economists who, in order to avoid them, propose to stabiltze the supply of money once and for all would, if they had their way, lead us into even greater injustices and inconveniences."

देश के आर्थिक विकास के लिये तथा आर्थिक स्थिरता के लिये द्रव्य की पूर्ति में स्थिरता की आवश्यकता नही है क्योकि समय के साथ-साथ वस्तु का उत्पादन भी बढता जाता है और इस बढे हुये उत्पादन के लिये अधिक द्रव्य की आवश्यकता होती है। यदि द्रव्य की पूर्ति को एक स्थान पर स्थिर कर दिया जायगा तो बढा हुआ उत्पादन कम मूल्य पर बिकेगा। यदि उत्पादन बढने के साथ-साथ उसकी उत्पादन लागत भी गिर जाती है तो कोई बुरा प्रभाव देश की अर्थ-व्यवस्था व उत्पादन पर नही पडेगा। परन्तु जब उत्पादन लागत मे कोई परिवर्तन नही होता तो उत्पादन बढने पर तथा द्रव्य की पूर्ति स्थिर रहने पर वस्तुओ का मूल्य गिर जाता है। इससे उत्पादको की लाभ-सीमा (Profit margin) कम हो जाती है और उत्पादन करने मे अधिक लाभ नही होता। इससे बहुत से उत्पादन केन्द्र बन्द हो जाते हैं तथा बेरोजगारी फैलती है। इस प्रकार द्रव्य की पूर्ति को स्थिर रखने से आर्थिक क्षेत्र मे स्थिरता स्थापित नही होती बल्कि मुद्रा-सकुचन की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। इसी बात को हाम (Halm) ने इन शब्दो मे कहा है, "We only have to imagine what would have happened if in the United States the total quantity of money (including bank money) had remained stable since, say, 1880. A terrific deflation would have been the consequence. The tremendous increase of the trade volume, T, would have led to a price fall of incredible dimensions. Surely such monetary confinement would have made impossible the economic development of the United States in any degree even faintly approaching its actual magnitude."

अतः यह स्पष्ट है कि मौद्रिक स्थिरता का आशय द्रव्य पूर्ति की स्थिरता से नही लगाया जा सकता बल्कि मौद्रिक स्थिरता के लिये द्रव्य की पूर्ति मे परिवर्तन की आवश्यकता होती है जिससे देश की अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकता के अनुसार द्रव्य की पूर्ति को रखा जा सके। वास्तव में मौद्रिक व्यवस्था स्वयं ही उद्देश्य नहीं है बल्कि उद्देश्य तो आर्थिक स्थिरता तथा पूर्ण रोजगार है जिससे अधिक से अधिक आर्थिक व सामाजिक कल्याण हो सके। पाल इनजिग (Paul Einzig) के अनुसार

द्वितीय महायुद्ध के बाद मौद्रिक नीति का यही उद्देश्य है। द्वितीय महायुद्ध के [illegible] में संयुक्त राष्ट्र के Fedreal Reserve System के बोर्ड ऑफ गवर्नर्स ने भी [illegible] सम्बन्ध में आर्थिक स्थिरता को अधिक महत्त्व दिया था। वास्तव में इस [illegible] भूमि पर भी यूरोप के उन अर्थशास्त्रियों ने जोर दिया था जो युद्ध के बाद [illegible] मुद्रा-स्फीति के घातक परिणामों से अधिक प्रभावित हुए थे।

(६) इस स्थिरता को प्राप्त करने में कठिनाइयाँ।
(७) दीर्घकालीन उद्देश्य।

अधिक परिवर्तन हुए हैं कि देश की ही नहीं बल्कि संसार की सारी अर्थ-व्यवस्था भी अस्त-व्यस्त हो गई थी। इसी कारण यह कहा जाता है कि देश को एक स्थिर मुद्रा-नीति को अपनाना चाहिये जिससे कि द्रव्य का मूल्य व वस्तुओं के मूल्य (मूल्य-स्तर) स्थिर रह सकें या उसमें अत्यधिक उच्चावचनों को रोक दिया जाय। परन्तु इस स्थान पर अर्थ-शास्त्रियों में कुछ मतभेद हो जाता है; कुछ कहते हैं कि द्रव्य का आन्तरिक मूल्य स्थिर रखना चाहिये तथा कुछ कहते हैं कि द्रव्य के बाह्य मूल्य की स्थिरता अधिक आवश्यक है। जब तक स्वर्णमान संसार में रहा बाह्य स्थिरता (External stability) पर अधिक महत्व दिया जाता रहा। स्वर्णमान के समाप्त होने पर तथा कागजी प्रबन्ध मान की स्थापना पर बाह्य स्थिरता का महत्व कम हो गया क्योंकि बाह्य-मूल्य को स्थिर रखने के लिये आन्तरिक मूल्य मे अधिक परिवर्तन करने पड़ते थे जिससे देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था मे स्थिरता नही रह पाती थी। इसलिये महायुद्ध के बाद मौद्रिक उद्देश्य बाह्य स्थिरता से हटकर आन्तरिक स्थिरता (Internal stability) पर आ गया। परन्तु कीन्स (Keynes) के आर्थिक सिद्धान्तो के कारण अब दोनों पर अधिक महत्व नहीं दिया जाता बल्कि आर्थिक स्थिरता पर *अधिक महत्व दिया जाता है। यहाँ पर हम यह ही देखेंगे कि बाह्य स्थिरता व* आन्तरिक स्थिरता मे कौन सा उद्देश्य मौद्रिक नीति के लिये ठीक है।

बाह्य-स्थिरता (External Stability)—पहले हम उन अर्थशास्त्रियों के विचारों को लेते हैं, जो द्रव्य के बाह्य-मूल्य को स्थिर रखना चाहते हैं अर्थात् वे यह मानते हैं कि मुद्रा अधिकारी का मुख्य कार्य व मौद्रिक नीति का मुख्य उद्देश्य विनिमय दरों को स्थिर रखना होना चाहिए जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सुविधाजनक रहे। स्वर्णमान युग मे तो यह विचार-धारा बहुत ही शक्तिशाली रही और स्वर्ण आयात-निर्यात की सहायता से विनिमय दर को स्थिर रक्खा जाता था या उतार-चढ़ाव केवल स्वर्ण बिन्दुओं तक ही सीमित था। परन्तु अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा में भी कृत्रिम साधनों द्वारा (विनिमय नियन्त्रण के) विनिमय दर के उतार-चढ़ाव को रोका जा सकता है। जो अर्थशास्त्री द्रव्य के बाह्य मूल्य की स्थिरता पर अधिक ध्यान देते हैं, उनके तर्क इस प्रकार से हैं :—

(१) यदि विनिमय दरों में स्थिरता नहीं होगी तो इसका प्रभाव आन्तरिक स्थिरता पर भी पड़ेगा क्योंकि विनिमय दर का प्रभाव आयात-निर्यातों पर पड़ेगा तथा आयात-निर्यातो में परिवर्तन (Fluctuation) होने से देश मे वस्तुओं की पूर्ति प्रभावित होगी जिससे उनके मूल्यों में परिवर्तन होगा। इसके अतिरिक्त विनिमय दर मे परिवर्तन से आयात-निर्यात उद्योगों मे उत्पत्ति के साधनो का विभाजन (Allocation) भी बदलना पड़ेगा। इसी को स्पष्ट करते हुये रेगनर नर्कस (Rag-

(Adjustment) अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य स्तर से करना पड़ता है। विनिमय दरों को स्थिर रखने के लिये आन्तरिक मूल्य स्तर मे परिवर्तन करना पड़ता है जिसका हानिकारक प्रभाव देश की अर्थ-व्यवस्था पर पड़ता है। इसके अतिरिक्त स्थिर विनिमय दरों के कारण दूसरे देशों मे होने वाली आर्थिक अव्यवस्थाओं का प्रभाव अपने देश पर भी पड़ेगा। साथ ही स्थायी बाह्य मूल्य उस उत्पादक की रक्षा नही करते जो निर्यात के लिये उत्पादन करता है। क्योंकि स्थायी विनिमय दरों के होने से निर्यात वस्तुओ के मूल्यों मे स्थिरता नही आ जाती और न ही मूल्य व लागत का सम्बन्ध स्थिर रहता है। निर्यात वस्तुओ का मूल्य बहुत कुछ आन्तरिक मूल्यो तथा अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य स्तर पर निर्भर करता है जबकि लागत या मूल्य का सम्बन्ध आन्तरिक मूल्य स्तर पर निर्भर करता है। अत यह उद्देश्य मध्यकों (Middlemen) की रक्षा करता है निर्यात उत्पादकों (Export Producers) की नही। इसलिये महायुद्ध के बाद स्थिर विनिमय दरों के स्थान पर आन्तरिक मूल्य स्तर पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा और कहा गया कि विनिमय दरों को स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिये और वे अपनी चिन्ता स्वय कर लेंगी।

आन्तरिक स्थिरता (Internal Stability)—बाह्य स्थिरता की आलोचना करने के बाद अर्थशास्त्री आन्तरिक स्थिरता को अधिक समझते हैं और इस बात को मानते हैं कि जितनी भी आर्थिक व सामाजिक बुराइयाँ हैं वे सब द्रव्य मूल्यों में परिवर्तन के कारण हैं। यदि वस्तुओ के मूल्यों में परिवर्तन न होने दिया जाय और उनको एक स्थान पर स्थिर रक्खा जाय अर्थात् द्रव्य के मूल्य मे स्थायित्व ला दिया जाय तो मुद्रा-स्फीति व मुद्रा-सकुचन की सब बुराइयाँ दूर हो जायें। इस नीति के सम्बन्ध में लिखते हुए हाम (Halm) ने कहा है, "Much can be said indeed for a stable value of money. That the unit of account should not fluctuate widely in its purchasing power, is in many respects, so true that we may be tempted to break off the discussion at this early point, arguing that the stabilization of the value of money is the only sensible monetary policy.

मूल्य स्थिरता का अर्थ दृढ़ स्थिरता से नही होता कि वस्तुओ के मूल्य में बिल्कुल भी उच्चावचन न हो। इस प्रकार की नीति का पालन करना कठिन ही नहीं असम्भव है। इसके अतिरिक्त दीर्घकाल मे वस्तुओं के मूल्यो में दृढ़ स्थिरता नहीं लाई जा सकती। कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य ही होता है। अतः मूल्य स्थिरता का सम्बन्ध अल्पकाल में मूल्यों के उच्चावचन को रोकने से है।

मूल्य स्थिरता के उद्देश्यों को दो प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है। एक ढंग तो यह है कि सामान्य मूल्य स्तर को स्थिर रक्खा जाय। यदि एक वस्तु के मूल्य में वृद्धि हो जाती है तो दूसरी वस्तु के मूल्य में कमी कर दी जाय। इसी से सम्बन्धित दूसरा ढंग यह हो सकता है कि सब वस्तुओं के मूल्यो को स्थिर न रक्खा जाय

वल्कि कुछ वस्तुओं का मूल्य (जो देश की अर्थ-व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं तथा अधिकतर व्यक्तियों द्वारा उपयोग में लाई जाती हैं।) स्थिर रक्खा जाय तथा अन्य वस्तुओं के मूल्यों के स्थायित्व पर ध्यान न दिया जाय। कोल (Cole) दूसरे ढंग के पक्ष में हैं क्योंकि उनके अनुसार यह ठीक नहीं है कि यदि एक वस्तु सस्ती हो जाय तो दूसरी को महँगी कर दिया जाय। इसलिए चुनी हुई वस्तुओं के मूल्य स्थिर रक्खे जायें और यह कार्य भी किसी व्यक्तिगत संस्था जैसे, कारटेल (Cartel) आदि के हाथ में न छोड़ा जाय। इसके अतिरिक्त यह स्थायित्व भी अल्प काल के लिये होना चाहिए। उन्होंने लिखा है, "There is a case for attempting to stabilize, within limits and over short periods, the prices of certain essential basic commodities, but such stabilization must not be left to groups of producers...."

मूल्य स्थिरता को मौद्रिक नीति का उद्देश्य मानने के वहुत से कारण हैं जिनको हम निम्न प्रकार से लिख सकते हैं :—

(१) इस नीति को समझना वहुत ही सरल है।

(२) विभिन्न देशों में जो विभिन्न प्रकार की आर्थिक अवस्थायें जैसे, मुद्रा-स्फीति व मुद्रा-संकुचन उत्पन्न होती हैं जिनको स्थायी मूल्य-स्तर से रोका जा सकता है।

(३) द्रव्य मूल्य मापन का कार्य करता है और प्रत्येक उस वस्तु को, जो मूल्य मापन का कार्य करती है, स्थिर रखना चाहिए।

(४) द्रव्य भविष्य के भुगतान का मान है और यदि द्रव्य के मूल्य में परिवर्तन होता रहेगा तो भुगतान समझौतों के भार में भी परिवर्तन होता रहेगा तथा ऋणदाता व ऋणी दोनों पर अलग-अलग प्रभाव पड़ेगा।

(५) सट्टेबाजी की क्रियाओं को जन्म मूल्यों का उच्चावचन ही देता है और यदि उन पर रोक लगा दी जायेगी तो सट्टेबाजी के कार्य व उनकी वुराइयां भी दूर हो जायेंगी।

(६) कुछ अर्थशास्त्रियों का विश्वास है कि व्यापार-चक्र का मुख्य कारण भी द्रव्य के मूल्य में परिवर्तन है। "Trade cycle is a purely monetary phenomenon" Hawtry. और जव वस्तुओं के मूल्यों में उच्चावचन नहीं होगा तो द्रव्य का मूल्य भी स्थिर रहेगा तथा व्यापार-चक्रों को दूर किया जा सकेगा।

(७) यह कहना ठीक नहीं है कि मूल्य-स्तर की स्थिरता से उत्पादकों को प्रोत्साहन नहीं मिलेगा। परन्तु जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि मूल्य स्थिरता का आशय दृढ़ स्थिरता से नहीं होता। अलग-अलग वस्तुओं के मूल्यों में थोड़ा वहुत उच्चावचन होता रहता है और उससे अलग-अलग उद्योगों को प्रोत्साहन मिलता रहता है।

इस उद्देश्य की कठिनाइयाँ (Difficulties of such a policy)—इस नीति के सरल होने व उपरोक्त लाभों के बावजूद भी इस प्रणाली मे बहुत सी कठिनाइयाँ है जिसके कारण इस नीति का पालन करना सदा सम्भव नहीं होता। इस नीति का पालन करने के सम्बन्ध मे जो कठिनाइयाँ सम्मुख आती हैं, वह निम्नलिखित हैं :—

(१) यदि मूल्य-स्तर मे स्थिरता लानी है तो कौन से मूल्यों में स्थिरता लाई जाये। देश मे विभिन्न प्रकार के मूल्य होते हैं जैसे, थोक मूल्य, फुटकर मूल्य, श्रम मूल्य आदि। यदि फुटकर मूल्य को स्थिर रखा जाता है तो सूचक अंक के बनाने की सब कठिनाइयाँ सामने आ जायेंगी। दूसरी ओर थोक मूल्य स्थिर रखने पर केवल चुनी हुई वस्तुओं का ही मूल्य स्थिर रहेगा और अन्य के मूल्य मे परिवर्तन होते रहेंगे। इनका प्रभाव उन वस्तुओं के मूल्यों पर भी पड़ेगा जिनका मूल्य स्थिर था।

(२) मूल्यों के परिवर्तन के कारण आर्थिक अस्तव्यस्तता नहीं होती बल्कि आर्थिक अस्तव्यस्तता के कारण मूल्यों मे परिवर्तन होता है। मूल्यो मे स्थिरता के रहते हुए भी आर्थिक सम्बन्धों मे काफी स्थिरता आ सकती है।

(३) एक कठिनाई यह भी आती है कि मूल्यों में स्थिरता किस प्रकार रखी जाय—मुद्रा की मात्रा को स्थिर रखकर या व्यय की जाने वाली मुद्रा की मात्रा को स्थिर करके। पहली प्रणाली तो ठीक नही है क्योंकि देश मे प्रत्येक समय द्रव्य की मात्रा को स्थिर नही रखा जा सकता। दूसरा झुकाव यद्यपि व्यवहारिक है परन्तु इसको कार्यान्वित करने मे बहुत सी कठिनाइयाँ हैं।

इस नीति के दोष (Defects)—इन कठिनाइयों के अतिरिक्त इस नीति के बहुत से दोष भी हैं जिसके कारण भी इस नीति को आजकल ठीक नही समझा जाता। वह दोष निम्नलिखित है—

(१) मूल्यों को स्थिर रखना सदा ही ठीक नही होता। यदि देश की उत्पादन प्रणाली की कार्य क्षमता बढ़ जाय तथा वस्तुयें सस्ती उत्पन्न होने लगें तो कोई कारण नहीं है कि वस्तुओं के मूल्यों को न गिरने दिया जाय। Gold Delegation of the League of Nations ने अपनी Final Report में लिखा था, "When the decline of prices is due to improvements in industry and agriculture which have lowered production cost, the decline of prices is, on the whole benefical, for it is in this way that the fruits of industrial and agricultural progress are made available to society as a whole."[1]

---

1. Gold Delegation of the League of Nations, Final Report Geneva, League of Nations, 1932.

(२) स्थिर मूल्यों की नीति से ही स्फीति व संकुचन (Inflation and deflation) को नहीं रोका जा सकता। जिस अर्थ-व्यवस्था में टेक्नीकल विकास के कारण लागत गिर रही है वहां यदि मूल्यों को स्थिर रखने का प्रयत्न किया जाता है तो इससे लाभ-स्फीति (Profit-inflation) हो जायगी तथा अधिक विनियोजन व उत्पादन के कारण अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जायगी। संयुक्त राज्य अमेरिका में यही स्थिति सन् १९२९ में हुई जब वहाँ मूल्यों को स्थिर रखने का प्रयत्न किया जा रहा था।

दीर्घकालीन उद्देश्य (Long Term Aim)— अल्पकालीन उद्देश्य मूल्य स्थिरता हो, इस पर विचार करने के साथ ही साथ यहाँ पर यह भी देखना होगा कि मौद्रिक नीति का दीर्घकालीन उद्देश्य क्या हो—गिरता हुआ मूल्य स्तर (Falling price level) या उठता हुआ मूल्य-स्तर (Increasing price level)।

इस सम्बन्ध में अलग-अलग अर्थशास्त्रियों के भिन्न-भिन्न विचार हैं। मार्शल गिरते हुए मूल्य-स्तर के पक्ष में थे क्योंकि उनके अनुसार उठते हुए मूल्य में भविष्य के संकट के कीटाणु होते हैं। उनके अनुसार, "Periods of rising prices contain within themselves seeds of future disaster, wild oats are sown during those periods, whose fruits the economic system had to gather painfully during the succeeding periods of depression." इसके अतिरिक्त जब कि उत्पादन लागत घटती जा रही है तो मूल्य भी घट जाना चाहिए अन्यथा लाभ-स्फीति उत्पन्न हो जाती है। इस नीति से उत्पादकों को हानि नहीं होती क्योंकि उनकी लाभ की सीमा (Margin of profit) में कोई कमी नहीं आती और साथ ही मजदूरों को लाभ होता है क्योंकि उनकी वास्तविक मजदूरी (Real wages) बढ़ जाती है।

परन्तु सन् १९१४ के बाद से अर्थशास्त्री इस नीति के पक्ष में न होकर बढ़ते हुए मूल्य-स्तर के पक्ष में हैं। उनके अनुसार बढ़ते हुए मूल्यों से उत्पादकों को प्रोत्साहन मिलता है। मूल्यों के बढ़ने पर लागत उसी अनुपात से नहीं बढ़ती और वे अधिक उत्पादन करते हैं। अतः यह देश की अर्थ-व्यवस्था के लिये टौनिक का कार्य करता है। इसके अतिरिक्त यह कहना भी ठीक नहीं कि निश्चित आय वाले व्यक्तियों को इससे हानि होती है क्योंकि कितने व्यक्ति इस हानि को देखने के लिए जीवित रहते हैं। क्राउथर (Crowther) ने इन अर्थशास्त्रियों के विचारों को इन शब्दों में लिखा है, "In its normal state, the economic system needs the slight tonic effect of slowly rising prices to keep it working and if rising prices are hard on the owners of fixed incomes, very few individuals live long enough to notice the difference."[2]

2. Crowther : An Outline of Money. page 183.

बढ़ते हुए मूल्यों के पक्ष में यह भी कहा जाता है कि इस प्रकार की दशा में देश में रोजगार बढ़ता है क्योंकि मूल्य बढ़ने से उत्पादकों को लाभ होता है जिससे वे उत्पादन बढ़ाते हैं और अधिक लोगों को रोजगार मिलता है। रोबर्टसन ने कहा है, "Is it not rising prices that empty the work-houses and the employment of exchange registers and fill the factories, and the shipyards? And is it not better that all should be busy, even though grumbling at the cost of living, than that some should be living cheaply and others left on the streets?" रोबर्टसन का विचार यह भी है कि १६ वीं शताब्दी में जितना भी औद्योगिक विकास हुआ है उसका मुख्य कारण बढ़ते हुए मूल्य हैं।

परन्तु अब दोनों उद्देश्यों को महत्व नहीं दिया जाता। सन् १६३६ में कीन्स के General Theory के प्रकाशन के बाद से मूल्य व विनिमय स्थिरता के स्थान पर आर्थिक स्थिरता पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है तथा पूर्ण रोजगार ही मौद्रिक नीति का उद्देश्य माना जाता है। जब तक पूर्ण रोजगार स्थापित न हो कीन्स सस्ती मुद्रा-नीति (Cheap money policy) पर अधिक जोर देते हैं। सस्ती मुद्रा नीति से द्रव्य की मांग बढ़ेगी जिसके कारण द्रव्य की पूर्ति को बढ़ाया जायगा। इससे मूल्य स्तर ऊपर उठेगा और उत्पादकों को प्रोत्साहन मिलेगा जिसके परिणामस्वरूप रोजगार बढ़ेगा। लोगों की आय में वृद्धि होगी तथा वस्तुओं की मांग बढ़ेगी। अतः कीन्स के अनुसार देश में जब तक बेरोजगारी हो ऊपर उठते हुये मूल्य स्तर को बनाये रखना चाहिये। वह मौद्रिक नीति अच्छी नहीं जो मूल्य स्तर को स्थिर रख कर या मुद्रा पूर्ति को स्थिर रख कर मन्दी की अवस्थाओं को बनाये रखे। अच्छी नीति वही है जो देश में मन्दी व आर्थिक संकट को न आने दे।

★

Q. 98. "The obvious object of the money policy of a country is to attain equilibrium between savings and investment at the point of full employment." Explain this view clearly.

(Agra 1964, 1957, 1956, 1954, Jabalpur 1965)

मौद्रिक नीति का उद्देश्य क्या होना चाहिए? इस प्रश्न पर प्रारम्भ से कुछ मतभेद रहा है और प्रत्येक युग में अलग-अलग उद्देश्य पर महत्व दिया गया है। जब तक स्वर्णमान प्रचलित रहा बाह्य स्थिरता (External Stability) को ही अधिक महत्व दिया गया। स्वर्णमान के समाप्त होने पर तथा अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा के प्रचलन से महत्व आन्तरिक स्थिरता (Internal Stability) अर्थात देश के घरेलू मूल्यों (Domestic price level) को दिया जाने लगा। परन्तु सन् १६२६ की विश्व व्यापी महामंदी (World wide Depression of 1929) तथा

लार्ड कीन्स के आर्थिक सिद्धान्तों के विचारों से प्रभावित होकर मौद्रिक नीति क उद्देश्य भी अब बदल गया है। आन्तरिक स्थिरता व बाह्य स्थिरता पर वादविवा न करके अर्थशास्त्री अब यह मानते हैं कि मौद्रिक नीति का उद्देश्य आर्थिक स्थिरत (Economic Stability) को बनाये रखना होना चाहिये तथा मौद्रिक अधिकारं (Monetary Authority) का कार्य इस स्थिरता को प्राप्त करना होन चाहिये।

इस उद्देश्य को प्राप्त करने के ढंग व साधनों का अध्ययन करने से पहले य जानना आवश्यक होगा कि 'आर्थिक स्थिरता' का आशय क्या है? यहाँ पर आर्थि स्थिरता का आशय देश में आर्थिक संकटों (Economic crises) को न आने देने है। आर्थिक संकट तेजी काल (Boom period) व मन्दी काल (Depression period के रूप में आते रहते हैं जिससे मुद्रा-स्फीति (Inflation) मुद्रा-संकुचन (Deflation की अवस्थायें उत्पन्न हो जाती हैं तथा देश में आर्थिक स्थिरता नहीं रहती। अतः यह पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्थिक स्थिरता को स्थिर रखने के लिये तेजी काल व मन्दी काल को रोकना चाहिये जिससे मुद्रा-स्फीति व मुद्रा-संकुचन की अवस्थाएँ न आ सकें। इसलिये यहाँ पर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि मौद्रिक उद्देश्य तेजी काल व मन्दी काल को रोकना होने चाहियें तथा मौद्रिक अधिकारी को इस प्रकार से कार्य करना चाहिये जिससे उपरोक्त दोनों दशायें उत्पन्न ही न हों। संक्षेप में, इसी को आर्थिक स्थिरता कहते हैं।

आर्थिक स्थिरता के अर्थ को समझने के बाद यह स्पष्ट हो गया कि मुद्रा अधिकारी को तेजी व मन्दी काल के दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। परन्तु यह देखने के लिये कि इनको किस प्रकार से दूर किया जाय, यह मालूम करना होगा कि तेजी व मन्दी काल क्यों उत्पन्न होते हैं? उनके उत्पन्न होने के कारण को समझकर ही हम उनको दूर करने का उपाय ठीक प्रकार से बता सकते हैं।

तेजी व मन्दी काल प्रत्येक देश में एक दूसरे के बाद आते रहते हैं और इनकी गति को व्यापार चक्र (Trade Cycle) भी कहते हैं। व्यापार चक्र के उद्भव, अर्थात् बार-बार तेजी काल व मन्दी काल के आने के कारणों के सम्बन्ध में अर्थ-शास्त्रियों में मतभेद है। कुछ उनको प्राकृतिक कारणों से उत्पन्न मानते हैं तो कुछ मनोवैज्ञानिक कारणों से। कुछ के अनुसार यह सामाजिक तथ्य (Social Phenomenon) है तो दूसरों के अनुसार यह मौद्रिक तथ्य (Monetary Phenomenon)। यहाँ पर हमारा सम्बन्ध व्यापार चक्रों के कारणों के चक्कर में न पड़ कर यह देखना है कि आधुनिक चिंतन में किस कारण को व्यापार चक्र के उद्भव में सम्मिलित किया जाता है। अब अधिकतर अर्थशास्त्री कीन्स के बचत विनियोग सिद्धान्त (Saving Investment Theory) में विश्वास करने लगे हैं जिनके अनुसार तेजी व मन्दी काल के आने का कारण बचत व विनियोग के संतुलन (Equilibrium of Saving and

Investment) का समाप्त हो जाना है। बचत के अधिक हो जाने पर मन्दी काल आ जाता है तथा विनियोजन के अधिक हो जाने पर तेजी काल। कीन्स के अतिरिक्त क्राउथर (Crowther), हैबरलर (Heberler), हेयक (Hayek) आदि ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया है।

बचत व विनियोग मे अन्तर होने से तेजी व मन्दी काल आ जाता है—इस बात की जरा विस्तार के साथ व्याख्या करनी होगी। इससे पहले यहाँ इन दोनो शब्दों की भी व्याख्या करनी होगी। क्राउथर के अनुसार, "बचत मनुष्य की आय का वह भाग है जो वह उपभोग पर व्यय नही करता तथा विनियोग का अर्थ नई पूँजी की वृद्धि के लिये मुद्रा का व्यय करना है।"[1] इन दोनो प्रवृत्तियों का ही प्रभाव आर्थिक स्थिरता पर पड़ता है। जब तक दोनों की मात्रा समान रहती है, स्थिरता बनी रहती है परन्तु संतुलन के टूटते ही अस्थिरता प्रारम्भ हो जाती है क्योंकि बचत का सम्बन्ध उपभोग की मात्रा से है तथा विनियोग का सम्बन्ध उत्पादन की मात्रा से है।

जब किसी देश में व्यक्ति अधिक बचत करना प्रारम्भ कर देते हैं तो वे अपना वर्तमान उपयोग पर व्यय कर देते है जिससे उपभोग वस्तुओ की मांग बाजार में कम हो जाती है। उपभोग वस्तुओ की माँग बाजार में कम होने से स्थायी वस्तुओं (Durable goods) की माँग कम हो जाती है। इसका प्रभाव उत्पादन व रोजगार पर पड़ेगा। उत्पादन कम होने लगेगा जिससे बेरोजगारी (Unemployment) फैलेगी और व्यक्ति के उपभोग व्यय में और कमी होगी, माँग और कम होगी, उत्पादन और कम होगा तथा बेरोजगारी और फैलेगी। इस प्रकार बचत के बढ़ने से तथा विनियोग के न बढ़ने से मन्दी काल प्रारम्भ हो जाता है और तब तक काबू मे नही आता जब तक बचत तथा विनियोग मे सन्तुलन स्थापित नहीं हो जाता। इसी प्रकार का प्रभाव तब होता है जब बचत की मात्रा में वृद्धि नहीं होती परन्तु विनियोग की मात्रा मे कमी हो जाती है। विनियोग में कमी होने पर स्थायी वस्तुओ के उद्योगो (Durable goods industries) में बेरोजगारी फैलती है जिससे लोगों का वर्तमान मे उपभोग वस्तुओं पर खर्च कम होता है, इससे माग कम होती है, उत्पादन कम होता है। बेरोजगार फैलता है। इस प्रकार मन्दी काल प्रारम्भ हो जाता है। क्राउथर (Crowther) के अनुसार, "Thus an excess of saving over investment, whether it is produced by an increase of saving or by a decline in investment, can produce the chief phenomenon

1. इसका अर्थ किसी भी प्रकार की आय बढ़ाने की रीति से नही है। यदि कोई व्यक्ति वर्तमान उद्योग के हिस्से (Shares) खरीदता है तो इसको विनियोग नही कहते। बल्कि जब वह किसी नये स्थापित कारखाने के हिस्से लेता है तो उसे विनियोग कहते हैं।

of a depression—namely a failure of demand for all classes of goods."

इसी प्रकार से विनियोजन अधिक होने पर तेजी काल प्रारम्भ हो जाता है। विनियोग अधिक हो जाने पर बेकार साधनों को उपयोग में लगाया जाएगा जिससे उनकी आय में वृद्धि हो जाएगी और वर्तमान वस्तुओं के उपभोग में भी वृद्धि हो जायेगी। इससे उत्पादक स्थायी वस्तुओं की मांग अधिक करेंगे जिससे स्थायी वस्तुयें उत्पन्न करने वाले उद्योगों में उत्पादन बढ़ेगा और रोजगार अधिक फैलेगा। इस प्रकार वस्तुओं का मूल्य बढ़ता रहेगा और तेजी काल प्रारम्भ हो जायेगा और यह तब ठीक होगा जब विनियोग और बचत में सन्तुलन स्थापित हो जायेगा। बचत के कम हो जाने पर भी इसी प्रकार का प्रभाव होगा।

विनियोग व बचत के पूर्ण प्रभाव की व्यवस्था करने के लिये क्राउथर ने सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था को द्रव्य के निरन्तर प्रवाह के समान माना है जिसमें प्रत्येक की आय दूसरे का व्यय है और दूसरे का व्यय प्रत्येक की आय। जब भी बचत की जाती है, तो इसका प्रभाव यह होता है कि प्रवाह से द्रव्य की मात्रा कम हो जाती है और विनियोजन से द्रव्य की मात्रा प्रवाह में डाल दी जाती है। बचत विनियोजन से अधिक हो जाने पर प्रवाह से अधिक निकाला जाता है तथा वापिस कम डाला जाता है। इससे प्रवाह कम हो जाता है तथा प्रत्येक की आय कम हो जाती है। जब तक बचत विनियोग से अधिक रहेगी प्रत्येक व्यक्ति की आय कम होती जायेगी और बेरोजगारी फैलती जायेगी। परन्तु यदि विनियोजन बचत से अधिक हो जाता है तो आय व व्यय का प्रवाह बढ़ जाएगा तथा प्रत्येक वस्तु का मूल्य बढ़ जायेगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि देश में बचत तथा विनियोग दोनों का संतुलन होना चाहिए। परन्तु यहाँ पर यह प्रश्न प्रस्तुत होता है कि यह सन्तुलन किस विन्दु पर होना चाहिए। यह सन्तुलन किसी भी विन्दु पर स्थापित किया जा सकता है परन्तु सबसे अच्छा सन्तुलन पूर्ण रोजगार के विन्दु पर माना जाता है और पूर्ण रोजगार के विन्दु पर बचत व विनियोग में सन्तुलन स्थापित करना ही मौद्रिक नीति का उद्देश्य होना चाहिये। क्राउथर के अनुसार, "The only equilibrium that is fully satisfactory is equilibrium at full employment. That should be the object of monetary policy."[2]

यहाँ पर यह निश्चित हो गया कि मौद्रिक नीति का उद्देश्य पूर्ण रोजगार पर बचत व विनियोग में सन्तुलन स्थापित करना होना चाहिये। परन्तु पूर्ण रोजगार का अर्थ क्या है ? पूर्ण रोजगार से अक्सर मतलब लिया जाता है कि देश में कोई भी व्यक्ति वेकार न हो। परन्तु पूर्ण रोजगार का यह अर्थ वैज्ञानिक नहीं है क्योंकि देश में सदा आकस्मिक बेरोजगार (Casual Unemployment) संघर्षक

2. Crowther : An Outline of Money. page 178.

बेरोजगार (Frictional Unemployment), मौसमी बेरोजगार (Seasonal Unemployment) आदि के कारण बहुत से साधन सदा बेकार रहते हैं। कीन्स के अनुसार पूर्ण रोजगार की अवस्था वह है जहाँ मनुष्य जब कभी बेकार होता है, तब उसे बिना विलम्ब के उचित मजदूरी की दर पर अपनी शक्ति के अनुसार नया कार्य मिल जाता है। बाउधर ने पूर्ण रोजगार की परिभाषा व व्याख्या दूसरे प्रकार से की है। उनके अनुसार पूर्ण रोजगार तब कहा जाता है जब श्रम व पूँजी के साधनों के उस भाग के अतिरिक्त जो निर्माण उद्योग की औसत आवश्यकता से अधिक है सब साधन काम में लगे रहते हैं। उन्हीं के शब्दों में, "We must define, 'full employment' as something short of the complete employment of all the personnel in the construction trade. ... ...Perhaps the nearest brief approach to a definition is to say that 'full employment' is reached when all the resources of labour and capital are at work except that part of the construction trades that is surplus to average requirements."[3] पूर्ण रोजगार की अवस्था में प्रत्येक उद्योग में उतने ही श्रमिक होने चाहियें जितनी उसकी औसत आवश्यकता है। यदि निर्माण उद्योग में औसत आवश्यकता से अधिक साधन आ जायेंगे तो पूर्ण रोजगार की अवस्था नहीं रहेगी और व्यापार-चक्र प्रारम्भ हो जायगा। जब निर्माण उद्योग अधिक समय तक औसत आवश्यकता तक ही रहते हैं तो अतिरिक्त साधन (Surplus resources) दूसरे उद्योगों में चले जाते हैं।

पूर्ण रोजगार के बिन्दु पर बचत व विनियोग में समानता किस प्रकार प्राप्त की जाय। बचत व विनियोग अलग-अलग बातों पर निर्भर करते हैं। बचत व्यक्तियों की मितव्ययता पर निर्भर करती है और आय का पुनर्वितरण करके मितव्ययता में परिवर्तन किया जा सकता है। धनी पर अधिक कर लगाकर तथा इस धन को निर्धनों को देकर मितव्ययता में कमी की जा सकती है। व्यक्तियों पर अधिक कर लगाकर यदि राज्य इस धन को अपने पास रखे तो मितव्ययता में वृद्धि की जा सकती है। परन्तु इस प्रकार की नीति को सरलता से उपयोग में नहीं लाया जा सकता है। केवल युद्ध में कुछ देशों के द्वारा ऐसा किया जाता है या साम्यवादी देशों में ऐसा होता है। अतः मितव्ययता में परिवर्तन की अधिक सम्भावना नहीं है और इसलिये इसको स्थिर माना जाता है।

दूसरा साधन विनियोग की मात्रा को नियन्त्रित करना रह जाता है। विनियोग को नियन्त्रित करने का एक साधन तो केन्द्रीय बैंक है। केन्द्रीय बैंक खुले बाजार की क्रियाओं व बैंक दर में परिवर्तन करके विनियोग की मात्रा को बढ़ा घटा सकता है। खुले बाजार में सरकारी प्रतिभूतियों को खरीद कर तथा बेचकर केन्द्रीय

3. Ibid. page 189.

वक विनियोजन की मात्रा को वढ़ा सकता है तथा घटा सकता है। इसी प्रकार से बैंक दर में परिवर्तन करके उधार देने की दर को प्रभावित करता है जिससे भी विनियोजन की मात्रा प्रभावित होती है। परन्तु इन दोनों साधनों से विनियोजन को नियन्त्रित करने की कुछ सीमायें हैं और सवसे प्रमुख सीमा यह है कि केन्द्रीय बैंक साख की मात्रा को कम करके विनियोजन के विस्तार पर तो रोक लगा सकता है परन्तु सस्ता साख प्रदान करके गिरते हुए विनियोजन को बढ़ाने के लिये बाध्य नहीं कर सकता।

केन्द्रीय बैंक की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि वह तेजी काल व मंदी काल के प्रारम्भ में ही अपने साधनों के द्वारा उनको समाप्त कर दे। परन्तु, स्थिति का अध्ययन करने में, उपचार पर निर्णय लेने में तथा उनको कार्यान्वित करने में इतना अधिक समय लग जाता है की स्थिति ही बदल जाती है और वह साधन बेकार हो जाता है।

इसलिये अब अर्थशास्त्री यह मानने लगे हैं कि आर्थिक स्थिरता को स्थापित करने के लिये केवल मौद्रिक साधनों से ही काम नहीं चलेगा। हाम (Halm) के अनुसार, "Economic stability cannot be achieved by monetary policy alone" केन्द्रीय बैंक की सीमाओं व कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुये ही Federal Reserve System के बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्ज ने कहा था, "आर्थिक स्थिरता का उद्देश्य केवल मौद्रिक नीति के द्वारा ही प्राप्त नहीं किया जा सकता, बल्कि इस ध्येय को मौद्रिक नीति तथा सरकार की अन्य मुख्य नीतियों के द्वारा जिनका प्रभाव व्यापारिक क्रिया पर अधिक पड़ता है, के समायोजन से प्राप्त करना चाहिये।"[4]

इस प्रकार की अमौद्रिक नीतियों (Non-monetary Policies) में बहुत सी सरकारी नीतियाँ आती हैं, जिन पर कीन्स ने अधिक महत्व दिया है। इनका महत्व मन्दीकाल को रोकने के लिये विशेष है, क्योंकि इस दशा में केन्द्रीय बैंक अपनी मौद्रिक नीतियों से सफलता प्राप्त नहीं कर पाता। घाटे के बजट बनाना, सरकार का स्वयं विनियोजन करना आदि इस प्रकार की नीतियां हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि मौद्रिक नीति का उद्देश्य पूर्ण रोजगार की अवस्था पर विनियोग व बचत में सन्तुलन स्थापित करना होना चाहिए, जिससे व्यापार चक्रों से बचा जा सके और देश में आर्थिक स्थिरता रह सके।

4. "The objective of the economic stability cannot be achieved by monetary policy alone, but that the goal should be sought through co-ordination of monetary and other major policies of the government which influence business activity." Board of Directors of the Federal Reserve System.

Q. 99. Carefully define 'monetary policy' and discuss its objectives with particular reference to the needs of underdeveloped contries. (Raj. 1963)

Q. 100. What constitutes monetary policy ? Suggest an appropriate monetary policy for an underdeveloped country. (Raj 1962)

Q. 101. 'The objects of monetary policy have varied from time to time. The Macmilllan Committee, the Radcliffe Committee and Keynesian views are important landmarks in the evolution of the scope of monetary policy.' Discuss the above with particular reference to the shift in emphasis on objectives of monetary policy. (Raj 1964)

रूपरेखा—
(१) मौद्रिक नीति की व्याख्या।
(२) मौद्रिक नीति का उद्देश्य;
(a) विनिमय स्थिरता,
(b) मूल्य स्थिरता,
(c) पूर्ण रोजगार,
(d) आर्थिक विकास।
(३) अविकसित देश मे मौद्रिक नीति।

आधुनिक अर्थव्यवस्था मे द्रव्य का उपयोग अधिक हो जाने के कारण मौद्रिक नीति अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गई है। मौद्रिक नीति का अर्थ, प्रो० केन्ट (Kent) के अनुसार, चलन मे मुद्रा की मात्रा के नियन्त्रण से है जिससे निश्चित उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सके। सामान्यत: मुद्रा-निर्गमन(Money issuing) तथा साख-नियन्त्रण (Credit Control) के सम्बन्ध मे जो नीति अपनाई जाती है उसको मौद्रिक नीति कहते है। विस्तृत रूप से मौद्रिक नीति का आशय मुद्रा-पूर्ति (Money Supply) के सम्बन्ध मे अपनाई गई उस नीति से है जो देश मे वस्तुओ तथा सेवाओ की माँग का उचित नियमन करे। अत: मौद्रिक नीति से तात्पर्य मुद्रा-पूर्ति के नियमन से है। मुद्रा-पूर्ति का नियमन चार प्रकार से किया जा सकता है (१) मुद्रा की मात्रा में कमी या वृद्धि करके, (२) मुद्रा की चलन गति (Velocity) मे परिवर्तन करके, (३) मुद्रा की उपलब्धता (Availability) मे परिवर्तन करके, और (४) मुद्रा प्रदान करने की लागत मे परिवर्तन करके। मौद्रिक अधिकारी मुद्रा की चलन गति को प्रभावित नहीं कर पाता। इसलिये मुद्रा-पूर्ति के नियमन का आशय अन्य तीन प्रकारों से ही है।

मौद्रिक नीति के उद्देश्य

(Aims of Monetary Policy)

मौद्रिक नीति के उद्देश्य के सम्बन्ध मे समय-समय पर महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए है। उन्नीसवीं तथा बीसवी शताब्दियो में स्वर्णमान के समाप्त होने तक बाह्य स्थिरता

अविकसित देश तथा मौद्रिक नीति

(Underdeveloped Countries and Monetary Policy)

किसी भी देश की मौद्रिक नीति साध्य नहीं है बल्कि साधन है जिसका प्रयोग किसी विशेष उद्देश्य या उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये किया जाता है। इसलिये प्रत्येक अर्थव्यवस्था के लिये समान मौद्रिक नीति का निर्धारण नहीं किया जा सकता। अलग-अलग अर्थव्यवस्थाओं के लिये विभिन्न मौद्रिक नीति अपनानी होती है। इस कारण अविकसित देश में मौद्रिक नीति विकसित देश की मौद्रिक नीति से भिन्न होती है।

विकसित देश में अर्थव्यवस्था अधिक संगठित होती है जिसमें आर्थिक विकास बहुत समय से होता आ रहा होता है। इस अर्थव्यवस्था में राष्ट्रीय आय व प्रति व्यक्ति आय ऊँची होती है। उत्पादन अधिक व स्थायी होता है तथा मूल्य-स्तर में अधिक उच्चावचन नहीं होते। यहाँ की विनिमय दर भी प्राय: स्थिर रहती है और बेरोजगारी की समस्या गम्भीर नहीं होती।

अविकसित अर्थव्यवस्था में मौद्रिक नीति का मुख्य उद्देश्य आर्थिक विकास होता है। इस देश में मौद्रिक अधिकारी को मुद्रा की मात्रा का नियमन इस प्रकार से करना चाहिये कि देश में उत्पादन की मात्रा में निरन्तर वृद्धि हो क्योंकि अविकसित देशों में एक मुख्य समस्या उत्पादन में कमी है। परन्तु इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये मौद्रिक नीति के अन्य उद्देश्यों को प्राप्त करना होता है। देश में उत्पादन की मात्रा में वृद्धि करने के लिये मूल्यों व विनिमय दर को स्थिर रखना होता है। इनमें अधिक उच्चावचन होने से उत्पादन प्रभावित होता है। अविकसित देशों में बेरोजगारी की दर भी बहुत ऊंची होती है जिसको दूर किये बिना आर्थिक विकास नहीं हो सकता। इसलिये पूर्ण रोजगार को भी प्राप्त करना होता है। अत: यहाँ पर कहा जा सकता है कि अविकसित देश में मौद्रिक नीति का उद्देश्य मूल्यों को स्थिर रखना, विनिमय दर के परिवर्तनों को रोकना, पूर्ण रोजगार के स्तर को प्राप्त करना और देश का आर्थिक विकास करना होता है।

यहां एक बात को स्पष्ट करना आवश्यक है। अविकसित देशों में मौद्रिक नीति को अधिक सफलता प्राप्त नहीं हो पाती। इसके कई कारण हैं। एक तो अविकसित देशों में मुद्रा तथा पूँजी बाजार पूर्णतया सगठित व विकसित नहीं होता। दूसरे, इन देशों में व्यक्तियों की औसत आय बहुत कम होती है। तीसरे, अविकसित देशों में लोगों में बैंकिंग आदत कम होती है। मौद्रिक लेन-देनों में बैंकों का योगदान कम होता है। अधिक महत्वपूर्ण भाग असंगठित क्षेत्रों का होता है। चौथे, साख का प्रयोग कम होता है और नगदी का प्रयोग अधिक होता है।

मौद्रिक नीति की सफलता के लिये इसके साथ राजकोषीय नीति (Fiscal Policy) का समन्वय होना चाहिये। इससे मौद्रिक नीति की कमियों को राजकोषीय नीति के द्वारा पूरा किया जा सकता है।

Selected Readings.

1. G. N. Halm : Monetary Theory ch. 10
2. A. N. Hansen : Monetary Theory and Fiscal Policy. chs. 11 & 12
3. F. A. Hayek : Price and Production.
4. G. Crowther : An Outline of Money, ch. IV
5. R. P. Kent : Money and Banking chs. 26&27
6. L. M. Chandler : The Economics of Money and Banking. ch. 33.

———

७
साख
(Credit)

Q. 103. What is credit? Discuss the economic importance of credit in modern times.

वर्तमान अर्थव्यवस्था में साख का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया है। इसीलिये बहुत से अर्थशास्त्री यह कहते हैं कि वर्तमान अर्थव्यवस्था को 'साख अर्थव्यवस्था' (Credit economy) कहा जाय। साख का महत्व केवल अर्थव्यवस्था के आन्तरिक उपयोग तक सीमित नहीं है बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी इसका महत्व बढ़ता जा रहा है। इसलिये साख के अर्थ और वर्तमान समय में साख के महत्व का अध्ययन करना बहुत आवश्यक हो जाता है।

रूपरेखा
(१) साख का अर्थ व परिभाषा।
(२) साख की विशेषतायें:—
(a) विश्वास;
(b) हस्तान्तरण;
(c) ऋण।
(३) साख प्रदान करने के आधार:—
(a) व्यक्तिगत चरित्र,
(b) चुकाने की क्षमता;
(c) ऋणी के पास पूँजी।
(४) साख के प्रकार:—
(a) व्यक्तिगत व संस्थागत;
(b) उपयोग, सरकार व व्यवसायिक;
(c) अल्पकालीन, मध्यकालीन व दीर्घकालीन;
(d) सुरक्षित व असुरक्षित;
(e) उपयोग व उत्पादक।
(५) साख का महत्व।

साख का अर्थ
Meaning of Credit.

साख को अंग्रेजी में Credit कहते हैं जो लेटिन के Credo शब्द से बना है। इस शब्द का अर्थ होता है "मैं विश्वास करता हूँ।" इसी विश्वास के आधार पर एक व्यक्ति या संस्था दूसरे व्यक्ति या संस्था को उधार देता है। प्रो० थामस के अनुसार "साख वह विश्वास है जो एक व्यक्ति दूसरे अन्य व्यक्ति में रखकर अपनी कुछ वस्तुयें उस दूसरे व्यक्ति को देता है, चाहे ये वस्तुयें मुद्रा, सेवा या साख ही क्यों

न हों।"[1] सामान्यतः साख का अर्थ 'वर्तमान' में उधार देना है जिसका भुगतान भविष्य में किया जाय। जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु या मुद्रा का प्रयोग वर्तमान अवस्था में कर उसका भुगतान भविष्य में करता है। तो यह उधार या साख कहलाता है। हेन्स (Haines) के अनुसार "भविष्य में भुगतान करने की प्रतिज्ञा के आधार पर वर्तमान में मुद्रा अथवा मूल्यवान वस्तुयें तथा सेवा प्राप्त करना ही साख है।"[2]

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर साख की विशेषताओं (Characteristics of credit) का विवेचन किया जा सकता है। साख की प्रथम विशेषता विश्वास (Trust) है। ऋण तभी दिया जाता है जब कि ऋण देने वाले को यह विश्वास हो कि ऋण लेने वाले वाला ठीक समय पर मूलधन व ब्याज का भुगतान कर देगा। वास्तव में साख का शाब्दिक अर्थ विश्वास ही है। दूसरे, साख में वस्तुओं व सेवाओं का हस्तान्तरण वर्तमान में होता है परन्तु उनका भुगतान भविष्य में होता है। वस्तुओं या सेवाओं का हस्तान्तरण तत्काल होता है और वस्तुओं को खरीदने वाला बेचने वाले से यह समझौता कर लेता है कि इस खरीद का भुगतान भविष्य में किया जायगा। अतः साख की महत्वपूर्ण विशेषता भविष्यता (Futurity) है। तीसरे, साख का आशय ऋण से होता है। साख के सौदे में हमेशा दो दल सम्मिलित होते हैं—एक साख देने वाला और दूसरा साख लेने वाला। पहला व्यक्ति ऋणदाता (Crediter) कहलाता है और दूसरा ऋणी (Debtor)। वास्तव में ऋण देना व ऋण लेना एक ही सौदे से सम्बन्धित है परन्तु इनको दो विभिन्न कोणों (Angles) से देखा जाता है।

साख प्रदान करने के कुछ आधार (Basis) होते हैं। प्रो० चेंडलर (Chandler) ने साख के तीन आधार बताये हैं।"[3] पहला, उधार लेने वाले का व्यक्तिगत चरित्र। ऋण लेने वाले का व्यक्तिगत चरित्र उसके दीर्घकालीन व्यापारिक यश (Reputation) पर निर्भर करता है। जो व्यक्ति ठीक समय पर ऋण का भुगतान कर देता है उसको बाद में सरलता से उधार मिल जाता है। यदि कोई

---

1. "The term credit is now applied to that belief in a man's probity and solvency which will permit of his being entrusted with something of value belonging to another, whether that 'something' consists of money goods, services or even credit itself as when one man entrusts to another the use of his good name and reputation." —S. E. Thomas, Elements of Economics

2. "Credit is present acquisition of anything of value (money, commodities or services) in exchange for a promise to return as equivalent at some future time." —W. W. Haines Money, Price and Policies, p. 231

3. L. V. Chandler, Economics of Money and Banking, p. 32

व्यक्ति अपने समझौतो का पालन नही करता तो व्यापार जगत मे उसकी बदनामी हो जाती है और बाद मे उसको ऋण नहीं मिलता।

साख का दूसरा आधार है ऋण चुकाने की शक्ति (Ability to return credit) किसी भी व्यक्ति की ऋण चुकाने की शक्ति उसकी आय व जो जमानत वह ऋण के बदले मे देना चाहता है उस पर निर्भर करती है। तीसरा आधार ऋण लेने वाले के अधिकार मे पूंजी की मात्रा है। पूँजी की मात्रा व्यक्ति की सम्पत्ति पर निर्भर होती है। जब तक किसी व्यक्ति के पास स्वय की सम्पत्ति न हो उसको उधार नही मिल सकता।

साख के प्रकार
(Types of Credit)

साख के प्रयोग बढ जाने के कारण साख का वर्गीकरण अत्यन्त कठिन हो गया है। इसी कारण वर्गीकरण में समानता नही मिलती और विभिन्न अर्थशास्त्री विभिन्न प्रकार से साख का वर्गीकरण करते हैं। सामान्यत: साख का वर्गीकरण स्रोत, प्रयोग, अवधि, धरोहर व उपयोग के आधार पर किया जाता है।

स्रोत के अनुसार
According to the Source.

स्रोत के अनुसार साख का तात्पर्य है कि यह किस के द्वारा प्रदान की जा रही है। यह दो प्रकार की होती है—व्यक्तिगत व सस्थागत। व्यक्तिगत (Individual) साख विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा प्रदान की जाती है। सामान्यत. यह साख छोटी-छोटी मात्राओं मे अल्पकाल के लिये दी जाती है। इस प्रकार की साख प्रदान करने वालों का यह प्रमुख व्यवसाय नही होता। सस्थागत साख (Institutional) विभिन्न साख सस्थाओ जैसे बैंक, वित्त निगम (Financial Corporations) बीमा कम्पनियों आदि के द्वारा प्रदान की जाती है। आजकल इस प्रकार की साख का प्रयोग व महत्व बढता जा रहा है।

प्रयोग के अनुसार साख तीन प्रकार की होती है—उपभोक्ता साख, सरकार द्वारा लिया गया साख और व्यावसायिक साख। उपभोक्ता साख विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा ली जाती है। यह साख प्रायः अपनी उपभोग की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये ली जाती है। सरकार भी ऋण लेती है। सरकार अपने विकासशील व कभी-कभी अविकासशील कार्यों जैसे युद्ध आदि के लिये ऋण लेती है। इस ऋण पर ब्याज की दर बहुत कम होती है। व्यावसायिक साख व्यवसायों द्वारा अपनी अल्पकालीन व दीर्घकालीन आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए ली जाती है। अल्पकाल मे कच्चा माल खरीदने या मजदूरी देने के लिये ऋण की आवश्यकता पड़ती है। दीर्घकाल मे मशीनें खरीदने या भवन निर्माण के लिए ऋण लिया जाता है। उपभोक्ताओ की तुलना मे व्यवसायों को कम सूद पर उधार मिल जाता है।

अवधि के आधार पर ऋण तीन प्रकार का होता है—अल्पकालीन व दीर्घकालीन। अल्पकालीन ऋण प्राय एक वर्ष तक की अवधि के लिये होता है। यह ऋण रोजगारी की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये लिया जाता है। मध्यकालीन ऋण पांच वर्ष तक के लिए होता है। यह कृषि तथा उद्योगों के लिए स्थायी सम्पत्ति खरीदने के लिये किया जाता है। दीर्घकालीन ऋण पांच वर्ष से अधिक की अवधि के लिये होता है। यह उद्योग या कृषि में स्थायी विकास करने के लिये लिया जाता है। इस प्रकार का ऋण प्रायः सरकार द्वारा ही दिया जाता है।

जमानत के आधार पर साख दो प्रकार की होती है—सुरक्षित व असुरक्षित। सुरक्षित (Secured) साख किसी मूल्यवान जमानत के आधार पर दी जाती है। ये ऋण दो प्रकार की होती हैं—पूर्णतया सुरक्षित (Fully secured) तथा आंशिक सुरक्षित (Partially secured)। पूर्णतः सुरक्षित ऋण के पीछे जमानत ऋण के मूल्य के बराबर या इससे अधिक की होती है। इस प्रकार के ऋण प्रदान करने में जोखिम कम से कम होती है। आंशिक सुरक्षित ऋणों के पीछे जमानत ऋण के मूल्य से कम होती है। असुरक्षित ऋण बिना किसी जमानत के दिए जाते हैं। व्यक्ति की अपनी साख के आधार पर ये ऋण दिए जाते हैं और इन ऋणों के प्रदान करने में काफी जोखिम रहती है।

उपयोगानुसार ऋण दो प्रकार के होते हैं—उपभोग ऋण व उत्पादक ऋण। उपयोग ऋण (Consumption debts) व्यक्तियों द्वारा अपने व्यक्तिगत उपभोग के लिये जाते हैं। उत्पादक ऋण (Production debts) विभिन्न उत्पादनों के लिए होते हैं। कृषि, उद्योग, व्यापार, व्यवसाय आदि विभिन्न क्षेत्र के उत्पादकों के द्वारा ये ऋण लिये जाते हैं।

साख का महत्व
Importance of Credit.

साख पर द्रव्य का लेना-देना बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। शायद ही कोई ऐसा युग रहा हो जब द्रव्य को ऋण के रूप में न दिया गया हो। यद्यपि बहुत से धर्मों में व्यवहार में ऋण देना और उस पर सूद लेना मना किया गया है परन्तु व्यवहार में उन धर्मों में भी सूद पर द्रव्य उधार दिया जाता है। परन्तु साख का जो महत्व आज के युग में है वह कभी नहीं रहा। आज की अर्थव्यवस्था की साख-प्रणाली के बिना कल्पना करना असम्भव है। अधिकांश आर्थिक लेन-देन द्रव्य के द्वारा न होकर साख के द्वारा होता है। आर्थिक विकास के साथ-साथ चैक, ड्राफ्ट, बिल आफ एक्सचेंज आदि का प्रयोग बढ़ गया है। साख को यदि व्यापार की जीवन-रक्त (Life-blood) कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। डैनियल वैब्सटर (Daniel Webster) ने आज के युग में साख के महत्व का वर्णन इन शब्दों में किया है "साख ने राष्ट्रों की धनवान बनाने में संसार की समस्त खानों

की तुलना में हजार गुना काम किया है। इसने श्रमिक को प्रेरित किया है, उत्पादक को प्रेरणा दी है, समुद्र पार व्यापार में वृद्धि की है और संसार के प्रत्येक राष्ट्र, प्रत्येक राज्य और छोटी-छोटी जातियों को एक दूसरे के निकट ला दिया है।"[4]

इस प्रकार स्पष्ट है कि वर्तमान समय में साख का महत्व बढ़ता जा रहा है। साख के महत्व का वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता है :—

(१) साख मुद्रा का प्रतिस्थापन बनता जा रहा है। जो कार्य पहले द्रव्य करता था वह कार्य अब साख पत्रों के द्वारा किया जाने लगा है। इसीलिए कुछ अर्थशास्त्रियों ने साख पत्रों के निकट-द्रव्य (Near money) या द्रव्य-प्रतिस्थापन (Money substitutes) का नाम दिया है। साख के मुद्रा के प्रतिस्थापन बन जाने से विनिमय का जटिल कार्य बहुत सरल तथा मितव्ययी बन गया है।

(२) साख के प्रयोग से बहुमूल्य धातुओं के सिक्कों व नोटों की अधिक मात्रा में आवश्यकता नहीं रही है। इससे मुद्रा के बनाने में जो व्यय होता था तथा उसके चलन में होने से जो घिसावट होती थी, वह नहीं होने पाती। साख के प्रयोग से ये दोनों अपव्यय दूर हो गये हैं।

(३) साख ने आधुनिक आर्थिक व्यवस्था को लोचपूर्ण बना दिया है। द्रव्य की मात्रा में सरलता से परिवर्तन नहीं किया जा सकता। परन्तु केन्द्रीय बैंक अपनी प्रभावपूर्ण साख नीति से साख की मात्रा को नियन्त्रित कर सकता है। इससे आवश्यकता के समय साख की मात्रा बढ़ जाती है और अर्थव्यवस्था के शिथिल होने पर कम हो जाती है।

(४) साख के प्रचलन ने बड़े पैमाने के उद्योगों को प्रोत्साहन दिया है। साख की व्यवस्था ने बड़े-बड़े ऋणों का प्रदान करना सम्भव बना दिया है। आजकल बड़े उद्योगों का पैमाना इतना विशाल होता है कि उनको बहुत बड़ी मात्रा में द्रव्य की आवश्यकता होती है। साख प्रणाली ही उनको यह द्रव्य प्रदान कर सकती है।

(५) उपभोक्ता साख (Consumer credit) का प्रचलन हो जाने से उपभोक्ता को बहुत सुविधा हो गई है और वे अपने रहन-सहन को आसानी से ऊँचा कर सकते हैं। मोटर, फ्रिज, मकान आदि इस प्रकार की वस्तुयें हैं जो उपभोक्ता एकदम अपनी आय से नहीं खरीद सकते। उपभोक्ता साख मिलने से प्रत्येक व्यक्ति आसानी से इन वस्तुओं को खरीद सकता है। आसान किश्तों में वह इस ऋण को चुका देता है।

---

4. "Credit has done more—a thousand times more—to enrich nations than all the mines of the world. It has excited labour, stimulated manufacturers, pushed commerce on every sea, and brought every nation, every kingdom and every small tribe among the races of men to be known to all the rest." Daniel Webster

शब्द जर्मन के Banch शब्द से बना है।

आधुनिक समय में बैंक का तात्पर्य उस संस्था से लिया जाता है जो साख का व्यापार करती हैं। यह संस्था व्यक्तियों का फालतू द्रव्य जमा करती है और दूसरे व्यक्तियों को जिनको द्रव्य की आवश्यकता होती है ये रुपया उधार देती है। हार्ट (Hart) के अनुसार "एक बैंकर वह व्यक्ति है जो अपने साधारण व्यापार के दौरान मे लोगो का रुपया जमा करता है जिसको वह उन लोगो के चैकों का भुगतान करके चुकाता है।"[1] इगलैंड के १८८२ के विनिमय बिल ऐक्ट के अनुसार, बैंक में वह प्रत्येक व्यक्ति, फर्म या कम्पनी सम्मिलित है जो एक निश्चित स्थान पर व्यापार करती है तथा जहाँ पर जमा या *द्रव्य या चलन संग्रहण के द्वारा साख प्रारम्भ की जाती है* जिनका भुगतान ड्राफ्ट, चैक आदि के द्वारा किया जाता है और स्टाक आदि की जमानत पर द्रव्य उधार दिया जाता है।"[2]

(d) लॉकर प्रदान करना;
(e) ऐजन्सी सेवायें।

(३) बैंकों का महत्व :

(a) बचत को प्रोत्साहन;
(b) आर्थिक विकास को प्रोत्साहन;
(c) मुद्रा की पूर्ति को प्रभावित करते हैं;
(d) व्यापार चक्रों को रोकने मे सहायक;
(e) बैंक दर को प्रभावित करते हैं,
(f) बाजार का विस्तार।

इस प्रकार बैंको का मुख्य कार्य व्यक्तियों का रुपया जमा करना और व्यापार के विकास के लिये रुपया उधार देना है।

बैंकों के कार्य

Functions of Bank.

व्यापारिक बैंकों के कार्यों का अनुमान बैंको की परिभाषा मे हो सकता है। व्यापारिक बैंक का मुख्य कार्य जमाओं (Deposits) को प्राप्त करना है। जिन व्यक्तियों के पास फालतू द्रव्य होता है और वे इनको सुरक्षित स्थान पर रखना

---

1. "A banker is one who, in the ordinary course of his *business receives money which he repays by honouring cheques of* of persons from whom or on whose account he receives it." —A. G. Hart

2. "In a bank, we include every person, firm or company having a place of business where credits are opened by deposits or collection of money or currency, subject to be paid or remitted on drafts, cheques, or orders or money as advanced or loaned on stocks etc."—Exchange Bill Act of 1882, England

(६) साख ने व्यक्तियों में बचत की आदत (Saving habit) को प्रोत्साहित किया है। बैंक व अन्य साख संस्थाओं के होने से लोग अपनी छोटी-छोटी बचतों को उनमें जमा करा देते हैं। उन पर सूद मिलने से लोग अपनी जमाओं को बढ़ाने की ओर आकर्षित होते हैं। इससे लोगों में बचत करने की आदत बढ़ती है और देश में पूंजी का निर्माण अधिक होता है।

(७) साख ने पूंजी का उत्पादक उपयोग सम्भव बनाया है। साख के होने से पूंजी उन व्यक्तियों के पास से जो उसका उपयोग करने में समर्थ नहीं है उन व्यक्तियों के पास चली जाती है जो उसका उपयोग सफलता के साथ कर सकते हैं। साख के न होने से यह पूँजी व्यर्थ चली जाती।

(८) साख के प्रयोग से अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान बहुत सरल हो गए हैं। एक देश के लोग दूसरे देश की मुद्रा को स्वीकार नहीं करते परन्तु साख पत्रों को स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं होती। बैंकों के द्वारा इन साख पत्रों के द्रव्य का इकट्ठा करना व भुगतान बहुत सरल होता है।

इस प्रकार से स्पष्ट है कि आधुनिक युग में साख अत्यन्त महत्व रखता है। व्यवहारिक जीवन में साख का प्रयोग द्रव्य की तुलना में बढ़ता जा रहा है। साख देश की अर्थव्यस्था का जीवन रक्त बनता जा रहा है। डीफो (Defoe) ने साख के महत्व का वर्णन ठीक शब्दों में किया है: "Credit is a consequence, not a cause, it is oil of the wheel, the marrow of the bones, the blood in the veins, and the spirits in the brest of all trade and commerce of the world."

☆

Q. 104. What are the main functions of a commercial bank? Discuss the importance of bank in the modern economy.

बैंकों का प्रचलन बहुत पुराने समय से है यद्यपि उस समय बैंकों का रूप व उनकी कार्य प्रणाली भिन्न थी। प्रारम्भ में बैंक का आशय उस व्यक्ति या संस्था से होता था जो एक मुद्रा को दूसरी मुद्रा में बदलती थी। इस प्रकार के बैंकों का प्रचलन इटली में था जहाँ उनको Banchi या Bancherii कहते थे। क्योंकि ये अपना कार्य एक विशेष प्रकार की बेंच पर बैठ कर किया करते थे जिनको Banchi कहते थे। कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि बैंक

रूपरेखा

(१) बैंकों का विकास, अर्थ व परिभाषा।

(२) बैंक के कार्य :

(a) द्रव्य जमा करना;

(b) द्रव्य उधार करना;

(c) द्रव्य का स्थानान्तरण;

शब्द जर्मन के Banch शब्द से बना है।

आधुनिक समय में बैंक का तात्पर्य उस संस्था से लिया जाता है जो साख का व्यापार करती हैं। यह संस्था व्यक्तियों का फालतू द्रव्य जमा करती है और दूसरे व्यक्तियों को जिनको द्रव्य की आवश्यकता होती है वे रुपया उधार देती है। हार्ट (Hart) के अनुसार "एक बैंकर वह व्यक्ति है जो अपने साधारण व्यापार के दौरान में लोगों का रुपया जमा करता है जिसको वह उन लोगों के चैकों का भुगतान करके चुकाता है।"[1] इंगलैंड के १८८२ के विनिमय बिल ऐक्ट के अनुसार, बैंक में वह प्रत्येक व्यक्ति, फर्म या कम्पनी सम्मिलित है जो एक निश्चित स्थान पर व्यापार करती है तथा जहाँ पर जमा या द्रव्य या चलन संग्रहण के द्वारा साख प्रारम्भ की जाती है जिसका भुगतान ड्राफ्ट, चैक आदि के द्वारा किया जाता है और स्टाक आदि की जमानत पर द्रव्य उधार दिया जाता है।"[2]

(d) लॉकर प्रदान करना;
(e) ऐजन्सी सेवायें।

(३) बैंकों का महत्व ·

(a) बचत को प्रोत्साहन;
(b) आर्थिक विकास को प्रोत्साहन;
(c) मुद्रा की पूर्ति को प्रभावित करते हैं;
(d) व्यापार चक्रों को रोकने में सहायक,
(e) बैंक दर को प्रभावित करते हैं;
(f) बाजार का विस्तार।

इस प्रकार बैंकों का मुख्य कार्य व्यक्तियों का रुपया जमा करना और व्यापार के विकास के लिये रुपया उधार देना है।

बैंकों के कार्य

Functions of Bank.

व्यापारिक बैंकों के कार्यों का अनुमान बैंकों की परिभाषा से हो सकता है। व्यापारिक बैंक का मुख्य कार्य जमाओं (Deposits) को प्राप्त करना है। जिन व्यक्तियों के पास फालतू द्रव्य होता है और वे इसको सुरक्षित स्थान पर रखना

1. "A banker is one who, in the ordinary course of his business receives money which he repays by honouring cheques of of persons from whom or on whose account he receives it." —A. G. Hart

2. "In a bank, we include every person, firm or company having a place of business where credits are opened by deposits or collection of money or currency, subject to be paid or remitted on drafts, cheques, or orders or money as advanced or loaned on stocks etc."—Exchange Bill Act of 1882, England

चाहते हैं वे इसे बैंक में जमा करा देते हैं। बैंक इन जमाओं को सुरक्षित रखता है और जमाकर्ता के मांगने पर इसे वापिस देने का वायदा करता है। बैंक इन जमाओं पर उपयुक्त सूद भी देता है। समाज के विभिन्न वर्ग के व्यक्तियों को जमा कराने की सुविधा प्रदान करने के लिये बैंक कई प्रकार के खाते खोलने की सुविधा देता है जैसे बचत खाता (Savings Deposit), चालू खाता (Current Deposit) व स्थिर खाता (Fixed Deposit)।

बैंक का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य **द्रव्य उधार देना** है। बैंकों के पास ग्राहकों का रुपया बहुत बड़ी मात्रा में जमा रहता है। इस रुपये पर वे सूद देते हैं। इस सूद व अपने अन्य खर्चों को पूरा करने के लिये वे व्याज पर रुपया उधार देते हैं। बैंक का यह कार्य मध्यक (Middleman) का है। वह उन व्यक्तियों से रुपया उधार लेता है जिनके पास यह फालतू है और उन व्यक्तियों को उधार देता है जिनको रुपये की आवश्यकता है। इस प्रकार बैंक उत्पादन का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य करते हैं।

रुपया उधार लेना व ऋण देना बैंक के दो अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य हैं। बैंकिंग विकास के साथ-साथ बैंक इन कार्यों के अतिरिक्त अन्य कार्य भी करने लगे हैं। आकस्मिक कार्यों में बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य **रुपये का एक स्थान से दूसरे स्थात को स्थानान्तरण** (Transfer of funds) है। व्यापारिक संस्थाओं और अन्य व्यक्तियों को एक स्थान से दूसरे स्थान को रुपया भेजना होता है। बैंक यह कार्य बहुत कम कमीशन लेकर कर देते हैं। ग्राहकों का रुपया बहुत कम समय व खर्च में दूसरे स्थान पर पहुँच जाता है।

बैंक अपने ग्राहकों को **लॉकर** (Lockers or safety vaults) **प्रदान करते हैं** जिसमें वे अपना बहुमूल्य सामान व जरूरी कागजात रख सकते हैं। ये वस्तुयें घर में इतनी सुरक्षित नहीं रहती जितनी बैंक के लॉकर्स में रहती है।

बैंक अपने ग्राहकों को **एजेन्सी सेवायें** भी प्रदान करता है। यह ग्राहकों के विन्हा पर बहुमूल्य धातुओं, शेयरों, सरकारी प्रतिभूतियों आदि का क्रय-विक्रय करता है। ग्राहकों के आयकर के वार्षिक विवरण भी भेजने का प्रवन्ध करता है। ग्राहकों के कहने पर उनके बीमे के प्रीमियम का भुगतान करता है। इस प्रकार बैंक अपने ग्राहकों की सुविधा के लिये प्रत्येक कार्य करने के लिये तैयार रहता है।

अर्थव्यवस्था में बैंकों का महत्व

Importance of Banks in the Economy.

आधुनिक अर्थव्यवस्था में बैंकों का महत्वपूर्ण स्थान है। बैंकों के बिना अर्थ-व्यवस्था की कल्पना करना असम्भव है। यह कहना गलत नहीं होगा कि औद्योगिक क्रान्ति और बैंकिंग विकास साथ-साथ हुआ। औद्योगिक क्रान्ति शायद इतनी तेजी से न हो पाती यदि बैंकिंग विकास न होता। बैंकों के विकास ने औद्योगिक क्रान्ति

को तीव्रता प्रदान की क्योंकि उद्योगों के विकास के लिये बड़ी मात्रा में पूँजी की आवश्यकता होती है जो केवल बैंको के द्वारा ही प्रदान की जा सकती है। व्यक्तियों द्वारा इतनी बड़ी मात्रा में पूँजी का प्रदान करना सम्भव नहीं है।

बैंकों ने व्यक्तियो मे बचत (Saving) की आदत को प्रोत्साहित करके देश में पूँजी के निर्माण (Capital formation) को तीव्रतर किया है। पूँजी-निर्माण के बचत और विनियोजन दो आवश्यक तत्व है। ये दोनो बैंको ने प्रोत्साहित किये है। विभिन्न खाते खोलने की सुविधा देकर बैंक बचत को प्रोत्साहन देता है और जमा रुपये का विनियोजन करता है। इस प्रकार अर्थव्यवस्था में रुपया बेकार (Idle) नहीं रहने पाता।

बैंक अपनी विनियोजन नीति द्वारा देश के आर्थिक विकास को प्रभावित करते हैं। वे जिस प्रकार के उद्योगो को ऋण देने का निर्णय करते हैं उसी प्रकार के उद्योगों का अधिक विकास होता है।

बैंक साख का निर्माण करके देश मे मुद्रा की पूर्ति को प्रभावित करते हैं। इसका देश के उत्पादन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। साख का अधिक सृजन करने से उत्पादकों को अधिक ऋण मिल सकता है और वे अधिक उत्पादन कर सकते हैं। यदि अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी है तो इससे यह बेरोजगारी घटती है और लोगों की आयों मे वृद्धि होती है।

व्यापार चक्रों को रोकने मे भी बैंक बहुत सहायक होते है। अभिवृद्धि (Boom) की अवस्था के समय बैंक साख का संकुचन (Credit contraction) करके मुद्रा की पूर्ति को कम कर सकते है। इससे मूल्य मे बढोत्तरी रुक जाती है। दूसरी ओर जब मूल्यों की प्रवृत्ति गिरने की ओर होती है तो साख सृजन (Credit creation) करके ये मुद्रा की पूर्ति को बढा देते हैं। इससे मूल्य बढने लगते हैं।

बैंक ब्याज की दर को भी प्रभावित कर सकते हैं। बैंकों का एक महत्वपूर्ण कार्य साख का सृजन करना होता है। साख सृजन के द्वारा वे द्रव्य की पूर्ति को प्रभावित करते हैं और द्रव्य की पूर्ति से ब्याज की दर प्रभावित होती है। द्रव्य की पूर्ति मे वृद्धि होने पर ब्याज की दर कम हो जाती है और द्रव्य की पूर्ति में कमी होने पर ब्याज की दर बढ़ जाती है।

उपभोक्ता साख देकर बैंक बाजार के विस्तार व मांग को प्रभावित करते हैं। मोटर कार, टेलीविजन, फ्रिज आदि मंहगी वस्तुयें उपभोक्ता अपनी आय में से नहीं खरीद सकते। बैंक उनको उपभोक्ता साख देकर इन वस्तुओं को खरीदने योग्य बना देता है। इससे बाजार मे वस्तु की माग मे वृद्धि होती है जिससे उत्पादन प्रभावित होता है।

इस प्रकार बैंकों का देश की अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान है। देश के आर्थिक विकास के लिये अब यह आवश्यक हो गया है कि बैंकों का विकास किया

जाय। बैंक विहिन अर्थव्यवस्था की कल्पना नहीं की जा सकती। बैंकों की तुल[illegible] एक विशाल पानी की टंकी से दी जा सकती है जिसमें एक ओर से पानी आता और दूसरी ओर से जाता रहता है। बैंक भी एक ओर से द्रव्य को प्राप्त करते और दूसरी ओर से इसे व्यापारियों व उद्योगपतियों को देते रहते हैं।

✫

Q. 105. How banks create credit? Discuss the various limi[illegible] ation on the credit creating powers of the banks.

बैंकों का आधुनिक अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान है। इनका महत्व केवल इसलिये नहीं है कि ये लोगों की बचतों को इकट्ठा करते हैं और आवश्यकता के समय इस रुपये को उधार देते हैं। बैंकों का अधिक महत्व बैंकों की साख सृजन (Credit creation) करने की शक्ति के कारण है। बैंकों के पास ग्राहकों का रुपया जमा रहता है जिनको वापिस करने का वायदा बैंकों ने किया होता है। परन्तु बैंकों को अनुभव से यह पता होता है कि लोग अपने रुपये को मांगने नहीं आते। बैंक इस जमा का कुछ भाग अपने पास रख कर बाकी उधार दे देते हैं। इस प्रकार बैंक अपनी जमाओं से कई गुना उधार लोगों को दे देते हैं। यहां इस बात का अध्ययन आवश्यक है कि बैंक साख का निर्माण किस प्रकार करते हैं।

रूपरेखा

(१) बैंकों द्वारा साख सृजन।
(२) साख सृजन का आधार।
(३) साख सृजन की सीमायें :
- (a) बैंकों के पास जमा की मात्रा;
- (b) नकदी जमा अनुपात;
- (c) केन्द्रीय बैंक की नीति;
- (d) अन्य बैंकों की नीति;
- (e) देश की आर्थिक स्थिति।

बैंक में विभिन्न लोग अपना रुपया जमा करते हैं जिसको वे एकदम नहीं निकाल लेते। आवश्यकता पड़ने पर वे इसके कुछ भाग को निकाल लेते हैं। इस कारण जमा का अधिकांश भाग बैंक में रहता है। बैंक अनुभव से यह जान लेता है कि कितना रुपया लोग मांगने के लिये आयेंगे और कितना रुपया उसके पास जमा के रूप में पड़ा रहेगा।

बैंक एक व्यापारिक संस्था है जिसका उद्देश्य लाभ प्राप्त करना है। इसके अतिरिक्त बैंक जमाओं पर ब्याज भी देते हैं। इसलिये [illegible] जमाओं को उधार देकर लाभ प्राप्त करना चाहता है। [illegible] जमाओं के कुछ भाग को नकद के रूप में रख लेता है जिससे जो लोग [illegible] भुगतान किया जा सके। [illegible] पास १०,००० रुपया जमा होता है। [illegible]

उधार दे देता है। जिस व्यक्ति ने यह रुपया उधार लिया है वह इससे उन व्यक्तियों का भुगतान कर देता है जिससे उसने सामान खरीदा है या ऋण लिया है।

जिन व्यक्तियों को यह रुपया मिलता है वे इसको अपने बैंक में जमा करा देते हैं। इससे दूसरे बैंक की जमाओं में ८,००० रुपये की वृद्धि हो जाती है। यह बैंक भी २० प्रतिशत नकद में रख कर ६,४०० रुपया उधार दे देता है। यह रुपया फिर तीसरे बैंक में जमा हो जाता है जो इसका २० प्रतिशत रख कर ५१२० रुपया उधार दे देता है। इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है जब तक कि १०,००० रुपये समाप्त नहीं हो जाते। अन्त में, सब बैंक मिल ५०,००० रुपये का उधार दे देते हैं जबकि नकद रुपया केवल १०,००० है।

बैंक कितनी साख का निर्माण कर सकते हैं, यह उस प्रतिशत पर निर्भर करता है जो बैंक अपने पास नकद में रखता है। यदि बैंक नकद का २० प्रतिशत अर्थात् १/५ भाग नकद में रखता है तो साख निर्माण ५ गुना हो सकता है। यदि बैंक १० प्रतिशत या १/१० भाग नकद में रखे तो साख निर्माण १० गुना होगा।

साख का निर्माण केवल लोगों को उधार देकर ही नहीं किया जाता बल्कि सरकारी प्रतिभूतियाँ (Government securities) व ऋण पत्र (Loan bonds) खरीद कर भी साख का निर्माण किया जा सकता है। बैंक भूमि, भवन, फर्नीचर आदि सामान खरीद कर भी साख का निर्माण कर सकता है, परन्तु यह महत्वहीन है क्योंकि यह कुल साख का नगण्य भाग है।

साख सृजन की सीमायें
Limitations of Credit Creation.

साख सृजन बैंकों का एक महत्वपूर्ण व आवश्यक कार्य है परन्तु बैंक असीमित मात्रा में साख का निर्माण नहीं कर सकता। इसके साख सृजन पर बहुत सी सीमायें हैं जिनके कारण यह एक सीमा तक ही साख निर्माण का कार्य कर सकता है। वे सीमायें निम्नलिखित हैं:—

(१) साख निर्माण की पहली सीमा बैंकों के पास जमा किया गया द्रव्य है जिसको प्राथमिक जमायें (Primary deposits) कहते हैं। ये प्राथमिक जमायें ही वे आधार शिला है जिन पर साख सृजन का भवन निर्भर करता है। बैंकों के पास प्राथमिक जमायें जितनी अधिक होंगी उतनी ही अधिक साख का निर्माण वे कर सकेंगे। क्राउथर ने इस सम्बन्ध में लिखा है, "बैंको की नकदी वह लीवर है जिसकी सहायता से सम्पूर्ण विशाल व्यवस्था को नियन्त्रित किया जाता है।"[2] कीन्स ने भी इस सम्बन्ध में लिखा है कि जिस सीमा तक कोई बैंक गौण जमाओं

2. "The bank's cash in the lever with which the whole gigantic system is manipulated."— G. Crowther, opt cit.

या साख का निर्माण विना कठिनाई के कर सकता है वह जमाकर्ताओं द्वारा प्राप्त प्राथमिक जमाओं पर निर्भर है।"[3]

(२) साख निर्माण की दूसरी सीमा जमा का वह भाग है जो वैंक अपने पास नकद में रखता है। इसको नकद जमा (Cash deposits) कहते हैं। प्रत्येक वैंक को यह निश्चित करना होता है कि वह जमाओं के कितने भाग को नकद में रखे और कितने भाग को उधार में दे। कई देशों में यह सीमा सरकार या केन्द्रीय वैंक (Central Bank) द्वारा निर्धारित की जाती है। वैंक अपने पास जमा का जितना अधिक प्रतिशत नकद में रखता है उतना ही कम साख का निर्माण कर सकता है।

(३) तीसरे, साख निर्माण की मात्रा केन्द्रीय बैंक की नीति पर निर्भर करती है। आजकल के समय में प्रत्येक देश में केन्द्रीय वैंक बहुत प्रभावशाली है। वह समय-समय पर देश की मुद्रा आवश्यकता को देख कर यह निर्णय करता है कि देश में कितनी साख हो। अपनी विभिन्न सांख नियन्त्रण रीतियों के द्वारा वह वैंकों की साख निर्माण शक्ति को नियमित करता है।

(४) चौथे, बैंक के साख सृजन कार्य पर अन्य बैंकों की नीति का भी प्रभाव पड़ता है। एक बैंक को साख सृजन करते समय इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि अन्य बैंक कितनी साख का निर्माण कर रहे हैं। यदि वह अन्य वैंकों से अधिक साख का निर्माण करने लगता है तो उसके पास नकदी की मात्रा कम रह जाती है और उसके फेल हो जाने का डर होता है। इसके विपरीत जब वह अन्य वैंकों से कम साख का निर्माण करता है तो उसके पास नकदी की मात्रा अधिक जमा हो जाती है जिसको उधार देकर वह लाभ प्राप्त कर सकता है। इसलिये साख निर्माण के समय एक वैंक को अन्य बैंकों की साख नीति को ध्यान में रखना होता है।"[4]

(५) पांचवें, साख निर्माण देश में आर्थिक स्थिति पर निर्भर करता है। व्यापारिक अभिवृद्धि के समय व्यापारी अधिक साख की मांग करते हैं और अधिक सूद के लालच में वैंक नकद-कोप रखकर उधार देने लगते हैं। दूसरी ओर, मंदी के

---

3. "The rate at which the bank can, with safety, actively create deposits by lending and investing has to be in proper relation to be rate at which it is passively creating them against the receipt of liquid resource from its depositors." J. M. Keynes, A Treatise on Money Vol. I. p. 25

4. "If an individual bank fails to keep up with the general rate of credit expansion it will receive more cash than it loses and it will, therefore, accumulate excess reserves which it will tend to loan out. If an individual bank expends loans or investments, more rapidly than other banks, it will lose cash, may not be able to fulfill the reserve requirements and will tend to reduce its loans or investments." G. M. Halm, Monetary Theory, p. 43

समय यदि बैंक चाहे तो भी अधिक साख का निर्माण नहीं कर सकते क्योंकि व्यापारियों में निराशावादिता होती है और वे कम सूद पर भी उधार लेने को तैयार नहीं होते।

★

Q. 106. Examine critically the case for and against nationalisation of commercial banking in India. (Agra 1965)

Q. 107. Argue the case for and against the nationalisation of commercial banking in India. (Raj. 1962)

भारत में बैंकिंग का राष्ट्रीयकरण

(Nationalisation of Banking in India)

आधुनिक अर्थव्यवस्था मे देश की बैंकिंग पद्धति का बहुत महत्व हो गया है और इसके कार्यकरण पर देश का आर्थिक विकास भी निर्भर करता है। इस कारण बहुत से समाजवादी अर्थशास्त्रियों का विचार है कि देश की बैंकिंग पद्धति का राष्ट्रीयकरण करके इसका कार्य सचालन सरकार के हाथ मे दे देना चाहिये, जिससे वह इसका सचालन राष्ट्रीय हितों को उन्नत करने के लिये कर सके। बैंको के राष्ट्रीयकरण के पक्षपाती अपने विचार के समर्थन में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं—

(१) सबसे पहले तो उनका विचार है कि बैंकों के राष्ट्रीयकरण से साख का उपयोग राष्ट्रीय हित में हो सकेगा। बैंको का प्रमुख कार्य साख का निर्माण करना होता है और बैंक इस कार्य को राष्ट्रीय कल्याण या विनाश में से किसी एक के लिये भी कर सकता है। अतः यह आवश्यक है कि इस कार्य को इस प्रकार से किया जाय कि राष्ट्र का अधिकतम कल्याण हो और विनाश बिल्कुल भी न हो। साख का उपयोग व्यक्तिगत लाभ बढाने के लिये नहीं वरिक राष्ट्रीय लाभ बढाने के लिये होना चाहिये। इसके अतिरिक्त साख की मात्रा का समायोजन राष्ट्र की आवश्यकताओं के साथ होना चाहिये। इन सब उद्देश्यों की प्राप्ति तभी हो सकती है जबकि बैंको का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय।

(२) देश को व्यापार चक्रों के कुप्रभावों से बचाने के लिये भी बैंकों का राष्ट्रीयकरण आवश्यक है। व्यापार चक्रों के वैसे तो अनेक कारण होते हैं, परन्तु एक महत्वपूर्ण कारण बैंको की दोषपूर्ण साख नीति भी है। यदि ठीक साख नीति को अपनाया जाय और बैंकों द्वारा एक समुचित नीति का पालन किया जाय तो व्यापार चक्रों के दोषों को कुछ सीमा तक दूर किया जा सकता है बैंकों पर व्यक्तिगत स्वामित्व होने के कारण राष्ट्रीय हित के लिये समुचित साख नीति का

अपनाना कठिन हो जाता है। बैंकों को सरकारी अधिकार में लेकर इस दोष को दूर किया जा सकता है।

(३) आजकल के समय में बैंक्स सार्वजनिक उपयोगिता की संस्था हैं और इसलिये अन्य सार्वजनिक उपयोगिता की संस्थाओं के समान इनके लाभों का उपयोग भी सार्वजनिक हित के लिये होना चाहिए। बैंक्स पर व्यक्तिगत स्वामित्व होने पर लाभों का उपयोग व्यक्तिगत हित में होता है। इसलिये बैंक्स का राष्ट्रीयकरण करना आवश्यक है।

(४) आधुनिक युग में बैंक्स का महत्व राष्ट्रीय व्यापार व उद्योग के अर्थ प्रबन्धन के लिये बहुत अधिक है। इसलिये बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार सम्पूर्ण देश में होना चाहिये। भारत में बैंकिंग सुविधायें केवल शहरों तक ही सीमित हैं जबकि अधिकतर जनसंख्या गाँव में रहती है। व्यक्तिगत अधिकार में रहने पर बैंक्स का विस्तार गांव में नहीं होगा क्योंकि वहाँ पर बैंक्स स्थापित करने में प्रारम्भ में लाभ नहीं होता। सरकारी स्वामित्व होने पर गांव में भी बैंकिंग सुविधायें प्रदान की जा सकेंगी।

(५) बैंकों में प्रतियोगिता होना हानिकारक है क्योंकि इससे बैंक्स के फेल होने का डर रहता है जिससे जनता का बैंक्स में से विश्वास हट जाता है। जनता के विश्वास को बनाये रखने के लिये, इस प्रकार सुदृढ़ बैंकिंग व्यवस्था की आवश्यकता है और यह तभी स्थापित हो सकती है जब प्रतियोगिता न रहे। बैंक्स के व्यक्तिगत अधिकार में रहने पर प्रतियोगिता समाप्त नहीं की जा सकती। राष्ट्रीयकरण ही इसका उपचार है।

(६) भारत में बैंकिंग विकास एक-अंगी (One-sided) है। यहाँ पर व्यापारिक बैंक्स की ही प्रधानता है। विदेशी विनिमय बैंक तथा औद्योगिक बैंक लगभग नहीं के बराबर हैं। इस कमी को भी राष्ट्रीयकरण करके दूर किया जा सकता है।

राष्ट्रीयकरण के विरोध में
(Against the Nationalisation)

राष्ट्रीयकरण के विरोध में भी बहुत से अर्थशास्त्रियों के मत हैं और वे निम्न-लिखित तर्कों के आधार पर बैंक्स के राष्ट्रीयकरण का विरोध करते हैं—

(१) बैंक्स का राष्ट्रीयकरण करने पर बैंक्स के मालिकों को बड़ी मात्रा में मुआवजा (Compensation) देना होगा। इस समय सरकार को योजना की वित्त-व्यवस्था के लिये बड़ी मात्रा में पूँजी की आवश्यकता है। यदि बैंक्स का राष्ट्रीय-करण किया गया तो सरकार की बहुत अधिक पूँजी बैंक्स को मुआवजा देने में चली जायगी और सरकार को बहुत से विकास कार्यक्रमों को रोकना पड़ जायगा। इसके अतिरिक्त जहाँ तक बैंक्स के कार्यकरण का प्रश्न है, सरकार का प्रभावपूर्ण नियन्त्रण रख कर उनका कार्यकरण देश के हित के अनुकूल किया जा सकता है।

(२) बैंक्स की सफलता उसके और ग्राहकों के सम्बन्धों पर निर्भर करती है। एक अच्छा व सफल बैंक वही है जो अपने ग्राहकों को सस्ती और अच्छी बैंकिंग सेवायें प्रदान करता है। अकुशल, विलम्बपूर्ण तथा अपव्ययी सेवाओं से बैंक सफल नहीं हो पाता। दुर्भाग्यवश भारत में सरकारी संस्थाओं के साथ यह तीनों दोष सम्बद्ध रहते हैं। इसलिये भी राष्ट्रीयकरण का विरोध किया जाता है।

(३) सरकार के पास बैंकिंग व्यवसाय को चलाने के लिये योग्य तथा कुशल कर्मचारी नहीं हैं। इस कारण राष्ट्रीयकरण के बाद व्यवसाय का कुशल प्रबन्ध नहीं हो पायेगा।

(४) बैंक्स की एक विशेषता यह है कि वे अपने ग्राहकों के हिसाब-किताब की गुप्तता को बनाये रखते हैं। राष्ट्रीयकरण के बाद, यह सोचा जाता है कि इस प्रकार की गोपनीयता न रह सकेगी।

(५) बैंक्स के निर्णयों व उनके कार्यकरण में शीघ्रता होनी चाहिये, परन्तु सरकारी संस्थाओं में कार्य बहुत देर से होता है। इसलिये सरकारी अधिकार में बैंक्स सफल नहीं हो पायेंगे।

(६) भारत में सरकारी संस्थाओं का कार्य सराहनीय नहीं रहा है। सरकारी संस्थाओं का अर्थ उन संस्थाओं से लिया जाता है जिनमें व्यक्तिगत सम्पर्क, लोच, मितव्ययिता, शासन की कुशलता, समायोजन आदि गुण नहीं होते और जिनमें कार्य का उत्तरदायित्व किसी पर नहीं होता। इस स्थिति में बैंक्स का राष्ट्रीयकरण हानिकारक होगा।

बैंक्स के राष्ट्रीयकरण के पक्ष व विपक्ष के तर्कों को देखने पर यह कहा जा सकता है कि देश की वर्तमान स्थिति में इनका राष्ट्रीयकरण ठीक नहीं है। बैंक्स के कार्यकरण को ठीक करने के लिये उन पर सरकार का प्रभावपूर्ण नियन्त्रण होना चाहिये। यह नियन्त्रण रिजर्व बैंक उन पर रखता है।

Selected Readings

1. G. N. Halm : Monetary Theory, Ch. 4 & 5
2. C Whitney : Experiments in Credit Control, Ch. II.
3 R. P. Kent : Money and Banking, Ch. 9 & 15
4. H. P. Willis and Others : Contemporary Banking
5. Steiner and Shapiro : Money and Banking, Ch. 5.

८

केन्द्रीय बैंक
(Central Bank)

Q. 109. "We may say that the nationalisation of Central Bank has justified itself and the dangers seem to have been generally exaggerated." Explain the above statement.

केन्द्रीय बैंक का देश की अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान होता है, क्योंकि इसको इस प्रकार के कार्य करने होते हैं जिन पर देश की आर्थिक स्थिरता व सुव्यवस्था निर्भर करती है। इसी कारण इस बैंक को इस प्रकार के अधिकार दिये जाते हैं जो देश में दूसरी किसी भी संस्था को प्राप्त नहीं होते। इसलिये यह कहा जाता है कि केन्द्रीय बैंक पर राज्य का अधिकार होना चाहिये, जिससे उन शक्तियों का ठीक उपयोग हो सके।

केन्द्रीय बैंकिंग के विकास के प्रारम्भ में राज्य अधिकार (State Ownership) पर अधिक महत्व नहीं दिया जाता था तथा अधिकतर बैंक व्यक्तिगत हिस्सेदारों (Paivate Shareholders) के ही थे। परन्तु सन् १६३६ के बाद से परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण केन्द्रीय बैंकों के राष्ट्रीयकरण पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा और सन् १६३६ व सन् १६४५ के मध्य बहुत से मुख्य देशों के बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो गया। डेनमार्क, कनाडा, न्यूजीलैंड आदि का राष्ट्रीयकरण इसी काल में हुआ। इसके बाद इंगलैंड, फ्रांस, भारत आदि देशों के बैंकों का भी राष्ट्रीयकरण हो गया। नये बैंक अधिकतर राज्य बैंकों के ही रूप में स्थापित किये गये हैं तथा जहां पर राज्य का पूर्ण स्वामित्व नहीं है वहाँ पर राज्य के हाथ में केन्द्रीय बैंक के अधिकतर हिस्से हैं। इससे भी राज्य का बहुत नियन्त्रण केन्द्रीय बैंक पर रहता है।

आजकल जो केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में अधिक व्यक्ति हैं, उसके कुछ कारण हैं। सर्वप्रथम तो राष्ट्रीयकरण के पक्ष में यह कहा जाता है कि केन्द्रीय बैंक सार्वजनिक उपयोगिता की संस्था (Public Utility Concern) है और सरकार लगभग प्रत्येक उस संस्था को अपने स्वामित्व में रखती है जो सार्वजनिक उपयोगिता की हो। विद्युत कम्पनी, जल-वितरक कम्पनी, यातायात, डाक, तार टेलीफून आदि सब कम्पनियों पर राज्य का लगभग पूर्ण अधिकार रहता है। केन्द्रीय बैंक का महत्व तो इससे भी अधिक है और इस कारण इसको स्वतन्त्र व्यक्तियों के हाथ में नहीं छोड़ना चाहिये।

दूसरे, इस सम्बन्ध मे यह तर्क दिया जाता है कि जब केन्द्रीय बैंक व्यक्तिगत हिस्सेदारो के अधिकार में होगा तो उनके प्रतिनिधि उन्ही के हितो का प्रतिनिधित्व करेंगे तथा इस प्रकार की नीति निर्धारित करना चाहेंगे जिससे "हिस्सेदारो के हितों की रक्षा हो तथा उनको अधिक से अधिक लाभ पहुंचे। यह नीति राष्ट्रीय हित के विरुद्ध हो सकती है। केन्द्रीय बैंक का सिद्धान्त डी काक (De Kock) के अनुसार, "यह है कि वह केवल लोकहित व समस्त देश के कल्याण के लिये ही कार्य करे और लाभ को अपना प्रारम्भिक उद्देश्य न समझे।"[1]

इस सिद्धान्त का पालन तभी हो सकता है जब केन्द्रीय बैंक पर राज्य का अधिकार हो और उसके अधिकारी कुछ के हित की बात न सोच कर देश के हित व कल्याण की बात सोचें।

तीसरे, राष्ट्रीयकरण के समर्थकों का कहना है कि केन्द्रीय बैंक पर जब राज्य का स्वामित्व नही होता तब भी उस पर सरकार का बहुत अधिक नियन्त्रण होता है। हिस्सेदारो को तो केवल इतना ही अधिकार होता है कि वे अपना लाभ प्राप्त कर लें तथा बैंक की वार्षिक सभा मे भाग ले लें। लाभ की मात्रा भी सरकार के द्वारा निश्चित कर दी जाती है। इस प्रकार से व्यवहार मे जब सरकार का लगभग पूर्ण अधिकार रहता है तो कानून के द्वारा क्यों न उनको वास्तविक रूप से राज्य का स्वामित्व प्रदान कर दिया जाय।

चौथे, स्वर्णमान के समाप्त होने के कारण प्रबन्धित कागजी मान को प्रत्येक देश मे अपनाया गया। इस मान के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक देश की मुद्रा नीति को नियन्त्रित करता है तथा चलन की मात्रा मे वृद्धि व कमी करता रहता है। पर इस प्रकार की मुद्रा नीति का उत्तरदायित्व सरकार पर आता है और इस कारण भी सरकार का पूर्ण अधिकार केन्द्रीय बैंक पर होना चाहिए।

पांचवे, महायुद्धों के बाद ससार मे समाजवादी विचारधारा का विस्तार अधिक हो गया है और इस विचारधारा का एक मूल विचार यह है कि राज्य एक कल्याणकारी संस्था है और इसलिए इसको पूर्ण रोजगार व सामाजिक सुरक्षा प्रदान करनी चाहिये। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये देश की मौद्रिक व बैंकिग नीति पर सरकार का नियन्त्रण अधिक होना चाहिये और इस कारण केंद्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण आवश्यक है। डी काक (De Kock) के अनुसार, "It can be associated with the marked trend of public opinion towards socialism and the welfare state after the great Depression of 1930-33 and *consequently, towards direct state control of* monetary and bank-

1. "The guiding principle of the Central Bank is that it should act only in the public interest and for the welfare of the country as a whole and without regard to profit as a primary consideration." De Kock, Central Banking.

ing policy as a means of ensuing full employment and social security under all circumstances.'

छटे, केन्द्रीय बैंक के पास सरकार का बहुत सा धन जमा रहता है जिस पर इसको किसी प्रकार का सूद नहीं देना होता परन्तु उसके उपयोग से इसको बहुत अधिक लाभ होता है। इस लाभ का व्यय व्यक्तिगत हित के लिये नहीं होना चाहिये बल्कि सामाजिक हित के लिये होना चाहिये और ऐसा तब ही ठीक प्रकार से हो सकता है जब बैंक पर राज्य का पूर्ण अधिकार हो।

सातवें, केन्द्रीय बैंक का अधिकाँश कार्य राज्य से सम्बन्धित है जैसे सार्वजनिक ऋण की व्यवस्था करना, मुद्रा व चलन की व्यवस्था करना, सरकार की आय-व्यय का लेखा-जोखा रखना आदि। इन सब कार्यों का ठीक-ठीक संचालन बहुत ही आवश्यक है और यदि यह कार्य ठीक प्रकार से नहीं होते तो राष्ट्र को बहुत हानि उठानी पड़ती है। इस कारण भी केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण पर बहुत अधिक महत्व दिया जाता है।

आठवें, केन्द्रीय बैंक एक अधिकारी संस्था है तथा एकाधिकारी संस्था के पास में असीमित अधिकार होते हैं जिसके कारण वह एक शक्तिशाली संगठन बन जाता है। इन अधिकारों का दुरुपयोग करने से जनता व देश को अत्यधिक हानि का डर रहता है। केन्द्रीय बैंक के पास भी इस प्रकार के 'एकाधिकारी अधिकार हैं जिनका ठीक से उपयोग न होने पर विपरीत प्रभाव देश की अर्थव्यवस्था पर हो सकता है। यदि यह एकाधिकारी संस्था राज्य के स्वामित्व में हो तो अधिकारों के दुरुपयोग का डर नहीं रहता।

नवें, सरकार को वैत्तिक व मौद्रिक मामलों में बहुत कुछ केन्द्रीय बैंक पर निर्भर करना पड़ता है क्योंकि यह एक विशिष्ट (Specialized) संस्था है। यदि बैंक पर अधिकार व्यक्तियों का होगा तो वे उसी प्रकार की सलाह देंगे जो उनके हित में होगी। इसके अतिरिक्त सरकार की बहुत सी नीतियों का संचालन केन्द्रीय बैंक के द्वारा किया जाता है और व्यक्तिगत अधिकार में यह सम्भव है कि उन नीतियों का संचालन ठीक से न हो पाये। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि जो नीति उनके हितों के विपरीत हो उसका संचालन ठीक प्रकार से न करे या इस प्रकार से करे जिससे उनके हितों में वृद्धि हो। इस कारण भी केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण आवश्यक है।

दशवें, उन देशों के लिये जहाँ आर्थिक विकास के लिए आर्थिक नियोजन (Economic Planning) किया जाता है राष्ट्रीयकरण किये गये केन्द्रीय बैंक (Nationalized Central Bank) की आवश्यकता और भी अधिक हो जाती है। यह आवश्यकता इस कारण होती है कि सरकार विकास के व्यय को पूरा करने के लिये आय से अधिक व्यय करती है अर्थात् घाटे के बजट (Deficit Budget)

बनाती है तथा सार्वजनिक ऋण (Public Debt) पर निर्भर करती है। इन सब कार्यों को केन्द्रीय बैंक करता है। यदि सरकार की नीति के अनुसार केन्द्रीय बैंक कार्य न करें तो सरकार को बहुत अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ सकता है।

इन सब तर्कों के आधार पर केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण पर *अधिक बल* दिया जाता है। इसके विपरीत अब भी कुछ राष्ट्रीयकरण के विरोधक मिल जाते हैं जो विभिन्न तर्कों के आधार पर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण हो जाने से उसका संचालन व कार्य ठीक प्रकार से नहीं हो सकेगा। परन्तु उनके तर्कों मे अधिक बल नही है तथा तनिक से प्रयत्न से उन सब दोषो को जो राष्ट्रीयकरण के विरोधक राष्ट्रीयकरण के कारण बताते हैं, दूर किये जा सकते हैं। जो तर्क वे राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में देते है, वे निम्नलिखित हैं—

(१) *केन्द्रीय बैंक के सफल सचालन के लिये एक आवश्यक सिद्धान्त यह* है कि उस पर राजनीतिक दलों का बिल्कुल प्रभाव न पड़े। परन्तु राष्ट्रीयकरण के बाद ऐसा होना सम्भव नही रहता क्योंकि राजनैतिक दलों का बहुत अधिक प्रभाव सरकार पर होता है और सरकार केन्द्रीय बैंक के कार्यों को नियन्त्रित करती है।

(२) राष्ट्रीयकरण के उपरान्त केन्द्रीय बैंक का सचालन स्वतन्त्र नही रहता, क्योंकि कर्मचारियों की नियुक्ति आदि सरकार पर निर्भर करती है। यह हो सकता है कि सरकार देश में मुद्रा की मात्रा को बढ़ाना चाहे जिससे मूल्य बढ़ने से *तेजी काल (Boom period) प्रारम्भ हो जाय। परन्तु केन्द्रीय बैंक यह जानता है* कि प्रत्येक उत्तेजक पदार्थ (Stimulant) के समान इसका तत्कालीन प्रभाव तो बड़ा सुखदायक होगा परन्तु दीर्घकालीन प्रभाव बड़ा दुखदायी व हानिकारक होगा। जनमत दीर्घकालीन प्रभावों पर विशेष ध्यान नही देता तथा सरकार पर जनमत का विशेष प्रभाव पड़ता है। इसीलिये क्राउथर ने कहा है कि राजनीतिज्ञ कल (To-morrow) को नहीं जानता और केन्द्रीय बैंक पर राजनीति का विशेष प्रभाव पड़ता है और इसलिए कभी-कभी उसको इस प्रकार के भी कार्य करने पड़ते हैं, जिनको वह ठीक नही समझता। उसके शब्दो मे, "But the Central Bank is in the limelight of politics; in many countries he owes his appointment to the government of the day, and in no country can he afford to disregard the current of public opinion. And politics knows no to-morrow. In the circumstances, Central Banker will be *only human if he defers his decision......*"[2]

इस दोष को दूर करने के लिये बहुत से देशों मे केन्द्रीय बैंक को स्वतन्त्रता प्रदान की गई है कि यदि वह किसी बात को ठीक समझता है तथा सरकार से उसका मतभेद है तो वह उस पर खुले तौर पर (Openly) बहस कर सकता है तथा

2. Crowther : An Outline of Money. p 216.

जनमत का प्रभाव उसके पक्ष में हो सकता है। अब विभिन्न देशों में इस बात को महसूस किया जा रहा है कि केन्द्रीय बैंक को अपने कार्यों के करने में अधिकतम स्वतन्त्रता प्रदान की जाय।

(३) यह भी कहा जाता है कि राष्ट्रीयकरण की नौकरशाही (Bureaucracy) व दीर्घसूत्रता (Red-tapism) की सब बुराइयां केन्द्रीय बैंक के संचालन में भी आ जाती हैं। केन्द्रीय बैंक एक प्रकार की व्यापारिक संस्था है और इसी प्रकार से उसका संचालन होना चाहिये। परन्तु जब सरकारी स्वामित्व होता है तो उसके अधिकारियों में कार्यक्षमता का ह्रास हो जाता है क्योंकि पदोन्नति (Promotion) नौकरी की अवधि (Seniority) के आधार पर होती है तथा नौकरी स्थायी होती है। जबकि व्यक्तिगत अधिकार होने पर पदोन्नति कार्यक्षमता व कार्य करने पर निर्भर होती है।

यह भी एक सामान्य तर्क है जो कि प्रत्येक सरकारी संस्था के विपक्ष में दिया जाता है परन्तु जिसका कोई महत्व नहीं है। यह तर्क इस बात को मान लेता है कि व्यक्ति केवल लाभ भावना से प्रेरित होकर ही कार्य करता है। यदि इस तर्क को कुछ समय के लिये ठीक भी मान लें तब भी पदोन्नति का सम्बन्ध कार्यक्षमता से करके इस दोष को दूर किया जा सकता है।

(४) केन्द्रीय बैंक एक टेक्नीकल संस्था है और केवल शिक्षा प्राप्त व्यक्ति ही इसके कार्य को कर सकते हैं। सरकारी अधिकारी व राज्य के मन्त्री इस कार्य से अनभिज्ञ होते हैं। परन्तु इस तर्क में भी कोई तथ्य नहीं है क्योंकि सरकार विशेषज्ञों की नियुक्ति बैंक में कर सकती है और सब देशों में ऐसा ही होता है।

(५) इस सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि केन्द्रीय बैंक राज्य के अधिकार में हो या व्यक्तियों के स्वामित्व में, वह सदा राष्ट्र के हित में कार्य करता है। सरकार का बहुत अधिक नियन्त्रण उस पर रहता है। इस कारण इस बात की कोई आवश्यकता नहीं है कि बेकार में राज्य का इतना अधिक धन केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीय-करण में खर्च कर दिया जाय। राज्य कानून के द्वारा भी उस पर पूर्ण नियन्त्रण रख सकता है तथा उस धन से और कोई उद्योग खोला जा सकता है।

इन सब बातों पर विचार करने के बाद यह ही कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय-करण के विपक्ष में जो तर्क दिये गये हैं वह सब बेकार हैं तथा उन पर आवश्यकता से अधिक महत्व दिया जाता है। जिन केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो गया है उनके कार्यों व संचालन पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि उनकी कार्यक्षमता में बहुत अधिक वृद्धि हो गई है तथा वे पहले से अधिक कार्य करते हैं। वास्तव में स्वतन्त्र केन्द्रीय बैंक का तो कभी भी अस्तित्व नहीं रहा। प्रारम्भ से ही केन्द्रीय बैंक के संचालन पर राज्य का नियन्त्रण रहा है तथा हिस्सेदारों को केवल लाभ प्राप्त करने का ही अधिकार था। लाभ की मात्रा भी सरकार के द्वारा सीमित की जाती रही है। डी काक (De Kock) ने लिखा है कि अब इस बात को मान लिया गया

है कि मौद्रिक नीति का निर्धारण सरकार या धारा सभा के द्वारा किया जाना चाहिये और उसके कार्यों पर किसी न किसी प्रकार का नियन्त्रण अवश्य होना चाहिये।

★

Q. 110. Explain the principal functions of a Central Bank and show how it controls currency and credit policy of a country?

(Agra 1956)

प्रथम महायुद्ध के बाद मौद्रिक मिद्धान्त के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण विकास केन्द्रीय बैंकों की स्थापना तथा उनका पुनर्गठन है। इस महायुद्ध के बाद प्रत्येक देश ने केन्द्रीय बैंक की स्थापना करने का प्रयत्न किया और जिन देशों में पहले से ही केन्द्रीय बैंक थे, उन्होंने उसका सगठन ठीक प्रकार से किया। सन् १९२० में ब्रुसेल्स में अन्तर्राष्ट्रीय वित्त सम्मेलन (International Financial Conference) में भी यह प्रस्ताव पास किया जिसमें यह कहा गया कि जिस देश में केन्द्रीय बैंक नहीं है, उसको शीघ्र ही इसकी स्थापना का प्रबन्ध करना चाहिये जिससे कि उन देशों में बैंकिंग व मौद्रिक स्थिरता हो सके तथा विश्व सहयोग की भावना विकसित हो।

रूपरेखा—

(१) केन्द्रीय बैंकों का विकास।

(२) केन्द्रीय बैंक के कार्य।

(i) नोट निर्गमन का कार्य,

(ii) सरकार का बैंक,

(iii) बैंकों का बैंक,

(a) बैंको का रुपया जमा करना,

(b) बैंकों को आर्थिक सहायता देना,

(c) समाशोधन गृह का कार्य,

(iv) बैंकों का निरीक्षण व नियन्त्रण,

(v) विनिमय दर पर नियन्त्रण,

(vi) देश की साख व मुद्रा नीति पर नियन्त्रण,

(vii) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राओं के कोष का संरक्षण,

(viii) सूचनाओं व आंकड़ो को एकत्रित व प्रकाशित करना।

केन्द्रीय बैंक के विकास का निकट सम्बन्ध उनके कार्यों के विकास से सम्बन्धित है। जैसे-जैसे केन्द्रीय बैंक के कार्यों में वृद्धि होती गई तथा कार्यों का महत्व बढ़ता गया। वैसे-वैसे मौद्रिक क्षेत्र में केन्द्रीय बैंक का महत्व भी बढ़ता गया। प्रारम्भ में केन्द्रीय बैंक केवल नोट जारी करने का व सरकार के बैंक का ही कार्य करता था परन्तु धीरे-धीरे उसको अन्य कार्य भी सौंप दिये गये। आज उसका कार्य नोट जारी करने व सरकार के बैंक के कार्य तक ही सीमित नहीं है बल्कि उसका काम देश के आन्तरिक मूल्यों और विदेशी विनिमय की स्थिरता को उस सीमा तक सुरक्षित रखना होता है, जहाँ तक ये दोनो परस्पर अनुकूल हों। अपने इन

कार्यों के कारण ही आज केन्द्रीय बैंकिंग की एक अलग शाखा हो गई है और De Kock के अनुसार धीरे-धीरे 'केन्द्रीय बैंकिंग कला' (Art of Central Banking) का विकास हो गया है। यद्यपि व्यवहार में अलग-अलग देशों के केन्द्रीय बैंकों के कार्यों में कुछ-कुछ या अधिक भिन्नता पाई जाती है, परन्तु सामान्यतः प्रत्येक केन्द्रीय बैंक निम्नलिखित कार्य अवश्य करता है।

(१) नोट निर्गमन का कार्य (Function of Issuing Notes)—केन्द्रीय बैंक का सबसे प्रमुख कार्य नोट जारी करना होता है जो कि देश में पूर्ण कानूनी ग्राह्य (Full Legal Tender) होते हैं। यह कार्य इतना महत्वपूर्ण है कि केवल केन्द्रीय बैंक को ही नोट जारी करने का एकाधिकार होता है। केन्द्रीय बैंक को यह कार्य देश में साख की मात्रा पर नियन्त्रण रखने के लिये भी करना होता है। मूल्य स्तर पर नियन्त्रण रखने के लिये आवश्यक है कि केन्द्रीय बैंक को नोटों के परिमाण में हेर-फेर करने का अधिकार हो। वीर स्मिथ (Vera Smith) ने केन्द्रीय बैंक के नोट निर्गमन कार्य को बहुत अधिक महत्व देते हुए लिखा है, "The primary definition of central bank'ng is a banking sytem in which a single bank has either a complete or a residoary monopoly in the note issue."[1] और कहा है कि अन्य कार्यों का विकास इसी कार्य से हुआ। केन्द्रीय बैंक से यह कार्य अपने जन्म से ही किया है और बहुत समय तक बहुत से केन्द्रीय बैंकों का कार्य ही केवल यह था। डी काक के अनुसार, "The previlege of note issue was almost everywhere associated with the origin and development of the central banks. In fact, until the beginning of the twentieth century they were generally known as banks of issue."[2]

(२) सरकार का बैंक (Government Banker)—केन्द्रीय बैंक का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य सरकार के बैंक के रूप में कार्य करना होता हैं। यह सरकार के बैंक के रूप में वे सभी काम करता है जो एक बैंक अपने ग्राहकों के लिये करता है। यह सरकार के बैंकर, एजेण्ट तथा सलाहकार तीनों रूपों में कार्य करता है। सरकार के बैंक के रूप में यह सरकारी विभागों, बोर्डों व उपकर्मों के हिसाब-किताब का प्रबन्ध करता है। यह सरकार को कर एकत्र होने या सार्वजनिक ऋण लेने से पूर्व ही उसके दैनिक कार्य के लिये अल्प अवधि ऋण भी देता है तथा मन्दी, युद्ध या दूसरे संकट के समय सरकार को असाधारण ऋण देकर उसकी सहायता करता है। सरकार की ओर से विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय का कार्य भी यह करता है। सरकार को विदेशी गतानों के लिये भी जितने विदेशी विनिमय की आवश्यकता होती है उस सबका

1. Vera Smith : Rational of Central Banking. page 148.
2. M. H. De Kock : Central Banking. page 26.

प्रबन्ध केन्द्रीय बैंक के द्वारा ही होता है। इस प्रकार से केन्द्रीय बैंक सरकार के लिये वह सब कार्य करता है जो कि एक व्यापारिक बैंक अपने सामान्य ग्राहकों के लिये करता है।

सरकार के सलाहकार के रूप में भी केन्द्रीय बैंक को महत्वपूर्ण कार्य करने होते हैं। केन्द्रीय बैंक का मुद्रा बाजार तथा देश की आर्थिक परिस्थिति से निकट का सम्पर्क होता है और वही यह सलाह दे सकता है कि सरकार कब क्या कार्य करे ? इसके अतिरिक्त आजकल लगभग सभी देशों में यह सरकार के लिये विशेष एजेंसी कार्य भी करता है। जहाँ पर विनिमय नियन्त्रण (Exchange control) होता है, वहां पर उसका प्रबन्ध व नियन्त्रण केन्द्रीय बैंक के द्वारा होता है।

अत: डी काक के अनुसार, "केन्द्रीय बैंक सरकारी बैंक का कार्य केवल सुविधा व मितव्ययता के दृष्टिकोण से ही नहीं करता बल्कि यह सब कार्य इसलिये करता है क्योंकि सार्वजनिक वित्त व मौद्रिक कार्यों में बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है।"[3]

(२) बैंकों का बैंक (Banker's Bank)—केन्द्रीय बैंक देश के सब बैंकों का बैंक होता है और उस स्थिति में निम्नलिखित कार्य करता है :—

(a) बैंकों का रुपया जमा करना (Custodian of the Cash Reserves of Banks)—प्रत्येक बैंक अपने नगद कोष का कुछ भाग केन्द्रीय बैंक के पास जमा के रूप में रखता है। प्रारम्भ में बैंकों पर इस प्रकार का कोई वैधानिक बन्धन नहीं था कि वे अपने जमा का कुछ भाग केन्द्रीय बैंक में रखें परन्तु बैंकों ने स्वय इसको लाभकर समझा। बाद में यह वैधानिक हो गया तथा प्रत्येक देश के लिये केन्द्रीय बैंक में जमा रखना आवश्यक हो गया। जमा की मात्रा अलग-अलग देशों में अलग-अलग है। अमेरिका में बैंकों को अपने देयधन (Liabilities) का ३ प्रतिशत से १३ प्रतिशत केन्द्रीय बैंक में जमा करना होता है। इंगलैंड में यद्यपि रुपया जमा करना अनिवार्य नहीं है किन्तु वहाँ ऐसी प्रथा चल गयी है कि सभी बैंक जमा के खातों की रकम का लगभग ४ प्रतिशत बैंक ऑफ इगलैंड के पास जमा करते हैं। भारत में बैंक मांग पर देय रकम का ५% तथा किसी अवधि पर देय रकम का २% रिजर्व बैंक के पास जमा रखते हैं। रिजर्व बैंक इस प्रतिशत में वृद्धि भी कर सकता है।

(b) बैंकों को आर्थिक सहायता देना (Economic aid to the Banks) केन्द्रीय बैंक देश के अन्य बैंकों को सहायता प्रदान करने का कार्य भी करता है और इस दृष्टिकोण से यह 'अन्तिम ऋणदाता (Lender of the Last Resort) है। केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों को ऋण दो प्रकार से प्रदान करता है। एक तो उनके

3. "Central banks everywhere operate as bankers to the State not only because it may be more convenient and economical to the State, but also because of the intimate connection between public finance and monetary affairs." Ibid. p. 64

विनिमय-पत्रों (Exchange Bills) का पुनः मितीकाटा (Rediscount) करके तथा दूसरे, सरकारी प्रतिभूतियों (Securities) व अन्य अनुमोदित प्रतिभूतियों के आधार पर रुपया देकर। बैंकों को इस व्यवस्था से बड़ा लाभ होता है क्योंकि इससे समस्त साख-व्यवस्था में तरलता व लचकता आ जाती है। इसके अतिरिक्त बैंकों को एक सहारा मिल जाता है जिस पर वे संकट के समय निर्भर कर सकते हैं।

(c) **समाशोधन गृह** (Clearing House) **का कार्य**—केन्द्रीय बैंक समाशोधन गृह का कार्य भी करता है। यह कार्य सबसे पहले बैंक ऑफ इंगलैंड ने प्रारम्भ किया था और आज इसका महत्व इतना अधिक हो गया है कि जोनसे (Jauncey) के के अनुसार यह केन्द्रीय बैंक का मुख्य कार्य है।[4] विल्स के अनुसार भी "The clearing function, with its ancillary elements—is among the most significant of centranl banking functions and is one for which only a very incomplete substitute may be found through resort to other expedients."[5] समाशोधन गृह का प्रबन्ध करने से केन्द्रीय बैंक को मुद्रा बाजार के रुख का पता लग जाता है।

(४) **बैंकों का निरीक्षण व नियन्त्रण** (Supervision and Control of Banks)—देश की बैंकिंग नीति के अनुसार केन्द्रीय बैंक देश के समस्त बैंकों पर नियन्त्रण रखता है तथा उनका निरीक्षण करता है। किसी भी बैंक को प्रारम्भ करने से पहले केन्द्रीय बैंक से लाइसेन्स लेना पड़ता है। बैंकों की कार्य-विधि पर नियन्त्रण रखने के लिये केन्द्रीय बैंक को उनके निरीक्षण का भी अधिकार होता है। प्रत्येक बैंक अपना वार्षिक हिसाब केन्द्रीय बैंक को भेजता है।

(५) **विनिमय दर पर नियन्त्रण**—केन्द्रीय बैंक देश की विदेशी विनिमय दर पर भी नियन्त्रण रखता है जिससे कि दर में स्थिरता रह सके। आजकल प्रायः सभी देशों में केन्द्रीय बैंक विनिमय दर को सरकार के एजेन्ट की हैसियत से नियन्त्रित कर सकते हैं। वे ऐसे उपाय अपनाते हैं जिससे देश के विदेशी विनिमय की स्थिरता बनी रहे।

(६) **देश की साख व मुद्रा नीति पर नियन्त्रण** (Control on the Credit and Currency Policy of the Country)—आजकल केन्द्रीय बैंक का मुख्य कार्य साख और मुद्रा की मात्रा पर देश हित में नियन्त्रण रखना है क्योंकि देश की आर्थिक स्थिरता साख व मुद्रा की स्थिरता पर ही निर्भर करती है। आर्थिक स्थिरता को बनाये रखने के लिये ही अधिकतर देशों ने केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया है। रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया एक्ट सन् १९३४ के अनुसार भी "The main function of

4. Jauncey : Australia's Government Bank. p. 166.
5. H. P. Willis : Theory and Practice of Central Banking. p. 359.

the Bank is to regulate the issue of bank notes and the keeping of reserves with a view to securing monetary stability in India and generally to operate the currency and credit system of the country to its advantage" और इस कार्य को ठीक प्रकार से पूर्ण करने के लिये केन्द्रीय बैंक को अन्य कार्य करने होते हैं तथा बहुत से अधिकार दिये जाते हैं जैसे, नोट जारी करने का एकाधिकार, बैंको का केन्द्रीय बैंक मे अनिवार्य जमा कराना आदि। केन्द्रीय बैंक इस कार्य को पूरा करने के लिए विभिन्न तरीके अपनाता है जो कि समय, परिस्थिति तथा देश के अनुसार बदलते रहते है। मुख्य ढग जिनसे केन्द्रीय बैंक साख व मुद्रा पर नियन्त्रण रखता है, निम्नलिखित हैं :—

(a) बैंक दर (Bank Rate)—केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रयोग में लाया जाने वाला सबसे पुराना ढंग बैंक दर मे परिवर्तन करना है। बैंक दर वह दर होती है जिस पर किसी देश का केन्द्रीय बैंक प्रथम कोटि के विनिमय पत्रो का मितीकाटा करता है अथवा स्वीकृत प्रतिभूतियो (Approved Securities) पर ऋण देता है। इस दर का सम्बन्ध देश की बाजार दर (Market Rate) से होता है जिस पर देश के अन्य बैंक रुपया उधार देते हैं तथा लेते हैं जबकि केन्द्रीय बक यह देखे कि देश मे साख व मुद्रा की अधिकता है तो वह बैंक दर (Bank Rate) मे वृद्धि कर देता है। इसका परिणाम यह होता है कि अन्य बैंक भी उधार देने की दर मे वृद्धि कर देते हैं। इससे व्यापारी वर्ग व विनियोजन करने वाले वर्ग को ऋण लेने में लाभ नही होता और साख की सकुचन (Cotraction) हो जाता है। दूसरी ओर जब केन्द्रीय बैंक देश मे मुद्रा व साख का प्रसार (Expansion) चाहता है तो बैंक दर को कम कर दिया जाता है जिससे बाजार दर भी गिर जाती है और व्यापारी ऋण उधार लेते हैं तथा परिणामस्वरूप साख का प्रसार हो जाता है।

बैंक दर का महत्व उस समय अधिक था जब अधिकतर देश स्वर्णमान पर थे परन्तु अब बैंक दर का महत्व कम होता जा रहा है क्योंकि बैंक दर के ठीक प्रकार से कार्य-संचालन के लिये यह आवश्यक है कि बैंक दर व बाजार दर में घनिष्ठ सम्बन्ध हो। इस प्रकार का घनिष्ठ सम्बन्ध आजकल देखने में नही आता क्योंकि आर्थिक ढांचे व द्रव्य-बाजार (Money Market) की दशाओं मे महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गया है और बैंक केन्द्रीय बैंक के साधनो पर अधिक निर्भर नही करते। इसके अतिरिक्त साख-नियन्त्रण के दूसरे प्रत्यक्ष साधनो के विकास के कारण भी अब इसका प्रयोग अधिक नही किया जाता। फिर भी अन्य साधनो के पूरक के रूप मे इसका महत्व अधिक है।

(b) खुले बाजार की क्रियायें (Open Market Operations)—खुले बाजार की क्रियाओं के द्वारा केन्द्रीय बैंक देश मे वर्तमान मुद्रा की मात्रा को कम या अधिक कर सकता है तथा साख मे भी सकुचन व प्रसार ला सकता है। विस्तृत दृष्टिकोण से खुले बाजार की क्रियाओं का अर्थ केन्द्रीय बैंक द्वारा उन साख-पत्रों

का क्रय-विक्रय है जिनमें वह व्यापार करता है। यदि कभी देश के बैंकों के पास कोष अधिक है और वे सरल मुद्रा-नीति (Easy money policy) का अनुसरण कर रहे हैं जिसको कि केन्द्रीय बैंक ठीक नहीं समझता तो केन्द्रीय बैंक सरकारी प्रतिभूतियों (Government securities) का विक्रय प्रारम्भ कर देता है। इन सरकारी प्रतिभूतियों को जब लोग खरीदेंगे तो वे भुगतान चैक या नकद में करेंगे। इससे साख या मुद्रा दोनों की मात्रा में कमी होगी। बैंकों के कोष कम होने से वे अधिक मात्रा में साख प्रदान नहीं कर पायेंगे और अपनी व्याज की दरों में उनको वृद्धि करनी पड़ेगी। इसी प्रकार से जब केन्द्रीय बैंक यह देखता है कि देश में मुद्रा की कमी है तथा साख का प्रसार होना चाहिये तो वह सरकारी प्रतिभूतियों को खरीदने लगता है जिससे लोगों के पास व बैंकों के पास द्रव्य बढ़ जाता है। देश में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जाती है जिससे बैंक अपनी व्याज की दर कम कर देते हैं, इससे साख का प्रसार होता है। इस प्रकार से केन्द्रीय बैंक के हाथ में खुले बाजार की क्रियायें एक शक्तिशाली हथियार है, जिसका उपयोग वह मुद्रा बाजार की स्थिरता बनाये रखने के उद्देश्य से करता है।

खुले बाजार की क्रियायें साख व मुद्रा को नियन्त्रित करने का प्रत्यक्ष तरीका है। इस क्रिया के सफल संचालन के लिये यह आवश्यक है कि देश में मुद्रा की मात्रा व बैंकों के कोष में केन्द्रीय बैंक की नीति के अनुसार परिवर्तन हो। यह देश के बैंक पुनः केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियों को मितीकाटा के लिए ले आते हैं तो यह क्रिया ठीक प्रकार से कार्य नहीं कर सकती।

(c) **संचित अनुपातों में परिवर्तन** (Variation in the Reserve Ra-tious)—लार्ड कीन्स ने साख को नियन्त्रित करने के लिये यह सुझाव दिया था कि केन्द्रीय बैंक को यह अधिकार हो कि वह अपने सदस्य बैंकों के संचित अनुपातों में परिवर्तन कर सके। इस प्रणाली के अनुसार केन्द्रीय बैंक को यह अधिकार होता है कि वह सदस्य बैंकों से उनके संचित अनुपातों में कमी या वृद्धि के लिये कहे जबकि केन्द्रीय बैंक यह देखे कि बैंकों के पास धन अधिक है तथा वे कम व्याज की दर पर रुपया उधार दे रहे हैं तो वह उनसे अधिक संचित अनुपात में वृद्धि करने के लिये कह सकता है। इससे बैंक के पास व्यापार के लिये नकद रुपया कम रह जायगा। इसी प्रकार से साख प्रसार के लिये संचित अनुपात में कमी की जा सकती है।

(d) **साख का राशनिंग** (Credit Rationing)—इसी रीति के अनुसार केन्द्रीय बैंक प्रत्येक बैंक का कोटा निश्चित कर देता है कि उसको अधिक से अधिक कितना ऋण दिया जा सकता है। साख निर्माण की भी एक अधिकतम सीमा निश्चित कर दी जाती है और प्रत्येक बैंक के लिये कोटा निश्चित कर दिया जाता है जिससे अधिक वह साख निर्माण नहीं कर सकता। यह प्रणाली बहुत प्रभावशाली है परन्तु इसको ठीक प्रकार से चलाने में बहुत सी व्यवहारिक कठिनाइयाँ हैं।

(e) वैधानिक कार्यवाही (Direct Action)—साख नियन्त्रण का एक और तरीका वैधानिक कार्यवाही या सीधी कार्यवाही है। केन्द्रीय बैंक को यह अधिकार होता है कि यदि कोई बैंक उसके आदेशों का पालन न करे तो वह उसके विरुद्ध वैधानिक कार्यवाही कर सकता है। यह बैंको के जमा स्वीकार करने से मना कर देता है, अधिक मितीकाटा दर पर उनके साख-पत्रों को स्वीकार करता है या उनके साख-पत्रों को स्वीकार ही नही करता। परन्तु केन्द्रीय बैंको के द्वारा इसका अधिक प्रयोग नही किया जाता।

(f) नैतिक प्रभाव (Moral Suation)—केन्द्रीय बैंक अन्य बैंको का अगुआ होने के नाते उन पर नैतिक प्रभाव भी डाल सकता है। केन्द्रीय बैंक सलाहों के द्वारा विभिन्न बैंकों को यह बताता है कि उनको क्या साख नीति अपनानी चाहिये। केन्द्रीय बैंक इस प्रकार से प्रभाव डालने में तभी समर्थ होता है जबकि सब बैंक यह जानते हों कि उसके बताए हुये मार्ग का अनुसरण न करने पर केन्द्रीय बैंक उनको अन्य प्रकार से मजबूर कर देगा।

(७) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राओं के कोष का सरक्षण (Custodian of the Nation's Reserves of International Currency)—स्वर्णमान (Gold Standard) के समाप्त हो जाने पर प्रत्येक देश मे स्वर्ण के स्थान पर विदेशी विनिमय को आन्तरिक कोष (Internal fund) मे रक्खा जाता है। केन्द्रीय बैंक ही इन कोषों को अपने पास रखता है और इसका प्रयोग विपरीत शोधनाशेष (Adverse blance of payments) की दशा में करता है।

(८) सूचनाओं और आंकड़ों को एकत्रित करना और प्रकाशित करना (Collection and Publication of Statistical and other Material)—नीति निर्धारण के लिये सूचनाओ व आंकडो की बहुत आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त देश की अर्थव्यवस्था की सही अवस्था को जानने के लिये तथा बैंकिंग व मुद्रा आदि के सम्बन्ध मे जानकारी करने के लिये भी आंकड़े बहुत सहायक होते हैं। आर्थिक नियोजन करने वाले देश के लिये तो आंकड़ों को आवश्यकता और भी अधिक है। इन सब कारणो से केन्द्रीय बैंक आर्थिक सूचनाओ व आंकड़ों को प्रकाशित करता है।

इस प्रकार से बैंक के यह महत्वपूर्ण कार्य हैं और प्रत्येक देश का केन्द्रीय बैंक इन कार्यों को करता है। यह कहना बहुत ही कठिन है कि इनमे से कौन सा कार्य सबसे महत्वपूर्ण है। वैसे विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने इनके अलग-अलग कार्यों को महत्वपूर्ण समझा है। कोई एक कार्य को महत्वपूर्ण समझता है तो दूसरा दूसरे कार्य को। हाट्रे (Hawtrey) 'केन्द्रीय बैंक के अन्तिम ऋणदाता' (Lender of the last resort) के काम को अधिक महत्व देता है तो वीरा स्मिथ (Vera Smith)

सरकारी प्रतिभूतियों या अन्य स्वीकृत अल्पकालीन प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण प्रदान कर सके या जो अन्य मान्य बिलों को दुबारा भुनाकर अग्रिम के रूप में संकट-कालीन मांग प्रदान कर सके।"[11]

★

Q. 111. "The one true, but at the same time all sufficing function of a central bank is control of credit." Shaw. Explain the importance of this function of the Central Bank and discuss the different courses open to a Central Bank to control credit in a country.

Q 112. How does a central bank control the credit institution of a country ? **(Raj. 1947, 1954)**

Q. 113. How does a central bank control currency and credit policy of a country ? **(Agra 1952)**

Q. 114. Point out the different causes open to a central bank to control currency and credit in a country. Illustrate your answer by reference to the steps taken by the Reserve Bank of India in the post-war period. **(Agra 1961)**

Q. 115. Briefly review the various ways in which a central bank controls currency and credit with particular reference to Indian conditions since 1951. **(Raj. 1964)**

यद्यपि यह कहना बहुत ही कठिन है कि केन्द्रीय बैंक का सबसे महत्वपूर्ण कार्य क्या है फिर भी यह कहा जा सकता है कि साख नियंत्रण केन्द्रीय बैंक का एक

---

11. "It should have the sole right of note-issue, it should be the channel, and the only channel, for the output and intake of legaltender currency. It should be the holder of all the Government balance, the holder of the reserves of other banks and the branches of banks in the country. It should be the agent, so to speak, through which the financial operations at home and abroad of the Government would be performed. It would further be the duty of the Central Bank to effet, as far as it could, suitable contraction and suitable expansion, in addition to aiming at general stability, and to maintain that stability within as well as without. When necessary it would be the ultimate source from which necessary credit might be obtained in the form of rediscounting of approved bills or advances on approved short securities of Government paper." Governor, Bank of England Vide Report of the Royal Commission on Indian Currency & Finance.

रूपरेखा

(१) केन्द्रीय बैंक का साख नियंत्रण का कार्य;

(२) साख नियन्त्रण के तरीके;
- (i) बैंक दर में परिवर्तन;
- (ii) खुले बाजार की क्रियाएँ;
- (iii) व्यापारिक बैंकों की न्यूनतम नकद निधि में परिवर्तन;
- (iv) साख का राशनिंग;
- (v) सीधी कार्यवाही;
- (vi) नैतिक दवाव;
- (vii) प्रतिभूति ऋणों की सीमा-आवश्यकता में परिवर्तन;
- (viii) उपभोक्ता साख का नियमन;
- (ix) प्रचार।

(३) साख नियन्त्रण नीति की सफलता के लिये आवश्यक बातें।

महत्वपूर्ण कार्य है। प्रो० शॉ (Shaw) ने तो इसको अत्यधिक महत्व दिया ही है परन्तु (De Kock) ने भी इसके महत्व को स्वीकार करते हुए लिखा है, "The control or adjustment of credit is accepted by most economists and bankers as the main function of a central bank." यह कार्य इतना अधिक महत्वपूर्ण है कि केन्द्रीय बैंक के अन्य कार्यों का सूत्रपात भी इसी कार्य से हुआ है क्योंकि इस बैंक के समस्त कार्यों का अन्तिम उद्देश्य साख व मुद्रा की मात्रा पर प्रभावपूर्ण व उचित नियन्त्रण रखना होता है। साख की मात्रा की स्थिरता पर ही बहुत सीमा तक मूल्य स्तर की स्थिरता (Stability of price level), विनिमय दर की स्थिरता (Stability of rate of exchange) उत्पत्ति, व्यापार व रोजगार में वृद्धि निर्भर करती है।

आधुनिक समय में तो बदली हुई अवस्थाओं के कारण बैंक के इस कार्य का महत्व और भी अधिक हो गया है। मूल्य स्तर व विनिमय दरों में स्थायित्व लाना तो बहुत पुराने उद्देश्य हैं। परन्तु अब इस बात पर अधिक महत्व दिया जाता है कि देश में तेजी काल व मन्दी काल न आने पाये। इन व्यापार चक्रों (तेजी काल व मंदी काल का बार-बार आना) के कुछ भी कारण हों—मौद्रिक व अमौद्रिक, परन्तु बहुत से अर्थशास्त्री यह मानते हैं कि केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति से इनको दूर किया जा सकता है। आर्थिक नियोजन को सफल बनाने के लिये तथा युद्ध के अत्यधिक व्यय को पूरा करने के लिये भी इस नीति की सहायता ली जाती है और इसीलिये विभिन्न देशों के केन्द्रीय बैंकों के नियमों में इस कार्य का उल्लेख अलग से कर दिया जाता है।

इस प्रकार केन्द्रीय बैंक का साख-नियन्त्रण का कार्य बहुत ही महत्वपूर्ण है तथा प्रत्येक देश का केन्द्रीय बैंक इसको करता है। इस कार्य को करने के लिये

केन्द्रीय बैंक के पास बहुत सी रीतियां हैं जिनका उपयोग वह समय-समय पर करता रहता है। इन रीतियों में से महत्वपूर्ण रीतियों का वर्णन यहां किया जाता है :—

बैंक दर (Bank Rate or Discount Rate)—बैंक दर में वृद्धि या कमी करके केन्द्रीय बैंक बाजार दर (Market Rate) व सूद की दर (Rate of Interest) को प्रभावित करता है जिससे साख की मात्रा मे भी परिवर्तन आ जाता है। बैंक दर का अभिप्राय उस दर से होता है जिस दर पर केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों व साख संस्थाओं का बिल भुनाने या सरकारी प्रतिभूतियों पर ऋण देने को तैयार रहता है। क्राउथर के अनुसार, "'Bank Rate' is the rate of interest charged by the Central Bank for loans made by it either to its Member Banks (in the United States) or to the Money Market (in England)"[1]

इस रीति का उपयोग सर्वप्रथम इंगलैंड में सन् १८३९ में किया गया था। स्वर्णमान काल में सन् १९१४ से पहले इसका उपयोग बहुत अधिकता व सफलता से किया जाता था। अर्थव्यवस्था में परिवर्तन के कारण इस रीति का उपयोग कम होता जा रहा है।

बैंक दर नीति का सिद्धान्त इस आधार पर स्थित है कि बैंक दर में परिवर्तन होने से अन्य सभी दरों में भी परिवर्तन होगा। इन अन्य दरों में परिवर्तन होने से द्रव्य की मांग व पूर्ति भी प्रचलित होगी तथा पूंजी के अन्तर्राष्ट्रीय आवागमन पर भी प्रभाव होगा। इससे देश के मूल्य स्तर, लागत, उत्पादन, व्यापार आदि में पुनः समायोजन (Re-adjustment) हो जायगा तथा देश के शोधनाशेष (Balance of payment) में भी जो असन्तुलन आ गया है, वह भी ठीक हो जायगा।

बैंक दर में वृद्धि हो जाने पर अन्य बाजार दरों (Market Rates) सूद की दर, (Rate of Interest), डिपोजिट रेट (Deposit Rate) व कॉल रेट (Call Rate) आदि सब में वृद्धि हो जाती है। इन सब दरों में वृद्धि हो जाने पर उधार लेना महंगा हो जाता है तथा बैंकों का साख का सृजन (Credit Creation) कम हो जाता है। इसमें साख का सकुंचन हो जाता है। साख की मात्रा कम होने से व्यापारिक व औद्योगिक कार्यों में शिथिलता आ जाती है जिसके परिणामस्वरूप मूल्य स्तर गिर जाता है तथा मजदूरी कम हो जाती है। दूसरी ओर विदेशों से पूंजी इस देश में आने लगती है जिससे विदेशी अल्पकालीन विनियोजन (Short term foreign investment) अधिक हो जाता है। बैंक दर की वृद्धि का प्रतिकूल प्रभाव विनिमय दर पर भी होता है। पूंजी के प्रवाह अपने देश में होने के कारण तथा अधिक निर्यातों के कारण अपने देश की मुद्रा की मांग बढ़ जाती है जिससे विनिमय दर पक्ष में हो जाती है तथा शोधनाशेष अनुकूल।

1. Crowther : An Outline of Money. page 208.

इसका महत्व कम होने पर इसका उपयोग पूर्णतया समाप्त नहीं हुआ है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना से विनिमय दर की स्थिरता व विभिन्न देशों की मुद्राओं में स्वतन्त्र परिवर्तनशीलता के उद्देश्य की स्थापना हो गई है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये बैंक व कटौती की दर में परिवर्तनों को सन्तुलन प्राप्त करने के साधन के रूप में लाना होगा क्योंकि प्रभाव उन विभिन्न बातों पर पड़ता है जिससे गलत प्रवृत्तियों के विकास को सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त इसका महत्व उस समय अधिक हो जाता है जब इसका प्रयोग अन्य साधनों के साथ किया जाता है, जैसा कि डी काक (De Kock) ने लिखा है, "There is good reason to believe that the official discount rate has nevertheless a useful function to conjuction with other measures of control."

खुले बाजार की क्रियायें (Open Market Operations)—खुले बाजार की क्रियाओं का उपयोग विस्तृत रूप से प्रथम महायुद्ध के बाद हुआ, यद्यपि इससे पहले

भी जर्मनी ने इसका उपयोग किया था। डी काकके अनुसार खुले बाजार की क्रियाओं का अर्थ दो प्रकार से लगाया जाता है—संकुचित अर्थ में तथा विस्तृत अर्थ में। संकुचित अर्थ में इसका उपयोग केवल सरकारी प्रतिभूतियों (Government Securities) के क्रय-विक्रय से लगाया जाता है परन्तु विस्तृत अर्थ में इसका उपयोग किसी भी प्रकार के साख-पत्रों के क्रय-विक्रय से होता है।[2] ग्रेट-ब्रिटेन व अमेरिका आदि में इसका उपयोग संकुचित अर्थ में ही किया जाता है।

संक्षेप में, खुले बाजार की क्रियाओं का सिद्धांत यह है कि जब केन्द्रीयबैंक खुले बाजार में प्रतिभूतियों को बेचता है या खरीदता है तो उसका प्रत्यक्ष प्रभाव देश में मुद्रा की मात्रा पर पड़ता है और साख में मात्रा के परिवर्तन होने से द्रव्य की पूर्ति में कमी या अधिकता हो जाती है। जब केन्द्रीय बैंक यह देखता है कि बाजार में साख की अधिकता है तो यह प्रतिभूतियों को बेचने लगता है। इन प्रतिभूतियों को लोग खरीदते हैं तथा उनके पास जो द्रव्य है वह केन्द्रीय बैंक के पास पहुँच जाता है। प्रतिभूतियों का भुगतान करने के लिये वे बैंक से द्रव्य निकालते हैं, जिससे बैंकों के पास जमा कम हो जाती है। इसका प्रभाव साख की मात्रा पर पड़ता है जो संकुचित हो जाती है तथा द्रव्य की पूर्ति कम हो जाने के कारण सूद की दर में भी वृद्धि हो जाती है। इससे देश के आन्तरिक मूल्य-स्तर, लागत, उत्पादन व व्यापार आदि में समायोजन हो जाता है। इसके विपरीत जब केन्द्रीय बैंक साख व चलन में वृद्धि करना चाहता है तो प्रतिभूतियों को खरीदने लगता है।

बैंक की दर की तुलना में यह रीति अधिक दृढ़ व सक्रिय है। जबकि बैंक दर के प्रभाव द्रव्य व साख पर अप्रत्यक्ष होते हैं, खुले बाजार की क्रियाओं के प्रभाव प्रत्यक्ष व तत्कालीन होते है। सूद की दरों, द्रव्य व साख की मात्रा आदि पर इन क्रियाओं का प्रभाव तुरन्त होता है। अक्सर इसका प्रयोग उस समय किया जाता है जबकि बैंक दर का सिद्धांत कार्यशील नहीं होता तथा देश के अन्य बैंक केन्द्रीय बैंक पर निर्भर नहीं करते। परन्तु अब इसका प्रयोग स्वतन्त्र प्रणाली के रूप में भी किया जाने लगा है।

खुले बाजार की क्रियाओं की सफलता के लिये कुछ बातों का होना आवश्यक है। सर्वप्रथम तो यह आवश्यक है कि केन्द्रीय बैंक की क्रियाओं के परिणामस्वरूप

2. "In the wider sense, open market operation may be held to cover the purchase or sale by the central bank in the market of any kind of paper in which it deals, whether Government securties or other securities or bankers' acceptances or foreign exchange generally. In Great Britain, United States and a few other countries, however, the term open market operations has come to be applied only to the purchase or sale of Government securities both long-term and short-term, and also only to the cut-right purchase or sale thereof." De Kock Central Banking. page 192

बैंकों के कोषों में वृद्धि या कमी होनी चाहिये। यदि प्रतिभूतियों को खरीदने के लिये लोग बैंक से द्रव्य नहीं निकालते या प्रतिभूतियों के बेचने पर द्रव्य को बैंक में जमा नहीं कराते तो यह प्रणाली सफल नहीं हो पायेगी। दूसरे, बैंकों के नकद कोषों में परिवर्तन होने से साख की मात्रा में भी उसी अनुपात से परिवर्तन होना चाहिये। यदि नकद कोषों के बढ़ने पर बैंक अधिक साख की वृद्धि नहीं करेंगे तो यह प्रणाली अधिक सफल नहीं हो सकेगी। तीसरे, द्रव्य की मात्रा में वृद्धि होने पर साख की मांग में भी वृद्धि होनी चाहिये। यदि उत्पादक अपनी ऋण लेने की नीति में परिवर्तन कर देते हैं तो केन्द्रीय बैंक अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाता। चौथे, केन्द्रीय बैंक के पास क्रय-विक्रय के लिये यथेष्ट प्रतिभूतियाँ होनी चाहियें। अन्त में, बैंक साख के चलन के वेग (Velocity) में भी किसी प्रकार का आनुपातिक परिवर्तन नहीं होना चाहिये।

बहुत बार उपरोक्त दशाओं में परिवर्तन हो जाता है और अन्य बैंक केन्द्रीय बैंक की क्रिया के उद्देश्य के अनुसार साख की मात्रा में वृद्धि या कमी नहीं करते परन्तु साधारणतया व्यवहारिक जीवन में यह सब बातें मिल जाती हैं और इस क्रिया का प्रभाव बहुत सीमा तक केन्द्रीय बैंक की इच्छानुसार होता है।

साख नियन्त्रण की अन्य रीतियां (Other methods of Credit Control)
बैंक दर व खुले बाजार की क्रियायें साख को नियन्त्रित करने की मुख्य रीतियाँ हैं जिनका प्रयोग विभिन्न केन्द्रीय बैंकों ने विभिन्न समय पर किया है। इनके अतिरिक्त आधुनिक समय में अन्य साधनों का भी महत्व बढ़ता जा रहा है। वे साधन यह हैं—

व्यापारिक बैंकों की न्यूनतम नकद निधि में परिवर्तन (Changes in the Minimum Cash Reserves of the Commercial Banks)—यह साख को नियन्त्रित करने की आधुनिक रीति है जिसका विकास अमेरिका में सन् १९३३ लगभग हुआ तथा इसी देश ने इस रीति का प्रयोग सर्वप्रथम सन् १९३६ में किया। इस प्रणाली के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक को यह अधिकार दे दिया जाता है कि वह बैंकों से अधिक नकद निधि जमा कराने के लिये कह दे। इस प्रकार से बैंक के पास नकद की मात्रा कम हो जाती है तथा वह साख कम मात्रा में दे सकता है। इसी प्रकार से नकद निधि के अनुपात को घटा देने पर बैंक अधिक साख को उत्पन्न कर सकते हैं।

साख नियन्त्रण की प्रत्यक्ष रीति होते हुये भी इसमें कुछ दोष हैं। बर्गेस (Burgess) के अनुसार सभी बैंकों के पास नकद कोषों का सामान वितरण न होगा। किसी के पास अधिक नकदी होगी किसी के पास कम। अतः इस प्रथा के प्रभाव सब बैंकों पर समान नहीं होंगे। छोटे बैंकों को इससे हानि होगी। इसके अतिरिक्त यह एक कठोर नीति है, जिसका प्रभाव सभी व्यापारिक बैंकों पर

केवल उन बैंकों पर नहीं जो गलत प्रकार से साख निर्माण करते हैं। अन्त में, इसके परिणामस्वरूप द्रव्य की पूर्ति में तो कमी या वृद्धि हो जाती है परन्तु यह आवश्यक नहीं कि बैंकों की साख की मात्रा में भी कमी या वृद्धि हो जाय। इसलिये डी काक (De Kock) ने कहा है कि इसका उपयोग सावधानीपूर्वक होना चाहिये। इन सीमाओं के होते हुये भी वरगैस ने माना है कि केन्द्रीय बैंक के साख नियन्त्रण यन्त्रों में यह सबसे महत्वपूर्ण वृद्धि है।

साख की राशनिंग (Credit Rationing)—इस रीति के अनुसार केन्द्रीय बैंक प्रत्येक बैंक का कोटा निश्चित कर देता है कि उसको अधिक से अधिक कितना ऋण दिया जा सकता है। साख निर्माण की भी एक अधिकतम सीमा निश्चित कर दी जाती है और प्रत्येक बैंक के लिये कोटा निश्चित कर दिया जाता है, जिससे अधिक का वह साख निर्माण नहीं कर सकता। इस प्रणाली का उपयोग इंगलैंड में प्रारम्भ हुआ था, जहाँ पर केन्द्रीय बैंक कानून के कारण दर को अधिक ऊँचा नहीं उठा सकता था, परन्तु बैंकों की ऋण की माग अधिक थी। यह प्रणाली बहुत प्रभावशाली है, परन्तु इसको ठीक प्रकार से चलाने में बहुत सी व्यवहारिक कठिनाइयां हैं, जैसे केन्द्रीय बैंक यह अनुमान ठीक-ठीक किस प्रकार से लगाये कि किस व्यवसाय या साख सस्था की आवश्यकता कितनी है ? इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक अपनी शक्ति का दुरुपयोग भी कर सकता है और किसी विशेष बैंक के प्रति पक्षपात दिखा सकता है। परन्तु फिर भी विभिन्न देशों ने इस रीति का सहारा लिया है। फ्रांस ने सन् १९४८ में इसका प्रयोग किया। कटजेनीलनबाम (Katzenellenbaum) के अनुसार, रूस का स्टेट बैंक (State Bank of U. S. S. R.) समय-समय पर इस रीति का उपयोग करता रहता है। जर्मनी ने भी इसका उपयोग किया था। इसका प्रयोग केवल विकसित व पूर्ण नियन्त्रण वाली अर्थव्यवस्थाओं द्वारा ही नहीं किया जाता बल्कि पिछड़े देश भी इसका प्रयोग करते हैं। वेजमन के अनुसार, "Even more primitive economic conditions, the setting of credit quotas is the only decisive method which the Central Bank has in order to prevent excessive credit demands on the part of business"[4] मेक्सिको का केन्द्रीय बैंक इसका प्रयोग साख नियन्त्रण के एक मुख्य तरीके के रूप में करता है।

सीधी कार्यवाही (Direct Action)—इस नीति का सम्बन्ध केन्द्रीय बैंक व किसी विशेष बैंक से होता है, जब कि बैंक दर आदि अन्य रीतियों का सम्बन्ध किसी विशेष बैंक से नहीं होता। जब केन्द्रीय बैंक यह देखता है कि कोई बैंक केन्द्रीय बैंक की नीति के अनुसार कार्य कर रहा है या उसकी नीति के विपरीत कर रहा

4. Wagemann : Wirthachsptspolitische Strategie. p p. 321–25 quoted by De Kock op. cit.

financial position. It was due to its great moral influence in the world of finance."

प्रतिभूति ऋणों की सीमा-आवश्यकता में परिवर्तन (Changes in Marginal Requirements on Security Loans)—इस प्रणाली का प्रारम्भ भी अमेरिका में किया गया। इस रीति के प्रयोग का उद्देश्य सट्टे के कार्यों के लिये दिये जाने वाले साख की मात्रा को नियन्त्रित करना होता है। इस रीति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को समय-समय पर आदेश देता है कि वह सट्टे के कार्यों के लिये प्रतिभूतियों के आधार पर दिए जाने वाले ऋण पर कितनी सीमा रखें। जब इस सीमा को बढ़ा दिया जाता है तो सटोरिये कम ऋण लेने सकते हैं। भारत में गेहूँ के स्टाक के आधार पर दिये जाने वाले ऋण के सम्बन्ध में इस प्रणाली का प्रयोग किया था।

उपभोक्ता साख का नियमन (Regulation of Consumer's Credit)—इस प्रणाली का उपयोग द्वितीय महायुद्ध में अमेरिका में वस्तुओं के बढ़ते हुए मूल्य को रोकने के लिये तथा युद्धकाल में वस्तुओं की माँग को कम करने के लिये किया गया था। केन्द्रीय बैंकिंग प्रणाली को यह अधिकार दे दिया था कि वह ऐसे नियम बनाए कि जिनके आधार पर उपभोक्ताओं को किश्तों पर थोड़ी-थोड़ी करके साख सुविधायें दी जा सकें। इस प्रकार की व्यवस्था में ऋण का कुछ भाग नकदी में देना पड़ता है, जिससे साख का निर्माण एक निश्चित सीमा से अधिक नहीं होने पाता है। कनाडा, इंगलैंड आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड तथा बेलजियम आदि देशों ने भी इस रीति का प्रयोग किया था। बहुत से देशों में इस रीति का इतना विकास हो गया है कि सामान्य आर्थिक अवस्था में व्यापार चक्रों के कारण आने वाले मूल्यों के उच्चावचन को कम से कम किया जाए।

प्रचार (Publicity)—इस रीति का प्रयोग प्रजातन्त्रवाद के साथ-साथ अधिक हो रहा है। आजकल प्रत्येक प्रश्न पर जनमत अपने पक्ष में करने का प्रयत्न किया जाता है। इसका प्रभाव केन्द्रीय बैंक पर भी पड़ा है। केन्द्रीय बैंक समय-समय पर व्यापार, उद्योग, बैंक, साख, द्रव्य सम्बन्धी आँकड़े व सूचनायें प्रकाशित करता रहता है। इससे केन्द्रीय बैंक जनता को यह बताने का प्रयत्न करता है कि देश के हित में कौन सी नीति उपयुक्त है और कौन सा बैंक उसका पालन ठीक से नहीं कर रहा है। अमेरिका में इसका प्रयोग बहुत अधिक किया गया है, परन्तु अब जनता की रुचि मौद्रिक एवं बैंकिंग प्रश्नों में बढ़ जाने के कारण प्रत्येक देश का केन्द्रीय बैंक विस्तार के साथ इसका प्रयोग करता है।

Secondary Reserve Requirements for member banks—यह रीति भी अमेरिकन है तथा सन् १९४५ में इसका वहाँ उपयोग किया गया था। इस रीति के अनुसार केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों को इस प्रकार का आदेश दे देता है कि अपने कोषों का कितना भाग वे सरकारी प्रतिभूतियों व अन्य तरल सम्पत्तियों में लगायें।

है तो वह उस बैंक के विरुद्ध प्रत्यक्ष कार्यवाही करता है। प्रत्यक्ष कार्यवाही निम्न-लिखित में से किसी भी प्रकार का रूप ले सकती है :—

(१) जो बैंक केन्द्रीय बैंक की नीति से सहयोग न करे उसके विनिमय-पत्रों को भूनाने से इन्कार करना;

(२) जिस बैंक ने अधिक ऋण ले रखा है उसे ऋण न देना;

(३) मौद्रिक दण्ड के रूप में साधारण दर से अधिक दर पर बिल आदि को भुनाना।

साख नियन्त्रण की यह नीति अधिक अच्छी नहीं है, क्योंकि व्यापारिक बैंक स्वयं साख के उपभोग पर नियन्त्रण नहीं रख सकते। केन्द्रीय बैंक 'अन्तिम ऋणदाता' (Lender of the Last Resort) है और ऋण देने से मना करने व बैंक के इस कार्य में समन्वय स्थापित करना कठिन हो जाता है। केन्द्रीय बैंक भी इस रीति का उपयोग उस समय कर सकता है जब बैंकों के पास धन की कमी हो तथा वे केन्द्रीय बैंक से उधार मांगे।

नैतिक दबाव (Moral Suation)—यह भी एक प्रकार की सीधी कार्यवाही है, परन्तु इसमें व सीधी कार्यवाही में यह भेद है कि अन्तिम में शक्ति का प्रयोग भी किया जाता है, परन्तु प्रथम में नहीं। केन्द्रीय बैंक मुद्रा बाजार का सबसे अनुभवी एवं प्रभावशाली सदस्य है और इसलिये वह विभिन्न बैंकों को समझाबुझा कर, प्रार्थना करके तथा नैतिक दबाव डाल कर विभिन्न बैंकों को अपनी नीति के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य कर सकता है। यही नैतिक दबाव की नीति है। बरगैस के अनुसार, "The Reserve Banks may at times exercise an important influence on the general credit situation through the informal suggestions which they may make to bankers."[5] कुछ लोग उसकी आलोचना करते हैं कि केन्द्रीय बैंक की प्रार्थना का व्यापारिक बैंकों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा। परन्तु फिर भी इसका एक लाभ यह तो है ही कि इसके परिणामस्वरूप वह प्रतिकूल मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया नहीं होने पाती, जो सीधी कार्यवाही के कारण होती है। इससे बैंकों से मित्र भावना बनी रहती है। यह प्रणाली केवल उसी देश में सफल हो सकती है जहाँ बैंकिंग संस्थायें कम हों तथा उनका केन्द्रीय बैंक से घनिष्ठ सम्बन्ध हो।

नैतिक दबाव का उपयोग विभिन्न देशों में किया गया है। इंगलैंड, फ्रांस, स्वीडन, हालैंड आदि में इसका महत्व अधिक है, जहाँ पर केन्द्रीय बैंक का नेतृत्व अधिक है। १६४४ में बैंक ऑफ इंगलैंड की २५० वीं वर्षगाँठ पर वित्त मन्त्री ने कहा था, "The position of the Bank to-day was not, however, entirely due to the excellence of its technique or to the sheer strength of its

5. W. K. Burgess : Reserve Banks and the Money Market. page 257.

financial position. It was due to its great moral influence in the world of finance."

प्रतिभूति ऋणों की सीमा-आवश्यकता में परिवर्तन (Changes in Marginal Requirements on Security Loans)—इस प्रणाली का प्रारम्भ भी अमेरिका में किया गया। इस रीति के प्रयोग का उद्देश्य सट्टे के कार्यों के लिये दिये जाने वाले साख की मात्रा को नियन्त्रित करना होता है। इस रीति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को समय-समय पर आदेश देता है कि वह सट्टे के कार्यों के लिये प्रतिभूतियों के आधार पर दिए जाने वाले ऋण पर कितनी सीमा रखें। जब इस सीमा को बढ़ा दिया जाता है तो व्यापारी कम ऋण ले सकते हैं। भारत में गेहूँ के स्टाक के आधार पर दिये जाने वाले ऋण के सम्बन्ध में इस प्रणाली का प्रयोग किया था।

उपभोक्ता साख का नियमन (Regulation of Consumer's Credit)—इस प्रणाली का उपयोग द्वितीय महायुद्ध में अमेरिका में वस्तुओं के बढ़ते हुए मूल्य को रोकने के लिये तथा युद्धकाल में वस्तुओं की माँग को कम करने के लिये किया गया था। केन्द्रीय बैंकिंग प्रणाली को यह अधिकार दे दिया था कि वह ऐसे नियम बनाए कि जिनके आधार पर उपभोक्ताओं को किश्तों पर थोड़ी-थोड़ी करके साख सुविधायें दी जा सकें। इस प्रकार की व्यवस्था में ऋण का कुछ भाग नकदी में देना पड़ता है, जिससे साख का निर्माण एक निश्चित सीमा से अधिक नहीं होने पाता है। कनाडा, इंग्लैंड, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड तथा बेल्जियम आदि देशों में भी इस रीति का प्रयोग किया था। बहुत से देशों में इस रीति का इतना विकास हो गया है कि सामान्य आर्थिक व्यवस्था में व्यापार चक्रों के कारण आने वाले मूल्यों के उच्चावचन को कम से कम किया जाए।

प्रचार (Publicity)—इस रीति का प्रयोग प्रजातन्त्रवाद के साथ-साथ अधिक हो रहा है। आजकल प्रत्येक प्रश्न पर जनमत अपने पक्ष में करने का प्रयत्न किया जाता है। इसका प्रभाव केन्द्रीय बैंक पर भी पड़ा है। केन्द्रीय बैंक समय-समय पर व्यापार, उद्योग, बैंक, साख, द्रव्य सम्बन्धी आँकड़े व सूचनायें प्रकाशित करता रहता है। इससे केन्द्रीय बैंक जनता को यह बताने का प्रयत्न करता है कि देश के हित में कौन सी नीति उपयुक्त है और कौन सा बैंक उसका पालन ठीक से नहीं कर रहा है। अमेरिका में इसका प्रयोग बहुत अधिक किया गया है, परन्तु अब जनता की रुचि मौद्रिक एवं बैंकिंग प्रश्नों में बढ़ जाने के कारण प्रत्येक देश का केन्द्रीय बैंक विस्तार के साथ इसका प्रयोग करता है।

Secondary Reserve Requirements for member banks—यह रीति भी अमेरिकन है तथा सन् १९४५ में इसका वहाँ उपयोग किया गया था। इस रीति के अनुसार केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों को इस प्रकार का आदेश दे देता है कि अपने कोषों का कितना भाग वे सरकारी प्रतिभूतियों व अन्य तरल सम्पत्तियों में लगायें।

दूसरे बैंकों के पास उधार देने के लिए कोष कम रह जाते हैं तथा वे साख का सृजन कम कर पाते हैं। अमेरिका के अतिरिक्त भारत, फ्रांस, नार्वे, स्वीडन, हालैंड, मैक्सिको आदि देशों ने भी इसका प्रयोग किया।

इस प्रकार से यह साख नियन्त्रण की विभिन्न प्रणालियाँ हैं, जिनका उपयोग समय-समय पर परिस्थिति के अनुसार किया गया है। परन्तु एक बात स्पष्ट है कि केन्द्रीय बैंक साख पर पूरा नियन्त्रण नहीं रख सकता। इस सम्बन्ध में बहुत सी कठिनाइयाँ हैं, जो बैंक के सामने आती हैं। केन्द्रीय बैंक केवल बैंक साख को ही नियन्त्रित कर सकता है, अन्य प्रकार की साख को नहीं। देश की समस्त साख संस्थायें भी केन्द्रीय बैंक के प्रत्यक्ष प्रभाव में नहीं होतीं। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक साख के अन्तिम उपयोग पर नियन्त्रण नहीं रख सकता। यह हो सकता है कि साख व्यापार के लिए ली जाय, परन्तु उसका उपयोग सट्टे के लिये किया जाय। क्राउथर ने केन्द्रीय बैंक की 'बैंक नियन्त्रण के अधिकार' पर विचार करते हुए लिखा है, "There are thus limits on the Central Bank's ability to control the volume of money in existence in the country. But they are broad and elastic limits ... Over the quantitative aspects of money in a modern state the 'control of the central bank is vety great. To the question, 'What determines the quantity of money in existence ?' the answer is, "The policy of the central bank, using its free discreation within limits that are normally very broad ... On its own field the central bank is clearly a dictator.'[6]

साख नियन्त्रण कार्य को सफल बनाने के लिए केन्द्रीय बैंकों को देश की समस्त बैंकिंग संस्थाओं का सहयोग प्राप्त करना चाहिए और उनका नेतृत्व करना चाहिए। दूसरे देशों के मुद्रा अधिकारियों का सहयोग भी बहुत आवश्यक है। इसके अतिरिक्त साख नियंत्रण को सफल बनाने के लिये सरकार की वित्तीय नीति का भी सहारा लेना चाहिये। जैसे मंदीकाल को दूर करने के लिये साख का विस्तार तो आवश्यक है ही, साथ ही सरकार को घाटे की वित्त-व्यवस्था (deficit financing) से सार्वजनिक कार्यों व उपक्रमों को चला कर तथा कर की दरों में कमी करके व्यापार को भी प्रोत्साहन देना चाहिये। विनियोजन को नियन्त्रित करके भी केन्द्रीय बैंक की सहायता की जा सकती है।

Q. 116. Assess the efficacy of the bank rate as an instrument of credit control. Do you consider it appropriate at the present moment to increase the bank rate in India to control inflation ? (Agra 1963)

6. Crowther : An Out line of Money, Page 58.

Q. 117. Write a careful note on the efficacy of the Bank Rate in the light of the changes that have been made in recent years in Bank Rates (Vikram 1963)

यद्यपि यह कहना बहुत ही कठिन है कि केन्द्रीय बैंक का सबसे महत्वपूर्ण कार्य क्या है फिर भी यह कहा जा सकता है कि साख नियन्त्रण केन्द्रीय बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य है। प्रो० शॉ (Shaw) ने तो इसको अत्यधिक महत्व दिया ही है परन्तु डी काक (De Kock) ने भी इसके महत्व को स्वीकार करते हुये लिखा है, "The control or adjustment of credit is accepted by most economists and bankers as the main function of a central bank." यह कार्य इतना अधिक महत्वपूर्ण है कि केन्द्रीय बैंक के अन्य कार्यों का सूत्रपात भी इसी कार्य से हुआ है क्योंकि इस बैंक के समस्त कार्यों का अन्तिम उद्देश्य साख व मुद्रा की मात्रा पर प्रभावपूर्ण व उचित नियन्त्रण रखना होता है। साख की मात्रा की स्थिरता पर ही बहुत सीमा तक मूल्य स्तर की स्थिरता (Stability of price level), विनिमय दर की स्थिरता (Stability of rate of exchange) उत्पत्ति, व्यापार व रोजगार में वृद्धि निर्भर करती है।

रूपरेखा

(१) केन्द्रीय बैंक का साख नियंत्रण का कार्य व इस कार्य का महत्व।

(२) बैंक दर का अर्थ व इसके द्वारा साख नियन्त्रण।

(३) बैंक दर की रीति की सफलता के लिये आवश्यक बातें।

(४) बैंक दर की रीति के महत्व में कमी के कारण।

(५) आधुनिक समय में इस रीति का प्रयोग।

(६) भारत में समय-समय पर बैंक दर में परिवर्तन।

आधुनिक समय में तो बदली हुई अवस्थाओं के कारण बैंक के इस कार्य का महत्व और भी अधिक हो गया है। मूल्य स्तर व विनिमय दरों में स्थायित्व लाना तो बहुत पुराने उद्देश्य हैं। परन्तु अब इस बात पर अधिक महत्व दिया जाता है कि देश में तेजी काल व मन्दी काल न आने पायें। इन व्यापार चक्रों (तेजी काल व मंदी काल व बार-बार आना) के कुछ भी कारण हों—*मौद्रिक व अमौद्रिक*, परन्तु बहुत से अर्थशास्त्री यह मानते हैं कि केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति से इनको दूर किया जा सकता है। आर्थिक नियोजन को सफल बनाने के लिये तथा युद्ध के अत्यधिक व्यय को पूरा करने के लिये भी इस नीति की सहायता ली जाती है और इसी लिये विभिन्न देशों के केन्द्रीय बैंकों के नियमों में इस कार्य का उल्लेख अलग से कर दिया जाता है।

इस प्रकार केन्द्रीय बैंक का साख-नियन्त्रण का कार्य बहुत ही महत्वपूर्ण है तथा प्रत्येक देश का केन्द्रीय बैंक इसको करता है। इस कार्य को करने के लिये

इस रीति का उपयोग सर्वप्रथम इंग्लैंड ने सन् १८३९ में किया गया था। इंगलैंड बैंक ने सन् १९१४ से पहले इसका उपयोग बहुत अधिकता व सफलता से किया जाता था। अर्थव्यवस्था में परिवर्तन के कारण इस रीति का उपयोग कम होता जा रहा है।

बैंक दर नीति का सिद्धान्त इस आधार पर स्थित है कि बैंक दर में परिवर्तन होने से अन्य सभी दरों में भी परिवर्तन होगा। इन अन्य दरों में परिवर्तन होने से द्रव्य की माँग व पूर्ति भी प्रभावित होगी तथा पूंजी के अन्तर्राष्ट्रीय आवागमन पर भी प्रभाव होगा। इससे देश के मूल्य स्तर, लागत, उत्पादन, व्यापार आदि में पुनः समायोजन (Readjustment) हो जायगा तथा देश के शोधनाशेष (Balance of payment) में भी जो असन्तुलन आ गया है, वह भी ठीक हो जायगा।

बैंक दर में वृद्धि हो जाने पर अन्य बाजार दरों (Market Rates) सूद की दर, (Rate of Interest), डिपोजिट रेट (Deposit Rate) व कॉल रेट (Call Rate) आदि सब में वृद्धि हो जाती है इन सब दरों में वृद्धि हो जाने पर उधार लेना महंगा हो जाता है तथा बैंकों को साख का सृजन (Credit Creation) कम हो जाता है। इससे साख का संकुचन हो जाता है। साख की मात्रा कम होने से व्यापारिक व औद्योगिक कार्यों में शिथिलता आ जाती है जिसके परिणामस्वरूप मूल्य स्तर गिर जाता है तथा मजदूरी कम हो जाती है दूसरी ओर विदेशों से पूंजी इस देश में आने लगती है जिससे विदेशी अल्पकालीन विनियोजन (Short-term foreign investment) अधिक हो जाता है। बैंक दर की वृद्धि का प्रतिकूल प्रभाव विनिमय दर पर भी होता है। पूंजी के प्रवाह अपने देश में होने के कारण तथा अधिक निर्यातों के कारण अपने देश की मुद्रा की माँग बढ़ जाती है जिससे विनिमय दर पक्ष में हो जाती है तथा शोधनाशेष अनुकूल।

---

1. Crowther : An Outline of Money. page 208.

बैंक दर के इन प्रभावों को सफल बनाने के लिये कुछ बातों का होना बहुत आवश्यक है। सर्वप्रथम तो, बैंक दर के परिवर्तन का सीधा प्रभाव अन्य बाजार दरों पर तथा साख अवस्थाओं पर पड़ना चाहिए। दूसरे, देश की अर्थव्यवस्था में पर्याप्त लोच होनी चाहिये जिससे कि बैंक दर की प्रतिक्रिया मूल्यों, मजदूरी, लगान, उत्पादन व व्यापार आदि पर पूर्ण रूप से पड़े। तीसरे पूंजी के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह पर किसी प्रकार का कृत्रिम बन्धन नहीं होना चाहिये। इन सब बातों से स्पष्ट है कि बैंक दर की सफलता के लिये सुसंगठित मुद्रा बाजार का होना बहुत आवश्यक है।

प्रथम महायुद्ध के बाद से बैंक दर नीति का महत्व बहुत कम हो गया है क्योकि सर्वप्रथम द्रव्य-बाजार तथा आर्थिक ढांचे मे कुछ टेक्नीकल परिवर्तन आ गये हैं जैसा कि विनिमय बिल (Bill of Exchange) के स्थान पर अधिविकर्ष सुविधा (Overdraft Facility) का अधिक प्रयोग होने लगा है और द्रव्य बाजार में ट्रेजरी बिल का महत्व बढ़ गया है। दूसरे, बैंक दर उसी दशा में सफल हो सकती है जब अन्य बैंक पूर्णतया केन्द्रीय बैंक पर ऋण के लिये निर्भर करें। परन्तु आजकल स्वयं बैंकों के पास इतने पर्याप्त कोष होते हैं कि केन्द्रीय बैंक के ऋण का कोई विशेष महत्व उनके लिये नही होता। तीसरे, साख नियन्त्रण के अधिक सफल और सप्रभावित उपायो के अधिक प्रयोग के कारण भी बैंक दर का महत्व घट गया है। चौथे, संसार के सभी देशो ने सस्ती व सुलभ मुद्रा नीति को अपनाया हुआ है, जिसमे बैंक दर को नीचा ही रक्खा जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य बैंक अपनी सूद की दर एक सीमा तक तो घटा सकते हैं परन्तु उसके उपरान्त नीचे नही गिरा सकते क्योंकि व्यापारिक बैंकों का उद्देश्य लाभ कमाना होता है। अन्त मे, बैंक दर का प्रभाव तीव्र तेजी काल व तीव्र मन्दी काल की अवस्थाओं मे नहीं होता क्योंकि प्रथम अवस्था मे व्यापारी किसी भी दर पर उधार लेने को तैयार हो जाता है तथा दूसरी अवस्था मे किसी भी दर पर ऋण लेना नही चाहता।

इसका महत्व कम होने पर भी इसका उपयोग पूर्णतया समाप्त नहीं हुआ है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना से विनिमय दर की स्थिरता व विभिन्न देशो की मुद्राओं में स्वतन्त्र परिवर्तनशीलता के उद्देश्य की स्थिरता हो गयी है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये बैंक व कटौती की दर मे परिवर्तनो को सन्तुलन प्राप्त करने के साधन के रूप मे प्रयोग में लाना होगा क्योंकि प्रभाव उन विभिन्न बातो पर पड़ता है जिससे गलत प्रवृत्तियों के विकास को सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त इसका महत्व उस समय अधिक हो जाता है जब इसका प्रयोग अन्य साधनों के साथ किया जाता है जैसा कि डी काक (De Kock) ने लिखा है, "There is good reason to believe that the official discount rate has nevertheless a useful function to conjuction with other measures of control."

बैंक दर का उद्देश्य साख नियन्त्रण के साथ-साथ देश में आर्थिक स्थिरता को बनाए रखना भी है। बैंक दर को कम कर देने से ब्याज की दर कम हो जाती है जिससे उत्पादक वर्ग अधिक विनियोग करने की ओर प्रोत्साहित होता है। इससे रोजगार बढ़ता है और लोगों की आय में वृद्धि होती है अधिक मांग होती है और मूल्य बढ़ने लगते हैं। इसके विपरीत बैंक दर को बढ़ा देने से सूद की दर बढ़ जाती है जिससे विनियोजन कम होता है, लोगों की आय व मांग गिरती है और मूल्य गिरने लगते हैं। इसलिए मंदीकाल में बैंक दर को गिराया जाता है और तेजी काल में बैंक दर को बढ़ाया जाता है।

भारत में रिजर्व बैंक के स्थापित होने पर बैंक दर ३ प्रतिशत थी। परन्तु युद्धकाल के बाद मुद्रा-स्फीति के कारण बैंक दर में वृद्धि करना आवश्यक हो गया। सन् १९५१ में बैंक दर को ३ प्रतिशत से बढ़ाकर ३½ प्रतिशत कर दिया। सन् १९५७ में बैंक दर को ४ प्रतिशत कर दिया गया। इस मात्रा में बहुत वृद्धि हो रही जो मुद्रा-स्फीति को और भी तीव्र बना रही थी। इस समय की बैंक दर में वृद्धि का मुख्य उद्देश्य साख की मात्रा को कम करना था जो कि १९५७ में ८८० करोड़ रुपये थी। इस वृद्धि के परिणामस्वरूप आगामी व्यस्त काल में बैंक साख में कुल लगभग ७५ करोड़ रुपए की वृद्धि हुई जबकि गत वर्ष १५१ करोड़ रुपए की हुई थी।

सन् १९६० में बैंक ने दुर्लभ मुद्रा नीति को और भी अधिक आगे बढ़ाया। १ अक्टूबर १९६० में नई नीति की घोषणा की गई। इस व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक बैंक का कोटा निर्धारित कर दिया गया। इस कोटे की सीमा तक बैंक को ४ प्रतिशत पर उधार मिलता था। इसके ऊपर कोटे के २०० प्रतिशत तक ब्याज की दर बैंक दर से १ प्रतिशत अधिक (अर्थात् ५%) और इससे भी अधिक ऋण लेने पर बैंक दर से २ प्रतिशत अधिक (अर्थात् ६%) रखी गई।

सन् १९६३ में बैंक दर को ४ प्रतिशत से बढ़ाकर ४½ प्रतिशत कर दिया गया। इसके पश्चात् भी मुद्रा स्फीति में रोक नहीं लगी और बैंक साख में वृद्धि होती रही। इसलिए सन् १९६५ में बैंक दर को बढ़ा कर ६ प्रतिशत कर दिया गया। बैंक दर को बढ़ाने का उद्देश्य मुद्रा स्फीति को रोकना इतना अधिक नहीं है जितना कि विनियोजन के लिए अधिक कोषों को आकर्षित करना। इस समय बैंक दर में वृद्धि आवश्यक थी क्योंकि बहुत से विदेशी केन्द्रीय बैंकों ने अपनी बैंक दरों में वृद्धि कर दी थी। विदेशी पूँजी को आकर्षित करने के लिये यहाँ पर ऊँची सूद की दरों का होना आवश्यक था।

Q. 117. Enumerate the main difficulties in the way of and limitation to Central Bank's power of controlling credit, especially in an underdeveloped country. (Agra 1965, 1962, Jabalpur 1965.)

Q. 118. "On India the usual methods of credit control are not operative in an effective manner." Discuss. [Vikram 1962]

केन्द्रीय बैंक का देश की अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान होता है। इसलिये इसको इस प्रकार के कार्य करने होते हैं जिन पर देश की आर्थिक स्थिरता व सुव्यवस्था निर्भर करती है। इन कार्यों मे से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है साख नियन्त्रण (Credit control)। यह कार्य इतना महत्वपूर्ण है कि केन्द्रीय बैंक के अन्य कार्यों का सूत्रपात भी इस कार्य से, हुआ है क्योंकि इस बैंक के समस्त कार्यों का अन्तिम उद्देश्य साख व मुद्रा की मात्रा पर प्रभावपूर्ण व उचित नियन्त्रण रखना होता है। आधुनिक समय मे तो बदली हुई अवस्थाओ के कारण बैंक का यह कार्य और भी अधिक महत्वपूर्ण हो गया है क्योंकि देश मे आर्थिक स्थिरता को बनाये रखने के लिये केन्द्रीय बैंक को मौद्रिक नीति का सहारा लिया जाता है।

केन्द्रीय बैंक अपने इस कार्य को पूरा करने के लिए विभिन्न तरीके अपनाता है जो कि समय, परिस्थिति तथा देश के अनुसार बदलते रहते हैं। साख नियन्त्रण के मुख्य तरीके ये हैं: बैंक दर मे परिवर्तन करना, खुले बाजार की क्रियायें, सचित अनुपातों मे परिवर्तन करना, साख का राशनिग, वैधानिक कार्यवाही, नैतिक प्रभाव, प्रचार तथा प्रतिभूति ऋणों की सीमा आवश्यकता में परिवर्तन करना।

केन्द्रीय बैंक का यह कार्य यद्यपि बहुत महत्वपूर्ण है परन्तु इन कार्यों को पूरा करने में इसको बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। ये कठिनाइयाँ अविकसित देशों में तो और भी बढ जाती है। साख नियन्त्रण के सम्बन्ध में केन्द्रीय बैंक के सम्मुख निम्न कठिनाइयाँ आती हैं :—

(१) अविकसित देशों मे बैंक दर मे परिवर्तन करके केन्द्रीय बैंक साख-नियन्त्रण करने मे अधिक सफल नही होता। इसका मुख्य कारण यह होता है कि इस प्रकार के देशो मे मुद्रा बाजार प्रायः पूर्णतया सगठित नहीं होता। मुद्रा बाजार दो भागों मे बटा होता है। सगठित भाग और असगठित भाग। सगठित भाग अपनी साख आवश्यकताओं के लिये केन्द्रीय बैंक पर निर्भर होता है परन्तु असंगठित भाग केवल अपने ही साधनों पर निर्भर होता है। इसलिए केन्द्रीय बैंक की साख नियन्त्रण क्रियाओं का प्रभाव मुद्रा बाजार के असंगठित भाग पर नहीं पड़ता।

(२) अविकसित देशो मे एक ही साथ कई ब्याज की दरें प्रचलित होती हैं और उनका आपस मे पूर्ण समन्वय नही होता। बैंक दर की रीति की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि मुद्रा बाजार मे ब्याज की दरों में बहुत अधिक भिन्नता न हो और विभिन्न ब्याज की दरों मे समन्वय हो।

(३) विकसित देशों के द्रव्य बाजार तथा आर्थिक ढांचे मे कुछ टैक्नीकल परिवर्तन आ गये हैं जैसे कि विनिमय बिल के स्थान पर अधिविकर्ष सुविधा

(Overdraft facility) का अधिक प्रयोग होने लगा है और मुद्रा बाजार में ट्रेजरी बिल का महत्व बढ़ गया है। इस कारण बैंक दर में परिवर्तन का अधिक प्रभाव बैंकों पर नहीं पड़ता।

(४) साख नियन्त्रण क्रियाओं की सफलता के लिये देश में बिल बाजार विकसित होना चाहिए, परन्तु अविकसित देशों में एक नियमित बिल बाजार का प्रभाव होता है। साख नियन्त्रण की रीतियों की सफलता के लिए एक पूर्ण संगठित बिल बाजार का होना आवश्यक है जिससे मुद्रा बाजार व साख प्रणाली ठीक प्रकार से कार्य कर सके। इससे विभिन्न साख संस्थाओं का केन्द्रीय बैंक से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और केन्द्रीय बैंक साख निर्माण पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण रख सकता है।

(५) अविकसित देशों में बैंकिंग व्यवस्था पूर्णतया विकसित नहीं होती। बैंकों की शाखाएं फैली हुई नहीं होती और देश के मुद्रा बाजार पर विदेशी बैंकों का अधिक प्रभाव होता है। विदेशी बैंक इस देश के केन्द्रीय बैंक की परवाह नहीं करते क्योंकि वे मौद्रिक आवश्यकताओं के लिये अपने देश के मुद्रा बाजार पर निर्भर होते हैं। अपने देश के मुद्रा बाजार में भी अनियन्त्रित क्षेत्र की अधिकता होती है। जिस पर केन्द्रीय बैंक का कोई नियन्त्रण नहीं होता। इन सब बातों की वजह से केन्द्रीय बैंक एक प्रभावपूर्ण संस्था नहीं रहता।

(६) अविकसित बैंकों में मुद्रा बाजार में ऋण देने योग्य धन की कमी रहती है जिसके कारण सभी माँगों को पूरा नहीं किया जा सकता। मुद्रा बाजार में धन की कमी का मुख्य कारण है कि यहाँ पर बैंक प्रणाली का पर्याप्त विकास नहीं हुआ होता। लोगों की आय कम होने के कारण भी वे अधिक बचत नहीं कर पाते। इसके अतिरिक्त लोगों में बैंकिंग आदत का भी अभाव होता है जिसके कारण वे धन को गाड़ कर स्वर्ण में रखने का प्रयत्न करते हैं।

इन सब कारणों से अविकसित देश में केन्द्रीय बैंक प्रभावपूर्ण तरीके से साख नियन्त्रण का कार्य नहीं कर सकता क्योंकि मुद्रा बाजार पूर्णतया विकसित से संगठित नहीं होता। यहाँ के मुद्रा बाजार में देशी बैंकर्स की प्रधानता होती है जो संगठित मुद्रा बाजार से बिल्कुल भिन्न होता है और उसमें और संगठित भाग में आपस में समन्वय नहीं होता। इसलिए रिजर्व बैंक आफ इण्डिया भी अपनी साख नियन्त्रण की नीति को पूर्ण रूप से प्रभावशाली नहीं बना पाया।

रिजर्व बैंक भारत के मुद्रा बाजार की विशेषताओं के कारण, साख नियन्त्रण के सामान्य तरीके का सफल प्रयोग नहीं कर पाया है। कारणों का विवेचन ऊपर किया गया है। इसीलिए रिजर्व बैंक ने कुछ नये तरीकों का प्रयोग किया है जैसे इसने सन् १९६० में एक बैंक दर के स्थान पर तीन बैंक दरें निश्चित की। इस व्यवस्था के अनुसार रिजर्व बैंक ने प्रत्येक बैंक का 'कोटा' निश्चित कर दिया है। इस कोटे से अधिक ऋण सामान्य से अधिक सूद की दर पर मिलता है।

Selected Readings

1. M. H. Dekock : Central Banking, Chs. I-XIII
2. G. Crowther : An Outline of Money, Chs. II-VI
3. H P. Willis : Theory and Practice of Central Banking.
4. Kisck and Elpin : Central Banks
5. R. P. Kent : Money and Banking, Ch. 20
6. Steiner and Shapiro : Money and Banking, Chs. 11-15

९

विदेशी विनिमय व विनिमय नियन्त्रण

(Foreign Exchange and Exchange Control)

Q. 119. What do you understand by Rate of Exchange? How the rate of exchange is determined when both the countries are on the gold standard? Also explain the limits within which the rate of exchange fluctuates. (Agra 194

प्रत्येक देश की मुद्रा अलग-अलग होती है जिसका चलन अपने देश तक ही सीमित होता है। एक देश की मुद्रा को यदि आप दूसरे देशों के लोगों को देना चाहें तो वे उसको लेने के लिये तैयार नहीं होंगे। इसलिये प्रत्येक व्यापारी जब दूसरे देश से सामान मँगाता है तो उसकी मुद्रा का भी प्रबन्ध करता है। अपने देश की मुद्रा देकर वह दूसरे देश की मुद्रा को खरीदता है तथा जिस मूल्य पर वह विदेशी मुद्रा को खरीदता है उसको विनिमय दर (Rate of Exchange) कहते हैं। "दूसरे शब्दों में विनिमय दर का अभिप्राय उस दर से है जिस पर देश की प्रचलित मुद्रा का दूसरे देश की प्रचलित मुद्रा में विनिमय हो सके।" यदि भारतवर्ष के व्यापारी को अमेरिका की मुद्रा को प्राप्त करने के लिये २१ सेन्ट के लिये १ रु० देना पड़ता है तो डालर व रुपये की विनिमय दर १ रुपया=११ सेन्ट या १ डालर=४·७६ रुपया होगी। इस प्रकार विनिमय दर केवल दो देशों के चलनों के विनिमय अनुपात को सूचित करती है। यह अनुपात स्थिर नहीं रहता बल्कि माँग और पूर्ति की शक्तियों के कारण बदलता रहता है।

> रूपरेखा :
> (१) विनिमय दर का अर्थ।
> (२) स्वर्णमान की दशा में विनिमय दर का निर्धारण।
> (३) विनिमय दर में उच्चावचन।
> (४) विनिमय दर की उच्चतम व निम्नतम सीमा।

किसी भी देश की विनिमय दर उस देश में प्रचलित मुद्रा मान (Monetary Standard) पर निर्भर करती है और विभिन्न मुद्रा मानों में इसका निर्धारण विभिन्न प्रकार से होता है। यहाँ पर हमारा सम्बन्ध ऐसे देशों से है जिनमें स्वर्णमान

है और स्वर्ण वाले देशों में विनिमय दर का निर्धारण स्वर्ण मूल्यों के आधार पर होता है।

जब किसी देश में स्वर्णमान होता है, तो वहां स्वर्ण-सिक्के प्रचलन में होते हैं और यदि स्वर्ण-सिक्कों के स्थान पर कागज के नोट या निकृष्ट धातु (Inferior metal) के सिक्के चलते हैं तो वे पूर्णतया स्वर्ण धातु व स्वर्ण-सिक्कों में परिवर्तनशील होते हैं। साथ ही साथ स्वर्ण के आयात-निर्यात पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं होता। ऐसी स्थिति में विनिमय दरों का निर्धारण काफी सरल होता है क्योंकि जैसा कि हेबरलर (Haberler) ने कहा है कि "यदि दो या अधिक व्यापारी-देशों में स्वर्णमान हो और यदि स्वर्ण के आयात-निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध न हो तो विभिन्न करेंसियों का गठबन्धन बड़ा दृढ़ होता है। उदाहरण के लिये यदि एक औंस स्वर्ण से एक निश्चित मात्रा में पौंड के सिक्के चलाये जा सकते हैं या उससे बीस गुने अधिक 'मार्क्स' तो, यदि यह मान लिया जाय कि मुद्रा ढालने का कोई व्यय नहीं है, कोई भी व्यक्ति २० मार्क से एक पौण्ड या एक पौण्ड से २० मार्क बदल सकता है।"

इस प्रकार जब दो देशों में स्वर्णमान होता है तो उन दोनों देशों की मुद्रा का सम्बन्ध स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा से होता है। प्रत्येक स्वर्णमान वाला देश यह उल्लेख करता है कि उसकी कितनी मुद्रा-इकाइयों का मूल्य कितनी स्वर्ण मात्रा के बराबर है। दो देशों की स्वर्ण मात्राओं में समानता लाकर इस प्रकार की अवस्था में विनिमय दर स्थापित हो जाती है। इस प्रकार से जो विनिमय दर स्थापित होती है उसको 'विनिमय की टकसाली दर' (Mint Par of Exchange) या 'स्वर्ण मूल्य समता दर' (Gold Par of Exchange) कहते हैं। थामस (Thomas) ने टंक समता दर की परिभाषा इस प्रकार से की है, "टंक समता वह अनुपात है जो एक ही धातुमान पर आधारित राष्ट्रों की प्रमाणित मौद्रिक इकाइयों के वैधानिक धातु साम्य से व्यक्त होता है।"[1]

टंक समता दर का सम्बन्ध देश में सरकार द्वारा निर्धारित वैधानिक स्वर्ण मूल्य से होता है, बाजार में प्रचलित स्वर्ण मूल्य से नहीं। टंक समता दर में बाजार में हो रहे स्वर्ण मूल्यों में परिवर्तनों का प्रभाव नहीं पड़ता। इस दर में तो परिवर्तन तभी आता है, जब सरकार कानून द्वारा या तो मुद्रा इकाई की स्वर्ण मात्रा में परिवर्तन कर दे या स्वर्ण मूल्य में कमी व वृद्धि कर दे। इस सम्बन्ध में क्लेयर व क्रम्प ने बहुत स्पष्ट लिखा है, "The Mint Par depends, in short, not on the coin

1. "Mint Par is an expression of the ratio between the statutory bullion equivalents of the standard monetary units of two countries on the same metallic standard." Thomas, Banking and Exchange.

itself, but on the legal definition of it, not on the sovereign defacto but on the sovereign dejure ... unless and until the law is altered the mint par cannot alter."

विनिमय दरों में उच्चावचन (Fluctuations in the Exchange Rates)—उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि स्वर्णमान वाले देशों में विनिमय दरों की स्थापना बहुत सरलता से हो जाती है। परन्तु मांग व पूर्ति में अन्तर होने के कारण यह विनिमय दर, (जिसे विनिमय की टकसाली दर कहते हैं) वास्तव में बाजार में नहीं होती है। यह तो केवल विनिमय दरों की सामान्य प्रवृत्ति को ही दिखाती है। वास्तविक दर विनिमय की टकसाली दर के ऊपर नीचे होती रहती है जिस पर मुद्राओं की मांग और पूर्ति का प्रभाव पड़ता है। इस सम्बन्ध में क्राउथर ने कहा है, "The price of a currency is determined, just as the price of any thing else, by the relative strength of the demand for and the supply of that currency in the foreign exchange market." जब एक मुद्रा की मांग बढ़ जाती है और पूर्ति नहीं बढ़ती तो उस मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है तथा पूर्ति अधिक हो जाने पर उसका मूल्य गिर जाता है। यदि इंगलैंड में अमेरिका के डालर की माँग बढ़ जाती है तथा उसकी पूर्ति उसी अनुपात से नहीं बढ़ती तो अमेरिका की मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है और इंगलैंड के लोगों को अमेरिका की मुद्रा को प्राप्त करने के लिए अपनी मुद्रा अधिक देनी पड़ती है। इसके विपरीत यदि अमेरिका की मुद्रा की माँग कम हो जाती है (आयात कम होने के कारण) तथा पूर्ति अधिक रहती है (निर्यात में कमी न होने के कारण) तो डालर का मूल्य गिर जाता है और कम पौंड के बदले अधिक डालर प्राप्त होता है। इसे कहा जाता है कि विनिमय दर इंगलैंड के पक्ष में हो गई तथा अमेरिका के विपक्ष में हो गई। परन्तु इस प्रकार के विनिमय के उच्चावचन असीमित नहीं होते वरन् स्वर्णमान वाले देशों में विनिमय दर निश्चित सीमाओं के बीच ही रहती है। इन सीमाओं से ऊपर या नीचे नहीं जाने पाती। इन सीमाओं को उच्चतम स्वर्ण विन्दु (Upper Gold Point) या निम्नतम स्वर्ण विन्दु (Lower Gold Point) कहते हैं।

विनिमय दर की उच्चतम सीमा (Upper limit of the Exchange Rate)—जब दो देशों में स्वर्णमान होता है तो विनिमय दर अनिश्चित तौर पर ऊपर नहीं जा सकती वल्कि एक सीमा होती है जिस तक विनिमय दर पहुँच जाती है। यदि उससे ऊपर हो जाय तो स्वर्ण का निर्यात प्रारम्भ हो जाता है। विदेशी भुगतान अक्सर विदेशी विनिमय विल (Foreign Bill of Exchange) के द्वारा किया जाता है जिसको विदेशी विनिमय वैंक (Foreign Exchange Banks) खरीदते तथा वेचते हैं। इनका मूल्य भी इनकी मांग व पूर्ति पर निर्भर करता है। मांग वढ़ जाने पर वैंक इन विदेशी विनिमय विलों को ऊँचे मूल्यों पर

2. Crowther. An Outline of Money, pages 240-41.

बेचने लगते हैं। परन्तु स्वर्णमान वाले देशों में बैंक मनमाने मूल्यों पर नहीं बेच सकते क्योंकि यदि वे अधिक मूल्य मांगने लगेंगे तो व्यापारी इनको खरीदने के स्थान पर स्वर्ण को निर्यात करने लगेंगे जिससे उनकी माग घट जायगी और बिलो की बिक्री कम हो जायेगी। इसलिए बैंक बिलों का मूल्य 'विनिमय की टकसाली दर' से उतना अधिक ले सकते हैं जितना सारे देश को स्वर्ण भेजने में खर्चा आता है। यदि इससे अधिक मूल्य लेने लगेंगे तो स्वर्ण का निर्यात प्रारम्भ हो जायेगा।

यह बात एक उदाहरण से अधिक अच्छी प्रकार से स्पष्ट हो सकती है। मान लो फ्रास व इंगलैंड की विनिमय की टकसाली दर २५ फ्रैंक बराबर १ पौंड है तथा फ्रास से इगलैण्ड सोना भेजने का खर्चा ½ फ्रैंक है। यदि फांस के आयात अधिक हो जाते हैं और इंगलैण्ड को निर्यात कम होते हैं तो फ्रांस मे इगलैण्ड के बिलों की मांग बढ जाएगी। बैंक बिलो को अधिक मूल्य पर बेचने लगेंगे। जब तक बैंक बिलों को २५½ फ्रैंक प्रत्येक पौण्ड के हिसाब से बेचते हैं तब तक तो व्यापारी उनको खरीदते है क्योंकि सोने के भेजने मे परेशानी अधिक रहती है। परन्तु जैसे ही बैंक बिलो की कीमत २६ फ्रैंक कर देता है वैसे ही व्यापारियों के लिये स्वर्ण को भेजना लाभदायक हो जाता है और वे बिलो के खरीदने के स्थान पर स्वर्ण को खरीदना प्रारम्भ कर देते हैं। अत. २५½, फ्रैंक विनिमय दर की वह उच्चतम सीमा होगी जिस तक विनिमय दर जा सकती है। इसको ही स्वर्ण निर्यात विन्दु (Gold Export Point) या उच्चतम स्वर्ण बिन्दु (Upper Gold Point) या उच्चतम स्वर्णांक (Upper Specie Point) कहते हैं। यह वह बिन्दु या दर है जिससे अधिक विनिमय दर होने से स्वर्ण का निर्यात होने लगता है। विनिमय की टकसाली दर मे स्वर्ण यातायात का व्यय जोड़ कर उस बिन्दु को प्राप्त किया जाता है।

विनिमय दर को निम्नतम सीमा (Lower limit of the Exchange Rate)—जिस प्रकार के स्वर्णमान मे विनिमय दर के उच्चावचन की ऊपरी सीमा होती है, उसी प्रकार से विनिमय दर के गिरने की एक निम्नतम सीमा होती है जिस से नीचे विनिमय दर नहीं गिरने पाती, और यदि गिर जाती है तो स्वर्ण का आयात प्रारम्भ हो जाता है। इस सीमा को स्वर्ण आयात बिन्दु (Gold Import Point), निम्नतम स्वर्णांक (Lower Specie Point) या निम्नतम स्वर्ण बिन्दु (Lower Gold Point) कहते हैं। यह वह दर है जिससे कम, विनिमय दर होने पर स्वर्ण अपने देश मे आने लगता है और इसको विनिमय की टकसाली दर मे से स्वर्ण यातायात का व्यय घटाकर मालूम किया जा सकता है।

उदाहरण के लिये फ्रास व इंगलैंड की विनिमय दर २५ फ्रैंक=१ पौण्ड है। यदि फ्रांस के निर्यात इगलैण्ड को बढ़ जाते हैं तथा इंगलैण्ड से आयात कम हो जाते हैं तो इंगलैण्ड में फ्रांस के बिलों की मांग अधिक हो जायगी और पूर्ति कम होगी।

विनिमय दर इंगलैण्ड के विपक्ष में हो जायगी और इंगलैण्ड के व्यापारी को फ्रैं खरीदने के लिये अधिक पौंड देना होगा। स्वर्ण भेजने का खर्चा यहाँ भी अगर फ्रैंक है तो इंगलैण्ड का व्यापारी १ पौण्ड के बदले २४३ फ्रैंक तक खरीदने के लि तैयार हो जाएगा इससे अधिक पर वह स्वर्ण को फ्रांस भेजने लगेगा। इससे फ्रां में सोने का आयात होने लगेगा।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्वर्णमान वाले देशों में विनिमय दर स्वर्ण विन्दुओं (Gold Points) या धातु विन्दुओं (Specie Points) के मध्य ही रहती है इससे बाहर नहीं जातीहै। एक वातस्वयं ही स्पष्ट हो जाती है कि जो बिन्दु एक देश के लिए आयात का है वह दूसरे के लिए निर्यात का है।

अत: अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान में विनिमय दर में वहुत कुछ स्थिरता रहती है और यदि विनिमय दरों में कुछ उच्चावचन होता भी है तो वह इतने कम होते हैं कि व्यापार आदि पर उसका बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। Kenneth K. Kurihara के अनुसार, "Under the international gold standard, exchange rates are fixed, since each national currency is convertible into gold at a fixed rate and therefore into another currency at a fixed rate. If, for example, £ 4 and £ 1 can both be exchanged for the same amount of gold, it follows that the exchange value of £ 1 cannot be above or below £ 4. In reality exchange rates under the gold standard do fluctuate but only within the narrow limits set by the gold export and import points, that is, by the cost of sending gold from one point of the system to another. The gold export point is the upper limit beyond which the domestic price of a foreign cuuency may not rise, while the gold import points is the lower limit beyond which the domestic price of a foreign currency may not fall."

Q. 120. Explain the purchasing power parity theory and examine the validity in the light ef experience. (Raj 1958)

Q. 121. Examine critically the Purchasing Power Parity Theory of Foreign Exchange. How for it is a practical guide in fixing the exchange value of a country's currency? (Agra 1954)

Q. 122. Critically examine the Purchasing Power Parity Theory. (Raj. 1961)

प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ होते ही संसार के अधिकतर देशों ने स्वर्णमान का त्याग कर दिया। इसके कारण विनिमय दर के निर्धारण की समस्या विभिन्न

देशों के सम्मुख आयी, क्योंकि स्वर्णमान में मुद्रा की स्वर्ण मात्रा के आधार पर विनिमय दर का निर्धारण हो जाता था। परन्तु जब मुद्रा का आधार कोई भी धातु नहीं है, तब विनिमय दर किस प्रकार से निश्चित हो ? इसी समस्या पर उस समय के अर्थशास्त्रियों का ध्यान केन्द्रित हुआ। स्वीडन के स्टॉक होम विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री गस्टव कैसिल (Gustav Cassel) ने इस सम्बन्ध में अपना 'क्रय-शक्ति तुल्यता सिद्धान्त' (Purchasing Power Parity Theory) अर्थशास्त्रियों के सामने रक्खा। यद्यपि इस सिद्धान्त को पहले जोन विहटले (John Wheatly), रिकार्डो (Ricardo) व मार्शल आदि भी बता चुके थे, परन्तु कैसिल ने ही इसका प्रतिपादन वैज्ञानिक ढग से किया और इस कारण उनके नाम के साथ ही इस सिद्धान्त को प्रयुक्त किया जाता है।

रूप रेखा :

(१) पुराने सिद्धान्त में परिवर्तन की आवश्यकता।

(२) क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त की व्याख्या, परिभाषा व उदाहरण।

(३) क्रय-शक्ति तुल्यता सिद्धान्त की आलोचना।
- (i) परस्पर माग की लोच का विनिमय दर पर प्रभाव,
- (ii) पूँजी का आवागमन;
- (iii) भारी आयात कर की दशा में गलत;
- (iv) सूचक अंक सम्बन्धी कमियाँ;
- (v) विभिन्न मूल्यों का प्रचलन;
- (vi) मूल्य स्तर भी विनिमय दर को प्रभावित करता है;
- (vii) अन्य बातें भी विनिमय दर को प्रभावित करती हैं।
- (viii) मूल्य स्तर सदा विनिमय दर को प्रभावित नहीं करता।

(४) इस सिद्धान्त का व्यवहार मे प्रयोग।

प्रो॰ बेन्हम (Benham) के अनुसार इस सिद्धान्त के दो मुख्य रूप हैं—संकीर्ण रूप व व्यापक रूप। संकीर्ण रूप में यह एक स्वतः सिद्ध वचन (Truism) है क्योंकि यह बताता है कि यातायात व्यय को छोड़कर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तुओं का मूल्य सब देशों मे समान रहता है। Dr. Carx. ने इस संकीर्ण रूप को मानते हुए लिखा है, "Yes, I see this : if so much wheat costs £ 1 in London, 864 francs in Paris and $ 4 in Washington, the exchange rates must be £ 1=864 francs=$ 4 otherwise it would pay to move wheat from one place to another."

व्यापक रूप में इनकी व्याख्या प्रो॰ कैसिल ने की है और इस सिद्धान्त को दो वर्गों में विभाजित किया है—वास्तविक रूप जिसमें वह यह बताता है कि दो देशों में विनिमय दर किस प्रकार निश्चित होती है तथा तुलनात्मक रूप जिसमे वह विनिमय दर मे परिवर्तन के कारण, दिशा और अंश के बारे में बताता है। सिद्धान्त के इस रूप का विस्तार व व्याख्या प्रो॰ कैसिल ने बाद मे की थी।

सिद्धान्त के वास्तविक रूप की व्याख्या करते हुए प्रो० कैसिल ने बताया कि दो ऐसे देशों के मध्य जहाँ अपरिवर्तनीय कागजी द्रव्य हैं, विनिकय की दर उनकी क्रय-शक्ति समता, (Purchasing Power Parity) अर्थात् दो देशों में दोनों मुद्राओं की क्रय-शक्ति के अनुपात पर निर्धारित होती है। उदाहरण के लिए भारत में १०० वस्तुओं के मूल्य १०० रुपये हैं और अमेरिका में १०० वस्तुयें २१ डालर की आती हैं तो भारत व अमेरिका के मध्य विनिमय दर Re. 1=21 Cents या Rs. 4·76=1 पौंड के होगी। कैसिल के ही शब्दों में, "दो मुद्राओं की विनिमय की दर आवश्यक रूप से इन मुद्राओं की आन्तरिक क्रय-शक्ति के भागफल पर निर्भर रहती है।"[1]

Barrett Whale के अनुसार, "The purchasing power parity theory teaches that exchange rates should normally reflect the relation between the internal purchasing powers of the various national currency units." इसी सिद्धान्त की व्याख्या Kenneth K. Kurihare ने इन शब्दों में की है, "Under a system of autonomous paper standards the external vaule of a currency is said to depend ultimately and essentially on the domestic purchasing power of that currency relative to that of another currency. In other words, exchange rates tend under such a system to be determined by the relative purchasing power parities of different currencies in different couutries."

विनिमय दर किस प्रकार निर्धारित होती है, यह बताने के बाद कैसिल ने यह भी बताया कि विनिमय दर में परिवर्तन क्यों होता है और इस परिवर्तन की दिशा व अंश क्या होता है ? इसको ही सिद्धान्त का तुलनात्मक रूप कहते हैं। इस सम्बन्ध में कैसिल ने कहा कि विनिमय दर में परिवर्तन विभिन्न देशों की क्रय-शक्ति में तुलनात्मक परिवर्तन होने के कारण होता है और इन परिवर्तनों की दिशा तथा उनका अंश सामान्य क्रय-शक्ति के तुलनात्मक परिवर्तनों के ही अनुसार होता है। क्रय-शक्ति में परिवर्तन दो प्रकार के हो सकते हैं—समान व तुलनात्मक। समान परिवर्तन होने पर विनिमय दर में कोई वृद्धि या कमी नहीं होने पाती, क्योंकि दोनों की क्रय-शक्ति का अनुपात उतना ही रहता है। परन्तु यदि क्रय-शक्ति में तुलनात्मक परिवर्तन होता है तो विनिमय दर में भी उसी अनुपात में और उसी दिशा में परिवर्तन हो जायेंगे। जैसे इंगलैंड व अमेरिका में विनिमय दर १ पौंड बराबर ४ शिलिंग है। अमेरिका का सूचक अंक बढ़ाकर २०० हो जाता है तथा इंगलैंड का ३००। अब डालर की विनिमय शक्ति पहले से $\frac{1}{2}$ है और पौंड की $\frac{1}{3}$। इस अवस्था में पौंड

1. "The Rate of Exchange between two currencies must stand essentially on the quotient of the internal purchasing powers of these currencies." Gustav Cassel.

का डालर मूल्य पहले से ३/४ रह जायगा अर्थात् शिलिंग २·६६ के बराबर। इसको सामान्य रूप मे इस प्रकार कहा जा सकता है :—

$$\text{विदेशी विनिमय दर} = \frac{\text{देशी सूचक अंक}}{\text{विदेशी सूचकअंक}}$$

कैसिल के ही शब्दों में, "जब दो देशो की मुद्राओं का अवमूल्यन होता है या हो रहा है, तब इनके विनिमय के पूर्ववत् सममात्र को दोनो देशों की मुद्रा-स्फीति के अनुपात से गुणा करने से इन दोनो देशों की क्रय-शक्ति समता निकाली जा सकती है।"[2]

इस प्रकार, कैंसिल के अनुसार, विनिमय दर क्रय-शक्ति समता से निश्चित होती है, परन्तु यह दर केवल दीर्घकाल में ही होती है। अल्पकाल मे यह दर इस समता दर से ऊपर या नीचे हो सकती है, माग की अधिकता या कमी के कारण। टामस के अनुसार, "while the value of the unit of one currency in terms of another currency is determined at any particular time by the market conditions of demand and supply, in the long run that value is determined by the relative value of the two currencies as indicated by their relative purchasing power over goods and services (in their respective countries.)"[3]

क्रय-शक्ति तुल्यता सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of the Purchasing Power Parity Theory)—इस सिद्धान्त का महत्व प्रथम महायुद्ध के बाद बहुत अधिक था क्योकि कैंसिल, कीन्स आदि ने इस सिद्धान्त की सहायता से यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया कि विभिन्न मुद्राओ के बाह्य मूल्य में गिरावट होने का कारण युद्धोत्तर मुद्रा-स्फीति है जबकि उस समय की अधिकतर सरकारें यह मानती थी कि देश मे वस्तुओं के मूल्य अधिक होने व मुद्रा-स्फीति के विस्तार का कारण मुद्रा के बाह्य मूल्य मे गिरावट है। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त का महत्व इस कारण भी अधिक है क्योकि यह इस बात को स्पष्ट करता है कि यदि मुद्रा के आन्तरिक व बाह्य मूल्य में अन्तर होगा तो क्या परिणाम होगा ? परन्तु यह सिद्धान्त जब एक सिद्धात के रूप में यह बताता है कि विनिमय दर क्रय-शक्ति-समता से निश्चित होती है तो गलत सिद्ध हो जाती है। क्राउथर ने इस सम्बन्ध में लिखा है, "But regarded as a theory, the purchasing power parity theory is subject to important qualifications."[4]

---

2. "When two currencies in two countries have been inflated, the new Normal Rate of Exchange will be equal to the Old Rate multiplied by the Quotient between the degress of inflation of both countries." Gustav Cassel.
3. Thomas. S. F. Elements of Economics.
4. Crowther. An Outline of Money. page 253.

क्राउथर, कीन्स, हाम (Halm), नर्कस (Nurkse), इलिस (Ellis) आदि अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त की कमियों को बता कर यह स्पष्ट कर दिया है कि इस सिद्धान्त के आधार पर विनिमय दर के निर्धारण को स्पष्ट नहीं किया जा सकता।

कीन्स द्वारा आलोचना (Criticism by Keynes)—कीन्स ने इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए लिखा है कि विदेशी विनिमय दर केवल मूल्य परिवर्तन से ही निर्धारित नहीं होती बल्कि पूँजी के आवागमन (Capital Movements), परस्पर मांग की लचक (Reciprocal Elasticity of Demand) तथा अन्न बहुत से कारणों से प्रभावित होती है जो विदेशी विनिमय की मांग व पूर्ति को प्रभावित करते हैं; इस सम्बन्ध में कीन्स ने इस सिद्धान्त की दो आधारभूत कमियों की ओर बहुत से अर्थशास्त्रियों का ध्यान आकर्षित किया—एक तो यह कि यह सिद्धान्त परस्पर मांग की लोच को ध्यान में नहीं रखता और दूसरे पूँजी के आवागमन के प्रभावों को भी इस सिद्धान्त ने पूर्णतः उपेक्षित किया है।

(a) **परस्पर मांग की लचक[5] का विनिमय पर प्रभाव** (Influence of the Elasticities of Reciprocal Demand)—यह आवश्यक नहीं है कि यदि देश में मूल्य स्तर गिर जाय तभी विदेशियों के लिये वस्तुयें सस्ती होती हैं, बल्कि वस्तुओं का इस प्रकार से सस्ता होना विनिमय मूल्य ह्रास (Exchange Depreciation) पर भी निर्भर करता है। यदि संसार की अन्य मुद्राओं के मूल्य में वृद्धि (Appreciation) हो जाती है जिसके कारण इंगलैंड के पौंड से मूल्य में कमी हो जाती है तो इंगलैंड की वस्तुयें संसार के अन्य देशों के लिये सस्ती हो जायेंगी और इंगलैंड के लिये अन्य देशों की वस्तुयें महंगी। इंगलैंड के निर्यातों की मांग लचकदार होने पर इंगलैंड की वस्तुओं की मांग संसार में बढ़ जायगी, जिससे उसके निर्यात बढ़ जायेंगे। दूसरी ओर इंगलैंड में आयात महंगे होंगे जिससे आयात गिर जायेंगे। परिणामस्वरूप इंगलैंड की मुद्रा की मांग बढ़ जायेगी और पौंड के मूल्य में वृद्धि हो जायगी। अतः यहाँ अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य स्तर में परिवर्तन न होने पर भी पौंड के बाह्य मूल्य में परिवर्तन हो गया।

इसी प्रकार माँग की आय लोच (Income Elasticity of Demand)[6] विनिमय दर के निर्धारण पर प्रभाव डालती है। कुल आय में से आयात की प्रवृत्ति

---

5. परस्पर मांग की लोच का अर्थ होता है कि एक देश की वस्तुओं के मूल्य में या दूसरे देश की आय में परिवर्तन होने से उस देश के निर्यातों की मांग पर क्या प्रभाव पड़ता है।

6. माँग की आय लोच का अर्थ है कि एक देश की आय में परिवर्तन होने पर दूसरे देश की निर्यातों की माँग पर क्या प्रभाव पड़ता है? अर्थात् आय में वृद्धि होने पर दूसरे देशों से आयात अधिक किये जाते हैं या कम।

(Propensity to Import)[7] विनिमय दरों को प्रभावित करती है। यदि इंगलैंड में मांग की आय-लोच अधिक है तथा संसार मे इगलैंड की वस्तुओं की मांग कम है तो ऐसी अवस्था में इगलैण्ड की राष्ट्रीय आय बढ़ने पर इगलैण्ड की आयात वस्तुओं की मांग बहुत बढ़ जायगी जब कि इगलैण्ड की वस्तुओं की मांग संसार में कम होगी। इसका परिणाम यह होगा कि इगलैण्ड की मुद्रा का बाह्य मूल्य कम हो जायगा जबकि मूल्य स्तर में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। कुरीहारा (Kurihara) के शब्दों में, 'The Probable effect on exchange rates of such shifts of demand would be to appreciate foreign currencies relative to the dollar, even if no price changes took place anywhere.[8]'

(b) पूँजी का आवागमन (Capital Movements)—कीन्स ने दूसरी बात यह कही है कि पूँजी के आवागमन मे भी विनिमय दर मे परिवर्तन हो जाता है, जब कि मूल्य स्तर में कोई परिवर्तन नहीं होता। कीन्स ने केवल अल्पकालीन पूँजी आवागमन का ही उदाहरण दिया है। परन्तु वास्तव मे दीर्घकालीन पूंजी आवागमन का भी प्रभाव विनिमय दरों पर पड़ता है। अल्पकालीन पूँजी के देश में आने के कारण पूंजी प्राप्त करने वाले देश की मुद्रा का विनिमय मूल्य (Exchange Value) बढ़ जाता है तथा जिस देश से पूँजी आती है, उसकी मुद्रा का विनिमय मूल्य घट जाता है। इस विनिमय मूल्य के घटने बढ़ने पर मूल्य स्तरों का प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि देश मे वस्तुओं के मूल्य समान रहते हुये भी पूँजी का आयात व निर्यात अन्य कारणों (सट्टेबाजी, सुरक्षा, राजनैतिक आदि) से हो सकता है। इसी प्रकार से दीर्घकालीन पूँजी आवागमन का प्रभाव विनिमय दरो पर पड़ता है। जब एक देश दूसरे देश से दीर्घकालीन ऋण लेता है तो ऋण लेने वाले देश की मुद्रा का बाह्यमूल्य बढ़ जाता है क्योंकि उसकी मुद्रा की मांग दूसरे देश में बढ़ जाती है। इसी प्रकार ऋण देने वाले देश की मुद्रा का बाह्य अवस्था मे मूल्य कम हो जाता है। कुरीहारा (Kurihara) के अनुसार "We can generalize by stating that the one sided export of capital tends to raise the external value of the capital importing country's currency and that the one sided import of capital tends to lower the external value of the capital exporting country's currency."

---

7. आयात की प्रवृत्ति का अर्थ है कि आय का कितना भाग आयात पर व्यय किया जाता है। आयात की प्रवृत्ति अधिक होने का अर्थ है कि आय बढ़ने पर अधिक वस्तुओं का आयात किया जायगा तथा इस अवस्था मे मांग की आय लोच अधिक होगी।

8. Kurihara ने अमेरिका उदाहरण लिया है। इसलिए यह डालर लिखा है।

(२) यह सिद्धान्त उस समय सत्य नहीं उतरता, जब विदेशी व्यापार प[र] भारी आयात कर लगा दिये जाते हैं। यदि किसी देश में दूसरे देश की वस्तुओं प[र] आयात पर कर लगा कर आयात को बहुत कम कर दिया जाता है। परन्तु उस देश के निर्यात कम नहीं होते तब उस देश की मुद्रा का बाह्य मूल्य अधिक बना रहेगा ज[ब] कि वस्तुओं के आन्तरिक्त मूल्य में कोई कमी नहीं होगी। क्राउथर के अनुसार "When a country succeeds in putting on a tariff which is not offse[t] by other countries tariffs, the exchange value of its currency ma[y] rise without any change in its internal price-level." इस अवस्था मे वास्तविक विनिमय दर क्रय-शक्ति तुल्यता के आधार पर निर्मित विनिमय दर से भिन्न हो जायगी और सिद्धान्त गलत हो जायेगा।

(३) यह सिद्धान्त क्रय-शक्ति की सहायता से विनिमय दर को निर्धारि[त] करता है और क्रय-शक्ति को सूचक अंकों की सहायता से नापा जाता है। परन्[तु] सूचक अंकों में ऐसी वस्तुये भी होती हैं जिनके मूल्यों का विदेशी व्यवहार से कोई सम्बन्ध नहीं होता जैसे ईंटों का मूल्य भारत में कम हो जाने से कोई इसका निर्या[त] नहीं करेगा। इन मूल्यों का प्रभाव विशी विदेशी विनिमय दर पर नहीं पड़ेगा। परन्[तु] साथ ही हम उन सब वस्तुओं को नहीं छोड़ सकते, जिनका विदेशों से आयात-निर्या[त] नहीं होता, क्योंकि बहुत सी वस्तुओं का मूल्य घट जाने पर उनका निर्यात होने लगता है और वे विनिमय दर को प्रभावित करने लगती है। अतः मूल्य स्तर को नापते समय यह कठिनाई आती है कि किस वस्तु को सूचक अंक में सम्मिलित किया जाय किस को नहीं ?

(४) इस सम्बन्ध में एक और कठिनाई आती है कि किस प्रकार के मूल्य के आधार पर क्रय-शक्ति समता की गणना की जाय। यदि हम थोक मूल्यों को ही लें तो बहुत सी तैयार वस्तुओं (manufactured goods), सेवाओं तथा अदृश्य निर्यातों को छोड़ देंगे। इसके विपरीत यदि रहन-सहन की लागत के सूचक अंकों का प्रयोग करें तो बहुत सी ऐसी वस्तुये सम्मिलित हो जायेंगी जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रभावित नहीं करतीं। इसके अतिरिक्त अल्पविक्रय मूल्य (Retail Price) के आधार पर हम उस दर को निश्चित नहीं कर सकते जिस दर पर विदेशियों को सामान थोक पर बेचना है। क्राउथर ने इस सम्बन्ध में कहा है कि मजदूरी के सूचक अंकों को उपयोग में लाकर इस कठिनाई को कुछ सीमा तक दूर किया जा सकता है क्योंकि मजदूरी प्रत्येक प्रकार के व्यापार व उत्पादन में सम्मिलित होती है। परन्तु यहां पर भी सब देशों में मजदूरों की कार्यकुशलता एक समान नहीं होती।

(५) यह सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि विनिमय दर में परिवर्तन [illegible] [illegible]

जो देश मुख्यतः विदेशी व्यापार पर निर्भर करता है उस देश में आन्तरिक मूल्य स्तर बहुत कुछ विनिमय दर पर निर्भर करता है।

(६) केवल वस्तुओं के मूल्यों का ही प्रभाव विनिमय दर पर नहीं पड़ता बल्कि अन्य बहुत से कारण जैसे सट्टा, पूँजी का स्थानान्तरण, व्यापार का विस्तार, सेवाओं का विनिमय व अदृश्य आयात-निर्यात आदि भी विनिमय दर को प्रभावित करते हैं और साथ ही साथ आन्तरिक मूल्यों को प्रभावित नहीं करते। हाम के अनुसार, "A process of equalisation through arbitrage takes place so autoatically that the national prices of commodities seem to follow mrather than to determine the movements of the exchange rate"[9] चूँकि यह सिद्धांत विनिमय दर का निर्धारण करते समय इन कारणों को ध्यान में नहीं रखता इसलिए वह दोषपूर्ण है।

(७) यह सिद्धान्त यह बताता है तथा मानकर चलता है कि मूल्य परिवर्तन के कारण ही तथा प्रभाव से विनिमय दर में परिवर्तन हो सकता है, परन्तु कीन्स का कहना यह है कि इस प्रकार की स्थिति भी हो सकती है कि मूल्य स्तर में तो परिवर्तन हो जाय और विनिमय दर में कोई परिवर्तन न हो। "इसका कारण यह है कि जिन वस्तुओं का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार हो रहा है वह वस्तुयें ही विदेशी मुद्रा की माग और पूर्ति को प्रभावित करेंगी और यह फिर विनिमय दर को। जिन वस्तुओं का आन्तरिक व्यापार हो रहा है वे मुद्रा के विदेशी मूल्य को प्रभावित नहीं करतीं और उनके मूल्य में होता हुआ परिवर्तन विनिमय दर पर प्रत्यक्ष व तुरन्त प्रभाव नहीं डालता। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तुओं तक सीमित करके क्रय-शक्ति तुल्यता सिद्धान्त एक थोथा स्वतः सिद्ध वचन बन जाता है।"[10]

इस प्रकार से इस सिद्धान्त की इतनी अधिक आलोचना हुई है कि इसको सत्य मानने को कोई तैयार न होता। यह बात ठीक होते हुए भी कि यह सिद्धांत विनिमय दरों के निर्धारण को ठीक प्रकार से नहीं बताता, इस सिद्धान्त की उपयोगिता को एकदम भुलाया नहीं जा सकता। यह स्पष्ट कर देता है कि मुद्रा के आन्तरिक व बाह्य मूल्यों में अन्तर होने का क्या प्रभाव व्यापार पर पड़ता है। अधिमूल्यन (Under valuation) व अतिमूल्यन (Over valuation) की धारणायें

9. George N. Halm, Monetary Theory, page 224.

10. "Only internationally-traded goods will influence the demand for and the supply of foreign currency and consequently, the rate of exchange. Commodities which are only domestically traded, on the other hand, have no direct bearing on the exchange value of the currency and their price may, therefore, fluctuate without affecting directly and immediately the exchange rate. Confined to internationally traded commodities, the purchasing power parity theory becomes an empty truism." J. M. Keynes: A Tract on Monetary Reform, page. 101.

भी क्रय-शक्ति की दरों पर निर्भर हैं। कुरीहारा (Kurihara) के शब्दों में, "The theory is also useful in demonstrating the consequences of a possible discrepancy between the internal and external purchasing power of national currency. The concepts of over-valuation and under-valuation are based on purchasing power parities." इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त की सहायता उस समय भी ली जा सकती है जब बहुत समय तक विनिमय नियन्त्रण या अधिक मुद्रा-स्फीति के कारण ठीक विनिमय दर मालूम नहीं है। हाम (Halm) के अनुसार, "The purchasing power approach may be used with advantage when we are entirely in the dark, as after long periods of exchange control or violent inflation."

यह सिद्धान्त किसी देश की मुद्रा के बाह्य मूल्य को निश्चित करने में कहाँ तक सहायक है? (How far it is a practical guide In fixing the external value of a country's currency ?)—क्रय-शक्ति-तुल्यता सिद्धान्त की इतनी आलोचना करने के बाद एक प्रश्न स्वतः ही हमारे सामने प्रस्तुत हो जाता है जिसका समाधान करना बहुत आवश्यक हो जाता है। वह प्रश्न है कि क्या यह सिद्धान्त किसी देश की मुद्रा के बाह्य मूल्य को निश्चित करने में हमारी सहायता करता है और यदि नहीं तो कौन से सिद्धान्त का सहारा हम ले सकते हैं।

देश की मुद्रा के बाह्य मूल्य का अर्थ है कि अपने देश की मुद्रा के बदले में दूसरे देश की कितनी मुद्रा मिलती है। यदि दूसरे देश की मुद्रा अधिक मिलती है तो हमारी मुद्रा का बाह्य मूल्य अधिक होगा और विदेशी मुद्रा कम मिलने पर कम। क्रय-शक्ति तुल्यता सिद्धान्त यह बताता है कि मुद्रा का बाह्य मूल्य मुद्राओं की तुलनात्मक क्रय-शक्ति पर निर्भर करता है। यदि दूसरे देश में मूल्य स्तर बढ़ जाता है तो हमारे देश की मुद्रा का बाह्य मूल्य भी अधिक हो जाता है क्योंकि अब हमारी मुद्रा की एक इकाई के बदले में दूसरी मुद्रा अधिक मिलती है। इसी स्थान पर इस सिद्धांत की दुर्बलता स्पष्ट हो जाती है क्योंकि यह सिद्धान्त मान लेता है कि विदेशी मुद्रा की आवश्यकता केवल विदेशी वस्तुओं को खरीदने के लिये ही होती है। परन्तु यह बात अपूर्ण है। विदेशी मुद्रा की आवश्यकता केवल आयातों का भुगतान करने के लिए ही नहीं होती, बल्कि अन्य बहुत सी आवश्यकताओं (अदृश्य आयात Invisible imports) के कारण भी विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होती है।

क्रय शक्ति तुल्यता सिद्धान्त की अव्यवहारिकता को सिद्ध करने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि हम उन कारणों को भी ज्ञात करें जो विदेशी मुद्रा की आवश्यकता को प्रभावित करते हैं प्रत्येक देश वस्तुओं का आयात करने के अतिरिक्त बहुत सी सेवाओं का भी उपयोग करता है जिसका भुगतान करने के लिये उस देश की मुद्रा की आवश्यकता होती है। पूँजी का निर्यात करते समय, दूसरे देश के लोगों को उनकी पूँजी पर लाभ, सूद आदि देते समय, अपने देश के दूतावासों के

व्यय के लिए, देश के यात्रियों को विदेश में खर्चा देने के लिये तथा विदेशियों को मुआवजे, दान, जुर्माने आदि के रूप में द्रव्य देने के लिये भी विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होती है। अब यदि अमेरिका में मूल्य बढ़ जाने के कारण हमारे देश की मुद्रा का विनिमय मूल्य बढ़ जाता है परन्तु साथ ही भारत मे विदेशी पूँजी अधिक होने के कारण इनको सूद देना पड़ता है, विदेशी हिस्सेदारों को लाभ देना होता है और विदेशी कम्पनियों की सेवाओं का भुगतान करना होता है। इस सब के कारण भारत को अमेरिका के डालर की आवश्यकता अधिक हो जाती है और माँग बढ़ जाने के कारण हमको रुपये के बदले मे कम डालर मिलता है तो रुपये का बाह्य मूल्य कम हो जाता है। अतः विनिमय दर मूल्य स्तर से निर्धारित न होकर विदेशी मुद्रा की माँग व पूर्ति की सामान्य शक्तियों से निर्धारित होती है।

इस सम्बन्ध मे हम कह सकते हैं कि किसी भी देश की विनिमय दर माँग व पूर्ति की शक्तियों के द्वारा उस स्थान पर निश्चित होती है जहाँ विदेशी मुद्रा की माँग उसकी पूर्ति के बराबर होती है। यदि विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ जाती है अर्थात् शोधनाशेष प्रतिकूल हो जाता है तो मुद्रा का बाह्य मूल्य गिर जाता है। विदेशी मुद्रा की मांग कम हो जाने पर (जबकि शोधनाशेष अनुकूल हो) तो विनिमय मूल्य बढ़ जाता है। इसको ही 'विनिमय दर का शोधनाशेष सिद्धान्त' (The Balance of Payment Theory of Exchange Rates) कहते हैं तथा इसी को विनिमय दर की माँग और पूर्ति का सिद्धान्त (The Demand & Supply Theory of Rate of Exchange) भी कहते है। आधुनिक समय मे इसी को मुद्रा का बाह्य मूल्य ज्ञात करने का सर्वोत्तम सिद्धान्त मानते है। कुरीहारा (Kuribara) ने कहा है, "The most satisfactory explanation of fluctuations in the external value of paper currencies is that a free exchange rate tends to be such as to equate the demand for and supply of foreign exchange." हेबरलर (Haberlar) का भी यही मत है कि शोधनाशेष का सिद्धान्त माँग और पूर्ति के आधार पर विनिमय दरो के निर्धारण की व्याख्या करता है।

☆

Q. 123. Examine critically the Purchasing Power Parity Theoey. Is it an improvement over the classical theory of foreign exchange?
(Agra 1952, 1956, 1958)

Or

Q. 124. Explain the Purchasing Power Parity Theory. Is it a better guide in the fixation of the rate of exchange than gold standard?
(Agra 1959, 1964)

[प्रश्न के पहले भाग के लिए इसी अध्याय के प्रश्न नं० १२२ का पहला भाग देखें।]

विनिमय दर का क्लासिकल सिद्धान्त यह बताता है कि किन्हीं दो देशों की विनिमय दर उनकी मुद्रा की शुद्ध स्वर्ण मात्रा के अनुपात पर निर्भर करती है तथा स्वर्ण आयात बिन्दु व स्वर्ण निर्यात बिन्दु के बाहर नहीं जा सकती। विनिमय दर यदि इससे अधिक या कम हो जायगी तो स्वर्ण का निर्यात व आयात प्रारम्भ हो जायगा। परन्तु आधुनिक युग में इस सिद्धान्त का कोई महत्व नहीं है और केवल सिद्धान्त में ही इसका कुछ महत्व रह गया है। इसका प्रमुख कारण तो यह है कि अब किसी भी देश में स्वर्णमान नहीं रह गया है और यह सिद्धान्त उसी समय व्यवहारिक महत्व का हो सकता है जब दो देशों में स्वर्णमान हो तथा स्वर्ण का आयात-निर्यात स्वतन्त्र हो। परन्तु अब न तो स्वर्णमान है और न ही स्वर्ण का स्वतन्त्र आयात-निर्यात है। क्रय-शक्ति-तुल्यता सिद्धान्त के साथ यह बात नहीं है। इस सिद्धान्त के आधार पर किसी भी मुद्रा-मान में विनिमय दर के निर्धारण को बताया जा सकता है। इसके अतिरिक्त क्रय-शक्ति-तुल्यता सिद्धान्त वस्तुओं के मूल्य-स्तर को लेता है जिनका बहुत अधिक प्रभाव विदेशी व्यापार पर पड़ता है परन्तु क्लासिकल सिद्धान्त केवल मुद्रा में स्वर्ण मात्रा को ध्यान में रखता हैं। परन्तु यह हो सकता है कि देश की मुद्रा में स्वर्ण मात्रा भी स्थिर रहे और स्वर्ण के मूल्यों में भी कोई परिवर्तन न हो परन्तु वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन हो जाय। क्रय-शक्ति तुल्यता सिद्धान्त में यह दुर्बलता नहीं है।

साथ ही क्लासिकल सिद्धान्त के महत्व को एकदम भुलाया भी नहीं जा सकता। यह सिद्धान्त विनिमय दरों के स्थायित्व पर अधिक ध्यान केन्द्रित करता है जबकि क्रय-शक्ति-तुल्यता सिद्धान्त में विनिमय दर स्थिर नहीं रहती। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना से फिर विनिमय दर के स्थायित्व पर महत्व दिया गया है और इस सिद्धान्त की सहायता से विनिमय दरों की स्थापना की गई है। प्रत्येक देश ने अपनी मुद्रा का मूल्य स्वर्ण में परिभाषित किया है जिससे प्रत्येक राष्ट्र की मुद्रा के विनिमय की सम-मूल्य दर (Par Value) निश्चित हो गई है। इस सम-मूल्य दर ने एक ऊपरी सीमा तथा निचली सीमा भी निर्धारित कर दी है। कोई भी देश स्वर्ण का क्रय-विक्रय इस सीमा से ऊपर नीचे मूल्य पर नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त यदि किसी देश की मुद्रा कोष के पास उसके कोटे से अधिक हो जायगी तो देश स्वर्ण देकर उन मुद्राओं को ले लेगा। इसी प्रकार कोष स्वल्प मुद्रा को स्वर्ण से खरीद सकता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि क्लासिकल सिद्धान्त का महत्व बिलकुल समाप्त नहीं हो गया है। परन्तु आजकल प्रत्येक देश को मौद्रिक स्वतन्त्रता होने के कारण विनिमय दर स्वतन्त्र रूप से निश्चित नहीं होती और स्वर्ण मूल्य व मूल्य स्तर दोनों का प्रभाव पूर्णरूप से नही पड़ने पाता।

Q. 125 Examine critically the Purchasing Power Parity theory of foreign exchange. How does it differ from the classical theory of foreign exchange? (Vikram 1964, Agra 1963, 1961)

[क्रय शक्ति समता सिद्धान्त की व्याख्या व आलोचना के लिये प्रश्न १२२ को देखो]

क्रय शक्ति समता सिद्धान्त और प्रतिष्ठित सिद्धान्त में अन्तर

Difference Between Purchasing Power Party Theory and Classical theory of Foreign Exchange.

विदेशी विनिमय का प्रतिष्ठित सिद्धान्त उस समय प्रतिपादित किया गया था जब अधिकतर देशों मे स्वर्णमान था। इस सिद्धान्त के अनुसार किन्हीं दो देशों की विनिमय दर उनकी मुद्रा की शुद्ध स्वर्ण मात्रा के अनुपात पर निर्भर करती है। यह विनिमय दर स्थिर होती है तथा स्वर्ण आयात व निर्यात बिन्दु के बाहर नहीं जा सकती। विनिमय दर इससे अधिक या कम हो जायगी तो स्वर्ण का निर्यात व आयात प्रारम्भ हो जायगा।

क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त मुद्रा के बाह्य मूल्य को ध्यान में रख कर मुद्रा के आन्तरिक मूल्य के आधार पर विनिमय दर का निर्धारण करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार विनिमय दर क्रय-शक्ति समता से निश्चित होती है। इस दर की कोई उच्चतम या निम्नतम सीमा नहीं होती और विनिमय दर में किसी भी सीमा तक परिवर्तन हो सकते हैं।

इस प्रकार दोनों सिद्धान्तों में महत्वपूर्ण अन्तर है। प्रतिष्ठित सिद्धान्त उन देशों मे लागू होता है जहाँ दोनों देशों मे स्वर्णमान हो; समता सिद्धान्त पत्र मुद्रा मान वाले देशों में लागू होता है। दूसरे, प्रतिष्ठित सिद्धान्त मे विनिमय दर स्थिर रहती है और उसमें तब तक परिवर्तन नहीं होता जब तक टंक समता दर स्थिर रहती है। समता सिद्धान्त में कोई टंक समता दर न होने के कारण विनिमय दर परिवर्तनशील होती है। मुद्रा की क्रय-शक्ति मे परिवर्तन होने से विनिमय दर बदल जाती है। तीसरे, प्रतिष्ठित सिद्धान्त का केवल सिद्धान्तिक महत्व है क्योंकि अब किसी भी देश में स्वर्णमान नहीं है। समता सिद्धान्त का व्यवहारिक महत्व है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विनिमय दर के प्रतिष्ठित सिद्धान्त व क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त में आधारभूत अन्तर है।

Q. 126. Describe briefly the Balance of Payments theory of foreign exchange. Why is this theory more satisfactory than others? (Agra 1965)

यह सिद्धान्त इस बात को स्पष्ट करता है कि दीर्घकाल में आयात व निर्यात बराबर होते हैं।

विनिमय दर के निर्धारण का यह सिद्धान्त मांग और पूर्ति के सामान्य सिद्धान्त का एक संशोधित रूप है। इस सिद्धान्त के अनुसार विनिमय दर आयात और निर्यात के सन्तुलन द्वारा निर्धारित होता है। आयात विदेशी मुद्रा की मांग उत्पन्न करते हैं और निर्यात विदेशी मुद्रा की पूर्ति। विदेशी मुद्रा की मांग पूर्ति से अधिक हो जाने पर अर्थात् आयात निर्यात से अधिक होने पर विनिमय दर गिर जाती है। उस देश की मुद्रा का विदेशी मूल्य गिर जाता है और विनिमय दर उसके विपक्ष में हो जाती है। इसके विपरीत विदेशी मुद्रा की पूर्ति मांग से अधिक होने पर विनिमय दर उस देश के पक्ष में हो जाती है। जब आयात व निर्यात अर्थात् विदेशी मुद्रा की मांग व पूर्ति बराबर होते हैं तभी विनिमय दर सामान्य होती है। इस प्रकार भुगतान सन्तुलन विभिन्न देशों की मुद्राओं की विनिमय दर निश्चित करते हैं और उनमें परिवर्तन के कारण भी बनते हैं।

यह सिद्धान्त अन्य सिद्धान्तों से अच्छा है। एक तो यह सिद्धान्त विनिमय दर के निर्धारण के लिये एक अलग सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करता बल्कि विनिमय दर निर्धारण की समस्या का सम्बन्ध सामान्य मूल्य निर्धारण की समस्या से स्थापित कर देता है। दूसरे, यह सिद्धान्त विनिमय दर में होने वाले परिवर्तनों के वास्तविक कारणों को बताता है जिनके कारण व्यवहारिक जगत में विनिमय दर में परिवर्तन होते हैं। तीसरे, यह सिद्धान्त इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि किसी भी देश की मुद्रा की विनिमय दर उसकी प्राकृतिक आर्थिक क्रियाओं पर निर्भर करती है। इस सिद्धान्त का चौथा गुण यह है कि यह इस बात को बताता है कि विनिमय दर में परिवर्तन करके भुगतान के असन्तुलन को दूर किया जा सकता है।

इन्हीं सब गुणों के कारण विनिमय दर का भुगतान सन्तुलन का सिद्धान्त अन्य सिद्धान्तों से अच्छा है।

Q. 127. Do you advocate a stable or a flexible rate of foreign exchange for a country? Discuss their comparative merits and demerits. **(Agra 1953, Vikram 1961)**

Q. 128. Distinguish between fixed and *fluctuating rates of* exchange. Which would you recommend and why? **(Raj. 1962)**

विनिमय दर का प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के साथ साथ आन्तरिक व्यापार पर भी बहुत अधिक पड़ता है। विनिमय दर के स्थिर व लचीली (Flexible) रहने का महत्वपूर्ण प्रभाव आन्तरिक मौद्रिक नीति व विदेशी व्यापार की मात्रा पर होता है। समय-समय पर संसार में दोनों प्रकार की विनिमय दर रही है। सन् १९३६ से

विनिमय दर के निर्धारण के सम्बन्ध में समय-समय पर विभिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं। प्रतिष्ठित सिद्धान्त टंक समता दर सिद्धान्त था जिसके अनुसार विनिमय दर विभिन्न मुद्राओं में स्वर्ण की मात्रा से निर्धारित होती थी स्वर्णमान की समाप्ति पर यह सिद्धान्त बेकार हो गया जिस कारण प्रथम महायुद्ध के पश्चात् स्वेडन के अर्थशास्त्री गुस्टव कैसल (Gustav Cassel) ने क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त (Purchasing Power Parity Theory) का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त के अनुसार विनिमय दर विभिन्न मुद्राओं की क्रय-शक्ति से निर्धारित होती है। परन्तु व्यवहार में यह सिद्धान्त भी कार्यशील नहीं होता।

इन दोनों सिद्धान्तों में कमियां होने के कारण आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने विनिमय दर के निर्धारण के सम्बन्ध में एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जो भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त (Balance of Payments Theory) या सन्तुलन सिद्धान्त (Equilibrium Theory) के नाम से प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त के अनुसार विभिन्न देशों में विनिमय दर उनके भुगतान सन्तुलन (Balance of Payments) द्वारा निश्चित होता है। इस सिद्धान्त को समझने से पहले हमें यह देखना होगा कि भुगतान सन्तुलन क्या होता है।

एक देश का भुगतान सन्तुलन वह व्यवस्थित विवरण होता है जिसमें विदेशों से प्राप्त होने वाले कुल भुगतानों और विदेशों को दिये जाने वाले भुगतानों का विस्तृत वर्णन होता है। यह एक निश्चित समय के समस्त विदेशी लेन-देन का ब्यौरा होता है। इस विवरण में समस्त लेनदारियाँ और देनदारियाँ अलग-अलग दिखाई जाती है। लेनदारियों में वस्तुओं व सेवाओं के निर्यात का मूल्य, विदेशी ऋणों व विनियोगों द्वारा प्राप्त होने वाली आय; विदेशी यात्रियों द्वारा प्राप्त होने वाली आय, विदेशियों से प्राप्त होने वाले मुआवजे, युद्ध-व्यय, दान आदि तथा विदेशियों से प्राप्त होने वाले अन्य प्रकार के शोधन सम्मिलित होते हैं। देनदारियों में वस्तुओं व सेवाओं के आयात का मूल्य, विदेशियों को ऋण चुकाने, ब्याज व लाभ आदि के रूप में दिये जाने वाले शोधन, देश के यात्रियों द्वारा विदेशों में होने वाला व्यय, विदेशियों को दिये जाने वाले दान, मुआवजे, युद्ध-व्यय आदि तथा विदेशियों को किये जाने वाले अन्य प्रकार के शोधन सम्मिलित होते हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार विनिमय दर वही होती है जिस पर देश के आयात व निर्यात बराबर होते हैं। यह सिद्धान्त इस सत्य पर आधारित है कि किसी भी देश की देनदारियाँ व लेनदारियाँ सदा समान होती है। किसी समय में एक देश के आयात या निर्यात उसके निर्यात या आयात से अधिक हो सकते हैं। जब किसी देश के आयात निर्यात से अधिक हो जाते हैं जो वह इस असन्तुलन को दो प्रकार से ठीक करता है। एक तो वह देश अपने निर्यातों को अधिक करें तथा आयातों को कम करें। दूसरे, वह दूसरे देश से उसके देश की मुद्रा उधार ले। पहले उपाय के द्वारा तो स्वयं ही शीघ्र भुगतान सन्तुलन स्थापित हो जाता है परन्तु दूसरे उपाय में कुछ समय लगता है।

यह सिद्धान्त इस बात को स्पष्ट करता है कि दीर्घकाल में आयात व निर्यात बराबर होते हैं।

विनिमय दर के निर्धारण का यह सिद्धान्त माँग और पूर्ति के सामान्य सिद्धान्त का एक संशोधित रूप है। इस सिद्धान्त के अनुसार विनिमय दर आयात और निर्यात के सन्तुलन द्वारा निर्धारित होता है। आयात विदेशी मुद्रा की माँग उत्पन्न करते हैं और निर्यात विदेशी मुद्रा की पूर्ति। विदेशी मुद्रा की माँग पूर्ति से अधिक हो जाने पर अर्थात् आयात निर्यात से अधिक होने पर विनिमय दर गिर जाती है। उस देश की मुद्रा का विदेशी मूल्य गिर जाता है और विनिमय दर उसके विपक्ष में हो जाती है। इसके विपरीत *विदेशी मुद्रा की पूर्ति माँग से अधिक होने पर विनिमय दर उस* देश के पक्ष में हो जाती है। जब आयात व निर्यात अर्थात् विदेशी मुद्रा की माँग व पूर्ति बराबर होते हैं तभी विनिमय दर सामान्य होती है। इस प्रकार भुगतान सन्तुलन विभिन्न देशों की मुद्राओं की विनिमय दर निश्चित करते हैं और उनमें परिवर्तन के कारण भी बनते हैं।

यह सिद्धान्त अन्य सिद्धान्तों से अच्छा है। एक तो यह सिद्धान्त विनिमय दर के निर्धारण के लिये एक अलग सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करता बल्कि विनिमय दर निर्धारण की समस्या का सम्बन्ध सामान्य मूल्य निर्धारण की समस्या से स्थापित कर देता है। दूसरे, यह सिद्धान्त विनिमय दर में होने वाले परिवर्तनों को वास्तविक कारणों को बताता है जिनके कारण व्यवहारिक जगत में विनिमय दर में परिवर्तन होते हैं। तीसरे, यह सिद्धान्त इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि किसी भी देश की मुद्रा की विनिमय दर उसकी प्राकृतिक आर्थिक क्रियाओं पर निर्भर करती है। इस सिद्धान्त का चौथा गुण यह है कि यह इस बात को बताता है कि विनिमय दर में परिवर्तन करके *भुगतान के असन्तुलन को दूर किया जा सकता है।*

इन्हीं सब गुणों के कारण विनिमय दर का भुगतान सन्तुलन का सिद्धान्त अन्य सिद्धान्तों से अच्छा है।

✠

Q. 127. Do you advocate a stable or a flexible rate of foreign exchange for a country? Discuss their comparative merits and demerits. (Agra 1953, Vikram 1961)

Q. 128. Distinguish between fixed and fluctuating rates of exchange. Which would you recommend and why? *(Raj. 1962)*

विनिमय दर का प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के साथ साथ आन्तरिक व्यापार पर भी बहुत अधिक पड़ता है। विनिमय दर के स्थिर व लचीली (Flexibie) रहने का महत्वपूर्ण प्रभाव आन्तरिक मौद्रिक नीति व विदेशी व्यापार की मात्रा पर होता है। समय-समय पर संसार में दोनों प्रकार की विनिमय दर रही है। सन् १९३६ से

पहले जब स्वर्णमान था, विनिमय दर लगभग स्थिर थीं क्योंकि उनमें परिवर्तन केवल स्वर्ण विन्दुओं तक ही हो सकता था। परन्तु स्वर्णमान के समाप्त होने पर विनिमय दरों में बहुत अधिक उच्चावचन होने लगा। इसके भी बहुत से विपरीत प्रभाव विदेशी व्यापार व आन्तरिक आर्थिक अवस्था पर पड़े। अतः अर्थशास्त्रियों में इस सम्बन्ध में मतभेद रहा कि विनिमय दर स्थिर रहनी चाहिये या अस्थिर। वास्तव में दोनों ही प्रकार की विनिमय दरों में लाभ व हानियाँ हैं और यह देखने से पहले कि किस प्रकार की विनिमय दर अधिक ठीक है, दोनों पर विचार करना होगा।

लचीली विनिमय दर के समर्थकों का कहना है कि इस प्रकार की विनिमय दर से देश को आर्थिक नीति अपनाने की स्वतन्त्रता हो जाती है क्योंकि दूसरे देशों की आर्थिक अवस्थाओं का प्रभाव उस पर अधिक नहीं पड़ता। यदि विनिमय दर को स्थिर रक्खा जाता है तो दूसरे देशों की तेजी या मंदी की अवस्थाओं का पूर्ण प्रभाव हमारे देश की आर्थिक अवस्थाओं पर होता है परन्तु लचीली विनिमय दर आसानी से परिवर्तित होकर इन प्रभावों को रोक देती है। इस प्रकार से इस विनिमय दर को 'झटकों को सहन करने वाली' (Shocks Absorber) कहा जाता है।

आधुनिक युग में मौद्रिक नीति का उद्देश्य मूल्यों व रोजगार में स्थायित्व लाना होता है। लचीली विनिमय दर की सहायता से कोई भी देश मूल्यों में स्थायित्व तथा पूर्ण रोजगार की स्थिति ला सकता है। वह उत्पादन, मूल्यों व रोजगार पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है तथा विनिमय दर को स्वतन्त्र छोड़ देता है। विनिमय दर अपने आप सरकार की आन्तरिक नीति के अनुसार कम या अधिक होती रहती है।

देश की अवस्थाओं के अनुसार कभी अपनी मुद्रा का अधिमूल्यन (Under-valuation) करना होता है और कभी अतिमूल्यन (Over-valuation)। जब आयात को बढ़ाना हो तो मुद्रा का अतिमूल्यन करना होता है क्योंकि इससे विदेशी वस्तुएँ सस्ती हो जाती हैं। इसके विपरीत निर्यातों को प्रोत्साहित करने के लिये अधि-मूल्यन करना होता है जिससे हमारी वस्तुयें विदेशियों के लिये सस्ती हो जायें। स्थिर विनिमय दर में मुद्रा का अतिमूल्यन व अधिमूल्यन इतनी सरलता से नहीं किया जा सकता। परन्तु लचीली विनिमय दर में यह कठिनाई नहीं होती।

इस सम्बन्ध में एक तर्क और दिया जाता है कि अर्थशास्त्र में माँग और पूर्ति का सिद्धान्त एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है और यह प्रत्येक क्षेत्र में बहुत ही कुशलता से कार्य करता है। तब क्या कारण है कि इसको विनिमय दर के निर्धारण में भी स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य न करने दिया जाय। ह्विटलीसी (Whittlesey) का कहना है: "There seems no valid reason to assume, as is commonly done, that, while the principle of supply and demand functions fairly well

in goods relationships, it should not be allowed to operate, except within arbitary restrictions, to determine the price of currencies."

शोधनाशेष (Balance of Payments) का बहुत अधिक प्रभाव देश की आर्थिक अवस्था व विदेशी विनिमय की दर पर पड़ता है। इसके अतिरिक्त विनिमय दर का महत्वपूर्ण कार्य शोधनाशेष में सन्तुलन लाना होता है। इसलिये बहुत से अर्थशास्त्रियों का कहना है कि इस 'सन्तुलनकर्त्ता' (Equilibrator) को स्वतन्त्र व स्वचालित रूप से कार्य करने देना चाहिये। Bank for International Settlement की बारहवी वार्षिक रिपोर्ट मे भी इस बात को महत्व दिया था और कहा गया था कि निरन्तर असतुलन को दूर करने के लिये विदेशी विनिमय दर मे समय-समय पर समायोजन होना आवश्यक है। यहाँ उस रिपोर्ट की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं: "A growing understanding of the insufficiency of some of the older methods of ensuring a monetary balance has sometimes led to the conclusion that the only way of preventing a perpetuation of monetary disequilibium on foreign account is to admit relative frequent adjustments in exchange rates."

इस प्रकार से उपरोक्त तर्कों के आधार पर लचीली विनिमय दर को काफी महत्व दिया जा सकता है, परन्तु फिर भी लचीली विनिमय दर को सर्वव्यापी स्वीकृति प्राप्त नही हुई है। इसका मुख्य कारण यह है कि इस प्रकार की विनिमय दर के बहुत से दोष हैं जिससे विदेशी व्यापार में बहुत सी कठिनाइयाँ आती है और विदेशी भुगतानो मे सरलता नही रहने पाती। इसके दोषों को निम्न प्रकार से बताया जाता है और जिनके आधार पर यह कहा जाता है कि विनिमय दरों मे स्थिरता रहनी चाहिए।

(१) लचीली विनिमय दर के समर्थकों का यह कहना है कि आन्तरिक स्थिरता को बनाये रखने के लिये विनिमय दर को स्वतन्त्र छोड देना चाहिए जिससे कि उसमे देश की आवश्यकतानुसार परिवर्तन होते रहे ठीक नही है, क्योंकि विनिमय दर मे उतार चढाव का बहुत अधिक प्रभाव देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था पर पड़ता है। विनिमय दरों के निरन्तर परिवर्तन से आतरिक स्थिरता नही रहने पाती क्योंकि, जैसा कि हाम (Halm) ने कहा है, प्रत्येक बार विनिमय दर मे परिवर्तन से आयात-निर्यात की वस्तुओ के मूल्य मे अन्तर हो जाता है। इसके अतिरिक्त आतरिक स्थिरता इस कारण भी नहीं रह पायेगी, जैसा कि रैगनर नर्कस (Ragnar Nurkse) ने कहा है, क्योंकि स्वतन्त्र रूप से परिवर्तनशील विनिमय दर के कारण बार-बार उत्पादन के साधनों को निर्यात उद्योगो से निकालकर आयात उद्योगों में लगाना होगा और इस प्रकार के परिवर्तन विघ्नकारी व अधिक खर्चीले होंगे।

(२) विदेशी व्यापार मे दो विभिन्न देशों के व्यापारियों में व्यापार होता है। परिवर्तनशील विनिमय दर के कारण कभी एक देश की मुद्रा का मूल्य घट जाता है

और कभी उस देश की मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है। इससे व्यापारी को निश्चित रूप से यह नहीं मालूम होने पाता कि उसको अपनी मुद्रा में कितना भुगतान करना पड़ेगा। विनिमय दर में परिवर्तन हो जाने के कारण उसको पहले से अधिक भी भुगतान करना पड़ सकता है और कम भी। प्रत्येक अवस्था में एक न एक व्यापारी को अवश्य हानि उठानी पड़ेगी। इस हानि को यद्यपि वह अग्रिम विनिमय बाजार (Forward exchange market) में सौदे करके दूर कर सकता है परन्तु ऐसा तब ही हो सकता है जब दर में उतार-चढ़ाव कम हो। इसके अतिरिक्त, वेन सेनडिक (Van Sandick) के अनुसार इस क्रिया में व्यय इतना अधिक होता है कि व्यापारी स्वयं ही इस जोखिम को लेने को तैयार हो जाता है।

(३) लचीली विनिमय दर से सट्टेबाजों (Speculators) को प्रोत्साहन मिलता है तथा विनिमय दर बहुत अधिक अस्थिर हो जाती है। ह्विटलीसी (Whittlesey) के अनुसार जब भी मुद्रा के मूल्य-ह्रास की आशा होती है पूँजी देश से बाहर जाने लगती है। इस अवस्था में मुद्रा का मूल्य और भी तेजी से और पहले गिर जाता है। इस कठिनाई को लचीली विनिमय दर नहीं रोक सकती क्योंकि पूँजी के इस प्रकार के आवागमन को रोकने के लिये विनिमय नियन्त्रण आदि लगाये जाते जाते हैं।

(४) पूँजी आवागमन के साथ ही एक और गम्भीर दोष संयुक्त है जिसके परिणामस्वरूप देश में चलन व साख की मात्रा कम हो जाती है। हेबरलर (Haberler) के अनुसार मुद्रा के मूल्य ह्रास व मूल्य वृद्धि (Depreciation and appreciation) के कारण सट्टेबाजों को बहुत अधिक लाभ या हानि होती है। इस कारण वे अपनी पूँजी को तरलतम रूप में (In a high state of liquidity) रखते हैं। इससे वे मुद्रा को जोड़कर रखते हैं (They hoard the money) जिससे साख का संकुचन होता है, सूद की दर में वृद्धि हो जाती है, विनियोजन कम होने लगता है और बेरोजगारी फैलती है और, जैसा कि हाम (Halm) ने कहा है, "यह एक प्रमाण है जो इस बात को सिद्ध करता है कि परिवर्तन होने वाले विनिमय दर के परिणामों से आन्तरिक अर्थव्यवस्था को पृथक् नहीं किया जा सकता।"[1]

(५) गेयर (Gayer), बर्नस्टीन (Bernstein), हिल (Hill) आदि के अनुसार परिवर्तनशील विनिमय दर से दीर्घकालीन विदेशी विनियोजन भी हतोत्साहित होते हैं क्योंकि ऋणी देश की आन्तरिक अर्थव्यवस्था का बहुत कुछ प्रभाव ऋणदाता देश की ऋण देने व पूंजी विनियोजन की नीति पर पड़ता है। विनिमय दर में परिवर्तन होते रहने से ऋणदाता देश को इस बात का विश्वास नहीं होता कि किस प्रकार का विनियोग करने से उनको किस मात्रा में लाभ प्राप्त होगा।

1. "Anotner proof that it is impossible to insulate the domestic economy against the effects of fluctuating exchange rares." Halm, Monetary Theory.

इस प्रकार से उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि दोनों दरों में कुछ न कुछ अवगुण हैं और दोनों को शुद्ध रूप (Pure form) में नहीं अपना सकते। इसलिये इन दोनों में समन्वय करके मध्य मार्ग अपनाना ही सबसे अच्छा तरीका होगा। विनिमय दरों को एक स्थान पर स्थायी रखना चाहिये परन्तु इस स्थायित्व से देश की अर्थव्यवस्था पर कोई दबाव (Strain) नहीं पड़ना चाहिये। जब भी शोधनाशेष (Balance of Payments) में कोई असन्तुलन आ जाय, विनिमय दर में परिवर्तन लाकर उसको ठीक कर लिया जाय। यह स्थायी दर, "सन्तुलित दर (Equilibrium Rate) के आस-पास होनी चाहिये जिससे कि दीर्घकाल में शोधनाशेष में सन्तुलन स्थापित किया जा सके। अतः हाम (Halm), नर्कस (Nurkse) आदि के अनुसार मौद्रिक अधिकारी का उद्देश्य सतुलन दर की स्थापना होनी चाहिये। इस दर की परिभाषा करते हुए नर्कस (Nurkse) ने कहा है कि "सन्तुलित दर, वह दर है जो, कुछ समय तक अन्तर्राष्ट्रीय चलन मुद्रा कोष में बिना किसी परिवर्तन के शोधनाशेष को सतुलित बनाये रखती है।"[2]

इसके अतिरिक्त इसी लेखक के अनुसार सन्तुलित दर शोधनाशेष के सतुलन को कायम रखती है तथा अपने देश में बेरोजगारी दूसरे देश से अधिक नहीं होती। हाम (Halm) ने इस दर को तटस्थ दर (Neutral Rate) कहा है, क्योंकि इस दर से न तो *निर्यात को कृत्रिम प्रोत्साहन मिलता है और न आयात* पर असाधारण रोक लग जाती है। उसी के शब्दों में, "The equilibrium rate could also be specified as the rate which is "Neutral" because it would not create artificial export advantages or disadvantages." ऐसी दर पर चलन-मुद्रा की माँग और पूर्ति बराबर होती है। परन्तु इस प्रकार की दर को प्रयत्न और भूल के तरीके (Trial and error technique) से ही मालूम किया जा सकता है। इस व्यवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा अधिकारियों में निकट सहयोग की आवश्यकता है क्योंकि यदि दूसरे देशों के अधिकारियों के मत के विरुद्ध मुद्रा में मूल्य ह्रास (Depreciation) किया जायगा तो आपस में प्रतियोगिता प्रारम्भ हो जायेगी। इसीलिये मूल्य ह्रास किसी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा अधिकारी की आज्ञा के बिना नहीं होना चाहिये और इस अन्तर्राष्ट्रीय अधिकारी को इस सम्बन्ध में कुछ नियम बनाने चाहियें अन्यथा मौद्रिक युद्ध (Monetary Warfrae) प्रारम्भ हो जायेगा और इस प्रकार का मौद्रिक युद्ध केवल विभिन्न देशों के विदेशी व्यापार को ही नष्ट नहीं करेगा बल्कि आन्तरिक अर्थव्यवस्था के लिये भी अत्यधिक हानिकारक होगा।

---

2. "The equilibrium rate is the rate which, over a certain period, maintains the balance of payments in equilibrium without any net change in the international currency reserve."—Nurkse

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund) की स्थापना स्थापना से इस प्रकार की विनिमय दर को व्यवहारिक रूप देने का प्रयत्न किया गया है। प्रत्येक देश ने अपनी मुद्रा का समता-मूल्य स्वर्ण या डालर में परिभाषित किया है और इस प्रकार विनिमय दर निश्चित की गई है। इन विनिमय दरों को स्थिर रखना प्रत्येक देश का कर्त्तव्य होगा। परन्तु यदि शोधनाशेष में आधारभूत असन्तुलन हो जाय तो इस दर में परिवर्तन किया जा सकता है। १० प्रतिशत तक परिवर्तन केवल कोष को बता कर किया जा सकता है। १० प्रतिशत से अधिक और २० प्रतिशत तक का परिवर्तन केवल कोष की आज्ञा से ही किया जा सकता है। परन्तु कोष को अपना निर्णय तीन दिन में दे देना होता है। २० प्रतिशत से अधिक का परिवर्तन करने के लिये कोष के दो-तिहाई बहुमत की आवश्यकता होती है।

✱

Q. 129. "The most important reason for controlling the exchange market is to make the rate of exchange different from what it would be without control." Crowther.

Examine the main forms which Exchange Management and Control may take. (Vikram [illegible])

Q. 130. Explain the technique of exchange control. How does it secure payments equilibrium? (Raj 1963, [illegible])

Q. 131. Outline briefly the objects and methods of exchange

अधिक लाभदायक है। आज शायद ही कोई ऐसा देश हो जहाँ विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control) न हो। क्राउथर के अनुसार, "आज के युग में, जहाँ अर्थ-व्यवस्था नियोजित है तथा व्यक्तिगत व्यापार पर सरकार का हस्तक्षेप है, विदेशी विनिमय बाजार पर किसी प्रकार का नियन्त्रण न रखना विचित्र होगा।"[1]

विनिमय नियन्त्रण की परिभाषा (Definition of Exchange Control)—विनिमय नियन्त्रण की व्याख्या व परिभाषा विभिन्न लेखकों ने विभिन्न प्रकार से की है। प्रो० हेबरलर (Haberler) के अनुसार, "विनिमय नियन्त्रण सरकारी हस्तक्षेप है जो विदेशी विनिमय बाजार में आर्थिक शक्तियों को स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं करने देता।"[2]

पाल एनजिग (Paul Einzig) के अनुसार विनिमय नियन्त्रण का अभिप्राय मौद्रिक अधिकारी के उन सभी हस्तक्षेपों से होता है जो विनिमय दरों या उनसे सम्बन्धित बाजारों को प्रभावित करने के लिए किए जाते हैं। हीलपरइन (Heilperin) ने विनिमय नियन्त्रण का अर्थ लिया है कि विदेशी विनिमय का जितना भी लेन देन है, वह सब एक सार्वजनिक अधिकारी के हाथों में केन्द्रित हो। आजकल विनिमय नियन्त्रण का अभिप्राय अन्तिम परिभाषा से ही लिया जाता है।

(iii) शोधनाशेष को ठीक करना;
(iv) विदेशी व्यापार पर नियंत्रण;
(v) सरकारी आय को बढ़ाना;
(vi) विदेशी विनिमय का अधिक आवश्यक कार्य में प्रयोग;
(vii) विनिमय दरों में स्थायित्व लाना;
(viii) स्वतन्त्र दर से भिन्न विनिमय दर स्थायित्व करना।

(३) विनिमय दर की रीतियाँ;
(i) अप्रत्यक्ष रीतियाँ व इनकी सीमायें;
(a) आयात नियन्त्रण;
(b) निर्यात प्रोत्साहन;
(c) सूद की दर में परिवर्तन;
(d) वस्तु विनिमय समझौते व ऋण पर रोक;
(ii) प्रत्यक्ष रीतियाँ;
(a) एक पक्षीय रीतियाँ;
(b) द्वि पक्षीय व बहुपक्षीय रीतियाँ।

---

1. "In this age of planned economics and governmental interference with private business it would be strange if the foreign exchange market were not subject to some degree of control." Crowther : An Outline of Money. page 269.

2. "Exchange's control is the state regulation excluding the free play of economic forces from the foreign exchange market."

Got Hried Von Haberler : Theory of International Trade. P. 83.

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund) की स्था स्थापना से इस प्रकार की विनिमय दर को व्यवहारिक रूप देने का प्रयत्न कि गया है। प्रत्येक देश ने अपनी मुद्रा का समता-मूल्य स्वर्ण या डालर में परिभाषि किया है और इस प्रकार विनिमय दर निश्चित की गई है। इन विनिमय दरों को स्थिर रखना प्रत्येक देश का कर्त्तव्य होगा। परन्तु यदि शोधनाशेष में आधार भूत असन्तुलन हो जाय तो इस दर में परिवर्तन किया जा सकता है। १० प्रतिशत तक परिवर्तन केवल कोष को बता कर किया जा सकता है। १० प्रतिशत से अधिक और १० प्रतिशत तक का परिवर्तन केवल कोष की आज्ञा से ही किया जा सकता है। परन्तु कोष को अपना निर्णय तीन दिन में दे देना होगा। २० प्रतिशत से अधिक का परिवर्तन करने के लिये कोष के दो-तिहाई बहुमत की आवश्यकता होती है।

✻

Q. 129. "The most important reason for controlling the exchange market is to make the rate of exchange different from what it would be without control." Crowther.

Examine the main forms which Exchange Management and Control may take. (Vikram. 1963)

Q. 130. Explain the technique of exchange control. How does it secure payments equilibrium? (Raj 1963, 1962)

Q. 131. Outline briefly the objects and methods of exchange arrangements and control. Illustrate your answer with special referen to Indian conditions. (Agra 1957, 1[illegible]

प्रथम महायुद्ध के दौरान में एक सामान्य वृत्ति का विकास हुआ कि कार्यों पर सरकार का अधिक अधिकार होना चाहिये। इससे आर्थिक क्षेत्र का हस्तक्षेप बढ़ गया और युद्ध समाप्त होने पर इस प्रवृत्ति को और भी अधिक प्रोत्साहन मिला। इस प्रवृत्ति से विदे[illegible] विनिमय व्यवस्था भ[illegible] विनमय दर से [illegible] के आवा[illegible] ओ[illegible]

रूपरेखा

(१) विनिमय नि[illegible] परिभाषा।

(२[illegible]

अधिक लाभदायक है। आज शायद ही कोई ऐसा देश हो जहाँ विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control) न हो। क्राउथर के अनुसार, "आज के युग में, जहाँ अर्थव्यवस्था नियोजित है तथा व्यक्तिगत व्यापार पर सरकार का हस्तक्षेप है, विदेशी विनिमय बाजार पर किसी प्रकार का नियन्त्रण न रखना विचित्र होगा।"[1]

विनिमय नियन्त्रण की परिभाषा (Definition of Exchange Control)—विनिमय नियन्त्रण की व्याख्या व परिभाषा विभिन्न लेखकों ने विभिन्न प्रकार से की है। प्रो० हेबरलर (Haberler) के अनुसार, "विनिमय नियन्त्रण सरकारी हस्तक्षेप है जो विदेशी विनिमय बाजार में आर्थिक शक्तियों को स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं करने देता।"[2]

पाल एनजिग (Paul Einzig) के अनुसार विनिमय नियन्त्रण का अभिप्राय मौद्रिक अधिकारी के उन सभी हस्तक्षेपों से होता है जो विनिमय दरों या उनसे सम्बन्धित बाजारों को प्रभावित करने के लिए किए जाते हैं। हीलपरइन (Heilperin) ने विनिमय नियन्त्रण का अर्थ लिया है कि विदेशी विनिमय का जितना भी लेन देन है, वह सब एक सार्वजनिक अधिकारी के हाथों में केन्द्रित हो। आजकल विनिमय नियन्त्रण का अभिप्राय अन्तिम परिभाषा से ही लिया जाता है।

(iii) शोधनाशेष को ठीक करना;
(iv) विदेशी व्यापार पर नियंत्रण;
(v) सरकारी आय को बढ़ाना;
(vi) विदेशी विनिमय का अधिक आवश्यक कार्य में प्रयोग;
(vii) विनिमय दरों में स्थायित्व लाना;
(viii) स्वतन्त्र दर से भिन्न विनिमय दर स्थायित्व करना।
(३) विनिमय दर की रीतियाँ;
(i) अप्रत्यक्ष रीतियाँ व इनकी सीमायें;
(a) आयात नियन्त्रण;
(b) निर्यात प्रोत्साहन;
(c) सूद की दर में परिवर्तन;
(d) वस्तु विनिमय समझौते व ऋण पर रोक;
(ii) प्रत्यक्ष रीतियाँ;
(a) एक पक्षीय रीतियाँ;
(b) द्वि पक्षीय व बहुपक्षीय रीतियाँ।

1. "In this age of planned economics and interference with private business it would be strange if exchange market were not subject to some degree of wther · An Outline of Money, page 269.

2. "Exchange's control is the state ... play of economic forces from the foreign
Got Hried Von Haberler : Theory of

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund) की स्थापना से इस प्रकार की विनिमय दर को व्यवहारिक रूप देने का प्र गया है। प्रत्येक देश ने अपनी मुद्रा का समता-मूल्य स्वर्ण या डालर में किया है और इस प्रकार विनिमय दर निश्चित की गई है। इन को स्थिर रखना प्रत्येक देश का कर्त्तव्य होगा। परन्तु यदि शोधनाशे भूत असन्तुलन हो जाय तो इस दर में परिवर्तन किया जा सक प्रतिशत तक परिवर्तन केवल कोष को बता कर किया जा सकता से अधिक और १० प्रतिशत तक का परिवर्तन केवल कोष किया जा सकता है। परन्तु कोष को अपना निर्णय तीन दिन २० प्रतिशत से अधिक का परिवर्तन करने के लिये कोष के आवश्यकता होती है।

देशों से अलग-अलग भाव में व्यापार करना चाहे तो सरकार एक ऐसी विनिमय नियन्त्रण नीति अपना सकती है जिसमें कुछ देशों के लिये आयात-निर्यात की एक विशेष दर हो और बाकी देशों के लिए अलग।

(५) सरकारी आय को बढ़ाना (To Increrase Govenment Income)—सरकार अधिक आय को प्राप्त करने के लिये भी विनिमय नियन्त्रण लगा सकती है। ऐसा विदेशी विनिमय की बिक्री दर तथा क्रय-दर में अन्तर करके किया जा सकता है। परन्तु यह उद्देश्य महत्वपूर्ण नहीं है।

(६) विदेशी विनिमय का अधिक आवश्यक कार्यों में प्रयोग (To use the foreign exchange for more urgent work) जब किसी देश में विदेशी विनिमय कम होता है तो सरकार यह चाहती है कि इसका उपयोग केवल उन कार्यों में हो जो देश के लिये अत्यधिक आवश्यक हैं। सरकार इस कारण विनिमय नियन्त्रण लगा देती है और कोई भी व्यक्ति इच्छानुसार विदेशी विनिमय का उपयोग नहीं कर सकता। भारत में इस समय विनिमय नियन्त्रण का उद्देश्य यही है।

(७) विनिमय दरों में स्थायित्व लाना (To bring about stability in the exchange rates)—विनिमय दरों में स्थायित्व बहुत आवश्यक है क्योंकि इन दरों में स्थायित्व न होने से विदेशी व्यापार सन्देहात्मक तथा अनिश्चित हो जाता है। सट्टेबाजी की क्रियाओं को प्रोत्साहन मिलता है। इसलिए, जब स्वर्णमान की समाप्ति पर विनिमय दरों में बहुत अधिक उच्चावचन होने लगे तो बहुत सी सरकारों ने विनिमय नियन्त्रण की क्रियाओं से इन उच्चावचनों को रोका।

(८) स्वतन्त्र दर से भिन्न विनिमय दर की स्थापना करना (To establish the Exchange Rate which is diffsrent from Free Rate)—क्राउथर के अनुसार विनिमय नियन्त्रण का महत्वपूर्ण उद्देश्य नहीं होता है कि इस प्रकार की विनिमय दर स्थापित की जाए जो माँग और पूर्ति की स्वतन्त्र शक्तियों द्वारा निर्धारित दर से भिन्न हो। क्योंकि "यदि सरकार उस विनिमय दर से सन्तुष्ट है जो माँग और पूर्तियों की स्वतन्त्र शक्तियों से निश्चित हुई है तो प्रबन्ध की कोई आवश्यकता ही नहीं होगी।"[4]

जो देश अपनी विनिमय दर को स्वतन्त्र विनिमय दर से भिन्न रखना चाहता है वह इस भिन्नता को तीन प्रकार से ला सकता है :—

(१) वह अपनी मुद्रा का अवमूल्यन (Under-valuation) कर दे, या (२) बहुमूल्यन (Over-valuation) कर दे; या (३) वह विनिमय दर को उसी स्तर

4. "If the Government is satisfied with the rate of exchange determined by the free interplay of demand and supply there is no need for management." Crowthor : An Outline of Money, page 269.

विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्य (Objects of Exchange Control)—विनिमय नियन्त्रण का विकास केवल सरकार की हस्तक्षेपवादी नीति (Interference Policy) का ही परिणाम नहीं है वल्कि विनिमय नियन्त्रण की आवश्यकता युद्ध के दौरान में कुछ कारणों के उत्पन्न होने से पड़ी। वाद में मौद्रिक अधिकारियों ने इसको अपनी मुद्रा नीति का एक भाग वना लिया, क्योंकि इसके वहुत से उद्देश्य की पूर्ति होती है। ये उद्देश्य निम्नलिखित हैं :—

(१) पूँजी को वाहर जाने से रोकना ('To arrest capital flight')—पूँजी के वाहर जाने से आन्तरिक अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ता है और इसीलिये प्रत्येक देश असीमित मात्रा में पूँजी को देश से वाहर नहीं जाने देना चाहता। इसको रोकने का पुराना तरीका मूल्यों, आय व रोजगार में संकुचन करना था जिससे सूद की दर में वृद्धि हो जाय तथा पूँजी का वाहर जाना रुक जाय। परन्तु यह व्यवस्था स्वर्णमान को रखकर ही हो सकती है। स्वर्णमान की अनुपस्थिति में इसको विनिमय नियन्त्रण लगाकर रोका जाता है। सन् १९३० में अधिकतर देशों ने विनिमय नियन्त्रण इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये लगाये थे।

(२) पूँजी के कोष के आवागमन को देश के लाभ के लिए नियन्त्रित करना (To control the movements of funds for the country's interest) पूंजी के कोषों के आवागमन से भी देश की अर्थव्यवस्था पर प्रभाव पड़ता है। विनिमय नियन्त्रण का उद्देश्य इन कोषों के आवागमन को इस प्रकार से नियन्त्रित करना होता है जिससे देश को राजनीतिक व आर्थिक रूप से अधिक से अधिक लाभ पहुँच सके। पाल इनजिग (Paul Einzig) के अनुसार, "The movement (exchange control) was the dream of Socialists and Fascists in various countries to secure complete control over the international movements of funds in the interest of their political and economic plans."[3]

(३) शोधनाशेष को ठीक करना (To correct the balance of payments)—विनिमय नियन्त्रण से शोधनाशेष के कुसमायोगों (Mal-adjustments) को ठीक किया जा सकता है। जव देश प्रशुल्क (Tarrif), कोटा नियन्त्रण (Quota restriction) आदि लगाकर दूसरे देशों के आयातों को रोक देता है तो दूसरे देश का शोधनाशेष विपरीत हो जाता है। इनको ठीक करने के लिये विनिमय नियन्त्रण लगाये जाते हैं।

(४) विदेशी व्यापार पर नियन्त्रण (Restrictions on foreign Trade)—विनिमय नियन्त्रण से कोई देश आयातों व निर्यातों को प्रोत्साहित व हतोत्साहित कर सकता है। यदि वह अपने उद्योगों को प्रोत्साहन देना चाहता है तो विनिमय नियंत्रण की सहायता से आयातों को कम कर सकता है। इसके अतिरिक्त यदि देश विभिन्न

3. Paul Einzing : Exchange Control. page 8.

देशो से अलग-अलग मात्रा मे व्यापार करना चाहे तो सरकार एक ऐसी विनिमय नियन्त्रण नीति अपना सकती है जिससे कुछ देशो के लिये आयात-निर्यात की एक विशेष दर हो और बाकी देशो के लिए अलग।

(५) सरकारी आय को बढ़ाना (To Increrase Govenment Income)—सरकार अधिक आय को प्राप्त करने के लिये भी विनिमय नियन्त्रण लगा सकती है। ऐसा विदेशी विनिमय की विक्री दर तथा क्रय-दर मे अन्तर करके किया जा सकता है। परन्तु यह उद्देश्य महत्वपूर्ण नही है।

(६) विदेशी विनिमय का अधिक आवश्यक कार्य मे प्रयोग (To use the foreign exchange for more urgent work) जब किसी देश मे विदेशी विनिमय कम होता है तो सरकार यह चाहती है कि इसका उपयोग केवल उन कार्यों मे हो जो देश के लिये अत्यधिक आवश्यक हैं। सरकार इस कारण विनिमय नियंत्रण लगा देती है और कोई भी व्यक्ति इच्छानुसार विदेशी विनिमय का उपयोग नही कर सकता। भारत में इस समय विनिमय नियन्त्रण का उद्देश्य यही है।

(७) विनिमय दरों मे स्थायित्व लाना (To bring about stability in the exchange rates)—विनिमय दरो मे स्थायित्व बहुत आवश्यक है क्योंकि इन दरों मे स्थायित्व न होने से विदेशी व्यापार सन्देहात्मक तथा अनिश्चित हो जाता है। सट्टेबाजी की क्रियाओं को प्रोत्साहन मिलता है। इसलिए, जब स्वर्णमान की समाप्ति पर विनिमय दरो मे बहुत अधिक उच्चावचन होने लगे तो बहुत सी सरकारों ने विनिमय नियत्रण की क्रियाओ से इन उच्चावचनों को रोका।

(८) स्वतन्त्र दर से भिन्न विनिमय दर की स्थापना करना (To establish the Exchange Rate which is diffsrent from Free Rate)—क्राउथर के अनुसार विनिमय नियन्त्रण का महत्वपूर्ण उद्देश्य नही होता है कि इस प्रकार की विनिमय दर स्थापित की जाय जो माँग और पूर्ति की स्वतन्त्र शक्तियो द्वारा निर्धारित दर से भिन्न हो। क्योकि "यदि सरकार उस विनिमय दर से संतुष्ट है जो माँग और पूर्तियों की स्वतन्त्र शक्तियो से निश्चित हुई है तो प्रबन्ध की कोई आवश्यकता ही नही होगी।"[4]

जो देश अपनी विनिमय दर को स्वतन्त्र विनिमय दर से भिन्न रखना चाहता है वह इस भिन्नता को तीन प्रकार से ला सकता है :—

(१) वह अपनी मूल्य का अधिमूल्यन (Under-valuation) कर दे, या (२) बहुमूल्यन (Over-valuation) कर दे, या (३) वह विनिमय दर को उसी स्तर

4. "If the Government is satisfied with the rate of exchange determined by the free interplay of demand and supply there is no need for management." Crowthor : An Outline of Money, page 269.

पर रहने दे जो मांग और पूर्ति की शक्तियों के द्वारा निश्चित हुआ है परन्तु उसमें उच्चावचन न होने दे और अधिक समय तक उसी बिन्दु पर स्थिर रक्खे। किस समय किसी देश को अपनी मुद्रा का अतिमूल्यन करना चाहिए तथा कब अविमूल्यन यह एकदम नहीं कहा जा सकता। क्राउथर के शब्दों में, "The rough rule of thumb, therefore is : in times of war and scarcity, over-value your currency; in times of slump and surfeit, under-value your currency." इस प्रकार विनिमय नियंत्रण विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिये लगाये जाते हैं। प्रत्येक देश अपने देश की आर्थिक अवस्था के अनुसार उद्देश्य निश्चित करता है।

विनिमय नियन्त्रण की रीतियां (Methods of Exchange Control)—विनिमय नियंत्रण का उद्देश्य मांग व पूर्ति की शक्तियों को स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य न करने देना होता है। अतः प्रत्येक विनिमय नियंत्रण की नीति मांग व पूर्ति को नियंत्रित करती है। यह नियन्त्रण दो प्रकार से किया जा सकता है। एक तो, विभिन्न सरकारी नीतियों व आज्ञाओं के द्वारा वस्तुओं व पूंजी के स्वतन्त्र आवागमन को रोकना। इससे विदेशी मुद्रा की मांग और पूर्ति पर परोक्ष रूप से नियंत्रण किया जाता है और इसलिये इसको विनिमय नियंत्रण की परोक्ष रीतियाँ (Indirect Methods of Exchange Control) कहा जाता है। दूसरे, सरकार स्वयं विदेशी मुद्रा का क्रय-विक्रय करती है या इसके क्रय-विक्रय को नियन्त्रित करती है। विदेशी मुद्रा की मांग और पूर्ति की शक्तियों पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डाला जाता है और इस कारण इसको विनिमय नियंत्रण की प्रत्यक्ष रीतियाँ (Direct Methods of Exchange Control) कहते हैं।

विनिमय नियन्त्रण की अप्रत्यक्ष रीतियां (Indirect Methods of Exchange Control)—विदेशी विनिमय की माँग और पूर्ति को प्रभावित करके विनिमय नियंत्रण को कार्यशील (Effective) बनाया जा सकता है। ऐसा विभिन्न प्रकार की सरकारी नीतियों व आज्ञाओं के द्वारा किया जाता है। यह सरकारी नीतियाँ तथा आज्ञायें विभिन्न रूप से ले सकती हैं। सर्वप्रथम आयातों को नियंत्रित करके विदेशी मुद्रा की माँग को कम किया जा सकता है। आयातों को कम दो प्रकार से किया जा सकता है—आयात कर लगा कर तथा कोटा (Quota) व लाइसेंस आदि के द्वारा आयात किये गये माल की मात्रा को कम करके। आयात कर लगाने से विदेशी वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है जिससे उसकी मांग कम हो जाती है। आयात किये गये माल की मात्रा कम करके विदेशी मुद्रा की मांग को तथा अपने देश की मुद्रा की पूर्ति को कम किया जाता है। दोनों अवस्थाओं में विनिमय दर अपने देश के पक्ष में हो जाती है। सन् १९३६ में पहले फ्रांस में इसी रीति का प्रयोग व्यापार शेष (Balance of trade) के असंतुलन को ठीक करने के लिये किया गया था।

दूसरी अप्रत्यक्ष रीति निर्यातों को प्रोत्साहन देना है। निर्यातों को भी प्रोत्साहन दो प्रकार से दिया जा सकता है—निर्यात कर मे कमी करके तथा निर्यात को आर्थिक सहायता (Bounties and subsidies)देकर। दोनो प्रकार से निर्यात की गई वस्तुओं का मूल्य कम हो जाता है तथा निर्यातकर्त्ताओ (Exporters) को प्रोत्साहन मिलता है जिसमे निर्यात अधिक होते हैं। विदेशो में हमारे देश की मुद्रा की मांग इससे अधिक हो जायगी तथा उसका मूल्य बढ जायगा। जर्मनी ने इस प्रकार के विनिमय नियन्त्रण का उपयोग किया था।

तीसरी अप्रत्यक्ष रीति सूद की दर में परिवर्तन कर देना है। सूद की दर का प्रभाव पूंजी के आवागमन पर पड़ता है। सूद की दर बढा देने से विदेशों की पूँजी अपने देश मे आने लगती है और अपने देश की पूँजी भी बाहर जाने से रुक जाती है। इससे अपने देश की मुद्रा की मांग बढ जाती है तथा विनिमय दर पक्ष में हो जाती है। सन् १६२४ से सन् १६३० तक जर्मनी ने यही किया। अधिक मात्रा मे पूँजी प्राप्त करके अपने पुनर्निमाण व अपनी युद्ध शक्ति को बढाने में वह बहुत सफल हुआ।

इसके अतिरिक्त वस्तु विनिमय के समझौते (Bartet Agreements) तथा ऋण देने पर रोक (Embargo on Foreign Loans) लगाकर भी विनिमय दर को अपने पक्ष में रक्खा जाता है। वस्तु विनिमय होने से मुद्रा का प्रयोग नही होता और इस कारण मुद्रा की माग व पूर्ति में भी कोई वृद्धि या कमी नही होती। विदेशों को ऋण देने पर रोक लगा कर अपनी मुद्रा की पूर्ति को तथा दूसरे देश की मुद्रा की मांग को कम कर दिया जाता है। इससे विनिमय दर नही गिरने पाती।

अप्रत्यक्ष रीति की सीमायें (Limitations of Indirect Method)—अप्रत्यक्ष रीतियों का उपयोग मौद्रिक जगत (Monetary World) मे अधिक नही किया गया है क्योकि इसकी कुछ सीमायें है। सर्वप्रथम तो इन रीतियों का उपयोग केवल विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्य से ही नही किया जाता बल्कि देश की अर्थ-व्यवस्था की विशेषताओं के कारण भी उनको प्रयोग मे लाया जा सकता है। आयात करो को लगाने का उद्देश्य देश के अविकसित उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना हो सकता है। देश मे लागत अधिक होने पर निर्यात कर मे कमी या आर्थिक सहायता दी जा सकती है। सूद की दर में परिवर्तन आन्तरिक साख को नियन्त्रित करने के लिये भी किया जाता है। दूसरें, यदि दूसरे देश भी इसी प्रकार की समान रीतियाँ अपनाने लगें तो इनका प्रभाव बेकार हो जायगा। इसके अतिरिक्त अशान्ति काल में इन रीतियों का कोई प्रभाव नही होता। युद्धकाल मे मुद्रा मे अविश्वास के कारण ऊँची सूद की दर भी पूँजी को बाहर जाने से न रोक सकी, क्योकि पूँजी को सूद के स्थान पर सुरक्षा की आवश्यकता थी। अन्त मे, इन रीतियों के द्वारा विनिमय दर को प्रभावित किया जा सकता है प्रबन्धित नही (Rate of Exchange can be

influcened but not managed)। क्राउथर ने भी लिखा है "These methods indirect control, therefore, though they are by no means ne gible, are not nearly strong or precise instruments fo government which aspires to bring the exchange rates under cl control."[5]

प्रत्यक्ष रीतियाँ (Direct Methods)—अप्रत्यक्ष रीतियाँ अधिक सफलत कार्य नहीं कर सकतीं, विशेषकर संकटकाल में, इसलिये अधिक शक्तिशाली रीतियों विकास किया गया, जो विदेशी विनिमय की मात्रा को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित क हैं। इनको विनिमय नियन्त्रण की प्रत्यक्ष रीतियाँ कहते हैं। क्राउथर ने इन प्र रीतियों को दो भागों में विभाजित किया है—हस्तक्षेप (Intervention) तथा विनि प्रतिबन्ध (Exchange Restriction)।

हस्तक्षेप (Inteavention)—सरकार जब देखती है कि स्वतन्त्र बाजा विदेशी विनिमय का मूल्य कम या अधिक है तो वह विदेशी विनिमय का क्रय-वि करके इसके मूल्य को इच्छित स्तर तक पहुँचाने का प्रयत्न करती है। यदि इस माँग बाजार में कम होती है और सरकार समझती है कि इसकी माँग अधिक हे चाहिये तो वह विदेशी विनिमय को खरीने लगती है और इसकी माँग बढ़ जाती इसी प्रकार से पूर्ति बढ़ाने के लिये सरकार इसको बेचने लगती है। इसकी सफलता लिये मुद्रा नियन्त्रक के पास अपने देश की मुद्रा, विदेशी मुद्रा और पर्याप्त स्वर्ण क का होना आवश्यक है। विनिमय समीकरण कोष इसका उदाहरण है।

विनिमय प्रतिबन्ध (Exchange Restriction)—इस रीति में सरकार विदे विनिमय की माँग व पूर्ति को बाजार तक पहुँचने से रोक देती है। इससे अपनी मु की पूर्ति या विदेशी मुद्रा की माँग को कम करने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रयोग सर्वप्रथम जर्मनी ने तथा बाद में दूसरे देशों ने किया था, क्योंकि हस्तक्षेप नीति दुर्बल थी तथा पूर्ण सफलता से कार्यशील नहीं थी। इस नीति को सफल बना के लिये तीन बातों की आवश्यकता है—(१) विदेशी विनिमय के सब सौदों प केन्द्रीय बैंक का अधिकार हो; (२) बिना सरकार की आज्ञा के घरेलू मुद्रा क विनिमय के लिये नहीं दिया जा सकता; तथा (३) विदेशी विनिमय के अनधि सौदे करना अपराध होता है।

प्रत्यक्ष विनिमय नियन्त्रण के रूप (Forms of Direct Exchange Control) विनिमय नियन्त्रण करने में कभी तो एक ही देश क्रियाशील होता है और कभी द देश या कुछ देश मिलकर विनिमय नियन्त्रण करते हैं। जब विनिमय नियन्त्रण एक ही देश के कार्यों का परिणाम होता है तो इसे एकपक्षीय रीति (Unilateral Method) कहते हैं। जब दो देश मिलकर विनिमय नियन्त्रण करते हैं और उन क्रियाओं प

5. Ibid : page 261.

प्रभाव दो देशों पर पड़ता है तो उसे द्विपक्षीय रीतियाँ (Bi-lateral Methods) कहते हैं। बहुत से देश जब मिल जाते हैं तब इसे बहुपक्षीय रीतियाँ (Multi-lateral Methods) कहते हैं। द्विपक्षीय व बहुपक्षीय रीतियों में कोई विशेष भेद नहीं है।

एक पक्षीय-रीतियाँ (Unilateral Methods)—इस वर्ग की मुख्य रीतियाँ निम्नलिखित हैं :—

(१) विनिमय समीकरण कोष (Exchange Equalisation Fund or Exchange Stabilization Fund)—इस प्रकार के कोषों की स्थापना इंगलैंड, अमेरिका, फ्रांस आदि देशों में विनिमय दरों में उच्चावचन को रोकने के लिए की गयी थी। लीग ऑफ नेशन्स (League of Nations) के एक प्रकाशन के अनुसार, "An Exchange Stabilization Fund is a collection of assets segregated under a central control for the purpose of intervention in the exchange market to prevent undesirable fluctuations in exchange rates" इन कोषों के पास घरेलू मुद्रा, विदेशी मुद्रा तथा स्वर्ण कोष थे और यह इन मुद्राओं व स्वर्ण से विदेशी मुद्राओं को खरीद बेचकर विनिमय दर को निश्चित सीमा में रखते थे। इन कोषों का उद्देश्य विनिमय दर में अल्पकालीन उच्चावचनों को रोकना था और इन कोषों का उपयोग इस प्रकार किया जाता था कि पूँजी लगाने वालों की घबराहट और सट्टेबाजों की कार्यवाहियों का विनिमय दर पर कोई हानिकारक प्रभाव न पड़े। यह कोष विनिमय बाजार की दीर्घकालीन व स्थायी प्रवृत्तियों में हस्तक्षेप नहीं करते थे।

(२) अवरुद्ध खाता (Blocked Accounts)—सरकार इस प्रकार का नियम बना देती है कि किसी भी विदेशी मनुष्य को अपनी सम्पत्ति, प्रतिभूतियाँ तथा उस देश की मुद्रा देश से बाहर ले जाने की आज्ञा नहीं होती। इसके अतिरिक्त उस देश के व्यक्तियों को जो ऋण दूसरे देशों को देना होता है वे सरकार को ही दे देते हैं और सरकार उस राशि को विदेशी के नाम अवरुद्ध खाते में जमा कर लेती है। उसको इसमें से मुद्रा निकालने का अधिकार नहीं होता। विदेशी विवश होकर उस राशि के बदले वस्तुएँ स्वीकार करते हैं या इस राशि को कम मूल्य पर बेच देते हैं। प्रत्येक प्रकार से उस देश को लाभ होता है। जर्मनी ने इस प्रणाली को प्रथम महायुद्ध के बाद अपनाया था। इससे जर्मनी ने विदेशी विनिमय की चोर-बाजारी को जन्म दिया, जिसको 'ब्लैक बोर्स' (Black Bourse) कहा गया।

(३) राशनिंग (Rationing)—इस रीति में विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय का कार्य केवल सरकार करती है और विनिमय दरों का निर्धारण भी सरकार का ही कार्य होता है। विदेशी विनिमय का उपयोग विनिमय कार्यों में किस प्रकार किया जायगा, इसका निर्णय सरकार करती है। विदेशी विनिमय का स्वतन्त्र व्यापार रोक दिया जाता है। युद्ध काल में भारत में इसका उपयोग किया गया था।

(४) विनिमय टद्बन्धन (Exchange Pegging)—इस रीति का उपयोग अधिकतर युद्धकाल में किया जाता है। देश में मुद्रा-स्फीति व मुद्रा-संकुचन की अवस्थाओं के कारण मुद्रा का आन्तरिक मूल्य घट जाता है या बढ़ जाता है। परन्तु सरकार विनिमय दर को एक निश्चित दर पर बनाये रखना चाहती है और दर को एक बिन्दु पर निर्धारित कर देना ही विनिमय उद्बंधन कहलाता है। यदि मुद्रा को आन्तरिक मूल्य से अधिक मूल्य दिया जाता है तो इसे 'विनिमय दर को ऊपर टाँगना' (Pegging up) कहा जाता है तथा आन्तरिक मूल्य से कम पर 'विनिमय दर को नीचे अटकाना' (Pegging down)। भारत व इगलैंड में महायुद्धों के दौरान में इस प्रणाली को काम मे लाया गया था।

द्वि-पक्षीय व बहु-पक्षीय रीतियाँ (Bilateral and Multilateral Methods))—इनमें सम्मिलित होने वाली मुख्य रीतियाँ निम्नलिखित हैं :—

(१) शोधन समझौते (Payments Agreements)—यह समझौते दो राष्ट्रों में किये जाते हैं और यह रीति विनिमय राशनिंग का ही एक रूप है। इस प्रणाली मे इस प्रकार का समझौता हो जाता है कि प्रत्येक देश इस प्रकार के नियंत्रण लगायेगा जिससे दोनों देश समान मूल्य का सामान खरीद सकें। इसका एक रूप वह होता है जिसका उद्देश्य पिछले ऋण वसूल करना होता है। जर्मनी व इंगलैंड में सन् १९३४ में इसी प्रकार का समझौता हुआ था, जिसके अनुसार जर्मनी इंगलैंड को भेजे गये निर्यात का ४५% ही उपयोग कर सकता था। बाकी ५५% इंगलैंड को ऋण के भुगतान के रूप में देना होता था।

(२) समाशोधन समझौते (Clearing Accounts)—यह समझौता दो देशों के मध्य होता है। इस समझौते की यह विशेषता है कि विदेशी भुगतान इस प्रकार से किया जाता है कि विदेशी विनिमय की आवश्यकता नहीं पड़ती। दोनों देशों में विनिमय दर तय हो जाती है। आयातकर्त्ता अपनी ही मुद्रा में भुगतान अपने देश के केन्द्रीय बैंक को कर देता है जो इस मुद्रा से निर्यातकर्त्ताओं का भुगतान कर देता है। यह समझौते व्यापार का समानाधिकरण कर देते हैं और शोधनाशेष में जो अन्तर होता है वह या तो आगे के लिये टाल दिया जाता है या स्वर्ण या तीसरे देश की मुद्रा में उसका भुगतान कर दिया जाता है।

(३) विलम्ब काल हस्तान्तरण (Transfer Moratoria)—इस पद्धति में निर्यातकर्त्ता भुगतान अपनी ही मुद्रा में अपने देश की किसी अधिकृत संस्था को करता रहता है। यह संस्था इस राशि को जमा करती रहती है और निश्चित समय के बाद विदेशियों को भुगतान कर दिया जाता है।

(४) यथास्थित समझौते (Standstill Agreements)—इस समझौते के अनुसार पूँजी के आवागमन पर रोक लगा दी जाती है और विदेशी ऋणों को किश्तों में चुकाया जाता है। अल्पकालीन ऋणों को दीर्घकालीन ऋणों में परिवर्तित कर

दिया जाता है जिससे ऋणी देश अपनी आन्तरिक व्यवस्था को ठीक कर सके। सन् १६३१ के बाद जर्मनी ने इसका उपयोग किया था।

इस प्रकार विनिमय नियंत्रण के विभिन्न रूप हैं और विभिन्न राष्ट्रों ने इनका उपयोग विभिन्न समयों मे किया है। परन्तु अब प्रयत्न इस ओर है कि विनिमय नियंत्रणों को समाप्त किया जा सके। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का एक उद्देश्य यह भी है कि विनिमय नियत्रणों को दूर किया जाय क्योकि विनिमय नियत्रण से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का क्षेत्र सीमित होता है।

Q. 132. Outline briefly the objects and methods of exchange management and control. In what manner was exchange control adopted in India during the last war? (Agra 1960, Vikram 1960)

(विनिमय प्रबन्ध व नियन्त्रण के उद्देश्य व तरीको के लिये प्रश्न 131 के उत्तर को देखें)।

युद्ध के दौरान मे विनिमय नियन्त्रण

Exchange Control During the War.

विदेशी विनिमय दर मे स्थिरता लाने के लिये तथा युद्ध को सुचारु रूप से चलाते रहने के लिए इगलैंड ने विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control) लगाने का निश्चय किया। इगलैंड के समान भारत ने भी सन् १६३६ के Defence of India Ordinance के अनुसार विनिमय नियन्त्रण का अधिकार प्राप्त कर लिया और इसके नियन्त्रण व शासन का कार्य रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को सौंपा गया जिसके लिए विनिमय नियन्त्रण विभाग (Foreign Exchage Department) प्रारम्भ किया गया। सरकार की ओर के विदेशी विनिमय सम्बन्धी कार्य करने के लिये कुछ व्यक्तियो व संस्थाओं को लाइसेंस दे दिए गए। इसी प्रकार से लाइसेंस कुछ विदेशी विनिमय बैंकों को दे दिए गए। विनिमय नियन्त्रण की सामान्य नीति यह थी कि स्टर्लिंग क्षेत्र की मुद्राओं का क्रय-विक्रय स्वतन्त्रता से किया जा सकता था परन्तु स्टर्लिंग क्षेत्र से बाहर की मुद्राओ के क्रय-विक्रय पर बन्धन थे। विनिमय पर नियन्त्रण इस प्रकार से किया जाता था जिससे रुपये व स्टर्लिंग की विनिमय दर १८ पैंस बनी रहे।

युद्ध के दौरान में भारत के लिये विनिमय नियन्त्रण की आवश्यकता नहीं थी परन्तु मित्रराष्ट्रो, विशेषकर इंगलैंड, को युद्ध प्रयत्नों में सहायता देने के लिए विनिमय नियन्त्रण को आवश्यक समझा गया। युद्ध के उपरान्त विनिमय नियन्त्रण को समाप्त नही किया गया बल्कि विदेशी विनिमय अधिनियम सन् १६४७ (Foreign Exchange Regulations Act 1947) के अन्तर्गत इसे स्थायी कर दिया गया।

इस अधिनियम के द्वारा रिजर्व बैंक व भारत सरकार को समस्त विदेशी विनिमय लेन देन का विनिमय करने का अधिकार दिया गया।

Q. 133. Explain exchange control. Give its objects and me ods with particular reference to its operation in India since 1951.
(Raj. 19[illegible]

(विनिमय नियन्त्रण के अर्थ व विनिमय रूपों के लिये प्रश्न 131 के उ को देखें।)

भारत में विनिमय नियन्त्रण

Exchange Control in India

युद्ध प्रारम्भ होने पर इंगलैंड के साथ-साथ भारत ने भी सितम्बर सन् १६३६ से विनिमय नियन्त्रण लागू किया। भारत में विनिमय नियन्त्रण की आवश्यकता नहीं थी परन्तु मित्रराष्ट्रों, विशेषकर इंगलैंड, को युद्ध में सहायता देने के लिए इसको लागू किया गया। विनिमय नियन्त्रण को Defence of India Ordinance के अन्तर्गत लागू किया गया। इसके प्रशासन का कार्य रिजर्व बैंक को सौंपा गया जिसके लिए विनिमय नियन्त्रण विभाग (Foreign Exchange Department) प्रारम्भ किया गया।

विनिमय नियन्त्रण की सामान्य नीति यह थी कि स्टर्लिंग क्षेत्र से बाहर की मुद्राओं का क्रय-विक्रय स्वतन्त्रता के साथ किया जा सकता था परतु स्टर्लिंग क्षेत्र से बाहर की मुद्राओं के क्रय-विक्रय पर बन्धन थे। विनिमय पर नियन्त्रण इस प्रकार से किया जाता था जिससे रुपये व स्टर्लिंग की विनिमय दर १८ पैंस बनी रही।

युद्ध के बाद विनिमय नियन्त्रण को समाप्त नहीं किया गया बल्कि सन् १६४७ में विदेशी विनिमय नियमन अधिनियम पास करके इसको स्थायी रूप दे दिया गया। इस अधिनियम ने विदेशी विनिमय के नियन्त्रण के समस्त अधिकार भारत सरकार व रिजर्व बैंक को सौंप दिये। रिजर्व बैंक ने विदेशी मुद्रा के लेन-देन करने का अधिकार ३६ बैंकों को दे रक्खा है जिसमें से २१ भारतीय अनुसूचित (Scheduled) बैंक हैं और बाकि १५ विदेशी बैंक हैं।

रिजर्व बैंक विनिमय दर को स्थिर रखने के लिये १ शि० ६ पैं० की दर पर स्टर्लिंग बेचता है तथा १ शि० ५$\frac{६३}{६४}$ पैं० की दर पर स्टर्लिंग खरीदता है। अन्य मुद्राओं की क्रय-विक्रय दर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा निर्धारित दर पर की जाती है। रिजर्व बैंक विदेशी विनिमय के लेन-देन प्रत्यक्ष व्यक्तियों से नहीं करता बल्कि अधिकृत बैंकों के द्वारा करता है। विदेशी विनिमय के नियन्त्रण के लिए रिजर्व बैंक का विनिमय नियन्त्रण विभाग (Exchange Control Department) है।

पंच-वर्षीय योजनायें प्रारम्भ होने के बाद से विनिमय नियन्त्रण को [illegible] दे दिया गया है। विकास कार्यों के कारण भारत को मशीन, कच्चे माल व [illegible] की सेवाओं का बड़ी मात्रा में आयात करना पड़ रहा है। परन्तु हमारे निर्यात [illegible]

नहीं है कि आयातों का भुगतान कर सके। इसलिए विनिमय नियन्त्रण के माध्यम के द्वारा आयातों को नियन्त्रित किया जाता है।

आयातों के सम्बन्ध मे सरकार ६ महीने के लिए अपनी आयात नीति घोषित करती है जिसमे इस बात का निर्धारण होता है कि वस्तुओं का कितना आयात किया जाना है। उसी नीति के आधार पर आयात-लाइसेंस प्रदान किये जाते हैं। बिना आयात लाइसेंस के कोई आयात नही किया जा सकता।

विदेशी विनिमय की कमी होने के कारण केवल अत्यन्त आवश्यक वस्तुओ के आयातो की आज्ञा दी जाती है। विदेशी भ्रमण, शिक्षा आदि के लिए भी सामान्यत: आज्ञा कम दी जाती है। चिकित्सा, प्रशिक्षण आदि के लिए पहले रिजर्व बैंक से अनुज्ञा-पत्र लेना होता है। अनुज्ञा-पत्र देने से पहले रिजर्व बैंक यह देख लेता है कि उस प्रकार की सुविधायें भारत में है या नही। सुविधाओ के भारत मे न होने पर ही अनुज्ञा-पत्र दिया जाता है।

यातायात शुल्क, बीमा शुल्क, विदेशो मे पूँजी भेजने आदि के लिए भी रिजर्व बैंक से आज्ञा लेनी होती है। व्यक्तियों को विदेशो से जो भी मुद्रा प्राप्त होती है उसे रिजर्व बैंक को बताना होता है।

प्रारम्भ मे विनिमय नियंत्रण का उद्देश्य सरकार के युद्ध कार्यों मे सहायता प्रदान करना था। परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति व योजनाओं के प्रारम्भ के पश्चात से विनिमय नियन्त्रण का उद्देश्य बदल गया है अब विनिमय नियन्त्रण नीति को आर्थिक विकास का आवश्यक साधन बना दिया गया है।

Selected Readings.

1. N. Crump : The A B C of Foreign Exchange.
2. Frank A. Southard Jr : Foreign Exchange Practice and Policy.
3. A. C. Whittakar . Foreign Exchange Chs. V, XI-XVI XX-XXIII.
4. G. V. Haberler : The Theory of International Trade, Ch. IV.
5. G. Growther : An Outline of Money, Chs. VII, VIII
6. G. N Halm : Economics of Money and Banking Chs. 40, 41.
7. Paul Einzig : Exchange Control.
8 P. T, Ellasworth : The International Economy, Ch. 19.
9. G. H. Cole. : Money : Its Present and Future Ch. XIII.

अवमूल्यन
(Devaluation)

Q. 134. State and explain briefly the main reasons on which devaluation of a country's currency can be justified.

(Agra 1964, 1957)

द्रव्य विनिमय का साधन है और विनिमय केवल एक देश के विभिन्न व्यक्तियों में ही नहीं होता, बल्कि दो देशों के विभिन्न व्यक्तियों में भी होता है। परन्तु दोनों देशों में मुद्रा अलग-अलग होती है तथा एक देश की मुद्रा दूसरे देश का व्यक्ति स्वीकार नहीं करता। इसलिए जब भी कोई व्यक्ति एक देश से कुछ वस्तु मंगाता है तो साथ ही वह उस देश की मुद्रा को भी खरीदता है और जिस मूल्य पर यह उस देश की मुद्रा को खरीदता है वही उसका वाह्य-मूल्य (External Value) कहलाता है। अवमूल्यन (Devaluation) का सम्बन्ध मुद्रा के इसी वाह्य मूल्य से है। जब कोई देश अपने देश की मुद्रा के वाह्य मूल्य को कम कर देता है तो इसको अवमूल्यन कहते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि अवमूल्यन के साथ-साथ द्रव्य के आन्तरिक मूल्य को भी कम किया जाय यद्यपि कभी-कभी अवमूल्यन व मुद्रा-ह्रास (Depreciation) साथ-साथ किया जाता है।

रूपरेखा

(१) अवमूल्यन का अर्थ।
(२) अवमूल्यन कब न्यायपूर्ण होता है :
- (a) मुद्रा के आन्तरिक व वाह्य मूल्य में अन्तर;
- (b) मुद्रा का अतिमूल्यन;
- (c) मूल्य-स्तर को ऊँचा उठाना;
- (d) दूसरे देश के मूल्य-स्तर में कमी;
- (e) निर्यातों को प्रोत्साहन।

(३) अवमूल्यन के प्रभाव व उनका औचित्य।

डा० गांगुली (Dr. Ganguli) के अनुसार, "अवमूल्यन की सरल परिभाषा किसी देश के चलन का वाहरी मूल्य कम कर देने से है।"* पाल एनज़िग (Pau

---

* "Devaluation may be simply defined as the lowering of the external value of the currency of a country." Dr. Ganguli.

Einzig) के अनुसार अवमूल्यन का अर्थ मुद्राओं की प्रधिकृत तुल्यताओं (Official parities) में कमी कर देने से है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना से जो देश इसके सदस्य है वे स्वर्ण या अमेरिकन डालर से अपना मूल्य कम कर देते हैं। जैसे सितम्बर सन् १९४९ से पहले एक रुपया ०·२८६६०१ ग्रेन शुद्ध स्वर्ण या ३० २२५ सेंट के बराबर था। परन्तु अवमूल्यन करने पर भारत ने स्वर्ण में अपनी मुद्रा का मूल्य घटा कर ०·१८६६१ ग्रेन शुद्ध स्वर्ण के बराबर कर दिया तथा अमेरिकन डालर में भी अपना मूल्य ३०·२२५ सेंट से घटा कर २१ सेंट कर दिया।

मुद्रा अवमूल्यन कोई भी देश बिना किसी उद्देश्य के नहीं करता, बल्कि इस प्रकार का ठीक प्रकार से अध्ययन कर लिया जाता है कि अवमूल्यन का अनुकूल प्रभाव देश पर पड़ेगा या नहीं क्योंकि अवमूल्यन देश के मूल्य स्तर व विदेशी व्यापार को बहुत अधिक प्रभावित करता है। इसलिये यहाँ पर यह देखना होगा कि किन दशाओं में अवमूल्यन करना चाहिए तथा कब यह न्यायपूर्ण कहा जा सकता है।

सर्वप्रथम, अवमूल्यन उस दशा में ठीक होता है जबकि किसी देश की मुद्रा के आन्तरिक मूल्य व बाह्य मूल्य में अन्तर होता है। यदि किसी देश में सामान्य मूल्य स्तर बढ़ जाता है परन्तु मुद्रा का बाह्य मूल्य ऊँचा ही रहता है तो दोनों को एक स्तर पर लाने के लिए यह आवश्यक है कि या तो देश में उत्पादन लागत व मूल्य स्तर को नीचे गिराया जाय अथवा मुद्रा के बाह्य मूल्य को गिराया जाय। यदि कोई देश इस प्रकार से अपने मूल्य स्तर व लागत को नहीं गिराता या मुद्रा के बाह्य मूल्य को ऊँचा ही रहने देता है तो इसका प्रभाव उसकी अर्थव्यवस्था व विदेशी व्यापार पर ठीक नहीं पड़ता। उसके देश के निर्यात कम होते जाते हैं क्योंकि उसकी वस्तुओं का मूल्य विदेशों में बहुत ऊँचा है तथा आयात बढ़ते जाते हैं क्योंकि विदेशी वस्तुओं को यहाँ बेचने में अधिक लाभ है। इसलिये अर्थव्यवस्था व शोधना-शेष को सन्तुलित करने के लिये उपरोक्त दोनों साधनों में से किसी साधन को अपनाया जाता है। उत्पादन लागत व मूल्य स्तर को नीचे गिराना अधिक सरल व लाभदायक नहीं होता। इसलिये अवमूल्यन की क्रिया को प्रयोग में लाया जाता है।

दूसरे, अपनी मुद्रा का अवमूल्यन उस समय भी किया जाता है जब अपने देश में मुद्रा का अतिमूल्यन (Over-valuation) हो। मुद्रा के अतिमूल्यन के कारण निर्यात हतोत्साहित होते हैं तथा आयात प्रोत्साहित। इसका सुधार अवमूल्यन करके किया जा सकता है।

तीसरे, आन्तरिक मूल्य स्तर को ऊँचा उठाने के लिये भी अवमूल्यन किया जाता है। जब देश में संकुचन (Deflation) की अवस्था हो तथा मूल्य स्तर बहुत गिरा हुआ हो तब अवमूल्यन से हमारी वस्तुयें विदेशियों के लिये सस्ती हो जाती हैं और यदि उनके देश में हमारे निर्यातों पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगा हुआ है तो वे हमारी वस्तुओं को अधिक मंगायेंगे। इससे हमारी वस्तुओं की विदेशी मांग बढ़ जावेगी और हमारे देश में वस्तुओं के मूल्य ऊँचे उठ जावेंगे। इससे उत्पादन

को भी प्रोत्साहन मिलेगा और रोजगार की मात्रा बढ़ने से संकुचन की अवस्था दूर हो जायेगी। इसके अतिरिक्त यदि हमारे देश में कच्चे माल, खाद्य पदार्थों आदि का आयात अधिक होता है तो भी अवमूल्यन के कारण वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाने के कारण स्फीति की प्रवृत्ति (Inflationary Tendency) प्रारम्भ हो जायेगी। इस प्रकार अवमूल्यन का प्रभाव 'स्फीतिक' (Inflationary) होता है और कई बार इसका प्रयोग इसी उद्देश्य के लिये किया जाता है। महामंदी काल में जो विभिन्न देशों ने अवमूल्यन किया था, उसका मुख्य उद्देश्य वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि करना था।

चौथे, अवमूल्यन का उपयोग उस समय भी किया जाता है जबकि किसी दूसरे देश के मूल्य स्तर में गिरावट आ जाए। दूसरे देश में मूल्य के गिरने का प्रभाव यह होता है कि वहाँ का सामान अधिक मात्रा में हमारे देश में आने लगता है। उसको रोकने के लिये मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया जाता है।

पाँचवें, निर्यातों को प्रोत्साहन देने के लिये भी मुद्रा का अवमूल्यन किया जाता है। यदि किसी देश के निर्यात विदेशों में कम हों तथा वह देश उनको प्रोत्साहित करना चाहता हो तो वह अवमूल्यन की क्रिया से अपनी वस्तुओं का मूल्य विदेशों में कम कर देता है। इससे उनको प्रोत्साहन मिल जाता है। इसी प्रकार यदि कोई देश आयातों पर रोक लगाना चाहता हो परन्तु विनिमय नियन्त्रण की अन्य रीतियों को न अपनाना चाहता हो तब भी वह इस क्रिया का उपयोग कर सकता है।

इस प्रकार से अवमूल्यन विभिन्न उद्देश्यों को पूरा करने के लिये किया जा सकता है। परन्तु इसका प्रभाव एक ही होता है—विदेशी वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि तथा हमारी वस्तुओं के विदेशी मूल्य में कमी। अवमूल्यन के लाभ प्रत्येक देश को प्राप्त नहीं हो सकते बल्कि उसी देश को प्राप्त हो सकते हैं जिसके आयातों व निर्यातों में पर्याप्त लचक हो। यदि आयात व निर्यात लचीले हैं तो अवमूल्यन से आयात कम होंगे तथा निर्यात अधिक होंगे। यदि आयात व निर्यात दोनों में लचक कम होगी तो आयातों के मूल्यों में वृद्धि होने पर भी आयातों में कमी नहीं होगी और निर्यातों के मूल्य कम हो जाने पर उनकी मात्रा में भी वृद्धि नहीं होगी। परन्तु इसका प्रभाव देश की अर्थ-व्यवस्था पर यह होगा कि हमको विदेशों को अधिक मूल्य देना पड़ जायेगा जबकि प्राप्त कम होगा। अतः कम लोचदार आयात-निर्यात वाला देश इसको अपने लाभ के लिये उपयोग में नहीं ला सकता।

अवमूल्यन के शक्तिदायक प्रभाव (Tonic effects) अधिक स्थायी नहीं होते। अवमूल्यन के लाभ थोड़े समय के लिए ही प्राप्त होते हैं। यह लाभ तब तक प्राप्त होते हैं जब तक कि देश का लागत-मूल्य का ढांचा (Cost-price Structure) उस नई विनिमय तुल्यता (Exchange parity) के बराबर नहीं आ जाता जो अवमूल्यन के कारण हुई है। इसके अतिरिक्त अवमूल्यन स्वयं सफल नहीं हो सकता

और न ही यह स्वयं में साधन है। अवमूल्यन की सफलता के लिए तथा इसके लाभ को प्राप्त करने के लिए कुछ बातों का होना बहुत आवश्यक है। प्रथम तो यदि अवमूल्यन के कारण अवमूल्यन करने वाले देश में वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो जाती है तो अवमूल्यन के लाभप्रद प्रभाव प्राप्त नहीं हो सकेंगे। इस कारण सरकार के अत्यधिक प्रभावपूर्ण नियन्त्रण की आवश्यकता है जिससे कि उन वस्तुओं के सट्टे को रोका जा सके जिनके कारण कुछ व्यक्तियों को अधिक लाभ की आशा है।

इसके अतिरिक्त उस देश की सरकार का भी पूर्ण सहयोग मिलना चाहिये जिसकी मुद्रा से हमने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन किया है। यदि वह देश हमारी वस्तुओं पर आयात नियन्त्रण लगा देता है तो अवमूल्यन के लाभप्रद प्रभाव प्राप्त नहीं हो सकेंगे। साथ ही हमारे देश में आयात करने वाले देश यदि आर्थिक सहायता (Subsidy) से अपनी आयातों के मूल्य गिरा देते हैं तो भी अवमूल्यन का उद्देश्य पूरा नहीं हो पायेगा।

☆

Q. 135. Discuss briefly the consequences of devaluation of the Indian Rupee in 1949. (Agra 1955)

Q. 136 Explain the factors which led to the devaluation of the pound sterling. Why was the rupee devalued in terms of the dollar? What steps the Government of India took to overcome the difficulties caused by devaluation of the rupee? (Agra 1952)

Q. 137. Explain the circumstances which led to the devaluation of sterling and examine the propriety of the devaluation of the rupee in consequence. (Agra 1958, 1961)

१८ सितम्बर सन् १९४९ को इंगलैंड के वित्तमन्त्री (Chancellor of the Exchequer) सर स्टेफोर्ड क्रिप्स (Sir Stafford Cripps) ने इगलैंड की मुद्रा की डालर के सम्बन्ध में अवमूल्यन की घोषणा की और ब्रिटिश स्टर्लिंग के साथ जो डालर का मूल्य था उसे ४·०३ डालर से घटाकर २·८० डालर कर दिया। इस प्रकार उसने ३०·५ प्रतिशत अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया। घोषणा को सुन कर संसार चकित सा रह गया क्योंकि इतने अधिक अवमूल्यन की आशा किसी को भी नहीं थी। PTI—Reuter की रिपोर्ट ने इस प्रतिक्रिया को बहुत सुन्दर शब्दों में व्यक्त

रूपरेखा :

(१) इगलैंड द्वारा अवमूल्यन।
(२) इगलैंड द्वारा अवमूल्यन का कारण।
(३) भारत द्वारा रुपये का अवमूल्यन।
(४) भारत के अवमूल्यन के कारण।
 (i) ७५% व्यापार स्टर्लिंग क्षेत्र से;

को भी प्रोत्साहन मिलेगा और रोजगार की मात्रा बढ़ने से संकुचन की अवस्था दूर हो जायेगी। इसके अतिरिक्त यदि हमारे देश में कच्चे माल, खाद्य पदार्थों आदि का आयात अधिक होता है तो भी अवमूल्यन के कारण वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाने के कारण स्फीति की प्रवृत्ति (Inflationary Tendency) प्रारम्भ हो जायेगी। इस प्रकार अवमूल्यन का प्रभाव 'स्फीतिक' (Inflationary) होता है और कई बार इसका प्रयोग इसी उद्देश्य के लिये किया जाता है। महामंदी काल में जो विभिन्न देशों ने अवमूल्यन किया था, उसका मुख्य उद्देश्य वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि करना था

चौथे, अवमूल्यन का उपयोग उस समय भी किया जाता है जबकि किसी दूसरे देश के मूल्य स्तर में गिरावट आ जाए। दूसरे देश में मूल्य के गिरने का प्रभाव यह होता है कि वहाँ का सामान अधिक मात्रा में हमारे देश में आने लगता है उसको रोकने के लिये मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया जाता है।

पाँचवें, निर्यातों को प्रोत्साहन देने के लिये भी मुद्रा का अवमूल्यन किया जाता है। यदि किसी देश के निर्यात विदेशों में कम हों तथा वह देश उनको प्रोत्साहित करना चाहता हो तो वह अवमूल्यन की क्रिया से अपनी वस्तुओं का मूल्य विदेशों में कम कर देता है। इससे उनको प्रोत्साहन मिल जाता है। इसी प्रकार यदि कोई देश आयातों पर रोक लगाना चाहता हो परन्तु विनिमय नियन्त्रण की अन्य रीतियों को न अपनाना चाहता हो तब भी वह इस क्रिया का उपयोग कर सकता है।

इस प्रकार से अवमूल्यन विभिन्न उद्देश्यों को पूरा करने के लिये किया जा सकता है। परन्तु इसका प्रभाव एक ही होता है—विदेशी वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि तथा हमारी वस्तुओं के विदेशी मूल्य में कमी। अवमूल्यन के लाभ प्रत्येक देश को प्राप्त नहीं हो सकते बल्कि उसी देश को प्राप्त हो सकते हैं जिसके आयातों व निर्यातों में पर्याप्त लचक हो। यदि आयात व निर्यात लचीले हैं तो अवमूल्यन से आयात कम होंगे तथा निर्यात अधिक होंगे। यदि आयात व निर्यात दोनों में लचक कम होगी तो आयातों के मूल्यों में वृद्धि होने पर भी आयातों में कमी नहीं होगी और निर्यातों के मूल्य कम हो जाने पर उनकी मात्रा में भी वृद्धि नहीं होगी। परन्तु इसका प्रभाव देश की अर्थ-व्यवस्था पर यह होगा कि हमको विदेशों को अधिक मूल्य देना पड़ जायेगा जबकि प्राप्त कम होगा। अतः कम लोचदार आयात-निर्यात वाला देश इसको अपने लाभ के लिये उपयोग में नहीं ला सकता।

अवमूल्यन के शक्तिदायक प्रभाव (Tonic effects) अधिक स्थायी नहीं होते। अवमूल्यन के लाभ थोड़े समय के लिए ही प्राप्त होते हैं। यह लाभ तब तक प्राप्त होते हैं जब तक कि देश का लागत-मूल्य का ढांचा (Cost-price S
उस नई विनिमय तुल्यता (Exchange parity) के बराबर
अवमूल्यन के कारण हुई है। इसके अतिरिक्त अवमूल्यन स्व

इस समस्या को दूर करने का उस समय एक ही तरीका था कि इंगलैंड अपने
र्यात बढ़ाये तथा आयातों को कम करे। निर्यातों को बढ़ाने व आयतो को घटाने
लिये इंगलैंड का माल विदेशों में सस्ता होना चाहिये था और विदेशों का माल
लैंड मे महंगा हो जाना चाहिये था। इसका एकमात्र उपाय था डालर के बदले
धिक वस्तुओं को देना तथा पौंड के बदले मे कम वस्तुओं का लेना अर्थात् पौंड
अवमूल्यन। इस अवमूल्यन के सुझाव पर ही विचार करने के लिए सात से बारह
बर सन् १६४६ तक वाशिंगटन मे एक त्रिदल सम्मेलन इंगलैंड, अमेरिका व
ा का हुआ जिसमे इंगलैंड के अवमूल्यन को आवश्यक समझा गया और परिणाम-
सर स्टेफोर्ड क्रिप्स ने १८ सितम्बर १६४६ का पौंड के अवमूल्यन की घोषणा
।

इस प्रकार पौंड के अवमूल्यन का कारण, सर क्रिप्स के अनुसार, इंगलैंड की
ा की स्टर्लिंग-डालर समस्या थी जो कि किसी भी प्रकार से सुलझायी नही
थी। परन्तु उस समय हाउस ऑफ कॉमन्स (House of Commons) में
ल्यन का बहुत विरोध हुआ था। चर्चिल ने इसका मुख्य रूप से विरोध किया
ऑलिवर स्टेनली (Mr. Oliver Stanley) ने भी अवमूल्यन का विरोध करते
ा कि "हम अवमूल्यन का विरोध इस कारण कर रहे है क्योंकि यह केवल
ी नही बल्कि बहुत भयकर भी है।"[1]

ा विरोध के होते हुये भी इंगलैंड की इस क्रिया का समर्थन संसार के अर्थ-
किया था। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary
अधिकारियों व इंगलैंड के अमेरिकन शुभचिन्तकों ने ब्रिटेन के अवमूल्यन
मात्रा व कानूनी व्यवहार (procedure) को ठीक कहा था।

रत मे रुपये का अवमूल्यन (Devaluation of Indian Rupee)—१८
न् १६४६ को पौंड स्टर्लिंग की अवमूल्यन की घोषणा करते हुये सर स्टेफोर्ड
ा था, "यद्यपि यह समस्या केवल ब्रिटेन की है, जो स्टर्लिंग क्षेत्र का बैंकर है,
साथ स्टर्लिंग क्षेत्र के सदस्यों को भी सहयोग देना चाहिये।" और क्रिप्स
ना को स्टर्लिंग क्षेत्र के लगभग भी सदस्यो ने स्वीकार कर लिया था और
का अवमूल्यन कर दिया था। भारत मे भी २० सितम्बर सन् १६४६ को
मूल्यन की घोषणा कर दी गई और रुपये का डालर के साथ उतना ही
कया गया जितना पौण्ड ने किया था। परिणामतः रुपये का डालर एवं
प्रतिशत घटा दिया अर्थात् रुपये का डालर मूल्य ३०·२२५ सैन्ट से घटा
ट कर दिया गया। स्टर्लिंग के रुपये मूल्य में परिवर्तन नहीं हुआ, यह कोई
ि० ही रहा।

We object to devaluation because we think it is not only
but very dangerous." Mr. Oliver Stanley. (M. P.)

किया था। इस रिपोर्ट के अनुसार, "Financial circles in many of the world's capitals were shcoked at the extent of the plunge in the value of the pound sterling in relation to the dollar. Even Wall Street was amazed by the drastic cut form $ 4·03 to $ 2·80 to the pound. The worst that American financries expected was a cut to $ 3·25 to the pound."

(ii) अमेरिका से विपरीत भुगतान शेष।

(५) अवमूल्यन के प्रभाव;

(i) आयात-निर्यात पर;

(ii) मूल्य स्तर पर;

(ii) पाकिस्तान से व्यापार पर।

(६) अवमूल्यन की कठिनाइयों को दूर करने के लिये सरकार द्वारा किये गये प्रयत्न।

इंगलैंड की मुद्रा पौंड स्टर्लिंग का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजार में रहा है और विभिन्न देशों की मुद्राओं में यह सबसे प्रिय मुद्रा थी। परन्तु अवमूल्यन करने से इसकी प्रतिष्ठिना को बहुत धक्का लगा और इसलिये यह स्पष्ट है कि इंगलैंड बिना किसी गम्भीर कारण के अवमूल्यन करने को तैयार नहीं हुआ होगा। अतः यहाँ पर यह देखना आवश्यक हो जाता है कि इंगलैंड ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन क्यों किया था।

इंगलैंड के अवमूल्यन का मुख्य कारण उसका अमेरिका के साथ बढ़ता हुआ विपरीत शोधनाशेष था। सन् १९२५ में इंगलैंड की मुद्रा का अतिमूल्यन (Over-valuation) था और इंगलैंड का व्यापार शेष उसके प्रतिकूल चल रहा था। सन् १९२५ से सन् १९३१ तक इंगलैंड ने बहुत अधिक प्रयत्न अपनी मुद्रा के वाह्य मूल्य को स्थिर रखने के लिये किया परन्तु वह सफल न हो सका और अन्त में सन् १९३१ में उसको अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करना पड़ा। इसने अतिमूल्यन के दोषों को तो दूर कर दिया परन्तु उसके निर्यातों में वृद्धि नहीं हो सका क्योंकि अमेरिका, फ्रान्स आदि ने भी अपनी मुद्राओं के मूल्य को कम कर दिया था। इस कारण उसकी डालर समस्या (Dolar Gap) में किसी प्रकार की कमी नहीं हुई थी बल्कि युद्धोत्तर काल (Post-War period) में यह और भी अधिक गम्भीर हो गयी। सन् १९४६ में यह समस्या २२७ मिलियन पौंड की थी जो सन् १९४७ में बढ़कर १,०२४ मिलियन पौंड हो गई। आयातों को कम करने के बावजूद भी यह समस्या कम नहीं हो रही थी तथा ६०० मिलियन पौंड प्रतिवर्ष से कम नहीं थी। इसके अतिरिक्त इस डालर समस्या के कारण स्टर्लिंग क्षेत्र (Sterling Area) की स्वर्ण व डालर निधि (Gold and Dollar Reserves) में भी निरन्तर गिरावट आती जा रही थी। सन् १९४९ तक यह निधि घटकर ४०६ मिलियन पौंड रह गई और इस निधि में बराबर कमी आती जा रही थी।

इस समस्या को दूर करने का उस समय एक ही तरीका था कि इंगलैंड अपने निर्यात बढ़ाये तथा आयातों को कम करे। निर्यातों को बढ़ाने व आयतों को घटाने के लिये इंगलैंड का माल विदेशों में सस्ता होना चाहिये था और विदेशों का माल इंगलैंड में महंगा हो जाना चाहिये था। इसका एकमात्र उपाय था डालर के बदले में अधिक वस्तुओं को देना तथा पौंड के बदले में कम वस्तुओं का लेना अर्थात् पौंड का अवमूल्यन। इस अवमूल्यन के सुझाव पर ही विचार करने के लिए सात से बारह सितम्बर सन् १६४६ तक वाशिंगटन में एक त्रिदल सम्मेलन इंगलैंड, अमेरिका व कनाडा का हुआ जिसमें इगलैंड के अवमूल्यन को आवश्यक समझा गया और परिणामस्वरूप सर स्टेफोर्ड क्रिप्स ने १८ सितम्बर १६४६ का पौंड के अवमूल्यन की घोषणा कर दी।

इस प्रकार पौंड के अवमूल्यन का कारण, सर क्रिप्स के अनुसार, इगलैंड की उस समय की स्टर्लिंग-डालर समस्या थी जो कि किसी भी प्रकार से सुलझायी नहीं जा रही थी। परन्तु उस समय हाउस ऑफ कॉमन्स (House of Commons) में इस अवमूल्यन का बहुत विरोध हुआ था। चर्चिल ने इसका मुख्य रूप से विरोध किया था। श्री ऑलिवर स्टेनली (Mr. Oliver Stanley) ने भी अवमूल्यन का विरोध करते हुये कहा था कि "हम अवमूल्यन का विरोध इस कारण कह रहे हैं क्योंकि यह केवल बेईमानी ही नहीं बल्कि बहुत भयंकर भी है।"[1]

इस विरोध के होते हुये भी इंगलैंड की इस क्रिया का समर्थन संसार के अर्थशास्त्रियों ने किया था। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) ने अधिकारियों व इंगलैंड के अमेरिकन शुभचिन्तकों ने ब्रिटेन के अवमूल्यन की क्रिया, मात्रा व कानूनी व्यवहार (procedure) को ठीक कहा था।

भारत में रुपये का अवमूल्यन (Devaluation of Indian Rupee)—१८ सितम्बर सन् १६४६ को पौंड स्टर्लिंग की अवमूल्यन की घोषणा करते हुये सर स्टेफोर्ड क्रिप्स ने कहा था, "यद्यपि यह समस्या केवल ब्रिटेन की है, जो स्टर्लिंग क्षेत्र का बैंकर है, परन्तु उसके साथ स्टर्लिंग क्षेत्र के सदस्यों को भी सहयोग देना चाहिये।" और क्रिप्स की इस प्रार्थना को स्टर्लिंग क्षेत्र के लगभग भी सदस्यों ने स्वीकार कर लिया था और अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया था। भारत में भी २० सितम्बर सन् १६४६ को रुपये के अवमूल्यन की घोषणा कर दी गई और रुपये का डालर के साथ उतना ही अवमूल्यन किया गया जितना पौण्ड ने किया था। परिणामत. रुपये का डालर एवं स्वर्ण ३०·५ प्रतिशत घटा दिया अर्थात् रुपये का डालर मूल्य ३०·२२५ सैन्ट से घटा कर २१ सैन्ट कर दिया गया। स्टर्लिंग के रुपये मूल्य में परिवर्तन नहीं हुआ, यह कोई १ शि० ६ पें० ही रहा।

---

1. "We object to devaluation because we think it is not only dishonest but very dangerous." Mr. Oliver Stanley. (M. P.)

किया था। इस रिपोर्ट के अनुसार, "Financial circles in many of the world's capitals were shcoked at the extent of the plunge in the value of the pound sterling in relation to the dollar. Even Wall Street was amazed by the drastic cut form $ 4·03 to $ 2·80 to the pound. The worst that American financries expected was a cut to $ 3·25 to the pound."

(ii) अमेरिका से विपरीत भुगतान शेष।
(५) अवमूल्यन के प्रभाव;
(i) आयात-निर्यात पर;
(ii) मूल्य स्तर पर;
(ii) पाकिस्तान से व्यापार पर।
(६) अवमूल्यन की कठिनाइयों को दूर करने के लिये सरकार द्वारा किये गये प्रयत्न।

इंगलैंड की मुद्रा पौंड स्टर्लिंग का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजार में रहा है और विभिन्न देशों की मुद्राओं में यह सबसे प्रिय मुद्रा थी। परन्तु अवमूल्यन करने से इसकी प्रतिष्ठिना को बहुत धक्का लगा और इसलिये यह स्पष्ट है कि इंगलैंड बिना किसी गम्भीर कारण के अवमूल्यन करने को तैयार नहीं हुआ होगा। अतः यहाँ पर यह देखना आवश्यक हो जाता है कि इंगलैंड ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन क्यों किया था।

इंगलैंड के अवमूल्यन का मुख्य कारण उसका अमेरिका के साथ बढ़ता हुआ विपरीत शोधनाशेष था। सन् १९२५ में इंगलैंड की मुद्रा का अतिमूल्यन (Over-valuation) था और इंगलैंड का व्यापार शेष उसके प्रतिकूल चल रहा था। सन् १९२५ से सन् १९३१ तक इंगलैंड ने बहुत अधिक प्रयत्न अपनी मुद्रा के वाह्य मूल्य को स्थिर रखने के लिये किया परन्तु वह सफल न हो सका और अन्त में सन् १९३१ में उसको अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करना पड़ा। इसने अतिमूल्यन के दोषों को तो दूर कर दिया परन्तु उसके निर्यातों में वृद्धि नहीं हो सका क्योंकि अमेरिका, फ्रांस आदि ने भी अपनी मुद्राओं के मूल्य को कम कर दिया था। इस कारण उसकी डालर समस्या (Dolar Gap) में किसी प्रकार की कमी नहीं हुई थी बल्कि युद्धोत्तर काल (Post-War period) में यह और भी अधिक गम्भीर हो गयी। सन् १९४६ में यह समस्या २२७ मिलियन पौंड की थी जो सन् १९४७ में बढ़कर १,०२४ मिलियन पौंड हो गई। आयातों को कम करने के बावजूद भी यह समस्या कम नहीं हो रही थी तथा ६०० मिलियन पौंड प्रतिवर्ष से कम नहीं थी। इसके अतिरिक्त इस डालर समस्या के कारण स्टर्लिंग क्षेत्र (Sterling Area) की स्वर्ण व डालर निधि (Gold and Dollar Reserves) में भी निरन्तर गिरावट आती जा रही थी। सन् १९४९ के जून तक यह निधि घटकर ४०६ मिलियन पौंड रह गई और इस निधि में बराबर कमी आती जा रही थी।

इस समस्या को दूर करने का उस समय एक ही तरीका था कि इंगलैंड अपने निर्यात बढ़ाये तथा आयातों को कम करे। निर्यातों को बढ़ाने व आयतों को घटाने के लिये इंगलैंड का माल विदेशों में सस्ता होना चाहिये था और विदेशों का माल इंगलैंड मे महंगा हो जाना चाहिये था। इसका एकमात्र उपाय था डालर के बदले में अधिक वस्तुओं को देना तथा पौंड के बदले मे कम वस्तुओं का लेना अर्थात् पौंड का अवमूल्यन। इस अवमूल्यन के सुझाव पर ही विचार करने के लिए सात से बारह सितम्बर सन् १६४६ तक वाशिंगटन मे एक त्रिदल सम्मेलन इंगलैंड, अमेरिका व कनाडा का हुआ जिसमे इंगलैंड के अवमूल्यन को आवश्यक समझा गया और परिणाम-स्वरूप सर स्टेफोर्ड क्रिप्स ने १८ सितम्बर १६४६ का पौंड के अवमूल्यन की घोषणा कर दी।

इस प्रकार पौंड के अवमूल्यन का कारण, सर क्रिप्स के अनुसार, इगलैंड की उस समय की स्टर्लिंग-डालर समस्या थी जो कि किसी भी प्रकार से सुलझायी नहीं जा रही थी। परन्तु उस समय हाउस ऑफ कॉमन्स (House of Commons) में इस अवमूल्यन का बहुत विरोध हुआ था। चर्चिल ने इसका मुख्य रूप से विरोध किया था। श्री ऑलिवर स्टेनली (Mr. Oliver Stanley) ने भी अवमूल्यन का विरोध करते हुये कहा था कि "हम अवमूल्यन का विरोध इस कारण कह रहे हैं क्योंकि यह केवल बेईमानी ही नही बल्कि बहुत भयंकर भी है।"[1]

इस विरोध के होते हुये भी इंगलैंड की इस क्रिया का समर्थन ससार के अर्थ-शास्त्रियों ने किया था। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) ने अधिकारियों व इंगलैंड के अमेरिकन शुभचिन्तकों ने ब्रिटेन के अवमूल्यन की क्रिया, मात्रा व कानूनी व्यवहार (procedure) को ठीक कहा था।

भारत में रुपये का अवमूल्यन (Devaluation of Indian Rupee)—१८ सितम्बर सन् १६४६ को पौंड स्टर्लिंग की अवमूल्यन की घोषणा करते हुये सर स्टेफोर्ड क्रिप्स ने कहा था, "यद्यपि यह समस्या केवल ब्रिटेन की है, जो स्टर्लिंग क्षेत्र का बैंकर है, परन्तु उसके साथ स्टर्लिंग क्षेत्र के सदस्यों को भी सहयोग देना चाहिये।" और क्रिप्स की इस प्रार्थना को स्टर्लिंग क्षेत्र के लगभग सभी सदस्यों ने स्वीकार कर लिया था और अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया था। भारत मे भी २० सितम्बर सन् १६४६ को रुपये के अवमूल्यन की घोषणा कर दी गई और रुपये का डालर के साथ उतना ही अवमूल्यन किया गया जितना पौण्ड ने किया था। परिणामतः रुपये का डालर एवं स्वर्ण ३०.५ प्रतिशत घटा दिया अर्थात् रुपये का डालर मूल्य ३०.२२५ सैन्ट से घटा कर २१ सैन्ट कर दिया गया। स्टर्लिंग के रुपये मूल्य में परिवर्तन नहीं हुआ, यह कोई १ शि० ६ पैं० ही रहा।

1. "We object to devaluation because we think it dishonest but very dangerous." Mr. Oliver [illegible]

रुपये का अवमूल्यन रक्षात्मक उपाय था। भारतीय सरकार ने अवमूल्यन पर सरकारी विज्ञप्ति (Government Communique on devaluation) में इस बात को स्पष्ट कर दिया था कि अवमूल्यन भारत के लिए लाभप्रद नहीं था क्योंकि इससे भारत की डालर समस्या का समाधान होने की सम्भावना नहीं थी। इसका कारण यह था कि यहां पर आयातों पर नियन्त्रण लगा रखे थे तथा अवमूल्यन की कोई आवश्यकता नहीं थी। इसके अतिरिक्त भारत के निर्यातों की मांग विदेशों में बेलोचदार थी और इस कारण अवमूल्यन से कुल निर्यात आय में वृद्धि होने की आशा नहीं थी। परन्तु जब कि इंगलैंड के साथ-साथ स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य देशों ने भी अवमूल्यन किया तो भारत को उनसे विलग रहना कठिन हो गया। उसको विवश होकर अपनी मुद्रा का अवमूल्यन भी करना पड़ा। अतः स्पष्ट है कि भारतीय सरकार ने अवमूल्यन अपनी इच्छा के विरुद्ध किया था। यह सरकारी विज्ञप्ति के इस वाक्य से स्पष्ट हो जाता है, "The Government of India did not favour such a course as it was felt that in view of the general conditions of Indian economy, devaluation was not likely to solve India's problem of dollar shortage."

भारत के न चाहने पर भी इसको अवमूल्यन क्यों करना पड़ा? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है जिसका उत्तर भी स्पष्ट है। भारत के अवमूल्यन करने के कई महत्वपूर्ण कारण थे जो इस प्रकार से लिखे जा सकते हैं:—

भारत के रुपये का तत्काल इंगलैंड के बराबर अवमूल्यन का मुख्य कारण यह था कि भारत का ७५ प्रतिशत व्यापार स्टर्लिंग क्षेत्र के साथ होता था और स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों ने मिलकर जो साम्राज्य डालर कोष (Empire Dollar Pool) बनाया था उसमें से सबसे अधिक भाग इंगलैंड के बाद भारत लेता था। इस अवस्था में यदि वह अपनी मुद्रा का अवमूल्यन न करता तो बहुत बुरा प्रभाव भारत के विदेशी व्यापार पर पड़ता। इसके साथ ही साथ भारत के बहुत से प्रतियोगी थे जो उस क्षेत्र में ही व्यापार करते थे जिस क्षेत्र में भारत। जैसे लंकाशायर कपड़े में, लंका चाय में, पूर्वी अफ्रीका मूँगफली में, दक्षिणी अफ्रीका मैंगनीज में तथा डण्डी जूट के सामान में हमारा प्रतियोगी था तथा उन सब ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया था। ऐसी अवस्था में यदि भारत अपने रुपये का अवमूल्यन नहीं करता तो उसके निर्यातों का मूल्य बढ़ जाता और उसके प्रतियोगियों की वस्तुओं का मूल्य कम हो जाता। अतः भारत का माल विदेशों में नहीं बिकता तथा इससे उसके निर्यात कम हो जाते जिससे शोधनाशेष और भी प्रतिकूल हो जाता है। इसलिये स्टर्लिंग क्षेत्र में भारत की वस्तुओं का मूल्य बढ़ने न पाये, इस कारण रुपये का अवमूल्यन किया गया था। जब कि २८ अन्य देशों ने अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन किया तो भारत के सामने भी अवमूल्यन के अतिरिक्त और दूसरा कोई रास्ता नहीं था। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के नवम्बर सन् १९५० के बुलेटिन के अनुसार, "Devaluation thus became a defensive

necessity and it is in this sense that devaluation in India may be said to possess a speciality of its own and its choice became a Hobson's choice."

इसके अतिरिक्त अवमूल्यन का एक कारण यह भी था कि भारत का अमेरिका से शोधनाशेष (Balance of Payments) विपरीत चल रहा था और भारत को भी डालर की कमी महसूस हो रही थी और यह प्रतिवर्ष बढ़ता जा रही थी। सन् १९४५-४६ से लेकर सन् १९४८-४९ तक डालर कमी ५ करोड़ रुपये से बढ़ कर ३७ करोड़ रुपये हो गया था तथा बीच के दो वर्षों में तो वह ८६ करोड़ तथा ६३ करोड़ रुपये तक पहुंच गया था। इस कमी को पूरा करने के लिये उसने अन्य भी बहुत से उपाय किये थे जैसे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से १०० मिलियन डालर उधार लिया, विश्व बैंक से ४० मिलियन डालर उधार लिया अमेरिका से भी सहायता ली तथा स्टलिंग का पावनों डालर में परिवर्तन करना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु इन सब उपायों का भी प्रभाव इतना कार्यसाधक नहीं हुआ कि भारत की डालर समस्या का हल हो जाता। अतः डालर समस्या को सुलझाने के दृष्टिकोण से भी भारत ने अवमूल्यन किया था।

इस प्रकार अवमूल्यन का मुख्य उद्देश्य डालर समस्या को दूर करना नहीं था बल्कि स्टर्लिंग क्षेत्र में भारत के निर्यातों को कम न होने देना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसको अन्य साथी देशों का साथ देना पड़ा। भारत स्वतन्त्र रूप से इस साधन को अपनाने के लिये कभी तैयार नहीं होता। यदि उसका अधिक व्यापार स्टर्लिंग क्षेत्र के साथ न होता, जैसे पाकिस्तान का था, तो शायद भारत अवमूल्यन नहीं करता। भारत के वित्त मन्त्री ने इस बात को स्पष्ट कहा था कि उसने अवमूल्यन "तर्क द्वारा सिद्ध विश्वास के कारण नहीं किया था बल्कि घटनाओं के दबाव के कारण किया था।"

अवमूल्यन का प्रभाव (Effects of Devaluation)—भारत अवमूल्यन के लाभों को प्राप्त नहीं कर सका। अवमूल्यन के कारण व्यापार-शेष भी पक्ष में न हो सका तथा मूल्यों को भी ऊपर चढ़ने से रोकने में सरकार सफल नहीं हुई। प्रारम्भ में भारत का व्यापार-शेष कुछ सन्तुलित अवस्था की ओर अग्रसर हुआ परन्तु यह अधिक समय तक न रह सका। इसके अतिरिक्त यह अवस्था अवमूल्यन के कारण नहीं थी बल्कि अन्य बातों के कारण थी। सन् १९४८-४९ में व्यापार-शेष १८३·४५ करोड़ रुपये से भारत के विपक्ष में था सन् १९४९-५० में घटकर ११८·९ करोड़ रुपये रह गया और सन् १९५०-५१ में केवल २२·०१ करोड़ रुपये ही रह गया। परन्तु अगले ही वर्ष सन् १९५१-५२ में यह व्यापार शेष बढ़ कर २०९.६३ करोड़ रुपये हो गया। इस प्रकार भारत के व्यापार-शेष पर अवमूल्यन का प्रभाव बहुत ही क्षणिक था और वह प्रभाव भी अवमूल्यन के कारण नहीं था बल्कि कोरियन युद्ध

रुपये का अवमूल्यन रक्षात्मक उपाय था। भारतीय सरकार ने अवमूल्यन पर सरकारी विज्ञप्ति (Government Communique on devaluation) में इस बात को स्पष्ट कर दिया था कि अवमूल्यन भारत के लिए लाभप्रद नहीं था क्योंकि इससे भारत की डालर समस्या का समाधान होने की सम्भावना नहीं थी। इसका कारण यह था कि यहाँ पर आयातों पर नियन्त्रण लगा रक्खे थे तथा अवमूल्यन की कोई आवश्यकता नही थी। इसके अतिरिक्त भारत के निर्यातों की माँग विदेशों में बेलोचदार थी और इस कारण अवमूल्यन से कुल निर्यात आय में वृद्धि होने की आशा नहीं थी। परन्तु जब कि इंगलैंड के साथ-साथ स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य देशों ने भी अवमूल्यन किया तो भारत को उनसे विलग रहना कठिन हो गया। उसको विवश होकर अपनी मुद्रा का अवमूल्यन भी करना पड़ा। अत. स्पष्ट है कि भारतीय सरकार ने अवमूल्यन अपनी इच्छा के विरुद्ध किया था। यह सरकारी विज्ञप्ति के इस वाक्य से स्पष्ट हो जाता है, "The Government of India did not favour such a course as it was felt that in view of the general conditions of Indian economy, devaluation was not likely to solve India's problem of dollar shortage."

भारत के न चाहने पर भी इसको अवमूल्यन क्यों करना पड़ा ? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है जिसका उत्तर भी स्पष्ट है। भारत के अवमूल्यन करने के कई महत्वपूर्ण कारण थे जो इस प्रकार से लिखे जा सकते हैं:—

भारत के रुपये का तत्काल इंगलैंड के बराबर अवमूल्यन का मुख्य कारण यह था कि भारत का ७५ प्रतिशत व्यापार स्टर्लिंग क्षेत्र के साथ होता था और स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों ने मिलकर जो साम्राज्य डालर कोष (Empire Dollar Pool) बनाया था उसमें से सबसे अधिक भाग इंगलैंड के बाद भारत लेता था। इस अवस्था में यदि वह अपनी मुद्रा का अवमूल्यन न करता तो बहुत बुरा प्रभाव भारत के विदेशी व्यापार पर पड़ता। इसके साथ ही साथ भारत के बहुत से प्रतियोगी थे जो उस क्षेत्र में ही व्यापार करते थे जिस क्षेत्र में भारत। जैसे लंकाशायर कपड़े में, लंका चाय में, पूर्वी अफ्रीका मूँगफली में, दक्षिणी अफ्रीका मैंगनीज में तथा डण्डी जूट के सामान में हमारा प्रतियोगी था तथा उन सब ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया था। ऐसी अवस्था में यदि भारत अपने रुपये का अवमूल्यन नहीं करता तो उसके निर्यातों का मूल्य बढ़ जाता और उसके प्रतियोगियों की वस्तुओं का मूल्य कम हो
भारत का माल विदेशों में नहीं बिकता तथा इससे उसके निर्यात
शोधनाशेष और भी प्रतिकूल हो जाता है। इसलिये स्टर्लिंग
का मूल्य बढ़ने न पाये, इस कारण रुपये
२८ अन्य देशों ने अपनी मुद्राओं का अव
के अतिरिक्त और दूसरा कोई रास्ता
सन् १९५० के बुलेटिन के अनुसार

और पाकिस्तान के अवमूल्यन न करने कारण थी। इन बातों के बारे में पहले से कोई ज्ञान नहीं था और यह कहा जा सकता है कि यदि परिस्थितियाँ समान रहती तो भारत को भी अवमूल्यन के लाभ प्राप्त हो जाते।

अवमूल्यन की कठिनाइयों को दूर करने के लिए सरकार द्वारा किये गए प्रयत्न (The Steps Government took to Overcome the Difficulties caused by Devaluation)—अवमूल्यन से उत्पन्न होने वाली परिस्थिति का सामना करने के लिए भारत सरकार ने ५ अक्टूबर सन् १९४९ को एक योजना घोषित की जिसको आठ-सूत्री कार्यक्रम (Eight-point Programme) कहते हैं। इसका मुख्य उद्देश्य मूल्यों की अत्यधिक वृद्धि को रोकना तथा विदेशी विनिमय साधनों को सुरक्षित रखना था। इस कार्यक्रम की मुख्य बातें इस प्रकार थी :—

(i) अवमूल्यन से जो नई स्थिति उत्पन्न होगी, उसके अनुसार व्यापार को इस प्रकार नियन्त्रित किया जाय जिससे कि विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) में कम से कम व्यय हो।

(ii) भारत सरकार के बजट में ४० करोड रुपये की बचत सन् १९४९–५० में करना तथा ८० करोड की बचत अगले वर्ष (सन् १९५०–५१) में करना।

(iii) आवश्यक वस्तुओं (जिसमें खाद्यान्न व तैयार माल सम्मिलित थे) के मूल्यों में १० प्रतिशत की कमी करना।

(iv) देश के बड़ी मात्रा में वस्तुओं का खरीदार होने के नाते इसकी मोलभाव करने की शक्ति (Bargaining Power) का उपयोग इस प्रकार किया जाय कि अधिमूल्यन मुद्रा वाले (Appreciated Currency) देशों से आने वाले कच्चे माल के मूल्य में उचित कमी हो सके।

(v) उद्योगों में विनियोजन व राष्ट्रीय बचत के विस्तार के लिए अधिक प्रचार करना तथा ग्राम्य क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं के विस्तार के लिए उचित सरकारी सहायता देना।

(vi) युद्धकाल में कमाये गये लाभों पर जिन्होंने कर छिपाया था, उनसे ऐच्छिक समझौते करना।

(vii) दुर्लभ मुद्रा (Hard Currency) वाले देशों में जाने वाले निर्यात पर कर लगा कर अधिकतम विदेशी विनिमय प्राप्त करना।

(viii) नियम व शासकीय उपायों द्वारा तथा साख नियंत्रण द्वारा सट्टे से गयी मूल्य वृद्धि को रोकना।

इस प्रकार सरकार ने इन उपायों के द्वारा अवमूल्यन से होने वाली मूल्य वृद्धि को रोकने का प्रयत्न किया और साथ ही देश में उत्पादन को प्रोत्साहन देना चाहा। इस कारण आयातों को कम किया गया, सरकारी कर्मचारियों के लिये अनिवार्य बचत योजना (Compulsory Saving Scheme) बनाई गई, ग्राम्य

(Korean War) के प्रारम्भ के कारण व आयातों पर कठोर नियन्त्रण के कारण था ।

भारत को अवमूल्यन का लाभ इस कारण भी प्राप्त नहीं हो सका क्योंकि भारत के आयात खाद्यान्न, कच्चे माल तथा पूंजी वस्तुओं के थे जिनकी मांग बेलोचदार थी । भारत उनकी मांग को कम न कर सका परन्तु उनका मूल्य भारत में बढ़ गया । इसके साथ ही उनके निर्यातों की मांग काफी पक्की व स्थिर थी । साथ ही कोरिया युद्ध के प्रारम्भ होने से उनकी वस्तुओं की मांग और भी अधिक हो गयी तथा उनका मूल्य भी बढ़ गया । ऐसी अवस्था में भारत यदि अवमूल्यन न करता तो उसको निर्यातों से पर्याप्त आय प्राप्त होती ।

अवमूल्यन का प्रभाव भारत व पाकिस्तान के व्यापार व उस व्यापार से सम्बन्धित उद्योगों पर भी बहुत अधिक पड़ा । पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया था और इसीलिये पाकिस्तान की मुद्रा का मूल्य बढ़ गया । पाकिस्तान की वस्तुओं का मूल्य भारत में ४४% बढ़ गया । भारत पाकिस्तान से कच्चा जूट व कपास बहुत बड़ी मात्रा में मंगाता था और अवमूल्यन के बाद कोई ठीक व्यापारिक समझौता न होने के कारण यह व्यापार बन्द हो गया । अतः उनके मूल्य बढ़ जाने के कारण तथा आयात बन्द हो जाने के कारण जूट व कपड़ा उद्योग में लागत बहुत बढ़ गयी तथा उद्योगों में उत्पादन भी कम हो गया ।

अवमूल्यन का प्रभाव मूल्यों पर भी पड़ा और मूल्यों में वृद्धि प्रारम्भ हो गयी। प्रारम्भ के कुछ महीनों में तो मूल्य स्तर घटा परन्तु फिर इसमें तीव्र वृद्धि हो गयी। सूचक अंक अक्टूबर में सन् १९४९ में ३९३·३ से कम होकर दिसम्बर सन् १९४९ में ३८१·२ हो गया । परन्तु इसके बाद इसमें वृद्धि प्रारम्भ हो गयी तथा मार्च सन् १९५० तक यह ३९२·४ हो गया । कोरिया के युद्ध व वस्तु संग्रह के कारण मूल्यों को और भी अधिक प्रोत्साहन मिला तथा अप्रैल सन् १९५१ तक ४६२ की सर्वोच्च संख्या तक पहुंच गया ।

यह बहुत ही महत्वपूर्ण बात है कि यद्यपि भारत को अवमूल्यन के लाभ प्राप्त न हो सके परन्तु अन्य २८ देशों को इससे अत्यधिक लाभ हुआ । अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सन् १९५० की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों के स्वर्ण व डालर कोषों में अत्यधिक वृद्धि हुई । जून सन् १९५० में यह २,४२२ मिलियन डालर हो गए जबकि जून सन् १९४९ में यह १,६८८ मिलियन डालर थे । इसका मुख्य कारण यह था कि उन देशों में उत्पादन बढ़ता गया और वे अपने निर्यातों को बढ़ाते रहे ।

परन्तु फिर भी यह बात महत्व की है जिस समय अवमूल्यन करने का निश्चय किया गया उस समय यह ठीक था । मूल्यों की अधिक वृद्धि व आयातों के मूल्य में वृद्धि अवमूल्यन के कारण इतनी अधिक नहीं थी, जितनी कोरिया के युद्ध के कारण

और पाकिस्तान के अवमूल्यन न करने कारण थी। इन बातों के बारे में पहले से कोई ज्ञान नहीं था और यह कहा जा सकता है कि यदि परिस्थितियाँ समान रहती तो भारत को भी अवमूल्यन के लाभ प्राप्त हो जाते।

अवमूल्यन की कठिनाइयों को दूर करने के लिए सरकार द्वारा किये गए प्रयत्न (The Steps Government took to Overcome the Difficulties caused by Devaluation)—अवमूल्यन से उत्पन्न होने वाली परिस्थिति का सामना करने के लिए भारत सरकार ने ५ अक्टूबर सन् १६४६ को एक योजना घोषित की जिसको आठ-सूत्री कार्यक्रम (Eight-point Programme) कहते हैं। इसका मुख्य उद्देश्य मूल्यों की अत्यधिक वृद्धि को रोकना तथा विदेशी विनिमय साधनों को सुरक्षित रखना था। इस कार्यक्रम की मुख्य बातें इस प्रकार थी :—

(i) अवमूल्यन से जो नई स्थिति उत्पन्न होगी, उसके अनुसार व्यापार को इस प्रकार नियंत्रित किया जाय जिससे कि विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) में कम से कम व्यय हो।

(ii) भारत सरकार के बजट में ४० करोड़ रुपये की बचत सन् १६४६–५० में करना तथा ८० करोड़ की बचत अगले वर्ष (सन् १६५०–५१) में करना।

(iii) आवश्यक वस्तुओं (जिसमें खाद्यान्न व तैयार माल सम्मिलित थे) के मूल्यों में १० प्रतिशत की कमी करना।

(iv) देश के बड़ी मात्रा में वस्तुओं का खरीदार होने के नाते इसकी मोलभाव करने की शक्ति (Bargaining Power) का उपयोग इस प्रकार किया जाय कि अधिमूल्यन मुद्रा वाले (Appreciated Currency) देशों से आने वाले कच्चे माल के मूल्य में उचित कमी हो सके।

(v) उद्योगों में विनियोजन व राष्ट्रीय बचत के विस्तार के लिए अधिक प्रचार करना तथा ग्राम्य क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं के विस्तार के लिए उचित सरकारी सहायता देना।

(vi) युद्धकाल में कमाये गये लाभों पर जिन्होंने कर छिपाया था, उनसे ऐच्छिक समझौते करना।

(vii) दुर्लभ मुद्रा (Hard Currency) वाले देशों में जाने वाले निर्यात पर कर लगा कर अधिकतम विदेशी विनिमय प्राप्त करना।

(viii) नियम व शासकीय उपायों द्वारा तथा साख नियंत्रण द्वारा सट्टे से गयी मूल्य वृद्धि को रोकना।

इस प्रकार सरकार ने इन उपायों के द्वारा अवमूल्यन से होने वाली मूल्य वृद्धि को रोकने का प्रयत्न किया और साथ ही देश में उत्पादन को प्रोत्साहन देना चाहा। इस कारण आयातों को कम किया गया, सरकारी कर्मचारियों के लिये अनिवार्य बचत योजना (Compulsory Saving Scheme) बनाई गई, ग्राम्य

बैंकिंग जांच समिति (Rural Banking Enquiry Committee) नियुक्त की गई, उद्योगों के लिए करों में कमी की गई तथा खाद्यान्न, कपड़े, कोयले व लोहे और इस्तपात के मूल्य में कमी की गई। परन्तु इन उपायों के होते हुए भी आठ-सूत्री कार्य-क्रम को अधिक प्रभावशाली नहीं बनाया जा सका और यह कागज पर ही अधिक रहा। अवमूल्यन के पश्चात् स्फीति की दशायें और अधिक तीव्र हो गईं और मूल्य में वृद्धि होने के कारण उपभोक्ताओं पर विपरीत प्रभाव पड़ा।

Q. 138. Explain briefly the main reasons on which devaluation of a currency can be justified. Do you agree with those who hold the view that under the persent circumstances the Indian Rupee should be devalued. (Agra & Vikram 1960)

(अवमूल्यन के कारणों के लिये प्रश्न 134 के उत्तर को देखो)।

भारत ने विकास के लिये पंचवर्षीय योजनाओं का सहारा लिया है जिसके अन्तर्गत नये-नये उद्योग व विद्युत योजनाओं को बनाया जा रहा है। इन विकास योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए भारी आयात करने पड़ रहे हैं और उनमें धीरे-धीरे वृद्धि होती जा रही है। दूसरी ओर हमारी निर्यातें बेलोचदार प्रकृति की हैं और उनमें कोई विशेष वृद्धि नहीं हो रही है। इसके अतिरिक्त इन वस्तुओं के निर्यात में भी आजकल बहुत विदेशी प्रतियोगिता रहती है जिसके कारण हमारे निर्यातों में विशेष वृद्धि नहीं होने पाती। रक्षा के लिए भी हमको बहुत सा सामान विदेशों से मँगाना पड़ता है। साथ ही खाद्यान्न की कमी होने पर इसको भी आयात करना पड़ता है। इस कारण शोधनाशेष सदैव हमारे विपरीत रहता है।

रूपरेखा
१) अवमूल्यन का अर्थ;
(२) अवमूल्यन कब करना चाहिये;
(i) मुद्रा के आन्तरिक व वाह्य मूल्य में अन्तर हो;
(ii) मुद्रा का अतिमूलयन;
(iii) मूल्य स्तर को ऊँचा उठाना;
(iv) दूसरे देश के मूल्य स्तर में कमी;
(v) निर्यातों को प्रोत्साहन;
(३) विदेशी विनिमय संकट व इसको दूर करने के लिये अवमूल्यन का सुझाव।
(४) अवमूल्यन निम्न कारणों से ठीक नहीं है।
(i) बेलोच प्रकृति के निर्यात;
(ii) आयातों पर पहले से ही प्रतिबन्ध हैं;

दूसरी योजना में तो विदेशी विनिमय की समस्या बहुत ही गम्भीर हो गई और एक विदेशी विनिमय संकट

(Foreign Exchange Crisis) उत्पन्न हो गया। दूसरी योजना में शोधनाशेष सम्बन्धी घाटे का अनुमान पाँच वर्षों के लिये १,१०० करोड़ रुपये अर्थात् २२० करोड़ रुपया प्रतिवर्ष रखना था। परन्तु प्रथम ही वर्ष १,०७६ करोड़ रुपये के आयात हुये जबकि निर्यात ६३७ करोड़ रुपये के हुए जिससे व्यापार सन्तुलन में ४३९ करोड़ रुपए का घाटा रहा। सन् १९५८-५९ के पहले ६ महीनों में ही आयातों की सीमा ६२२ करोड़ रुपये तक पहुँच गई थी, जबकि योजना का साल भर का अनुमान केवल ८८६ करोड़ रुपये था। पहले ६ महीनों में ही २३१ करोड़ रुपए का घाटा रहा है, जो अगले ६ महीनों में और भी बढ़ गया है।

(iii) निर्यात अतिरेक नहीं है;
(iv) मूल्य बढ़ जायेंगे;
(v) अन्य देश भी अवमूल्यन कर सकते हैं,
(vi) भारत का मूल्य स्तर अन्य देशों से ऊँचा नहीं है।

इस संकट को दूर करने के लिए सरकार बहुत से प्रयत्न कर रही है, जैसे, आयातों पर कठोर नियन्त्रण लगा दिए गए हैं तथा निर्यातों को प्रोत्साहित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। विनिमित मुद्राओं पर आयतों को करने का प्रयत्न किया जा रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं तथा मित्रराष्ट्रों से सहायता प्राप्त की जा रही है। परन्तु इसके विपरीत बहुत से अर्थशास्त्री इन सबसे सहमत न होकर यह कहते हैं कि भारत के शोधनाशेष में आधारभूत असन्तुलन (Fundamental Disequilibrium) उत्पन्न हो गया है। इसका कारण वह बताते हैं कि रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ने भारत की विनिमय दर को दृढ़ बना रखा है और उसे एक स्तर पर स्थिर रखा है। इसके समाधान के लिए उनके विचारानुसार, रुपये का अवमूल्यन कर दिया जाय जिससे हमारे निर्यात स्वयं ही बढ़ जायें क्योंकि वे सस्ते हो जायेंगे तथा हमारी प्रतियोगी शक्ति में भी वृद्धि हो जायगी, जिससे हम दूसरे देशों के मुकाबले में अधिक सामान बेच सकेंगे। दूसरी ओर हमारे आयात भी महँगे हो जाने के कारण कम हो जायेंगे। इसके स्थान पर वे एक और भी सुझाव देते हैं कि रुपए को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय और अन्य मुद्राओं की तुलना में वह अपनी शक्ति के अनुसार अपनी विनिमय दर स्वयं तय कर लेगा। प्रो० बी० आर० शिनोय (Prof. B. R. Shenoy) ने इसी प्रकार का सुझाव दिया था। लन्दन के फाइनेन्शियल टाइम्स (Financial Times) के कालम-लेखक (Columnist) मि० लोम्बार्ड (Lombard) ने भी अवमूल्यन का सुझाव रखा था जिससे भारत अपने पौंड पावनों (Sterling Balances) को गिरने से रोक सके और निर्यातों को बढ़ा सके। मि० लोम्बार्ड इससे पहले भी कई बार अवमूल्यन का सुझाव दे चुका है।

इन सुझावों पर विचार करने के लिए यह देखना होगा कि यह अवमूल्यन कर दिया जाय तो भारत की अर्थव्यवस्था, आयात-निर्यात, मूल्यों आदि पर क्या प्रभाव पड़ेंगे। सर्वप्रथम, तो अवमूल्यन का शोधनाशेष पर प्रभाव देखना होगा।

यदि अवमूल्यन के कारण भारत के ४७६ रुपए को १०० डालर के स्थान पर ५० डालर के बराबर कर दिया जाता है तो हमारे निर्यातों का मूल्य आधा रह जायगा और आयातों का मूल्य दुगना । यदि हम अपने निर्यातों को दुगने से अधिक करें तथा आयातों को आधे से कम करें तब कहीं जा कर शोधनाशेष हमारे पक्ष में होना प्रारम्भ होगा । वह बहुत ही कठिन है कि हमारे निर्यात मूल्य कम होने पर दुगने से अधिक हो जायें तथा आयात आधे से कम हो जायें । यह आयात निर्यातों की प्रकृति देखने से स्पष्ट हो जायगा ।

भारत के निर्यात लगभग बेलोच प्रकृति के हैं जिनकी अत्यधिक वृद्धि की कोई आशा नहीं है । जूट, कपड़ा, चाय, इंजीनियरिंग वस्तुएँ आदि के निर्यात केवल मूल्य पर ही निर्भर नहीं करते बल्कि अन्य बहुत सी बातों पर निर्भर करते हैं। पिछले वर्ष भारत ने सब से अधिक जूट की वस्तुओं का निर्यात किया और अब बहुत अधिक वृद्धि होने की आशा नहीं है । अवमूल्यन से उससे प्राप्त होने वाले मूल्य में बहुत कमी हो जायगी । इंजीनियरिंग वस्तुओं के सम्बन्ध में मूल्य इतना अधिक महत्व-पूर्ण कारण नहीं है जितना कि गुण (Quality) । इन वस्तुओं के गुण में वृद्धि कर देने से निर्यातों में वृद्धि हो जायगी तथा अवमूल्यन की कोई आवश्यकता नहीं होगी । जहाँ तक सूती कपड़े का प्रश्न है यहाँ भी मूल्य महत्वपूर्ण कारण नहीं है । बल्कि सूती कपड़े के निर्यातों की कमी का यह कारण है कि विभिन्न देश जापान अन्य देशों के साथ द्वि-पक्षी समझौते (Bilateral Agreements) कर रहे हैं जिससे भारत का व्यापार कम हो रहा है । अतः यहाँ भी अवमूल्यन भारत की सहायता नहीं करेगा। चाय की माँग विदेशों में बहुत सीमा तक बेलोच है और अवमूल्यन करने से उसमें कोई विशेष वृद्धि नहीं होगी । केवल कुल आय में कमी हो जायगी । इस प्रकार से स्पष्ट है कि अवमूल्यन करने से भारत को किसी प्रकार का लाभ निर्यातों के सम्बन्ध में नहीं होगा ।

आयातों पर पहले से ही अत्यधिक नियन्त्रण लगा रक्खा है । बेकार के आयातों को तो बन्द कर ही रक्खा है परन्तु जो आवश्यकता के आयात हैं उनको भी कम कर रक्खा है । अधिक आयात पूंजीगत वस्तुओं या कच्चे माल के हैं जिनको अब कम नहीं किया जा सकता । अतः यदि अवमूल्यन किया गया तो आयातों में कमी नहीं की जा सकेगी । केवल उनके मूल्यों में वृद्धि हो जायेगी । इसका प्रभाव योजनाओं की लागत पर पड़ेगा । जो कि बहुत अधिक हो जायेगी ।

अवमूल्यन का लाभ प्राप्त करने के लिये देश के पास निर्यात अतिरेक (Export Surplus) भी होना चाहिए जिसको वह मूल्य कम होने पर विदेशों को भेज सके । भारत के पास इस समय वस्तुयें वैसे ही कम हैं और निर्यातों के लिये आन्त-रिक उपभोग को कम करना पड़ रहा है जिसको और कम करना कठिन है ।

अवमूल्यन का प्रभाव मूल्यों पर भी पड़ेगा । विदेशी माँग के बढ़ने के कारण रहन-सहन की लागत में वृद्धि हो जायगी ।
तथा आयातों के मूल्यों की वृद्धि के कारण

भारत में इस समय मूल्य स्तर काफी ऊँचा है और अवमूल्यन के बाद यदि यह और भी ऊँचा हो गया तो इसका बुरा प्रभाव भारत की अर्थव्यवस्था पर पड़ेगा।

इसके अतिरिक्त अवमूल्यन कोई भारतवर्ष की बपौती तो है नही और न ही इस पर भारत का एकाधिकार है। भारत यदि अवमूल्यन कर सकता है तो दूसरे देश उससे अधिक अवमूल्यन कर सकते हैं। भूतकाल में ऐसा हो चुका है। महामंदी काल मे प्रथम महायुद्ध के बाद इस प्रकार का प्रतियोगी विनिमय अवमूल्यन (Competitive Exchange Devalution) प्रारम्भ हो गया था, और यदि अवमूल्यन-युद्ध (War of Devalution) प्रारम्भ हो जाता है तो विभिन्न देशो की तुलनात्मक स्थिति मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही होगा। जार्ज सतायाना (George Santyaana) ने ठीक ही कहा है, "जो भूतकाल से नहीं सीख सकते वे इसको दोहराने की गलती करते हैं।"[1]

अवमूल्यन की आवश्यकता इसलिये भी नही है क्योंकि भारत में मूल्य स्तर अन्य देशों के मुकाबले में ऊँचा नहीं है। रिजर्व बैंक के गवर्नर श्री एच० वी० आर० आयंगर (Mr. H. V. R. Ienger) ने बम्बई में इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ बैंकर्स (Indian Institute of Bankers) की ३२ वी वार्षिक सामान्य सभा (Annual General Meeting) के सम्मुख भाषण देते हुये बताया कि यद्यपि भारत की मुद्रा के मूल्य में सन् १६४७ से २६ प्रतिशत की गिरावट हुई है परन्तु साथ ही अन्य देशो की मुद्राओ के मूल्य मे भी लगभग इतनी ही गिरावट हुई है। इसी समय में इंगलैण्ड, अमेरिका व फ्रांस की मुद्राओ के मूल्यों मे ४६ प्रतिशत; १६ प्रतिशत तथा ६६ प्रतिशत की कमी हुई है। इस तर्क के आधार पर उन्होने अवमूल्यन को बेकार बताया है।

अत. अवमूल्यन कोई स्थायी सुधार नहीं है। एक देश में अवमूल्यन होने से दूसरे देश मे भी अवमूल्यन प्रारम्भ हो सकता है। इसके अतिरिक्त यदि एक बार अवमूल्यन हो जाता है तो उसी प्रकार की परिस्थितियो मे दोबारा अवमूल्यन पर जोर दिया जाता है। मौद्रिक कठिनाइयों को दूर करने के लिये हमको समस्या के मूल को जानना चाहिये। यूरोप के देशों ने आन्तरिक व्यय को नियन्त्रित करके इस समस्या को ठीक किया है, भारत मे भी गैर-विकास व्यय (N^n-developmental expenditure) को कम करके विनियोजन की मात्रा मे वृद्धि करनी चाहिये। जनता को भी अपना खर्चा कम करके बचत अधिक करनी चाहिये। अवमूल्यन के दोषों के कारण ही प्रधान मन्त्री व वित्त मन्त्री ने इसे भयंकर व बेवकूफी का सुझाव बताया था। स्टेटसमैन (Statesman) ने भी अपने Calcutta City Notes में लिखा था, "There are, in fact, a number of easy methods of mitigating the price difficulty without resorting to devaluation"

1. "Those who cannot learn from the past are doomed to repeat it" George Santayana.

Q. 139. "Since September 1950, and specially since February 1951, when the par value of the Pakistan rupee was accepted by India, there have been frequent talks about the revaluation of the Indian Rupee.' In the light of the above discussion discuss the prons and cons of revaluation.

Q. 140. Analyse the benefits and disadvantages of the recent devaluation of the Indian Rupee. Do you favour its revaluation? Give reasons.

(Agra 1952)

सन् १९४९ में भारत ने इंगलैण्ड व २८ अन्य देशों के साथ भारतीय रुपये का अमेरिकन डालर के साथ अवमूल्यन कर दिया और भारतीय रुपया ३०·२२५ सैण्ट से घटकर २१ सैण्ट रह गया। रुपये का अवमूल्यन रक्षात्मक उपाय था। भारत अपनी अर्थव्यवस्था की विशेषताओं के कारण अवमूल्यन के लाभों को प्राप्त नहीं कर सका। अतः इस अवमूल्यन के एक वर्ष बाद ही पुनर्मूल्यन (Revaluation) की चर्चा होने लगी थी। सितम्बर सन् १९५० से इंगलैण्ड के पौंड स्टर्लिंग के अवमूल्यन का भी जनप्रवाद (Rumour) था। भारत ने जब पाकिस्तान की समता दर को फरवरी सन् १९५१ में स्वीकार कर लिया तो पुनर्मूल्यन की चर्चा और भी जोरों से होने लगी। जुलाई सन् १९५१ में Tata Quartrly में डा जॉन मथाई (Dr. Joan Matthai) के एक लेख छपने से इस चर्चा को और भी अधिक प्रोत्साहन मिला। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि जान मथाई उस समय वित्त-मंत्री (Finance Minister) थे जिस समय भारत ने अवमूल्यन किया था और इसलिये उनके विचारों का कम महत्व नहीं हो सकता।

यहाँ पर यह आवश्यक हो जाता है कि पुनर्मूल्यन की समस्या पर तर्कपूर्ण विचार किया जाए और यह देखा जाये कि किन कारणों से पुनर्मूल्यन करना ठीक समझा जाता है। पुनर्मूल्यन के पक्ष में अग्रलिखित तर्क दिये जाते हैं:—

पुनर्मूल्यन के पक्ष में तर्क (Arguments in Favour of Revaluation)—

(१) पुनर्मूल्यन के समर्थक यह कहते हैं कि भारत ने अवमूल्यन केवल परिस्थितियों के कारण किया था और क्योंकि अब उन परिस्थितियों में परिवर्तन हो गया है इसलिए भारतीय रुपये का पुनर्मूल्यन कर देना चाहिये।

(२) सन् १९४९ में भारत ने रुपये का अवमूल्यन अपनी बाह्य अर्थव्यवस्था (External economy) को सुरक्षित करने के लिये किया था, साथ ही इस क्रिया का उद्देश्य आन्तरिक अर्थव्यवस्था (Internal economy) में असन्तुलन उत्पन्न न होने देना था। डा० जॉन मथाई ने पुनर्मूल्यन करना ठीक बताया, क्योंकि उनका विश्वास था कि इस क्रिया से वर्तमान अवस्थाओं में भारत अपनी आन्तरिक अर्थव्यवस्था को सुरक्षित रख सकेगा और साथ ही उसकी बाह्य अर्थव्यवस्था को भी कोई विशेष हानि नहीं होगी। इस सम्बन्ध में उनका तर्क यह था कि अन्तर्राष्ट्रीय कारणों से भारत में

विभिन्न वस्तुओं के मूल्य बढ़ गये हैं और मुद्रा स्फीति (Inflation) को केवल आन्तरिक साधनों से ही नहीं रोका जा सकता। पुनर्मूल्यन से अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों के बुरे प्रभाव भारतीय अर्थव्यवस्था पर नहीं पड़ पावेंगे।

(३) पुनर्मूल्यन से, यह आशा की जाती थी कि हमारे आयातों का मूल्य कम हो जावेगा। हम विभिन्न देशों से पूंजीगत वस्तुयें (Capital goods) तथा कच्चा माल मँगा रहे थे जहाँ पर वस्तुओं के मूल्य लगातार बढ़ रहे थे। उस समय भारत ने पाकिस्तान के नकली मूल्य (Par value) को स्वीकार कर लिया था और इस कारण वह पाकिस्तान से आयात किये गये कच्चे जूट व कच्ची कपास का ४० प्रतिशत अधिक मूल्य दे रहा था।[2] इससे इन दोनों उद्योगों की उत्पादन लागत में वृद्धि हो गयी थी और भारत की विदेशी बाजारों में प्रतियोगिता शक्ति गिर गयी थी।

(४) पुनर्मूल्यन से व्यापार की शर्तें (Terms of trade) भारत के पक्ष में हो जावेंगी और हम पहले जितने निर्यातों के द्वारा अधिक आयात कर सकेंगे। परन्तु इस सम्बन्ध में यह सन्देह प्रदर्शित किया गया था कि विदेशी व्यापारी अपनी वस्तुओं के मूल्य बढ़ा देंगे और पुनर्मूल्यन के लाभ भारत को प्राप्त नहीं हो पावेंगे। इसका उत्तर देते हुए डा० जॉन मथाई (Dr. Joan Matthai) ने कहा था कि विदेशी निर्यातकर्ता केवल भारतवर्ष के लिये ही मूल्यों को नहीं बढ़ा सकता। विदेशी निर्यातों का मूल्य तो संसार के सब ही देशों के लिये एक साथ परिवर्तित होता है और यदि इस स्तर पर मूल्यों में वृद्धि होती है तो पुनर्मूल्यन के लाभदायक प्रभाव समाप्त नहीं हो जावेंगे, क्योंकि पुनर्मूल्यन न करने पर भारत के आयातों का मूल्य इस अवस्था में और भी अधिक हो जावेगा।[3]

(५) यह भी कहा गया कि रुपये के अवमूल्यन से भारतीय विकास योजनाओं (India's Development Schemes) में बाधा पड़ी है क्योंकि हम पूँजीगत वस्तुओं (Capital goods) का अधिकांश आयात डालर क्षेत्रों से (जिनसे भारत की मुद्रा का अवमूल्यन किया गया था।) करते हैं जिनके लिये हमें पहले से अधिक मूल्य देना पड़ रहा है। इस अधिक मूल्य के कारण विकास योजनाओं की लागत बढ़ गई और भारत को इसी कारण सन् १९५० में बहुत सी विकास योजनाओं को स्थगित करना पड़ा

२. २१ जुलाई सन् १९५५ को पाकिस्तान ने भी अपने रुपये के अवमूल्यन की घोषणा कर दी थी और इसके बाद से इस तर्क का महत्व समाप्त हो गया था।

3. "The foreign exporter cannot however, put up his price for India alone. Prices of foreign exports can change only on a world basis, and if they increase further, the beneficial effect of revaluation would not be lost. For, in the absence of revaluation, the cost of imports into India would in that case be still greater." Dr. Joan Matthai.

Q. 139. "Since September 1950, and specially since February 1951, when the par value of the Pakistan rupee was accepted by India, there have been frequent talks about the revaluation of the Indian Rupee.' In the light of the above discussion discuss the prons and cons of revaluation.

Q. 140. Analyse the benefits and disadvantages of the recent devaluation of the Indian Rupee. Do you favour its revaluation? Give reasons. (Agra 1952)

सन् १९४९ में भारत ने इंगलैण्ड व २८ अन्य देशों के साथ भारतीय रुपये का अमेरिकन डालर के साथ अवमूल्यन कर दिया और भारतीय रुपया ३०·२२५ सैण्ट से घटकर २१ सैण्ट रह गया। रुपये का अवमूल्यन रक्षात्मक उपाय था। भारत अपनी अर्थव्यवस्था की विशेषताओं के कारण अवमूल्यन के लाभों को प्राप्त नहीं कर सका। अतः इस अवमूल्यन के एक वर्ष बाद ही पुनर्मूल्यन (Revaluation) की चर्चा होनी लगी थी। सितम्बर सन् १९५० से इंगलैण्ड के पौंड स्टर्लिंग के अवमूल्यन का भी जनप्रवाद (Rumour) था। भारत ने जब पाकिस्तान की समता दर को फरवरी सन् १९५१ में स्वीकार कर लिया तो पुनर्मूल्यन की चर्चा और भी जोरों से होने लगी। जुलाई सन् १९५१ में Tata Quartrly में डा जॉन मथाई (Dr. Joan Matthai) के एक लेख छपने से इस चर्चा को और भी अधिक प्रोत्साहन मिला। यह बात महत्वपूर्ण है कि जान मथाई उस समय वित्त-मंत्री (Finance Minister) थे जिस समय भारत ने अवमूल्यन किया था और इसलिये उनके विचारों का कम महत्व नहीं हो सकता।

यहाँ पर यह आवश्यक हो जाता है कि पुनर्मूल्यन की समस्या पर तर्कपूर्ण विचार किया जाए और यह देखा जाये कि किन कारणों से पुनर्मूल्यन करना ठीक समझा जाता है। पुनर्मूल्यन के पक्ष में अग्रलिखित तर्क दिये जाते हैं :—

पुनर्मूल्यन के पक्ष में तर्क (Arguments in Favour of Revaluation)—

(१) पुनर्मूल्यन के समर्थक यह कहते हैं कि भारत ने अवमूल्यन केवल परिस्थिति के कारण किया था और क्योंकि अब उन परिस्थितियों में परिवर्तन हो गया है भारतीय रुपये का पुनर्मूल्यन कर देना चाहिये।

(२) सन् १९४९ में भारत ने रुपये का अवमूल्यन अपनी बाह्य (External economy) को सुरक्षित करने के लिये किया था, साथ ही उद्देश्य आन्तरिक अर्थव्यवस्था (Internal economy) में असन्तुलन देना था। डा० जॉन मथाई ने पुनर्मूल्यन करना ठीक बताया, क्योंकि था कि इस क्रिया से वर्तमान अवस्थाओं में भारत अपनी आन्तरिक सुरक्षित रख सकेगा और साथ ही उसकी बाह्य अर्थव्यवस्था को नहीं होगी। इस सम्बन्ध में उनका तर्क यह था कि अन्तर्राष्ट्रीय

संसार के विभिन्न देशों की आर्थिक स्थितियों में बहुत भिन्नता आ गई है और यह आवश्यक नहीं रहा है कि जिस प्रकार की नीति दूसरे देश अपनायें उसी प्रकार की नीति भारतवर्ष भी अपनाये।

(५) पुनर्मूल्यन से भारत के आयातों में अत्यधिक वृद्धि हो जायेगी और इससे उन उद्योगों को बहुत हानि होगी जिन्होंने अपनी स्थिति को ठीक से व्यवस्थित नहीं किया है।

(६) पाकिस्तान की मुद्रा का मूल्य विदेशी विनिमय बाजार में गिरने लगा था क्योंकि इसने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया था। अतः यदि भारत ने अपनी मुद्रा का पुनर्मूल्यन कर दिया तो इसकी भी इसी प्रकार की दशा होगी।

(७) यह आवश्यक नहीं है कि पुनर्मूल्यन से आयात वस्तुओं का मूल्य कम ही हो जायगा। हमारे आयात बेलोचदार प्रकृति (Inelastic nature) के हैं और विदेशी उनका ऊंचा मूल्य हम से ले सकते हैं। भारत को इस प्रकार पुनर्मूल्यन का कोई लाभ प्राप्त नहीं होगा। इसके अतिरिक्त आयातकर्त्ता भी ऐसी वस्तुओं के मूल्य बढ़ाकर अधिकाधिक मात्रा में लाभ कमाने का प्रयत्न करने लगेंगे। इस प्रकार पुनर्मूल्यन का लाभ सामान्य उपभोक्ताओं को नहीं होगा।

(८) विनिमय की दर मे जब मन चाहे तब परिवर्तन करके विनिमय की दर से खिलवाड़ नहीं करनी चाहिये।

(६) इसके विरोध मे एक तर्क यह भी दिया जाता है कि यदि भारत के साथ-साथ अन्य देशों ने भी पुनर्मूल्यन कर दिया तो भारत को पुनर्मूल्यन का विशेष लाभ प्राप्त नहीं होने पायेगा।

(१०) पुनर्मूल्यन करने के विपक्ष मे यह भी तर्क है कि निर्यात कर से जो लाभ प्राप्त होता है वह इससे कम हो जायेगा। परन्तु इस तर्क के साथ यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि हमारा व्यय भी कम हो जाएगा। निर्यात कर सरकारी आय का इस प्रकार का साधन है कि जिस पर अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता। अतः यह ही ठीक है कि आयातों पर व्यय कम करके व्यय कम किया जाय। Eastern Economist ने अपने २० अप्रैल सन् १९५१ के अक मे लिखा था, "In the event of a full scale revaluation, therefore, we break even in the final analysis. Our revenues which are now about Rs. 370 crores will shrink by Rs. 32·20 crores, but our revenue and capital expenditure together which is now Rs. 452·55 crores will shrink at the same time at least to Rs 420 crores so that no net disequilibrium is involved."[4]

(११) पुनर्मूल्यन कर देने से भारत को लाभ नहीं होगा क्योंकि भारत के निर्यात अब बेलोच प्रकृति के नहीं हैं। चाय, जूट आदि के निर्यात पहले बेलोच थे।

4. Eastern Economist April 20, 1951. page 652-653.

था। रुपये के पुनर्मूल्यन से यह अवस्था ठीक हो जायेगी और भारतीय विकास योजनाओं के लिये वस्तुयें कम मूल्य पर मिल सकेंगी। इससे भारत के आर्थिक विकास को प्रोत्साहन मिल सकेगा। यह आर्थिक विकास मुद्रा-स्फीति के विकास को रोकने में भी सहायता दे सकेगा।

पुनर्मूल्यन का भुगतान के सन्तुलन (Balance of Payments) पर भी कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ेगा क्योंकि पुनर्मूल्यन से रुपये के वाह्य मूल्य (Extern Value) में वृद्धि हो जायेगी जिसके परिणामस्वरूप रुपये के आन्तरिक मूल्य में वृद्धि हो जायेगी क्योंकि देश का मूल्य स्तर गिर जायेगा और वस्तुओं के मूल्य व हो जायेंगे। मूल्य स्तर कम होने पर विदेशियों को भारत में क्रय करना लाभदाय होगा जिनके कारण निर्यातों की मात्रा में वृद्धि हो जायेगी।

(७) पुनर्मूल्यन से उपभोक्ताओं को भी लाभ होगा क्योंकि उनको आयात व गई वस्तुयें कम मूल्य पर प्राप्त हो सकेंगी।

पुनर्मूल्यन के विपक्ष में तर्क (Arguments against revaluation)—पुनर्मूल्यन के पक्ष में तर्कों के विपरीत विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने पुनर्मूल्यन का विरोध किया था और निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये थे :—

(१) सर्वप्रथम, उस समय यह कहा गया था कि विश्व आर्थिक अवस्थायें अस्थिर व अनिश्चित है और उनके आधार पर किसी प्रकार का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। उस समय यह पता नहीं था कि कोरिया का युद्ध कब तक चलेगा और सामान्य स्थिति कब तक स्थापित हो पायेगी। इसलिये स्थिति में परिवर्तन के अनुसार ही नीति में परिवर्तन होना चाहिये। परन्तु डॉ० जॉन मथाई ने इस सम्बन्ध में कहा था, "What is required is not to stand still, but to move by tentative stages and within narrow margins, in response to changing conditions."

(२) पुनर्मूल्यन के पक्षपातियों ने इसका समर्थन मुद्रा स्फीति की तीव्रता पर रोक लगाने के लिये किया था। परन्तु आलोचकों का मत है कि मुद्रा-स्फीति के प्रभावों को दूर करने का एकमात्र उपाय पुनर्मूल्यन नहीं है, वरन् इसके अन्य उपाय भी हैं, जैसे—बचत को प्रोत्साहन देना, करों में वृद्धि करना, सरकारी व्यय में बचत तथा मूल्य नियन्त्रण आदि।

(३) पुनर्मूल्यन से विदेशी विनिमय में सट्टा होने लगेगा और पूँजी भारतवर्ष से बाहर जाने लगेगी।

(४) भारतवर्ष की विनिमय दर में परिवर्तन करने के सम्बन्ध में एकाकी निर्णय नहीं लेना चाहिये। हमको कोई भी निर्णय लेने से पहले यह मालूम कर लेना चाहिये कि अन्य देश, जिनका व्यापारिक सम्बन्ध भारत से है किस प्रकार की नीति अपनाने वाले हैं। परन्तु इसके उत्तर में यह कहा जाता था कि पिछले कुछ वर्षों में

संसार के विभिन्न देशो की आर्थिक स्थितियो मे बहुत भिन्नता आ गई है और यह आवश्यक नहीं रहा है कि जिस प्रकार की नीति दूसरे देश अपनायें उसी प्रकार की नीति भारतवर्ष भी अपनाये।

(५) पुनर्मूल्यन से भारत के आयातो मे अत्यधिक वृद्धि हो जायेगी और इससे उन उद्योगों को बहुत हानि होगी जिन्होने अपनी स्थिति को ठीक से व्यवस्थित नही किया है।

(६) पाकिस्तान की मुद्रा का मूल्य विदेशी विनिमय बाजार मे गिरने लगा था क्योंकि इसने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया था। अत. यदि भारत ने अपनी मुद्रा का पुनर्मूल्यन कर दिया तो इसकी भी इसी प्रकार की दशा होगी।

(७) यह आवश्यक नही है कि पुनर्मूल्यन से आयात वस्तुओं का मूल्य कम ही हो जायगा। हमारे आयात बेलोचदार प्रकृति (Inclastic nature) के हैं और विदेशी उनका ऊंचा मूल्य हम से ले सकते हैं। भारत को इस प्रकार पुनर्मूल्यन का कोई लाभ प्राप्त नही होगा। इसके अतिरिक्त आयातकर्त्ता भी ऐसी वस्तुओं के मूल्य बढाकर अधिकाधिक मात्रा मे लाभ कमाने का प्रयत्न करने लगेंगे। इस प्रकार पुनर्मूल्यन का लाभ सामान्य उपभोक्ताओं को नही होगा।

(८) विनिमय की दर मे जब मन चाहे तब परिवर्तन करके विनिमय की दर से खिलवाड़ नही करनी चाहिये।

(९) इसके विरोध मे एक तर्क यह भी दिया जाता है कि यदि भारत के साथ-साथ अन्य देशो ने भी पुनर्मूल्यन कर दिया तो भारत को पुनर्मूल्यन का विशेष लाभ प्राप्त नही होने पायेगा।

(१०) पुनर्मूल्यन करने के विपक्ष मे यह भी तर्क है कि निर्यात कर से जो लाभ प्राप्त होता है वह इससे कम हो जायेगा। परन्तु इस तर्क के साथ यह बात भी ध्यान मे रखनी चाहिए कि हमारा व्यय भी कम हो जाएगा। निर्यात कर सरकारी आय का इस प्रकार का साधन है कि जिस पर अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता। अतः यह ही ठीक है कि आयातो पर व्यय कम करके व्यय कम किया जाय। Eastern Economist ने अपने २० अप्रैल सन् १९५१ के अक मे लिखा था, "In the event of a full scale revaluation, therefore, we break even in the final analysis. Our revenues which are now about Rs. 370 crores will shrink by Rs. 32·20 crores, but our revenue and capital expenditure together which is now Rs. 452·55 crores will shrink at the same time at least to Rs 420 crores so that no net disequilibrium is involved."[4]

(११) पुनर्मूल्यन कर देने से भारत को लाभ नही होगा क्योंकि भारत के निर्यात अब बेलोच प्रकृति के नही है। चाय, जूट आदि के निर्यात पहले बेलोच थे।

4. Eastern Economist April 20, 1951. page 652-653.

परन्तु विदेशों में प्रतिस्थापन वस्तुओं के उपयोग के कारण यह आयात लोचदार हो गये हैं।

(१२) यदि अकेले भारत ने ही पुनर्मूल्यन किया, तब भारत विदेशी बाजार में स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य देशों से प्रतियोगिता नहीं कर सकेगा। भारत का निर्यात स्टर्लिंग क्षेत्र में तो कम हो ही जायगा वरन् अमेरिका में भी हमारी निर्यात वस्तुओं का बाजार बहुत कम हो जायगा।

(१३) सरकार भी पुनर्मूल्यन के पक्ष में नहीं है क्योंकि इससे भुगतान सन्तुलन की विपरीतता अधिक हो जायगी। श्री देशमुख ने संसद में बोलते हुए कहा था कि हम इस बात से सन्तुष्ट नहीं हैं कि वर्तमान परिस्थितियों में हमारी मुद्रा का अवमूल्यन देश के हित में होगा। रिजर्व बैंक के विशेषज्ञों ने यह अनुमान लगाया है कि १५ प्रतिशत का अवमूल्यन कर देने से भुगतान सन्तुलन में ५० करोड़ रुपये की कमी आ जाएगी तथा ३० प्रतिशत का अवमूल्यन कर देने से भुगतान के सन्तुलन में १३५ करोड़ रुपये की कमी होगी। इसके विपरीत यदि हम पुनर्मूल्यन न करें तो स्थिति समान रहेगी।[5]

इस प्रकार श्री देशमुख ने पुनर्मूल्यन का विरोध करके इस वाद-विवाद को समाप्त कर दिया। उन्होंने यह स्पष्ट रूप से समझा दिया था कि पुनर्मूल्यन से स्थिति में किसी प्रकार का सुधार नहीं होगा। उस समय सस्ते मूल्यों पर वस्तुयें प्राप्त करने का प्रश्न नहीं था बल्कि प्रश्न तो यह था कि किसी प्रकार की भी वस्तुओं और किसी मूल्य पर भी प्राप्त करने के लिये हमारे पास आवश्यक साधन है या नहीं। उन्होंने कहा, "अधिक मात्रा में वस्तुयें बाहर से मंगाने का निर्णय करने से पूर्व यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम यह देख लें कि हमारे पास ये वस्तुयें प्राप्त करने के लिये किस मात्रा में विदेशी विनिमय उपलब्ध हैं। यह वह बात है जो पुनर्मूल्यन से प्राप्त नहीं हो सकती। हमें अपनी पाल (Sails) असाधारण मौसम को दृष्टि में रख कर छोटी-बड़ी नहीं कर देनी चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि पुनर्मूल्यन कर दिया गया तो आयात व निर्यात कर से आमदनी बहुत कम हो जाएगी। इसलिए वर्तमान स्थिति में पुनर्मूल्यन कर देना भारत के हित में नहीं हो सकता।"

5. "We are not satisfied that a revaluation of our currency is likely to be, in the present circumstances, in the interest of one country. The conclusion that the Reserve Bank experts have arrivrd at is that a 15% revaluation would probably involve a balance of payment deficit of round about rupees 50 crores and a 30% revaluation would involve a deficit in the balance of payment of Rs. 135 crores, where as if we do nct revalue we shall probably hold things square." Sh. C. D. Deshmukh in the course of a debate in April 1951 in the Parliament.

अतः यह स्पष्ट है कि पुनर्मूल्यन करना भारत के हित में नहीं था क्योंकि इससे इच्छित उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो सकती थी। सन् १९५५ में पाकिस्तान के अवमूल्यन कर देने से तो पुनर्मूल्यन की आवश्यकता बिल्कुल ही समाप्त हो गई थी। इसके अतिरिक्त देश की मुद्रा के बाहरी मूल्य में परिवर्तन करना अन्तिम साधन होना चाहिए और भुगतान सन्तुलन को ठीक करने के लिये इसका प्रयोग केवल तभी किया जाना चाहिये जब सब साधन बेकार सिद्ध हो जावें।

अब भारत में पुनर्मूल्यन की चर्चा लगभग समाप्त हो गई है। परन्तु यह आवश्यक है अवमूल्यन या पुनर्मूल्यन के सम्बन्ध में समय-समय पर विचार होता रहे और किसी भी निर्णय को अन्तिम निर्णय नहीं मानना चाहिये। श्री देशमुख ने भी इस बात का आश्वासन दिलाया था कि इस समस्या पर समय-समय पर विचार किया जाता रहेगा और जैसी अवस्था होगी उसी के अनुसार कार्य किया जावेगा।[6]

★

Q. 141. State and explain briefly the main resons on which over valuation of a country's currency can be justified. (Agra 1954)

Q. 142. Explain the meaning of the terms 'over-valuation' and 'under-valuation' of currencies. Mention briefly the main reasons for which over-valuation of a country's currency can be justified.
(Agra 1962, Vikram 1964)

किसी भी देश की मुद्रा के मूल्य के दो पहलू होते हैं—एक आन्तरिक मूल्य और दूसरा बाह्य मूल्य। बाह्य मूल्य (External value) उस देश के भुगतान सन्तुलन (Balance of Payments) की स्थिति पर निर्भर करता है। भुगतान सन्तुलन विपरीत होने पर उस देश की मुद्रा का बाह्य मूल्य गिर जाता है और भुगतान सन्तुलन पक्ष में होने पर यह मूल्य बढ़ जाता है। परन्तु कई बार सरकार विनिमय नियन्त्रण लगा कर मुद्रा के बाहरी मूल्य को प्राकृतिक स्तर पर नहीं रहने देती। अधिमूल्यन (Over-valuation) तथा कम-मूल्यन (Under-valuation) का सम्बन्ध इसी स्थिति से है। जब किसी देश की सरकार अपनी मुद्रा

रूपरेखा :

(१) अधिमूल्यन व कम-मूल्य के अर्थ।

(२) अधिमूल्यन के कारण।

(i) अधिक आयात करते हो;

(ii) ऋणों का अधिक भार;

(iii) भीषण-मुद्रा-स्फीति की दशा,

(iv) दूसरे देशों का आर्थिक शोषण।

---

6. "We never remit the problem; that is to say, this kind of problem will never be put on the shelf. But we can only take a decision from time to time." Sh. Chintamani Desemukh, the then Finance Minister, speaking in the Parliament.

के बाह्य मूल्य को उस स्तर से ऊँचा रखती है जो कि विनिमय-नियन्त्रण न रहने पर प्रचलित होता तो ऐसी स्थिति को मुद्रा का अधिमूल्यन (Over-valuation of the Currency) कहते हैं। इसी प्रकार जब सरकार मुद्रा के बाह्य मूल्य को उसके प्राकृतिक स्तर से नीचा रखती है (विनिमय नियन्त्रण के द्वारा) तो इसे कम-मूल्यन (Under-valuation) कहते हैं।

अधिमूल्यन के कारण

Causes of Over-valuation

अवमूल्यन की स्थिति कृत्रिम होती है जिसको सरकार विशेष प्रयत्नों के द्वारा बनाकर रखती है। इसलिये इस स्थिति को वह विशेष परिस्थितियों में ही बना कर रखती है। ये स्थिति जिसमें अधिमूल्यन की स्थिति को अपनाना उचित होता है निम्न है :—

(१) **अधिक आयात करने हों**—सर्वप्रथम तो सरकार अधिमूल्यन की स्थिति को उस समय बनाकर रखती है जबकि देश को बड़ी मात्रा में आयात करना होता है। जब देश स्वयं तो अधिक निर्यात कर नहीं सकता परन्तु उसको दूसरे देशों से अधिक वस्तुओं के आयात करने होते है तो उसके लिये मुद्रा का अधिमूल्यन करना लाभदायक होता है। यदि वह मुद्रा का अधिमूल्यन नहीं करता तो विदेशी मुद्रा की मांग अधिक होने के कारण विनिमय दर उसके विपक्ष में हो जाती है और उसे आयातों का अधिक भुगतान करना होता है। मुद्रा का अधिमूल्यन करके वह कम विदेशी मुद्रा से ही अधिक वस्तुओं का आयात कर सकता है। जिस देश को अचानक ही बाहर से अधिक मात्रा में वस्तुओं का क्रय करना पड़ता है उस देश के लिए अधिमूल्यन एक उपयुक्त रीति सिद्ध हो सकती है। युद्धकाल में प्राय: इस रीति का सहारा लिया जाता है।

(२) **ऋणों का अधिक भार**—जब किसी देश पर विदेशों का ऋण बहुत मात्रा में एकत्र हो जाता है और उसको चुकाने का समय आ जाता है तो विदेशी मुद्रा की आवश्यकता बहुत बड़ी मात्रा में होती है। इस समय यदि विनिमय दर को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तो यह गिर जाता है जिस कारण ऋण का भुगतान करने के लिये अधिक विदेशी विनिमय की आवश्यकता होती है और उस पर विदेशी ऋण का भार बढ़ जाता है। इस दशा में यदि वह देश अपनी मुद्रा का अधिमूल्यन कर दे तो उसे ऋण का भुगतान करने के लिये कम विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होगी और उस पर विदेशी ऋण का भार कम हो जायेगा। जर्मनी ने युद्ध के बाद अपनी मुद्रा (मार्क) का अधिमूल्यन करके विदेशी ऋणों के भुगतान के भार को बहुत कम कर लिया था। भारत में भी सन् १९२७ में इसी तर्क के आधार पर विनिमय दर को १६ पेंस के स्थान पर १८ पेंस की ऊँची दर पर निश्चित करने का सुझाव दिया गया था।

(३) **भीषण मुद्रा-स्फीति की दशा में**—यदि किसी देश में भीषण मुद्रा-स्फीति हो तो भी उस देश के लिये मुद्रा का अधिमूल्यन करना लाभदायक होता है। मुद्रा-

स्फीति मे देश मे आयात बढ जाते हैं और मुद्रा के मूल्य कम होने के कारण उनका भुगतान करने के लिये अधिक विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होती है। विनिमय नियन्त्रण की सहायता के द्वारा मुद्रा का अधिमूल्यन करके इस स्थिति को रोका जा सकता है। इसी कारण सन् १९२० के लगभग अधिकाश यूरोपियन देशो ने अपनी मुद्राओ का अधिमूल्यन किया था।

(४) दूसरे देशों का आर्थिक शोषण करने के लिए—कई बार एक देश अपनी मुद्रा का अधिमूल्यन इसलिए भी करता है कि वह अपने निर्यातो का अधिकतम मूल्य प्राप्त कर सके। जब एक देश का व्यापार केवल कुछ देशो से होता है और उसके निर्यातो की माग बेलोच होती है तो वह अधिक मूल्य पर भी अपने निर्यातो को बेचने मे सफल हो जाता है। इस दशा में वह केवल मुद्रा का अधिमूल्यन करके ही कम वस्तुओ का अधिक मूल्य एकत्र कर सकता है। सन् १९४९ मे पाकिस्तान ने इंगलैंड, भारत व स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य देशो के साथ अवमूल्यन नही किया था क्योंकि भारत के कच्चे जूट की माग बेलोचदार थी जो केवल पाकिस्तान से प्राप्त होता था। इसलिए पाकिस्तान को विश्वास था कि भारत को प्रत्येक स्थिति मे यह माल उससे खरीदना पड़ेगा। साथ ही पाकिस्तान ने सोचा कि उसको भारत से चीनी, सीमेंट, कोयला, आदि सस्ते मल्य पर मिल जायगा। अतः उसने अवमूल्यन न करके अपनी मुद्रा का अधिमूल्यन कर लिया।

इस प्रकार अधिमूल्यन करने के कई उद्देश्य होते हैं। परन्तु एक बात स्पष्ट है कि कोई भी देश अधिक समय तक अपनी मुद्रा को अधिमूल्यित नही कर सकता क्योकि जिस किसी देश की मुद्रा अधिमूल्यित होती है उस देश की वस्तुओं का मूल्य अन्य देशो की अपेक्षा बढ जाता है। इससे उसके आयात बढ़ने लगते है तथा निर्यात कम होने लगते हैं। विनिमय नियन्त्रण के द्वारा वह अपने आयातों को तो निम्न स्तर पर रख सकता है परन्तु निर्यातो को प्रभावित करना उसकी सीमा मे नहीं होता। इसलिए कुछ समय के पश्चात् उसके निर्यात कम होने लगते है। पाकिस्तान का उदाहरण सामने है। पाकिस्तान ने सितम्बर १९४९ मे पौंड स्टर्लिंग व रुपये के साथ अवमूल्यन न करके अपनी मुद्रा का अधिमूल्यन कर दिया। परन्तु पाकिस्तान इस कृत्रिम स्थिति मे अधिक समय न रह सका और सन् १९५५ मे उसे भी अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करना पडा।

☆

Q. 143. Which of the two remedies, deflation or devaluation, should be applied to restore an over-valued currency to the equilibrium rate? State reasons for your choice and indicate the extent of effectiveness of the method preferred. **(Agra 1961, 1959)**

प्रत्येक देश अपने भुगतान शेष (Balance of Payments) को सन्तुलन की स्थिति में रखना चाहता है क्योंकि भुगतान शेष के सन्तुलन पर ही उसकी मुद्रा के मूल्य की बाह्य स्थिरता (external stability) निर्भर करती है। जब किसी देश का भुगतान शेष निरन्तर उसके विपक्ष में रहता है अर्थात् उसके आयात निर्यातों की तुलना में अधिक होते हैं तो इसका तात्पर्य यह होता है कि उसकी मुद्रा का मूल्य विदेशों में अधिक है जिसके कारण उसकी वस्तुओं का मूल्य भी अधिक है। अधिक मूल्य की वस्तुयें कम मूल्य की वस्तुओं की तुलना में नहीं बिकती है। दूसरी ओर उस देश की मुद्रा अधिमूल्यित (overvalued) होने के कारण आयात सस्ते होते हैं। अतः जब तक मुद्रा अधिमूल्यित रहती है भुगतान शेष सामान्यतः सन्तुलन की स्थिति में नहीं आता। इस प्रकार का निरन्तर असन्तुलन किसी भी देश के लिये ठीक नहीं होता और शीघ्र से शीघ्र उस देश को अपने मूल्य लागत ढांचे में परिवर्तन करके इस असन्तुलन को दूर करना चाहिये। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) भी भुगतान शेष में होने वाले आधारभूत असन्तुलन (fundamental disequilibrium) को दूर करने के लिये विनिमय दर मे परिवर्तन की आज्ञा देता है।

रूपरेखा :

(१) मुद्रा का अधिमूल्यन, इसका कारण व इसके प्रभाव।

(२) अधिमूल्यन के कारण भुगतान शेष के असन्तुलन को ठीक करने के उपाय :

(i) मुद्रा संकुचन;

(ii) अवमूल्यन।

(३) मुद्रा संकुचन, इसका अर्थ तथा इसके द्वारा असन्तुलन को दूर करना।

(४) अवमूल्यन, इसका अर्थ तथा इसके द्वारा असन्तुलन को दूर करना।

(५) दोनों तरीकों के अर्थव्यवस्था पर प्रभाव।

(६) अवमूल्यन किस प्रकार अच्छा है।

जब भी किसी देश का भुगतान शेष उसके विपक्ष में होता है तो इसका अर्थ होता है कि इसके निर्यात कम हैं और आयात अधिक हैं। इस स्थिति में उसके निर्यात इतने नहीं होते कि आयातों का भुगतान कर सके। इस असन्तुलन को दूर करने के लिये आवश्यक होता है कि आयातों को कम किया जाय और निर्यातों को बढ़ाया जाय। परन्तु यहाँ पर एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से आता है कि इस देश के निर्यातों में गिरावट क्यों आई और आयातों में वृद्धि क्यों हुई। इस प्रश्न का उत्तर मिलने पर ही इस असन्तुलन को सफलता के साथ दूर किया जा सकता है।

किसी भी देश में आयातों के बढ़ने और निर्यातों के कम होने का कारण होता है कि उस देश का मूल्य-स्तर अन्य देशों के मूल्य-स्तर से ऊँचा होता है। इस

कारण इस देश की वस्तुयें अन्य देशों की वस्तुएँ इस देश में सस्ती होती है। अन्य देश इस देश से सामान कम खरीदते हैं और यह देश अन्य देशों से अधिक सामान मंगाता है। इस कारण भुगतान शेष में असन्तुलन उत्पन्न हो जाता है। इस असन्तुलन को दूर करने के लिये आवश्यक है कि वह देश अपने मूल्य-स्तर को गिराकर अन्य देशों के मूल्य-स्तरों के बराबर लावे जिससे उसके निर्यात बढ़ सकें।

भुगतान शेष के असन्तुलन को ठीक करने के लिये कोई भी देश दो तरीकों का सहारा ले सकता है—एक तो मुद्रा संकुचन (Deflation) और दूसरे, अवमूल्यन (Devaluation)। पहले तरीके का सम्बन्ध देश की मुद्रा के आन्तरिक मूल्य से है और इसमें मुद्रा का विदेशी मूल्य ज्यों का त्यों रहता है। दूसरे तरीके में मुद्रा का वाह्य-मूल्य कम कर दिया जाता है और देश का आन्तरिक मूल्य-स्तर प्रभावित नहीं होता। परन्तु एक बात महत्वपूर्ण है कि कोई देश चाहे इन दोनों में से किसी भी तरीके को अपनावे, सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि दूसरा देश किस प्रकार की नीति अपनाता है। यदि दूसरा देश भी उतना ही मुद्रा-संकुचन या अवमूल्यन कर देता है तो पहला देश अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाता और भुगतान शेष उसके विपक्ष में ही बना रहता है।

अब प्रश्न यह आता है कि यदि किसी देश का भुगतान शेष उसके विपक्ष में हो जाता है तो उसे कौन से तरीके को अपनाना चाहिए—मुद्रा संकुचन को या अवमूल्यन को। पहले मुद्रा संकुचन पर ही विचार किया जाय।

मुद्रा संकुचन वह अवस्था होती है जिसमें मुद्रा की पूर्ति मांग से कम होने के कारण वस्तुओं का मूल्य गिरता हुआ होता है, लोगों की आय व देश में रोजगार निचले स्तर पर होते हैं और बैंक दर महगी मुद्रा नीति के कारण, ऊँचा होता है। इसीलिये जब किसी देश का भुगतान शेष उसके विपक्ष में होता है तो केन्द्रीय बैंक बैंक दर में वृद्धि करके इसको ठीक कर सकता है। बैंक दर के ऊँचा हो जाने के कारण अन्य ब्याज की दरें भी ऊँची हो जाती हैं और विनियोजनकर्त्ता पूँजी की मांग को कम कर देते हैं। इससे उत्पादन कम होने लगता है, मजदूरियाँ गिरने लगती हैं और बेरोजगारी फैलने लगती है। मजदूरी गिरने के कारण उत्पादन लागत भी कम हो जाती है। मजदूरी व आय कम होने के कारण लोग कम वस्तुओं की माग करते हैं। इस प्रकार देश में मूल्य-लागत ढांचा नीचे की ओर झुकने लगता है और वस्तुओं की मांग कम हो जाती है। अतः मूल्य कम होने के कारण निर्यात बढ़ने लगते हैं और मांग कम होने के कारण आयात कम हो जाते हैं। इससे भुगतान शेष का असन्तुलन ठीक हो जाता है।

मुद्रा संकुचन की नीति को अपना लेने से भुगतान शेष का असन्तुलन तो दूर हो जाता है परन्तु यह तरीका देश की अर्थव्यवस्था के लिये बहुत महगा बैठता है क्योंकि मुद्रा संकुचन के कारण बड़े पैमाने पर बेरोजगारी फैलती है और लोगों की आमदनी बहुत गिर जाती है। इसके अतिरिक्त यदि दूसरा देश इस नीति को स्वीकार

न करे तो यह बेकार भी हो जाती है। तीसे (thisties) के दौरान में इसी प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो गई थी जबकि केन्द्रीय यूरोप के छोटे देशों का अमेरिका के साथ विपरीत भुगतान शेष (adverse balance of payments) था। इसके ठीक करने के लिये उन देशों ने मुद्रा संकुचन व महंगी मुद्रा नीति को अपनाया। परन्तु वे सफल नहीं हो सके क्योंकि अमेरिका ने आयातों पर अत्यधिक कर लगा दिये। साथ ही उसने अपनी वस्तुओं का मूल्य बहुत कम कर दिया। परिणामस्वरूप केन्द्रीय यूरोप के देशों के निर्यात तो बढ़ नहीं सके जबकि आयात उतने के उतने ही रहे। इस प्रकार उन देशों को मुद्रा संकुचन की सब हानियों को सहना पड़ा। आजकल के समय में इन सब बातों के कारण विपरीत भुगतान शेष को ठीक करने के सम्बन्ध में मुद्रा संकुचन का अधिक महत्व नहीं है। इसको द्वितीय महायुद्ध से पहले तक एक अच्छा साधन समझा जाता था क्योंकि तब अवमूल्यन (devaluation) करना एक आर्थिक कमजोरी माना जाता था।

विपरीत भुगतान सन्तुलन को ठीक करने का दूसरा तरीका अवमूल्यन है। अवमूल्यन का अर्थ होता है अपने देश की मुद्रा के बाह्य मूल्य में कमी करना। अवमूल्यन का प्रभाव देश के आन्तरिक मूल्य-लागत ढाँचे पर नहीं पड़ता और इसलिये इसकी आन्तरिक क्रय-शक्ति अपरिवर्तित रहती है।

अवमूल्यन के प्रभाव शक्तिदायक होते हैं क्योंकि देश के निर्यात एकदम बढ़ जाने से अर्थव्यवस्था में उत्पादन, रोजगार व आय बहुत बढ़ जाते हैं। परन्तु अवमूल्यन के शक्तिदायक प्रभाव (tonic effects) अधिक स्थायी नहीं होते। अवमूल्यन के लाभ थोड़े समय के लिये ही प्राप्त होते हैं। यह लाभ तब तक प्राप्त होते हैं जब तक कि देश का मूल्य-लागत ढांचा उन नई विनिमय तुल्यता के बराबर नहीं आ जाता जो अवमूल्यन के कारण हुई है। वास्तव में अवमूल्यन विपरीत भुगतान शेष वाले देश को थोड़ा समय प्रदान करता है जिसमें वह अपना मूल्य-लागत ढांचा अन्य देशों के बराबर ला सकता है। जो देश ऐसा नहीं कर सकते उनको कुछ समय के पश्चात् अवमूल्यन के लाभ प्राप्त होने बन्द हो जाते हैं।

अवमूल्यन की नीति के सफलता के लिये भी कुछ बातों का होना आवश्यक है। एक तो अवमूल्यन के लाभ केवल उस देश को प्राप्त हो सकता है जिसके आयातों व निर्यातों में प्रर्याप्त लचक हो। यदि आयात व निर्यात लचकीले हों तो अवमूल्यन से आयात कम होंगे तथा निर्यात अधिक होगे। यदि आयात व निर्यात दोनों में लचक कम होगी तो आयातों के मूल्यों में वृद्धि होने पर भी आयातों की मात्रा में कमी नहीं होगी और निर्यातों के मूल्य में कमी हो जाने पर भी उनकी मात्रा में वृद्धि नहीं होगी। परन्तु इसका प्रभाव देश की अर्थव्यवस्था पर यह होगा कि हमको विदेशों को अधिक मूल्य देना पड़ जायेगा जबकि प्राप्त कम होगा। इससे भुगतान शेष की विपरीतता और अधिक बढ़ जायेगी।

दूसरे, अवमूल्यन के विपरीत प्रभाव मूल्य-लागत ढाचे पर नहीं पड़ने चाहिये। यदि सट्टेबाज और व्यापारी इस स्थिति का लाभ उठा कर निर्यात वस्तुओं का मूल्य बढ़ा देते हैं तो यह नीति सफल नही होगी।

तीसरे, जिस देश की मुद्रा की तुलना में अवमूल्यन किया जाता है उसे अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नही करना चाहिये तथा आयातों पर रोक नही लगानी चाहिये।

विपरीत भुगतान शेष को ठीक करने के लिये मुद्रा संकुचन व अवमूल्यन दोनों का अध्ययन करने के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि दोनो में से अवमूल्यन अधिक उपयुक्त है क्योंकि यद्यपि दोनो से एक ही उद्देश्य की प्राप्ति होती है, परन्तु मुद्रा-स्फीति की तुलना में अवमूल्यन के प्रभाव अर्थव्यवस्था पर कम घातक होते हैं। अवमूल्यन देश के आर्थिक विकास को भी हतोत्साहित नही करता जबकि मुद्रा संकुचन ऐसा करता है क्योंकि इसके कारण देश में बेरोजगारी फैलती है और लोगों की आय घटती है।

Selected Readings

1. G. Crowther : An Outline of Money. ch. X
2. S. K. Muranjan : From Hyper-Inflation to, Devaluation part II
3. B. N. Ganguli : Devaluation of the Rupee.
4. P. T. Ellsworth . The International. Economy. chs XVII & XVIII

११

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग

(International Monetary Co-operation)

Q. 145. Explain brifly the objectives, functions and achievements of either I. M. F. or I. B. R. D. (Jabalpur 1965)

Q. 146. Mention the principal achievements of the I. M. F. and the I. B. R. D. (Agra 1962)

Q. 147. Analyse the aims and objectives of the I. M. F. comment upon its working. (Vikram 1961)

Q. 148. Give a brief evaluations of the working of the Bank for International Development and Reconstruction. (Agra 1965)

Q. 149. Give the main achievements of the I. M. F. in and after 1958 in the sphere of external convertilitity of currencies. (Raj 1964)

Q. 150. State the purposes of I. M. F. How has it dealt with the problem of scarce currencies anc with that of exchange stabilty? (Raj. 1963)

Q. 151. Explain briefly the objectives and functions of the International Monetary Fund and the Internatianal Bank for Reconstruction and Development Give a critical note on their working. (Agra 1956)

प्रथम महायुद्ध से पहले संसार के प्रमुख देशों में स्वर्णमान था और इससे उत्पादन व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को वहुत अधिक प्रोत्साहन मिला था। प्रथम महायुद्ध के बाद भरसक प्रयत्न स्वर्णमान को पुनः अपनाने के लिये किए गये, परन्तु विभिन्न देशों की परिस्थितियों में आधारभूत परिवर्तन हो जाने के कारण यह सब प्रयत्न निष्फल हो गये। किसी अन्तर्राष्ट्रीय मान (International Standard) के न होने से विनिमय दरों में स्थिरता न रही और अधिकांश देशों को विनिमय

रूपरेखा :

(१) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष व विश्व बैंक की स्थापना की आवश्यकता।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्य।

(३) विश्व बैंक के उद्देश्य।

(४) विश्व बैंक के कार्य का आलोचनात्मक अध्ययन।
(५) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का आलोचनात्मक अध्ययन।

नियन्त्रण की नीति अपनानी पड़ी। प्रथम महायुद्ध काल मे विभिन्न देशों ने अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा भी अत्यधिक मात्रा में चलायी थी जिसके कारण विभिन्न देशों के मूल्य स्तरों में कोई समानता न रही तथा मूल्यों की वृद्धि भी बहुत अधिक हो गई। बहुत से देशों ने विनिमय अवमूल्यन (Exchange Devaluation) द्वारा निर्यात को बढ़ाना चाहा तो दूसरे देशों ने आयात नियन्त्रण (Import Restrictions) लगा दिए। इस प्रकार प्रत्येक देश अपने आर्थिक हितों को ही ध्यान में रखता था और दूसरे के हितों पर जरा भी ध्यान नहीं देता था। इसी प्रकार आदम स्मिथ (Adam Smith) के 'स्वार्थ हित से प्रेरित व्यक्ति के समान स्वार्थ हित से प्रेरित देशों' का विकास हो रहा था।

द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ से तो यह दशायें और भी बिगड़ गयी तथा महायुद्ध के दौरान में ही इस बात पर विचार किया जाने लगा कि इन दशाओं को किस प्रकार से नियन्त्रण मे लाया जाय। यह भी स्पष्ट हो गया था कि युद्ध की समाप्ति पर समस्या और भी जटिल हो जायेगी क्योंकि युद्ध के संचालन के लिए अत्यधिक मात्रा मे कागजी मुद्रा का प्रसार किया गया था जिससे प्रत्येक देश की अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी थी। इसके अतिरिक्त यह भी अनुमान लगाया गया था कि युद्धकालीन विध्वंस के कारण युद्धोत्तर काल में आर्थिक पुनर्वासन तथा पुनर्निर्माण की ऐसी गम्भीर समस्यायें उत्पन्न होंगी जिनको अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, विदेशी व्यापार के विकास तथा विभिन्न देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों के समुचित प्रवाह के बिना हल करना सम्भव न होगा। साथ ही साथ यह भी स्पष्ट हो गया था कि महायुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान को अपनाना कठिन ही नहीं असम्भव था। इसलिये इस प्रकार की नयी व्यवस्था की आवश्यकता थी जिसमे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से पर्याप्त लोचता बनी रहती और मौद्रिक अनुशासन भी रहता जिसके बिना कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था सफल नही हो सकती। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के मैनेजिंग डायरेक्टर (Managing Director) श्री जेकोबसन (Jacobson) के अनुसार,

"It was necessary to establish something new and more strongly founded, a kind of system which would provide, at the same time, sufficient flexibility through international assistance, and yet still adhere to those principles of monetary discipline without which no international system can function properly"

इन सब बातों तथा दशाओं के कारण युद्ध काल में ही ब्रिटिश कोषागार ने कीन्स योजना (Keynes plan), अमेरिका ने व्हाइट योजना (White Plan) तथा

कनाडा ने कनेडियन योजना (Canadian Plan) संसार के सम्मुख रखीं, जिन पर विचार करने के लिये सन् १९४४ में ब्रैटन वुड्स (Bretton Woods) नामक स्थान पर एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा परिषद् (Internat onal Mcnetary Conference) की बैठक हुई। इस परिषद् के परिणामस्वरूप सदस्य देशों को अल्पकालीन सहायता प्रदान करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Conference) तथा दीर्घकालीन सहायता प्रदान करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण व विकास बैंक (International Bank for Reconstruction and Development) जिसे विश्व बैंक (World Bank) भी कहते हैं, की स्थापना हुई।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्य (Objectives of International Mon tary Fund) कोष सम्बन्धी समझौते की धारा (I) में कोष के उद्देश्यों का स्पष्ट वर्णन किया गया है। इसके उद्देश्य निम्नलिखित हैं :—

(१) एक स्थायी संस्था द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहन देना। यह स्थायी सस्था इस प्रकार के साधन प्रदान करेगी जिससे अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सहयोग व परामर्श से हल किया जा सके।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार और सन्तुलित विकास को सुविधाजनक बनाना और इस प्रकार सभी सदस्य देशों में रोजगार व वास्तविक आय के उच्च स्तरों को स्थापित करना तथा बनाए रखना और आर्थिक नीति के प्राथमिक उद्देश्य के रूप में सदस्य देशों के उत्पादक साधनों का विकास करना।

(३) सदस्यों के बीच विनिमय स्थिरता (Exchange stability) को स्थापित करना तथा नियमित विनिमय व्यवस्थाओं को बनाये रखना और स्पर्धात्मक विनिमय अवमूल्यन (Competitive Exchange Depreci tion) को रोकना।

(४) द्विपक्षी समझौतों (Bilateral Agreen ents) के स्थान पर बहुपक्षी समझौतों (Multil teral Agreements) को सदस्य देशों के बीच चालू व्यवहारों (Current Transactions) के लिये स्थापित करवाना और उन विनिमय प्रतिबन्धों को हटवाने में सहायता करना जिनसे विश्व व्यापार के विकास में बाधा पड़ती है।

(५) समुचित सुरक्षा के अन्तर्गत सदस्य देशों के लिये कोष के साधनों को उपलब्ध करके उनमें विश्वास उत्पन्न करना और इस प्रकार उन्हें, ऐसे उपायों के किए बिना, जो राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय वैभव को नष्ट करते हैं, अपने शोधनाशेष की त्रुटियों को दूर करने का अवसर प्रदान करना।

(६) उपरोक्त उद्देश्यों के अनुसार सदस्यों के अन्तर्राष्ट्रीय शोधनाशेष के असन्तुलन की अवधि और उसके अंश को कम करना।

यह उद्देश्य केवल कोष का पथ-प्रदर्शन निर्णय लेने में ही नहीं बल्कि इसके सदस्य देश भी मुद्रा सम्बन्धी प्रश्नों पर निर्णय लेने में उपरोक्त बातों को ध्यान में

रखते हैं। उपरोक्त उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये कोष तीन प्रकार की मुख्य रीतियों को अपनाता है। सर्वप्रथम बोर्ड ऑफ गवर्नरस की बैठक में मुद्रा व विनिमय सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार-विमर्श करके यह मुद्रा व विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने का प्रयत्न करता है। दूसरे, यह सदस्य देशों को, उनकी प्रार्थना पर, विशेषज्ञों की सेवायें प्रदान करता है जो कि उनकी मौद्रिक व वित्तीय समस्याओं को सुलझा सके। तीसरे, सदस्य देशों को अल्पकाल के लिए तथा चालू भुगतानों की कठिनाइयों को दूर करने के लिये विदेशी विनिमय का ऋण देना। इस प्रकार अपने सब कार्यों में बैंक का उद्देश्य यह ही रहता है कि सदस्य देशों की इस प्रकार से सहायता की जाए कि विदेशी व्यापार की गति सरल हो जाय तथा अल्पकालीन विदेशी विनिमय सकट न आने पाये। इस कारण यह अपने सदस्य देशों से निरन्तर परामर्श करता रहता है और अपने सदस्य देशों को ससार में हो रहे वैत्तिक परिवर्तनों के बारे में बताता है। इसके अतिरिक्त यह समय-समय पर बहुत सी रिपोर्ट आदि भी प्रकाशित करता रहता है जिससे सदस्य देशों को बहुत लाभ होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण व विकास बैंक (International Bank for Reconstruction and Development)—ब्रैटन वुड्स (Bretton Woods) योजना के दूसरे भाग में एक विश्व बैंक की स्थापना का सुझाव है जो उन देशों का दीर्घकालीन ऋण दे सके जिनके पास साधनों की कमी है। उस अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा परिषद् में इस बात पर भी विचार किया था कि युद्ध के विध्वंस के कारण कुछ देशों में इस प्रकार की अवस्था उत्पन्न हो सकती है निरन्तर असन्तुलित विनिमय दर की समस्या बनी रहे। इस समस्या को दूर करने के लिये अविकसित देशों के निर्यात व्यापार को प्रोत्साहित करना होगा जिससे कि सन्तुलित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार हो सके। इन बातों के कारण विश्व बैंक को आवश्यकता प्रतीत हुई जो कि २७ दिसम्बर सन् १९४४ को स्थापित हो गया और २५ जून सन् १९४६ से इसने कार्य करना प्रारम्भ कर दिया।

विश्व बैंक के उद्देश्य (Objective of the World Bank)—अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के समझौते के नियम (Articles of Agreement) की धारा १ के अनुसार इस बैंक के उद्देश्य निम्नलिखित होंगे—

(१) बैंक का मुख्य उद्देश्य सदस्य देशों के पुनर्निर्माण व विकास में उत्पादन कार्यों के लिये पूँजी के विनियोग की सुविधा प्रदान करके सहायता पहुँचाना है। इस प्रकार की सहायता युद्ध से नष्ट व अस्तव्यस्त हुई अर्थव्यवस्था की पुनर्स्थापन के लिये, उत्पादन सुविधाओं को शान्तिकालीन आवश्यकताओं के समायोजन (Reconversion) के लिये तथा कम उन्नत देशों को अपने प्राकृतिक साधनों के अधिकतम शोषण व विकास के लिये दी जायेगी।

(२) बैंक का दूसरा महत्वपूर्ण उद्देश्य पूंजी के विनियोग के लिये सुविधायें प्रदान करना है। इस उद्देश्य के लिये बैंक व्यक्तिगत विनियोजनकर्त्ताओं (Private Investors) को उनकी पूंजी की गारंटी देकर उनको प्रोत्साहित करता है कि वे अर्धविकसित देशों में अपनी पूँजी लगायें। यह उनके विनियोग व ऋणों में सम्मिलित होकर भी उनको प्रोत्साहित करता है। यदि इस प्रकार के व्यक्तिगत ऋण उचित शर्तों पर उपलब्ध नहीं होते तब बैंक निजी पूँजी में से या इसके द्वारा प्राप्त कोषों से या अन्य रीतियों से प्राप्त राशियों से यह उत्पादन कार्यों के लिए ऋण देता है।

(३) विश्व बैंक का तीसरा उद्देश्य है विदेशी व्यापार की दीर्घकालीन सन्तुलित उन्नति की व्यवस्था करना और अन्तर्राष्ट्रीय विनियोजन को प्रोत्साहित करके सदस्यों के उत्पादन साधनों को विकसित करना जिससे वे शोधनाशेष (Balance of payments) में सन्तुलन स्थापित कर सकें। इससे सदस्य देशों की उत्पादनशीलता (Productivity), जीवन स्तर तथा श्रमिकों की कार्य-दशाओं में उन्नति हो जयेगी।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों के रूप में अन्य स्रोतों से प्राप्त ऋणों का, जिनको इसने प्राप्त किया है या गारन्टी की है, प्रबन्ध करना जिससे कि छोटी बड़ी अत्यधिक उपयोगी व अत्यन्त आवश्यक योजनाओं को समान रूप से कार्यान्वित किया जा सके।

(५) इसका अन्तिम उद्देश्य अपने कार्यों को इस प्रकार करना है जिससे युद्धोत्तर काल में अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग बढ़ जाय और शान्तिकालीन अर्थव्यवस्था के लिये समुचित अवस्थायें उत्पन्न हो जायें।

उपरोक्त उद्देश्यों से स्पष्ट है कि विश्व बैंक का मुख्य कार्य संसार के विभिन्न देशों का आर्थिक विकास करना है। आर्थिक विकास के लिये यह दीर्घकालीन ऋण देता है। ऋणों में भी यह व्यक्तिगत ऋणों को प्रोत्साहित करता है और उनके भुगतान की गारन्टी अपने ऊपर लेता है। अपने पास से तो वह ऋण तभी देता है जबकि व्यक्तिगत विदेशी ऋण उपलब्ध नहीं होते। इसका कार्य केवल ऋण देने तक ही सीमित नहीं है बल्कि यह विभिन्न देशों को टेक्नीकल सहायता भी प्रदान करता है। पिछले वर्षों में इसने अपने टेक्नीकल मिशन बहुत से अविकसित देशों जैसे भारत, ईरान, फिलिपाइन्स, लेबनान आदि को भेजे हैं। इन मिशनस ने उन देशों की आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करके उनकी आर्थिक स्थिति को दृढ़ बनाने के लिये महत्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। इसके अतिरिक्त यह विभिन्न देशों के आर्थिक झगड़े सुलझाने का भी प्रयत्न करता है।

इस प्रकार विश्व बैंक के लाभ बहुत अधिक हैं और कीन्स (Keynes) के अनुसार उनको सरलता से नहीं आंका जा सकता। इस बैंक ने विभिन्न देशों को

आर्थिक पुनर्निर्माण व विकास के लिये साधन प्राप्त होते हैं और उनमे सहयोग तथा सद्भावना जाग्रत होती है। विश्व शान्ति के लिए भी इसका महत्व बहुत अधिक है क्योंकि इस प्रकार की शान्ति की स्थापना के लिए विभिन्न देशों मे आर्थिक सुव्यवस्था व स्थिरता का होना आवश्यक है।

बैंक के कार्य पर आलोचनात्मक दृष्टि (A Critical View of the Banks Activities)—बैंक को कार्य करते २० वर्ष हो चुके हैं और इन २० वर्षों मे इसका कार्य सराहनीय रहा है। इसने ससार के विभिन्न देशो की प्रत्येक प्रकार से सहायता की है और विश्व-सेवा का उद्देश्य सदा ही इसके सम्मुख रहा है। ३० जून सन् १९६२ तक बैंक ने ६० देशों को ६५·४५ मिलियन डालर के ३२१ ऋण दिये। इसमे से ६०४८ मिलियन डालर के ऋण विकास कार्यों के लिये तथा ४९७ मिलियन डालर के ऋण पुनर्निर्माण के लिये थे।

ऋणी देशो मे सबसे अधिक ऋण भारत को मिला है। ३१ दिसम्बर सन् १९६३ तक भारत को विश्व बैंक से ४०३ करोड़ रुपये ऋण मिल चुका है। किसी भी दूसरे देश को इतना अधिक ऋण प्राप्त नही हुआ है। बैंक के ऋणो का क्षेत्रीय वर्गीकरण करने से यह स्पष्ट है कि बैंक अविकसित देशो को विकास के लिये अधिक ऋण दे रहा है। एशिया के देशो के ऋण की मात्रा सन् १९५३–५४ मे २३२ मिलियन डालर से बढकर सन् १९६२ मे २१८५ मिलियन डालर हो गई तथा अफ्रीका के देशो मे इसकी दौरान में ऋण की सख्या १९९ मिलियन से बढ़कर ८८५ मिलियन हो गई। कुल ऋणो मे से इन देशो का अनुपात भी २३ प्रतिशत से बढ़कर ५० प्रतिशत हो गया है जब यूरोप का अनुपात ४१·७% से गिरकर १६% हो गया है।

बैंक ने कुल ऋणो का लगभग ३/४ भाग एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी व केन्द्रीय अमेरिका के पिछडे क्षेत्रो को दिया। कुल ३२१ ऋणो मे से ११६ दक्षिणी व केन्द्रीय अमेरिका, ६४ एशिया व मध्यपूर्व, ४१ अफ्रीका और शेष ६३ यूरोप व ७ आस्ट्रेलिया को प्राप्त हुये हैं। बैंक की प्रवृत्ति अविकसित देशो के विकास पर ध्यान देने की है।

बैंक के ऋण का मुख्य उद्देश्य सदस्य देशो को इस प्रकार से सहायता करना रहा है कि वे अपने देश के आर्थिक विकासो के आधार को दृढ बना सकें। विद्युत-शक्ति तथा यातायात के विकास की योजनाओं को बैंक ने विशेष महत्व दिया है क्योंकि ये आधारभूत सेवायें हैं जिनमे नये साधनों का विकास होता है। कुल ऋण का लगभग एक तिहाई विद्युत-शक्ति के विकास के लिए दिया गया है। दूसरा एक तिहाई भाग यातायात के विकास के लिये दिया गया है जिसमे जल-यातायात, थल-यातायात, वायु-यातायात, रेलें सम्मिलित हैं। तीसरा एक तिहाई कृषि, उद्योग तथा सामान्य विकास कार्यों के लिए दिया गया है। इनमें भी कृषि में सिंचाई की योजनाओ व उद्योगो मे इस्पात उत्पादन को अधिक महत्व दिया है।

(२) बैंक का दूसरा महत्वपूर्ण उद्देश्य पूंजी के वि
प्रदान करना है। इस उद्देश्य के लिये बैंक व्यक्तिगत वि
Investors) को उनकी पूंजी की गारंटी देकर उनको
अर्धविकसित देशों में अपनी पूंजी लगायें। यह उ
सम्मिलित होकर भी उनको प्रोत्साहित करता है। ज
ऋण उचित शर्तों पर उपलब्ध नहीं होते तब बैंक नि
प्राप्त कोषों से या अन्य रीतियों से प्राप्त राशियों से ऋ
देता है।

(३) विश्व बैंक का तीसरा उद्देश्य है वि
सन्तुलित उन्नति की व्यवस्था करना और अन्तर्राष्ट्री
करके सदस्यों के उत्पादन साधनों को विकसित
(Balance of payments) में सन्तुलन स्थापित क
उत्पादनशीलता (Productivity), जीवन स्तर त
उन्नति हो जयेगी।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों के रूप में अन्य ज
इसने प्राप्त किया है या गारन्टी की है, प्रबन्ध कर
उपयोगी व अत्यन्त आवश्यक योजनाओं को स
सके।

(५) इसका अन्तिम उद्देश्य अपने का
युद्धोत्तर काल में अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग बढ़ ज
लिये समुचित अवस्थायें उत्पन्न हो जायें।

उपरोक्त उद्देश्यों से स्पष्ट है कि विश
देशों का आर्थिक विकास करना है। आर्थि
देता है। ऋणों में भी यह व्यक्तिगत ऋणों क
की गारन्टी अपने ऊपर लेता है। अपने पा
व्यक्तिगत विदेशी ऋण उपलब्ध नहीं होते
सीमित नहीं है बल्कि यह विभिन्न देशों को
पिछले वर्षों में इसने अपने टेक्नीकल मिश
ईरान, फिलिपाइन्स, लेबनान आ
समस्याओं का अध्ययन
सुझाव दिये हैं।
प्रयत्न करता

इस
अनुसार ७

जितना स्वतन्त्र होगा शोधनावशेष मे उतना ही कम असन्तुलन होगा। इसलिये यह समय-समय पर सदस्यो से विनिमय नियन्त्रण व व्यापार-नियन्त्रण को हटाने के लिये कहता रहता है। इस सम्बन्ध मे इसको विशेष सफलता प्राप्त नही हुई है। फिर भी सफलता का मिलना प्रारम्भ हो गया है। पिछले दिनो इंगलैंड व १३ अन्य देशो ने स्टलिंग व अपनी मुद्राओं को वाह्य परिवर्तनशीलता (External Convertibility) को स्वीकार कर लिया है। कोष ने अपने प्रयत्नो को इस सम्बन्ध मे समाप्त नही किया है और यह सदस्यो पर से प्रतिबन्धो को शीघ्र से शीघ्र हटाने पर जोर दे रहा है।

इस प्रकार से कोष व बैंक दोनो ही अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ के रूप मे महत्व पूर्ण हैं। इनको स्थापित हुए अभी केवल २० ही वर्ष हुए है परन्तु इन २० वर्षो मे इन दोनों सस्थाओ ने ससार के आर्थिक विकास मे बहुत योगदान दिया है। सबसे महत्वपूर्ण योगदान तो यह रहा है कि इन दोनो ने एक ऐसा स्थान प्रदान किया है जहाँ ससार के सब देश एक साथ एक दूसरे की समस्याओ पर विचार कर सकते है और उस पर अपने विचार प्रकट कर सकते है। इन दोनो ने ससार के विभिन्न देशो मे सहयोग की भावना का सचार किया है जो विश्व शान्ति के लिये बहुत आवश्यक है।

इस प्रकार बैंक अपने कार्य मे बहुत सफल रहा है और विभिन्न अविकसित तथा अर्धविकसित देशो को सहायता प्रदान की है। भविष्य मे आशा की जा सकती है कि विश्व बैंक को भविष्य मे और भी अधिक सफलता मिलेगी तथा अविकसित देशों का विकास तेजी से होगा। इनकी सफलता के कारण ही अधिक देश इसके सदस्य बनते जा रहे हैं। सदस्य सख्या ४४ से बढकर ६८ हो गई है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का कार्य (Working of the International Monetary Fund)—कोष की स्थापना ब्रेटन वुड्स सभा के परिणामस्वरूप २७ दिसम्बर सन् १९४५ को हुई थी जबकि २९ गवर्नरस ने Articles of Agreement पर हस्ताक्षर किये थे। कोष की प्रथम सभा मार्च सन् १९४६ मे हुई तथा १ मार्च सन् १९४७ से कोष ने विनिमय व्यवहार की कार्यवाही आरम्भ कर दी। कोष के प्रत्येक सदस्य-देश ने अपनी मुद्रा का मूल्य स्वर्ण या डालर मे परिभाषित कर दिया है जिससे प्रत्येक देश की विनिमय दर के निर्धारण मे बहुत सुविधा हो गई है।

कोष सदस्य देशों की अल्पकालीन शोधनावशेष को सन्तुलित करने के लिये अल्पकालीन ऋण देता है और इस सुविधा का लाभ बहुत से देशो ने उठाया है। मार्च सन् १९४७ से अप्रैल सन् १९६२ तक कोष ने ६२६५ मिलियन डालर से अधिक की मुद्राओं को वेचा। इसमे से ३८ सदस्य देशो ने ४०९८ मिलियन डालर मूल्य की अपनी मुद्रायें वापिस ली। यह पुनर्क्रय स्वर्ण तथा परिवर्तनशील मुद्राओ में किया गया।

जितना स्वतन्त्र होगा शोधनावशेष मे उतना ही कम असन्तुलन होगा। इसलिये यह समय-समय पर सदस्यो से विनिमय नियन्त्रण व व्यापार-नियन्त्रण को हटाने के लिये कहता रहता है। इस सम्बन्ध मे इसको विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई है। फिर भी सफलता का मिलना प्रारम्भ हो गया है। पिछले दिनों इगलैंड व १३ अन्य देशों ने स्टलिंग व अपनी मुद्राओं की वाह्य परिवर्तनशीलता (External Convertibility) को स्वीकार कर लिया है। कोष ने अपने प्रयत्नो को इस सम्बन्ध मे समाप्त नही किया है और यह सदस्यों पर से प्रतिबन्धो को शीघ्र से शीघ्र हटाने पर जोर दे रहा है।

इस प्रकार से कोष व बैंक दोनो ही अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ के रूप में महत्व पूर्ण हैं। इनको स्थापित हुए अभी केवल २० ही वर्ष हुए है परन्तु इन २० वर्षों मे इन दोनो सस्थाओं ने ससार के आर्थिक विकास मे बहुत योगदान दिया है। सबसे महत्वपूर्ण योगदान तो यह रहा है कि इन दोनों ने एक ऐसा स्थान प्रदान किया है जहाँ ससार के सब देश एक साथ एक दूसरे की समस्याओं पर विचार कर सकते है और उस पर अपने विचार प्रकट कर सकते हैं। इन दोनों ने ससार के विभिन्न देशो मे सहयोग की भावना का सचार किया है जो विश्व शान्ति के लिये बहुत आवश्यक है।

इस प्रकार बैंक अपने कार्य मे बहुत सफल रहा है और विभिन्न अविकसित तथा अर्धविकसित देशो को सहायता प्रदान की है। भविष्य मे आशा की जा सकती है कि विश्व बैंक को भविष्य मे और भी अधिक सफलता मिलेगी तथा अविकसित देशो का विकास तेजी से होगा। इसकी सफलता के कारण ही अधिक देश इसके सदस्य बनते जा रहे हैं। सदस्य सख्या ४४ से बढकर ६८ हो गई है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का कार्य (Working of the International Monetary Fund)—कोष की स्थापना ब्रेटन वुड्स सभा के परिणामस्वरूप २७ दिसम्बर सन् १९४५ को हुई थी जबकि २९ गर्वनरस ने Articles of Agreement पर हस्ताक्षर किये थे। कोष की प्रथम सभा मार्च सन् १९४६ मे हुई तथा १ मार्च सन् १९४७ से कोष ने विनिमय व्यवहार की कार्यवाही आरम्भ कर दी। कोष के प्रत्येक सदस्य-देश ने अपनी मुद्रा का मूल्य स्वर्ण या डालर मे परिभाषित कर दिया है जिससे प्रत्येक देश की विनिमय दर के निर्धारण मे बहुत सुविधा हो गई है।

कोष सदस्य देशो की अल्पकालीन शोधनावशेष को सन्तुलित करने के लिये अल्पकालीन ऋण देता है और इस सुविधा का लाभ बहुत से देशों ने उठाया है। मार्च सन् १९४७ से अप्रैल सन् १९६२ तक कोष ने ६२६५ मिलियन डालर से अधिक की मुद्राओं को बेचा। इसमें से ३८ सदस्य देशों ने ४०९८ मिलियन डालर मूल्य की अपनी मुद्रायें वापिस ली। यह पुनर्क्रय स्वर्ण तथा परिवर्तनशील मुद्राओं मे किया गया।

३० अप्रैल सन् १९६२ तक मुद्रा कोष से ४४ सदस्यों ने विदेशी मुद्रा खरीदी और तीनों देशों ने मुद्रा-विक्रय बचतों का लाभ उठाया। लाभ उठाने वाले इन ४७ देशों में से १९ देश लेटिन अमेरिका के, १२ यूरोप के, ५ मध्यपूर्व के तथा ७ सुदूर पूर्व तथा ४ अफ्रीका के हैं।

सन् १९५८ तक कोष से डालर का क्रय ही अधिक किया जाता था। ३० अप्रैल सन् १९५८ तक कोष से जितनी विदेशी मुद्रा खरीदी गई उसकी ९१ प्रतिशत डालर ही थे। इसके बाद से डालर की मांग कम होती जा रही है और जापानी, स्वेडन की मुद्रा तथा जर्मनी की मुद्रा की मांग बढ़ रही है। सन् १९६२ में डालर की मांग ९२ प्रतिशत से घटाकर ३५ प्रतिशत रह गई थी।

कोष ने अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों व व्यापार को स्थिरता प्रदान करने का प्रयत्न किया है जिसमें यह कुछ सीमा तक सफल रहा है। इसकी स्थापना से बहुपक्षीय व्यापार सम्भव हो गया है और कोष ने आवश्यकता के समय मुद्रा उधार देकर भुगतान शेष के असन्तुलन को दूर करने का प्रयत्न किया है। कोष ने मौद्रिक सहयोग में भी वृद्धि की है।

Q. 152. How far has the International Bank for Reconstruction and Development been of real value to India? (Agra 1955)

भारतवर्ष विश्व बैंक का मौलिक सदस्य (Original Member) है, क्योंकि इसने इसकी सदस्यता प्रारम्भ में ही स्वीकार कर ली थी। भारतवर्ष को बैंक की सदस्यता से बहुत अधिक लाभ हुआ है, विशेषकर जबसे भारतवर्ष में आर्थिक नियोजन आरम्भ हुआ है।

भारत एक अविकसित देश था जो अब अर्ध-विकसित अवस्था में है। यहां प्राकृतिक साधनों की कमी नहीं है और यदि कमी है तो केवल पूंजी की। इसलिए बिना विदेशी पूंजी की सहायता के भारत का आर्थिक विकास सम्भव नहीं है। परन्तु विदेशी पूँजी के साथ कठिनाई यह रहती है कि जब तक उसको पुनः भुगतान व गारन्टी न हो तब तक वह दूसरों देशों में विनियोजन के लिए तैयार नहीं होती। इसके अतिरिक्त जो देश विदेशी पूंजी चाहता है उसको यह ठीक-ठीक मालूम नहीं होता कि किस देश से कितनी पूंजी प्राप्त हो सकती है। विश्व बैंक इन दोनों कार्यों को करता है और विदेशी पूँजी को दूसरे देशों में भेजता है।

विश्व बैंक से ऋणों के लेने में भारत का स्थान प्रथम रहा है। भारत को विश्व बैंक से सबसे अधिक ऋण प्राप्त हुआ है। भारत ही पहला देश था जिसको बैंक से सबसे पहले ऋण मिला था। ऋण प्रदान करने के अतिरिक्त भारत को बैंक ने अन्य प्रकार से भी सहायता प्रदान की है जिससे इसको विकास कार्यों में सफलता मिली है।

भारत को विश्व बैंक से प्राप्त ऋण (Loans which India received from the World Bank)—सन् १९६१ तक विश्व बैंक से भारत को लगभग ४०३ करोड़ रु० के ऋण प्राप्त हो चुके हैं। यह ऋण सन् १९४९ से अब तक विभिन्न समय पर प्राप्त होते रहे है और उसका उद्देश्य रेलवे, विद्युत शक्ति, लोहा व इस्पात उद्योग व बन्दरगाहों का विकास करना रहा है। इसके अतिरिक्त औद्योगिक वित्त के साधनों की वृद्धि के लिए भी विश्व बैंक ने ऋण प्रदान किए है। भविष्य में बैंक से और भी ऋण मिलने की आशा है। भारत को जो ऋण इस बैंक से प्राप्त हुए हैं उनका संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है और इससे यह स्पष्ट हो जायगा कि भारत के आर्थिक विकास मे विश्व बैंक का क्या योगदान रहा है :—

(१) पहला ऋण भारतवर्ष को अगस्त सन् १९४९ मे मिला था। यह ऋण ३·४ करोड़ डालर का था तथा १५ वर्ष की अवधि के लिये दिया गया था इस ऋण पर सूद की दर ३ प्रतिशत तथा कमीशन की दर १ प्रतिशत थी। परन्तु भारत ने इस ऋण का पूरा उपयोग न करके इसमें से केवल ३·२५ करोड डालर ही प्राप्त किया। ऋण का भुगतान सन् १९५० से प्रारम्भ हो गया है।

यह ऋण रेलों के विकास के लिये दिया गया था। युद्धकाल मे भारतीय रेलों को बहुत अधिक कार्य करना पड़ा था, किन्तु उनका प्रतिस्थान (Replacement) न हो सका था। यह अनुमान लगाया गया था कि युद्ध के बाद २५% रेल के इंजन ४० वर्ष पुराने हो गए थे और शेष २० वर्षों से काम कर रहे थे। इसलिए नये रेल के इजनों की तीव्र आवश्यकता थी। इस ऋण का उद्देश्य इसी आवश्यकता को पूरा करना था। इस ऋण से भारत ने सयुक्त राज्य अमेरिका तथा कनाडा के रेलवे इंजन खरीदे।

(२) युद्ध के बाद कृषि का सुधार बहुत आवश्यक था। इसके अतिरिक्त भारत के विभाजन के कारण पंजाब का बहुत सा कृषि-उन्नत भाग पाकिस्तान में चला गया था, जिसके कारण भारत में कृषि के सुधार की अत्यन्त आवश्यकता थी। इस आवश्यकता को ध्यान मे रखकर ही विश्व बैंक ने भारत को दूसरा ऋण १ करोड़ डालर का सितम्बर सन् १९४९ में कृषि के विकास के लिए दिया। यह ऋण सात वर्षों के लिए था और इस पर २½ प्रतिशत सूद तथा १% कमीशन था। इस ऋण का भुगतान सन् १९५२ से प्रारम्भ हुआ।

भारत ने इस ऋण की सहायता से अमेरिका के ट्रेक्टर्स, मशीनें तथा अन्य कृषि के औजार खरीदे हैं और इनकी सहायता से ३० लाख एकड़ कांस वाली भूमि को कृषि योग्य बनाया गया है। भारत ने इस ऋण की पूरी मात्रा का उपयोग भी नही किया।

(३) बैंक ने विश्व के अर्ध-विकसित देशो मे विद्युत शक्ति के विकास को बहुत अधिक महत्व दिया है। भारत मे भी तीसरा ऋण विद्युत विकास योजना के

और यातायात के साधन भी अधिक हो सकेंगे ।

(६) बिजली के विकास के लिये एक और ऋण बैंक ने सन् १९५४ में टाटा ग्रुप को बम्बई में बिजली घर के विकास के लिये दिया । यह ऋण १·६२ करोड़ डालर का है । इस पर सूद की दर ४·७५ प्रतिशत है ।

(७) औद्योगिक विकास के लिए केवल टेकनीकल सहायता की ही आवश्यकता नहीं है बल्कि वित्तीय सहायता की भी आवश्यकता है । भारतीय उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए बैंक ने सन् १९५५ में १ करोड़ डालर का ऋण भारतीय औद्योगिक साख और विनियोग संगठन (Indian Industrial Credit and Investment Corporation) को दिया ।

(८) सन् १९५८ में १५० करोड़ रुपये का ऋण भारत को मिला । यह ऋण द्वितीय पंचवर्षीय योजना को कार्यान्वित करने के लिए था । पंचवर्षीय योजना में विदेशी विनिमय की आवश्यकता बहुत अधिक पड़ रही है और इस ऋण से इस सम्बन्ध में बहुत सहायता मिली है ।

(९) १६ अप्रैल सन् १९५८ को विश्व बैंक ने दो और ऋणों को देने की घोषणा की है, जिनकी सामूहिक राशि ४·३ करोड़ डालर है । इसमें एक ऋण २·९ करोड़ डालर का है, जिसका उपयोग कलकत्ते के बन्दरगाह के सुधार के लिए किया जायगा । शेष राशि से मद्रास बन्दरगाह को सुधारा जायगा । भारत के बढ़ते हुए

विदेशी व्यापार के कारण तथा निर्यातों को प्रेरित करने के लिए बन्दरगाहों का विकास बहुत आवश्यक है और इस ऋण से आशा की जाती है कि कुछ सीमा तक दोनो बन्दरगाहो का आधुनिकरण कर दिया जायगा।

(१०) सन् १९५८ मे विश्व बैंक ने ८·५ करोड़ डालर का एक और ऋण रेलो के सुधार व विकास के लिए देना स्वीकार किया। यह आशा की जाती है कि रेलों के इस सुधार व विकास के लिए जितने विदेशी विनिमय की आवश्यकता होगी, वह सब इस ऋण से पूरी हो जायगी।

(११) सन् १९५८ मे विश्व बैंक दामोदर घाटी योजना मे बिजली के विकास के लिए २·५ करोड डालर का एक ऋण प्रदान किया। दामोदर घाटी योजना का महत्व एक बहुमुखी योजना के रूप मे बहुत अधिक है और इस ऋण से इस योजना को बहुत लाभ पहुँचने की आशा की जाती है। इस पर ब्याज व कमीशन की दर ५·७८% होगी।

(१२) २·५ करोड़ डालर का ऋण कोयला जल विद्युत योजना के लिए भी प्रदान किया गया है।

सन् १९६२ के अन्त तक भारत को विश्व बैंक से जो ऋण प्राप्त हुए इनमे सबसे अधिक ऋण रेलवेज के लिए दिये गये। कुल ऋणो में से १८० करोड़ रुपये के ६ ऋण विभिन्न विद्युत योजनाओ के लिए दिये गये। यह कुल ऋणों का ४५ प्रतिशत है। लोहे व इस्पात के लिए ८४ करोड़ रुपये के ऋण दिये गये। विभिन्न कार्यों के लिये जो ऋण दिये गए है उनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:—

कार्य	ऋण	ऋणों की सख्या
रेलवेज	१८०·३ करोड रु०	६
लोहा व इस्पात उद्योग	८३·६ ,, ,,	५
औद्योगिक साख व विनियोग निगम	५९·४ ,, ,,	६
विद्युत योजनायें	४३·६ ,, ,,	६
बन्दरगाहो का विकास	३०·५ ,, ,,	३
वायु यातायात	२·७ ,, ,,	१
कृषि	३·४ ,, ,,	१
——	४०३·८ ,, ,,	२८

विश्व बैंक ने केवल ऋण प्रदान करने का ही कार्य नही किया है बल्कि उन देशो की सभा करके जो भारत को ऋण प्रदान करना चाहते है भारत की आवश्यकता

लिए [illegible] दामोदर घाटी योजना [illegible] [illegible] वर्षों के लिये था [illegible] [illegible] [illegible] बिजली [illegible] [illegible] है।

(४) [illegible] उद्योग को देता है। भारत [illegible] सन् १९५२ में [illegible] करोड़ डालर का दिया। [illegible] कम्पनी लिमिटेड, कलकत्ता को दिया गया था। [illegible] वर्ष के लिए [illegible] की दर [illegible]% थी। [illegible] दिया गया था। इस ऋण का उपयोग प्रथम पंचवर्षीय योजना में इस उद्योग के विकास के लिए किया गया है। इस ऋण के [illegible] उद्योग को बहुत अधिक लाभ पहुँचा है।

(५) जनवरी सन् [illegible] में [illegible] करोड़ डालर का ऋण दामोदर घाटी योजना के विकास के लिए दिया गया। यह २५ वर्ष के लिए था और सूद की दर [illegible] थी। इस ऋण से दामोदर घाटी योजना को पूरा करने में बहुत अधिक सहायता मिली। इस ऋण की सहायता से दो बहु-उद्देश्य बाँध बनाए गए हैं, जिससे न केवल अधिक बिजली प्राप्त होगी बल्कि सिंचाई के साधनों का भी विकास होगा और यातायात के साधन भी अधिक हो सकेंगे।

(६) बिजली के विकास के लिये एक और ऋण बैंक ने सन् १९५४ में टाटा ग्रुप को बम्बई में बिजली घर के विकास के लिये दिया। यह ऋण १.६२ करोड़ डालर का है। इस पर सूद की दर ४.७५ प्रतिशत है।

(७) औद्योगिक विकास के लिए केवल टेक्नीकल सहायता की ही आवश्यकता नहीं है बल्कि वित्तीय सहायता की भी आवश्यकता है। भारतीय उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए बैंक ने सन् १९५५ में १ करोड़ डालर का ऋण भारतीय औद्योगिक साख और विनियोग मण्डल (Indian Industrial Credit and Investment Corporation) को दिया।

(८) सन् १९५८ में १५० करोड़ रुपये का ऋण भारत को मिला। यह ऋण द्वितीय पंचवर्षीय योजना को कार्यान्वित करने के लिए था। पंचवर्षीय योजना में विदेशी विनिमय की आवश्यकता बहुत अधिक पड़ रही है और इस ऋण से इस सम्बन्ध में बहुत सहायता मिली है।

(९) १६ अप्रैल सन् १९५८ को विश्व बैंक ने दो और ऋणों को देने की [illegible] जिनकी सामूहिक राशि ४.३ करोड़ डालर है। इसमें एक ऋण २.६ [illegible] उपयोग कलकत्ते के बन्दरगाह के सुधार के लिए किया [illegible] को सुधारा जायगा। भारत के बढ़ते हुए

को उनकी सामूहिक सभा के सम्मुख रखता है। अगस्त १९५८ में वाशिंगटन में विश्व बैंक ने पांच प्रमुख देशों—अमेरिका, इंगलैण्ड, कनाडा, पश्चिमी जर्मनी तथा जापान—की सभा करके भारत की सहायता करने की आवश्यकता पर जोर दिया। देशों की सामूहिक सभा का परिणाम बहुत सफल रहा और भारत को द्वितीय पंचवर्षीय योजना के समाप्त होने तक ६०० मिलियन डालर की सहायता ऋण के रूप में मिलने की आशा है। सन् १९६१ में इस क्लब ने तृतीय योजना के लिये २०७६ मिलियन डालर के ऋण प्रथम तीन वर्षों के लिये घोषित किये। मई १९६४ में इस क्लब ने भारत को ४९० करोड़ रु० की आर्थिक सहायता देने का वचन दिया। इसमें से ११६·७ करोड़ रु० विश्व बैंक व अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ देगा। यह अपने प्रकार की पहली सभा है जो विश्व बैंक ने किसी अर्धविकसित देश के विकास के लिये संयोजित की है।

विश्व बैंक ने भारत की केवल वैत्तिक सहायता ही नहीं की है बल्कि टेक्नीकल सहायता भी की है। समय-समय पर विश्व बैंक के टेक्नीकल विशेषज्ञ भारत में आते रहते हैं और विभिन्न योजनाओं के विकास व उनकी कठिनाइयों पर अपने विचार प्रकट करते हैं। विभिन्न जल-विद्युत योजनाओं, भारत की विकास योजना, उद्योग, रेलों आदि का अध्ययन विश्व बैंक ने किया है।

भारत में द्वितीय पंचवर्षीय योजना के दौरान में विदेशी विनिमय संकट उत्पन्न हो गया था और ऐसा लगता था कि पंचवर्षीय योजना का पूरा होना बहुत कठिन है। परन्तु इस समय विश्व बैंक ने भारतवर्ष की आवश्यकता की तीव्रता को समझा और भरसक सहायता की। पाँच देशों की उपरोक्त सभा का वर्णन किया जा चुका है और इसके अतिरिक्त और ऋण देकर भी बैंक ने भारत की सहायता की है।

भारत को इस सहायता के अतिरिक्त बैंक ने भारत के विकास को एक और प्रकार से बढ़ावा देने का प्रयत्न किया है और वह है भारत व पाकिस्तान के नहर पानी के झगड़े को सुलझा कर। यह झगड़ा प्रारम्भ से ही बहुत तीव्र बना हुआ है और यदि अधिक समय तक चलता रहता तो भारत व पाकिस्तान दोनों के विकास के लिए घातक सिद्ध होता। परन्तु विश्व बैंक ने इस झगड़े को सुलझाने में बहुत समय से रुचि ली है। अन्त में इस प्रकार से सुलझा दिया है कि दोनों देशों को ही लाभ रहे। इस समझौते के कारण भारत व पाकिस्त न दोनों ही देशों को बहुत अधिक धन व्यय करना पड़ेगा। विश्व बैंक स्वयं इसके लिये कुछ ऋण देगा। इसके अतिरिक्त वह आस्ट्रेलिया, कनाडा, जर्मनी, न्यूजीलैण्ड व संयुक्त राज्य अमेरिका आदि मित्र देशों से दोनों देशों को आर्थिक सहायता देने की प्रार्थना कर रहा है जिसमें इसको अत्यधिक सफलता मिलने की आशा है।

अभी तक भारत को निश्चित उद्देश्य ऋण (Specific Loans) ही मिलते रहे हैं जिनका उपयोग केवल उस कार्य के लिये किया जा सकता है जिसके लिए वह

प्रदान किया गया है। परन्तु इस प्रकार के ऋण से अधिक लाभ नही उठाया जा सकता। इसलिये भारत ने बैंक से प्रार्थना की है कि उसको सामान्य ऋण (Block Loans) दिये जायें जिनका उपयोग भारत अपनी इच्छानुसार कर सके। आस्ट्रेलिया को इस प्रकार का ऋण दिया जा चुका है और इसी कारण यह आशा की जाती है कि भारत को भी इस प्रकार के ऋण मिलने लगेंगे।

अतः विश्व बैंक ने भारत को बहुत अधिक सहायता दी है और यह विश्व संस्था भारत के लिये अत्यधिक लाभदायक सिद्ध हो रही है। भविष्य में इसके और भी अधिक उपयोगी सिद्ध होने की आशा की जा सकती है। भारत के विकास की सफलता का बहुत कुछ श्रेय इस विश्व बैंक को दिया जा सकता है। श्री मोरारजी देसाई ने दिल्ली में हुई कोष बैंक की बैठक में स्पष्ट शब्दों में महत्व को स्वीकार करते हुए भारत के लिये उसकी उपयोगिता का उल्लेख किया। उन्होंने कहा, "India deeply appreciate the assistance the Bank has been giving her and particularly the action taken on the initiative of its President in August to work out arrangements, jointly with serveral countries, for finding the foreign exchange resources acquired urgently by India for the period upto the end of March 1959"

✗

Q. 153. Explain the economic purpose for which World Bark and the International Monetary Fund were started Why the resources of the I B. R D. and I. M. F. have been increased by increasing the quotas of the member countries?

(प्रश्न के प्रथम भाग का उत्तर इसी अध्याय के प्रश्न नं० १५१ के प्रथम भाग के समान ही है। इसमे कोई अन्तर नही रहेगा। दूसरे भाग का उत्तर नीचे दिया जाता है।)

अक्टूबर सन् १९५८ में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोप व विश्व बैंक के गवर्नर्ज की वार्षिक बैठक नई दिल्ली में हुई थी। भारतवर्ष को विश्व बैंक ने सबसे अधिक ऋण दिया है और मुद्रा कोष (I. M. F.) से भी भारतवर्ष को दो बार ३०० मिलियन डालर का ऋण ले चुका है। यह ऋण भारत ने आर्थिक विकास के लिए लिया था तथा भविष्य में और भी अधिक ऋण लेना चाहता है। इस कारण भारत विश्व बैंक व मुद्रा कोष के सदस्य देशों को यह दिखाना चाहता था कि यह उनके द्वारा दिये गये धन का उपयोग किस प्रकार से कर रहा है।

इसके अतिरिक्त कोष-बैंक की बैठक (Fund-Bank Meeting) एक ऐतिहासिक बैठक सिद्ध हुई है, क्योंकि इस बैठक में दो महत्वपूर्ण निर्णय किये गये हैं, जो आने वाले समय में बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध होंगे। एक निर्णय है, कोष तथा बैंक

के साधनों में वृद्धि करना और इस वृद्धि के लिये सदस्य देशों के कोटों में वृद्धि कर दी गई है। दूसरे, अन्तर्राष्ट्रीय विकास सभा (International Development Associati n) की स्थापना का भी निर्णय लिया गया है। जहाँ पर हमारा सम्बन्ध कोष-बैंक बैठक के पहले निर्णय से है और इसीलिये उसका अध्ययन विस्तार से किया जायगा।

विश्व बैंक के साधनों में वृद्धि (Increase in the Resources of the World Bank)—पिछले १५ वर्षों में बैंक के कार्य क्षेत्र में बहुत अधिक वृद्धि हो गयी है और प्रत्येक वर्ष बैंक और अधिक ऋण विभिन्न देशों को प्रदान कर रहा है। परन्तु बैंक द्वारा दिये गये ऋण या गारन्टी दिलाये गये ऋण, इन दोनों की रकम बैंक की प्रार्थित पूँजी (Subscribed Capital) और संचित रक्षित कोष (Reserved Fund) से अधिक नहीं हो सकती है। अतः और भी अधिक ऋण प्रदान करने के लिये यह भी आवश्यक समझा गया कि बैंक के साधनों में वृद्धि की जाय। अमेरिका के प्रेसिडेंट आइजनहोवर ने बैंक के सामने यह प्रस्ताव रखा था कि बैंक के साधनों में वृद्धि कर दी जाय। दिल्ली की वार्षिक बैठक में इस पर विचार किया गया और सब गवर्नर्ज की राय से बैंक के साधनों में वृद्धि का प्रस्ताव पास हो गया। साथ ही बोर्ड ऑफ एक्जीक्यूटिव डायरेक्टर्ज (Board of Executive Directors) को यह अधिकार दे दिया गया कि वे इस प्रस्ताव पर विस्तार से विचार करें और यह निर्धारित करें कि बैंक के साधनों में कितनी वृद्धि करनी है।

सन् १९५९ में बैंक के बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्ज ने इस प्रस्ताव पर विचार किया और निर्णय किया कि बैंक के साधनों को दुगुना कर दिया जाय। इसलिये प्रत्येक सदस्य का कोटा दुगना कर दिया गया है। पहले बैंक की अधिकृत पूँजी (Authorised Capital) १०,००० मिलियन डालर थी, परन्तु १६ सितम्बर सन् १९५९ से इसको बढ़ाकर २१,००० मिलियन डालर कर दिया है। साधनों की वृद्धि यद्यपि कोटों को दुगुना करके की गयी है, फिर भी बहुत से देशों ने अपना चन्दा दुगुने से भी अधिक कर दिया है, क्योंकि यह देश अपने आर्थिक विकास के कारण अधिक चन्दा देने में समर्थ थे और बैंक के कार्य में अधिक भाग लेना चाहते थे। १७ देशों ने जिसमें पश्चिमी जर्मनी, जापान, कनाडा आदि सम्मिलित हैं, अपने कोटे से अधिक चन्दा दिया है।

बैंक के साधनों में वृद्धि इसलिये की गयी है जिससे कि यह अपने कार्यों का विस्तार कर सके तथा अधिक मात्रा में ऋण दे सके। पिछले कुछ वर्षों में बैंक यह महसूस कर रहा था कि पूँजी की सीमितता के कारण यह अधिक ऋण अर्ध-विकसित देशों को नहीं दे सकता। साथ ही पिछड़े देशों को आर्थिक विकास के लिये ऋण देने की आवश्यकता बढ़ती जा रही थी। वह यह भी प्रतीत कर रहा था कि यदि विश्व ... की स्थापना करनी है तथा संसार से भुखमरी, दरिद्रता व बेरोजगारी को ... है तो पिछड़े देशों का विकास तेजी के साथ करना होगा।

इसके अतिरिक्त पूँजी की सीमितता के कारण बैंक केवल ऋण देने में ही कठिनाई अनुभव नहीं कर रहा था बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे ऋण एकत्र करने मे भी कठिनाई अनुभव कर रहा था। साधनों के विस्तार से यह कठिनाई भी दूर हो जायेगी।

अत: यह स्पष्ट था कि विश्व बैंक के साधनो की वृद्धि होने से इसकी ऋण-प्रदायक शक्ति बढ जायगी, जिसका वास्तविक लाभ अविकसित देशो को होगा। मोरारजी देसाई ने दिल्ली की बैठक के सम्मुख भाषण करते हुए कहा था कि इस सुशिक्षित व प्रमाणित की हुई संस्था ("This well-trained and proven institution") के साधनो को संगठित करना, विकास को बहुत अधिक प्रोत्साहन देना है। लंका (Ceylon) के वित्त मंत्री श्री स्टेनली डी-जोयसा (Stanley De-Zoysa) ने भी इसके महत्व को स्वीकार करते हुए कहा था, "Increased strength of the Bank would be a source of considerable hope and encouragement for the under-developed nations of the world."

कोष के साधनों में वृद्धि (Increase in the Resources of the Fund)— विश्व बैंक के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के साधनो की वृद्धि का भी प्रस्ताव संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रतिनिधि ने रखा था जो सर्व-सम्मति से स्वीकार हो गया था। इस प्रस्ताव के द्वारा कोष के एक्जीक्यूटिव डायरेक्टर्स (Executive Directors) को कोष के साधनो मे वृद्धि करने व सदस्य देशो के कोटा बढाने का कार्य दे दिया था। इन डायरेक्टर्स ने यह निश्चित कर दिया है कि सब सदस्यों के कोटे में ५०% की वृद्धि हो जाय। बहुत से देशो ने अपने कोटे से भी अधिक चन्दा देने का वचन दिया है। पश्चिमी जर्मनी, जापान, कनाडा आदि इस प्रकार के देश हैं। इससे कोष की पूंजी १०००० मिलियन डालर से बढकर १५,१०० मिलियन डालर हो गयी है। जब सब देशों के चन्दो का भुगतान पूर्णतया कर दिया जायेगा तो कोष का स्वर्ण जमा २,३०० मिलियन डालर से बढकर ४,६०० मिलियन डालर हो जायेगा।

कोष के साधनो मे वृद्धि होने से इस विश्व संस्था को बहुत अधिक लाभ होगा। इसकी शक्ति पहले से बढ जायगी तथा यह अपने कार्यों को अधिक सरलता से कर सकेगा। श्री एंडरसन, संयुक्त राज्य के प्रतिनिधि ने कोष के साधनों की वृद्धि का प्रस्ताव गवर्नर्स की बैठक के सम्मुख करते हुये कहा था कि जो सदस्य देश अपनी मुद्रा की परिवर्तनशीलता को बनाने का या बनाये रखने का प्रयत्न कर रहे हैं उनको इससे बहुत अधिक प्रोत्साहन मिलेगा। इसके अतिरिक्त यह वृद्धि संसार की तरलता (World Liquidity) मे बहुत महत्वपूर्ण वृद्धि है। इससे पहले से अधिक मात्रा मे विश्व व्यापार को आर्थिक सहायता दी जा सकेगी तथा निर्यात में गिरावट होने से शोधनाशेष की कठिनाइयो को सरलता से दूर किया जा सकेगा। साथ ही कोष की कार्यक्षमता मे भी बहुत अधिक वृद्धि हो जायगी।

इस प्रकार कोष व बैंक के साधनों में वृद्धि होने से संसार के अविकसित देशों को बहुत अधिक लाभ होगा। वृद्धि का निर्णय क्योंकि दिल्ली में लिया गया था, इसलिये दिल्ली का नाम भी महत्वपूर्ण हो गया है। अत: विभिन्न देशों के आर्थिक सहयोग के इतिहास में दिल्ली का नाम भी ब्रिटेन उड्स के साथ में लिया जायगा।

Q. 154. 'The International Monetary Fund involves a return to the gold standand in a modified form.' Disurss this statement.

(Agra 1964)

स्वर्ण को मौद्रिक मान के रूप में संसार के विभिन्न देशों ने बहुत समय तक अपनाया। प्रथम महायुद्ध से पहले संसार के लगभग प्रत्येक महत्वपूर्ण देश में स्वर्णमान प्रचलित था परन्तु प्रथम महायुद्ध के दौरान में युद्धकालीन परिस्थितियों के कारण स्वर्णमान कार्यशील न हो सका। महायुद्ध समाप्त होने पर इस मान के महत्व के कारण इसको फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया गया और विभिन्न देशों ने इसे संशोधित रूप में स्थापित कर लिया। परन्तु सन् १९३१ में इंगलैण्ड ने इसे समाप्त कर दिया और धीरे-धीरे संसार के अन्य देशों ने भी इसका त्याग करना प्रारम्भ कर दिया। सन् १९३८ तक प्रत्येक देश ने इसको समाप्त कर दिया। शान्ति काल में व्यापक रूप से स्वर्णमान के परित्याग का यह पहला अवसर था।

(१) स्वर्ण का मौद्रिक मान के रूप में प्रयोग।
(२) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना।
(३) कोष व्यवस्था में स्वर्ण का स्थान :
- (i) कोटे का निश्चत भाग स्वर्ण में जमा करना;
- (ii) मुद्रा का स्वर्ण में परिभाषित करना;
- (iii) मुद्रा का स्वर्ण में क्रय;
- (iv) स्वर्ण का निश्चित अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य।

(४) कोष व स्वर्णमान।

स्वर्णमान की समाप्ति हो जाने पर भी इसका महत्व कम नहीं हुआ क्योंकि विभिन्न देशों के मध्य समझौतों के अन्तर्गत स्वर्ण अन्तर्राष्ट्रीय हिसाब-किताब के निपटारे का माध्यम बना रहा परन्तु युद्ध प्रारम्भ हो जाने के कारण ये समझौते समाप्त कर दिये गये। युद्ध काल में युद्ध की असाधारण परिस्थितियों के कारण विभिन्न देश अपना अधिक ध्यान इस समस्या पर नहीं दे सके कि कौन से मौद्रिक मान को स्थापित किया जाय। परन्तु सब देशों की सरकारें इस बारे में सोच रही थीं। इसी समस्या पर विचार करने के लिये सन् १९४४ में ब्रेटनवुडस में अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक ernational Monetary Conference) हुआ। इस सम्मेलन ने एक

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना का सुझाव दिया जिसमें स्वर्ण का महत्वपूर्ण स्थान था।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष व स्वर्ण
(International Monetary Fund and Gold.)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना से एक नये मान की स्थापना हो गई है जिसमें स्वर्ण का विशेष स्थान है। प्रत्येक देश को पुराने स्वर्णमान के अधिकांश लाभ प्राप्त होते हैं जबकि उसके दोष अर्थव्यवस्था को प्रभावित नही करते। इस नई व्यवस्था मे स्वर्ण का स्थान इस प्रकार है :—

(१) प्रत्येक देश को अपने कोटे का २५% या स्वर्ण कोषों का १०%, दोनों मे जो भी कम हो, कोष के पास स्वर्ण मे जमा करना होता है।

(२) प्रत्येक देश को अपनी मुद्रा के मूल्य को स्वर्ण की निश्चित मात्रा में परिभाषित करना होता है। इसके आधार पर विभिन्न देशो की विनिमय दरें निर्धारित होती हैं। कोई भी देश कोष की अनुमति लेकर मुद्रा व स्वर्ण-मूल्य के सम्बन्ध मे परिवर्तन कर सकता है।

(३) जब कोष के पास किसी देश की मुद्रा निश्चित सीमा से कम हो जाती है तो वह उसको स्वल्प मुद्रा (Hard currency) घोषित करके उसको स्वर्ण मे खरीद सकता है।

(४) कोष ने स्वर्ण का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य घोषित कर दिया है जो प्रारम्भ से अब तक ३५ डालर प्रति विशुद्ध औंस स्वर्ण है।

कोष व स्वर्णमान
Fund and Gold Standard.

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा स्थापित व्यवस्था व स्वर्णमान में बहुत सी समानतायें है जिनके आधार पर प्राय. यह सोचा जाने लगता है कि स्वर्णमान की पुन स्थापना हो गई है। प्रथम, तो स्वर्णमान के समान इस व्यवस्था में प्रत्येक देश अपनी मुद्रा का मूल्य विशुद्ध स्वर्ण की मात्रा मे निश्चित करता है और इसी आधार पर विभिन्न देशो के मध्य विनिमय दर तय होती है। दूसरे, अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन के लिये स्वर्ण का प्रयोग किया जाता है। स्वल्प-मुद्रा को कोष स्वर्ण से खरीद सकता है। इसके अतिरिक्त जिस देश की मुद्रा कोष के पास एक सीमा से अधिक हो जाय उसे अपनी मुद्रा को स्वर्ण मे खरीदना होता है। तीसरे, स्वर्णमान के समान कोष भी बहुपक्षी भुगतान पद्धति (Multilateral payments systems) को अपनाता है और प्रत्येक देश को अपने भुगतान शेष (Balance of Payments) का संतुलन अलग-अलग देशों से अलग-अलग नहीं करना होता बल्कि सब देशों से एक साथ ही करना होता है। चौथे, स्वर्णमान मे जब किसी देश का भुगतान शेष उसके विपरीत हो जाता है तो उसे स्वर्ण का निर्यात करना पड़ता है। वर्तमान व्यवस्था मे देश का कोटा यह

कार्य करता है। स्वर्णमान में स्वर्ण में आयात-निर्यात से पड़ने वाले प्रभावों की तरह इस कोष में मुद्रा के परिवर्तनों का देश की आन्तरिक मुद्रा की स्थिति तथा वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों पर प्रभाव पड़ता है। हॉम (Halm) के अनुसार जो देश कोष से विदेशी मुद्रा को खरीदता है उसकी अवस्था, स्वर्णमान में स्वर्ण बेचने वाले दश की तरह होती है क्यों कि उसे बाद में स्वर्ण से अपनी मुद्रा को खरीदना होता है। इसी प्रकार कोष को अपनी मुद्रा बेचने वाले देश की स्थिति स्वर्ण खरीदने वाले देश के समान होती है। इस व्यवस्था में विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय से मूल्य भी प्रभावित होते हैं क्योंकि जब एक देश विदेशी मुद्रा खरीदता है तो वह इसे अपने देश के बैंकों को बेचता है। बैंक इसे अपने ग्राहकों को बेच देता है। ग्राहक इसका भुगतान करने के लिये अपनी जमाओं से रुपया निकालते हैं जिससे मुद्रा की पूर्ति कम होती है और मुद्रा संकुचन की स्थिति आ जाती है। स्वर्णमान में भी स्वर्ण के निर्यात से मुद्रा संकुचन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

इन समानताओं के होने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा स्थापित योजना स्वर्णमान से भिन्न है। एक तो इस व्यवस्था में स्वर्णमान के समान विनिमय दर स्थिर नहीं रहती। स्वर्णमान में स्वर्ण आयात-निर्यात विनिमय दर को स्थायीत्व प्रदान करते हैं। कोष में कोई भी देश विनिमय दर में परिवर्तन कर सकता है। १०% परिवर्तन वह बिना कोष की अनुमति के कर सकता है। इससे अधिक के लिये कोष की अनुमति लेनी होती है जो हमेशा मिल जाती है। अतः कीन्स के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष स्वर्णमान के बिल्कुल विपरीत है। दूसरे, स्वर्णमान में सब देशों में मूल्य-स्तर समान होता है। कोष योजना में इस प्रकार की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक देश का मूल्य-स्तर अलग-अलग हो सकता है।

इस प्रकार कोष योजना में स्वर्ण का महत्वपूर्ण स्थान है परन्तु फिर भी कोष की स्थापना स्वर्णमान पर वापिस आना नहीं है।

Q. 155. Write notes on :
(i) International Finance Corporation.
(ii) International Development Association.
(iii) The Sterling Area and the Empire Dollar Pool.
(Agra. 1956, 1958, 1960)

(iv) European Common Market.
(v) European Payments union.
(Agra 1959)

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम
(International Finance Corportions)

द्वितीय महायुद्ध के बाद से विकसित देशों का ध्यान अविकसित देशों के विकास पर गया और उन्होंने इस तथ्य को स्वीकार किया कि विश्व शान्ति के लिये

अविकसित देशों का विकास आवश्यक है। इसी कार्य के लिये सन् १९४५ मे विश्व बैंक की स्थापना की गई थी। परन्तु विश्व बैंक द्वारा दी जाने वाली व्यवस्था में दो मुख्य कमियाँ थी। एक तो विश्व बैंक मुख्यत: सदस्य देशों की सरकारो को ऋण देता है। निजी उपक्रमियो को ऋण तभी दिया जाता है जबकि सरकार उस ऋण की गारन्टी ले। दूसरे, विश्व बैंक केवल निश्चित सूद वाले ऋण ही दे सकता है। यह कम्पनियों के शेयर नही खरीद सकता।

विश्व बैंक की इन्ही दोनो कमियो के कारण अर्थशास्त्रियों व राजनैतिज्ञों का ध्यान एक ऐसी सस्था की स्थापना की ओर गया जो सरकार को मध्यस्थ बनाये बिना निजी उपक्रमियों को ऋण दे सके। इसी उद्देश्य के लिये सन् १९५५ में अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की स्थापना हुई।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम विश्व बैंक की एक सम्बन्ध (Affiliated) संस्था है। इस निगम का सदस्य प्रत्येक वह देश बन सकता है जो विश्व बैंक का सदस्य है। जून सन् १९६२ तक इसकी सदस्य सख्या ६३ थी। इस निगम की अधिकृत पूंजी (Authorized Capital) १०० मिलियन डालर है, जिसमे से ७८.४ मिलियन डालर उन ३१ देशो ने लिया था जो इसके सदस्य ,२४ जुलाई १९५६ को बन गये थे। जून सन् १९६२ तक इसकी प्रार्थित पूंजी (Subscribed Capital) ९६.५ मिलियन डालर थी। *भारत भी इसका सदस्य बन गया है और ४.४३ मिलियन डालर का* चन्दा देने का वायदा किया है।

इस निगम के प्रबन्ध के लिये एक बोर्ड ऑफ गवर्नर्ज (Board of Governors), एक संचालक मडल (Board of Directors), एक प्रेजिडेन्ट (President) तथा अन्य कर्मचारी वर्ग हैं। विश्व बैंक का प्रेजिडेन्ट सचालक मंडल का चेयरमैन होता है तथा उसकी सिफारिश पर सचालक मडल प्रेजिडेन्ड को नियुक्त करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम का मुख्य कार्यालय विश्व बैंक के साथ है परन्तु वह सदस्य देशों मे अन्य कार्यालय खोल सकता है। इस समय निगम के कार्यालय निगम न्यूयार्क लन्दन तथा पेरिस में है।

विश्व बैंक के समान ही अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम मे भी प्रत्येक सदस्य को 250 प्रतशेयर पर एक वोट देने का अधिकार है। समस्त निर्णय बहुमत से किये जाते हैं।

निगम के उद्देश्य
Aims of IFC

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं :—

(i) निगम का मुख्य उद्देश्य निजी उपक्रमों को सरकार की गारन्टी के बिना ऋण प्रदान करता है।

कार्य करता है। स्वर्णमान में
इस कोष में मुद्रा के मू
और सेवाओं के मूल्यों प
से विदेशी मुद्रा को खरीद
तरह होती है क्यों कि इसे
प्रकार कोष की अपनी मुद्रा
समान होती है। इस व्यवस्था
होते हैं क्योंकि जब एक देश विदे
को बेचता है। बैंक इसे अपने ग्राह
के लिये अपनी जमाओं में रुपया नि
मुद्रा संकुचन की स्थिति आ जाती है।
संकुचन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

इन समानताओं के होने पर भी
स्वर्णमान से भिन्न है। एक तो इस व्यवस्था
स्थिर नहीं रहती। स्वर्णमान में स्वर्ण आया
प्रदान करते हैं। कोष में कोई भी देश विनिम
१०% परिवर्तन वह बिना कोष की अनुमति के
लिये कोष की अनुमति लेनी होती है जो हमेशा
अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष स्वर्णमान के बिल्कुल
सब देशों में मूल्य-स्तर समान होता है। कोष यो
आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक देश का मूल्य-स्तर अलग-अ

इस प्रकार कोष योजना में स्वर्ण का महत्वपूर्ण स्थ
की स्थापना स्वर्णमान पर वापिस आना नहीं है।

Q. 155. Write notes on :
(i) International Finance Corporation.
(ii) International Development Association.
(iii) The Sterling Area and the Empire Dollar Pool.
(Agra. 1956,

(iv) European Common Market.
(v) European Payments union. **(Ag**

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम
(International Finance Corportions)

-तीय महायुद्ध के बाद से विकसित देशों का ध्यान अविकसित दे
-होंने इस तथ्य को स्वीकार किया कि विश्व शान्ति के लि

कार्य करता है। स्वर्णमान में स्वर्ण में आयात-निर्यात से पड़ने वाले प्रभावों की तर इस कोष में मुद्रा के परिवर्तनों का देश की आन्तरिक मुद्रा की स्थिति तथा वस्तु और सेवाओं के मूल्यों पर प्रभाव पड़ता है। हॉम (Halm) के अनुसार जो देश को से विदेशी मुद्रा को खरीदता है उसकी अवस्था, स्वर्णमान में स्वर्ण बेचने वाले देश तरह होती है क्यों कि उसे बाद में स्वर्ण से अपनी मुद्रा को खरीदना होता है। इस प्रकार कोष को अपनी मुद्रा बेचने वाले देश की स्थिति स्वर्ण खरीदने वाले देश समान होती है। इस व्यवस्था में विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय से मूल्य भी प्रभावि होते हैं क्योंकि जब एक देश विदेशी मुद्रा खरीदता है तो वह इसे अपने देश के बैं को बेचता है। बैंक इसे अपने ग्राहकों को बेच देता है। ग्राहक इसका भुगतान कर के लिये अपनी जमाओं से रुपया निकालते हैं जिससे मुद्रा की पूर्ति कम होती है औ मुद्रा संकुचन की स्थिति आ जाती है। स्वर्णमान में भी स्वर्ण के निर्यात से मु संकुचन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

इन समानताओं के होने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा स्थापित योजन स्वर्णमान से भिन्न है। एक तो इस व्यवस्था में स्वर्णमान के समान विनिमय द स्थिर नहीं रहती। स्वर्णमान में स्वर्ण आयात-निर्यात विनिमय दर को स्थायि प्रदान करते हैं। कोष में कोई भी देश विनिमय दर में परिवर्तन कर सकता है १०% परिवर्तन वह बिना कोष की अनुमति के कर सकता है। इससे अधिक के लिये कोष की अनुमति लेनी होती है जो हमेशा मिल जाती है। अतः कीन्स के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष स्वर्णमान के बिलकुल विपरीत है। दूसरे, स्वर्णमान में सब देशों में मूल्य-स्तर समान होता है। कोष योजना में इस प्रकार की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक देश का मूल्य-स्तर अलग-अलग हो सकता है।

इस प्रकार कोष योजना में स्वर्ण का महत्वपूर्ण स्थान है परन्तु फिर भी कोष की स्थापना स्वर्णमान पर वापिस आना नहीं है।

Q. 155. Write notes on :
(i) International Finance Corporation.
...national Development Association.
St... ...a and the Empire Dollar Pool.
(Agra. 1956, 1958, 196?)

... Market.
...op... ...s union. (Agra 195?)

वित्त

...tional ...orportions)

द्वितीय ...द ने विकसित देशों का ध्यान अविकसित देशों के ... पर ...ने इस तथ्य को स्वीकार किया कि बिना ...

देश हो सकते हैं जो विश्व बैंक के भी सदस्य हैं और इसकी सदस्यता के लिये भी वही शर्तें हैं जो विश्व बैंक की सदस्यता के लिये हैं।

परिषद के सदस्यो को दो भागो मे विभाजित किया गया है। औद्योगिक देश तथा विकसित देश। प्रथम श्रेणी मे १७ देश हैं। और द्वितीय श्रेणी मे ५१ देश। सन् १९६२ तक प्रथम वर्ग के १७ देशों मे से १५ ही सदस्य बने। दूसरी श्रेणी के सदस्य ४३ थे। इस सगठन की व्यवस्था भी विश्व बैंक के समान है। इसके पदाधिकारी वही व्यक्ति होते है जो विश्व बैंक मे इन्ही पदों पर कार्य कर रहे होते हैं।

परिषद् की पूँजी १,००० मिलियन डालर रखी गई है। प्रत्येक सदस्य का चन्दा विश्व बैंक की पूँजी मे उनके चन्दे के बराबर होगा। प्रत्येक देश को अपने चन्दे का १० प्रतिशत सदस्य बनते समय चुकाना होगा। १० प्रतिशत का ५० प्रतिशत सदस्य बनने के ३० दिन के अन्दर चुकाना होगा जो स्वर्ण या परिवर्तनशील मुद्रा में होगा। १२·५० प्रतिशत एक वर्ष के भीतर तथा शेष १२·५० प्रतिशत के बाद मे देना होता है। शेष ९० प्रतिशत चन्दा पाच किश्तो मे देना होता है। प्रथम श्रेणी के सदस्यो को यह चन्दा स्वर्ण या परिवर्तनशील मुद्रा में और द्वितीय श्रेणी के सदस्यों का अपनी मुद्रा में देना होता है। जून सन् १९६१ तक ९०५·५६ मिलियन डालर के चन्दे प्राप्त हो गये थे।

परिषद् अविकसित सदस्य देशों को उन कार्यों के लिये ऋण देती है जो उच्च विकासात्मक प्राथमिकता (High developmental priority) के होते हैं। यह उन कार्यों के लिए भी ऋण देती है जो उत्पादक नही होते परन्तु सामाजिक दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हैं। ऋण प्रदान करने के लिये परिषद् एक विशेषज्ञ समिति नियुक्त करती है जिसकी रिपोर्ट के आधार पर परिषद् ऋण देने का निश्चय करती है।

परिषद् के ऋण कम से कम १५ वर्ष के लिए होते हैं जिन पर व्याज की दर कम होती है। इन ऋणो पर सरकार की गारन्टी की आवश्यकता नही होती है। ऋण देते समय उन देशों को प्राथमिकता मिलती है जो साख क्षमता की कमी के कारण विश्व बैंक से ऋण नही मिल पाता।

परिषद् ने नवम्बर सन् १९६१ से कार्य प्रारम्भ किया। प्रथम वर्ष मे इसने ९१ मिलियन डालर के चार ऋण दिए। द्वितीय वर्ष मे १३४ मिलियन डालर के १८ ऋण दिए। भारत को ३० जून सन् १९६२ तक सात ऋण मिले जो १२२ मिलियन डालर के थे। इसके बाद ९८ मिलियन डालर के ३ ऋण और मिल चुके हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम को कार्य करते समय अभी बहुत कम समय हुआ है और इतने कम समय मे इसकी सफलताओं और असफलताओ का अनुमान लगाना कठिन है।

(ii) निगम का उद्देश्य समाशोधन गृह का कार्य करना है। ऋण प्रदान करने वालों को विनियोग को अफसरों के बारे में बताता है तथा जिनको ऋण की आवश्यकता है उनको बताता है कि ऋण कहाँ से मिल सकता है।

(iii) निगम देशी और विदेशी प्राइवेट पूँजी के उत्पादक विनियोग को बढ़ावा देगा।

निगम द्वारा वित्त प्रवन्ध
Financing by I. F. C.

निगम सदस्य देशों के इन निजी उपक्रमों को ऋण देता है जिनका उद्देश किसी उत्पादक उद्योग की स्थापना, विस्तार या सुधार से होता है। प्रारम्भ में निगम को निजी उपक्रमों की अंश पूँजी (Share Capital) में भाग लेने का अधिकार नहीं था। यह केवल ऋण प्रदान कर सकता था। परन्तु बाद में इस ऋण को पूँजी में परिवर्तित करने की अनुमति थी।

सन् १९६१ में निगम को उपक्रमों की अंश-पूँजी में भाग लेने का अधिकार मिल गया। इस परिवर्तन की आवश्यकता इसलिए हुई क्योंकि ऋण देने की प्रणाली कुछ देशों के नियमों के विरुद्ध थी।

३० जून सन् १९६२ तक निगम ने २० देशों में कुल ६·२५ करोड़ डालर के ५३ ऋण स्वीकृत किये जिसमें सबसे अधिक ऋण ब्राजील को दिये जो १ करोड़ डालर के थे। कुल ऋणों का ७० प्रतिशत भाग दक्षिणी और केन्द्रीय अमेरिका को दिये गये। इन ऋणों पर ५ से १० प्रतिशत का व्याज निगम ने लिया है। अधिकांश ऋणों पर व्याज ७% है।

भारत को सन् १९६२ तक ३९·२५ लाख डालर के चार ऋण मिले हैं। प्रथम ऋण व दूसरा ऋण सन् १९५९ में मिला। पहला ऋण १५ लाख डालर का था जो रिपब्लिक फौज कम्पनी के लिए था। दूसरा ऋण ८·५ लाख डालर का किर्लोस्कर आयल इंजन लि० के लिये था। आसाम सिलिमेनाट लि० को १३·६५ लाख डालर का ऋण मिला। सन् १९६१ में २·१० लाख डालर का ऋण के० एस० बी० पम्प्स को मिला।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम का बहुत अधिक लाभ भारत ने नहीं उठाया है क्योंकि भारत के निजी उपक्रमों को विदेशों से काफी सहायता मिल रही है। इसके अतिरिक्त विश्व बैंक ने भी काफी सहायता दे रखी है। जिस कारण उद्योगपतियों का ध्यान इस ओर नहीं गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद्
International Development Association

अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद् की स्थापना नवम्बर सन् १९६० में आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों को सस्ते ऋण देने के लिये की गई। इसके सदस्य वे ही

देश हो सकते हैं जो विश्व बैंक के भी सदस्य हैं और इसकी सदस्यता के लिये भी वही शर्तें हैं जो विश्व बैंक की सदस्यता के लिये हैं।

परिषद के सदस्यों को दो भागों में विभाजित किया गया है। औद्योगिक देश तथा विकसित देश। प्रथम श्रेणी में १७ देश हैं। और द्वितीय श्रेणी में ५१ देश। सन् १९६६ तक प्रथम वर्ग के १७ देशों में से १५ ही सदस्य बने। दूसरी श्रेणी के सदस्य ४३ थे। इस संगठन की व्यवस्था भी विश्व बैंक के समान है। इसके पदाधिकारी वही व्यक्ति होते हैं जो विश्व बैंक में इन्हीं पदों पर कार्य कर रहे होते हैं।

परिषद् की पूँजी १,००० मिलियन डालर रखी गई है। प्रत्येक सदस्य का चन्दा विश्व बैंक की पूँजी में उनके चन्दे के बराबर होगा। प्रत्येक देश को अपने चन्दे का १० प्रतिशत सदस्य बनते समय चुकाना होगा। १० प्रतिशत का ५० प्रतिशत सदस्य बनने के ३० दिन के अन्दर चुकाना होगा जो स्वर्ण या परिवर्तनशील मुद्रा में होगा। १२·५० प्रतिशत एक वर्ष के भीतर तथा शेष १२·५० प्रतिशत के बाद में देना होता है। शेष ९० प्रतिशत चन्दा पाँच किश्तों में देना होता है। प्रथम श्रेणी के सदस्यों को यह चन्दा स्वर्ण या परिवर्तनशील मुद्रा में और द्वितीय श्रेणी के सदस्यों का अपनी मुद्रा में देना होता है। जून सन् १९६१ तक ९०५·५६ मिलियन डालर के चन्दे प्राप्त हो गये थे।

परिषद् अविकसित सदस्य देशों को उन कार्यों के लिये ऋण देती है जो उच्च विकासात्मक प्राथमिकता (High developmental priority) के होते हैं। यह उन कार्यों के लिए भी ऋण देती है जो उत्पादक नहीं होते परन्तु सामाजिक दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हैं। ऋण प्रदान करने के लिये परिषद् एक विशेषज्ञ समिति नियुक्त करती है जिसकी रिपोर्ट के आधार पर परिषद् ऋण देने का निश्चय करती है।

परिषद् के ऋण कम से कम १५ वर्ष के लिए होते हैं जिन पर ब्याज की दर कम होती है। इन ऋणों पर सरकार की गारन्टी की आवश्यकता नहीं होती है। ऋण देते समय उन देशों को प्राथमिकता मिलती है जो साख क्षमता की कमी के कारण विश्व बैंक से ऋण नहीं मिल पाता।

परिषद् ने नवम्बर सन् १९६१ से कार्य प्रारम्भ किया। प्रथम वर्ष में इसने ९१ मिलियन डालर के चार ऋण दिए। द्वितीय वर्ष में १३४ मिलियन डालर के १८ ऋण दिए। भारत को ३० जून सन् १९६२ तक सात ऋण मिले जो १२२ मिलियन डालर के थे। इसके बाद ९८ मिलियन डालर के ३ ऋण और मिल चुके हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम को कार्य करते समय अभी बहुत कम समय हुआ है और इतने कम समय में इसकी सफलताओं और असफलताओं का अनुमान लगाना कठिन है।

स्टर्लिंग व क्षेत्र साम्राज्य डालर कोष

(The Sterling Area and Empire Dollar Pool)

वित्तीय संसार में इंगलैण्ड का महत्वपूर्ण स्थान रहा है और डालर के शक्तिशाली बनने से पहले संसार के अधिकांश देश पौंड में ही विदेशी व्यापार किया करते थे और अपने विदेशी मुद्रा के कोषों का बहुत बड़ा भाग लन्दन में Bank of England के पास रखा करते थे। इंगलैण्ड की इस महत्ता का एक कारण यह भी था कि पौण्ड स्टर्लिंग (Pound Sterling) पूर्णतया स्वर्ण में परिवर्तनशील था और प्रत्येक देश आवश्यकता व संकट के समय अपने स्टर्लिंग कोषों को स्वर्ण में परिवर्तनशील करा लेता था। इसके कारण बहुत से देशों के इंगलैण्ड के साथ व्यापारिक व वित्तीय सम्बन्ध बहुत निकट के हो गये। सितम्बर सन् १९३१ में जब इंगलैण्ड ने स्वर्णमान का त्याग किया तो विभिन्न देशों के सामने, जिनका सम्बन्ध इंगलैण्ड की मुद्रा से था, यह समस्या आई कि वे अपने पुराने व्यापारिक व वित्तीय सम्बन्धों को किस प्रकार बनाये रखें। इन सम्बन्धों को बनाये रखने के लिये बहुत से कामनवेल्थ व अन्य देशों ने भी स्वर्णमान को त्याग कर अपनी मुद्रा का सम्बन्ध स्टर्लिंग से स्थापित कर लिया। इस प्रकार विनिमय स्थिरता के एक विशाल क्षेत्र (Wide area of exchange stability) का विकास हुआ जिसको संसार ने स्टर्लिंग क्षेत्र (Sterling Area) के नाम से पुकारा। इस क्षेत्र के सदस्य दो प्रकार के देश थे :—

(१) कनाडा (Canada) को छोड़कर British Commonwealth of Nations के सब देश, और

(२) स्टर्लिंग मूल्यों की स्थिरता को देखकर बहुत से गैर कामनवेल्थ देश भी इस क्षेत्र के सदस्य बन गये। यह देश थे—पुर्तगाल, डेनमार्क, नार्वे, स्वीडन इथोपिया, लेटविया (Latvia), फिनलैण्ड, मिश्र, थाइलैण्ड, जापान, पेलेसटाईन व अर्जनटाईना।

स्टर्लिंग क्षेत्र की प्रकृति ऐच्छिक तथा अ-औपचारिक (Voluntary and informal) थी और प्रत्येक सदस्य देश को इस बात की स्वतन्त्रता थी कि वे जब चाहे इसको छोड़ दें और बिना इंगलैंड की आज्ञा लिये स्टर्लिंग से अपनी मुद्रा की दर में परिवर्तन कर दें। परन्तु महायुद्ध के दौरान में यह संगठन औपचारिक बन गया जबकि सदस्य देशों को अपनी अर्थव्यवस्थाओं की रक्षा के लिए विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control) का लगाना आवश्यक हो गया। लेकिन यह विनिमय नियंत्रण स्टर्लिंग क्षेत्र के सदस्य देशों के साथ किये गए व्यापार पर नहीं लगाए थे। युद्ध में अधिकांश गैर-कामनवेल्थ देशों ने इसको छोड़ दिया। युद्ध के दौरान में औपचारिक हो जाने के बावजूद भी यह संगठन ऐच्छिक रहा। सदस्य अपने विदेशी साधनों (External Resources) को एक स्थान पर केन्द्रित कर देते थे तथा उनको अपनी स्वतंत्र आयात नीति अपनाने की स्वतन्त्रता थी।

इस समय स्टर्लिंग क्षेत्र मे कनाडा को छोड़कर कामनवेल्थ संघ के समस्त देश हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य देश भी इस क्षेत्र के सदस्य हैं। यह सब देश अपनी मुद्रा-कोषों (Currency Reserves) का अधिकांश भाग स्टर्लिंग मे रखते हैं और सदस्य देश एक दूसरे का भुगतान स्टर्लिंग के माध्यम से करते है। इस कार्य के लिए सदस्य देश अपने कोषो का एक भाग लन्दन मे रखते हैं। दक्षिणी अफ्रीका को छोड़कर सब देश अपनी डालर आयो (Doller-earnings) को एक सामान्य कोष मे जमा करा देते हैं। जहा से वे अपनी डालर आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। डालर की उपलब्धता के अनुसार वे डालर क्षेत्र से अपनी आयातों को नियन्त्रित करते रहते हैं और डालर भुगतानो (Dollar Transactions) पर विनिमय नियत्रण लगाते रहते है। इस विशेषता के कारण ही स्टर्लिंग क्षेत्र को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त हो गया है।

स्टर्लिंग क्षेत्र के लाभ

(Advantages of the Sterling Area)

स्टर्लिंग क्षेत्र मे सम्मिलित होने पर यद्यपि एक देश पर बहुत से बन्धन लग जाते हैं जैसे कि अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों पर समान प्रकार के नियन्त्रण लगाने पड़ते हैं, अपनी दुर्लभ मुद्रा (Hard currency) को एक केन्द्रीय कोष मे जमा कर देना होता है, और डालर आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मुख्यत इंगलैण्ड पर निर्भर होना पड़ता है, परन्तु इन सबके होते हुए भी क्षेत्र (Area) की सदस्यता से विभिन्न प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं जिनका उल्लेख यहाँ किया जाता है :—

(१) सर्वप्रथम तो स्टर्लिंग क्षेत्र से एक ऐसे विस्तृत क्षेत्र का निर्माण हो गया है जिसमे अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान पूर्णतया बहुपक्षीय (Multilateral) है। प्रत्येक सदस्य देश को इस बात की पूरी स्वतन्त्रता है कि वह इस क्षेत्र में कहीं भी वस्तुयें खरीदे और कही भी बेचे। यह स्वतन्त्रता अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास के लिए बहुत आवश्यक है और इससे क्षेत्र के सदस्य देशों का आपसी व्यापार बहुत अधिक हो गया है।

(२) सदस्य देशो को केवल व्यापार करने की ही स्वतन्त्रता नही है बल्कि उनको पूँजी के भेजने की भी पूर्ण स्वतन्त्रता है। इससे पूँजी को अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता मिल गई है।

(३) इस व्यवस्था से उन देशों को अधिक लाभ पहुँचता है जो स्वयं तो डालर प्राप्त नहीं कर सकते है परन्तु उनको डालरों की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार इस क्षेत्र की तुलना एक विशाल संयुक्त परिवार से की जा सकती है जिसमें प्रत्येक अपनी सामर्थ्य के अनुसार योगदान देता है और अपनी आवश्यकतानुसार खर्च करता है।

(४) युद्ध के दौरान में इंगलैण्ड ने क्षेत्र के सदस्य देशों से युद्ध का सामान खाद्य पदार्थ तथा अन्य वस्तुओं और सेवाओं का क्रय किया था जिनका भुगतान नकद में न करके पौण्ड पावनों (Sterling balances) के रूप में किया था। युद्ध के बाद इनका भुगतान धीरे-धीरे विभिन्न समझौतों के द्वारा किया गया था। क्षेत्र की सदस्यता से इन पौण्ड पावनों का भुगतान आसान हो गया था।

स्टर्लिंग क्षेत्र की कठिनाइयाँ

(Difficulties of the Sterling Area)

स्टर्लिंग क्षेत्र को अपने कार्यसंचालन में बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। सबसे पहले तो अमेरिका इसको शक की नजर से देखता है क्योंकि यह क्षेत्र एक विशाल मौद्रिक संगठन है और इसका प्रयोग उन देशों के विरुद्ध किया जा सकता है जो इसके सदस्य नही है। इसीलिये अमरीका ने सन् १९४५ में एक समझौता 'Anglo-American Financial Agreement' किया था जिसके अनुसार सदस्य देशों की वर्तमान डालर आय को संसार के सभी देशों में उपलब्ध करना होगा। दूसरी कठिनाई आन्तरिक है। इस क्षेत्र की स्थापना का उद्देश्य डालरों के उपयोग में मितव्ययता करना था और इसलिए सदस्य देशों के लिए डालर क्षेत्र की वस्तुओं के आयात पर नियन्त्रण लगाने आवश्यक थे। इसके लिये विनिमय नियन्त्रण के समान प्रमाणों (Uniform standards) का निर्धारण किया गया। सदस्य इन प्रमाणों को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं थे और इनको अपनाने में असमर्थ थे, उनको यह क्षेत्र छोड़ना पड़ा। मिश्र (Egypt) ने इसी कारण क्षेत्र की सदस्यता को छोड़ा। इसके अतिरिक्त बहुत से सदस्य देशों की यह भी शिकायत थी कि वे डालर कोष में बहुत अधिक योगदान दे रहे हैं परन्तु उनको उनकी आवश्यकता के अनुसार डालर नहीं मिल रहा है। दक्षिणी अफ्रीका (South Africa) ने सन् १९४८ में डालर कोष की सदस्यता को इसी कारण छोड़ा।

अन्त में स्टर्लिंग कोष के डालर कोष का ठीक-ठीक संचालन करना भी कठिन है क्योंकि कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है जिसके आधार पर सदस्य देश की डालर आवश्यकता का पता लगाया जा सके। इस समस्या के समाधान के लिए सन् १९४७ में प्रयत्न किया गया था जो आंशिक रूप से सफल रहा। स्टर्लिंग क्षेत्र के लिए एक Sterling Committee की स्थापना की गई थी जिसके सदस्य अधिक महत्वपूर्ण देशों की सरकारों के अधिकारी थे। यह समिति क्षेत्र के निर्णयों से सम्बन्धित आंकड़े एकत्र करती थी। इसके अतिरिक्त Commonwealth Liaison Committee भी स्थापित की गई जो विभिन्न देशों की आवश्यकताओं का अध्ययन करती है। इन दोनों समितियों के अलावा कामनवेल्थ वित्त मन्त्रियों के आर्थिक सम्मेलन में भी क्षेत्र के कार्यसंचालन पर विचार करता है।

इन कठिनाइयों के बावजूद भी स्टर्लिंग क्षेत्र एक महत्वपूर्ण संस्था है और इसके महत्व का पता इसी बात से लग जाता है कि कुछ अपवादों को छोड़कर सन् १९४९ के अवमूल्यन के समय भी किसी देश ने इसकी सदस्यता को नही छोड़ा। यह सब से बडा बहुपक्षीय क्षेत्र (multilateral area) है और संसार के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक चौथाई भाग इसके द्वारा किया जाता है। इस क्षेत्र मे द्रव्य एक देश से दूसरे देश मे बिना किसी नियन्त्रण के हस्तातरित होता है और प्रत्येक देश के लिये यह आवश्यक नही है कि वह दूसरे देश से भुगतान सन्तुलन की स्थिति मे रक्खे

भारत और स्टर्लिंग क्षेत्र

(India and the Sterling Area)

जहाँ तक भारतवर्ष का सम्बन्ध है, स्टर्लिंग क्षेत्र की उपयोगिता इसके लिये कम होती जा रही है और इगलैंड का European Common Market का सदस्य बन जाने से इसका महत्व भारत के लिए और भी कम हो जायगा। इसका एक कारण तो यह है कि स्टर्लिंग का महत्व स्वतन्त्र परिवर्तनशीलता (free convertibility) वाली विश्व मुद्रा के रूप में कम हो गया है और इसका स्थान अमेरिका के डालर ने लिया है। भारत की वर्तमान पूंजी आवश्यकताओ को भी इगलैंड पहले से कम मात्रा मे पूरा कर सकता है और भारत की मौद्रिक, वैत्तिक, विदेशी तथा सुरक्षा नीतियों पर इगलैंड का प्रभाव नही पडता। इसके अतिरिक्त इगलैंड का European Common Market का सदस्य बन जाने के कारण इगलैंड और भारत का विदेशी व्यापार स्वतन्त्र नही रहेगा। अब इगलैंड मे भारत की वस्तुओ के आयात पर कोई नियन्त्रण नही है, परन्तु European Common Market का सदस्य बन जाने पर इगलैंड को भारत की वस्तुओ पर नियन्त्रण लगाना होगा। इस प्रकार स्वतन्त्र व्यापार, जिस पर स्टर्लिंग क्षेत्र आधारित है, भारत और इंगलैंड के बीच समाप्त हो जायगा और साथ ही यह क्षेत्र भी कम महत्वपूर्ण हो जायगा।

इस कोष के कार्यसचालन मे प्रत्येक सदस्य से प्राप्त तथा उसके द्वारा निकाली हुई मुद्रा का अलग-अलग हिसाब नही रखा जाता था। सारी आय एक ही कोष मे जमा की जाती थी और प्रत्येक देश जितना आवश्यक समझे खर्च कर सकता था। इस प्रकार किसी देश का कोटा निश्चित नही; परन्तु विभिन्न सदस्य देशो ने आपस में यह तय कर लिया था कि वे डालर निधि का अपव्यय नही करेंगे और उसके सर्वोत्तम प्रयोग मे पूर्ण सहयोग देंगे। अपनी आवश्यकता का निर्धारण प्रत्येक देश स्वयं करता था और उसे सामान्य कोष मे से विदेशी मुद्रा देने में कोई आपत्ति नही की जाती थी।

अन्य स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों के समान भारत भी साम्राज्य कोष का सदस्य बन गया और सन् १९३९ से लेकर सन् १९४६ तक इसने जो डालर जमा किये और निकाले उसका विवरण इस प्रकार है[1] :—

करोड़ रुपयों में

	U. S. A.	Candian	Swiss	Swedish	Protugese	Total
भारत, द्वारा जमा	405	40	$1\frac{1}{2}$	2	$4\frac{1}{2}$	453
भारत द्वारा निकाले	237	83	$13\frac{1}{2}$	$2\frac{3}{4}$	$2\frac{1}{2}$	339
बाकी	+168	−43	−12	$-\frac{3}{4}$	+2	+114

भारत ने अमेरिका व अन्य देशों की ४५३ करोड़ रुपये की मुद्रा कोष में जमा की परन्तु केवल ३३९ करोड़ रुपये की मुद्रा का उपयोग किया। इस प्रकार कोष में भारत का अशेष योग ११४ करोड़ रुपये रहा। इसी कारण भारतीय जनता ने भारत की कोष की सदस्यता की आलोचना की; क्योंकि उनका विचार था कि यदि भारत कोष का सदस्य नहीं बनता तो भारत का डालर-आधिक्य (dollar surplus) देश के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक पूंजी वस्तुयें खरीदने के काम आ जाता। यह आलोचना प्रारम्भ में तो ठीक थी क्योंकि भारत ने कोष में जमा अधिक कर रक्खा था।

साम्राज्य डालर कोष

(Empire Dollar Pool)

द्वितीय युद्ध से पूर्व संसार की मुद्राओं में स्टर्लिंग का स्थान महत्वपूर्ण था और लगभग सभी देश अपने विदेशी विनिमय कोषों को लन्दन में स्टर्लिंग के रूप में जमा रखते थे। इसका कारण यह था कि स्टर्लिंग सब देशों की मुद्राओं में पूर्ण रूप से परिवर्तनशील था। इसके अतिरिक्त स्टर्लिंग को अन्य देशों की मुद्राओं में बदलने की पूरी सुविधायें दीं जाती थीं और इसलिए जो मुद्रायें वे चाहते थे वे उन्हें आसानी से मिल जाती थीं।

युद्ध प्रारम्भ होने पर यह स्थिति बदल गई। युद्ध के दौरान में लन्दन में डालरों की बहुत कमी हो गई और बैंक ऑफ इंगलैंड के लिये यह सम्भव नहीं रहा कि वह अन्य मुद्राओं के बदले में डालर प्रदान करे। इस प्रकार स्टर्लिंग की

1. Extracted from Manu Subedar's report dated *29th July, 1946* vide India Imformation, volume 10, No. 196, page 324. Quoted by Dr. D. K. Malhotra, Opt, Cit. page 207.

स्वतन्त्र परिवर्तनशीलता कम हो गई। इस कठिनाई को दूर करने के लिये तथा दुर्लभ मुद्राओं का उचित प्रयोग करने के उद्देश्य से स्टर्लिंग क्षेत्र वाले देशों ने मिलकर सन् १६३६ में एक साम्राज्य डालर कोष (Empire Dollar Pool) की स्थापना की। "इस एकत्रीकरण की व्यवस्था का सिद्धान्त यह था कि सम्मिलित होने वाला प्रत्येक देश इस कोष में अपनी योग्यता के अनुसार योगदान दे तथा अपनी आवश्यकता के अनुसार इसमें से।"[2] इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक सदस्य देश को प्राप्त सारे डालर व अन्य मुद्रायें इस कोष में जमा कर देनी होती थी; और जिस देश को जितनी विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होती थी वह उसको बैंक ऑफ इंगलैण्ड से मिल जाती थी। स्टर्लिंग क्षेत्र के सदस्य ही इस कोष के सदस्य थे और इसलिये इसका उचित नाम "स्टर्लिंग क्षेत्र का विदेशी मुद्रा कोष" (Foreign Exchange Pool of the Sterling Area) होगा।

भारत ने प्रारम्भ में इस कोष में जमा कम किया और निकाला कम; परन्तु कुछ समय पश्चात् स्थिति बदल गई और भारत ने कोष में जितना जमा किया उससे अधिक निकाल लिया। इसका कारण भारत का अमेरिका व अन्य डालर क्षेत्रों के देशों से प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन था।

युद्ध के बाद स्टर्लिंग क्षेत्र का डालर क्षेत्र से भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल चलने लगा और यह प्रतिकूलता बढ़ती ही चली गई है। सन् १६४६ में यह प्रतिकूलता २२६ मिलियन डालर थी जो कि सन् १६४७ में बढ़कर १,०२४ मिलियन डालर हो गई। इसको दूर करने के लिये व्यापार नियन्त्रण व विनिमय नियंत्रण लगाये गये, अमेरिका से ऋण लिया गया तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक से भी ऋण लिया गया परन्तु फिर भी यह प्रतिकूलता समाप्त नहीं हुई। इस स्थिति का सामना करने के लिये कोष से डालर निकालने पर नियन्त्रण लगाने पड़े और यह निश्चय किया गया कि कोई भी देश सन् १६४८ के व्यय के ७५% से अधिक मात्रा में डालर व्यय नहीं करेगा। परन्तु इससे भी स्थिति को सुलझाया न जा सका। यह समस्या और भी गम्भीर होती चली जा रही थी और अन्त में इनको दूर करने के लिये सन् १६४६ में स्टर्लिंग का अवमूल्यन किया गया।

यूरोपियन सामान्य बाजार
(European Common Market)

यूरोपियन सामान्य बाजार की स्थापना १ जनवरी सन् १६५८ को हुई। यूरोपियन सामान्य बाजार, जो कि सामान्य बाजार (Common Market) के नाम

---

2. "The principle of the pooling arrangement was that all [illegible]

page 207.

से जाना जाता है और इसका पूरा नाम यूरोपियन आर्थिक समुदाय (Europea Economic Community) है। इसके सदस्य छः देश हैं। यह देश फ्रांस, जर्मन इटली, वैल्जियम, लुगजम्वर्ग (Luxemburg) तथा नीदरलैंड (Neatherlands) हैं इस समुदाय (Community) का उद्देश्य एक सामान्य वाजार की स्थापना करके तथ सदस्य देशों की आर्थिक नीतियों में प्रगतिशील दर से एकमत्यता (Harmony) ल कर आर्थिक क्रिया का चतुर्मुखी विकास करना अर्थव्यवस्था का सतत व सन्तुलि विकास करना करना, रहन-सहन के स्तरों में तेजी के तथा उसको अधिक स्थिरत साथ विकास करना तथा सदस्य देशों के प्रदान सम्बन्धों को अच्छे बना कर उसव संगठित करना है।

इस समुदाय की स्थापना छओं देशों के बीच एक संधि के द्वारा हुई जिसके मुख्य-मुख्य बातें निम्नलिखित हैं:—

(१) सदस्य देश अन्य सदस्य देशों के साथ किये विदेशी व्यापार (आयात व निर्यात) पर से कोटा व तटकर नियंत्रण हटा देंगे और साथ ही अन्य प्रकार के उन नियंत्रणों को भी समाप्त कर देंगे जिनके इसी प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं।

(२) सब सदस्य देश अन्य देशों के साथ समान तटकर व व्यापार नीति को अपनायेंगे।

(३) सदस्य देशों के बीच व्यक्तियों, सेवाओं व पूंजी की स्वतन्त्र आवाजाही (Circulation) पर किसी प्रकार के नियंत्रण नहीं होंगे।

(४) कृषि तथा यातायात के क्षेत्र में एक सामान्य नीति का पालन किया जायगा।

(५) इस प्रकार की व्यवस्था की स्थापना की जाय जिससे सामान्य वाजार में उचित प्रतियोगी अवस्था वन जाय।

(६) इस प्रकार की प्रणाली का प्रयोग किया जाय जिससे सदस्य देशों की आर्थिक नीतियों में ऐकमत्यता स्थापित हो जाय तथा भुगतान सन्तुलनों में परस्पर विरोध समाप्त हो जाय।

(७) सदस्य देशों की राष्ट्रीय वैधानिक व्यवस्था में सामान्य वाजार के कार्यसंचालन की आवश्यकतानुसार ऐकमत्यता स्थापित करना।

(८) यूरोपियन सामाजिक कोष (European Social Fund) की स्थापना करना जिससे श्रमिकों को रोजगार की अधिक सुविधायें प्रदान की जा सकें और उनके रहन-सहन के स्तर में वृद्धि की जा सके।

(९) यूरोपियन सुधार बैंक (European Improvemant Bank) की स्थापना करना जिससे नये साधनों का विकास करके समुदाय का आर्थिक विकास किया जा सके।

(१०) समुद्र पार (Overseas) व देशों व क्षेत्रों को सम्मिलित करना जिससे आर्थिक व सामाजिक विकास के लिये विनिमय व सम्मिलित प्रयत्नों को वढ़ाया जा सके।

इस प्रकार से समुदाय एक प्रकार की कस्टमस यूनियन (Customs union) होगा जिसमें प्रत्येक प्रकार का व्यापार सम्मिलित होगा और सदस्य देश एक दूसरे के आयात व निर्यातों पर किसी प्रकार के वैत्तिक, व्यापारिक या अन्य प्रकार के नियन्त्रण नही लगायेंगे । अन्य देशो के साथ व्यापार पर सब सदस्य देश एक ही प्रकार के नियन्त्रण लगायेंगे । सदस्य देशों के बीच जो प्रचलित व्यापार नियन्त्रण है उनको तेजी के साथ समाप्त किया जायगा । परन्तु सन्धि मे इस बात का प्रबन्ध है कि परस्पर लाभ के आधार पर सामान्य तटकर लगाये जा सकते है । सदस्य देश आयातों पर मात्रात्मक नियन्त्रण या इसी प्रकार के प्रभाव वाले अन्य नियन्त्रण नहीं लगायेंगे ।

यूरोपियन सुधार बैंक

(Ecropean Improvement Bank)

समुदाय के आर्थिक विकास के लिये एक यूरोपियन सुधार बैंक है जिसके सदस्य समुदाय के सदस्य देश होते हैं । यह बैंक बिना किसी लाभ भावना के निम्न-लिखित कार्यों के लिए ऋण प्रदान करता है :—

(१) अर्ध-विकसित क्षेत्रो के विकास की योजनाओं के लिये, (२) उपक्रमो के आधुनिकरण के लिये तथा नये विकास की योजनाओ के लिए, (३) सामान्य हित की योजनाओ के लिये जिनके लिए व्यक्तिगत देश वित्त प्रदान करने मे असमर्थ हैं ।

इस कोप की पूँजी १००० मिलियन डालर है । इस पूँजी को अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी बाजारों से ऋण लेकर और भी बढाया जायगा ।

दूसरा कोप यूरोपियन सामाजिक कोप (European Social Fund) होगा । इसका उपयोग उन उद्योगों के श्रमिको के हित के लिए किया जायगा जो पहले संरक्षित थे परन्तु व्यापारिक नियन्त्रणो के हट जाने के कारण उस अवस्था में नही हैं और बहुत हानि उठा रहे हैं । इस कोप से उन उद्योगो के श्रमिको के पुनः प्रशिक्षण तथा नये उद्योगों मे जाने के आधे व्यय को पूरा किया जायगा ।

इन दो कोपो के अतिरिक्त एक और कोप होगा जिसका विनियोजन समुद्र पार के क्षेत्रों मे किया जायगा । इसकी पूँजी ५८१२,५०.००० डालर होगी । फ्रास व जर्मनी प्रत्येक २०० मिलियन डालर इस पूँजी के लिए देगा । बेलजियम, नीदरलैंड्स, इटली तथा लुगजमबर्ग प्रत्येक का हिस्सा क्रमशः ७० मिलियन, ४० मिलिमन ४० मिलियन, तथा १$\frac{1}{4}$ मिलियन डालर होगा ।

समुदाय का प्रशासन

(Administration of the Community) :

समुदाय के प्रशासन के लिये असेम्बली तथा काउंसिल (Assembly and Council) दो महत्वपूर्ण संस्थाएँ हैं । असेम्बली मे सदस्य देशो की जनता के प्रतिनिधि

स्थापित करना है। यह एक प्रकार से NATO तथा SEATO के समान सैनिक गुटों का आर्थिक प्रतिरूप है। यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात है कि समुदाय के सब ही सदस्य NATO के भी सदस्य हैं।

यूरोपियन सामान्य बाजार तथा इंगलैंड
(European Common Market and England)

इंगलैंड प्रारम्भ में यूरोपियन सामान्य बाजार का सदस्य नहीं था; परन्तु पिछले वर्ष इसने भी समुदाय की सदस्यता के लिए प्रार्थना की है और इसकी सदस्यता के लिये समुदाय से बातें चल रही है। यह तो अब लगभग निश्चित हो ही चुका है कि इंगलैंड समुदाय का सदस्य बन जायगा। इगलैंड का सदस्य बनने का एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि इगलैंड की अर्थव्यवस्था स्थिर हो गई थी और इंगलैंड यह महसूस कर रहा था कि समुदाय का सदस्य बने बिना वह अपनी अर्थव्यवस्था का विकास नहीं कर सकेगा।

इगलैंड के सामने हिचकिचाहट यही है कि कॉमनवेल्थ देशो के साथ के व्यापार का क्या होगा ; अभी तक कॉमनवेल्थ की वस्तुओं पर इगलैंड मे किसी प्रकार का नियत्रण नही है। समुदाय का सदस्य बन जाने पर इसे उन देशों के व्यापार पर नियंत्रण लगाना पड़ेगा। इससे इगलैंड व अन्य कॉमनवेल्थ देशों के विदेशी व्यापार को बहुत धक्का पहुँचेगा। इगलैंड यही प्रयत्न कर रहा है कि कॉमनवेल्थ देशों को अधिक से अधिक व्यापारिक सुविधायें मिल जाय।

इंगलैंड की समुदाय की सदस्यता का भारत पर प्रभाव
(Effect of England's Membership of Community on India)

इगलैंड के समुदाय के सदस्य बन जाने से इंगलैंड-भारत के व्यापार को बहुत हानि पहुँचेगी। इस समय भारत का सबसे अधिक व्यापार इंगलैंड से है जो भारत के कुल निर्यातो में से २८ प्रतिशत निर्यातो को खरीदता है। समुदाय के वर्तमान छः सदस्य देशों मे इसके निर्यात बहुत कम हैं—इगलैंड को किये गए निर्यात के लगभग एक तिहाई। इंगलैंड के समुदाय के सदस्य बन जाने पर भारत को भी इंगलैंड मे जाने वाले निर्यातो पर कर देना पड़ेगा। दूसरी ओर समुदाय के सदस्यों और उनके अफ्रीकिन सहयोगियों को इंगलैंड को निर्यात करते समय जो कर देने होते हैं, वे समाप्त हो जायेंगे। इस प्रकार जो कॉमनवेल्थ अभिरुचि (Commonwealth Preference) भारत के पक्ष मे है वह भारत के विपक्ष मे हो जायगी। हालांकि ब्रूसेल्स (Brussels) में इस बात का आश्वासन दिया जा रहा है कि मशान्ति काल में कॉमनवेल्थ व्यापार को विशेष सुरक्षा प्रदान की जायगी परन्तु यह निश्चित है कि यह सुरक्षा सीमित होगी और संक्रान्ति काल अल्पकालीन होगा।

बहुत से कॉमनवेल्थ देश तो केवल इस बात मे ही सन्तुष्ट हैं कि इंगलैंड से व्यापार की वर्तमान दर बनी रहे। परन्तु भारत के लिए यह स्थिति हानिकारक है

क्योंकि वर्तमान रहन-सहन के स्तर को बनाये रखने के लिये ही भारत को दस वर्षों में इसके निर्यातों की मात्रा दुगुनी करनी पड़ेगी। कर-स्वतन्त्र (Duty free) होने पर भी पिछले वर्षों में भारत इंगलैंड को अपने निर्यात नहीं बढ़ा पाया है; कर लग जाने पर तो इसको बनाये रखना भी कठिन हो जायगा।

भारत यह प्रयत्न कर रहा है कि इसको कुछ विशेष सुविधायें प्राप्त हो जांय। अभी तक तो कुछ मिल नहीं सकी हैं। भविष्य में भी आशा कम है क्योंकि Statesman के विशेष प्रतिनिधि श्री इन्द्र मल्होत्रा, जो सामान्य बाजार वार्ता के समय ब्रुसेल्स में थे, के अनुसार, "The Six are wholly preoccupied with their venture of integrating Europe. They are dead set against making any exceptions in favour of India or anyone else that might upset the delicate balance of the structure they have built and thus 'dilute' the content of European unity. Dilution is, indeed, a dirty word in Brussels to-day."[3]

यूरोपियन भुगतान संघ
(European Payments Union)

द्वितीय महायुद्ध के प्रभाव यूरोप पर बहुत गम्भीर थे और यूरोप के विभिन्न देशों की अर्थव्यवस्थाएँ, विशेषतः फ्रांस, जर्मनी, हॉलैंड, बैलजियम तथा इंगलैंड की, छिन्न-भिन्न हो गई थीं। युद्ध के दौरान में उत्पादक यन्त्रों व सज्जा (Productive machinery and equipment) को बहुत क्षति पहुँची थी और इसलिए युद्ध के बाद उपभोग वस्तुओं की बहुत कमी हो गई। साथ ही इन देशों के निर्यातों में भी कमी हो गई और जिस बात ने इस स्थिति को और भी गम्भीर बना दिया वह थी कि स्वर्णमान के टूट जाने के बाद अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान का कोई भी सामान्य तरीका नहीं था।

यूरोपियन देशों ने एक दूसरे से वस्तुएं प्राप्त करने के लिए द्वि-पक्षीय समझौते (bi-lateral agreements) किये। परन्तु इन समझौतों से भी उनकी कठिनाइयां दूर नहीं हो सकीं क्योंकि मुद्राओं को अपरिवर्तनशील (inconvertable) होने के कारण कोई भी देश अन्य देशों की मुद्राओं के कोष अपने पास जमा नहीं कर सकता था। इसके अतिरिक्त इन समझौतों ने कुछ देशों को तो अच्छी स्थिति में रख दिया जिनको उनकी आवश्यकता की सब वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा में मिल जाती थीं; और कुछ देशों को हानिकारक स्थिति में रख दिया जिनको कि अनिवार्य आवश्यकताओं की वस्तुएँ भी नहीं मिल पाती थीं।

इन कठिनाइयों को दूर करने के लिये तथा भुगतान की बहुपक्षीय पद्धति (Multilateral System of Payments) को स्थापित करने के लिये [illegible]

3. [illegible] dated 11th May 1962, [illegible] to India, By Inder Malhotra.

के देशों ने यूरोपियन भुगतान संघ की स्थापना सन् १९५० में की। इस संघ के सदस्य वे देश थे जिनको मार्शल योजना के अन्तर्गत सहायता मिली थी। इंगलण्ड, फ्रांस, हालैण्ड और बेलजियम इस संघ के मुख्य सदस्य थे। साथ ही इन देशों ने Code of Liberalisation की भी स्थापना की जिसका उद्देश्य धीरे-धीरे अन्तर-यूरोपियन व्यापार पर से बन्धनों को हटाना था। यूरोपियन भुगतान संघ का उद्देश्य पूरे यूरोप के लिए अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान का निबटारा करने का यन्त्र प्रदान करना था।

कार्यसंचालन प्रणाली
(Method of Operation)

यूरोपियन भुगतान संघ में प्रत्येक देश का कोटा निश्चित कर दिया गया था जिसका आधार उसकी लेनदारी (Surplus) और देनदारी (Deficit) की मात्रा पर रखा गया था जो इन देशों के बीच सन् १९४९ मे हो रही थी। यह कोटे इस मात्रा के लगभग १५ प्रतिशत रखे गये थे। यदि किसी देश का भुगतान सन्तुलन पक्ष में होता था तो वह अपने कोटे के २० प्रतिशत के बराबर ऋण संघ को देता है और जब यह लेनदारी इस प्रतिशत से भी अधिक होती थी तो आधिक्य का ५० प्रतिशत संघ को ऋण के रूप में देना होता था। बाकी वह देनदार देशों से डालर व स्वर्ण के रूप में ले सकता था। दूसरी ओर जिन देशों की देनदारी अधिक होती थी उनको उनके कोटे के २० प्रतिशत के बराबर अधिविकर्ष सुविधायें (Over-draft facilities) संघ से मिल जाती थीं। २० प्रतिशत से अधिक की देनदारी के लिये कुछ ऋण तो संघ से मिल जाता था और बाकी का भुगतान स्वर्ण व डालर में करना पड़ता था। कोटे के बराबर के बाद की देनदारी का सारा भुगतान डालर व स्वर्ण में करना होता था।

संघ का प्रशासन
(Administration of the Union)

संघ का प्रशासन एक Board of Experts के द्वारा होता था जिसकी नियुक्ति Council of Organisation for European Economic Co-operation के द्वारा की जाती थी। यह बोर्ड संघ की कार्यवाहियों को प्रशासित करता था। यह समय-समय पर सदस्य देशों में हो रहे विकास का अध्ययन करता था और उनको सलाह देता था। लेनदारी व देनदारी का निबटारा अन्तर्राष्ट्रीय निबटारा बैंक (Bank for International Settlement) के द्वारा किया जाता था।

संघ की समाप्ति
(Termination of the Union)

संघ की स्थापना प्रारम्भ मे दो वर्ष के लिये हुई थी और १९५२ से इसको प्रत्येक वर्ष एक वर्ष के लिये जीवन दे दिया जाता था। धीरे-धीरे सदस्य देशों

आर्थिक स्थिति सुधरने लगी और उन्होंने अपनी मुद्राओं को परिवर्तनशील घोषि करना प्रारम्भ कर दिया। इसके अतिरिक्त १ जनवरी १९५९ से यूरोपियन साम बाजार की भी स्थापना हो गई। इसलिए संघ की आवश्यकता समाप्त हो गई औ सन् १९५८ में इसको समाप्त कर दिया गया।

Selected Readings :

1. P. T. Ellsworth : The International Economy ch.
2. G. N. Halm : Monetary Theory, ch. 15
3. Brain Tew : International Monetary Co-operation, 1945-1952
4. John H. Williams : Postwar Monetary Plans & ot Essays.
5. Alec Cairncross : The International Bank for Rec truction and Development.
6. Isaiah Frank : The European Common Market
7. Annual Reports of the World Bank, I. M. F. & I. D. A.

१२

भारतीय मुद्रा का इतिहास

(History of Indian Currency)

Q. 156. Briefly describe the history of Indian currency before the year 1935.

ब्रिटिश काल से पूर्व का मुद्रा इतिहास (History of Indian Currency before the British Period)—ब्रिटिश काल से पूर्व भारत में स्वर्ण व चाँदी दोनों धातुओंकी मुद्रा समान रूप से चलती थी। हिन्दू सम्राटों को सोने के सिक्के विशेष प्रिय थे और मुसलमान राजा चाँदी के सिक्के अधिक पसन्द करते थे। अकबर के समय से मुद्रा की इकाई के रूप में सोने की मुहर व चाँदी के रुपये प्रचलित थे जिनका वजन १७५ ग्रेन ट्राय था और इन दोनो सिक्कों में किसी प्रकार के खोट की मिलावट नहीं होती थी। सोने व चाँदी के सिक्कों में किसी प्रकार का निश्चित वैधानिक अनुपात राजा की ओर से निर्धारित नहीं था, परन्तु प्रत्येक का मुगल साम्राज्य के ताँबे के सिक्के 'दाम' (Dam) से निश्चित अनुपात था। इस प्रकार से यह मान दोहरे मान (Double Standard) की अपेक्षा जेवेन्स (Jevons) के शब्दों में समानान्तर मान (Parallel Standard) अधिक था। दक्षिणी भारत में जहाँ पर मुगलों का प्रभाव कम था चाँदी का प्रयोग द्रव्य के रूप में लगभग नहीं के बराबर था। पैगोडा (Pagoda), जो कि प्राचीन हिन्दू राजाओं का स्वर्ण सिक्का था, ही विनिमय-शक्ति के प्रमाण (Standard of Value) और विनिमय के माध्यम के रूप में काम में आता था और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अन्त तक प्रयोग में आता रहा।

जब तक मुगल साम्राज्य संगठित रहा सिक्के बिना मिलावट के तथा पूर्ण रहे और भारत में सिक्कों की विभिन्नता भी नहीं रही। परन्तु मुगल साम्राज्य के कमजोर होने पर तथा छिन्न भिन्न होने पर भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गया। इन सब राजाओं ने अपनी सार्वभौमिकता का प्रदर्शन करने के लिए तथा अपनी स्वतन्त्रता को चिन्हित करने के लिये अपनी अलग मुद्रायें जारी की। यद्यपि सिक्के का मूल्य सामान्यतः उतना ही रखा गया परन्तु परिष्कार व वजन में वे हर तरह से भिन्न थे। डा० अम्बेदकर ने इसका वर्णन सुन्दर शब्दों में किया है। उनके अनुसार, "Everywhere the mints were kept in full swing and soon the country was filled with diverse coins which, while they proclaimed the incessant rise and fall of dynasties, also presented bewildering media of exchange. Of these, money-

mongering sovereigns had kept up their issues to the original standard of the Moghul Emperors, the multiplicity of coins of the same denomination would not have been a matter of much concern. But they seemed to have held that as the money used by their subjects was made by them, they could do what they liked with their own, and proceeded to debase their coinage to the extent each those without altering the dominations. Given the different degrees of debasement, the currency necessarily lost its primary quality of general and ready acceptability."[1] इस प्रकार से जिस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारतवर्ष में आई उस समय यहां सोने और चांदी की विभिन्न प्रकार की मुद्रायें प्रचलित थीं। अनुमान किया जाता है कि उस समय भारत में विभिन्न परिष्कार और वजन की लगभग ९९४ प्रकार की मुद्राएँ प्रचलित थीं।[2]

इस विभिन्न प्रकार की मुद्राओं से जनता को बहुत कठिनाई होती थी, क्योंकि मुद्राओं के मूल्यों को निश्चित करने के लिये पेशेवर सर्राफों की सेवाओं का आश्रय लेना पड़ता है। गरीब लोगों की कठिनाइयों से प्रभावित होकर Dr. Roxburgh ने अपने मित्र A. Dalrymple को लिखा था कि "तुम यदि मौद्रिक सुधार करा सको तो तुमको गरीबों की दुआ मिलेगी और स्वर्ग में स्थान मिल सकेगा तथा मुझको स्वर्ग के पास।"[3]

१८०० से १८३५ तक के समय का इतिहास—ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अन्य सुधारों के साथ-साथ भारत के मौद्रिक संगठन व मुद्रा प्रणाली में सुधार किया। कम्पनी द्वारा किये गये पहले प्रयत्न के फलस्वरूप कम्पनी की मुहर लगे हुए सोने चाँदी के सिक्के चलाये गये जिनका वजन, परिष्कार तथा वैधानिक अनुपात निश्चित था। परन्तु कम्पनी के डायरेक्टरस ने अपने १९०६ के प्रसिद्ध डिस्पेच (Despatch) में इस प्रणाली की आलोचना की क्योंकि दोनों धातुओं के बाजार मूल्य के उतार-चढ़ाव के कारण इनके अनुपात को बनाये रखना असम्भव था। उन्होंने कहा, "It is an opinion supported by the best authorities, and proved by experience, that coins of gold and silver cannot circulate as legal tenders of payment at fixed relative values... without loss; this loss is occasioned by the fluctuating value of the metals of which

---

1. Dr. B. R. Ambedkar. History of Indian Currency and Banking, page 5.
2. H. D. Meloya Indian Currency. page 17.
3. Dr. Roxburgh in a letter to A. Dalrymple stated, "You may be able to correct the evil, by which you will certainly go to heaven, ...ayers of the poor avail, and I may get a step nearer para-... ...rvations on the copper coinage wanted in the circars by A ... don 1794. p. 1:

the coins are formed ... To adjust the relative values of gold and silver coin according to the fluctuations in the values of the metals would create continual difficulties, and the establishment of such principle would of itself tend to perpetuate inconvenience and loss."

इस प्रकार से कम्पनी के संचालक एक धातु-मान (Monometallisms) के समर्थक थे और उन्होंने रजत मान को अपनाने का सुझाव दिया। उन्होंने कहा चाँदी ही भारत में हिसाब की इकाई (Money of Account) हो और रुपये में ही सारे हिसाब किताब रक्खे जायें। रुपया वजन व शुद्धता में मुगल रुपये के समान न हो, बल्कि रुपये का वजन १८० ग्रेन हो जिसमें $\frac{1}{12}$ भाग खोट हो और $\frac{11}{12}$ भाग शुद्ध चाँदी। इस प्रकार एक रुपये में १६५ ग्रेन शुद्ध चाँदी हो और १५ ग्रेन खोट। परन्तु कम्पनी के संचालकों ने सिफारिशें कार्यान्वित करने के सम्बन्ध में भारतीय अधिकारियों को स्वेच्छा प्रदान की और इन सिफारिशों को तुरन्त ही लागू नहीं किया गया। सन् १८१८ के घोषणा पत्र (Proclamation) के अनुसार १८० ग्रेन चाँदी के रुपये ने, जिसका $\frac{11}{12}$ भाग परिष्कृत चाँदी होती थी, मद्रास प्रेसीडेंसी के स्वर्ण पगोड़ा का स्थान ले लिया। मद्रास में स्वर्ण पगोडा का टंकन बन्द कर दिया गया, परन्तु जनता की सुविधा के लिये यह घोषित किया गया कि स्वर्ण मुद्राएँ जारी की जायेंगी और सारे सरकारी कार्यालय समय-समय पर घोषित दर के अनुसार उनका लेन देन स्वीकार करेंगे। सन् १८२४ की घोषणा (Proclamation) के अनुसार बम्बई का रुपया भी मद्रास के रुपये के अनुरूप बना दिया गया। इस प्रकार द्विधातु मान को समाप्त किये बिना Court of Directors द्वारा सुझाई गयी आदर्श मुद्रा को प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया। सफलता निम्न तालिका से मालूम की जा सकती है :—

TABLE I

Uniformity of Coinage at the end of A.D.1833.

Issued by the Government	Silver Coins			Gold Coin			Legal Ratio
	Denomination	Weight	Fitness	Denomination	Weight	Fitness	
Bengal	Sicca Rupee	192	176 or 11/12	Mohur	204·710	187·651	1 to 15
	Furrukabad Rupee	180	165 or 11/12	—	—	—	—
Bombay	Silver Rupee	180	,,	Gold Rupee	180	165 or 11/12	1 to 15
Madras	,, ,,	,,	,,	,, ,,	,, ,,	,,	,,

उन्होंने सुझाव दिया कि (१) इंग्लैंड व आस्ट्रेलिया के सावरेन अर्द्ध-सावरेन भारतवर्ष में कानूनी ग्राह्य हों तथा एक सावरेन दस रुपये के बराबर हो, तथा (२) सरकारी करेंसी नोट सावरेन या रुपये में परिवर्तनशील हो तथा दर १० रु० = १ सावरेन हो। रुपये स्वर्ण धातु में परिवर्तनशील न हो।

सरकार ने Sir Charles Trevelyan के सुझावों को मान लिया तथा नवम्बर सन् १८६४ में भारत सरकार ने एक अधिसूचना जारी की जिसके अनुसार सरकारी खजानों पर सावरेन व अर्द्ध-सावरेन क्रमशः १० और ५ रुपये की दर से स्वीकार की जाने लगी तथा भारत सरकार सुविधानुसार अपने ऋणदाताओं की इच्छानुसार सावरेन और अर्द्ध-सावरेन में ऋण चुकाती थी। परन्तु स्वर्ण मुद्रायें कानूनी ग्राह्य नहीं थी। इसी प्रकार यह सन् १८५२ वाली प्रणाली पर ही लौटना था। Dr. B. R. Ambedkar के शब्दों में "It will be recalled that this was a revival of that foolish measure which was abandoned in 1852 for having embarrassed the Government."

मैंसफील्ड आयोग (Mansfield Commission 1866)—सन् १८६६ में कलकत्ता-व्यापार मण्डल ने स्वर्ण करेंसी चलाने पर पुनः जोर दिया और एक आयोग की नियुक्ति के लिये कहा जो कि "भारतीय मौद्रिक प्रणाली में स्वर्ण प्रचलन की औचित्यता" की जाँच करे। इसलिए भारतीय सरकार ने सर विलियम मैंसफील्ड (Sir William Mansfield) की अध्यक्षता में सन् १८६६ में एक आयोग नियुक्त किया। इस आयोग को इस समस्या पर रिपोर्ट देनी थी कि किस प्रकार देश की मुद्रा माँग को ठीक प्रकार से पूरा किया जा सकता है। इस आयोग ने निम्नलिखित सुझाव सरकार के सम्मुख रखे —

(१) १५, १० तथा ५ रुपये के सोने के सिक्के प्रचलित करने चाहियें, क्योंकि भारत में कागज के नोट लोकप्रिय नहीं हो पाये है और जनता स्वर्ण-मुद्राओं को ही अधिक पसन्द करती है। इसलिए जनता ऐसे सिक्कों को इन्हीं मूल्यों के नोटों की अपेक्षा अधिक पसन्द करेगी तथा स्वर्ण करेंसी नोट के प्रचलन का मार्ग प्रशस्त करेगी।

(२) भारतवर्ष में करेंसी, सोने, चाँदी व कागज की हो।

(३) "सार्वलौकिक नोट" (Universal Notes)[2] के प्रचलन पर भी सरकार विचार करे।

परन्तु सरकार ने उपरोक्त कमीशन के सुझावों को स्वीकार नहीं किया। सोने को कानूनी ग्राह्य बनाने के स्थान पर सरकार ने २८ अक्टूबर सन् १८६८ में

2. A term which seems to have been coined by the Commission. At that time India did not possess a simple 'universal' or all India note i. e. a note which was legal tender and encashable throughout India.

को वापस ले लिया और १ जनवरी सन् १८५३ से सोने का पूर्णतया विमुद्रीकरण हो गया तथा जनता से स्वर्ण भुगतान में लेना बन्द कर दिया। स्वर्ण को टंकन के लिये (सन् १८३५ के एक्ट के अनुसार) फिर भी स्वीकार किया जाता रहा।

स्वर्ण के विमुद्रीकरण हो जाने के कारण द्रव्य बाजार में बहुत तंगी आ गयी, क्योंकि अदल-बदल अर्थव्यवस्था (Kind Economy) द्रव्य अर्थव्यवस्था (Cash Economy) में बदल गयी थी। इसके अतिरिक्त व्यापार का विस्तार हो जाने के कारण भी द्रव्य की माँग देश में बहुत बढ़ गयी। इसलिये अधिक से अधिक चाँदी का प्रयोग द्रव्यात्मक कार्यों के लिये होने लगा। लोगों को सामाजिक व औद्योगिक उद्योगों के लिये चाँदी का मिलना बहुत कम हो गया। इसलिये चाँदी के रुपयों का बहुत बड़ा भाग प्रचलन से निकाल कर अद्रव्यात्मक कार्यों (Non-monetary Purposes) में लग गया। केसल्स (Kessels) के अनुसार, "As fast as rupees have been coined they have been taken into the interior and have then disappeared from circulation, either in the Indian substitute for stocking-foot or in the smelting-pot into bangles." इसी ने आगे लिखा है, "Its silver coinage has not only had to satisfy the requirements of commerce as the medium of exchange, but it has to supply a sufficiency of material to the silversmith and jeweller. The Mint has been pitted against the smelting pot and the coin produced by so much patience and skill by the one has been rapidly reduced into bangles by other."

इसके अतिरिक्त यदि भारत में उस समय साख व्यवस्था ठीक होती तो भी द्रव्य की कमी इतनी अधिक मालूम न देती। परन्तु यहां पर साख द्रव्य नाम-मात्र को भी नहीं था। सरकार ने इस कमी की पूर्ति के लिये Treasury Notes (Interest bearing) भी चलाये परन्तु वे भी सफलता प्राप्त न कर सके। इसके अतिरिक्त बैंकिंग व्यवस्था भी अव्यवस्थित थी। सन् १८५३ तक भारत में केवल [illegible] बैंक थे।

बहुत समय तक सरकार चुप रही और परिस्थितियों का अवलोकन करती रही। कोई कार्य इस समस्या के हल के लिये उसने नहीं किया क्योंकि वह अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान के प्रचलन की प्रतीक्षा कर रही थी। परन्तु सन् १८६२ में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन जो कि ब्रुसेल्स में हुआ था, किसी निर्णय पर पहुँचे बिना ही उठ गया और अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान की आशा की अन्तिम किरण भी समाप्त हो गई। इसी बीच सरकार व जनता की कठिनाइयाँ निम्नलिखित कारणों से बढ़ती गयी :—

(१) भारतीय सरकार Home Charges के रूप मे प्रत्येक वर्ष स्टर्लिंग मे एक लम्बी रकम ब्रिटेन को देती थी। अनुपात मे गिरावट का अर्थ यह था कि अब उतना ही स्टर्लिंग चुकाने के लिये उसे अधिक रुपया देना पड़ता था।

(२) विनिमय दर में उतार चढ़ाव के कारण भारत के विदेशी व्यापार को भी बहुत क्षति पहुँची। L. C. Jain के अनुसार, "There was the economic problem, since instability in the value of the rupee caused great anxiety to the merchants and great injury to India's foreign trade."

(३) भारत मे अंग्रेजी अधिकारी क्षतिपूर्ति मांगने लगे कि वे अपनी आय का कुछ भाग अपने परिवार के लिये इंगलैण्ड भेजते थे।

(४) गिरते हुये विनिमय दर के कारण भारत मे विदेशी पूँजी का विनियोजन रुक गया क्योंकि विदेशियों को प्राप्त सूद की दर कम हो गई।

(५) सरकार को बजट तैयार करने मे भी कठिनाई होती थी।

प्रधानतया स्वर्ण-प्रमाप को अपनाने के अभिप्राय से सन् १८७४ से सन् १८७८ तक रजत के स्वतन्त्र टंकन के लिये टकसाल बन्द करने की दिशा में सुधार की आवाज उठाई गई। सन् १८६६ में बंगाल व्यापार मण्डल और कलकत्ता व्यापार-संस्था ने गवर्नर जनरल के पास एक प्रार्थना-पत्र भेजा जिसमे कहा गया कि चाँदी का स्वतन्त्र टंकन कुछ समय के लिए रोक दिया जाय। सरकार ने इस प्रार्थना-पत्र पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया क्योंकि सरकार का विश्वास था कि जब तक स्वर्ण प्रमाप न अपना लिया जाय कोई कदम उठाना सम्भव नहीं है। उस समय की परिस्थितियों में सरकार के लिये स्वर्ण प्रमाप को अपनाना सम्भव नहीं था। सन् १८७८ में भारत सरकार ने भारत सचिव के सम्मुख प्रस्ताव रक्खा कि स्वर्ण-करेंसी के साथ स्वर्णमान स्थापित करने के लिये। निश्चित कदम उठाये जायें। भारत सचिव ने यह प्रस्ताव एक समिति के सामने रक्खा जिसने इसका विरोध करते हुए कहा कि आकस्मिक भय से प्रभावित होकर विधानों की शरण लेने की अपेक्षा शान्ति से बैठना अधिक अच्छा है।

भारत सरकार स्वर्णमान के विकल्प के रूप मे बहुत समय तक अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातु प्रथा अपनाये रही, जबकि सारी दुनियाँ इसको छोड़ती जा रही थी। इस ओर

को वापस ले लिया और १ जनवरी सन् १८५३ से सोने का पूर्णतया विमुद्रीकरण हो गया तथा जनता से स्वर्ण भुगतान में लेना बन्द कर दिया। स्वर्ण को टंकन के लिये (सन् १८३५ के एक्ट के अनुसार) फिर भी स्वीकार किया जाता रहा।

स्वर्ण के विमुद्रीकरण हो जाने के कारण द्रव्य बाजार में बहुत तंगी आ गयी, क्योंकि अदल-बदल अर्थव्यवस्था (Kind Economy) द्रव्य अर्थव्यवस्था (Cash Economy) में बदल गयी थी। इसके अतिरिक्त व्यापार का विस्तार हो जाने के कारण भी द्रव्य की माँग देश में बहुत बढ़ गयी। इसलिये अधिक से अधिक चाँदी का प्रयोग द्रव्यात्मक कार्यों के लिये होने लगा। लोगों को सामाजिक व औद्योगिक उद्योगों के लिये चाँदी का मिलना बहुत कम हो गया। इसलिये चाँदी के रुपयों का बहुत बड़ा भाग प्रचलन से निकाल कर अद्रव्यात्मक कार्यों (Non-monetary Purposes) में लग गया। कैसल्स (Kcssels) के अनुसार, "As fast as rupees have been coined they have been taken into the interior and have then disappeared from circulation, either in the Indian substitute for stocking-foot or in the smelting-pot into bangles." इसी ने आगे लिखा है, "Its silver coinage has not only had to satisfy the requirements of commerce as the medium of exchange, but it has to supply at sufficiency of material to the silversmith and jeweller. The Mint has been pitted against the smelting-pot and the coin produced by so much patience and skill by the one has been rapidly reduced into bangles by other."

इसके अतिरिक्त यदि भारत में उस समय साख व्यवस्था ही ठीक होती तो भी द्रव्य की कमी इतनी अधिक मालूम न देती। परन्तु यहाँ पर साख द्रव्य नाम-मात्र को भी नहीं था। सरकार ने इस कमी की पूर्ति के लिये Treasury Notes (Interest bearing) भी चलाये परन्तु वे भी सफलता प्राप्त न कर सके। इसके अतिरिक्त बैंकिंग व्यवस्था भी अव्यवस्थित थी। सन् १८५६ तक भारत में केवल १३ बैंक थे।

इन कारणों से प्रभावित होकर विभिन्न वर्गों ने स्वर्ण-मुद्रा के लिए सरकार से प्रार्थना करनी प्रारम्भ की। सन् १८५९ में भारतीय सर्राफों ने तथा व्यापारियों ने सरकार के पास स्मृति-पत्र (Representation) भेजा तथा सन् १८६४ में बम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास के व्यापारी वर्ग ने भी सरकार से स्वर्ण मुद्राओं को चालू करने की प्रार्थना की। स्वर्ण-मुद्रा के लिए प्रार्थना करते हुये बम्बई के व्यापार-मण्डल (Chamber of Commerce) ने सरकार को भेजे हुए स्मृति-पत्र में कहा था:—
"इस देश की जनता में चाँदी के दोषों को दूर करने के लिये स्वर्ण-पिंड चलार्थ की वर्द्धमान प्रवृत्ति थी और इस उद्देश्य से बम्बई के बैंक की मुहर लगे हुए स्वर्ण-दण्ड देश के बहुत भागों में प्रचलित थे।" Sir Charles Trevelyan (in his Minute of 20th June 1864) ने भी देश में स्वर्ण-मुद्राओं के प्रचलन पर जोर दिया।

बहुत समय तक सरकार चुप रही और परिस्थितियों का अवलोकन करती रही। कोई कार्य इस समस्या के हल के लिये उसने नहीं किया क्योंकि वह अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान के प्रचलन की प्रतीक्षा कर रही थी। परन्तु सन् १८९२ में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन जो कि ब्रुसेल्स में हुआ था, किसी निर्णय पर पहुँचे बिना ही उठ गया और अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान की आशा की अन्तिम किरण भी समाप्त हो गई। इसी बीच सरकार व जनता की कठिनाइयाँ निम्नलिखित कारणों से बढ़ती गयीं :—

(१) भारतीय सरकार Home Charges के रूप में प्रत्येक वर्ष स्टर्लिंग में एक लम्बी रकम ब्रिटेन को देती थी। अनुपात में गिरावट का अर्थ यह था कि अब उतना ही स्टर्लिंग चुकाने के लिये उसे अधिक रुपया देना पड़ता था।

(२) विनिमय दर में उतार चढ़ाव के कारण भारत के विदेशी व्यापार को भी बहुत क्षति पहुँची। L. C. Jain के अनुसार, "There was the economic problem, since instability in the value of the rupee caused great anxiety to the merchants and great injury to India's foreign trade.'

(३) भारत में अंग्रेजी अधिकारी क्षतिपूर्ति माँगने लगे कि वे अपनी आय का कुछ भाग अपने परिवार के लिये इंगलैण्ड भेजते थे।

(४) गिरते हुये विनिमय दर के कारण भारत में विदेशी पूँजी का विनियोजन रुक गया क्योंकि विदेशियों को प्राप्त सूद की दर कम हो गई।

(५) सरकार को बजट तैयार करने में भी कठिनाई होती थी।

प्रधानतया स्वर्ण-प्रमाप को अपनाने के अभिप्राय से सन् १८७४ से सन् १८७८ तक रजत के स्वतन्त्र टंकन के लिये टकसाल बन्द करने की दिशा में सुधार की आवाज उठाई गई। सन् १८९६ में बंगाल व्यापार मण्डल और कलकत्ता व्यापार-संस्था ने गवर्नर जनरल के पास एक प्रार्थना-पत्र भेजा जिसमें कहा गया कि चाँदी का स्वतन्त्र टंकन कुछ समय के लिए रोक दिया जाय। सरकार ने इस प्रार्थना-पत्र पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया क्योंकि सरकार का विश्वास था कि जब तक स्वर्ण प्रमाप न अपना लिया जाय कोई कदम उठाना सम्भव नहीं है। उस समय की परिस्थितियों में सरकार के लिये स्वर्ण प्रमाप को अपनाना सम्भव नहीं था। सन् १८७८ में भारत सरकार ने भारत सचिव के सम्मुख प्रस्ताव रक्खा कि स्वर्ण-करेंसी के साथ स्वर्णमान स्थापित करने के लिये। निश्चित कदम उठाये जायें। भारत सचिव ने यह प्रस्ताव एक समिति के सामने रक्खा जिसने इसका विरोध करते हुए कहा कि आकस्मिक भय से प्रभावित होकर विधानों की शरण लेने की अपेक्षा शान्ति से बैठना अधिक अच्छा है।

भारत सरकार स्वर्णमान के विकल्प के रूप में बहुत समय तक अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातु प्रथा अपनाये रही, जबकि सारी दुनियाँ इसको छोड़ती जा रही थी। इस ओर

बहुत समय तक सरकार चुप रही और परिस्थितियों का अवलोकन करती रही। कोई कार्य इस समस्या के हल के लिये उसने नहीं किया क्योंकि वह अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान के प्रचलन की प्रतीक्षा कर रही थी। परन्तु सन् १८९२ में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन जो कि ब्रुसेल्स में हुआ था, किसी निर्णय पर पहुँचे बिना ही उठ गया और अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान की आशा की अन्तिम किरण भी समाप्त हो गई। इसी बीच सरकार व जनता की कठिनाइयाँ निम्नलिखित कारणों से बढ़ती गयी :—

(१) भारतीय सरकार Home Charges के रूप में प्रत्येक वर्ष स्टर्लिंग में एक लम्बी रकम ब्रिटेन को देती थी। अनुपात में गिरावट का अर्थ यह था कि अब उतना ही स्टर्लिंग चुकाने के लिये उसे अधिक रुपया देना पड़ता था।

(२) विनिमय दर में उतार चढ़ाव के कारण भारत के विदेशी व्यापार को भी बहुत क्षति पहुँची। L. C. Jain के अनुसार, " There was the economic problem, since instability in the value of the rupee caused great anxiety to the merchants and great injury to India's foreign trade."

(३) भारत में अंग्रेजी अधिकारी क्षतिपूर्ति मांगने लगे कि वे अपनी आय का कुछ भाग अपने परिवार के लिये इंगलैण्ड भेजते थे।

(४) गिरते हुये विनिमय दर के कारण भारत में विदेशी पूँजी का विनियोजन रुक गया क्योंकि विदेशियों को प्राप्त सूद की दर कम हो गई।

(५) सरकार को बजट तैयार करने में भी कठिनाई होती थी।

प्रधानतया स्वर्ण-प्रमाप को अपनाने के अभिप्राय से सन् १८७४ से सन् १८७८ तक रजत के स्वतन्त्र टंकन के लिये टकसाल बन्द करने की दिशा में सुधार की आवाज उठाई गई। सन् १८६६ में बंगाल व्यापार मण्डल और कलकत्ता व्यापार-संस्था ने गवर्नर जनरल के पास एक प्रार्थना-पत्र भेजा जिसमें कहा गया कि चाँदी का स्वतन्त्र टंकन कुछ समय के लिए रोक दिया जाय। सरकार ने इस प्रार्थना-पत्र पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया क्योंकि सरकार का विश्वास था कि जब तक स्वर्ण प्रमाप न अपना लिया जाय कोई कदम उठाना सम्भव नहीं है। उस समय की परिस्थितियों में सरकार के लिये स्वर्ण प्रमाप को अपनाना सम्भव नहीं था। सन् १८७८ में भारत सरकार ने भारत सचिव के सम्मुख प्रस्ताव रक्खा कि स्वर्ण-करेंसी के साथ स्वर्णमान स्थापित करने के लिये। निश्चित कदम उठाये जायें। भारत सचिव ने यह प्रस्ताव एक समिति के सामने रक्खा जिसने इसका विरोध करते हुए कहा कि आकस्मिक भय से प्रभावित होकर विधानों की शरण लेने की अपेक्षा शान्ति से बैठना अधिक अच्छा है।

भारत सरकार स्वर्णमान के विकल्प के रूप में बहुत समय तक अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातु प्रथा अपनाये रही, जबकि सारी दुनियाँ इसको छोड़ती जा रही थी। इस ओर

बहुत समय तक सरकार चुप रही और परिस्थितियों का अवलोकन करती रही। कोई कार्य इस समस्या के हल के लिये उसने नहीं किया क्योंकि वह अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान के प्रचलन की प्रतीक्षा कर रही थी। परन्तु सन् १८९२ में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन जो कि ब्रुसेल्स में हुआ था, किसी निर्णय पर पहुँचे बिना ही उठ गया और अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान की आशा की अन्तिम किरण भी समाप्त हो गई। इसी बीच सरकार व जनता की कठिनाइयाँ निम्नलिखित कारणों से बढ़ती गयीं :—

(१) भारतीय सरकार Home Charges के रूप में प्रत्येक वर्ष स्टर्लिंग में एक लम्बी रकम ब्रिटेन को देती थी। अनुपात में गिरावट का अर्थ यह था कि अब उतना ही स्टर्लिंग चुकाने के लिये उसे अधिक रुपया देना पड़ता था।

(२) विनिमय दर में उतार चढ़ाव के कारण भारत के विदेशी व्यापार को भी बहुत क्षति पहुँची। L. C. Jain के अनुसार, " There was the economic problem, since instability in the value of the rupee caused great anxiety to the merchants and great injury to India's foreign trade."

(३) भारत में अंग्रेजी अधिकारी क्षतिपूर्ति मांगने लगे कि वे अपनी आय का कुछ भाग अपने परिवार के लिये इंगलैण्ड भेजते थे।

(४) गिरते हुये विनिमय दर के कारण भारत में विदेशी पूँजी का विनियोजन रुक गया क्योंकि विदेशियों को प्राप्त सूद की दर कम हो गई।

(५) सरकार को बजट तैयार करने में भी कठिनाई होती थी।

प्रधानतया स्वर्ण-प्रमाप को अपनाने के अभिप्राय से सन् १८७४ से सन् १८७८ तक रजत के स्वतन्त्र टंकन के लिये टकसाल बन्द करने की दिशा में सुधार की आवाज उठाई गई। सन् १८६६ में बंगाल व्यापार मण्डल और कलकत्ता व्यापार-संस्था ने गवर्नर जनरल के पास एक प्रार्थना-पत्र भेजा जिसमें कहा गया कि चाँदी का स्वतन्त्र टंकन कुछ समय के लिए रोक दिया जाय। सरकार ने इस प्रार्थना-पत्र पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया क्योंकि सरकार का विश्वास था कि जब तक स्वर्ण प्रमाप न अपना लिया जाय कोई कदम उठाना सम्भव नहीं है। उस समय की परिस्थितियों में सरकार के लिये स्वर्ण प्रमाप को अपनाना सम्भव नहीं था। सन् १८७८ में भारत सरकार ने भारत सचिव के सम्मुख प्रस्ताव रखा कि स्वर्ण-करेंसी के साथ स्वर्णमान स्थापित करने के लिये। निश्चित कदम उठाये जायें। भारत सचिव ने यह प्रस्ताव एक समिति के सामने रक्खा जिसने इसका विरोध करते हुए कहा कि आकस्मिक भय से प्रभावित होकर विधानों की शरण लेने की अपेक्षा शान्ति से बैठना अधिक अच्छा है।

भारत सरकार स्वर्णमान के विकल्प के रूप में बहुत समय तक अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातु प्रथा अपनाये रही, जबकि सारी दुनियाँ इसको छोड़ती जा रही थी। इस ओर

किए गए सारे अन्तर्राष्ट्रीय प्रयत्न बेकार रहे क्योंकि स्वर्णमान वाले देश इसके पक्ष में नहीं थे। इस बीच चाँदी के मूल्य में लगातार कमी होने तथा संयुक्त राज्य द्वारा शर्मन कानून हटा देने से प्रतिवर्ष टंकन के लिए सरकार को ५४० लाख औंस चांदी खरीदनी पड़ती थी। इसके कारण चाँदी तथा फलस्वरूप भारतीय रुपये की स्थिति पहले से भी अधिक संदिग्ध हो गयी। इन कठिनाइयों से बचने के लिए सरकार ने पहले अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान ग्रहण करने का प्रयत्न किया। परन्तु इसमें सफलता नहीं मिली। फलत: सन् १८९२ में सरकार ने हर्शल कमेटी (Herschell Committee) की नियुक्ति की।

हर्शल कमेटी (Herschell Committee 1862)—सन् १८९२ में सरकार ने लार्ड हर्शल की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति इस बात पर विचार करने के लिये की कि क्या स्वर्णमान को अपनाने के लिये चाँदी का स्वतन्त्र टंकन रोक दिया जाय। टकसालों को स्वतन्त्र टंकन के लिये बन्द करने का उद्देश्य यह था कि रुपये की पूर्ति पर नियन्त्रण हो सके और रुपये के विनिमय मूल्यों में गिरावट को रोका जा सके। जब हर्शल समिति विचार कर ही रही थी उसी समय ब्रुसेल्स सम्मेलन बिना किसी निर्णय किये छिन्न-भिन्न हो गया। हर्शल समिति ने निम्न सुझाव प्रस्तुत किये :—

(१) सोने और चाँदी के स्वतन्त्र टंकन के लिये टकसालों को बन्द कर दिया जाय।

(२) रुपया असीमित कानूनी मुद्रा हो।

संक्रमण काल (Transition Period) में स्वर्ण को केवल आर्थिक रूप से चलार्थ के लिये प्रयोग करने की व्यवस्था की गई तथा संक्रमण काल समाप्त होने पर पूर्णतया स्वर्ण-प्रमाप अपनाने के लिए नये कदम उठाने की सिफारिश की गयी। कमेटी ने इस बात को नहीं माना कि भारतियों को स्वर्ण-मुद्राओं के प्रयोग की आदत नहीं है। समिति के शब्दों में, "Gold has never been entirely out of use in India and, in any case, the ordinary currency in India would still be silver or paper though based on gold. Moreover, if gold coinage were introduced on proper basis, much of the uncoined gold in India would be brought to the mints."

भारत सरकार ने इन सुझावों का अनुमोदन किया और सन् १८७० के कानून और भारतीय कागजी करेंसी एक्ट (Indian Paper Currency Act 1882) के सुधार के लिए सन् १८९३ में एक्ट पास किया गया। इस प्रकार Act No. VIII, 1893 के अनुसार सरकार ने चाँदी की स्वतन्त्र ढलाई बन्द कर दी और अब सरकार ही अपनी इच्छा के अनुसार चांदी के सिक्के ढालती थी। इस प्रकार काफी तर्क वितर्क के बाद सन् १८९३ में भारत ने अपने रुपए के मूल्य को स्थायी रखने के लिये रजत-मान का त्याग किया।

उसी समय शासन सम्बन्धी तीन अधिसूचनायें जारी की गई। पहली अधिसूचना ने १६ पैंस=१ रु० की दर से स्वर्ण-मुद्रा और स्वर्ण-पिण्ड के बदले रुपया देने की व्यवस्था की। दूसरी अधिसूचना ने १६ पैंस=१ रु० की दर पर सार्वजनिक देनदारी के लिये सावरेन और अर्द्ध-सावरेन को स्वीकार करने को विहित ठहराया। तीसरी अधिसूचना ने उसी भाव पर स्वर्ण-मुद्रा और स्वर्ण पिण्ड के बदले कागजी करेंसी कार्यालय (Paper Currency Office) से कागज के नोट जारी करने की व्यवस्था की।

इन अधिनियमों व एक्ट का मुख्य उद्देश्य रुपये के स्वर्ण-मूल्य मे वृद्धि करना था। इसके अतिरिक्त विदेशी पूँजी के आयात को प्रोत्साहित करना, स्वर्ण-सावरेन के प्रयोग से लोगों को परिचित करना और चाँदी के प्रयोग से लोगों को हतोत्साहित करना इसके अन्य उद्देश्य थे। सामान्यतः ये स्वर्ण-प्रमाप को स्थापित करने के लिये पहले कदम थे और इनका उद्देश्य भारत को स्वर्ण-प्रमाप वाले देशों से तुरन्त सम्बद्ध करना था।

★

Q. 158. Comment on the working of the gold exchange standard in India during the 19th century. (Agra 1950)

Q. 159. Summarise the measures taken in 1893 and 1899 which ultimately introduced the Gold Exchange Standard in India. Have subsequent events justified these measures? (Agra 1948)

सन् १८३५ में कम्पनी के एक नियम के अनुसार भारत मे रजतमान की स्थापना हो गई। परन्तु इस नियम से भारत की मौद्रिक समस्याओं का अन्त नहीं हुआ। भारत में स्वर्णमान व स्वर्ण सिक्कों की चाहना प्रारम्भ से ही रही थी और अब भी विभिन्न वर्गों ने स्वर्ण-मुद्राओं के चालू करने की प्रार्थना की। चाँदी की नई-नई खानों के पता लगने से चाँदी की पूर्ति भी बढ़ गई थी और भारत के रुपये का मूल्य बहुत गिर गया था। सरकार ने विभिन्न प्रकार से स्वर्ण-मुद्राओं को चलन मे भी रक्खा। परन्तु उनसे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ क्योंकि न तो स्वर्ण का स्वतन्त्र टंकण था और न ही स्वर्ण सिक्के कानूनी ग्राह्य थे। चाँदी के गिरते मूल्यों के कारण जो कठिनाइयाँ सरकार के सामने आ रही थीं, उनको ध्यान मे रखकर हर्शल कमेटी की नियुक्ति हुई थी जिसने टकसालों को स्वर्ण व रजत के टंकन के लिए बन्द करने को कहा था। सरकार ने इसकी सिफारिशों को मान लिया था। परन्तु मौद्रिक मान के सम्बन्ध में कोई निश्चित निर्णय नहीं लिया था।

हर्शल कमेटी ने भविष्य में स्वर्णमान को अपनाने का सुझाव दिया था और संक्रमण काल में स्वर्ण को केवल अंशतः चलार्थ के रूप मे प्रयोग करने को कहा था, जिससे बाद में एक उचित स्वर्णमान प्रचलित किया जा सके। सरकार ने इस कमेटी के सुझावों को स्वीकार कर लिया था और भारत टकसालों को जनता के लिये बन्द

कर लिया था। इससे स्वतन्त्र मुद्रण समाप्त हो गया था। परन्तु सरकार ने आवः नुसार रुपये बनाने का अधिकार अपने पास रक्खा था। स्वर्ण सिक्कों के के लिये तथा विनिमय दर को १ शि० ४ पेंस पर स्थिर रखने के लिये स तीन अधिसूचनाएँ जारी कीं। जो इस प्रकार से थीं:—(१) भारतीय टकसालों मुद्रा या धातु का विनिमय १६ पेंस प्रति रुपये की दर से अथवा ७·५३३ शुद्ध स्वर्ण प्रति रुपये की दर से हो सकता था। (२) जनता को भुगतान व अर्द्ध-सावरेन में करने का भी अधिकार दे दिया जो १६ पेंस प्रति रुपये पर स्वीकार की जा सकती थी। (३) १६ पेंस की दर पर स्वर्ण-मुद्रा और पिण्ड के बदले कागजी करेंसी कार्यालय (Paper Currency Office) को क नोट छापने का अधिकार दिया गया।

इन तीन अधिनियमों का मुख्य उद्देश्य रुपये के स्वर्ण-मूल्य में वृद्धि था। इसके अतिरिक्त विदेशी पूँजी के आयात को प्रोत्साहित करना, स्वर्ण- के प्रयोग से लोगों को परिचित कराना और चाँदी के प्रयोग से लोगों को हतो करना इसके उद्देश्य थे। इस प्रकार से भारत ने धीरे-धीरे स्वर्णमान को करने के लिये इन कदमों को उठाया। भारत ने २३ जनवरी सन् १८९३ के ए में यह स्पष्ट कर दिया था कि भारत में टकसालों के बंद होने तथा स्वर्ण को बनाने के प्रारम्भ में कुछ समय का अन्तर अवश्य रहना चाहिए, जिसक से निश्चित नहीं किया जा सकता। "We think that an interval of the length of which cannot be determined beforehand, s elapse between closer of the mints and any attempt to coin here.") यह समय सन् १८९८ तक रहा, जब रुपये की विनिमय दर १५·९ गयी और भारत की सरकार ने इस संक्रमण काल को यहीं समाप्त कर देन समझा और स्थायी विनिमय दर व स्वर्णमान को स्थापित करने के लिये सक्रिय उठाने का विचार किया।

इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए सरकार ने जो प्रस्ताव रक्खे, प्रकार थे :—(१) चलन में से कुछ सिक्के निकाल कर उन्हें पिघला लिया जिससे विनिमय दर १६ पेंस हो जाय जो अब तक कुछ कम थी। (२) इंग ऋण एकत्रित किया जाय और इसका कुछ भाग भारत में भेज दिया जाय आधार पर कागज के नोटों को छापा जा सके। (३) पिघले रुपयों की चाँद बेच कर स्वर्ण प्राप्त कर लिया जाय और इससे स्वर्ण कोषों को शक्तिशाली जाय। (४) स्वर्ण को उसी समय बेचा जाय जब कि विनिमय दर १६ पेंस पर हो जाय।

सन् १८९८ में फाउलर समिति की नियुक्ति की गई जो इन सुझाव विचार करे, जिससे सन् प्रारम्भ की गई नीति को प्रभावपूर्ण बना

सके। कमेटी को भारत में स्थायी विनिमय व सन्तोषजनक करेंसी प्रणाली को प्राप्त करने के लिये सुझाव देते थे।

समिति भारत में रजतमान अपनाने के हक में नहीं थी और न ही वह वर्तमान प्रबन्ध को पसन्द करती थी। समिति इस प्रकार से स्वर्णमान को अच्छा समझती थी। स्वर्णमान से सम्बन्धित तीन योजनायें कमेटी के सम्मुख रखी गई थी। Mr. Lesley Probyn व Mr. A. M. Lindsey की योजनाओं के अनुसार भारत में स्वर्णमान के साथ स्वर्ण मुद्रायें नहीं चलनी थी। भारतीय सरकार की योजना इससे भिन्न थी। भारतीय सरकार की योजना के अनुसार स्वर्णमान के साथ देश में स्वर्ण मुद्रायें भी चलनी थी। कमेटी ने Messrs Probyn व Lindsey की योजनाओं को अस्वीकृत करके भारतीय सरकार की योजना को स्वीकार किया। फाउलर समिति के अनुसार 'सोने के स्वतन्त्र आवाह-प्रवाह पर आधारित स्वर्ण प्रमाप और करेंसी की स्थापना ही हमारा उद्देश्य होना चाहिए।' इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए उस समिति ने निम्नलिखित सुझाव रखे —

(१) ब्रिटिश सावरेन को भारत में अपरिमित विधि-ग्राह्य मुद्रा घोषित कर देना चाहिये और उसका भारत में प्रचलन होना चाहिये। कमेटी के शब्दों में, "We are in favour of making the British sovereign a legal tender and a current coin in India." स्वर्ण सिक्कों के टंकन के लिये भारत में टकसाल खोलने की भी कमेटी ने सिफारिश की।

(२) विनिमय दर को 1 s. 4 d. की दर पर स्थिर कर दिया जाय।

(३) रुपया असीमित वैधानिक ग्राह्य बना रहे।

(४) सरकार सोने के बदले में रुपया देना जारी रखे और अपने आपको रुपये के बदले में सोना देने को बाध्य न करे, क्योंकि सोना देने के लिये बाध्य होना असुविधाजनक होगा तथा सरकार से सोने की आकस्मिक माँग की जा सकेगी जिस की पूर्ति के लिये भारी लागत पर स्टर्लिंग ऋण लेना आवश्यक हो जायेगा।

(५) रुपये के टंकन से जो लाभ प्राप्त हो उसे विशेष सुरक्षित कोष के रूप में एक स्वर्ण कोष में जमा करना चाहिए।

(६) सरकार पर रुपये को सोने में बदलने के लिए किसी प्रकार का कानूनी बन्धन नहीं होना चाहिए। परन्तु फिर भी लोगों के इच्छुक होने तथा कोष से अदायगी सम्भव होने पर सोना देना लाभप्रद होगा।

(७) जिस समय व्यापार सतुलन विपरीत हो, उस समय सरकार को सोना सुलभ करने के लिये तैयार होना चाहिये।

फाउलर कमेटी द्वारा सुझायी गयी मुद्रा प्रणाली सामान्य स्वर्णमान से बहुत भिन्न थी। सर्वप्रथम तो इसमें रुपयों को स्वर्ण धातु या सिक्कों में बदलने के लिये सरकार पर कोई कानूनी बंधन नहीं था। परन्तु स्वर्णमान के समान इसमें सोने के

करे उसके आधार पर कागज के नोट छापे जायें, उसको भी स्थायी बना दिया। सन् १६०४ मे भारत सचिव इस बात के लिए तैयार हो गया कि इंगलैंड मे वह १६ पेंस की दर पर असीमित मात्रा मे स्टर्लिग के बदले रुपये देगा। रुपये ढालने के लाभ से जो स्वर्ण-कोष (Gold Reserve) बनाया था वह भी लन्दन भेज दिया गया। फाउलर कमेटी ने यह कभी नही चाहा था कि यह कोष इंगलैड मे रक्खा जाय और इसमे से अधिक मात्रा मे रुपये निकाले जायँ। सन् १६०७ में स्वर्ण कोष की एक शाखा भारत में भी स्थापित की गई जिसका उद्देश्य स्वर्ण के बदले में रुपये को देना तथा विनिमय दर को १६ पेंस की दर से ऊँचा उठाने से रोकना था।

इस प्रकार से इन सब प्रयत्नो का सुझाव जो सरकार ने किये फाउलर कमेटी मे कही भी नही दिया था। इस समय के दौरान मे सरकार ने विनिमय दर को १६ पेंस की दर पर स्थिर रखने के लिए विभिन्न कदम उठाए और इनके परिणामस्वरूप एक नए मान स्वर्ण-विनिमय मान की भारत मे स्थापना हुई।

इस मान को बैंक ऑफ बंगाल के डिप्टी सेक्रेटरी श्री ए० एम० लिंदसे (A. M. Lindsay) ने फाउलर कमेटी के सामने रक्खा था परन्तु कमेटी ने इसको मानने से मना कर दिया था। परन्तु उसने भविष्यवाणी की थी कि भारत मेरी योजना को अवश्य स्वीकार करेगा और घटनाओ ने यह सिद्ध कर दिया कि वह ठीक था।

भारतवर्ष के स्वर्ण विनिमय का सचालन Council Drafts तथा Reverse Council Drafts के द्वारा किया जाता था। Council Drafts भारत सचिव की ओर से भारत सरकार के नाम आज्ञा थी कि वह उन पर लिखा रुपया उस व्यक्ति को दे दे। यह ब्रिटिश बैंकों, व्यापारियो व आयातकर्त्ताओ को बेचे जाते थे। यह Council Drafts पहले भी बेचे जाते थे परन्तु अब ये असीमित मात्रा मे बेचे जाने लगे थे और इनका उद्देश्य विनिमय दर को १६$\frac{१}{८}$ पैंस से अधिक नही बढ़ने देना था। दूसरी ओर Reverse Council Drafts भारत सरकार के द्वारा बेचे जाते थे और यह भारत सचिव के नाम एक आज्ञा थी कि उसका भुगतान स्टर्लिग मे कर दिया जाय। इन ड्राफ्टो को भारत सरकार १ शि० ३$\frac{२९}{३२}$ पैंस की दर पर बेचती थी और विनिमय दर को इस स्तर से नीचे नही गिरने देती थी।

भारतवर्ष मे यह मान सन् १६१७ तक रहा और इसी बीच बहुत से अर्थशास्त्रियों ने इसकी बहुत प्रशंसा की। कीन्स ने इसको बहुत अच्छा बताया और प्रथम महायुद्ध के बाद लीग ऑफ नेशन्स ने इसको छोटे देशो के लिये उपयुक्त बताया। सन् १६१३ में नियुक्त चैम्बरलेन आयोग ने भी कहा था कि भारत की परिस्थितियों के लिये यह सबसे उपयुक्त मान है।

परन्तु यह मान महायुद्ध की प्रतिकूल परिस्थितियों को सहन न कर सका। सन् १६१६ से भारत का शोधनाशेष भारत के पक्ष में होने लगा और रुपये की माग

बहुत अधिक बढ़ गयी। इस मांग के पूरा करने के लिये सरकार ने बहुत बड़ी मात्रा में चाँदी को खरीदा साथ ही संसार की चांदी की मांग बहुत बढ़ गई और पूर्ति कम हो गई। युद्ध में लगे देशों ने चांदी के निर्यात को रोक दिया जिससे इसकी कीमत और भी बढ़ गयी। सन् १९१५ में वह मूल्य २७३/४ पैंस प्रति स्टेण्डर्ड औंस था जो सितम्बर सन् १९१७ में ५५ पैंस प्रति औंस हो गया। रुपये का आन्तरिक मूल्य ४३ पैंस प्रति औंस था और इससे अधिक के मूल्य पर रुपये का आन्तरिक मूल्य उसके बाह्य मूल्य से अधिक हो गया। अब विनिमय दर को १६ पैंस की दर पर नहीं रखा जा सकता था। इसलिए सरकार ने विनिमय की दर को बढ़ाकर अगस्त सन् १९१७ में १७ पैंस प्रति रुपया कर दिया परन्तु रुपया और स्टर्लिंग के विनिमय अनुपात को निर्धारित करना कठिन हो गया। दिसम्बर सन् १९१९ में विनिमय की दर प्रति रुपया २ शि० ४ पैंस हो गयी। इन प्रकार स्वर्ण विनिमय मान टूट गया।

स्वर्ण विनिमय मान भारत को आकस्मिक रूप से प्राप्त हुआ था। भारत स्वर्णमान को प्राप्त कर रहा था परन्तु प्राप्त स्वर्ण विनिमय मान हो गया। यह इस प्रकार था जिस प्रकार जुपिटर अग्नि की खोज में निकाला परन्तु उनको भगवान मिल गया। स्वर्ण विनिमय मान से भारत को बहुत लाभ हुआ परन्तु इस मान के समाप्त होने से वह स्वप्न भंग हो गया। डा० मल्होत्रा के अनुसार, "India had been saved from the cruel fate of being crucified on the cross of gold. She could well spread her tails like a peacock to the sun. But now the standard broke down, "the enchantment was at an end, the mirage evaporated, the soap bubble burst and the chariot of Cinderella relapsed into its original pumpkins and mice."[2]

Q. 160. Discuss briefly the main trends of the Indian currency policy between 1900 and 1925.

भारतवर्ष में स्वर्ण मुद्राओं के चलन की तथा स्वर्णमान को अपनाने की बहुत समय से माँग थी और सरकार ने भी फाउलर समिति (सन् १८९८) के सुझाव पर यहाँ पर स्वर्णमान को अपनाना चाहा। परन्तु सरकार ने इस मान को अपनाने का ठीक समय और रीति का चुनाव नहीं किया जिसका परिणाम यह हुआ कि जनता ने स्वर्ण सिक्कों को सरकारी खजानों को लौटा दिया और सरकार ने यह निष्कर्ष निकाल लिया कि जनता स्वर्णमान को नहीं चाहती जोकि ठीक नहीं था। सन् १९०२ में सरकार ने भारत में स्वर्ण सिक्के ढालने की टकसाल को प्रारम्भ करने का

2. Ibid. page 21.

विचार छोड़ दिया। सन् १९०४ में स्वर्ण कोष को लन्दन हस्तान्तरित कर दिया और स्टर्लिंग प्रतिभूतियों (Sterling Securities) में विनियोजित कर दिया गया। इसके अतिरिक्त कागजी चलन कोष (Paper Currency Reserve) भी स्थापित किया गया जिसका कुछ भाग भारत में था कुछ लन्दन में। काउन्सिल ड्राफ्ट्स (Courcil Drafts) व रिवर्स काउन्सिल ड्राफ्ट्स (Reverse Counsil Drafts) की सहायता से विनिमय दर को १ शि० ४ पैंस पर स्थिर रखने पर प्रयत्न किया। इस प्रकार स्वर्णमान के स्थान पर स्वर्ण विनिमय मान की स्थापना हो गई।

चैम्बरलेन आयोग सन् १९१३ (Chamberlain Commission 1913)—स्वर्ण विनिमय मान की आलोचना बहुत से लोग करने लगे क्योंकि इस मान की स्थापना सरकार की दोषपूर्ण नीति के परिणामस्वरूप हुई थी। इस आलोचना के परिणामस्वरूप सन् १९१३ में चैम्बरलेन आयोग (Chamberlain Commission) की नियुक्ति हुई थी। इस आयोग की नियुक्ति विनिमय दर को स्थिर रखने के लिए सरकारी प्रयत्नों की जाँच करने, कोषों के उपयोग व उनके स्थान की जाँच करने तथा प्रचलित मुद्रा मान की उपयोगिता व लाभदायकता की जाँच करने के लिए की गयी थी। इस आयोग ने स्वर्ण विनिमय मान को ठीक बताया और इसको जारी रखने की सिफारिश की। स्वर्ण सिक्कों की ढलाई के लिए टकसाल की आवश्यकता भी इस आयोग ने महसूस नहीं की परन्तु साथ ही यह भी किया कि यदि आवश्कता हो तो सरकार टकसाल खोल सकती है। स्वर्णमान कोष में वृद्धि करने को कहा और इस कोष को लन्दन में रखने का सुझाव दिया। भारत में पत्र-मुद्रा को अधिक लोचदार बनाने पर भी अधिक महत्व दिया और स्वर्णमान की चाँदी शाखा को बन्द कर देने को कहा। अन्त में इसने यह भी कहा कि भारत सरकार रिवर्स काउन्सिल बिल्स को १२$\frac{3}{32}$ पैंस पर बेचेगी।

चैम्बरलेन आयोग की सिफारिशें फरवरी सन् १९१४ में प्रकाशित हुई थीं और जुलाई सन् १९१४ में प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हो गया और सरकार की इस आयोग की सिफारिशों को कार्यान्वित करने का अवसर नहीं मिल सका। परन्तु सरकार ने स्वर्णमान कोष की चाँदी शाखा को समाप्त कर दिया और युद्ध प्रारम्भ होने पर जब भी रिवर्स काउन्सिल बिल्स की माँग हुई उनको बेचने को तैयार रही।

प्रथम महायुद्ध में चलन (Currency During World War I)—चैम्बरलेन आयोग ने स्वर्ण विनिमय मान के कार्य को सुधारने के लिये जो सुझाव दिये थे, महायुद्ध के प्रारम्भ के कारण सरकार उनको क्रियात्मक रूप न दे सकी। स्वर्ण विनिमय मान सन् १९१७ तक तो ठीक कार्य करता रहा परन्तु उसके बाद वह अपने कार्य में असफल रहा और सन् १९१७ में टूट गया। चाँदी के उत्पादन में कमी होने के कारण तथा इसकी माँग में वृद्धि होने के कारण इसके मूल्य में वृद्धि होने लगी। चाँदी के मूल्य की वृद्धि के साथ ही विनिमय दर में वृद्धि होने लगी और

बहुत अधिक बढ़ गयी। इस मांग के पूरा करने के लिये सरकार ने बहुत बड़ी मात्रा में चाँदी को खरीदा साथ ही संसार की चांदी की मांग बहुत बढ़ गई और पूर्ति कम हो गई। युद्ध में लगे देशों ने चांदी के निर्यात को रोक दिया जिससे इसकी कीमत और भी बढ़ गयी। सन् १६१५ में वह मूल्य २७$\frac{3}{4}$ पैंस प्रति स्टेण्डर्ड औंस था जो सितम्बर सन् १६१७ में ५५ पैंस प्रति औंस हो गया। रुपये का आन्तरिक मूल्य ४३ पैंस प्रति औंस था और इससे अधिक के मूल्य पर रुपये का आन्तरिक मूल्य उसके वाह्य मूल्य से अधिक हो गया। अब विनिमय दर को १६ पैंस की दर पर नहीं रखा जा सकता था। इसलिए सरकार ने विनिमय की दर को बढ़ाकर अगस्त सन् १६१७ में १७ पैंस प्रति रुपया कर दिया परन्तु रुपया और स्टर्लिंग के विनिमय अनुपात को निर्धारित करना कठिन हो गया। दिसम्बर सन् १६१६ में विनिमय की दर प्रति रुपया २ शि० ४ पैंस हो गयी। इस प्रकार स्वर्ण विनिमय मान टूट गया।

स्वर्ण विनिमय मान भारत को आकस्मिक रूप से प्राप्त हुआ था। भारत स्वर्णमान को प्राप्त कर रहा था परन्तु प्राप्त स्वर्ण विनिमय मान हो गया। यह इस प्रकार था जिस प्रकार जुपिटर अग्नि की खोज में निकाला परन्तु उनको भगवान मिल गया। स्वर्ण विनिमय मान से भारत को बहुत लाभ हुआ परन्तु इस मान के समाप्त होने से वह स्वप्न भंग हो गया। डा० मल्होत्रा के अनुसार, "India had been saved from the cruel fate of being crucified on the cross of gold. She could well spread her tails like a peacock to the sun. But now the standard broke down, "the enchantment was at an end, the mirage evaporated, the soap bubble burst and the chariot of Cinderella relapsed into its original pumpkins and mice."[2]

Q. 160. Discuss briefly the main trends of the Indian currency policy between 1900 and 1925.

भारतवर्ष में स्वर्ण मुद्राओं के चलन की तथा स्वर्णमान को अपनाने की बहुत समय से माँग थी और सरकार ने भी फाउलर समिति (सन् १८६८) के सुझाव पर यहाँ पर स्वर्णमान को अपनाना चाहा। परन्तु सरकार ने इस मान को अपनाने का ठीक समय और रीति का चुनाव नहीं किया जिसका परिणाम यह हुआ कि जनता ने स्वर्ण सिक्कों को सरकारी खजानों को लौटा दिया और सरकार ने यह निष्कर्ष निकाल लिया कि जनता स्वर्णमान को नहीं चाहती जोकि ठीक नहीं था। सन् १६०२ में सरकार ने भारत में स्वर्ण सिक्के ढालने की टकसाल को प्रारम्भ करने का

2. Ibid. page 21.

विचार छोड दिया। सन् १९०४ मे स्वर्ण कोष को लन्दन हस्तान्तरित कर दिया और स्टर्लिंग प्रतिभूतियों (Sterling Securities) मे विनियोजित कर दिया गया। इसके अतिरिक्त कागजी चलन कोष (Paper Currency Reserve) भी स्थापित किया गया जिनका कुछ भाग भारत मे था कुछ लन्दन मे। काउन्सिल ड्राफ्टस (Council Drafts) व रिवर्स काउन्सिल ड्राफ्टस (Reverse Counsil Drafts) की सहायता से विनिमय दर को १ शि० ४ पैस पर स्थिर रखने पर प्रयत्न किया। इस प्रकार स्वर्णमान के स्थान पर स्वर्ण विनिमय मान की स्थापना हो गई।

चैम्बरलेन आयोग सन् १९१३ (Chamberlain Commission 1913)—स्वर्ण विनिमय मान की आलोचना बहुत से लोग करने लगे क्योंकि इस मान की स्थापना सरकार की दोषपूर्ण नीति के परिणामस्वरूप हुई थी। इस आलोचना के परिणामस्वरूप सन् १९१३ मे चैम्बरलेन आयोग (Chamberlain Commission) की नियुक्ति हुई थी। इस आयोग की नियुक्ति विनिमय दर को स्थिर रखने के लिए सरकारी प्रयत्नों की जांच करने, कोषों के उपयोग व उनके स्थान की जांच करने तथा प्रचलित मुद्रा मान की उपयोगिता व लाभदायकता की जाच करने के लिए की गयी थी। इस आयोग ने स्वर्ण विनिमय मान को ठीक बताया और इसको जारी रखने की सिफारिश की। स्वर्ण सिक्को की ढलाई के लिए टकसाल की आवश्यकता भी इस आयोग ने महसूस नही की परन्तु साथ ही यह भी किया कि यदि आवश्कता हो तो सरकार टकसाल खोल सकती है। स्वर्णमान कोष मे वृद्धि करने को कहा और इस कोष को लन्दन मे रखने का सुझाव दिया। भारत मे पत्र-मुद्रा को अधिक लोचदार बनाने पर भी अधिक महत्व दिया और स्वर्णमान की चाँदी शाखा को वन्द कर देने को कहा। अन्त मे इसने यह भी कहा कि भारत सरकार रिवर्स काउन्सिल बिल्स को १२$\frac{२९}{३२}$ पैस पर बेचेगी।

चैम्बरलेन आयोग की सिफारिशें फरवरी सन् १९१४ मे प्रकाशित हुई थीं और जुलाई सन् १९१४ मे प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हो गया और सरकार की इस आयोग की सिफारिशों को कार्यान्वित करने का अवसर नही मिल सका। परन्तु सरकार ने स्वर्णमान कोष की चादी शाखा को समाप्त कर दिया और युद्ध प्रारम्भ होने पर जब भी रिवर्स काउन्सिल बिल्स की माँग हुई उनको बेचने को तैयार रही।

प्रथम महायुद्ध में चलन (Currency During World War I)—चैम्बरलेन आयोग ने स्वर्ण विनिमय मान के कार्य को सुधारने के लिये जो सुझाव दिये थे, महायुद्ध के प्रारम्भ के कारण सरकार उनको क्रियात्मक रूप न दे सकी। स्वर्ण विनिमय मान सन् १९१७ तक तो ठीक कार्य करता रहा परन्तु उसके बाद वह अपने कार्य में असफल रहा और सन् १९१७ मे टूट गया। चाँदी के उत्पादन में कमी होने के कारण तथा इसकी माँग में वृद्धि होने के कारण इसके मूल्य मे वृद्धि होने लगी। चाँदी के मूल्य की वृद्धि के साथ ही विनिमय दर मे वृद्धि होने लगी और

यह १६ दिसम्बर सन् १९१९ तक २ शि० ४ पैंस हो गयी। सरकार ने भी चाँदी की कमी के कारण अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा चालू की और चाँदी के रुपयों की ढलाई पूरी तरह बन्द कर दी गयी। इस प्रकार प्रथम महायुद्ध काल में स्वर्ण विनिमय मान टूट गया।

चलन पर युद्ध काल में नियन्त्रण (Regulation on Indian Currency During War)—युद्ध के कारण बिगड़ी स्थिति को सुधारने के लिए सरकार ने निजी व्यक्तियों द्वारा चाँदी का आयात बिल्कुल बन्द कर दिया और अमेरिका की सरकार से २० करोड़ शुद्ध औंस चाँदी को खरीदा। यदि उस समय इतनी अधिक चाँदी की मात्रा को न खरीदा जाता तो भारत में गम्भीर चलन-संकट (Serious Currency Crisis) उत्पन्न हो जाता। इसके अतिरिक्त सोने व चाँदी के सिक्कों को गलाना भी गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। मुद्रा की कमी को पूरा करने के लिये १ रुपये व २½ रुपये के नोट भी चलाये गये। २९ जून सन् १९१७ को एक आदेश प्रकाशित किया गया जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को आयात किया गया सोना सरकार को बेचना पड़ता था। नोटों का अरक्षित भाग (Fiduciary Portion) भी सन् १९११ में १४ करोड़ रुपये से बढ़ा कर सन् १९१९ तक १२० करोड़ रु० कर दिया तथा नोटों को रुपयों में बदलने पर प्रतिबन्ध लगा दिए गए। परिणाम-स्वरूप नोट बट्टे (Discount) पर बिकने लगे।

बैबिंगटन स्मिथ समिति सन् १९१९ (Babington Smith Committee 1919)—यह सब प्रयत्न युद्ध की कठिनाइयों को दूर करने के लिये किये थे। युद्ध के बाद स्थिति सामान्य हो गयी और विनिमय दर में स्थिरता लाना फिर आवश्यक हो गया। अत: सन् १९१९ में युद्ध के भारत की चलन प्रणाली व विदेशी विनिमय पर प्रभाव पर विचार करने के लिये, इसमें आवश्यक परिवर्तनों को सुझाने के लिये और स्वर्ण विनिमय मान की स्थिरता के लिए सुझाव पेश करने के लिये बैबिंगटन स्मिथ की अध्यक्षता में एक समिति को नियुक्त किया।

इस समिति का विचार था कि युद्ध के बाद भी चाँदी के मूल्य ऊँचे रहेंगे और इसलिए यह विनिमय दर को भी ऊँचा रखने के पक्ष में थी इसलिए इसने १ रु०= २ शि० अथवा दस रुपये बराबर एक सावरन की विनिमय दर को ही ठीक समझा। साथ ही यह रुपये का सम्बन्ध स्टर्लिंग के स्थान पर स्वर्ण से स्थापित करने के पक्ष में थी क्योंकि उस समय स्टर्लिंग का सम्बन्ध स्वर्ण से न होने के कारण उसके मूल्य में उतार-चढ़ाव होता रहता था और यदि रुपये का स्टर्लिंग के साथ गठबन्धन कर दिया जाता तो स्टर्लिंग के साथ-साथ रुपये के मूल्य में भी उतार-चढ़ाव होते रहते। समिति के मुख्य सुझाव इस प्रकार थे :—

(१) समिति के अनुसार रुपये का विनिमय मूल्य स्टर्लिंग के स्थान पर स्वर्ण में स्थिर रखना चाहिए और इसको २ शिलिंग (स्वर्ण) अथवा दस रुपयों को एक सावरेन (एक रुपया=११·३००१६ ग्रेन शुद्ध स्वर्ण) की दर पर स्थित कर देना

चाहिए। इस ऊँची विनिमय दर से आयात कम मूल्य पर होंगे तथा वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि रुक जायेगी। भारत के निर्यातों पर इसका विपरीत प्रभाव नहीं पड़ेगा क्योंकि भारतीय वस्तुओं की माँग संसार में बेलोचदार है। साथ ही ऊँची विनिमय दर से गृह व्यय (Home Charges) के भुगतान में भी बचत होगी।

(२) रुपया असीमित कानूनी ग्राह्य (Unlimited Legal Tender) बना रहना चाहिए और साथ ही साथ सावरेन को भी दस रुपये की दर पर असीमित कानूनी ग्राह्य बना देना चाहिये परन्तु सरकार पर सावरेन के बदले में रुपये देने का उत्तरदायित्व नहीं होना चाहिए।

(३) भारत में स्वर्ण सिक्कों के उपयोग को अधिक प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए क्योंकि ऐसा करना भारत के हित में नहीं होगा। परन्तु बम्बई में एक टकसाल स्वर्ण सिक्के ढालने के लिए स्थापित कर देनी चाहिए जहाँ स्वर्ण के छोटे सिक्के ढाले जायें।

(४) रुपये की ढलाई पर से जो लाभ होता है, उसको स्वर्ण मान कोष में रखा जाय और इसका आधा भाग भारत में रखा जाय। इस कोष में स्वर्ण की मात्रा अधिक से अधिक रखी जाये और शेष भाग साम्राज्य के किसी भी देश द्वारा निर्गमित तथा १२ महीने में परिपक्व होने वाली प्रतिभूतियों के रूप में रखा जाय।

(५) मुद्रा में लोच उत्पन्न करने के लिए अनुपातिक रिजर्व प्रणाली (Proportional Reserve System) को अपना लेना चाहिए और कागजी चलन के पीछे ४० प्रतिशत का कोष अवश्य रहना चाहिये। एक सीमित समय तक अरक्षित मुद्रा (Fiduciary Currency) का प्रकाशन १२० करोड़ रुपये तक होना चाहिए तथा मुद्रा की माँग और अधिक बढ़ जाने पर निर्यात बिलों (Export Bills) के आधार पर ५ करोड़ रुपये की मुद्रा (अरक्षित मुद्रा से अधिक) जारी करने का अधिकार होना चाहिये।

(६) स्वर्ण के आयात निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिये।

(७) चाँदी के आयत पर से आयात नियन्त्रण हटा लेना चाहिए और इसके आयात को प्रोत्साहन देने के लिए इस पर से आयात कर जितना शीघ्र हो सके हटा देना चाहिए। चाँदी के निर्यात पर नियत्रण रहना चाहिए जिससे इसके कोष में कमी न होने पाये।

समिति के एक सदस्य श्री० डी० एम० दलाल (Sh. D. M. Dalal) समिति के इस सुझाव से कि विनिमय दर को २ शि० की दर पर स्थिर कर दिया जाए सहमत नहीं हुए और इसके विरोध में विमति टिप्पण (Minute of Dissent) लिखा। उन्होंने कहा कि २ शि० (स्वर्ण) की दर भारतीय व्यापार व उद्योग के लिए हानि-

कारक है और इसलिए विनिमय दर १ शि० ४ पैं० (स्वर्ण) पर स्थिर होनी चाहिए। उनका कहना यह था कि २ शि० की विनिमय दर के पक्ष में यह तर्क है कि चांदी के मूल्य ऊँचे हैं। परन्तु उसके अनुसार चांदी के ऊँचे मूल्य कृत्रिम थे। साथ ही वे स्वर्ण विनिमय मान के विपक्ष में भी थे।

युद्धोत्तर काल—दो शिलिंग स्वर्ण अनुपात की असफलता (Post-war Period-Failure of the 2 s. Gold Ratio)—सरकार ने श्री दलाल के विचारों को महत्व न देकर बहुमत की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और रुपये का अनुपात २ शिलिंग स्वर्ण निर्धारित कर दिया और रिवर्स काउन्सिल बिल्स को इसी भाव पर बेचना प्रारम्भ कर दिया। युद्ध काल में चांदी के आयात पर चांदी के सिक्कों के पिघलाने पर और स्वर्ण के आयात-निर्यात पर जो प्रतिबन्ध लगाए थे उनको समाप्त कर दिया। सन् १९२० के भारतीय टंकन (संशोधन) अधिनियम के अनुसार सावरेन भारत मे कानूनी ग्राह्य बना दिया गया।

सरकार के इन कार्यों के परिणामस्वरूप स्टर्लिंग की माँग बहुत अधिक बढ़ गयी क्योंकि भारत के आयातकर्त्ताओं व व्यापारियों ने इस ऊँची दर का लाभ उठाने के लिए शीघ्र से शीघ्र लन्दन में अपना दायित्व चुकाना प्रारम्भ कर दिया। इसके अतिरिक्त जनवरी सन् १९२० से विदेशी व्यापार भारत के विपक्ष में होने लगा। आयातों में वृद्धि होने लगी तथा निर्यातों में कमी। इस सबके कारण रुपये के मूल्य में ह्रास प्रारम्भ हो गया। सरकार ने इस ह्रास को रोकने का बहुत प्रयत्न किया और रिवर्स काऊन्सिल बिल्स को बेचकर विनिमय दर को सहारा दिया। सरकार को इन्हें काफी बड़ी मात्रा बेचना पड़ा। जनवरी से सितम्बर सन् १९२० के अन्त तक ये बिल ५,५३,८२,००० पौंड मूल्य के बेचे गये। रिवर्स काउन्सिल बिलों का भुगतान करने के लिए भारत-मन्त्री को स्वर्ण प्रतिभूतियों और राजकोष हुण्डियों का विक्रय करना पड़ा जो लन्दन के कागजी चलन कोष में रखे गए थे। यह हुण्डियाँ १.५ रुपए के मूल्य पर खरीदी गयी थीं जब कि इनको ७ से लेकर १० रुपये तक के मूल्य पर बेचा गया। इस प्रकार रिवर्स काउन्सिल बिलों की बिक्री से भारतीय खजाने को होने वाली हानि ३५ करोड़ रुपये तक पहुँच गयी।

रिवर्स काउन्सिलों के बदले जो नोट सरकार को प्राप्त हुए थे उनको सरकार ने रद्द कर दिया जिससे १ फरवरी सन् १९२० से १६ सितम्बर सन् १९२० तक प्रचलित मुद्रा में लगभग २७ करोड़ रुपये की कमी हो गई। इससे विनिमय दर में तो कमी आना तो नहीं रुका परन्तु मूल्यों में बहुत कमी आने लगी। इसके अतिरिक्त [illegible] दर में कमी होने के कारण भारत के व्यापारियों को इंगलैण्ड का माल महँगा [illegible]। क्योंकि जिस समय उन्होंने आर्डर दिए थे उस समय विनिमय दर ऊँची [illegible] और इस मँहगे माल को यहाँ सस्ते मूल्य पर बेचना पड़ता था। इस [illegible]हुत से भारत के व्यापारी बरबाद हो गए।

इस गड़बड़ी के लिए सरकार के २ शि० दर के निर्णय को पूर्णतया दोषी ठहराया गया और इस सबके लिए सरकार को उत्तरदायी बनाया गया। सर स्टैन रीड के शब्दों में "वह नीति, जो विनिमय दर को स्थिर रखने के लिए अपनाई गई, दोषपूर्ण देश के विनिमय में अत्यधिक उथल-पुथल का कारण बनी, जिससे व्यापार में व्यापक व्याघात पहुँचा। सरकार को बहुत हानि उठानी पड़ी और कितने ही व्यापारी दिवालिये हो गए।

पहले सरकार ने विनिमय दर को २ शि० (स्वर्ण) पर स्थिर रखने का प्रयत्न किया तथा २४ जून से २८ सितम्बर सन् १९२० तक २ शि० (स्टर्लिंग) पर। परन्तु सरकार अपने इस प्रयत्न में सफल न हो सकी और विनिमय दर को स्थिर रखने का विचार छोड़ दिया और केवल चलन की मात्रा में कमी करने का कार्य करने लगी जिससे आन्तरिक व बाह्य मूल्यों में समानता हो जाय। काउन्सिल बिल्स का विक्रय भी रोक दिया गया ताकि रुपये का विनिमय मूल्य बढ़ जाय। विनिमय दर फिर भी गिरती ही गई और दिसम्बर सन् १९२० में १ शि० ५ पैंस से गिर कर मार्च सन् १९२१ में १ शिलिंग २$\frac{7}{8}$ पैंस हो गई। सन् १९२२ से व्यापार शेष भारत के पक्ष में होने लगा और रुपये का स्टर्लिंग मूल्य भी बढ़ने लगा और जनवरी सन् १९२३ में अपने युद्ध पूर्व स्तर १ शि० ४ पैं० तक पहुँच गया। अक्टूबर सन् १९२४ में यह और भी बढ़ गया और १ शि० ६ पैं० स्टर्लिंग (लगभग १ शि० ४ पैं० स्वर्ण) तक पहुँच गया। अब सरकार के प्रयत्न इस ओर थे कि विनिमय दर को इस स्थान पर स्थिर कर दिया जाय और इसमें अत्यधिक वृद्धि न होने दी जाय। इस विचार से सरकार ने अगस्त सन् १९२५ में हिल्टन यंग की अध्यक्षता में एक आयोग की नियुक्ति की।

इस प्रकार सन् १९२१ से १९२५ तक की भारत सरकार की चलन नीति (Currency Policy) को 'बेजोड़ अकर्मण्यता' (Masterly Inactivity) का नाम दिया जाता है। २ शि० की विनिमय दर को स्थायी रखने में सरकार ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली और उनके प्रयास केवल विनिमय दर को गिराने से रोकने के सम्बन्ध में रहे। परन्तु इसमें भी सफलता अधिक नहीं मिली।

*

Q. 161. Discuss the main recommendations of the Hilton Young Commission of 1925. **(Agra 1954)**

प्रथम महायुद्ध के बाद संसार के विभिन्न देशों में आर्थिक अस्थिरता उत्पन्न हो गई तथा मुद्रा व चलन के क्षेत्र में भी अनिश्चितता आ गई। इसका प्रभाव

भारतीय मुद्रा तथा चलन पर भी पड़ा। इस युद्ध के बाद स्वर्ण विनिमय मान टूट गया तथा विनिमय दर भी २ शिलिंग पर स्थिर न रह सकी। सरकार ने भी २ शिलिंग की विनिमय दर को स्थगित कर दिया तथा सन् १९२१ से १९२५ तक अक्रियाशीलता की नीति को अपनाया। परन्तु सन् १९२५ में इंगलैंड में पुनः स्वर्णमान की स्थापना हुई और इसलिए भारत सरकार ने यह अनुभव किया कि देश की मुद्रा व्यवस्था मे भी आवश्यक सुधार किये जाने चाहिये ताकि उसका नये रूप से संगठन हो सके।

रूपरेखा :

(१) हिल्टन यंग आयोग की नियुक्ति।

(२) आयोग के सुझाव।

(i) स्वर्ण धातुमान की स्थापना की जाय;

(ii) एक केन्द्रीय बैंक स्थापित किया जाय;

(iii) विनिमय दर १ शि० ६ पैं० निर्धारित की जाय;

(३) विनिमय दर के सम्बन्ध में मतभेद।

(४) आयोग के सुझावों की स्वीकृति तथा उसको अपनाने के सम्बन्ध में सरकारी प्रयत्न।

इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर २५ अगस्त सन् १९२५ को ले० कमाण्डर हिल्टन यंग की अध्यक्षता में एक आयोग की नियुक्ति की गई। इस आयोग का उद्देश्य भारतीय चलन और विनिमय प्रणाली तथा व्यवहार की जाँच करना और उस पर अपना मत प्रकट करना था। आयोग को भारत के हितों को ध्यान में रखते हुए इस बात का भी पता लगाना था कि इस वर्तमान पद्धति में कुछ संशोधन होना चाहिए या नहीं। इस आयोग की रिपोर्ट ४ अगस्त सन् १९२६ को प्रकाशित हुई। इस आयोग ने तीन मुख्य सिफारिशें की जो इस प्रकार थीं :—

(१) स्वर्ण धातुमान की स्थापना;

(१) एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना; तथा

(३) विनिमय दर १ शि० ६ पैंस रक्खी जाय।

(१) स्वर्ण धातुमान की स्थापना (Adoption of Gold Bullion Standard)—इस आयोग ने भारत की तत्कालीन चलन पद्धति को बहुत दोषपूर्ण बताया और देश की स्थिति को ध्यान में रखकर तथा विभिन्न मानों (Standards) के गुण दोषों की तुलना करके स्वर्ण धातुमान को ही भारत के उपयुक्त बताया।

आयोग ने स्वर्ण विनिमय मान को ठीक नहीं समझा क्योंकि वह सरल नहीं था और शीघ्रता से समझ में नहीं आ सकता था। इस मान के अन्तर्गत कई प्रकार के कोषों को रखना पड़ता था जैसे स्वर्णमान रक्षित कोष (Gold Standard Reserve Fund), कागजी चलन कोष (Paper Curreney Fund), अधिकोषण कोष (Banking Fund) आदि। इस मान में स्वयंचालिता (Automatic

Working) की भी कमी थी और चलन के स्वतः प्रसार व संकोच की व्यवस्था नही थी। चलन व साख पर भी विभिन्न सस्थाओ का नियन्त्रण था। चलन पद्धति पर सरकार का नियन्त्रण था और इम्पीरियल बैंक साख को नियन्त्रित करता था। इसके अतिरिक्त यह मान जनता के विश्वास को भी प्राप्त करने मे सफल नही हुआ था।

आयोग ने स्वर्णमान व स्वर्ण-मुद्रा की योजना को भी, जिसको वित्त-विभाग के अधिकारियो ने आयोग के सम्मुख रखा था, अस्वीकार कर दिया। इसको अस्वीकार करने के कारणों को स्पष्ट करते हुए आयोग ने कहा कि अधिकाश यूरोपियन देशों ने इस मान को छोड दिया है और यदि भारत इस मान को अपना लेता है तो स्वर्ण की आवश्यकता बहुत बडी मात्रा मे होगी जिससे स्वर्ण के मूल्य मे वृद्धि हो जायगी। इसका प्रभाव वस्तुओ के मूल्यो पर भी पडेगा और मूल्यो मे वृद्धि हो जायेगी। इसके अतिरिक्त यह मान बहुत महँगा है और भारत जैसे एक निर्धन देश के लिए उपयुक्त नही है।

अत. आयोग ने सुझाव दिया कि यदि मुद्रा प्रणाली को स्वयचालित बनाना है और जनता का विश्वास इस पद्धति मे बनाये रखना है तो स्वर्ण अनुमान की स्थापना करनी होगी। आयोग ने जो स्वर्ण धातुमान भारत के लिये उपयुक्त बताया उसकी मुख्य विशेषताये निम्नलिखित थी :—

(१) देश मे विनिमय का माध्यम कागज के नोट तथा चाँदी के सिक्के हों परन्तु मुद्रा का मूल्य सोने की एक निश्चित मात्रा के मूल्य से सम्बन्धित हो।

(२) मुद्रा सचालन को एक निश्चित मूल्य पर असीमित मात्रा में सोना बेचने अथवा खरीदने के लिए उत्तरदायी होना चाहिए। स्वर्ण का यह क्रय-विक्रय किसी भी कार्य के लिये हो सकता है। स्वर्ण क्रय-विक्रय की न्यूनतम सीमा ४०० औंस थी।

(३) रुपयों का स्वर्ण-दण्डो में परिवर्तन हो स्वर्ण मुद्रा मे नही।

(४) सोने के आयात-निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न हो।

(५) सावरेन व अर्द्ध-सावरेन का विमुद्रीकरण कर दिया जाय।

इसके अतिरिक्त आयोग ने यह भी सुझाव दिया कि एक रुपये के नोटों को पुन: चालित किया जाय तथा स्वर्ण-मान-कोष तथा कागजी-मुद्रा-कोष का एकीकरण कर दिया जाय।

इन सुझावो को देते हुए आयोग ने कहा कि इस मान को अपनाने से स्वर्ण-मुद्रा सहित स्वर्णमान के सब लाभों की प्राप्ति हो जायगी तथा रुपये के स्वर्ण मूल्यों मे भी स्थिरता आ जायगी। इससे चलन मे लोचशीलता भी आयेगी और चलन पद्धति सरल तथा निश्चित होगी। लोगो की जमा करने की प्रवृत्ति को भी हतोत्साहन मिलेगा तथा विनियोजन-प्रवृत्ति का विकास होगा। इस मान के अपनाने से भविष्य मे स्वर्ण चलन को प्रारम्भ करने मे भी सरलता होगी। इसके अतिरिक्त वह मान

स्वर्णमान की तुलना में अधिक मितव्ययी होगा। इन सब लाभों के कारण ही आयोग ने स्वर्ण धातुमान को अपनाने का सुझाव रखा।

सरकार ने आयोग के इस सुझाव को स्वीकार कर लिया और सन् १९२७ के चलन अधिनियम द्वारा भारत में स्वर्ण धातुमान की स्थापना की गई। इस अधिनियम के अनुसार (i) सरकार बम्बई की टकसाल में २१ रु० ३ आ० १० पाई प्रति तोला के हिसाब से ४० तोले के स्वर्ण-दण्डों के रूप में सोने का असीमित क्रय करे। (ii) रुपये तथा नोट स्वर्ण दण्ड या स्टर्लिंग में लन्दन में भुगतान के लिये परिवर्तनीय होंगे परन्तु माँगे गये सोने की मात्रा १०६५ तोले (४०० औंस) से कम नहीं होगी तथा इनका मूल्य २१ रु० ३ आना १० पाई होगा, तथा (iii) सावरेन व अर्द्ध-सावरेन का विमुद्रीकरण कर दिया गया।

इस प्रकार से यह समझा गया कि इस अधिनियम द्वारा भारत में स्वर्ण-धातु मान की स्थापना हो गई। परन्तु आलोचकों ने कहा कि यह विशुद्ध स्वर्ण-धातु मान नहीं था बल्कि 'स्टर्लिंग विनिमय सहित स्वर्ण-धातु-मान' ('Sterling Exchange-cum-Gold Bullion Standard') था क्योंकि भारत की मुद्रा केवल स्वर्ण में ही परिवर्तनशील नहीं थी बल्कि स्टर्लिंग में भी परिवर्तनशील थी। कुछ आलोचकों ने तो स्वर्ण-धातु मान की भारत के लिए उपादेयता पर ही सन्देह प्रकट किया। आयोग ने भी इस बात को स्वीकार किया था कि जनता का विश्वास प्राप्त करने के लिये चलन को वास्तविक एवं स्पष्ट रूप से स्वर्ण से सम्बद्ध होना चाहिये। भारत में प्रचलित दृष्टिकोण भी यह था कि भारत के लिये स्वर्ण-चलन सहित स्वर्णमान ही अधिक सरल तथा उपयुक्त है। डा० कैनन व गेगरी इसी दृष्टिकोण में विश्वास रखते थे।

विनिमय दर का प्रश्न (The Ratio Question)—इस आयोग की दूसरी मुख्य सिफारिश १ शि० ६ पैंस रुपया के विनिमय के अनुपात सम्बन्धी थी। हिल्टन यंग कमीशन ने बहुमत से तय किया था कि रुपया केवल १ शि० ६ पैंस के ही बराबर न हो बल्कि ८·४७५१२ ग्रेन शुद्ध सोने के बराबर होना चाहिये। आयोग ने यह भी कहा कि अब वह समय आ गया है जबकि विनिमय दर को १ शि० ६ पैंस पर स्थिर कर दिया जाय। विनिमय दर को इस दर पर स्थिर रखने के पक्ष में आयोग ने निम्नलिखित तर्क रक्खे :—

(१) यह दर पिछले दो वर्षों से स्थिर थी जो इस बात का संकेत था कि यह प्राकृतिक दर थी तथा भारत और संसार की आर्थिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न हुई थी। इसलिए उसको स्थिर रखना उचित था।

(२) इस दर पर देश के मूल्य-स्तर, उत्पादन व्यय तथा अन्य देशों में भारत की अर्थव्यवस्था में सामंजस्य स्थापित हो चुका था और इसमें परिवर्तन की कोई आवश्यकता नहीं थी।

(३) केन्द्रीय सरकार व प्रान्तीय सरकारों ने अपने बजट बनाते समय इसी दर को आधार माना था। इस दर के परिवर्तन से और अधिक कर लगाने की आवश्यकता पड़ सकती है।

(४) १ शि० ४ पैं० की दर पर भारत के घरेलू मूल्य स्तर के नीचे गिर जाने की सम्भावना थी जिसे ऊपर उठाने के लिए और अधिक मुद्रा प्रसार करना पड़ता।

(५) १ शि० ४ पैंस की दर अवास्तविक मानी गई क्योंकि उसे बनाये रखने के लिए मुद्रा प्रसार करना अनिवार्य था और इसके बिना कार्य नहीं चलता।

परन्तु सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास, जो आयोग के एकमात्र भारतीय सदस्य थे, आयोग की इस सिफारिश से सहमत नहीं थे। उनका कहना था कि १ शि० ६ पैंस की दर कृत्रिम थी और वे १ शि० ४ पैंस की दर के पक्ष में थे।

सरकार ने आयोगों की इस सिफारिश को भी मान लिया और सन् १९२७ के करेंसी अधिनियम द्वारा विनिमय दर का अनुपात १ रु०=१ शि० ६ पैंस स्वर्ण निर्धारित कर दिया गया।

केन्द्रीय बैंक (The Central Bank)—तीसरी मुख्य सिफारिश केन्द्रीय बैंक की स्थापना से सम्बन्धित थी। इस आयोग ने यह सुझाव रखा कि यदि भारत में एक केन्द्रीय बैंक स्थापित कर दिया जाय तो इस देश की मुद्रा सम्बन्धी बहुत सी कठिनाइयाँ दूर हो जायेंगी। आयोग ने इस बात को अनुभव किया कि भारत में मौद्रिक नियन्त्रण की व्यवस्था ठीक नहीं थी क्योंकि चलन पर सरकार नियन्त्रण रखती थी तथा साख पर इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया। इसलिये देश की चलन व साख नीतियों में किसी प्रकार का सामंजस्य नहीं था। अतः आयोग ने सिफारिश की कि भारत में एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना होनी चाहिये जिसका मुख्य कार्य देश की मुद्रा तथा साख पर नियन्त्रण करना हो और जो विदेशी विनिमय दर का भी प्रबन्ध करे। इस केन्द्रीय बैंक का नाम रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया हो।

यह बैंक पाँच करोड़ रुपये की पूँजी से प्रारम्भ किया जाय तथा वह बैंक गैर-सरकारी हो। जनता व संस्थायें इसमें पूँजी लगाकर इसकी हिस्सेदार हों। इसको वह सब कार्य करने होंगे जो एक केन्द्रीय बैंक करता है जैसे नोट छापने का कार्य, बैंकों के बैंक का कार्य आदि।

सरकार ने इस सुझाव को मानकर एक बिल विधान-सभा के सम्मुख रखा जिसका उद्देश्य 'इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट सन् १९२०' में संशोधन करना तथा केन्द्रीय बैंक की स्थापना करना था। परन्तु इस पर बहुत वाद-विवाद उत्पन्न हो गया। कुछ लोग इसको सरकारी बैंक के रूप में देखना चाहते थे। कुछ केन्द्रीय बैंक की स्थापना के पक्ष में ही नहीं थे तथा इम्पीरियल बैंक को ही केन्द्रीय बैंक में परिवर्तित करना चाहते थे। इस वाद-विवाद व विरोध के कारण सरकार ने इस बिल को वापस ले लिया और केन्द्रीय बैंक की स्थापना उस समय न हो सकी।

इस प्रकार से आयोग की सिफारिशें बहुत महत्वपूर्ण थीं परन्तु फिर भी उसकी सिफारिशों पर तीव्र वाद-विवाद प्रारम्भ हो गया। तीनों सुझावों पर प्रारम्भ से ही विवाद प्रारम्भ हो गया। स्वर्ण-धातुमान वास्तविक रूप में परिणित न हो सका तथा केन्द्रीय बैंक की भी स्थापना न हो सकी। विनिमय दर का वाद-विवाद तो भारतीय मुद्रा इतिहास का सबसे तीव्र विवाद था जो अब तक भी समाप्त नहीं हुआ है।

★

Q. 162. Indicate the possible economic consequences of reducing the exchange rate of rupee from 1s6d to 1s4d. Is it desirable to do so at present state? If so, why? (Agra 1947)

Q. 163. Consider very briefly the fundamental grounds on which Sir Purshottamdas Thakurdas advocated the 1s4d ratio in 1926 against the higher one recommended by the majority of the Young Commission. Would you advocate a revision to the lower ratio. (Agra 1948)

सन् १९२५ में श्री हिल्टन यंग की अध्यक्षता में एक आयोग नियुक्त किया गया था जिसमें पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास एक मात्र सदस्य थे। इस आयोग का उद्देश्य 'भारतीय चलन और विनिमय प्रणाली तथा व्यवहार की जाँच करना तथा उस पर अपना मत प्रकट करना था।" आयोग ने सन् १९२६ में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की और उसकी मुख्य सिफारिशों में से एक सिफारिश यह भी थी कि विनिमय दर को १ शि० ६ पैंस पर स्थिर कर दिया जाय। परन्तु इस आयोग के भारतीय सदस्य श्री पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास इस सिफारिश से सहमत नहीं थे और उन्होंने बताया कि यह दर १६ पैंस क्यों होनी चाहिये।

श्री पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने हिल्टन यंग आयोग के द्वारा प्रस्तावित १८ पैंस विनिमय दर का विरोध करते हुए निम्नलिखित तर्कों को प्रस्तुत किया:—

(१) हिलटन यंग आयोग की नियुक्ति तथा श्री पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास की असहमति टिप्पणी।

(२) १८ पैंस विनिमय दर के विरोध में तर्क;

(i) यह दर प्राकृतिक नहीं है,

(ii) इस दर पर मूल्यों का समायोजन नहीं हुआ है;

(iii) इस दर पर मजदूरी का समायोजन नहीं हुआ है;

(iv) उद्योगपतियों को १२½% का लाभ;

(v) निर्यात व्यापार गिर जायगा;

(vi) कृषक को नुकसान होगा;

(vii) मूल्यों के समायोजन में अधिक समय लगेगा।

(१) १८ पेंस की दर प्राकृतिक नहीं थी क्योंकि इस दर को मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन करके प्राप्त किया गया था। सरकार प्रारम्भ से ही विनिमय दर को १८ पेंस की दर पर स्थिर करना चाहती थी। सितम्बर सन् १९२४ में जब विनिमय दर १६ पेंस स्वर्ण के बराबर थी सरकार ने उसको स्थिर करने का प्रयत्न नहीं किया, जबकि उसको ऐसा करना चाहिये था बल्कि उसने मुद्रा संकुचन करके विनिमय दर को १८ पेंस तक बढ़ा दिया।

(२) पहले रुपये का विनिमय मूल्य १८ पेंस स्वर्ण (इस सन् १९२४ में) के बराबर हुआ है भारतीय मूल्यों का समायोजन (Adjustment) नहीं हुआ है। भारत के मूल्य-स्तर में सन् १९२४ के बाद से गिरावट आयी है। परन्तु इस गिरावट के कारण भारतीय रुपये का ऊँचा विनिमय मूल्य नहीं है बल्कि संसार के मूल्य-स्तर में गिरावट है। १८ पेंस की दर पर पूर्ण समायोजन तो भविष्य में होना है और यदि संसार का मूल्य-स्तर और भी गिर जायगा तो भारतीय मूल्यों को गिरने के लिये और भी प्रोत्साहन मिलेगा क्योंकि वर्तमान समायोजन के साथ-साथ और भी समायोजन करना पड़ेगा जिसकी आवश्यकता संसार-मूल्यों के गिरने के कारण हो जायगी। मूल्य की इस भावी गिरावट से भारतीय उत्पादकों को अधिक हानि होगी।

(३) १६ पेंस विनिमय दर के पक्ष में तर्क:

(i) यह दर २० वर्षों से प्रचलित है;

(ii) सन् १९१७ से पहले के समझौतों पर हानि नहीं होगी;

(iii) भारतीय वित्त पर विपरीत प्रभाव नहीं होगा;

(iv) कोषों पर बोझा नहीं होगा,

(v) यह दर युद्ध-पूर्व मूल्य स्तर के बराबर होगी;

(vi) श्रमिकों पर बुरा प्रभाव नहीं होगा।

(३) भारत में १८ पेंस की दर का मजदूरी से समायोजन नहीं हुआ है और यदि १८ पेंस की दर रक्खी गयी तो मजदूरी को इस दर से समायोजित करने के लिये कम करना होगा। मजदूर कम मजदूरी को स्वीकार नहीं करेंगे और मजदूरों व मिल-मालिकों में संघर्ष प्रारम्भ हो जायगा जिसका प्रभाव भारत की अर्थव्यवस्था पर बहुत हानिकारक होगा।

(४) मजदूरी को १८ पेंस की दर से समायोजित करने में बहुत समय लगेगा और यह कार्य कठिन भी बहुत होगा। परन्तु जब तक मजदूरी इस दर से समायोजित नहीं हो जायगी विदेशी उद्योगपतियों को १२½ प्रतिशत का लाभ प्राप्त होता रहेगा। यह लाभ उनको उत्पादन व्यय कम होने के परिणामस्वरूप मिलेगा क्योंकि भारत में मजदूरी अधिक होने पर उत्पादन व्यय अधिक होगा। विदेशी व्यापारियों को इस प्रकार का अप्रत्यक्ष लाभ भारतीय व्यापारी के लिए बहुत हानिकारक होगा क्योंकि उनकी प्रतियोगिता शक्ति (Competitive Power) कम हो

जायगी। परिणामत: भारत ने जो विवेचनात्मक उद्योग संरक्षण (Discriminating Protection) की नीति हाल ही में अपनायी थी वह संप्रभावी नहीं रहेगी और प्रति-स्पर्धा के कारण स्वदेश के उद्योग-धन्धे नष्ट हो जायेंगे।

(५) १८ पैंस की दर हो जाने पर भारतीय निर्यात-व्यापार कम हो जायगा जिससे भारतीय उत्पादकों एवं कृषकों को बहुत हानि होगी और ब्रिटिश उत्पादकों तथा आयातकर्ताओं को लाभ होगा।

(६) १८ पैंस की दर से ऋणी को बहुत नुकसान होगा क्योंकि उनको अधिक द्रव्य देना पड़ेगा। ऋणी वर्ग पर इस प्रकार का अतिरिक्त बोझा डालना न्यायपूर्ण नहीं होगा क्योंकि यह वर्ग पहले से ही काफी बोझ से दबा हुआ है।

(७) मूल्यों के समायोजन में समय बहुत अधिक लगेगा। ब्रिटेन जैसे देश में विनिमय के दस प्रतिशत परिवर्तन को सन्तुलित करने के लिये दो वर्ष का समय लगता है, तो भारत को, जिसका आन्तरिक व्यापार विदेशी व्यापार से अधिक महत्वपूर्ण है, कहीं अधिक समय चाहिये।

सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने इस प्रकार से १८ पैंस की दर का विरोध करके १६ पैंस की दर को स्वीकार करने के लिये अपने तर्क विमति टिप्पणी (Minute of Dissent) में सरकार के सम्मुख रक्खे। उन्होंने निम्नलिखित तर्क १६ पैंस की दर के पक्ष में रक्खे।

(१) १६ पैंस की दर भारत में पिछले २० वर्षों से प्रचलित है जब तक इस दर को अपनाना असम्भव न हो जाय तब तक इसमें कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिये।

(२) इस दर के अपनाने से उन लोगों को कोई हानि नहीं होगी जिन्होंने सन् १९१७ से पहले समझौते (Contracts) किये थे। सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास के अनुसार इस बात को अत्यधिक महत्व देना चाहिए क्योंकि इससे भारत के असंख्य कृषकों को लाभ होगा जिनके हितों को पूर्ण महत्व देना चाहिये।

(३) भारतीय वित्त पर भी इसका कोई विशेष विपरीत प्रभाव नहीं पड़ेगा क्योंकि पौंड पावने (Sterling Balances) के मूल्यों में जो कमी होगी, वह अन्य प्रकार से पूरी हो जायगी। १८ पैंस की दर पर पौंड पावनों से जो लाभ होगा उनका बोझ भारतीय उत्पादक पर पड़ेगा क्योंकि उसको अपनी वस्तुओं के बदले में कम मूल्य मिलेगा।

(४) १६ पैंस की दर पर शोधनाशेष के विपरीत होने पर कोषों पर कोई बोझ नहीं पड़ेगा।

(५) संसार के किसी भी देश ने अपनी मुद्रा का विनिमय मूल्य युद्ध पूर्व स्तर से ऊँचा नहीं रक्खा है और युद्ध पूर्व काल की विनिमय दर को अपना लिया है।

भारत को भी वैसा ही करके युद्ध पूर्व काल की विनिमय दर १६ पैंस को अपना लेना चाहिये।

(६) १६ पैंस के अनुपात से होने वाली वृद्धि का श्रमिकों पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा, क्योंकि बढ़ते हुए मूल्यों के साथ रोजगार भी बढ़ेगा और क्योंकि मजदूरी काफी ऊँची रहेगी अतः मूल्यों में कुछ वृद्धि बुरा प्रभाव न डाल सकेगी।

इस प्रकार सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने बड़ी योग्यता से अपने तर्क १६ पैंस की दर के पक्ष में प्रस्तुत किये। इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि "यदि १ शि० ६ पैंस की दर को स्वीकार कर लिया जाता है तो भारतवर्ष की अर्थव्यवस्था में अगले कुछ वर्षों में इस प्रकार के सकट आयेंगे जिनके परिणाम का अनुमान नहीं लगाया जा सकता, परन्तु उनके परिणाम भयकर हो सकते हैं।"[1]

★

Q. 164. *Discuss briefly the main trends of the Indian currency policy between 1927 and 1939.*

सन् १९२६ में हिल्टन यंग आयोग ने अपनी रिपोर्ट भारत सरकार के सम्मुख प्रस्तुत की। इस आयोग के भारतीय सदस्य श्री पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने कुछ सुझावों के पक्ष में अपना मत नहीं दिया और विमति टिप्पणी लिखी। परन्तु सरकार ने उनके विचारों को महत्व न देकर बहुमत के विचारों को स्वीकार कर लिया और जनवरी सन् १९२७ में 'स्वर्णमान व रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया बिल' प्रस्तुत किया। जिससे आयोग की स्वर्ण धातुमान व केन्द्रीय बैंक के सम्बन्ध में सिफारिशों को व्यवहारिक रूप दिया जा सके। परन्तु प्रवर समिति (Select Committee) में सरकार व विरोधी दल में मतभेद होने के कारण इस बिल को आगे न चलाया जा सका और फरवरी सन् १९२८ में सरकार ने बिल को अन्तिम रूप से छोड़ दिया। अतः आयोग की दो सिफारिशों को प्रयोग में न लाया जा सका। तीसरी सिफारिश को अवश्य सन् १९२७ के करेन्सी एक्ट (Currency Act of 1927) से स्वीकार कर लिया गया। इस एक्ट के अनुसार रुपये की विनिमय दर १८ पैंस नियत कर दी गयी और स्वर्ण के क्रय-विक्रय का कार्य सरकार को सौंप दिया गया। सरकार जनता से २१ रु० ३ आ० १० पा० प्रति तोले की दर पर सोना खरीद सकती थी, परन्तु किसी समय पर सोना ४० तोले से कम नहीं होना चाहिये था। इस दर पर सरकार सोना बेचती थी, परन्तु सोना बेचने समय उसकी मात्रा ४०० औंस से कम नहीं होनी चाहिये थी। देश में सावरेन व अर्द्ध-सावरेन का विमुद्रीकरण (Demonetisation)

---

[1] "If 1s 6d. ratio is accepted India will be faced during the next few years with a disturbance in her economic organisation the mangnitude of whichit is difficult to estmiate but the consequences of which may prove disastrous." Sir Purshottam Das Thakur Das.

कर दिया गया, परन्तु चलन कार्यालयों (Currency Offices) तथा सरकारी खजानों में पूर्ण-भार वाले सावरेन को १३ रु० ५ आ० ४ पा० की दर पर स्वीकार किया जाता रहा।

इस प्रकार सन् १९२७ के करेन्सी एक्ट के अनुसार जो मुद्रामान स्थापित हुआ वह हिल्टन यंग आयोग के द्वारा आलोचित स्वर्ण विनिमय मान के ही समान था, क्योंकि २० सितम्बर सन् १९३१ तक स्टर्लिंग का मूल्य स्वर्ण के बराबर था। नया मान स्वर्ण विनिमय मान से इस बात में भिन्न था कि इसमें सरकार-निश्चित-दर से स्वर्ण तथा स्टर्लिंग के क्रय-विक्रय का संविहित उत्तरदायित्व था।

सन् १९२७ के बाद से व्यापार दशाऐं भारत के पक्ष में थीं और आयात-निर्यात दोनों में वृद्धि हो रही थी। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि भारत के व्यापार में वृद्धि १८ पैंस की दर के कारण थी। यह वृद्धि तो संसार के व्यापार के वृद्धि के कारण थी। यदि विनिमय दर नीची होती तो भारत को शायद और भी अधिक लाभ होता। भारत की विनिमय दर कुछ समय तो भारत के पक्ष में रही, परन्तु समय-समय पर विपक्ष में होती रही। सरकार ने बड़ी संख्या में ट्रेजरी बिल बेच कर, मुद्रा में संकुचन करके तथा इम्पीरियल बैंक को उधार देने की दर में वृद्धि करके विनिमय दर को विपक्ष में होने से रोकने का प्रयत्न किया। सन् १९२९ में विश्वव्यापी मन्दी (World Wide Depression) प्रारम्भ हुई, जिसका सबसे बड़ा प्रभाव कृषक देशों पर पड़ा। भारत पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ा और सन् १९३० में इस मन्दी के प्रभाव भारतीय अर्थव्यवस्था पर भी नजर आने लगे। भारत के निर्यातों पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा और व्यापार शेष भारत के विपरीत होने लगा। इसका प्रभाव यह हुआ कि १८ पैंस की दर को स्थिर रखना कठिन हो गया। सरकार ने ट्रेजरी बिल्स जारी किये और स्टर्लिंग को बेच कर मुद्रा का संकुचन किया। सन् १९३० व सन् १९३१ के दौरान में ५६ लाख ५० हजार का स्टर्लिंग बेचा गया। इस प्रकार के प्रयत्नों के कारण मुद्रा बाजार में मुद्रा की बहुत कमी आ गई, जिसके कारण ब्याज की दरों में अत्यधिक वृद्धि हो गई। इण्डियन चेम्बर ऑफ कामर्स के प्रेसिडेण्ट ने भी वित्त सदस्य को इस सम्बन्ध में लिखा, परन्तु सरकार का पक्ष स्पष्ट था कि वह १८ पैंस स्वर्ण की दर को स्थायी रखना चाहती थी और भारत मन्त्री ने फरवरी सन् १९३१ में हाउस ऑफ कामन्स में स्पष्ट कह दिया था कि सरकार १८ पैंस की दर को स्थिर रखने के लिये प्रत्येक साधन का उपयोग करेगी।

इंगलैंड का स्वर्णमान का त्याग व रुपये का स्टर्लिंग से गठबन्धन (Suspension of the Gold Standard by England and Linking of the Rupee to Sterling)—२१ सितम्बर सन् १९३१ को इंगलैण्ड ने स्वर्णमान का त्याग कर दिया। अब जबकि इंगलैण्ड का स्वर्ण से कोई सम्बन्ध नहीं रहा तो भारत के सामने फिर विनिमय दर को निश्चित करने की समस्या आई, क्योंकि भारतीय रुपये का

स्वर्ण से सम्बन्ध स्टर्लिंग के द्वारा ही था। स्टर्लिंग का सम्बन्ध स्वर्ण से समाप्त हो जाने के कारण स्टर्लिंग के स्वर्ण मूल्य मे कमी आने लगी। भारतवर्ष की सरकार उस समय रुपये का सम्बन्ध १८ पैंस स्टर्लिंग या १८ पैंस स्वर्ण से बराबर कर सकती थी। इसके अतिरिक्त वह रुपये को १८ पैंस स्वर्ण या स्टर्लिंग से कम भी रख सकती थी अथवा रुपये को स्वतन्त्र छोड सकती थी कि वह अपनी प्राकृतिक दर अपने आप ही प्राप्त कर ले।

भारतवर्ष की सरकार ने रुपये का सम्बन्ध स्टर्लिंग से १८ पैंस की दर पर कर दिया। २१ सितम्बर सन् १९३१ मे सन् १९२७ का करेन्सी एक्ट समाप्त कर दिया गया और सरकार पर स्वर्ण या स्टर्लिंग बेचने का बन्धन नही रहा। इस प्रकार रुपये का स्वर्ण व स्टर्लिंग दोनों से सम्बन्ध समाप्त हो गया। सरकार ने तीन दिन तक बैंको को बन्द रहने का आदेश दिया। २४ सितम्बर सन् १९३१ को एक और आदेश जारी किया गया, जिसके अनुसार स्वर्ण व स्टर्लिंग को केवल वास्तविक व्यापारिक आवश्यकताओं तथा उपयुक्त व्यक्तिगत आवश्यकताओ के लिए ही बेचा जा सकता था। इम्पीरियल बैंक के मैनेजिंग गवर्नर को यह अधिकार प्रदान कर दिया कि वह यह देखे कि विदेशी विनिमय को केवल आवश्यकता के लिए ही बेचा जा रहा है।

इस प्रकार सन् १९३१ में स्टर्लिंग-विनिमय-मान (Sterling Exchange Standard) की स्थापना हुई और वाह्य कार्यों के लिए नोटों एवं रुपयो को १८ पैंस की दर पर स्टर्लिंग में बदलने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया। इस मान की काफी आलोचना भारत मे हुई। यह कहा गया कि रुपये का गठबन्धन स्टर्लिंग से कर दिया गया है और स्टर्लिंग के स्वर्ण मूल्य में जो वृद्धि व ह्रास होगा तथा स्टर्लिंग का जो मूल्य-ह्रास (Depreciartion) होगा वही रुपये के भाव मे भी होगा। इसके साथ ही यह भी सम्भव था कि इंगलैण्ड के लिए जो विनिमय का स्वाभाविक स्तर था वह भारत के लिए स्वाभाविक न हो। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया कि स्वर्णमान वाले देशों से होने वाली आयात पहने मे अधिक मंहगी हो जायगी क्योकि सन् १९३० मे स्टर्लिंग के मूल्य में २० प्रतिशत का अवमूल्यन हो गया था।

परन्तु भारत के सम्मुख उस समय यह समस्या थी कि वह कौन सा मुद्रा मान रक्खे। स्वर्णमान को भारत स्वतन्त्र रूप से अपना नही सकता था क्योंकि इगलैण्ड के बाद से ही संसार के अन्य देशों ने स्वर्णमान को त्यागना आरम्भ कर दिया था और सन् १९३६ तक संसार के सब देशो ने स्वर्णमान छोड़ दिया था। भारत स्वतन्त्र मुद्रा मान को अपनाने की स्थिति में भी नही था क्योंकि भारत को प्रत्येक वर्ष बहुत बड़ी रकम स्टर्लिंग के रूप मे इंगलैंड को देनी होती थी और भारत का अधिकांश विदेशी व्यापार स्टर्लिंग मे होता था। स्वतन्त्र मुद्रा मान अपनाने मे इस सम्बन्ध मे विभिन्न प्रकार की कठिनाइयाँ आती थीं। अतः उस समय को

अवस्थाओं को देख कर यह कहा जा सकता है कि बहुत सीमा तक सरकार निर्णय ठीक था।

स्वर्ण-निर्यात (Gold Expotrts)—स्टर्लिंग-विनिमय-मान का एक प्रभाव भारत पर यह पड़ा कि यहाँ से स्वर्ण का निर्यात बहुत बड़ी मात्रा में होने लगा। स्वर्ण से सम्बन्ध समाप्त होने पर स्वर्ण का मूल्य बढ़ने लगा और दिसम्बर सन् १९३१ में यह २१ रुपये प्रति तोले से बढ़ कर ३० रुपये प्रति तोला हो गया। इस ऊँचे भाव पर लोगों ने सोने को बेचना आरम्भ कर दिया। इस समय खाद्यान्नों के भाव गिर रहे थे और किसान अपना सोना बेच रहे थे। परन्तु साथ ही विदेशों में सोने के भावों में वृद्धि हो रही थी और लोग सोने को विदेश में बेच रहे थे। एक अनुमान के अनुसार सन् १९३१–४० के नौ वर्षों के काल में भारत से ३६२·४५ करोड़ रुपये के मूल्य का ४१७·८ लाख औंस सोना दूसरे देशों को भेजा गया।

सरकार को स्वर्ण-निर्यात से बहुत लाभ मिला क्योंकि सन् १९२९ और सन् १९३१ के बीच भारत का विदेशी व्यापार देश के प्रतिकूल था और सरकार को १८ पैंस की विनिमय दर स्थायी रखना कठिन प्रतीत हो रहा था। स्वर्ण-निर्यात से विनिमय दर पर दबाव कम हो गया। साथ ही स्टर्लिंग के बाहर जाने से स्टर्लिंग की पूर्ति में वृद्धि हो गयी और भारत से अपने स्टर्लिंग दायित्वों का भुगतान आसानी से कर दिया। स्वर्ण-निर्यात से स्टर्लिंग रक्षित कोष भी पुष्ट हुए। परन्तु भारतीय जनमत इस स्वर्ण निर्यात के पक्ष में नहीं था। फेडरेशन ऑफ इण्डियन चेम्बरस ऑफ कामर्स एण्ड इंडस्ट्री (Federation of Indian Chambers of Commerce and Industry) ने अपने २६ मार्च सन् १९३२ के एक प्रस्ताव में कहा था कि स्वर्ण निर्यात पर नियन्त्रण लगाना चाहिए। जो व्यक्ति स्वर्ण-निर्यात का विरोध कर रहे थे, उसका कहना यह था कि सरकार उस वस्तु को जिसका मूल्य बढ़ रहा है छोड़ रही है और उसके बदले में मूल्य घटने वाली वस्तु को खरीद रही है। इसके अतिरिक्त यदि भविष्य में स्वर्ण के मूल्यों में वृद्धि हो गयी तो जो स्वर्ण अब कम मूल्य पर बेचा जा रहा है उसको अधिक मूल्य पर खरीदना पड़ेगा। साथ ही स्वर्ण जैसी बहुमूल्य धातु को देश से बाहर भेजना ठीक नहीं क्योंकि संसार में भविष्य में इसको मान का आधार बनाया जा सकता है।

भारत से चाँदी का निर्यात (Export of Silver form India)—सन् १९३१ से सन् १९३९ के मध्य भारत ने स्वर्ण के साथ-साथ चाँदी के निर्यात भी भारी मात्रा में किये। चाँदी को सरकार ने बड़ी मात्रा में बेचा। चाँदी के निर्यात के कई कारण थे। एक कारण तो यह था कि भारत की अपेक्षा विदेशों में चाँदी का मूल्य अधिक था। दूसरे सरकार ने नोटों को चाँदी के बदले बदलना समाप्त कर दिया था और इसलिये रजत कोषों की आवश्यकता नहीं रही थी। इस कारण भारत सरकार ने चाँदी को बेचना प्रारम्भ कर दिया और ३१ मार्च सन् १९३८ तक लगभग ७ करोड़ औंस चाँदी बेची। सन् १९३३ में एक अन्तर्राष्ट्रीय रजत समझौता

(International Silver Agreement) हुआ जिसके अनुसार अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, मैक्सिको व पीरू की सरकारों ने ३·५ करोड़ औंस चांदी प्रतिवर्ष खरीदने का निर्णय किया। इससे चांदी के दाम बढ़ गये और भारत में चांदी के निर्यात को प्रोत्साहन मिला। सन् १९३५ में अमेरिका ने चांदी को बहुत बड़ी मात्रा मे खरीदना प्रारम्भ किया और चांदी के मूल्य बढ़ कर ३६½ पैंस प्रति औंस हो गये। इससे भी चांदी के निर्यात को प्रोत्साहन मिला। परन्तु सन् १९३४ मे चीन ने रजतमान का त्याग कर दिया और अमेरिका ने भी चांदी का खरीदना बन्द कर दिया। इसके मूल्य गिरने लगे, परन्तु भारत से फिर भी चांदी का निर्यात होता रहा। इसका प्रभाव द्वितीय युद्ध काल मे पड़ा जबकि चांदी का आयात किया गया।

रिजर्व बैंक की स्थापना (Establishment of Reserve Bank of India)—इस काल की सबसे महत्वपूर्ण घटना रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना थी। हिल्टन यंग आयोग ने इस बैंक की स्थापना की सिफारिश बहुत जोरदार शब्दों में की थी, परन्तु सरकार व विरोधी दल के मतभेद के कारण यह सन् १९२७ में स्थापित नहीं हो पाया। सन् १९३१ मे केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति (Central Banking Enquiry Committee) ने इसकी स्थापना पर फिर जोर दिया। अन्त सन् १९३४ मे ६ अगस्त को एक एक्ट पास होने से रिजर्व बैंक की स्थापना का दीर्घ स्वप्न समाप्त होता प्रतीत हुआ और १ अप्रैल सन् १९३५ को रिजर्व बैंक की स्थापना हो गई। रिजर्व बैंक की स्थापना से भारतीय चलन प्रणाली में महत्वपूर्ण परिवर्तन व सुधार हुए। साख चलन पर जो सरकार व इम्पीरियल बैंक का युग्म अधिकार (Dual Power) था वह समाप्त हो गया। नोट निर्गमन व साख नियन्त्रण का एकमात्र अधिकार रिजर्व बैंक को दे दिया। पत्र मुद्रा कोष, स्वर्ण कोष तथा बैंकिंग कोष को मिला दिया और इसके प्रबन्ध सचालन की जिम्मेदारी रिजर्व बैंक की हो गई। विनिमय दर को १ शि० ६ पैंस पर स्थायी रखने का दायित्व भी बैंक को दिया गया।

★

Q. 165 Discuss briefly the effects of the last War on Indian currency. (Agra 1960)

Q. 166. Discuss briefly the main trends of the Indian currency policy between 1939 and 1954. (Agra 1956)

सितम्बर सन् १९३९ में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ। उस समय भारत में स्टर्लिंग विनिमय मान था। रुपये का मूल्य स्टर्लिंग के मूल्य पर निर्भर था। विनिमय

दर १८ पैंस स्टर्लिंग थी। रिजर्व बैंक की स्थापना हो चुकी थी और विनिमय दर में बहुत अन्तर थे, उनको बहुत कुछ दूर कर दिया गया था। युद्ध प्रारम्भ होने से पहले भारत के सम्मुख तीन मुख्य प्रश्न थे : उपयुक्त चलन मान का, विनिमय दर को ठीक करने का और स्वर्ण-निर्यातों की उपयुक्तता का प्रथम दो प्रश्न तो बहुत पुराने थे, परन्तु अन्तिम प्रश्न सन् १९३१ से ही प्रारम्भ हुआ था। युद्ध प्रारम्भ होने पर यह प्रश्न पृष्ठभूमि में चले गये और नवीन प्रश्न सरकार के सामने खड़े हुये।

रूपरेखा :

(१) द्वितीय विश्व-युद्ध का प्रार[illegible] तथा इसके प्रभाव।
(२) देश की मुद्रा प्रणाली में लो[illegible] का विश्वास कम हो गया।
(३) रेजगारी की कमी व चाँदी के सिक्कों का विमुद्रीकरण।
(४) मुद्रा व साख की मात्रा में प्रसार।
(५) विनिमय नियन्त्रण का प्रारम्भ।
(६) पौंड पावनों का जमा होना।
(७) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता को स्वीकार करना।
(८) देश का विभाजन।
(९) रुपये का अवमूल्यन।
(१०) रिजर्व बैंक एक्ट में संशोधन।
(११) नियोजन व हीनार्थ प्रबंधन।

युद्ध का तत्कालीन प्रभाव यह हुआ कि लोगों को देश की मुद्रा प्रणाली में विश्वास कम हो गया तथा लोगों ने बैंक व डाकखानों से अपना रुपया निकलवाना प्रारम्भ कर दिया। जब युद्ध समाचार अंग्रेजों के विरुद्ध आने लगे तो लोगों में घबराहट हुई और उन्होंने चांदी के सिक्कों का संग्रह करना प्रारम्भ कर दिया। फ्रांस की हार के बाद तो चाँदी के सिक्कों की मांग और भी अधिक हो गयी। इस सब का बोझ रिजर्व बैंक पर पड़ा। मई सन् १९४० से पहले नोटों को परिवर्तित कराने की मांग १ करोड़ रुपये प्रति सप्ताह थी, परन्तु सन् १९४० तक यह मांग ४·५ करोड़ रुपये प्रति सप्ताह तक पहुँच गयी। जून से अगस्त सन् १९४० तक के महीनों में २२ करोड़ के नोट रिजर्व बैंक के पास वापिस आये। जनता इनके बदले जो चाँदी के सिक्के प्राप्त कर रही थी उनको न केवल संचित करके रख रही थी बल्कि उनको गला भी रही थी। सिक्कों की इतनी अधिक मांग को सरकार पूरा नहीं कर पा रही थी। इस कारण सरकार ने १५ जून सन् १९४० को रुपये के एक नियंत्रित वितरण की एक योजना प्रारम्भ की जिसके अनुसार कोई भी व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत व व्यवसायिक आवश्यकताओं से अधिक सिक्कों का संचय नहीं कर सकता था। इसके परिणामस्वरूप रुपये के सिक्कों की मांग तो कम हो गई परन्तु नोट वट्टे पर बिकने लगे

रुपये की कमी को दूर करने के लिये एक व दो रुपये के नोटों का चलन [illegible]या गया। एक रुपये का नोट असीमित कानूनी ग्राह्य था और इसको सिक्के में

नहीं बदला जा सकता। प्रथम महायुद्ध के बाद चाँदी का मूल्य बढ़ गया था जिसके कारण चाँदी का आन्तरिक मूल्य भी अधिक हो गया था। इसके अतिरिक्त चाँदी की कमी के कारण सरकार अधिक सिक्कों को नहीं ढाल सकती थी। इस अवस्था को दूर करने के लिये सरकार ने एक रुपये व आठ आने के सिक्कों में चाँदी शुद्धता ११/१२ से घटा कर १/२ कर दी। इसी समय रेजगारी की कमी भी बहुत अधिक हो गई तथा डाकखाने के टिकटों व पोस्टकार्डों का प्रयोग इनके बदले में किया गया। सरकार ने इस कमी को पूरा करने के लिये छेद वाला पैसा व गिलट का अधन्ना चालू किया। इकन्नी व दुअन्नी में भी गिलट की मात्रा बढ़ा दी गई। रेजगारी की कमी के कारण सरकार ने रेजगारी का अनावश्यक संचय दंडित घोषित कर दिया तथा लाहौर में छोटे सिक्कों की ढलाई के लिए एक नयी टकसाल खोली। बम्बई व कलकत्ते की टकसालों में भी रेजगारी का टङ्कन प्रारम्भ किया। इस प्रकार रेजगारी की कमी को दूर करने का प्रयत्न किया गया। चाँदी की कमी को दूर करने के लिए पुराने सिक्कों का चलन भी बन्द किया गया। ११ अक्तूबर सन् १९४० को विक्टोरिया के रुपये का विमुद्रीकरण कर दिया गया। बाद में एडवर्ड सप्तम, जार्ज पंचम व षष्ठम के छापे के रुपये व अठन्नियाँ भी बन्द कर दी गयीं। इस प्रकार सिक्कों व रेजगारी की कमी को पूरा करने का सरकार ने भरसक प्रयत्न किया।

युद्ध प्रारम्भ होने का भारत की मुद्रा नीति पर मुख्य प्रभाव यह पड़ा कि यहाँ पर मुद्रा का प्रसार बहुत अधिक हो गया और साख मुद्रा की मात्रा में भी अत्यधिक वृद्धि हो गई। इसका प्रभाव मूल्यों पर पड़ा जो बहुत अधिक बढ़ गये। सितम्बर सन् १९३९ में १९९.६४ करोड़ रुपये के नोट चलन में थे जिनकी मात्रा सितम्बर सन् १९४५ में बढ़ कर ११४७.१४ करोड़ रुपये हो गई। इस प्रकार अनुसूचित (Scheduled) बैंकों की जमा में भी वृद्धि हुई। सितम्बर सन् १९३९ में इन बैंकों की कुल जमा २३२.२३ करोड़ थी और सितम्बर सन् १९४५ में वह ८९७.५८ करोड़ हो गई। इस सब का परिणाम यह हुआ कि जनता में मुद्रा का प्रचलन बहुत बढ़ गया। सितम्बर सन् १९३९ में मुद्रा की कुल पूर्ति ३४१.८६ करोड़ थी जबकि सितम्बर १९४५ में यह १९५१.३२ करोड़ हो गई। इस अत्यधिक मात्रा में मुद्रा प्रसार का परिणाम यह हुआ कि देश के मूल्य स्तर में बहुत अधिक वृद्धि हो गई। सन् १९३९ के आधार वर्ष पर बनाया गया Economic Adviser का सूचक अंक सन् १९४५–४६ में २४५ हो गया। परन्तु इस सूचक अंक से स्थिति का वास्तविक अनुमान नहीं मिलता, क्योंकि यह केवल सरकार द्वारा नियन्त्रित मूल्यों के आधार पर बनाया गया था। यदि अनियन्त्रित वस्तुओं और बाजार के मूल्यों को लिया जाये तो सूचक अंक ४०० से भी अधिक हो जायेगा।

सरकार ने इस मुद्रा स्फीति पर प्रारम्भ में तो कोई ध्यान नहीं दिया परन्तु बाद में इसको रोकने का बहुत प्रयत्न किया। जनता की क्रय-शक्ति को कम करने के लिए नये-नये करों को लगाया तथा पुराने करों में वृद्धि की, लोगों में अधिक ऋण

लेने का प्रयत्न किया और अनिवार्य बचत योजनायें प्रारम्भ की। अनेक वस्तुओं के सट्टे पर प्रतिबन्ध लगाये, मूल्यों पर नियन्त्रण लगाये और उत्पादन को बढ़ाने का प्रयत्न किया। इस प्रकार इस मुद्रा-स्फीति को रोकने का प्रयत्न किया गया परन्तु अधिक सफलता नहीं मिल सकी।

इस युग की तीसरी महत्वपूर्ण प्रवृत्ति विनिमय नियन्त्रण की थी। विदेशी विनिमय दर में स्थिरता लाने के लिए तथा युद्ध को सुचारु रूप से चलाये रखने के लिए इंगलैंड ने विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control) को लागू करने का निश्चय किया। इंगलैंड के समान भारत ने भी सन् १९३९ में Defence of India Ordinance के अनुसार विनिमय नियन्त्रण का अधिकार प्राप्त कर लिया और इसके नियन्त्रण व शासन का कार्य रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को सौंपा गया जिसके लिए विनिमय नियन्त्रण विभाग (Foreign Exchange Department) प्रारम्भ किया गया। सरकार की ओर के विदेशी विनिमय सम्बन्धी कार्य करने के लिये कुछ व्यक्तियों व संस्थाओं को लाइसेंस दे दिये गये। इसी प्रकार से लाइसेंस कुछ विदेशी विनिमय बैंकों को भी दिये गए। विनिमय नियन्त्रण की सामान्य नीति यह थी कि स्टर्लिंग क्षेत्र की मुद्राओं का क्रय-विक्रय स्वतन्त्रता से किया जा सकता था परन्तु स्टर्लिंग क्षेत्र से बाहर की मुद्राओं के क्रय-विक्रय पर बन्धन थे। विनिमय पर नियन्त्रण इस प्रकार से किया जाता था जिससे रुपये व स्टर्लिंग की विनिमय दर १८ पैंस बनी रहे।

भारतीय चलन इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना हमारे पौंड पावना ऋणों का जमा होना भी है। युद्ध के दिनों में भारत ने इंगलैंड को आवश्यक सामान देकर जो सहायता पहुंचाई उसका मूल्य ब्रिटिश सरकार ने तुरन्त नहीं दिया वरन् युद्ध के बाद देने का वायदा किया। यह पौंड पावने (Sterling Balances) के रूप में इंगलैण्ड में जमा होते रहे जिसके बदले में भारत को स्टर्लिंग प्रतिभूतियां मिलती रहीं जिसके आधार पर भारत में नोटों का चलन किया गया। सन् १९४७ में यह पौंड पावने १७०० करोड़ रुपये की कीमत के आंके गये थे।

सन् १९४४ में विभिन्न देशों ने तो स्थायी विनिमय दरों के लिये तथा मौद्रिक वित्तीय मामलों में अधिक निकट सहयोग के लिये अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund) को स्थापित किया गया। भारत भी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का सदस्य बना और इसकी सदस्यता के फलस्वरूप उसे अपनी मुद्रा प्रणाली व रिजर्व बैंक कार्य प्रणाली में भी कुछ अन्तर करना पड़ा। सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन तो यह हुआ कि रुपये का स्टर्लिंग से गठबन्धन टूट गया और भारत ने अपनी मुद्रा का मूल्य स्वर्ण व डालर में निर्धारित किया। ८ अप्रैल सन् १९४७ से रुपये व स्टर्लिंग का वैधानिक गठबन्धन समाप्त हो गया और रुपये का मूल्य स्वतंत्र रूप से ०·२६८६०१ ग्राम शुद्ध स्वर्ण या ३०·२२५ सैन्ट के बराबर हो गया। परन्तु व्यवहार में रुपया तब भी १८ पैंस के बराबर था और सन् १९४९ के अवमूल्यन के बाद भी १८ पैंस के बराबर रहा। अतः व्यवहार में अब भी रुपये का स्टर्लिंग से गठबन्धन है। दूसरा

परिवर्तन भारतीय मुद्रा प्रणाली मे यह हुआ कि पहले रिजर्व बैंक केवल स्टर्लिंग को ही खरीद व बेच सकता था परन्तु कोष की सदस्यता के बाद से इसको किसी भी देश की मुद्रा के क्रय-विक्रय का अधिकार प्राप्त हो गया।

१५ अगस्त सन् १६४७ को भारत का विभाजन हो गया और देश की चलन का १३ और ३ का अनुपात से विभाजन किया गया। विदेशी ऋणों के भुगतान की समस्त जिम्मेदारी भारत ने अपने ऊपर ली और पाकिस्तान ने अपने हिस्से की राशि भारत को किस्तों मे चुकाने का वचन दिया। ३० जून सन् १६४८ तक रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने पाकिस्तान के केन्द्रीय बैंक का भी कार्य किया। इसी समय तक रिजर्व बैंक ने ही पाकिस्तान के लिये नोट चलाये।

युद्धोत्तर काल के बाद की सबसे महत्वपूर्ण घटना रुपये का अवमूल्यन थी। १८ सितम्बर सन् १६४६ को ब्रिटिश सरकार ने अकस्मात् ही स्टर्लिंग का ३०.५ प्रतिशत अवमूल्यन कर दिया जिसके कारण उनका डालर मूल्य ४.०३ डालर प्रति पौंड से घट कर केवल २.८० डालर प्रति पौंड रह गया। राष्ट्रमण्डल के सदस्यों ने भी इस नीति का अनुकरण किया। भारत के सामने भी यह समस्या आई कि वह अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करे या नही और यदि हाँ तो कितना अवमूल्यन करे। भारत के सामने कोई तत्कालिक समस्या ऐसी नही थी जिसकी वजह से उसे उसी समय रुपये का अवमूल्यन करना पड़ता। परन्तु भारत की अवस्था इस प्रकार की थी कि उसको भी अवमूल्यन करना पड़ा। भारत का ७५ प्रतिशत व्यापार उन देशों से था जिन्होंने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया था। रुपये और स्टर्लिंग का सम्बन्ध भी इतना पुराना हो गया था कि उसको एकदम समाप्त कर देना सरल नही था। साथ ही भारतीय रुपये को अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे कोई स्वतंत्र स्थिति प्राप्त नही थी और भारत को अवमूल्यन न करने पर राष्ट्रमण्डल के देशों से प्रतियोगिता करनी पड़ती जिसका परिणाम उसके निर्यात व्यापार पर पड़ सकता था। अतः भारत ने भी ३०.५ प्रतिशत अवमूल्यन कर दिया और उसके रुपये का मूल्य स्वर्ण मे ०.१८६६२ ग्रेन शुद्ध सोना रह गया। अमेरिका से इसकी विनिमय दर २१ सेंट के बराबर हो गयी तथा इगलैंड से १८ पैंस की पुरानी दर बनी रही। पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नही किया जिसके कारण भारत व पाकिस्तान की विनिमय दर १०० रुपये = १४४ पाकिस्तानी रुपये हो गयी। परन्तु ३१ जुलाई सन् १६५५ को पाकिस्तान ने भी ३०.५ प्रतिशत अवमूल्यन अपनी मुद्रा में कर दिया।

भारतीय पत्र-मुद्रा चलन पद्धति में भी कुछ आधारभूत परिवर्तन किये गये है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (संशोधन) अधिनियम सन् १६५६ (The Reserve Bank of India (Amendment) Act 1956) पास करके अनुपातिक निधि पद्धति (Proportional Reserve System) के स्थान पर न्यूनतम निधि पद्धति (Minimum Reserve System) को प्रारम्भ किया गया। इस अधिनियम के पास होने से पूर्व

रिजर्व बैंक को निर्गमित नोटों के कुल मूल्य का ४० प्रतिशत विदेशी प्रतिभूतियों स्वर्णधातु एवं स्वर्ण सिक्कों में रखना आवश्यक था और ६० प्रतिशत चांदी, चांदी के सिक्को व देशी बिलों में रखखा जा सकता था। इस अधिनियम के अनुसार अब नोट निर्गम विभाग में ११५ करोड़ रुपये का स्वर्ण व ४०० करोड़ रुपये की विदेशी प्रतिभूतियाँ रखनी ही अनिवार्य थीं। यह ११५ करोड़ रुपये का सोना करने के लिए रिजर्व बैंक के पास जो सोना २१ रुपये १३ आने १० पाई के हिसाब से रक्खा हुआ था, उसका पुनर्मूल्यांकन ६२·५० रुपये प्रति तोले के हिसाब से किया गया। ४०·०२ करोड़ रुपये का सोना ११५ करोड़ के बराबर हो गया।

अक्टूबर सन् १९५७ में रिजर्व बैंक एक्ट में फिर एक संशोधन किया गया, जिसके अनुसार निर्गम विभाग द्वारा रक्खे जाने वाले स्वर्ण के सिक्के तथा विदेशी प्रतिभूतियों की अनुमानित कीमत कभी भी २०० करोड़ रुपये से कम नहीं होनी चाहिए जिसमें स्वर्ण व स्वर्ण सिक्कों की कीमत ११५ करोड़ से कम नहीं हो। केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमति से इसमें और भी कमी की जा सकती है।

१ अप्रैल सन् १९५७ से भारत में पुरानी मुद्रा प्रणाली को छोड़कर दशमिक मुद्रा प्रणाली (Decimal Coinage) को अपना लिया गया है। अब एक रुपये में १६ आने व ६४ पैसे होने के स्थान पर १०० पैसे होंगे जिन्हें 'नया पैसा' (Naya Paisa) नाम दिया गया। १ अप्रैल सन् १९६० तक नये व पुराने दोनों प्रकार के सिक्के चलाये गये।

स्वतन्त्रता के बाद से तथा पंचवर्षीय योजनाओं के प्रारम्भ होने से हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit Financing) की नीति को भी अपना लिया गया है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में लगभग ४१९ करोड़ रुपये का हीनार्थ प्रबन्ध किया गया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में ९४८ करोड़ रुपये ही हुआ। तृतीय योजना में ५५० करोड़ रुपये के हीनार्थ प्रबन्धक का प्रबन्ध है।

Q. 167. India's admission to the I M F marks the inauguration of a new currency standard for India. Explain and examine the existing Indian currency system. (Agra 1965)

Q. 168. Attempt a lucid note on the present monetary system of India, pointing out its main defects and how best they may be remedied ?

किसी भी देश की अर्थव्यवस्था में मौद्रिक-व्यवस्था का बहुत अधिक महत्त्व होता है क्योंकि एक मौद्रिक व्यवस्था से देश में आर्थिक, सामाजिक, व्यापारिक व्यवसायिक उन्नति के लिये अनुकूल वातावरण कायम हो जाता है और इसके समाप्त होने पर देश में आर्थिक, सामाजिक, व्यवसायिक तथा व्यापारिक पतन भी हो जाता

है। आर्थिक स्थिरता के लिये मौद्रिक व्यवस्था सुव्यवस्थित होनी चाहिये और इसी-लिए प्रत्येक देश की मौद्रिक व्यवस्था पर सरकार का केन्द्रीय बैंक या पूर्ण अधिकार रहता है। किसी भी देश की मौद्रिक व्यवस्था में मुद्रा सम्बन्धी सभी प्रकार के नियम, सभी प्रकार की व्यवस्थायें तथा सभी प्रकार के व्यवहार सम्मिलित किये जा सकते हैं। साधारणतः मौद्रिक व्यवस्था में दो बातों को सम्मिलित किया जाता है। एक तो यह कि देश की आन्तरिक मुद्रा किस वस्तु पर आधारित है तथा दूसरे यह कि मुद्रा का बाह्य मूल्य (External Value) अर्थात् विनिमय दर किस प्रकार से निर्धारित होती है। भारत की मौद्रिक व्यवस्था में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। भारत की वर्तमान मौद्रिक व्यवस्था का वर्णन करने से पहले भारतीय मौद्रिक व्यवस्था के इतिहास पर एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक होगा।

मुगल काल में भारत की मौद्रिक व्यवस्था व्यवस्थित थी। अकबर ने रजत मान (Silver Standard) की स्थापना की थी तथा मुहम्मद तुगलक ने सांकेतिक सिक्कों तथा पत्र मुद्रा का प्रचलन किया था। परन्तु मुगल साम्राज्य के पतन के बाद भारत की मौद्रिक व्यवस्था अव्यवस्थित हो गयी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी (East India Company) ने इसको सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न किया। सन् १८३५ के एक्ट (Act No. xvii) के अनुसार भारत में रजत मान (Silver Standard) की स्थापना की गयी और १८० ग्रेन (११/१२ भाग शुद्ध चाँदी) का रुपया प्रमाणिक सिक्का (Standard Coin) बना दिया गया। परन्तु इस समय भारत में स्वर्ण मान (Gold Standard) की माँग थी। सरकार २०वीं सदी के प्रारम्भ तक स्वर्णमान को स्थापित न कर सकी। सरकार द्वारा नियुक्त की गई विभिन्न आयोगों व समितियों ने भी स्वर्णमान की स्थापना पर जोर दिया। सन् १८९८ में नियुक्त की गई फाउलर कमेटी (Fowler Committee) की सिफारिशों के अनुसार भारतीय सरकार ने स्वर्णमान स्थापित करने का प्रयत्न किया परन्तु सरकार की विभिन्न नीतियों के कारण स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange Standard) स्थापित हो गया। सन् १९२५ में हिल्टन यंग आयोग (Hilton Young Commission) ने भारत की मौद्रिक व्यवस्था का विश्लेषण करके स्वर्ण-धातु-मान (Gold Bullion Standard) की स्थापना की सिफारिश की और विनिमय दर को १ शि० ६ पैंस पर बनाये रखने को कहा। सरकार ने इस आयोग के सुझावों को मानकर स्वर्ण-धातु-मान (Gold Bullion Standard) को स्थापित करने का प्रयत्न किया परन्तु जो मान स्थापित हुआ व स्वर्ण धातु एवं स्टर्लिंग विनिमय मान (Gold Bullion-cum-Sterling Exchange Standard) था। सन् १९३१ में इंगलैंड ने स्वर्णमान का त्याग कर दिया जिसके परिणामस्वरूप भारत के मुद्रा मान (Monetary Standard) में भी परिवर्तन की आवश्यकता महसूस हुई। भारत की सरकार ने १ शि० ६ पैंस की दर पर स्टर्लिंग के असीमित मात्रा के क्रय-विक्रय का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया और इस प्रकार सन् १९३१ में स्टर्लिंग विनिमय मान (Srerling Exchange Stan-

dard) प्रारम्भ हो गया। सन् १९४६ में भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (Inter-national Monetary Fund) की सदस्यता स्वीकार कर ली और १ १९४७ से भारत में स्वर्ण समता मान (Gold Parity Standard) १ गया तथा भारत का सम्बन्ध स्टर्लिंग से टूट गया। आन्तरिक क्षेत्र में पत्र- (Paper Money Standard) है तथा इसका प्रबन्ध भारत की सरकार बैंक ऑफ इण्डिया करता है। इसलिये इसको प्रबन्धित कागजी मान (Ma Currency Standard) भी कहते हैं।

स्वर्ण समता मान (Gold Parity Standard)—२१ सितम्बर सन् १९३ लेकर १ मार्च सन् १९४७ तक बाह्य मौद्रिक व्यवस्था स्टर्लिंग विनिमय मान आधारित थी, क्योंकि रुपये का सम्बन्ध स्टर्लिंग से था और सरकार रिजर्व बैंक की सहायता से स्टर्लिंग को असीमित मात्रा में खरीद बेचकर विनिमय दर १ शि० ६ पें पर स्थिर रखती थी। इस बाह्य मौद्रिक व्यवस्था की बहुत अधिक आलोचना गयी थी, परन्तु फिर भी यह भारत में अधिक समय तक रहा। १ मार्च सन् १९४ से यह मान समाप्त हो गया तथा स्वर्ण समता मान के स्थापित होने से भारतीय रुपये का सम्बन्ध स्वर्ण की निश्चित मात्रा से तथा अमेरिकन डालर से हो गया। भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य बनते समय रुपये को ०·२६८६०१ ग्राम युद्ध स्वर्ण तथा ३०·२२५ सेंट के बराबर परिभाषित किया था जो कि २० सितम्बर सन् १९४८ को घटाकर ०·१८६६२१ ग्राम शुद्ध स्वर्ण व २१ सेंट कर दिया गया। रिजर्व बैंक भी अब स्टर्लिंग के साथ-साथ किसी भी देश की मुद्रा का क्रय-विक्रय कर सकता है। क्रय-विक्रय की दर सरकार के द्वारा समय-समय पर निर्धारित की जायगी।

इस प्रकार से भारतीय रुपया अब एक स्वतन्त्र मुद्रा है और संसार की अन्य मुद्राओं से इसका सीधा सम्बन्ध है। परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं है और अब स्टर्लिंग से इसका बहुत निकट का सम्बन्ध है। भारतवर्ष अब भी स्टर्लिंग क्षे (Sterling Block Area) का सदस्य है और इसका अधिकतर व्यापार स्टर्लिंग क्षे के देशों से ही होता है। रुपये के स्टर्लिंग से गठबन्धन का एक उदाहरण सन् १९४९ का अवमूल्यन दिया जा सकता है। सितम्बर सन् १९४९ में इंगलैंड ने अपनी मुद्रा का अमेरिकन डालर से अवमूल्यन कर दिया था। भारत को उस समय अवमूल्यन की कोई आवश्यकता नहीं थी। परन्तु इंगलैंड के अवमूल्यन के कारण भारत को भी उतना ही अवमूल्यन करना पड़ा जितना इंगलैंड ने किया था। इस कारण अन्त-र्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता के बावजूद भी भारत का स्टर्लिंग से वही पुराना घनिष्ठ व निकट का सम्बन्ध है और भारत व इंगलैंड के बीच पुरानी १ शि० ६ पेंस की दर चली आ रही है।

प्रबन्धित कागजी मान (Managed Currency Standard)—संसार के देशों के समान भारतवर्ष में भी प्रबन्धित कागजी मान है, परन्तु इसके स्वरूप

मे समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है। इस समय भारत में १, २, ५, १०, १००, १०००, ५०००, तथा १०,००० के नोट चलते हैं। ५०० रुपये के तथा इससे ऊपर के नोट १२ जनवरी सन् १९४६ के सरकार आदेश के अनुसार बन्द हो गये थे। परन्तु १ अप्रैल सन् १९५६ से भारत सरकार ने उन नोटों को (केवल ५०० रुपये के नोट को छोड़कर) फिर चालू कर दिया। एक रुपये का नोट भारतीय सरकार के वित्त विभाग (Finance Department of the Government of India) के द्वारा छापा जाता है तथा यह किसी भी धातु मे परिवर्तनशील नही होता। २ रुपये के तथा इससे अधिक के नोट रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के द्वारा छापे जाते हैं तथा इनके बदले मे वह रुपये देने का वायदा करता है। परन्तु रुपया स्वय कागज का है तथा अपरिवर्तनशील (Inconvertible) है। इसलिये व्यवहार मे यह नोट भी अपरिवर्तनशील है।

नोट छापने के लिए रिजर्व बैंक को अपने पास सुरक्षित कोष (Reserve Fund) भी रखना होता है। सन् १९५६ से पहले यह अनुपातिक कोष प्रणाली (Proportional Reserve System) था, जिसके अनुसार कुल निर्गमन का ४० प्रतिशत स्वर्ण, स्वर्ण सिक्को व विदेशी प्रतिभूतियों (Foreign Securities) मे रखना होता था जिसमे स्वर्ण ४० करोड रुपये से कम नही होना चाहिये था। शेष ६० प्रतिशत चाँदी के सिक्को, भारत सरकार की प्रतिभूतियों (Government of India Securities), स्वीकृत विनिमय विपत्रो (Authorized Bills of Exchange) तथा स्वीकृत प्रतीज्ञा पत्रो (Autl oriz d Promissory Notes) मे रखा जा सकता था। परन्तु रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया (सशोधन) एक्ट सन् १९५६ (Reserve Bank of India (Amendment Act 1956) के अनुसार अनुपातिक कोष प्रणाली को बदल कर न्युनतम विधि प्रणाली (Minimun Reserve System) की स्थापना की गयी। इस एक्ट के अनुसार रिजर्व बैंक को अब ४० प्रतिशत स्वर्ण, स्वर्ण सिक्कों व विदेशी प्रतिभूतियों को सुरक्षित कोष मे रखने की आवश्यकता नही रही। अब कम से कम ४०० करोड़ रुपये के मूल्य की विदेशी प्रतिभूतियो व ११५ करोड़ रुपये के बराबर स्वर्ण रख कर ही वह असीमित मात्रा मे नोटों का निर्गमन कर सकता था। आवश्यकता के समय विदेशी प्रतिभूतियो की न्यूनतम राशि ३०० करोड़ रुपये हो सकती थी। सोने की मात्रा ११५ करोड करने के लिए रिजर्व बैंक को और अधिक सोना खरीदने की आवश्यकता नही पडी, बल्कि पहले वाला सोना ही जिसका मूल्यांकन २१ २४ रुपये प्रति तोला किया गया था, अब उसी का मूल्यांकन ६२·५० रुपये प्रति तोले के हिसाब से कर दिया गया और ४० करोड रुपये का सोना ११५ करोड रुपये का हो गया। इस परिवर्तन की आवश्यकता बैंक को अधिक नोट छापने का अधिकार देने के कारण हुई, क्योंकि पचवर्षीय योजनाओं मे सरकार को बहुत अधिक हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit Financing) करना था।

सन् १९५७ में भारत की आन्तरिक मुद्रा व्यवस्था में एक और महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ जब कि रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (संशोधन) आदेश सन् १९५७ (Reserve Bank of India [Amendment] Ordinance 1957) के अनुसार रिजर्व बैंक के पास स्वर्ण, स्वर्ण सिक्कों व विदेशी प्रतिभूतियों की मात्रा किसी भी समय २०० करोड़ रुपये से कम नहीं होगी जिसमें स्वर्ण का मूल्य कम से कम ११५ करोड़ रुपये होगा। इस प्रकार विदेशी प्रतिभूतियों की मात्रा ४०० करोड़ से घटकर ८५ करोड़ कर दी गयी। केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमति से इस मात्रा में और भी कमी की जा सकती है। इसकी आवश्यकता भारतवर्ष में विदेशी विनिमय संकट (Foreign Exchange Crisis) के कारण हुई थी।

पत्र मुद्रा के निर्गम का पूर्ण अधिकार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को है। इस कार्य के लिये रिजर्व बैंक के दो विभाग हैं—निर्गम विभाग (Issue Department) व अधिकोषण विभाग (Banking Department)। निर्गम विभाग नोटों से छापने तथा उनके निर्गम के लिये उत्तरदायी है और अधिकोषण विभाग मुद्रा सम्बन्धी नीति की सफलता के लिये देश के अन्य बैंकों को सहायता प्रदान करता है तथा साख पर नियन्त्रण रखता है।

इस प्रकार भारत की वर्तमान मौद्रिक व्यवस्था में पर्याप्त लोच है। केन्द्रीय बैंक देश की आवश्यकतानुसार मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन कर सकता है। मुद्रा का सम्बन्ध किसी धातु या विदेशी मुद्रा या प्रतिभूति से नहीं है। साथ ही रुपये का विदेशी मूल्य भी अस्थिर है। इसका मुख्य कारण भारत की अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की सदस्यता है। इसका कारण विदेशी विनिमय का कार्य पर्याप्त सरल व सुगम हो गया है। इसके अतिरिक्त मितव्ययता का गुण भी भारत की मौद्रिक व्यवस्था में है।

परन्तु भारत की वर्तमान मौद्रिक व्यवस्था में सरकार व रिजर्व बैंक असीमित मात्रा में नोटों का निर्गम कर सकते हैं जिससे मुद्रा-स्फीति (Inflation) का डर है। वास्तव में भारतीय मौद्रिक व्यवस्था को संगठित ही इस प्रकार से किया गया है कि रिजर्व बैंक सरकार की आवश्यकतानुसार नोटों को अधिक से अधिक मात्रा में छाप कर पूरा कर सके। मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिये सन् १९५६ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को बैंकों पर नियन्त्रण रखने व साख को नियन्त्रित करने के लिए अधिक अधिकार प्रदान किये गये थे। अब रिजर्व बैंक प्रत्येक अनुसूचित बैंक (Scheduled Bank) को यह आदेश दे सकता है कि वह अपनी माँग देय (Demand Liability) का २० प्रतिशत तक तथा समय देय (Time Liability) का ८ प्रतिशत तक उसके पास जमा करे। इससे उनकी साख उत्पन्न करने की शक्ति कम हो जायेगी।

[साख नियन्त्रण के बारे में प्रश्न नम्बर १७७ को देखें]।

★

Q. 169. Attempt a lucid essay on the course of the Indian rupee during the last hundred years. [Agra 1955]

Q. 170. How has the position of the Rupee varied since the passing of control of currency from the hands of the Government to the Reserve Bank of India. [Vikram 1957]

भारतीय रुपये का इतिहास बहुत ही रोचक है तथा दो महत्वपूर्ण प्रवृत्तियाँ इस इतिहास का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाती हैं। एक प्रवृत्ति है, भारतवासियों की यह इच्छा कि रुपये का सम्बन्ध स्वर्ण से स्थापित हो जाये। दूसरी प्रवृत्ति यह कि सरकार रुपये का बाह्य मूल्य (External Value) स्थिर रखना चाहती थी और ऐसा करने में उसने अपने प्रयत्नों में कोई कमी नहीं छोड़ी।

रूपरेखा

(१) प्राचीन भारत में रुपया।
(२) रजतमान (सन् १८३५-१८९८)
(३) स्वर्ण विनिमय मान (सन् १८९८-१९२७)
(४) स्वर्ण पाट मान (सन् १९२७-१९३१)
(५) स्वर्ण विनिमय मान (१९३१-१९४७)
(६) युद्धोत्तर काल (१९३९ के उपरान्त)
 (i) मुद्रा प्रसार व रुपये के मूल्य में गिरावट,
 (ii) रुपये का स्टर्लिंग से सम्बन्ध विच्छेद;
 (iii) रुपये का अवमूल्यन;
 (iv) हीनार्थ प्रबन्धन-व रुपये का मूल्य।

मुगल साम्राज्य में भी रुपया भारत में प्रामाणिक व प्रमुख सिक्का (Standard and Principal Coin) था और राधा कमल मुकर्जी (Radha Kamal Mukerjee) के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार था कि वह चाँदी के बदले में सिक्के ढलवा ले और इस पर सरकार लगभग ५ प्रतिशत का लाभ लिया करती थी। परन्तु मुगल साम्राज्य के पतन के कारण भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रों में रुपया विभिन्न वजन व दर का हो गया। इसको सुव्यवस्थित करने के लिये सन् १८३५ में एक एक्ट के द्वारा १८० ग्रेन (११/१२ भाग शुद्ध रजत) का रुपया सारे भारत में प्रचलित किया गया। रुपये का स्वतन्त्र टंकन (Free Coinage) भी कर दिया गया। स्वर्ण के सिक्के भी चलन में रहे, परन्तु वे असीमित कानूनी ग्राह्य (Unlimited legal tender) नहीं थे। सन् १८६४ में सरकार ने रुपये का सम्बन्ध स्वर्ण से भी कर दिया और रुपये व स्वर्ण की दर १० रुपये प्रति ब्रिटिश सावरन कर दी।

सन् १८७४ से रजत का स्वर्ण मूल्य गिरने लगा और इस कारण रुपये का मूल्य भी कम होने लगा। इसका मुख्य कारण यह था कि आस्ट्रेलिया व कैलीफोर्निया (Australia and California) में चाँदी की खानों के पता लगने तथा जर्मनी,

स्वीडन तथा डेनमार्क के रजत मान छोड़ देने के कारण चाँदी की पूर्ति बढ़ जाने से चाँदी का मूल्य बहुत कम हो गया। स्वर्ण की पूर्ति भी साथ-साथ कम हो गई जिससे उसका मूल्य बढ़ गया। टकसालों के पास चाँदी बहुत अधिक मात्रा में पहुँचने लगी तथा देश में रुपये की मात्रा में वृद्धि होने के कारण मूल्यों में वृद्धि होने लगी। इससे निश्चित आय वालों को तथा सरकार को बहुत अधिक हानि होने लगी और हर्शेल कमेटी (Herschell Committee) सन् १८९३ में नियुक्त की गई, जिसकी सिफारिशों को मानकर सरकार ने रजत की स्वतन्त्र ढलाई बन्द कर दी गई, परन्तु जनता की माँग पर सिक्कों का ढालना जारी रखा। रुपये व सावरन की विनिमय दर भी बढ़ा कर १५ रुपये के बराबर कर दी गई।

सरकार को इन प्रयत्नों से पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई और रुपये की विनिमय दर में जो गिरावट हो गई थी, वह फिर सामान्य स्तर पर आ गई। मूल्य भी सामान्य स्तर पर आ गये तथा सरकार ने फाउलर कमेटी (Fowler Committee) की सन् १८९८ में नियुक्ति की, जिससे रुपये के विदेशी मूल्य में स्थिरता लाई जा सके तथा स्वर्णमान की स्थापना की गई। इस कमेटी ने स्वर्ण चलन मान (Gold Currency Standard) की स्थापना का सुझाव दिया, जिसमें स्वर्ण सावरन प्रामाणिक सिक्का हो, जो १ शि० ४ पैंस की दर पर रुपये में परिवर्तनशील हो। रुपया भी असीमित कानूनी ग्राह्य रहना चाहिए, परन्तु उसका टंकन सीमित मात्रा में हो। स्वर्ण सिक्कों का टंकन असीमित मात्रा में हो।

सरकार ने इस कमेटी की सिफारिशों को मान लिया और सन् १८९९ के एक्ट से उनको व्यवहार में रखने का प्रयत्न किया। सरकार ने स्वर्ण सिक्कों को बड़ी मात्रा में चलन में रखा, परन्तु वे फिर लौटकर सरकारी खजानों में आ गये। बहुत से स्थानों पर तो सावरन इतना अधिक अलोकप्रिय हो गया कि बट्टे पर बिकने लगा। सरकार ने इसका अर्थ यह लगा लिया कि जनता स्वर्ण सिक्कों के चलन के पक्ष में नहीं है। परन्तु सरकार का यह अनुमान गलत था, क्योंकि जिस प्रकार से स्वर्ण सिक्कों को चलन में डालने का प्रयत्न किया गया तथा जिस समय उन को चलन में रखने का प्रयत्न किया गया, वे दोनों ठीक नहीं थे। उस समय अकाल की दशायें थीं तथा जनता को छोटी मात्रा के सिक्कों की आवश्यकता थी। साथ ही सरकार ने जनता पर चारों ओर से स्वर्ण सिक्कों की बौछार सी कर दी, जिसको जनता सहन न कर सकी। इसके अतिरिक्त इस समय दक्षिणी अफ्रीका में स्वर्ण खानों के पता लगने से इसके मूल्य में कमी हो रही थी और लोग सोने को रुपये में बदल रहे थे। इस कारण रुपयों की माँग बहुत बढ़ गई और सरकार को रुपयों को बहुत बड़ी मात्रा में ढालना पड़ा। पत्र चलन कोष (Paper Currency Reserve) को भी इंगलैंड भेज दिया गया। सरकार ने रुपए को आन्तरिक कार्यों के लिये स्वर्ण में बदलना बन्द कर दिया, परन्तु बाह्य कार्यों के लिये रुपयों के बदले में सावरन देना जारी रक्खा। इस प्रकार सरकार के प्रयत्नों के कारण स्वर्ण चलन

मान (Gold Currency Standard) के स्थान पर स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange Standard) की स्थापना हो गई, जिसको बहुत से व्यक्ति स्टर्लिंग विनिमय मान (Sterling Exchange Standard) के नाम से भी पुकारते हैं। इस प्रकार से जो मान स्थापित हुआ उसकी मुख्य बातें निम्न प्रकार थी :—

(१) आन्तरिक मुद्रा रुपया था जो सांकेतिक सिक्का (Token Coin) होते हुए भी असीमित कानूनी ग्राह्य था तथा प्रामाणिक सिक्का था।

(२) बाह्य भुगतान ब्रिटिश सावरन से किया जाता था, जो कानूनी ग्राह्य नही था।

(३) रुपया विनिमय कार्य के लिये १६ पेंस की दर पर स्वर्ण मे परिवर्तनशील था।

(४) रुपये का स्वर्ण मूल्य १ शि० ४$\frac{1}{2}$ पेंस तथा १ शि० ३$\frac{2}{3}\frac{1}{2}$ पेंस के बीच काउंसिल बिल्स व रिवर्स काउंसिल बिलों को बेचकर स्थिर रखा जाता था।

(५) इस व्यवस्था मे ठीक प्रकार से चलाने के लिये सरकार दो कोष रखती थी। एक रुपयो का जो भारत मे स्थिर था और दूसरे स्टर्लिंग का जो लदन मे रक्खा गया था।

इस व्यवस्था मे रुपये की स्थिति बहुत अजीब हो गई थी। रुपया सांकेतिक सिक्का था; क्योकि इसका बाह्य मूल्य आन्तरिक मूल्य से अधिक था। परन्तु वह प्रामाणिक सिक्के के प्रत्येक कार्य को करता था। इसके अतिरिक्त रुपये के सिक्के व नोट मे कोई अन्तर नही था क्योंकि दोनों ही (सिक्के व नोट) द्रव्य के सब कार्यों को पूरा करते थे, परन्तु स्वर्ण मे परिवर्तनशील नही थे। दोनों मे अन्तर केवल इतना था कि एक चाँदी का बना था और दूसरा कागज पर छपा था। इसलिये इसको 'प्रामाणिक-सांकेतिक सिक्का' (Standard Token Coin) कहते थे।

भारतीयो को मुद्रा की यह व्यवस्था पसन्द न थी, यद्यपि सरकार इसको अच्छा मानती रही। सन् १९१३ मे नियुक्त किये गये एक शाही कमीशन ने, जिसको चेम्बरलेन कमीशन (Chamberlain Commission) कहते हैं, इस व्यवस्था का समर्थन किया। परन्तु प्रथम महायुद्ध की अव्यवस्थाओ को यह मान सहन न कर सका। भारतीय निर्यातों की वृद्धि के कारण विनिमय दर में बहुत अधिक वृद्धि हो गई। फरवरी सन् १९२० मे तो यह दर २ शि० १०$\frac{1}{2}$ पेंस तक पहुँच गई। इसके अतिरिक्त चांदी की कीमत बढ़ने के कारण रुपये का आन्तरिक मूल्य बढ़ गया और यह प्रमाणिक सिक्का बन गया। चाँदी की कमी के कारण रुपयो का टंकन भी माँग के अनुसार न हो सका। अतः अनुरक्षित विधि को २० करोड से बढ़ाकर १२० करोड़ कर दिया गया और १ रुपये व २$\frac{1}{2}$ रुपये के नये नोट चलाए गए। सरकार को विवश होकर स्वर्ण विनिमय मान को छोड़ देना पड़ा और विनिमय दर को स्वतन्त्र छोड़ दिया। सन् १९१७ मे सरकार ने स्वर्ण विनिमय मान को त्याग दिया और

इसके बाद विनिमय दर लगातार बढ़ती रही, जो कि सन् १९१७ में १ शि० ४½ से बढ़कर सन् १९२० में २ शि० १०½ पैंस हो गई।

सन् १९१९ में युद्ध समाप्त होने पर पुनः सामान्य काल स्थापित हो गया और सरकार ने रुपये की विनिमय दर को स्थापित करने का प्रयत्न किया। इस उद्देश्य के लिये सन् १९१९ में बेबिंगटन स्मिथ कमेटी (Babington Smith Committee) को नियुक्त किया गया। कमेटी ने सुझाव दिया कि भारत में सावरनों को कानूनी ग्राह्य बना दिया जाय, परन्तु सरकार पर किसी प्रकार का बन्धन इन सावरनों को सांकेतिक सिक्कों में बदलने का नहीं होना चाहिये। विनिमय दर भी २ शि० स्वर्ण पर रखने की सिफारिश की, जो उस समय ३ शि० स्टर्लिंग के बराबर थी।

सरकार ने इस कमेटी के सुझावों को मानकर विनिमय दर को २ शि० स्वर्ण के बराबर कर दिया और इसको इस स्तर पर स्थिर रखने का प्रयत्न किया परन्तु घटना चक्र ऐसा चला कि सरकार ऐसा करने में असफल रही। उस सम स्वर्ण का मूल्य बहुत ऊँचा था तथा सरकारी मूल्यों से अधिक होने के कारण स्व सरकारी खजानों में नहीं आ रहा था। व्यापार शेष भी भारत के विपरीत था औ अधिक मूल्यों के कारण विनिमय दर भी भारत के पक्ष में नहीं थी। भारतीय सरका ने रिवर्स काउंसिल बिल्स को बेचकर इनमें सुधार करने का प्रयत्न किया, पर सफलता न मिल सकी। ऊँची विनिमय दर का लाभ उठाने के लिये पूँजी का प्रवा भारत से इंगलैंड को होने लगा और जिन व्यापारियों ने २ शि० की दर पर वस्तु का आर्डर दिया था उनको बहुत अधिक नुकसान होने लगा। सन् १९२१ के प्रार में विनिमय दर १ शि० ३ पैंस (स्टर्लिंग) तथा १ शिलिंग (स्वर्ण) से भी नीचे गि गई। सन् १९२३ से इसमें कुछ वृद्धि प्रारम्भ हुई और विनिमय दर बढ़कर १ शिलि ४ पैंस (स्टर्लिंग) हो गई। अक्टूबर सन् १९२४ में यह बढ़कर १ शिलिंग ६ पैं (स्टर्लिंग) अथवा १ शिलिंग ४ पैंस (स्वर्ण) हो गई। इस काल में विनिमय दर ऊ को ही चढ़ती रही। तभी सन् १९२५ में इंगलैंड ने स्वर्णमान को ग्रहण कर लि और स्टर्लिंग व स्वर्ण के मूल्यों में समानता स्थापित हो गई और तब से रुपये विनिमय दर १ शिलिंग ६ पैंस के आसपास बनी रही। इस समय भारत सरकार अनुभव किया है कि रुपये की नई स्थिति के निर्धारण की आवश्यकता है। अ भारतीय चलन और विनिमय प्रणाली व व्यवहार की जाँच करने के लिये तथा उ पर अपना मत प्रकट करने के लिये श्री हिल्टन यंग की अध्यक्षता में हिल्टन य आयोग (Hilton Young Commission) की नियुक्ति की गई।

हिल्टन यंग आयोग ने भारतीय मौद्रिक व्यवस्था का विश्लेषण किया और स्वर्ण विनिमय मान को भारत के अनुपयुक्त बताकर स्वर्ण धातु मान की स्थापना का सुझाव दिया। विनिमय दर को १ शिलिंग ६ पैंस पर बनाये रखने की सिफारिश

की। आयोग के भारतीय सदस्य श्री पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने १ शिलिंग ६ पैंस की दर का विरोध किया और १ शिलिंग ४ पैंस की दर को उपयुक्त बताया। आयोग के बहुमतीय सुझाव भारतीय धारासभा ने स्वीकार कर लिए और मार्च सन् १९२७ में करेंसी बिल पास कर दिया जिसने विनिमय दर को १ शिलिंग ६ पैंस नियत कर दिया। साथ ही सरकार पर यह वैधानिक उत्तरदायित्व सौंपा गया कि वह २१ रु० ३ आना १० पा० प्रति तोले की दर से जनता से कम से कम ४० तोले के स्वर्ण पिण्ड खरीदने तथा जनता को कम से कम १०६५ तोले के स्वर्ण पिण्ड बेचने को तैयार रहे। सोना बेचने के बदले में सरकार ऐसा ही कर सकती थी कि विदेशी व्यापार के लिए १ शिलिंग ६ पैंस की दर पर स्टर्लिंग प्रदान करे जो स्वर्ण में परिवर्तित था। सावरन व अर्द्ध-सावरन का भी विमुद्रीकरण (Demonetisation) कर दिया गया। इस प्रकार स्वर्ण-धातु मान की स्थापना का प्रयत्न किया गया परन्तु जो मान स्थापित हुआ वह स्वर्ण विनिमय मान या स्टर्लिंग विनिमय मान ही था जिसका विरोध हिल्टन यंग आयोग ने किया था।

सन् १९२७ के बाद सन् १९२९ तक विनिमय दर में स्थिरता रही परन्तु सन् १९२९ से संसार प्रसिद्ध अवसाद (Depression) प्रारम्भ हो गया जिसका प्रभाव भारतवर्ष पर भी पड़ा और भारत के निर्यात कम होने लगे। व्यापार शेष भारत के प्रतिकूल होने लगा तथा विनिमय दर गिरने लगी। सरकार ने साख का सकुंचन करके विनिमय दर को गिरने से रोका। इससे द्रव्य बाजार में मुद्रा की कमी आ गई और वस्तुओं के मूल्य गिरने लगे। सन् १९३१ में महान अवसाद के कारण इंगलैंड ने स्वर्णमान का त्याग कर दिया और भारत ने भी साथ ही स्वर्ण धातु मान को छोड़ दिया। २२ सितम्बर सन् १९३१ को भारत सरकार ने सन् १९२७ के करेंसी एक्ट के कार्यवाहन को स्थगित कर दिया। इसके तीन दिन बाद २५ सितम्बर सन् १९३१ को रुपये का स्टर्लिंग से सम्बन्ध स्थापित कर दिया। अब भारत में स्टर्लिंग विनिमय मान स्थापित हो गया क्योंकि रुपया स्टर्लिंग में परिवर्तनशील था। रुपये का अब स्वर्ण से कोई सम्बन्ध नहीं रहा और इस कारण भारतीय रुपये का स्वर्ण मूल्य गिरने लगा। इसको रोकने के लिए विनिमय नियन्त्रण का सहारा लिया गया, परन्तु जनवरी सन् १९३२ तक इसको समाप्त कर दिया गया क्योंकि इसकी आवश्यकता नहीं थी। सन् १९३८ तक भारत के रुपये का स्टर्लिंग मूल्य साधारणतया काफी स्थिर रहा। इसी बीच भारत से लगभग ४०० करोड़ रुपये का सोना बाहर भेजा गया। जनता ने इस पर रोक लगाने की माँग की परन्तु सरकार ने स्वतन्त्र नीति का पालन किया। सन् १९३५ में रिजर्व बैंक आफ इंडिया की स्थापना हुई और रुपये को विनिमय दर को १ शिलिंग ६ पैंस की दर पर स्थिर रखने का उत्तरदायित्व बैंक को सौंप दिया गया।

३ सितम्बर सन् १९३९ को द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया और भारत को भी उसमें भाग लेना पड़ा। युद्ध का तात्कालिक प्रभाव यह हुआ कि लोगों ने चाँदी

के सिक्कों (रुपया, अठन्नी, चवन्नी) को जमा (Hoard) करना प्रारम्भ कर दिया। चांदी का मूल्य बढ़ जाने के कारण उनको गलाना भी प्रारम्भ कर दिया गया। इस कारण सिक्कों की मांग बहुत बढ़ गयी, जिसको पूरा करने में सरकार असमर्थ थी। इसीलिये सरकार ने चांदी के सिक्कों में चांदी की मात्रा ११/१२ घटा कर ½ कर दी तथा पुराने सिक्के चलन से निकाल लिये। चांदी के सिक्कों को गलाना तथा अपनी आवश्यकता से अधिक रखना भी गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया।

युद्धकाल में सरकार ने अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये बहुत बड़ी मात्रा में चलन व साख का प्रसार किया। चलन में नोटों की मात्रा अगस्त सन् १९३९ में १७९ करोड़ से बढ़कर जून सन् १९४५ में ११२५ करोड़ हो गयी। इसका प्रभाव मूल्य स्तर व रुपये की क्रय-शक्ति पर पड़ा। सूचक अंक सन् १९३५ में १०० से बढ़कर मार्च सन् १९४८ में २३६·५ तक पहुँच गया। यह सूचक अंक नियन्त्रित मूल्यों के आधार पर बनाया गया था। यदि चोर बाजारी के मूल्यों को लिया जाय तो मूल्य स्तर चौगुना हो गया था। इस प्रकार रुपये की क्रय-शक्ति चौथाई रह गयी। इसको रोकने के लिए कर वृद्धि, मूल्य नियन्त्रण, राशनिग आदि का आश्रय लिया गया।

युद्ध के प्रारम्भ होते ही भारत सरकार ने भी विनिमय नियन्त्रण लगाये जो अब भी लागू हैं। स्टर्लिंग पावने भी भारत में जमा होते गये जिनके आधार पर भारत में सरकार नोट छापती रही। इससे मुद्रा-स्फीति को और भी अधिक प्रोत्साहन मिला।

युद्धकाल में चोर बाजारी अधिक बढ़ जाये के कारण ऊँचे नोटों का विमुद्रीकरण (Demonetization) कर दिया गया। १२ जनवरी सन् १९४६ से पांच सौ, एक हजार व दस हजार के नोटों का विमुद्रीकरण कर दिया गया। परन्तु अब सरकार ने फिर उन नोटों को (५०० रु० के नोट को छोड़ कर) चालू कर दिया है।

सन् १९४६ में भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य बन गया और अन्य देशों के समान उसने भी अपनी मुद्रा को स्वर्ण में परिभाषित किया। १ अप्रैल सन् १९४७ से भारत का रुपया ०·२६८६०१ ग्रेन शुद्ध स्वर्ण अथवा ३०·२२५ अमेरिकन सेंट के बराबर हो गया। इस प्रकार रुपये का स्टर्लिंग से गठबन्धन टूट गया परन्तु व्यवहार में अब भी इसका स्टर्लिंग से निकट सम्बन्ध है और स्टर्लिंग रुपये की दर एक रुपया बराबर १ शिलिंग ६ पैंस है। जब तक कि भारतवर्ष ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल (British Commonwealth) का सदस्य है, यह स्टर्लिंग से अपना सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर सकता।

२० सितम्बर सन् १९४९ को भारत ने इंगलैंड व अन्य राष्ट्रों के साथ अपने रुपये का अमेरिकन डालर से ३०·५ प्रतिशत का अवमूल्यन कर दिया। भारतीय रुपया ३०·२२५ सेंट से घटाकर २१ सेंट के बराबर हो गया तथा स्वर्ण में भी इसका मूल्य ०·२६८६०१ ग्रेन से घटकर ०·१८६६२१ ग्रेन रह गया। इससे भारत के ... का मूल्य विदेशों में गिर गया।

भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में भी रुपया महत्वपूर्ण सहयोग दे रहा है, क्योंकि भारत की सरकार इन योजनाओं को पूरा करने के लिए बड़ी मात्रा में हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit Financing) कर रही है जिसका मतलब है अधिक मात्रा में नोट छापना।

भारत की स्वतन्त्रता के बाद से रुपये के मूल्य में भी बहुत गिरावट आयी है। रिजर्व बैंक के गवर्नर श्री आयगर के एक अनुमान के अनुसार सन् १९४७ से अब तक भारत के रुपये के मूल्य में २९ प्रतिशत की गिरावट आयी है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रो० अग्रवाल के अनुसार सन् १९३९ की तुलना में रुपये का अब केवल १७ प्रतिशत रह गया है।

यह भारत के रुपये की गति पिछले १०० वर्षों में रही है। भारतीय रुपये की गति के इतिहास से दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि स्टर्लिंग से रुपये का अटूट सम्बन्ध रहा है और अब भी इस सम्बन्ध को तोड़ा नहीं जा सकता है। भारत का चलन इतिहास यह बताता है कि सरकार के अधिक प्रयत्न स्टर्लिंग रुपये की दर को बनाये रखने के लिये किये गये हैं। अब भी स्टर्लिंग रुपये की दर को स्थिर रखने का प्रयत्न किया जाता है। सन् १९४९ का अवमूल्यन इसका उदाहरण है। दूसरे, भारतीय रुपये के मूल्य में बहुत अधिक गिरावट आयी है और इसका कारण युद्धकालीन मुद्रा व साख प्रसार व योजनाओं की पूर्ति के लिए किया जा रहा हीनार्थ प्रबन्धन है।

★

Q. 171. Describe the causes of the foreign exchange crisis in India in recent years. What steps have been taken by the Government to meet the situation ? (Agra 1964)

Q. 172. Outline briefly the causes of the foreign exchange crisis in India in recent years. What steps have been taken by the Government to meet it ? To what extent is it desirable to depend upon external help for financing the economic development of India ? (Agra & Vikram 1960)

विदेशी विनिमय संकट (Foreign Exchange Crisis)—देश के आर्थिक विकास के लिए आर्थिक नियोजन (Economic Planning) का सहारा लिया जा रहा है। आर्थिक नियोजन का एक मुख्य उद्देश्य भारत में तेजी से औद्योगीकरण करना है तथा इसके लिए विदेशों से मशीनें आदि मँगाई जाती हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना में तो विदेशी विनिमय की कोई कठिनाई सामने नहीं आई बल्कि भारत के पास विदेशी विनिमय बचा रहा। प्रथम योजना में २९८ करोड़ रुपये की विदेशी सहायता मिली थी जिसमें से केवल २०४ करोड़ रु० का उपयोग हो पाया। रिजर्व

बैंक की विदेशी राशि में से २६० करोड़ रु० लेने की आशा थी परन्तु कुल ११
करोड़ रुपये का ही उपयोग किया गया।

दूसरी योजना में भारी उद्योग तथा यातायात आदि पर अधिक महत्व दिया
गया था और इसलिये इस योजना में अधिक विदेशी विनिमय की आवश्यकता थी क्यों
कि आयात अधिक होते। यह अनुमान लगाया गया था कि दूसरी योजना में
लगभग ११२० करोड़ रुपये की विदेशी विनिमय की आवश्यकता होगी। योजना के
अनुमान के अनुसार देश से प्रतिवर्ष ६०० करोड़ रुपये का निर्यात होना था तथा
आयात पहले से पाँचवें वर्ष तक क्रमशः ८०० करोड़ रुपये; ६०० करोड़ रुपये;
१००० करोड़ रुपये; ६०० करोड़ रुपये तथा ८०० करोड़ रुपये के होते। परन्तु
योजना के प्रथम वर्ष में कुल आयात १०७६ करोड़ रुपये के हुए और निर्यात
६३७ करोड़ रुपये के हुए। अगले वर्ष भी इसी प्रकार की स्थिति रही और भारत
को बहुत अधिक विदेशी विनिमय की आवश्यकता हुई। सन् १६५७-५८ में ह
आयात ११७५ करोड़ रुपये के हुए तथा निर्यात ५६५ करोड़ रुपये के। इस प्रकार
५८० करोड़ रुपये के विदेशी विनिमय की और आवश्यकता आ पड़ी। रिजर्व बैंक
कागजी मुद्रा कोष में विदेशी प्रतिभूतियों की राशि ४०० करोड़ से ८५ करोड़ क
देने, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से २०० मिलियन डालर उधार लेने तथा अधिक विदेशी
सहायता व ऋण के बावजूद भी विदेशी विनिमय की आवश्यकता कम नहीं हुई
अतः भारत में विदेशी विनिमय संकट उत्पन्न हो गया, जिसके मुख्य कारण निम्न-
लिखित थे :—

(१) प्रथम पंचवर्षीय योजना के बाद से भारत में खाद्य उत्पादन बहुत कम हो
गया और खाद्य पदार्थों के मूल्य बढ़ने लगे। इसको रोकने के लिए सरकार को बहुत
से अनाज का आयात करना पड़ा। सन् १६५५-५६ में खाद्य आयात २ लाख टन थे
जो सन् १६५६-५७ में २० लाख टन से अधिक हो गये।

(२) योजना के लिए पूँजीगत वस्तुओं (Capital Goods) को अधिक मात्रा
में मँगाया गया। द्वितीय योजना में २,१५० करोड़ रुपये की पूंजीगत वस्तुओं को
मँगाना था, परन्तु योजना के प्रथम ही वर्ष में ४४२ करोड़ रुपये की पूँजीगत वस्तुएं
मँगाई गईं। इसका मुख्य कारण यह था कि निजी क्षेत्र (Private Sector) में
औद्योगिक क्रिया तेजी से होने लगी थी और उन्होंने अधिक मशीनों आदि को विदेशों
से मँगाया।

(३) स्वेज नहर के बन्द हो जाने से जहाजी कम्पनियों ने अपने किराए
(Freight) में लगभग १५ प्रतिशत वृद्धि कर दी। इससे आयात की लागत में वृद्धि
हो गई और इसका विदेशी विनिमय पर प्रभाव पड़ा।

(४) भारत में मुद्रा-स्फीति के कारण वस्तुओं के मूल्य ऊँचे थे और विदेशों
में उसके निर्यात अधिक नहीं हो सके। इस कारण आयातों के मूल्य में वृद्धि नहीं
हो पाई।

(१०) देश में विदेशी विनियोजन को प्रोत्साहन देने का भरसक प्रयत्न किया जा रहा है।

(११) विदेशी भ्रमण पर नियन्त्रण लगा दिए गये।

इन सब उपायों की सहायता से भारतीय सरकार ने विदेशी विनिमय संकट की तीव्रता को दूर किया और सरकार को पर्याप्त सफलता भी मिली। परन्तु संकट की यह स्थिति पूर्णतया नहीं सुलझी है और अभी कुछ साल तक अवश्य रहेगी क्योंकि देश का विकास करने के लिये विदेशी पूँजीगत वस्तुओं की आवश्यकता रहेगी। कुछ समय बाद भारी उद्योगों की स्थापना से तथा उनमें उत्पादन प्रारम्भ हो जाने से हमारे आयात कम हो जायेंगे तथा निर्यात बढ़ जायेंगे। तब विदेशी विनिमय की अवस्था पूर्णतया सुधर सकेगी। एक अमरीकी विशेषज्ञ के अनुसार अब से १५ वर्ष बाद भारत का रुपया भी अमेरिका के डालर के समान दुर्लभ हो जायगा।

Selected Readings.

1. D. K. Malhotra : History and Problems of Indian Currency.
2. B. R Ambedkar : History of Indian Currency and Banking.
3. Reserve Bank of India : Annual Reports on Currency and Finance.

होने पर इतना विदेशी विनिमय प्राप्त कर सकेगी जिससे आयातों की कि
दिया जा सके।

(३) देश के निर्यात बढ़ाने का प्रयत्न किया गया। इस सम्बन्ध में सन्
के प्रारम्भ में निर्यात प्रोत्साहन समिति (Export Promotion Committe
स्थापना की गयी जिसने अपनी रिपोर्ट अगस्त १९५७ में प्रस्तुत की। इस क
निर्यात करों में कमी, कुछ वस्तुओं के आन्तरिक उपभोग में कमी तथा अन्य दे
Indo-Egyptian Trade Agreement के समान समझौते करने पर जोर
सन् १९५७–५८ में बहुत सी वस्तुओं पर से निर्यात कर कम कर दिया या हटा
गया तथा बहुत सी वस्तुओं के निर्यात कोटे में वृद्धि कर दी। बहुत सी निर्यात प्रो
काउन्सिलस (Export Promotion Councils) की स्थापना की गई। विदेशी व्य
बोर्ड (Foreign Trade Board) तथा निर्यात प्रोत्साहन कार्यालय (Direct
of Export Promotion) की स्थापना सन् १९५७–५८ में की गयी। बोर्ड का
विदेशी व्यापार के कार्यों में सम्बन्ध स्थापित करना था तथा कार्यालय का कार्य नि
प्रोत्साहन काउन्सिलस के कार्यों में सम्बन्ध स्थापित करना था। सितम्बर सन् १
में निर्यात जोखिम बीमा निगम (Export Risks Insurance Corporation)
स्थापित किया गया। रेलवे बोर्ड तथा यातायात मन्त्रालय की सहायता से इस प्र
का प्रबन्ध किया गया है कि निर्यात के लिए जो माल भेजा जाय उस पर कम कि
लिया जाय।

(४) भारत ने नये-नये देशों से व्यापार समझौते किये हैं। इस समय
प्रकार के देशों की संख्या जिनसे व्यापार समझौते हैं, लगभग २६ हैं। पुराने व्याप
समझौतों में भी संशोधन किये गए, जिसके अनुसार भुगतान रुपयों में निबटाया
सकता था।

(५) विदेशों से अधिक सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया
राज्य अमेरिका, रूस, इंगलैंड, जर्मनी, जापान व कोलम्बो
भारत की सहायता की। अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण व विक
अल्पकालीन व दीर्घकालीन ऋण प्रदान किया।

(६) विदेशी व्यापार की सहायता के लिए
Trading Corporation) की स्थापना की गयी।

(७) विदेश से आने वाली वस्तुओं
में देश के बने माल का उपयोग करने का

(८) देश में अधिक अन्न उत्पन्न

(९) अक्टूबर १९५७ को
गया, जिसके अनुसार अब ४००
करोड़ की विदेशी प्रतिभूतियाँ
इसकी मात्रा और भी

(१०) देश में विदेशी विनियोजन को प्रोत्साहन देने का भरसक प्रयत्न किया जा रहा है।

(११) विदेशी भ्रमण पर नियन्त्रण लगा दिए गये।

इन सब उपायों की सहायता से भारतीय सरकार ने विदेशी विनिमय संकट की तीव्रता को दूर किया और सरकार को पर्याप्त सफलता भी मिली। परन्तु संकट की यह स्थिति पूर्णतया नहीं सुलझी है और अभी कुछ साल तक अवश्य रहेगी क्योंकि देश का विकास करने के लिये विदेशी पूँजीगत वस्तुओं की आवश्यकता रहेगी। कुछ समय बाद भारी उद्योगों की स्थापना से तथा उनमें उत्पादन प्रारम्भ हो जाने से हमारे आयात कम हो जायेंगे तथा निर्यात बढ़ जायेंगे। तब विदेशी विनिमय की अवस्था पूर्णतया सुधर सकेगी। एक अमरीकी विशेषज्ञ के अनुसार अब से १५ वर्ष बाद भारत का रुपया भी अमेरिका के डालर के समान दुर्लभ हो जायगा।

Selected Readings.

1. D. K. Malhotra : History and Problems of Indian Currency.
2. B. R Ambedkar . History of Indian Currency and Banking.
3. Reserve Bank of India . Annual Reports on Currency and Finance.

१३

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया

Reserve Bank of India

Q. 173. Attempt a brief money of the recent measures undert-aken by the Reserve Bank of India to regulate the lending activities of commercial banks. **(Jabalpur 1963, Agra 1962)**

Q. 174. Discuss the effectiveness of the following methods of credit control used by the Reserve Bank of India, in the context of conditions existing in India :—

(a) Bank rate policy.

(b) Open market operations.

(c) Selective Credit Control.

(Vikram 1964)

Q. 175. What are the traditional methods of credit control and how they have been modified in India during recent years ? **(Raj 1962)**

Q. 176. What do you consider to be the position of the Reserve Bank of India as a true Central Bank ? **(Agra 1951)**

Q. 177. How far does the Reserve Bank of India functions as a Central Bank ? **(Agra 1950)**

केन्द्रीय बैंक का प्रत्येक देश की अर्थव्यवस्था में केन्द्रीय स्थान होता है और इसी कारण सन् १९२० में ब्रुसेल्स में होने वाली अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-परिषद ने प्रत्येक देश में केन्द्रीय बैंक की स्थापना के लिए प्रस्ताव पास किया था। सन् १९२६ में हिल्टन यंग आयोग ने भी भारत के लिये केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता को महसूस करते हुए अपना सुझाव दिया कि शीघ्र ही भारत में एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जानी चाहिए। परन्तु इन सब सुझावों व प्रयत्नों के बावजूद भी भारत में केन्द्रीय बैंक स्थापित न हो सका। सन् १९३३

रूपरेखा

(१) रिजर्व बैंक की स्थापना।

(२) रिजर्व बैंक के कार्य;

(i) चलन की मात्रा का नियंत्रण;

(ii) साख का नियंत्रण;

(iii) बैंकों का नियंत्रण;

(iv) सरकार का बैंकर;

(v) कृषि को साख सुविधायें,

मे भारतीय वैधानिक सुधार पर श्वेत पत्र (White Paper on Indian Constitutional Reforms) प्रकाशित होने से इस प्रश्न को फिर महत्व मिल गया और अन्त में १ अप्रैल सन् १९३५ को भारत मे एक केन्द्रीय बैंक ने 'रिजर्व बैंक आफ इण्डिया' (Reserve Bank of India) के नाम से कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। प्रारम्भ मे यह बैंक हिस्सेदारो का बैंक था परन्तु १ जनवरी सन् १९४९ को केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया।

(vi) औद्योगिक वित्त प्रदान करना;
(vii) विनिमय दर को स्थिर रखना;
(viii) आंकड़े प्रकाशित करना;
(३) रिजर्व बैंक के वर्जित कार्य।

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया—एक केन्द्रीय बैंक के रूप में (The Reserve Bank of India—as a Central Bank)—रिजर्व बैंक भारतवर्ष का केन्द्रीय बैंक है और केन्द्रीय बैंक के रूप मे यह उन सब कार्यों को करता है जो एक केन्द्रीय बैंक को करने चाहियें। केन्द्रीय बैंक के रूप मे इसका मुख्य कार्य देश में मौद्रिक स्थिरता को प्राप्त करना है और चलन व साख प्रणाली को देश के लाभ के लिये चलाना है। रिजर्व बैंक आफ इण्डिया एक्ट सन् १९३४ की प्रस्तावना (Preamble) मे लिखा है कि, "The main function of the Bank is to regulate the issue of bank notes and the keeping of reserves with a veiw to securing monetary stability in India and generally to operate the currency and credit system of the country to its advantage." इस कार्य को करने के लिये ही बैंक को नोट-निर्गमन का पूर्ण अधिकार है तथा यह बैंको के बैंक व सरकारी बैंको के रूप मे कार्य करता है। रिजर्व बैंक के कार्यों मे अब और भी वृद्धि हो गई क्योंकि आर्थिक नियोजन के कारण इस बैंक का महत्व बहुत अधिक हो गया है जिसके कारण इसका उत्तरदायित्व भी अधिक हो गया है। इस बढे हुए उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिये बैंक को अधिक अधिकार दे दिये गये है। बैंक के विभिन्न कार्यों का वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

देश में मौद्रिक स्थिरता स्थापित रखने के लिये चलन की मात्रा को नियन्त्रित करना (To control the volume of currency to maintain monetary stability in the county)—रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का प्रमुख कार्य देश में आर्थिक व मौद्रिक स्थिरता प्राप्त करना है और इस कार्य की पूर्ति के लिये बैंक को द्रव्य की पूर्ति को नियन्त्रित करने का अधिकार दिया है। इस प्रकार बैंक को नोट निर्गम का पूर्ण एकाधिकार है। इस अधिकार के बिना कोई भी बैंक द्रव्य की मात्रा को नियन्त्रित नही कर सकता। इससे बैंक न केवल जनता के पास द्रव्य की मात्रा को ही नियन्त्रित कर सकता है बल्कि बैंक साख को भी नियन्त्रित कर सकता है। परन्तु यहाँ पर एक बात महत्वपूर्ण है कि द्रव्य की मात्रा पर नियन्त्रण व्यवहार में

पूर्णतया बैंक के अधिकार में नहीं है। सरकार के बजट सम्बन्धी कार्यों का बहुत अधिक प्रभाव भी द्रव्य की मात्रा पर पड़ता है जिस पर बैंक का कोई नियन्त्रण नहीं है हालाँकी उस सम्बन्ध में बैंक को सलाह देने का अवसर सदा दिया जाता है।

नोट निर्गमन के कार्य के लिये बैंक का एक अलग विभाग है जिसे 'निर्गमन विभाग' (Issue Department) कहते हैं। नोट निर्गमन की व्यवस्था में पिछले तीन वर्षों में बहुत परिवर्तन हो गया है। अक्टूबर सन् १९५६ से पहले बैंक नोटों का ४० प्रतिशत भाग स्वर्ण सिक्कों, स्वर्ण-धातु तथा विदेशी प्रतिभूतियों में रखना पड़ता था जिसमें सोना कभी भी ४० करोड़ से कम का नहीं होना चाहिये था। इसके बाद से नोट-निगम के विरुद्ध कम से कम ११५ करोड़ रुपये के स्वर्ण कोष तथा ४०० करोड़ रुपये को विदेशी प्रतिभूतियाँ ही रखने पड़ते थे। अक्टूबर सन् १९५७ में संशोधन करके विदेशी प्रतिभूतियों की सीमा ४०० करोड़ से घटाकर ८५ करोड़ कर दी गई है।

पिछले वर्षों में रिजर्व बैंक ने चलन की मात्रा में काफी वृद्धि की है। सन् १९५१-५२ में निर्गमित नोट १२१८ करोड़ रुपए थे जो कि सन् १९५७-५८ में बढ़कर १५५३ करोड़ हो गए। इसी दौरान में विदेशी प्रतिभूतियाँ ६२९ करोड़ से घटकर २०४ करोड़ रह गई तथा रुपये की प्रतिभूतियां (Rupee Securities) ४४८ करोड़ से बढ़कर ९७५ करोड़ हो गई।

मौद्रिक स्थिरता व देश हित के लिए साख को नियन्त्रित करना (To Regulate the volume of credit to the advantage of the country and to maintain monetary stability)—आजकल के युग में साख का महत्व देश की अर्थव्यवस्था में बहुत अधिक है। यद्यपि भारत में साख का अनुपात द्रव्य की कुल पूर्ति में बहुत कम है (२/३ भाग चलन का है) परन्तु फिर भी आर्थिक विकास के लिए साख का नियन्त्रण बहुत आवश्यक है। साख के नियन्त्रण के लिए रिजर्व बैंक को केवल वह ही अधिकार प्राप्त नहीं हैं जो एक साधारण केन्द्रीय बैंक को होते हैं वल्कि इस प्रकार के विशेष अधिकार भी प्राप्त हैं जिससे वह प्रत्यक्ष रूप से व्यापारिक बैंकों के कार्यों को नियन्त्रित कर सकता है। साख नियंत्रण के लिए बैंक के पास निम्नलिखित साधन हैं :—

बैंक दर में परिवर्तन (Variation in the Bank Rate)—बैंक दर केन्द्रीय बैंक के पास साख नियन्त्रण की महत्वपूर्ण नीति है। परन्तु आधुनिक काल में इसका महत्व कम होता जा रहा है। भारतवर्ष में बिल बाजार के विकसित न होने के कारण इसका अधिक महत्व नहीं रहा है और आज भी यह बहुत संप्रभाविक नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि भारत में मुद्रा बाजार व्यवस्थित नहीं है और विभिन्न स्थानों पर विभिन्न प्रकार की दरें पायी जाती हैं। इस कठिनाई के होते हुए भी

रिजर्व बैंक ने समय-समय पर बैंक दर में परिवर्तन करके साख को नियंत्रित करने का प्रयत्न किया है। सन् १९५१ तक बैंक दर ३ प्रतिशत थी। युद्धोत्तर काल में साख-संकुचन के लिए सब देशों में बैंक दर में वृद्धि की गई थी और इस कारण रिजर्व बैंक ने भी अपनी बैंक दर १५ नवम्बर सन् १९५१ को 3% से 3½% कर दी थी। मार्च सन् १९५७ में इसको बढ़ाकर 4% कर दिया गया। इस बैंक दर में वृद्धि होने से अन्य दरों में भी वृद्धि हुई है। सन् १९५१ के बाद से बैंक-दर द्वारा मुद्रा एवं साख नियन्त्रण की नीति अधिक सफल रही है।

खुले बाजार की क्रियायें (Open Market Operations)—अन्य केन्द्रीय बैंकों के समान रिजर्व बैंक को भी खुले बाजार की क्रियायें करने का अधिकार दिया गया है तथा इस अधिकार का उपयोग इस बैंक ने विस्तृत रूप से किया है। बैंक इस क्रिया का उपयोग केवल बैंकों की आवश्यकताओं व साख की सामान्य दशा के अनुसार ही नहीं करता बल्कि सरकार की साख-आवश्यकताओं का भी प्रभाव इसकी इस क्रिया पर पड़ता है। क्योंकि सरकार का बैंक होने के नाते प्रतिभूति बाजार के लिए अनुकूल दशायें उत्पन्न करना भी इसका कार्य है। युद्ध के बाद बैंक मुख्यतः प्रतिभूतियों के क्रय के पक्ष में था और यह नीति सन् १९५०-५१ तक चलती रही परन्तु सन् १९५१ के मध्य में बैंक ने इस नीति को पाँच वर्ष के लिए त्याग दिया और प्रतिभूतियों को बेचना प्रारम्भ किया। इन पाँच वर्षों में बैंक ने ५० करोड़ की प्रतिभूतियों का विक्रय किया जबकि सन् १९४८-५१ के दौरान में २०० करोड़ रुपये की प्रतिभूतियों को क्रय किया था। नवम्बर सन् १९५१ में बैंक ने द्रव्य बाजार की द्रव्य आवश्यकता को दूर करने के लिये प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों बाजार को (Gilt-edged market) विवेचनात्मक सहायता (Discriminating support) देनी प्रारम्भ की। सन् १९५७ के मध्य से बैंक ने पुनः प्रतिभूतियों के विक्रय पर अधिक ध्यान देना प्रारम्भ कर दिया है।

बैंक की अनिवार्य जमा में परिवर्तन (Variable Reserve Requirements)—बैंकों की साख निर्माण शक्ति को नियन्त्रित करने के लिए रिजर्व बैंक एक्ट की ४२ (I) धारा के अनुसार प्रत्येक अनुसूचित बैंक (Scheduled Bank) को अपनी माँग देय (Demand Liabilities) का ५ प्रतिशत तथा समय देय (Time Liabilities) का २ प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास जमा करना पड़ता है। सन् १९५६ के संशोधन एक्ट में रिजर्व बैंक को यह अधिकार दे दिया गया है कि यह बैंक की अनिवार्य जमा में ५ प्रतिशत से २० प्रतिशत तथा २ प्रतिशत से ८ प्रतिशत तक का परिवर्तन कर सकता है। रिजर्व बैंक ने इस अधिकार का प्रयोग अभी तक नहीं किया है परन्तु समय-समय पर बैंकों की जमा इस वैधानिक सीमा से अधिक ही रहती है।

गुणात्मक व प्रत्यक्ष साख नियन्त्रण (Qualitative or Selective and Direct Credit Regulation)—उपरोक्त तीन साधन तो साख नियन्त्रण के सामान्य

सकता है जैसे लाइसेंस न दे, लाइसेंस समाप्त कर दे या कोर्ट को प्रार्थना करे कि उस बैंक को दिवालिया घोषित कर दे।

रिजर्व बैंक ने इस कार्य को करने के लिये एक अलग विभाग निरीक्षण विभाग (Inspection Department) की स्थापना कर दी है।

बैंकिग में शिक्षा (Training of Banking)—बैंकिग के विकास के लिये केवल नियंत्रण व सलाह की ही आवश्यकता नहीं है बल्कि बैंकिग शिक्षा की आवश्यकता भी बहुत अधिक है। इसी आवश्यकता की पूर्ति रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया भी करता है। सन् १९५४ में इसने बैंकिंग ट्रेनिंग कालिज की स्थापना की जहां पर विभिन्न बैंकों के अधिकारियों को बैंकिंग की शिक्षा प्रदान की जाती है।

अन्तिम ऋणदाता (Lender of the Last Resort)—रिजर्व बैंक की स्थिति भारतीय बैंकिंग पद्धति में अन्तिम ऋणदाता की है। प्रत्येक बैंक के कोषों का कुछ भाग इसके पास जमा रहता है और रिजर्व बैंक इसका उपयोग बैंकों की सहायता के लिये करता है। पिछले वर्षों में रिजर्व बैंकों ने जो रुपया देश के बैंकों को दिया है उस से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह बैंक अपने इस कार्य को किस प्रकार से कर रहा है। बैंक दर पर दिए गये ऋणों की राशि सन् १९५० में १३ करोड़ रुपये थी जो सन् १९५१ में बढ़कर ७७ करोड़ हो गयी।

समाशोधन गृह के कार्य (Clearing House Function)—बैंकिंग शासन के अतिरिक्त रिजर्व बैंक समाशोधन गृह का कार्य भी बैंकों की सुविधा के लिये करता है। एक्ट की धारा ४२ के अनुसार समाशोधन गृह के सदस्य आपसी भुगतान रिजर्व बैंक के नाम चैक लिख कर सकते हैं। धारा ५८ (२) (F) के अनुसार रिजर्व बैंक समाशोधन गृह के नियन्त्रण के लिये नियम भी बना सकता है। परन्तु बैंक ने ऐसा अभी तक नहीं किया है। जिन स्थानों पर रिजर्व बैंक की शाखाएं हैं, वहां पर

प्रबन्ध करता है तथा सरकारी धन को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजता है। यह बैंक स्वयं भी सरकार को ऋण दे सकता है। परन्तु यह ऋण या तो माँग पर शोधनीय (Payment on Demand) होते हैं या मार्गोपाय अग्रिम (Ways and Means Advances) के रूप में होते हैं जो एक निश्चित अवधि के भीतर अधिक से अधिक ६० दिन शोधनीय होते हैं।

अपनी स्थिति के कारण तथा द्रव्य बाजार व बैंकों से निकट का सम्बन्ध होने के कारण यह सरकार को सलाह देने का कार्य भी करता है। सरकार इससे विभिन्न प्रश्नों पर सलाह लेती है जैसे—नये ऋणों को चालू करते समय; कोषों को विनियोजित करते समय; कृषि साख सहकारिता व औद्योगिक वित्त के सम्बन्ध में, बैंक व साख के सम्बन्ध में कानून बनाते समय तथा आयोजन विकास के वित्त सम्बन्धी पहलू के बारे में।

कृषि क्षेत्र को प्राप्त साख सुविधाओं का विस्तार करना तथा उनका समायोजन करना (To Expand and Co-ordinate the credit facilities, available to the Agriculture Credit)—भारत एक कृषि प्रधान देश है और भारत का विकास कृषि के विकास पर ही निर्भर करता है। इसलिए केन्द्रीय बैंक ने कृषि साख को नियन्त्रित, विस्तृत व समायोजित करने का भी कार्य किया है। इस कार्य को ठीक प्रकार से करने के लिये रिजर्व बैंक का एक अलग विभाग 'कृषि-साख विभाग' (Agriculture Credit Department) है। कृषि साख का समुचित अध्ययन करने के लिये उसने सरकार से कृषि बैंकिंग जाँच कमेटी की नियुक्ति की सिफारिश की थी। इसके अतिरिक्त बैंक ने एक अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण (All India Rural Credit Survey) का भी आयोजन किया था।

रिजर्व बैंक कृषि के लिए ऋण बहुत ही सस्ती दर पर देता है। सहकारी बैंक को यह केवल २% की ही दर पर ऋण दे देता है। यह ऋण अल्पकालीन व मध्यकालीन ही है। यह रियायत केवल उस ऋण के लिए है जो मौसमी कृषि कार्यों के लिए या फसलों के बेचने के लिए लिया जाता है। दीर्घकालीन ऋण के लिये रिजर्व बैंक को यह अधिकार है कि भूमि बंधक बैंकों के २०% डिबेंचर्स को खरीद ले। इसके अतिरिक्त कृषि साख के विकास के लिये राष्ट्रीय कृषि स्थायित्व कोष (National Agriculture Stabilization Fund) तथा राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन कार्य-वाहन) कोष National Agriculture Credit (Long Term Operations Fund) की भी स्थापना रिजर्व बैंक के अन्तर्गत हुई है। सहकारी अधिकारियों के शिक्षण के लिये भी रिजर्व बैंक ने प्रबन्ध किया है।

औद्योगिक वित्त की आवश्यकताओं को पूरा करना (To help in the financing of the Industrial Finance)—भारतवर्ष में औद्योगीकरण की अत्यधिक आवश्यकता है। परन्तु घरेलू पूँजी इतनी अधिक नहीं है कि इस आवश्यकता को

पूरा कर सके। इसलिए रिजर्व बैंक ने औद्योगिक प्रदान करने वाली विशेप संस्था की स्थापना में सक्रिय सहयोग दिया है। इस प्रकार की संस्थाएँ यह हैं:—भारत औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation of India) व रा के वित्त निगम (State Finance Corporations)। रिजर्व बैंक ने इन निगमों को कुछ पूँजी प्रदान की है, उधार लेने की सुविधाएँ प्रदान की हैं और उनके संग व कार्य में भी बहुत अधिक सहायता प्रदान कर दी है। Refinance Corporati के भी पाँच करोड़ के हिस्से रिजर्व बैंक ने खरीदे हैं। भारतीय केन्द्रीय बैंक का एक विशेष कार्य है।

विनिमय दर के स्थायित्व को बनाये रखना (To maintain the stabili of rate of exchange)—रिजर्व बैंक एक्ट के अनुसार रिजर्व बैंक का यह वैधानि कार्य है कि वह रुपये की बाह्य कीमत को एक निश्चित बिन्दु पर बनाये रक्खे। इ कार्य को करने के लिये रिजर्व बैंक देश के अधिकाँश विदेशी विनिमय कोषों रखता है। रुपये के बाह्य मूल्य को स्थिर रखने के लिये बैंक निश्चित दरों पर विदे विनिमय के क्रय-विक्रय का कार्य करता है।

विनिमय दरों के स्थायित्व के अतिरिक्त विनिमय नियन्त्रण का संचालन संगठन भी रिजर्व बैंक के द्वारा किया जाता है। इस कार्य के लिए बैंक का एक अल विभाग-विनिमय नियंत्रण विभाग (Exchange Control Department) है जिस स्थापना सितम्बर सन् १९३९ में हुई थी।

आर्थिक सूचनायें व आंकड़े एकत्रित करना व प्रकाशित करना (Collectic and Publication of Economic and Statistical Informations)—मौद्रि नीति के व्यवस्थापन व संचालन के लिए ठीक-ठीक आर्थिक सूचनाओं व आंकड़ों क आवश्यकता बहुत अधिक है। रिजर्व बैंक इस कार्य के महत्व को समझता है और उसक अन्वेषक व समंक विभाग (The Department of Research and Statistics प्रारम्भ से ही इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है। इस विभाग का का मुख्यतः मुद्रा, साख, कृषि, उत्पादन लाभांश, व्याज की दरें, मुद्रा बाजार आदि विभिन्न विषयों सम्बन्धी अन्वेषण एवं अनुसंधान करना तथा इन विषयों से सम्बन्धि आँकड़ों को प्रकाशित करना है। रिजर्व बैंक का यह विभाग मुद्रा व अर्थ सम्बन्धी एक वार्षिक रिपोर्ट, एक मासिक पत्र तथा अन्य अधिकृत रिपोर्ट्‌स (Official Reports) जैसे चलन व वित्त पर रिपोर्ट (Report on Currency and Finance), भारत में बैंकिंग के विकास व क्रम पर रिपोर्ट (Report on the Trend and Progress of Banking in India), बैंक की कार्यवाही पर केन्द्रीय बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स की रिपोर्ट (The Report of the Central Board of Directors on the operations of the Bank) व बैंकों से सम्बन्धित समंक तालिकायें (The Statistical Tables relating to Banks in India) आदि का प्रकाशन करता है।

अत: इन परिवर्तनों को ध्यान मे रखते हुए हमको यह देखना है कि युद्ध के परान्त बैंक की साख व मुद्रा की क्या नीति रही है क्योंकि इन सबने बैंकों की नीति ने बहुत अधिक प्रभावित किया है।

अवमूल्यन व रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति (Devaluation and the Monetary Policy of the Reserve Bank of India)—राष्ट्रीयकरण के कुछ समय बाद ही भारत ने अपने रुपये का ३०.५ प्रतिशत अवमूल्यन कर दिया। अवमूल्यन के कारण निर्यात् बढ़ने लगे तथा सट्टे की क्रियाओं को प्रोत्साहन मिलने लगा। इसको रोकने के लिए रिजर्व बैंकों ने बैंकों को यह आदेश दिया कि एक लाख या इससे अधिक के ऋण के दैनिक कार्यक्रम (Statement) रिजर्व बैंक को भेजे जायें। रिजर्व बैंक ने बैंकों के ऋण देने की नीति पर भी कड़ी दृष्टि रखी जिससे साख ठीक कार्य के लिये ही प्रदान की जाय। जूट के मूल्य को बढ़ने से रोकने के लिये रिजर्व बैंक ने जूट के आधार पर ऋण देने के सम्बन्ध मे अधिक प्रतिबन्ध लगाने को कहा। परन्तु जून १९५० मे कोरिया युद्ध प्रारम्भ हो गया जिसके कारण देश मे मुद्रा की मांग बढ़ गई। बैंकों ने अपनी सरकारी प्रतिभूतियों (Government Securities) को बेचना प्रारम्भ कर दिया। रिजर्व बैंक ने प्रतिभूतियों को सहायता देने के लिए इनको खरीदना प्रारम्भ कर दिया जिस कारण देश मे मुद्रा की मात्रा मे १०४ करोड़ रुपये की वृद्धि हो गई।

बैंक दर में परिवर्तन (Change in the Bank Rate)—कोरिया युद्ध के कारण मुद्रा-स्फीति को प्रोत्साहन मिला था तथा सरकार के द्वारा अपनाई जाने वाली विकास योजनाओं के कारण इसको रोकना कठिन हो गया। इस कारण रिजर्व बैंक ने मौद्रिक नीति मे परिवर्तन के द्वारा क्रय-शक्ति की मात्रा में वृद्धि को रोकने का प्रयत्न किया गया। बैंक ऑफ इगलैण्ड के साथ-साथ नवम्बर १९५१ में रिजर्व बैंक ने भी अपनी बैंक दर ३.५ प्रतिशत कर दी। साथ ही साथ प्रतिभूतियों के क्रय की नीति मे भी परिवर्तन किया। अब यह बैंक तेजी के मौसम (Busy Season) में प्रतिभूतियों को खरीदता नहीं था बल्कि उनके आधार पर केवल ऋण देता था। अत: बैंक ने सस्ती द्रव्य नीति को, जिसको वह बहुत समय से अपना रहा था, समाप्त कर दिया।

बिल मार्केट योजना सन् १९५२ (Bill Market Scheme 1952)—खुले बाजार की नीति मे परिवर्तन के साथ-साथ रिजर्व बैंक ने जनवरी सन् १९५२ से एक 'बिल मार्केट योजना' प्रारम्भ की जिसके अनुसार बैंकों को बिलो के आधार पर ऋण दिया जा सकता है। बैंक ने इस योजना मे समय-समय पर संशोधन किया है और भारत में बिल बाजार को विकसित करने का प्रयत्न किया है। यह बैंक की मौद्रिक नीति का स्थायी feature बन गया है।

इस मौद्रिक नीति के परिणाम (Effects of this Monetary Policy)—इस मौद्रिक नीति के फलस्वरूप मुद्रा-स्फीति की शक्तियों की तीव्रता कम हुई।

कार्यों से इस प्रकार के आधार का निर्माण हो रहा है जिस पर देश की उपयुक्त विशाल बैंकिंग प्रणाली का विकास हो सके ।

Q. 178. Evaluate the working of the Reserve Bank of India since 1949. (Agra 195[illegible])

Q. 179. Discuss briefly the main post-war trends of currency and credit policy pursued by the Reserve Bank of india. (Agra 195[illegible])

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया भारत का केन्द्रीय बैंक है और इस कारण भारत की अर्थव्यवस्था पर इसका बहुत अधिक प्रभाव है । देश मूल्य, में साख व द्रव्य की मात्रा, विकास कार्यक्रम, कृषि व औद्योगिक उत्पादन पर इसकी मुद्रा व साख नीति का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है । समय-समय पर आवश्यकतानुसार इस केन्द्रीय बैंक की मुद्रा व साख नीति में परिवर्तन होता रहा है । यहाँ पर हमको यही देखना है कि द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् इस बैंक की उपरोक्त नीति की क्या प्रमुख बातें रही हैं ।

रूपरेखा

(१) रिजर्व बैंक का देश की अर्थ-व्यवस्था में स्थान ।
(२) युद्ध के प्रभाव ।
(३) अवमूल्यन व बैंक की नीति ।
(४) बैंक दर में परिवर्तन ।
(५) बिल मार्केट योजना ।
(६) कृषि वित्त व बैंक ।
(७) औद्योगिक वित्त व बैंक ।
(८) आयोजना व बैंक ।
(९) बैंक की दुर्लभ मुद्रा नीति ।

रिजर्व बैंक की स्थापना युद्ध प्रारम्भ होने के कुछ ही वर्ष पूर्व अप्रैल सन् १९३५ में हुई थी । युद्ध प्रारम्भ हो जाने के कारण बैंक स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी नीति का पालन न कर सका तथा इसकी साख व मुद्रा नीति पर युद्ध का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा । युद्ध के बाद भारत की अर्थव्यवस्था में कुछ मूलभूत परिवर्तन हो गये जिनका प्रभाव रिजर्व बैंक पर भी पड़े विना न रह सका । सर्वप्रथम तो युद्ध में अत्यधिक मुद्रा-स्फीति हुई थी जो युद्ध के बाद भी समाप्त नहीं हुई । इस कारण बैंक के सारे प्रयत्न इस मुद्रा-स्फीति की तीव्रता को कम करने व इसको बढ़ने से रोकने के प्रति थे । दूसरे, भारत की स्वतन्त्रता का भी प्रभाव बैंक की साख व मुद्रा नीति पर पड़ा क्योंकि आर्थिक कार्यों के प्रति सरकार का दृष्टिकोण अबन्धवाद (Laissez-faire) से बदलकर सक्रिय योगदान (Active participation) का हो गया। तीसरे भारत के विभाजन का भी प्रभाव रिजर्व बैंक की नीतियों पर पड़ा । चौथे १ जनवरी सन् १९४९ से रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण होने से इस पर सरकार का प्रतिबन्ध अधिक हो गया और इस कारण सरकार की आर्थिक नीति का पूर्ण प्रभाव बैंक की मुद्रा व साख नीति पर पड़ा । इसके अतिरिक्त बैंकिंग कम्पनीज एक्ट १९४९ के अनुसार इसको साख नियन्त्रण के सम्बन्ध में शक्तिशाली अधिकार भी प्राप्त हो गये ।

एक ओर तो योजना के लिये साधनो का प्रवन्ध करना था तथा दूसरी ओर मुद्रा-स्फीति के बढते हुये दवाव को भी रोकना था। रिजर्व बैंक को प्रसारवादी नीति के साथ-साथ नियन्त्रणवादी नीति को अपनाना था।

हीनार्थ प्रबन्धन के अन्तर्गत बैंक अधिक नोट छाप सके इसलिए सन् १६५६ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट मे संशोधन किया गया जिसके अनुसार रिजर्व बैंक ११५ करोड रुपये का स्वर्ण व ४०० करोड़ रुपये को विदेशी प्रतिभूतिया रख कर असीमित मात्रा में नोट छाप सकता है। सन् १६५७ मे, विदेशी विनिमय संकट के कारण, एक और सशोधन इस एक्ट मे किया गया जिसके अनुसार विदेशी प्रतिभूतियों की सीमा ४०० करोड से घटा कर ८५ करोड़ कर दी गई।

मुद्रा-स्फीति की प्रवृत्ति को रोकने के लिए बैंक ने गुणात्मक साख-नियन्त्रण (Selective Credit Control) की नीति को भी अपनाया। मई १६५६ में बैंक ने व्यापारिक बैंको को आदेश दिया कि वे धान व चावल के आधार पर ऋण को कम दें तथा इस प्रकार की जमानत पर सीमा अधिक रक्खें। सितम्बर १६५६ मे इस आदेश को अन्य खाद्य पदार्थों व दालो आदि पर भी लागू कर दिया। बैंक की इस नीति को बहुत सफलता मिली है। जैसा कि Shri G D. Birla ने कहा था, "The selective monetary control instituted by the Bank has succeeded in keeping at by the inflationary pressures which this country had to face during 1957."

इसके साथ ही बैंक ने सन् १६५७ मे बैंक दर मे पुनः वृद्धि कर दी और अब बैंक दर ३½ प्रतिशत से बढ कर ४% हो गई। परन्तु इसका साख के विस्तार पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नही पडा और जून १६५७ मे बैंक साख की मात्रा १४० करोड हो गई। इस कारण बैंक ने नैतिक प्रभाव व प्रत्यक्ष कार्यवाही की नीति को भी अपनाया। रिजर्व बैंक ने बैंको को कहा कि यदि वे रिजर्व बैंक की नीति के अनुसार नही चलेंगे तो वह उनको सहायता देना बन्द कर देगा। बैंको को समय-समय पर आदेश भी दिये गये जिनका पालन किया गया।

द्वितीय योजना मे १२००–१३०० करोड़ के हीनार्थ प्रबन्धन के कारण मूल्यों में बहुत अधिक वृद्धि हो गयी तथा सट्टे के कार्यों को भी प्रोत्साहन मिला। इन दोनों को रोकने के लिए ११ मार्च १६६० को रिजर्व बैंक ने साख नियन्त्रण के दो नये उपायो की घोषणा की। पहला उपाय तो यह है कि ११ मार्च १६५० के बाद अनुसूचित बैंको के समय व मांग जमा मे जो भी वृद्धि होगी उसका २५% रिजर्व बैंक मे जमा करना होगा। इस पर बैंक सूद देगा। दूसरे, शेयरो के आधार पर (Preferencial Shares को छोड़ कर) जो भी बैंक ५,००० रुपये से अधिक उधार देगा, उस पर ५०% सीमा रक्खी जायेगी। इसके साथ ही रिजर्व बैंक ने बैंको को बदला व्यापार (Badla transactions) में भी भाग लेने से मना कर दिया।

रिजर्व बैंक ने दुर्लभ मुद्रा नीति (Dearer money policy) को और भी आगे बढ़ाया और १ अक्टूबर सन् १९६० से नई नीति की घोषणा की। इस नीति के अनुसार रिजर्व बैंक ने प्रत्येक बैंक का ऋण लेने का कोटा निर्धारित कर दिया जो कि उन कोषों का ५० प्रतिशत था जो बैंकों को रिजर्व बैंक के पास वैधानिक रूप से रखने होते थे। इस कोटे की मात्रा तक जो ऋण लिया जाता था उस पर केवल बैंक दर के बराबर ही सूद लिया जायगा। इस कोटे से अधिक के ऋण लेने पर बैंक दर से अधिक सूद देना होगा। सूद की दर इस प्रकार होगी :—

ऋण	सूद की दर
(i) कोटे से १०० प्रतिशत अधिक परन्तु २०० प्रतिशत से अधिक नहीं।	सूद की दर बैंक दर से १ प्रतिशत अधिक।
(ii) कोटे से २०० प्रतिशत अधिक	सूद की दर बैंक दर से २ प्रतिशत अधिक।

इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने यह भी आदेश बैंकों को दिया कि १ अक्टूबर सन् १९६० से नये व पुराने ऋणों पर तथा सुरक्षित व असुरक्षित ऋणों पर ५ प्रतिशत की दर ली जाय। अन्य बैंकों को दिये गये तथा सहकारी बैंकों को दिये गये ऋणों पर यह आदेश लागू नहीं होगा। इसके साथ ही रिजर्व बैंक ने यह भी कहा कि बैंक्स अपने सूद के दर के ढांचे (Structure of the interest rates) में इस प्रकार से परिवर्तन करें कि सूद की दरों में कम से कम ½ प्रतिशत की वृद्धि हो जाये। बैंकों को यह भी कहा गया कि वे १ अक्टूबर सन् १९६० से जमाओं पर बैंक दर से २ प्रतिशत कम से अधिक व्याज न दें।

इस नीति की घोषणा के साथ ही रिजर्व बैंक ने उस नियन्त्रण को समाप्त कर दिया जिसके अनुसार बैंकों को अपनी जमा का २५ प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास जमा कराना पड़ता था। इसको १० नवम्बर सन् १९६० से समाप्त किया गया। इस घोषणा का मुद्रा बाजार में स्वागत किया गया क्योंकि उस समय व्यस्त मौसम (Busy season) के कारण साख की माँग अधिक थी।

इस प्रकार रिजर्व बैंक को मौद्रिक नीति देश की आर्थिक अवस्था के अनुसार बनाने में काफी सफलता मिली है। देश की बदलती हुई अर्थव्यवस्था के अनुसार बैंक ने भी अपनी मौद्रिक नीति में परिवर्तन किया है।

★

Q. 180. Write an essay on the post-war difficulties faced by the Reserve Bank of India.

भारतवर्ष का केन्द्रीय बैंक रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया है जिसकी स्थापना १ अप्रैल सन् १९३५ को The Reserve Bank of India Act, 1934 के अनुसार

हुई। यह बैंक ठीक प्रकार से स्थापित भी नहीं हो पाया था कि सन् १६३६ में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया और बैंक का ध्यान मुख्यतः युद्ध के वित्तीय प्रबन्ध (War Financing) की ही ओर लगा रहा। युद्ध के बाद बैंक के सामने बहुत सी समस्यायें आ गईं जिनको सुलझाने का कार्य बैंक को करना पड़ा। यह समस्यायें निम्नलिखित थीं :—

रूपरेखा—

(१) *रिजर्व बैंक की स्थापना।*

(२) द्वितीय युद्ध के उपरान्त बैंक की समस्यायें :

(i) मुद्रा प्रसार का दबाव;

(ii) *विभाजन की समस्यायें;*

(iii) बैंकिंग समस्यायें,

(iv) द्रव्य की कमी;

(v) *अवमूल्यन के कारण उत्पन्न समस्यायें।*

(१) मुद्रा प्रसार का दबाव (The Inflationary Pressure)–द्वितीय महा-*युद्ध के दौरान में बहुत अधिक मुद्रा* प्रसार हुआ था। यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि चलन की मात्रा सन् १६३६ में १८२·१३ करोड़ थी जो सन् १६४५ में ११५६·८५ करोड़ हो गयी। सूचक अंक भी सन् १६४५ में २५० हो गया था और यदि वास्तविक मूल्य के आधार पर सूचक अंक बनाया जाता तो यह ४०० होता। चलन में यह वृद्धि युद्ध के समाप्त होने के बाद भी नहीं रुकी और मुद्रा की मात्रा में सन् १६४८ के मध्य तक प्रसार होता गया। इसके परिणामस्वरूप अगस्त सन् १६४६ के बाद से प्रतिभूतियों के मूल्यों में बहुत अधिक गिरावट होने लगी। इनके मूल्य की गिरावट को रोकने के लिए रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को प्रयत्न करने पड़े। इसने खुले बाजार की क्रियाओं द्वारा प्रतिभूतियों के मूल्यों को रोके रखा जिसका उद्देश्य सरकारी प्रतिभूतियों के बाजार में व्यवस्था रखना था। इन क्रियाओं के परिणामस्वरूप बैंकों के साधनों में वृद्धि हो गयी और वे बढ़ी हुई साख माँग को पूरा करने में सफल हो गये। अनुसूचित बैंकों द्वारा दिये गए अग्रिम व डिसकाउन्ट्स सन् १६४६–५० में ४५६ करोड़ हो गए जो कि सन् १६४८–४६ में ४४१ करोड़ थे। अधिक माँग के समय तो इनकी मात्रा बढ़कर ५३५ करोड़ हो गई थी।

(२) विभाजन की समस्यायें (Partition Problems)—१५ अगस्त सन् १६४७ को भारत स्वतन्त्र हो गया और साथ ही दो भागों में विभाजित हो गया। देश के इस विभाजन के कारण रिजर्व बैंक पर कुछ विशेष उत्तरदायित्व आ गये। पाकिस्तान में कोई केन्द्रीय बैंक नहीं था और जब तक स्टेट बैंक ऑफ पाकिस्तान स्थापित न हो जाय (जुलाई सन् १६४८ तक) इसको भारत व पाकिस्तान दोनों के मुद्रा अधिकारी के रूप में कार्य करना था। इसलिए बैंक को तब तक दो देशों की केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों के हिसाब रखने थे। रिजर्व बैंक की सम्पत्ति व देन-*दारियों का भी विभाजन करना था और यह विभाजन,* सन् १६४७ के Pakistan Monetary System and Reserve Bank Order के अनुसार होना था जिसमें

सन् १६४८ में संशोधन किया गया। जब स्टेट बैंक ऑफ पाकिस्तान स्थापित हुआ तो १५३ करोड़ रुपये की सम्पत्ति स्टर्लिंग, स्वर्ण व भारतीय सरकार की प्रतिभूतियों के रूप में इसको हस्तान्तरित की गई। इसके अतिरिक्त पाकिस्तान ने भारतीय नोटों को भी रिजर्व बैंक को वापिस किया जिसके लिए उसे मार्च सन् १६४६ के अन्त तक ८२ करोड़ रुपये की सम्पत्ति और हस्तान्तरिक करनी पड़ी। रिजर्व बैंक ने यह सब सामंजस्य इस प्रकार किया कि देश की चलन व साख व्यवस्था में किसी प्रकार की अव्यवस्था नहीं हुई।

(३) **बैंकिंग समस्यायें** (Banking Difficulties)—विभाजन के फलस्वरूप बैंकिंग समस्यायें देश में उत्पन्न हो गईं जिनका सामना भी रिजर्व बैंक को करना पड़ा। इन समस्याओं के उत्पन्न होने का मुख्य कारण यह था कि भारत के जिन बैंकों की शाखायें पाकिस्तान में थीं उनके हिसाब भारत में हस्तान्तरित किये गये। इसके अतिरिक्त सन् १६४८ में बंगाल में बैंकिंग संकट भी उत्पन्न हो गया। रिजर्व बैंक ने इन समस्याओं को सन्तोषजनक रूप से सुलझाया।

(४) **द्रव्य की कमी** (Scarcity of Money)—सन् १६४८ में तथा इसके उपरान्त भारतीय मुद्रा बाजार में द्रव्य की कमी उत्पन्न हो गई। इसके साथ ही भुगतान सन्तुलन (Balance of payments) भी भारत के विपरीत होने लगा। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के एक लेखे के अनुसार भारत की विदेशी विनिमय सम्पत्ति में दिसम्बर सन् १६४८ के अन्त से अगस्त सन् १६४६ के अन्त तक २१६ करोड़ की कमी हो गयी। इस दौरान में उत्पादन तो नहीं बढ़ा परन्तु आयात नियन्त्रण में कमी होने के कारण द्रव्य की पूर्ति की ओर से दबाव बढ़ रहा था। द्रव्य की कमी होने के अन्य भी बहुत से कारण थे। उद्योगपतियों ने बहुत सी पूँजी कच्चे माल में लगा रक्खी थी क्योंकि वे आगे चलकर वस्तुओं की कमी की स्थिति का अनुमान लगा रहे थे। सरकार ने कर एकत्र करने का कार्य भी तेजी से कर लिया था। तथा यातायात के साधनों की कमी के कारण बन्दरगाहों तथा मिलों से सामान बाजारों में नहीं जा रहा था। इसके अतिरिक्त आय कर अधिकारियों के डर से बैंकों से भी लोग अपने जमा निकलवा रहे थे।

द्रव्य की इस कमी को दूर करने के लिये रिजर्व बैंक ने खुले बाजार की क्रियायें प्रारम्भ कीं तथा बैंकों से सरकारी प्रतिभूतियाँ खरीदने लगा। इसके साथ ही बैंक ने अनुसूचित बैंकों व प्रान्तीय सहकारी बैंकों की स्वीकृत प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण भी दिया जिसकी मात्रा १४ जनवरी सन् १६४६ को २३ करोड़ रुपये थी।[2]

---

2. Indian Banker's Annual, *1950 page 57.*

(५) अवमूल्यन के कारण उत्पन्न परिस्थितियाँ (Conditions Created due of Devaluation)—इसका वर्णन 'अवमूल्यन' वाले परिच्छेद में किया गया है।

★

Q. 181. Explain briefly the reasons which led the Reserve Bank of India to raise its bank rate to 3½ percent. Analyse the economic implications of such a step. (Agra 1953)

केन्द्रीय बैंक देश की बैंकिंग व्यवस्था में उच्चतम संस्था होती है और इसका एक मुख्य व महत्वपूर्ण कार्य साख का नियन्त्रण करना होता है। साख का नियन्त्रण करने के लिए केन्द्रीय बैंक के पास विभिन्न साधन होते हैं जिनमें से सबसे पुराना साधन बैंक दर में परिवर्तन करना है। बैंक दर वह दर है जिस पर देश का केन्द्रीय बैंक स्वीकृत बिलों के आधार पर ऋण देता है अथवा जिस पर केन्द्रीय बैंक अपने सदस्य बैंकों के प्रथम श्रेणी के बिलों को भुनाता है। "The Reserve Bank of India Act के Section 49 के अनुसार, "The Bank Rate is the standard rate at which it (the Bank) is prepared to buy or rediscount bills of exchange or other commercial paper eligible for purchase under this Act."[1]

रूपरेखा :
(१) बैंक दर का अर्थ व इसका प्रयोग।
(२) भारत में बैंक दर का प्रयोग।
(३) बैंक दर में वृद्धि के कारण :
 (i) अग्रिमों में वृद्धि;
 (ii) निक्षेपों में कमी,
 (iii) मूल्यों में वृद्धि।
(४) बैंक दर में वृद्धि के प्रभाव :
 (i) साख का मंहगा होना;
 (ii) सरकारी प्रतिभूतियों के मूल्यों में गिरावट;
 (iii) बैंकों पर नियन्त्रण।
(५) हानिकारक प्रभाव।

बैंक दर का साख नियन्त्रण के साधन के रूप में सबसे पहला प्रयोग इंगलैण्ड में सन् १८४५ में किया गया। सन् १६१४ तक इसका महत्व साख नियन्त्रण के साधन के रूप में सबसे अधिक रहा क्योंकि स्वर्णमान के अन्तर्गत बैंक दर ही साख नियन्त्रण का एक मुख्य साधन था। बैंक दर में परिवर्तन का प्रभाव बाजार दरों पर व स्थानीय दरों पर पड़ता था। स्वर्ण-निर्यात को रोकने के लिये बैंक दर को

1. The Reserve Bank of India—Functions & Working. page 37.

बढ़ा दिया जाता था और स्वर्ण-आयात को रोकने के लिए इसे घटा दिया जाता था।

भारत में बैंक दर का साख नियन्त्रण के लिये प्रयोग (Use of the Bank Rate in India to Control Credit)—भारत में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने बैंक दर का प्रयोग नवम्बर सन् १९५१ तक साख नियन्त्रण के साधन के रूप में नहीं किया। इसका कारण शायद यह था कि बैंक की आर्थिक स्थिति कमजोर थी और 'भारतीय मुद्रा बाजार' असंगठित होने के कारण इसका लाभदायक उपयोग भी नहीं हो सकता था। १५ नवम्बर सन् १९५१ को रिजर्व बैंक ने नई मुद्रा नीति का प्रारम्भ किया और बैंक दर को ३ प्रतिशत से बढ़ाकर ३½ प्रतिशत कर दिया।

बैंक दर की यह वृद्धि केवल भारत में ही नहीं हुई थी बल्कि युद्धोत्तर काल में सभी देशों में बैंक दर के परिवर्तनों की एक सामान्य लहर सी आई थी। इंगलैंड ने अपनी बैंक दर, जो २० वर्षों से २ प्रतिशत थी २½ प्रतिशत कर दी। किन्तु रिजर्व बैंक ने भारत में बैंक दर इंगलैंड का अनुसरण करते हुये नहीं बढ़ाई थी, वरन् जैसा कि उसने तब ही स्पष्ट कर दिया था, उसने इस नीति का निश्चय अगस्त सन् १९५१ में ही कर लिया था किन्तु नीति के परिवर्तन को व्यस्त मौसम के प्रारम्भ होते ही लागू कर देने का विचार था।

बैंक दर को संप्रभाविक (Effective) बनाने के लिए रिजर्व बैंक द्वारा 'व्यापार बैंकों' को वित्तीय सहायता देने की नीति में भी भारी परिवर्तन किया गया। पहले यह रीति अपनायी जाती थी कि रिजर्व बैंक बाजार भाव पर अनुसूचित बैंकों तथा सहकारी बैंकों से ऋण-पत्र आदि खरीद लिया करता था, जिससे इन बैंकों को सरलतापूर्वक तथा सस्ते सूद की दर पर ऋण मिल जाता था। इसके अतिरिक्त बैंक सरकारी ऋण-पत्रों तथा अन्य स्वीकृत बिलों को भुनाकर भी ऋण प्राप्त कर लेते थे, परन्तु इससे लिये जाने वाले ऋण की मात्रा कम ही रहती थी। बैंक दर को बढ़ाते ही रिजर्व बैंक ने यह घोषणा की कि वह बैंकों की सामायिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऋण-पत्र नहीं खरीदेगा, बल्कि सरकारी तथा अन्य स्वीकृत ऋण पत्रों पर बैंक दर के अनुसार ऋण देगा।

रिजर्व बैंक द्वारा बैंक दर में वृद्धि के कारण (Causes which led the Reserve Bank of India to raise its Bank Rate)—बैंक दर में वृद्धि करने का मुख्य उद्देश्य भारत में बढ़ती हुई मुद्रा-स्फीति को रोकना था। मुख्यतः जिन परिस्थितियों ने रिजर्व बैंक को बैंक दर में वृद्धि करने की ओर प्रेरित किया वे अग्रलिखित थीं:—

(१) **अग्रिमों में वृद्धि (Increase in Advances)**—सन् १९५० में कोरिया का युद्ध प्रारम्भ हो गया था जिसके कारण मूल्य स्तर बढ़ गया था और बैंकों द्वारा दिये गये अग्रिमों एवं कटौतियों की कुल मात्रा में अधिक वृद्धि हो गयी थी जिससे

मूल्य स्तर और भी अधिक बढ़ने लगा था। अग्रिमों तथा कटौतियों की कुल मात्रा मई सन् १९५१ में ५८६ करोड़ रुपये हो गयी। अकेले सन् १९५०–५१ में लगभग १८० करोड़ रुपये की वृद्धि हो गयी। इसके बाद ही सुस्त मौसम में भी इन अग्रिमों तथा कटौतियों की मात्रा में कोई विशेष कमी नहीं हुई। अक्टूबर सन् १९५१ तक कुल ८६ करोड़ रुपये की कमी इन ऋणों में आ पायी थी। इससे सट्टे में विनियोजन को अधिक प्रोत्साहन मिल रहा था और मूल्यों में और वृद्धि हो रही थी। रिजर्व बैंक इस प्रवृत्ति को रोकना चाहता था।

(२) निक्षेपों में कमी (Decline in the Deposits)—इस प्रकार एक ओर तो ऋणों की मात्रा में वृद्धि हो रही थी दूसरी ओर अनुसूचित बैंकों के कुल निक्षेपों की मात्रा में कमी आ रही थी। अप्रैल सन् १९५१ में इन बैंकों के कुल निक्षेपों की मात्रा ९१० करोड़ रुपये थी जो अक्टूबर सन् १९५१ में घटकर ८८६ करोड़ रुपये हो गयी। बैंकों के निक्षेपों में कमी का मुख्य कारण भारत के भुगतान सन्तुलन (Balance of Payments) की बढ़ती हुई विषमता थी, जिसके फलस्वरूप भारतीय व्यापारियों ने बैंक निक्षेपों में से भुगतान किये। इस प्रकार निक्षेपों से अग्रिमों का अनुपात अक्टूबर सन् १९५० में ४७ प्रतिशत से बढ़कर अक्टूबर सन् १९५१ में ५७ प्रतिशत हो गया।

(३) मूल्यों में वृद्धि (Rise in Prices)—जिस समय रिजर्व बैंक आॅफ इण्डिया ने बैंक दर में वृद्धि की, भारतवर्ष में मुद्रा-स्फीति की दशा थी। इसका पता भारत में मूल्यों के सूचक अंकों से लग सकता है। जून सन् १९५० में सूचक अंक ३९६ था जो अप्रैल सन् १९५१ में बढ़कर ४६२ हो गया। इसका मुख्य कारण जून सन् १९५० में प्रारम्भ कोरिया का युद्ध था जिसके कारण अमेरिका ने शस्त्रीकरण की गति को अधिक कर दिया और व्यापारियों ने वस्तुओं को जमा करना प्रारम्भ कर दिया।

इन सब परिस्थितियों ने मूल्यों को ऊपर की ओर धकेल दिया और रिजर्व बैंक इस स्थिति को ठीक नहीं समझता था और इस कारण बैंक दर को बढ़ाकर ३½ प्रतिशत कर दिया जिससे साख की मात्रा में कमी हो जाए और मूल्य स्तर गिर जाए।

बैंक दर में वृद्धि होने के प्रभाव (Effects of Rising the Bank Rate)—बैंक दर में वृद्धि होने का प्रभाव साख की मात्रा व मूल्यों पर पड़ा। इसका तात्कालिक प्रभाव यह पड़ा कि साख महगी हो गयी। इम्पीरियल बैंक आॅफ इण्डिया ने अनुसूचित बैंकों को पांच लाख व अधिक मात्रा के ऋण पर सूद की दर २¾% से ३% कर दी जिसको बढ़ाकर बाद में ३½% कर दिया गया। विनिमय बैंकों ने भी उधार देने की दर में आधा प्रतिशत की वृद्धि कर दी। अन्य बैंकों की दर में ½ प्रतिशत से ½ प्रतिशत की वृद्धि हो गयी। इसके साथ ही बैंकों ने सावधानी से ऋण देने की नीति अपनाई और ऐसे व्यापारियों को साख देने में अनिच्छा दिखाई

जो कि उनका प्रयोग संचय के लिये करते थे। बैंकों की नीति में यह परिवर्तन ऐच्छिक था क्योंकि रिजर्व बैंक ने ऐसा करने के लिये किसी प्रकार का निर्देश जारी नहीं किया था। इस प्रकार अनुसूचित बैंकों के अग्रिम अक्टूबर सन् १९५१ से मार्च सन् १९५२ तक के व्यस्त मौसम में केवल ६२ करोड़ रुपये ही बढ़ सके जबकि पिछले व्यस्त मौसम में यह वृद्धि १८२ करोड़ रुपये हुई थी। सन् १९५२ के सुस्त मौसम में अग्रिमों में १११ करोड़ की कमी हुई जबकि इससे पूर्व ८५ करोड़ रुपये की कमी हुई थी। मूल्य स्तर में भी गिरावट आ गई। जनवरी सन् १९५२ में यह गिर कर ४८० हो गया; फरवरी में ४१६; मार्च में ३७८ तथा मई में ३६७ ही रह गया। मूल्य स्तर में यह परिवर्तन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति में सुधार व जमा करने की प्रवृत्ति में कमी होने के कारण भी था।

बैंक दर में वृद्धि का एक प्रभाव यह भी हुआ कि दीर्घकालीन सरकारी सीक्यूरिटीज के मूल्यों में भी कमी हो गयी क्योंकि सीक्यूरिटीज के मूल्य नई दर से समायोजित होने तथा ऐसे स्तर पर स्थिर होने थे जो ३½ प्रतिशत की आय प्रदान कर सके।

इस बैंक दर की वृद्धि ने रिजर्व बैंक का अन्य बैंकों पर अच्छा नियन्त्रण स्थापित कर दिया। अब बैंक सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये रिजर्व बैंक को ऋण-पत्र नहीं बेच सकते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि बैंकों को अब रिजर्व बैंक द्वारा प्रदान की गयी ऋण सुविधाओं पर ही निर्भर रहना पड़ा। इससे पहली बार रिजर्व बैंक का अन्य बैंकों पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो गया।

बैंक दर में उपरोक्त परिवर्तन व साख प्रदान करने की उपरोक्त नीति के बहुत से हानिकारक प्रभाव भी पड़े। सर्वप्रथम इस नीति का सप्रभाविक फल प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि खुले बाजार की क्रियाओं की नीति को गुप्त रखा जाए परन्तु इस नीति के कारण यह नीति गुप्त नहीं रह पाई। दूसरे, इस नीति के प्रचलन से पहले ऋण-पत्रों का मूल्य स्थायी रहता था। इसका कारण यह था कि रिजर्व बैंक उनका क्रय-विक्रय करता था। परन्तु इस नीति के फलस्वरूप इन पत्रों की कीमत गिर गयी। इस नीति के प्रारम्भ होने के तीन सप्ताह बाद ही ऋण-पत्रों की कीमत में ५.३% की कमी हो गयी। सरकारी ऋण-पत्रों की कीमतों में यह परिवर्तन ठीक नहीं है। तीसरे, यह नीति बैंकों के लिए महंगी है।

रिजर्व बैंक ने बैंक दर की नीति में परिवर्तन मुद्रा स्फीति को रोकने के लिए [illegible] किया था। परन्तु ½ प्रतिशत का परिवर्तन इस [illegible] में [illegible] को रोकने में [illegible] नहीं था जो भारत में प्रचलित था। [illegible] रिजर्व बैंक ने परामर्श के लिए बुलाया था, बैंक दर में १ प्रतिशत की वृद्धि [illegible] सुझाव दिया था। परन्तु [illegible]

मार्च सन् १९५७ मे बैंक दर मे पुनः वृद्धि ½% की गयी और इसको ४% कर दिया। सन् १९६३ मे बैंक दर मे मुद्रा ½% की वृद्धि की गई और सन् १९६५ की बैंक दर को ४½% से बढ़ाकर ६% कर दिया।

★

Q 182. With the changing circumstances, some structural changes in the Reserve Bank of India are required Explain. What structural hanges are required in the Reserve Bank of India, in your opinion ?

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया भारत का केन्द्रीय बैंक है, जिसकी स्थापना सन् १९३५ मे हुई थी। इसके बाद से इसके कार्यों मे निरन्तर वृद्धि होती गयी है और अब इसके कार्य इतने अधिक हो गये है कि मौद्रिक विचारक यह कहते है कि इसके सगठन में कुछ आवश्यक परिवर्तन होने चाहियें। उनके अनुसार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के सगठन मे निम्नलिखित कारणो से निम्नलिखित परिवर्तन होने चाहियें :—

(१) रिजर्व बैंक पर कार्यभार (Reserve Bank is Overloaded)— पिछले कुछ वर्षों मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के कार्यों मे अत्यधिक वृद्धि होती जा रही है और अब उसके कार्य इतने अधिक हो गये हैं कि वह अपने कर्त्तव्यो को उचित प्रकार से पूरा नही कर पा रहा है। यह कार्य केवल केन्द्रीय बैंक से ही सम्बन्धित नहीं है। केन्द्रीय बैंक के कार्यों के अतिरिक्त यह बैंक को लाइसेंस प्रदान करता है, बैंक्स को शाखायें खोलने की आज्ञा प्रदान करता है, भारत से बाहर शाखायें खोलने की आज्ञा प्रदान करता है, बैंकों का निरीक्षण व नियन्त्रण करता है, विनिमय नियन्त्रण का कार्यान्वित करने वाला अधिकारी है तथा कृषि व औद्योगिक बैंकों को साख प्रदान करने वाली सस्था है। इन सब कठिन, अधिक व विभिन्न प्रकृति के कार्यों के कारण रिजर्व बैंक केन्द्रीय बैंकिंग कार्य ठीक नही कर सका है और भारतीय अवस्थाओं के उपयुक्त केन्द्रीय बैंकिंग तकनीक (Technique) व तरीकों का विकास नहीं हो पाया है। इसके अतिरिक्त जब से स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण हुआ है और रिजर्व बैंक का इस पर अधिकार हुआ है तब से यह विचारधारा विकसित हो रही है कि रिजर्व बैंक अब व्यापारी बैंकों का शक्तिशाली प्रतिद्वन्दी बन गया है। यह कठीन नही है क्योंकि यदि भारत मे बैंकिंग का विकास करना है, जो कि निजी क्षेत्र को तथा आवश्यकता पड़ने पर सरकार को ऋण प्रदान कर सके तो यह आवश्यक है कि देश मे बैंक्स व केन्द्रीय बैंक में पूर्ण सहयोग होना चाहिये। साथ ही विभिन्न कार्यों को पूरा करने के लिये विशिष्ट संस्थाओं की स्थापना होनी चाहिये, जिसमे रिजर्व बैंक स्वतन्त्रतापूर्वक मौद्रिक समस्याओं को सुलझाने का कार्य कर सके जैसे कनाडा मे बैंक्स का निरीक्षण करने का कार्य

इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया तथा उन संस्थाओं के प्रतिनि[illegible] को जो मौद्रिक, बैंकिंग व व्यापारिक समस्याओं के समाधान में लगी हुई है, स[illegible] समय पर विचार-विमर्श के लिए सभाएँ होनी चाहियें। इन सभाओं से रिज[illegible] को समस्याओं के समाधान करने में सहायता मिल सकेगी और साथ ही देश [illegible] वित्तीय संस्थाओं के विचार भी मालूम हो सकेंगे।

(४) अनुसूचित व अ-अनुसूचित बैंक्स का भेद समाप्त हो जाना [illegible] (Distinction between Scheduled and Non-scheduled Banks Should [illegible] अनुसूचित व अ-अनुसूचित बैंकों में जो पुराना भेद है वह समाप्त हो जाना [illegible] क्योंकि व्यापारिक बैंकों के नियन्त्रण के लिये इस प्रकार का भेद [illegible] बैंक्स को अनुसूचित व अ-अनुसूचित वर्गों में विभाजित करने का उद्देश्य [illegible] साख नीति के सफल नियन्त्रण के लिये कुछ शक्तिशाली बैंकों से [illegible] होना चाहिये। परन्तु अधिकतर बैंकों को जिनकी पूँजी ५ लाख से कम है [illegible] के नियन्त्रण से बाहर कर देना ठीक नहीं होगा। इसके अतिरिक्त [illegible] Companies Act के पास हो जाने से इस भेद की कोई आवश्यकता नहीं [illegible] साथ ही रिजर्व बैंक को दोनों प्रकार के बैंकों के कार्यों पर नियन्त्रण रखने

भारतवर्ष की अधिकांश जनसंख्या कृषि व कृषि से सम्बन्धित व्यवसायो में लगी हुई है और राष्ट्रीय आय का आधे से अधिक भाग कृषि क्षेत्र से प्राप्त होता है। देश का प्रमुख व्यवसाय होने पर भी यह पिछड़ा हुआ है और इसमे लगे व्यक्तियों की आय बहुत कम है। कृषि के पिछड़े होने के बहुत से कारण हैं जिन पर यहाँ विचार नही करना है। परन्तु कृषि के पिछड़े होने का एक प्रमुख कारण यह है कि *इसकी साख आवश्यकताओ पर ध्यान नही दिया गया है।*

रिजर्व बैंक व कृषि साख

Reserve Bank & Agricultural Credit.

रिजर्व बैंक से भारत का केन्द्रीय बैंक होने के नाते यह आशा की जाती है कि वह कृषि साख की आवश्यकताओ पर ध्यान देगा। रिजर्व बैंक को प्रारम्भ करते समय ही इस आवश्यकता को ध्यान मे रखा गया था और रिजर्व बैंक एक्ट मे इस प्रकार का प्रबन्ध किया गया था कि यह बैंक देश की कृषि साख आवश्यकताओं को पूरा कर सकें। रिजर्व बैंक की स्थापना के साथ इसमें एक कृषि-साख विभाग (Agricultural-Credit Department) प्रारम्भ किया गया था जिसके उद्देश्य निम्नलिखित हैं :—

(१) कृषि साख व्यवस्था के लिए विशेषज्ञ की नियुक्ति तथा साख-समस्याओं का अध्ययन एवं हल निकालना तथा समय-समय पर केन्द्रीय, राज्य तथा स्थानीय सरकारो, राज्य सहकारी बैंको तथा अन्य कृषि सस्थाओ को आवश्यक परामर्श देना और उनका पथ-प्रदर्शन करना;

(२) कृषि साख के सम्बन्ध मे राज्य सहकारी बैंकों तथा अन्य ऐसी ही संस्थाओं के कार्य को संगठित करना और उनमे समन्वय स्थापित करना।

स्थापना के बाद से ही रिजर्व बैंक कृषि को साख सुविधायें प्रदान करने का प्रयत्न करता रहा है परन्तु स्वाधीनता प्राप्ति के बाद बैंक द्वारा अधिक प्रभावपूर्ण सहायता की आवश्यकता महसूस हुई। इसलिये सन् १९५१ मे श्री ए० डी० गोरवाला की अध्यक्षता में भारतीय ग्रामीण साख जाच समिति (All India Rural Credit Survey Committee) की नियुक्ति की। इस समिति ने १९५४ में अपनी रिपोर्ट बैंक को दी जिसमे इसने ग्रामीण साख के लिये सर्वतोमुखी योजना (Integrated Credit Scheme) प्रस्तावित की। केन्द्रीय सरकार ने समिति द्वारा सुझावित इस योजना को स्वीकार कर लिया।

इस समिति के सुझावो को मान कर रिजर्व बैंक ने सन् १९५६ में दो कोषों की स्थापना की। एक तो, राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष (National Agricultural Credit (Long term Operations) Fund) था जिसका प्रारम्भ १० करोड़ रुपये से किया गया। इसके अतिरिक्त अगले पांच वर्षो मे इसमे कम से कम ५ करोड़ रुपया प्रतिवर्ष जमा करना था। यह कोष राज्य सरकारों को दीर्घ-

कालीन ऋण देता है जिससे वे राज्य सहकारी बैंकों व उनके माध्यम से जिला सहकारी बैंक तथा बड़ी आकार की प्रारम्भिक साख समितियों की हिस्सा पूँजी में साझा ले सके। राज्य सरकारें इस ऋण से केन्द्रीय भूमि बंधक बैंकों तथा उनके द्वारा प्रारम्भिक भूमि बंधक बैंकों की पूँजी भी प्राप्त करेंगी।

राज्य सरकारों की जमानत पर इस कोष से भूमि बंधक बैंकों को ऋण देकर अथवा उनके विशेष विकास ऋण पत्र (Special Development Debentures) खरीद कर ५ वर्ष से अधिक का दीर्घकालीन ऋण दे सकेगा। इसी प्रकार राज्य सरकारों की गारन्टी पर राज्य सहकारी बैंकों को अल्पकालीन ऋण देगा। साथ ही राज्य सहकारी बैंकों व उनके द्वारा जिला सहकारी बैंकों तथा प्रारम्भिक समितियों को १५ महीने से ५ साल की अवधि का मध्यकालीन ऋण भी देगा।

३० जून १९६२ तक इस कोष में ६१ करोड़ रुपया जमा हो गया था।

दूसरा कोष, राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायीकरण) कोष (National Agricultural Credit (Stabilization) Fund) स्थापित किया गया जिसमें प्रत्येक वर्ष ५ वर्ष तक कम से कम १ करोड़ रुपया प्रतिवर्ष जमा किया जायगा। इस कोष का उपयोग राज्य सहकारी बैंकों आदि को मध्यकालीन ऋण देने के लिए किया जाता है। यह ऋण तब दिया जाता है जबकि अकाल आदि के कारण राज्य सहकारी बैंक अपना अल्पकालीन ऋण रिजर्व बैंक को समय पर न दे सके। इस कोष में ३० जून सन् १९६२ तक ७ करोड़ रुपया जमा हो गया था।

रिजर्व बैंक विभिन्न प्रकार से कृषि को साख सुविधायें प्रदान करता है। यह बैंक दर से भी कम पर राज्य सरकारी बैंकों को कृषि हुंडियों की जमानत पर १५ महीने तक के लिये उधार देता है। परन्तु इस सुविधा का बहुत कम लाभ उठाया गया है क्योंकि गोदामों के अभाव के कारण प्रमाणिक कृषि हुंडियों का बहुत अभाव है। इसके अतिरिक्त सहकारी आन्दोलन कृषि साख की १०% से भी कम साख आवश्यकता की पूर्ति करता है।

रिजर्व बैंक भूमि बंधक बैंकों को भी सहायता प्रदान करता है। यह सहायता भूमि बंधक बैंकों के ऋण-पत्र (Debentures) खरीद कर की जाती है। रिजर्व बैंक भूमि बंधक बैंकों द्वारा निर्गमित २० प्रतिशत ऋण पत्रों को खरीदता है। इन ऋण पत्रों के मूल व ब्याज की गारन्टी राज्य सरकारों द्वारा की जानी चाहिये।

ग्रामीण बचतों को प्रोत्साहन देने के लिए सन् १९५८ में रिजर्व बैंक ने एक ग्रामीण ऋण पत्र (Rural Debentures) योजना प्रारम्भ की है। इस योजना के अन्तर्गत भूमि बंधक बैंक ७ वर्ष के ऋण पत्र निर्गमित कर सकते हैं जो कि ग्रामीण व्यक्तियों व पंचायतों को बेचे जाते हैं। जो ऋण पत्र नहीं बिकते उनको रिजर्व बैंक खरीद लेता है। सन् १९५९ में भूमि बंधक बैंकों द्वारा १५ वर्षीय ऋण-पत्र निर्गमित किये जाने का निर्णय भी किया गया जो कि केवल रिजर्व बैंक द्वारा ही खरीदे जाते थे।

सन् १९५४ में रिजर्व बैंक ने गोदामों को बनाने की योजना बनाई। इस योजना के अन्तर्गत रिजर्व बैंक कृषि को अधिक वित्त सहायता प्रदान कर सकता है। इन गोदामों मे माल भर कर किसान स्टेट बैंक आफ इंडिया से ऋण ले सकता है। इससे किसान के लिये फसल को एकदम बेचने की आवश्यकता नहीं रही है।

रिजर्व बैंक ने Ford Foundation Agricultural Team के सुझावो को मान कर एक सम्बद्ध योजना (Package Scheme) प्रारम्भ की है। इस योजना के अन्तर्गत रिजर्व बैंक किसान को बीज, खाद, कृषि-यन्त्रो आदि सभी कार्यों के लिये ऋण दिया जाता है। प्रारम्भ मे यह योजना प्रयोग रूप मे चालू की गई थी परन्तु अब इसको सम्पूर्ण देश मे चालू किया जायगा।

सन् १९६३ मे केन्द्रीय भूमि बधक बैंको तथा राज्य सहकारी बैंको द्वारा दिये जाने वाले ऋण को वित्त व्यवस्था के लिये कृषि पुर्नवित निगम (Agricultural Refinance Corporation) की स्थापना की गई है। इसकी अधिकृत पूँजी २५ करोड़ रुपये है परन्तु प्रारम्भ मे ५ करोड रुपये के शेयर चालू किये गये हैं। इसमे से आधे शेयर रिजर्व बैंक ने खरीदे हैं।

इस प्रकार रिजर्व बैंक कृषि साख के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है। राष्ट्रीयकरण व स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् से इस कार्य का महत्व और भी अधिक हो गया है। अपनी साख व वित्त नीति के द्वारा रिजर्व बैंक ने सहकारी बैंको व भूमि बधक बैंको को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है।

रिजर्व बैंक तथा औद्योगिक वित्त
Reserve Bank & Industrial Credit

स्वतन्त्रता के पश्चात् से, कृषि के अतिरिक्त, उद्योगो का महत्व भी बहुत बढ़ गया है। भारत मे औद्योगिक बैंको का अभाव होने के कारण रिजर्व बैंक का औद्योगिक वित्त प्रदान करने के सम्बन्ध मे उत्तरदायित्व बढ गया है। औद्योगिक वित्त प्रदान करने के लिए बहुत सी सस्थाओ की स्थापना की गई है जिनके स्थापन मे रिजर्व बैंक ने सक्रिय भाग लिया है। औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation of India), औद्योगिक साख व वित्त निगम (Industrial Credit and Investment Corporation of India); राज्य वित्त निगम (State Finance Corporations) तथा पुर्नवित्त निगम (Refinance Corporation) की स्थापना औद्योगिक साख प्रदान करने के लिये की गई है। इनमे से औद्योगिक वित्त निगम मे रिजर्व बैंक की १·४३ करोड़ रुपये तथा राज्य वित्त निगमो में २·३६ करोड रुपये की पूँजी लगी हुई है। इसके अतिरिक्त, रिजर्व बैंक इन संस्थाओं को आवश्यकता पड़ने पर रुपया भी उधार देता है।

छोटे पैमाने के उद्योगो को ऋण सहायता देने के लिए सन् १९६० से गारन्टी योजना (Guarantee Scheme) प्रारम्भ की गई है। इस योजना के अन्तर्गत रिजर्व

बैंक एक निर्धारित मात्रा तक अन्य बैंकों द्वारा छोटे पैमाने के उद्योगों को दिए ऋणों की गारंटी देती है। इस कार्य के लिए साख की गारंटी संस्था (Credit Guarantee Organisation) स्थापित की गई है। प्रारम्भ में इस योजना को केवल कुछ जिलों में ही लागू किया गया था परन्तु अब इसको सम्पूर्ण भारत पर लागू कर दिया गया है।

इस प्रकार बैंक ने उद्योगों को भी अप्रत्यक्ष सहायता देने का प्रयत्न किया है। इस क्षेत्र में इसने अभी बहुत अधिक कार्य नहीं किया है क्योंकि इस कार्य को प्रारम्भ किये अभी कम ही समय हुआ है।

Q. 185. "During recent years the Reserve Bank of India's policy has been directed, on the one hand, to checking the inflationary presures generated by a development programme with a substantial amount of deficit financing, and on the other, to assist in the extension of credit facilities for those sectors wherein development was hampered by inadequacy of credit". Comment. (Agra 1...)

Q. 186. Review the achievement of the Reserve Bank of India in respect of monetary stability and economic development.

मुद्रा-स्फीति की प्रवृत्ति को रोकने के लिए बैंक ने गुणनात्मक साख-नियन्त्रण (Selective Credit Control) की नीति को भी अपनाया। मई १९५६ में बैंक ने व्यापारिक बैंकों को आदेश दिया कि वे धान व चावल के आधार पर ऋण को कम दें तथा इस प्रकार की जमानत पर सीमा अधिक रक्खें। सितम्बर १९५६ में इस आदेश को अन्य खाद्य पदार्थों व दालों आदि पर भी लागू कर दिया। बैंक की इस नीति को बहुत सफलता मिली है। जैसा कि Shri G. D. Birla ने कहा था, "The selective monetary control instituted by the Bank has succeeded in keeping at bay the inflationary pressures which this country had to face during 1957."

इसके साथ ही बैंक ने सन् १९५७ में बैंक दर में पुनः वृद्धि कर दी और अब बैंक दर ३½ प्रतिशत से बढ़कर ४% हो गई। परन्तु इसका साख के विस्तार पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ा और जून १९५७ में बैंक साख की मात्रा १४० करोड़ हो गई। इस कारण बैंक ने नैतिक प्रभाव व प्रत्यक्ष कार्यवाही की नीति को भी अपनाया। रिजर्व बैंक ने बैंकों को कहा कि यदि वे रिजर्व बैंक की नीति के अनुसार नहीं चलेंगे तो वह उनको सहायता देना बन्द कर देगा। बैंकों को समय-समय पर आदेश भी दिये गये जिनका पालन किया गया।

द्वितीय योजना में १२००–१३०० करोड के हीनार्थ प्रवन्धन के कारण मूल्यों में बहुत अधिक वृद्धि हो गयी तथा सट्टे के कार्यों को भी प्रोत्साहन मिला। इन दोनों को रोकने के लिये ११ मार्च १९६० को रिजर्व बैंक ने साख नियन्त्रण के दो नये उपायों की घोषणा की। पहला उपाय तो यह है कि ११ मार्च १९६० के बाद अनुसूचित बैंकों के समय व मांग जमा में जो भी वृद्धि होगी उसका २५% रिजर्व बैंक में जमा करना होगा। इस पर बैंक सूद देगा। दूसरे, शेयरों के आधार पर (Preferencial Shares को छोड़ कर) जो भी बैंक ५,००० रुपये से अधिक उधार देगा, उस पर ५०% सीमा रखी जायेगी। इसके साथ ही रिजर्व बैंक ने बैंकों को बदला व्यापार (Badla transacions) में भी भाग लेने से मना कर दिया।

रिजर्व बैंक ने दुलर्भ मुद्रा नीति (Dearer money policy)—को और भी अधिक आगे बढ़ाया और १ अक्टूबर सन् १९६० से नई नीति की घोषणा की। इस नीति के अनुसार रिजर्व बैंक ने प्रत्येक बैंक का ऋण लेने का कोटा निर्धारित कर दिया जो कि उन कोषों का ५० प्रतिशत था जो बैंकों को रिजर्व बैंक के पास वैधानिक रूप से रखने होते थे। इस कोटे की मात्रा तक जो ऋण लिया जाता था उस पर केवल बैंक दर के बराबर ही सूद लिया जायगा। इस कोटे से अधिक के ऋण लेने पर बैंक दर से अधिक सूद देना होगा सूद की दर इस प्रकार होगी :—

ऋण	सूद की दर
(i) कोटे से १०० प्रतिशत अधिक परन्तु २०० प्रतिशत से अधिक नहीं :	सूद की दर बैंक दर से १ प्रतिश अधिक।
(ii) कोटे से २०० प्रतिशत अधिक	सूद की दर बैंक दर से २ प्रतिशत अधिक।

इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने यह भी आदेश बैंकों को दिया कि १ अक्टूबर सन् १९६० से नये व पुराने ऋणों पर तथा सुरक्षित व असुरक्षित ऋणों पर ५ प्रतिशत की दर ली जाय। अन्य बैंकों को दिए गये तथा सहकारी बैंकों को दिये गये ऋणों पर यह आदेश लागू नहीं होगा। इसके साथ ही रिजर्व बैंक ने यह भी कहा। बैंक्स अपने सूद के दर के ढांचे (Structure of the interest rates) में इस प्रकार से परिवर्तन करें कि सूद की दरों में कम से कम ½ प्रतिशत की वृद्धि हो जावे बैंकों को यह भी कहा गया कि वे १ अक्टूबर सन् १९६० से जमाओं पर बैंक दर से २ प्रतिशत कम से अधिक व्याज न दें।

इस नीति की घोषणा के साथ ही रिजर्व बैंक ने उस नियन्त्रण को समाप्त कर दिया जिसके अनुसार बैंकों को अपनी जमा का २५ प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास जमा कराना पड़ता था। इसको १० नवम्बर सन् १९६० से समाप्त किया गया। इस घोषणा का मुद्रा बाजार में स्वागत किया गया क्योंकि उस समय व्यस्त मौसम (Busy season) के कारण साख की माँग अधिक थी।

जुलाई सन् १९६२ में रिजर्व बैंक ने कोटिवद्ध उधार दान दरों (Graded Lending Rates) में परिवर्तन कर दिया। अब त्रिमुखी के स्थान पर चतुर्मुखी व्याज की दर निर्धारित कर दी गई। इस बार बैंकों का कोटा घटा दिया गया और वैधानिक कोषों का २५% कर दिया गया। यह पहले ५० % था। विभिन्न राशियों पर ब्याज दरें इस प्रकार तय की गई।

ऋण	सूद की दर
(i) कोटे से १०० प्रतिशत तक	४%
(ii) कोटे से १००% अधिक परन्तु २००% से कम	५%
(iii) कोटे से २००% से अधिक परन्तु ४००% से कम	६%
(iv) ४००% से अधिक	६·५%

३१ अक्टूबर सन् १९६२ को चीन की सीमा अतिक्रमण के कारण रिजर्व बैंक ने इस व्यवस्था में और परिवर्तन कर दिये। अब बैंक ने यह निश्चित कर दिया कि सामान्यतः बैंकों को वैधानिक कोष के १०० प्रतिशत तक ही ऋण दिया जायगा।

इससे अधिक ऋण केवल विशेष परिस्थितियों मे ही दिया जायगा। कोटे के २५% तक उधार बैंक दर पर, ५०% तक ५% और १००% तक ६% पर दिया जायगा।

रिजर्व बैंक ने सन् १९६२ मे बैंक दर को ४ प्रतिशत से बढाकर ४½ प्रतिशत कर दिया। इसके पश्चात् भी मुद्रा-स्फीति मे रोक नही लगी और बैंक साख मे वृद्धि होती रही। इसलिए सन् १९६५ में बैंक दर को बढा कर ६% कर दिया गया।

६ अक्टूबर सन् १९५६ को रिजर्व बैंक के संशोधन एक्ट से रिजर्व बैंक को यह अधिकार दे दिया गया है कि वह बैंको के पास जमा होने वाली चालू जमा (demand deposits) की ५% को २०% तथा स्थायी जमा (fixed deposits) की २% को ८% तक बढा सकता है।

सन् १९५६ के बाद से बैंक साख मे वृद्धि होने लगी थी। इसलिये ११ मार्च सन् १९६० को रिजर्व बैंक ने यह घोषणा की कि उस दिन के पश्चात् प्राप्त होने वाली नई जमाओ का २५% रिजर्व बैंक के पास जमा करना होगा, साधारण शेयरो पर दिये जाने वाले ऋण पर ५०% का मूल्यान्तर (margin) रखना पड़ेगा तथा बदले के सौदों और व्यक्तिगत जमानत पर ऋण नही दिया जायगा। ६ मई से नई जमाओं का ५०% रिजर्व बैंक मे जमा करवाना अनिवार्य कर दिया गया।

इस प्रकार समय-समय पर रिजर्व बैंक ने साख की मात्रा को नियन्त्रित करके मुद्रा स्फीति को रोकने का प्रयत्न किया है।

इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने विकास कार्यों के लिए उन क्षेत्रो को साख सुविधायें प्रदान की हैं जिनको अभी तक उचित साख सुविधायें प्राप्त नही थी। इस सम्बन्ध मे कृषि व औद्योगिक क्षेत्र प्रमुख हैं। इन दोनो क्षेत्रो मे साख की कमी के कारण विकास अवरुद्ध हो गया था। रिजर्व बैंक ने दोनो क्षेत्रो को यथेष्ट साख सुविधायें प्रदान करने का प्रयत्न किया है।

Selected Readings.

1. K. N. Raj : Monetary Policy of the Reserve Bank of India.
2. S. K. Basu : A Survey of Contemporary Banking Trends-Chs XII, XIII & XIV
3. S. R. K. Rao : The Indian Money Market, Ch 19.
4. Reserve Bank of India : Functions and Working.

१४

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया

(The State Bank of India)

Q. 187. State the considerations which led the Rural Credit Survey Commitee to recommend the organisation of a State Bank in our country. Study the possible economic effects of this recommendation. (Agra 1950, 1956)

देश की अर्थव्यवस्था में कृषि का बहुत महत्व है। देश की जनसंख्या का लगभग ७० प्रतिशत भाग कृषि पर निर्भर करता है और राष्ट्रीय आय का आधे से अधिक भाग कृषि के द्वारा ही प्राप्त होता है। इतना होने पर भी कृषि की दशा भारत-वर्ष में अत्यन्त खराब है और इसका एक मुख्य कारण यह है कि कृषि के विकास के लिये आवश्यक साख की बहुत कमी है। साख की सुव्यवस्थित प्रणाली के बिना कोई भी उद्योग उन्नति नहीं कर सकता और कृषि तो एक विशाल तथा छिटका हुआ उद्योग है। एक फ्रेंच कहावत है, "Credit supports the farmer as the hangman's rope supports the hanged.' यद्यपि साख कभी-कभी कृषक के लिए हानिकारक होती है परन्तु फिर भी इनके बिना काम नहीं चल सकता। भारतीय लोकगीत में भी कहा गया है कि वह ही गाँव रहने योग्य है जहाँ पर महाजन है जिससे आवश्यकता के समय उधार मिल सके, वैद्य है जो बीमारी में इलाज कर सके, ब्राह्मण पुजारी है जो आत्मा की शुद्धि कर सके तथा पानी का स्रोत हो जो गर्मियों में भी न सूख सके।

भारत में खेती छोटे-छोटे किसानों द्वारा की जाती है और उसके पास इतने साधन नहीं होते कि वे कृषि उपज को इतना बढ़ा सकें कि उनका जीवन स्तर सामान्य स्तर तक पहुँच जाय या देश कृषि उपज में आत्म-निर्भर हो जाय। प्रथम पंचवर्षीय योजना में कहा गया था, "Agricultural production in India depends upon millions of small farmers. It is their hard work and efficiency which will ultimately raise agricultural output. For want of funds and credit facilities many of them are unable to use improved seed and manure or to introduce new techniques. Some of them cannot even keep wells and tanks in good repair." इस प्रकार से स्पष्ट है कि भारत में कृषि की अवस्था छोटे किसानों पर निर्भर है और छोटे किसान बिना साख की सुविधा के कृषि की दशा में सुधार नहीं कर सकते।

Rural Credit Survey Committee ने अनुमान लगाया था कि कृषि साख की कुल आवश्यकता ७५० करोड रुपये की है। परन्तु अब मूल्यो मे वृद्धि हो जाने तथा अन्य कारणों से यह आवश्यकता बढ गयी है और यह अनुमान है कि कृषि साख के लिये अब १००० करोड रुपये की आवश्यकता है। वह साख आवश्यकतायें प्रथम तो पूर्ण रूप से पूरी होती नही और जो पूरी भी होती हैं, उनका संगठन ठीक प्रकार से नही होता। Rural Credit Survey Committee की रिपोर्ट के अनुसार ९३ प्रतिशत साख व्यक्तिगत साख सस्थाओ के द्वारा प्रदान की जाती है। इस प्रकार की साख से कृषि को कोई लाभ नही होता क्योंकि यह अधिकतर अव्यवस्थित होती है और किसान इसको अनुत्पादक कार्यों में उपयोग कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त इस साख के प्रदान करने से किसान की दशा मे सुधार के स्थान पर पतन होता है तथा उसकी दशा गिरती जाती है। उसकी आर्थिक दशा भी इस ऋण के कारण दिन प्रतिदिन खराब होती जाती है। इसका महत्वपूर्ण कारण यह है कि व्यक्तिगत साख संस्थाओ के द्वारा जिनमे गाँव का महाजन, जमींदार तथा व्यापारी मुख्य है बहुत अधिक सूद लिया जाता है और एक बार बेचारा किसान इनके चगुल मे फँस कर निकल नही पाता और जीवन भर कर्ज मे दबा रहता है। यही नहीं वह कर्ज अपने बेटे पोतो के लिये भी छोड़ जाता है। यह बुराई यहीं तक सीमित नही है। इन व्यक्तिगत सस्थाओं के द्वारा बहुत सी बुरी प्रणालियाँ प्रयोग मे लाई जाती हैं जिनका भार गरीब किसान पर पड़ता है और उसको बहुत हानि उठानी पड़ती है। इसलिये Agricultural Finance Sub-committee की सन् १९४५ की रिपोर्ट मे कहा गया था, "While it is true that the money-lender is the most important constituent of the agricultural credit machinery of the country, it is not possible to justify many of his practices and the charges he makes for his services."

सरकार व सरकारी समितियो के द्वारा केवल ६·४ प्रतिशत साख प्रदान किया जाता है। ५० वर्ष से अधिक लम्बे आन्दोलन के बाद भी आज सहकारिता के द्वारा केवल ३·१ प्रतिशत साख कृषको को दिया जाता है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है सहकारी समितियाँ पहले उद्देश्य मे सफल नहीं रही हैं और किसान को अब भी साख प्राप्त करने के लिए महाजन का मुँह देखना होता है। सहकारिता की असफलता के कारणों को विस्तार से हमे यहा नही देखना है परन्तु Agricultural Finance Sub-Committee ने सन् १९४५ ई० मे अपनी रिपोर्ट मे जो मुख्य कारण दिया वह अब भी ठीक है। उस रिपोर्ट में कहा गया था, "One of the chief defects of the co-oprative system is the delay in obtaining loans from Societies. In some areas, a member has to wait from one to two months after applying for a loan before he can

actually get it. At times, an agriculturalist requires money at short notice, especially for current agricultural needs; if the Society cannot accommodate him, he is perforce driven to a money-lender. We appreciate that some time is necessary for the scrutiny of an application, but much of the delay appears to us to be avoidable."

सरकार की ओर से भी केवल ३·३ प्रतिशत साख प्रदान की गयी है। सरकार की ओर से तकावी ऋण दिया जाता है जो कि केवल बाढ़ और अकाल जैसे संकट काल में ही मिल सकता है। परन्तु यह ऋण कभी लोकप्रिय नहीं रहा। तकावी के रूप में जो ऋण दिया जाता है, वह कुल आवश्यकताओं को देखते हुये बहुत ही कम है। ऋण देने से पहले उपयुक्त जमानत भी मांगी जाती है जो कि हमेशा किसान के द्वारा नहीं दी जा सकती। इसके अतिरिक्त यह ऋण उनको ठीक समय पर नहीं मिल पाता क्योंकि दीर्घ-सूत्रता (Red-tapism) के कारण सरकार से ऋण मिलने में बहुत अधिक समय लगता है जिससे कि उसका महत्व ही समाप्त हो जाता है इसकी वसूली का तरीका भी काफी सख्त है। छोटे अफसरों की घूसखोरी तथा धाँधली से सरकारी ऋण की ओर किसान अधिक आकृष्ट नहीं होते।

देश के आर्थिक विकास में व्यापारिक बैंकों का भी बहुत हाथ है तथा उनके द्वारा प्रदान की गयी साख की सहायता से ही विभिन्न उद्योग उन्नति करते हैं। भारत का महत्वपूर्ण उद्योग कृषि है और इसीलिए व्यापारिक बैंकों को कृषि की सहायता करनी चाहिए। परन्तु Rural Credit Survey Committee की रिपोर्ट के अनुसार व्यापारिक बैंकों ने केवल ०·९ प्रतिशत साख ही प्रदान की है। प्रारम्भ से ही व्यापारिक बैंक कृषि की आवश्यकताओं के प्रति उदासीन रहे हैं। सन् १९३१ में Indian Central Banking Euquiry Committee ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था, "We have already remarked that the joint-stock banks play little direct part, and the Imperial Bank much less, in the supply of credit to the agriculturalists. These banks do not look upon agricultural finance as part of their general business." रिजर्व बैंक के द्वारा प्रकाशित किये गये आंकड़ों के अनुसार ३० जून सन् १९५१ तक व्यापारिक बैंकों द्वारा दिये गये कुल उधार में से २·७ प्रतिशत उधार कृषि को दिया गया था। व्यापारी बैंकों ने सहकारी बैंकों को भी बहुत कम धन उधार दिया है। ३० जून सन् १९५२ तक इन बैंकों ने केवल २·५१ करोड़ रुपया सहकारी बैंकों को दिया जो कुल उधार का केवल ७ प्रतिशत था। इस सम्बन्ध में व्यापारिक बैंकों का भी अधिक दोष नहीं है क्योंकि उनका संगठन ही इस प्रकार का है कि वे कुछ विशेष उद्योगों की सहायता ही कर सकते हैं। Rural Credit Survey Committee की

रिपोर्ट में कहा गया है, "These banks-scheduled and non-scheduled have specialized in certain types of business; their structure and methods of business are such as to tend to make them deal with only certain phases of economic activity."

इस प्रकार से कमेटी ने यह निष्कर्ष निकाला कि सहकारिता के द्वारा किसानो की बहुत कम साख आवश्यकताये पूरी होती हैं। इस कमी के होते हुए भी कमेटी ने इस बात पर जोर दिया कि ग्रामीण साख सहकारी समितियों द्वारा ही प्रदान किया जाना चाहिए। इसका कारण यह है कि किसानो को अल्पकालीन, मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन ऋण आवश्यकता के समय मिल जाना चाहिये और उनको ऋण मिलने मे कठिनाई नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार का ऋण सहकारी संगठन के द्वारा ही सरलता से दिया जा सकता है।

यह ऋण समितियो के द्वारा ठीक प्रकार से प्रदान किया जा सके इसके लिये सरकार को सहकारी समितियो की सहायता करनी चाहिए जिससे कि वे अपना संगठन ठीक कर सकें। व्यक्तिगत प्रयास से सचालित तथा अबल कृषको के समूह पर आधारित सहकारी समितियां उचित उन्नति करने मे असमर्थ हैं। अतः कमेटी ने यह सुझाव (Recommendation) दिया कि सरकार को हर स्तर पर सहकारी संस्थाओ से सहयोग करते हुये उनके साझेदार के रूप मे कार्य करना आवश्यक है। रिजर्व बैंक, केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार तथा किसानो चारो को मिलाकर सहकारी साख का विकास करना चाहिए। यह विकास केवल साख तक ही सीमित नही रहना चाहिए बल्कि अन्य आर्थिक कार्य, जैसे बिक्री, वर्गीकरण (Processing) आदि भी सहकारिता के आधार पर होने चाहियें। गोदामो व माल रखने के स्थानो के विकास की भी आवश्यकता है। इसके लिए कमेटी ने कहा कि एक अखिल भारतीय गोदाम निगम (All India Warehousing Corporation) तथा राज्य गोदाम कम्पनियो (State Warehousing Companies) की स्थापना होनी चाहिए। भारत सरकार के कृषि और खाद्यान्न मत्रालय के अन्तर्गत एक राष्ट्रीय सहकारी विकास और गोदाम बोर्ड (National Co-operative Development and Warehousing Board) की स्थापना होनी चाहिए। इस बोर्ड के अन्तर्गत दो निधियां हों—राष्ट्रीय सहकारी विकास निधि (National Co-operative Development Fund) और राष्ट्रीय भंडार गृह विकास निधि (National Warehousing Development Fund) प्रथम निधि से राज्य सरकारो को रुपया उधार दिया जा सकेगा जिससे कि वे सरकारी समितियो के हिस्सो को खरीद सकें। इससे उन समितियो के हिस्से खरीदे जा सकेंगे जो बिक्री, वर्गीकरण, दूध बेचने आदि के कार्य करेंगी।

कमेटी ने सुझाव [illegible]

होना चाहिए।

रिजर्व बैंक से सलाह लेकर एक योजना बनानी चाहिए। प्रत्येक सहकारी संगठन के प्रबन्ध तथा पूंजी में सरकार का कार्यशील भाग (Active participation) होना चाहिए और समितियों का संगठन प्रशिक्षित व्यक्तियों के द्वारा किया जाना चाहिये। सहकारी समितियों की फसल की जमानत पर अल्पकालीन ऋण देना चाहिये तथा मध्यम-कालीन ऋण भी इनके द्वारा ही दिया जाना चाहिये। दीर्घकालीन ऋण देने के लिये राज्यों में भूमि बन्धक बैंकों की स्थापना होनी चाहिये जिसमें भी सरकार का कार्यशील भाग हो।

इन सब योजनाओं को पूरा करने के लिये यह आवश्यक होगा कि ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग व्यवस्था का विकास किया जाय जिससे सहकारी समितियों का कार्य ठीक प्रकार से चल सके। गाँव वालों की बचतों को एकत्रित करने के लिये भी बैंकों की आवश्यकता होगी। व्यापारिक बैंकों से इस क्षेत्र में अधिक आशा नहीं की जा सकती, क्योंकि वे अपनी विशेष शिक्षा के कारण ग्रामीण क्षेत्रों में कार्य नहीं कर सकते। इसलिये कमेटी ने सुझाव दिया कि एक स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना होनी चाहिये। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया पूर्णरूप से सरकारी बैंक हो तथा गांवों में इसकी शाखायें खोली जायें। यह बैंक सस्ती दर पर सहकारी बैंकों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर रुपया भेजने की सुविधायें दे। कृषि कार्यों के लिए भी स्टेट बैंक को ऋण देना चाहिये। ऋण देना, फसल का अन्न बेचना, अनाज का वर्गीकरण करना, इन सब कार्यों के लिये भी इस बैंक को सहकारी संस्थाओं की आवश्यकताओं को पूरा करना चाहिये।

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना के लिये कमेटी ने यह सुझाव दिया कि इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया व दस अन्य राज्य से सम्बन्धित बैंकों तथा इसके अतिरिक्त कुछ अन्य छोटे-छोटे बैंकों का सर्वाधिक एकीकरण व राष्ट्रीयकरण किया जाना चाहिए। इस नवीन संस्था का निर्माण इस प्रकार करने को कहा गया जिससे हिस्सा पूँजी व मताधिकार में भारत सरकार तथा रिजर्व बैंक का सम्मिलित भाग ५२ प्रतिशत हो। ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं के विकास के लिये स्टेट बैंक को बड़ी मात्रा में अपनी शाखायें गाँव में खोलनी चाहियें और इनके खोलने से यदि कोई नुकसान हो तो इसको रिजर्व बैंक व सरकार अपने हिस्सों के लाभ से पूरा करे।

सरकार ने कमेटी के इस सुझाव को मान लिया और २० दिसम्बर सन् १९५४ को भारतीय संसद ने यह घोषणा की कि सरकार शीघ्र इम्पीरियल बैंक पर अपना प्रभावशाली नियन्त्रण करेगी। भारत सरकार के एक विधेयक के अनुसार १ जुलाई सन् १९५५ को इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण करके स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना की गयी।

इस बैंक की स्थापना से भारतीय बैंकिंग व्यवस्था की बहुत बड़ी कमी पूरी हो गयी है। इस बैंक के द्वारा ग्रामीण अर्थव्यवस्था को बहुत अधिक सीमा तक हल

किया जा सकेगा। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया को आगामी पांच वर्षों में ४०० और शाखायें खोलनी होंगी। अब इसकी व इसके सहायक बैंकों की शाखाओं की संख्या लगभग १८०० है। इसके अतिरिक्त स्टेट बैंक अब छोटे पैमाने के उद्योग-धन्धों को सहायता दे सकेगा।

Q. 188. How was the State Bank of India established? Describe its constitution and functions. Will it solve the problem of rural banking to a certain extent?

इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न बहुत समय से भारतीय सरकार के सामने था और रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के समय में भी बहुत से संसद सदस्यों ने इस प्रकार की आवाज उठायी थी कि रिजर्व बैंक के साथ-साथ इम्पीरियल बैंक का भी राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय। सन् १६५० में Rural Banking Enquiry Committee ने भी यह सुझाव रखा कि इम्पीरियल बैंक पर सरकार का अधिक से अधिक नियन्त्रण हो और यह भी सुझाव दिया कि यह बैंक अगले पाँच वर्षों में २७५ शाखायें ग्रामीण क्षेत्रों में खोले जिससे गावों में भी बैंकिंग सुविधाओं का प्रसार हो सके। परन्तु इम्पीरियल बैंक केवल नाम में ही इम्पीरियल नहीं था बल्कि कार्य में भी इम्पीरियल था और इसने केवल ८० शाखायें ही खोलीं। सन् १६५४ में Rural Credit Survey Committee की रिपोर्ट प्रकाशित होने से इसके राष्ट्रीयकरण का प्रश्न फिर से प्रमुख हो गया, क्योंकि इस कमेटी ने जोरदार शब्दों में एक राज्य बैंक की स्थापना की सिफारिश की और कहा कि राज्य बैंक की स्थापना इम्पीरियल बैंक व राज्यों से सम्बन्धित अन्य बैंकों के राष्ट्रीयकरण से होनी चाहिये।

इस कमेटी ने यह बताया कि सरकार व सहकारी समितियों के द्वारा किसानों को केवल ६·४ प्रतिशत साख ही प्रदान किया जाता है। शेष साख महाजन, व्यापारी, जमींदार आदि से मिलता है जिस पर उसे बहुत ब्याज देना होता है। इसलिये कमेटी ने सुझाव दिया कि ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं का विकास होना चाहिए। अतएव इस कमेटी ने कहा कि इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण से एक शक्तिशाली, राज्य द्वारा चालित व राज्य की साझेदारी में एक ऐसा व्यापारिक बैंक स्थापित हो जायगा जिसकी शाखायें देश भर में फैली होंगी, जो अपनी शाखाओं की संख्या को देश की आवश्यकतानुसार बढ़ाता रहेगा, जो गैर बैंकिंग ट्रेजरीज (Non-banking treasuries) के कार्यों को स्वयं कर सकेगा, जो सहकारी बैंकों तथा अन्य बैंकों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर रुपया भेजने की अधिकाधिक सुविधायें दे सकेगा और इन सब कार्यों द्वारा अन्य बैंकों के प्रसार में भी सहायक सिद्ध होगा।

इस कमेटी ने स्टेट बैंक की स्थापना की सिफारिश की पुष्टि इन शब्दों में की;

"We may recall here, in order to place the above recommendations and those which follow in their proper context that their object is the creation of one strong, integrated, State-sponsored, State-partnered, commercial banking institution with an effective machinery of branches spread over the whole country, which, by further expansion can be put in a position to take over cash work from non-banking treasuries and sub-treasuries, provide vastly extended remittance facilities for co-operative and other banks, thus stimulating the further establishment of such banks, and, generally, in their loan operations, in so far as they have a bearing on rural credit, follow a policy which while not deviating from the canons of sound business, will be in effective consonance with national policies as expressed through the Central Government and the Reserve Bank."

भारत सरकार ने कमेटी की यह सिफारिश स्वीकार कर ली और दिसम्बर २०, सन् १९५४ को संसद में घोषणा की कि भारतीय सरकार शीघ्र ही इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया पर अपना प्रभावशाली नियन्त्रण करेगी। इसके पश्चात् सन् १९५५ में पास एक विधेयक के अनुसार इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया की भारत स्थित समस्त सम्पत्ति और दायित्व १ जुलाई सन् १९५५ से स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया को हस्तांतरित कर दिये गये। स्टेट बैंक का निर्माण निम्नलिखित दस बैंकों को विलीन करके किया गया है :—

(१) दी इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया, (२) दी बैंक ऑफ पटियाला, (३) दी बैंक ऑफ बड़ौदा, (४) दी बैंक ऑफ इन्दौर, (५) दी बैंक ऑफ मैसूर, (६) दी ट्रावनकोर बैंक, (७) दी स्टेट बैंक ऑफ सौराष्ट्र, (८) दी बैंक ऑफ राजस्थान, (९) दी बैंक ऑफ जयपुर, (१०) दी बैंक ऑफ बीकानेर।

स्टेट बैंक की पूँजी (Capital of the State Bank of India)—स्टेट बैंक की अधिकृत पूँजी (Authorised Capital) २० करोड़ रुपये है जो कि १०० रुपये के २० लाख हिस्सों में विभाजित है। इस बैंक की निर्गमित पूँजी (Issued Capital) प्रारम्भ में ५·६२५ करोड़ रुपये होगी। परिदत्त पूँजी (Paid up Capital) का ५५ प्रतिशत भाग रिजर्व बैंक के अधिकार में होगा तथा ४५ प्रतिशत तक के हिस्से व्यक्तियों को बेचे जा सकते हैं। इम्पीरियल बैंक के पूर्ण चुकता के शेयर के लिये १७६५ रुपये १० आने तथा आंशिक चुकता शेयर के लिये ४३१ रु० १२ आ० ४ पा० की रकम सरकार से दी गई थी। यह क्षतिपूर्ति केन्द्रीय सरकार

की प्रतिभूतियों के रूप मे दी गई थी, परन्तु कोई व्यक्ति दस हजार तक नकद रूप मे ले सकता था।

स्टेट बैंक का प्रबन्ध (Organisation of the State Bank of India)—स्टेट बैंक के प्रबन्ध के लिये एक केन्द्रीय सचालक बोर्ड बनाया जायगा। इस बोर्ड का संगठन इस प्रकार से होगा।

(१) रिजर्व बैंक की सलाह से नियुक्त एक चेयरमैन तथा वाइस-चेयरमैन।

(२) रिजर्व बैंक की सलाह से नियुक्त आठ सचालक। ये सचालक आर्थिक तथा क्षेत्रीय दोनों के प्रतिनिधि होंगे। इनमें कम से कम दो सचालक ऐसे होंगे जो सहकारी संस्थाओं की कार्य-पद्धति एव ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विशेषज्ञ हों तथा अन्य सचालक वाणिज्य उद्योग बैंकिंग अथवा वित्त के विशेषज्ञ होंगे।

(३) रिजर्व बैंक के अतिरिक्त अन्य हिस्सेदारों के द्वारा छ. सचालक चुने जायेंगे।

(४) एक सचालक केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत होगा।

(५) एक संचालक रिजर्व बैंक द्वारा मनोनीत होगा।

(६) स्टेट बैंक आफ इण्डिया का केन्द्रीय सचालक मण्डल भी केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति से दो प्रबन्ध सचालक नियुक्त करेगा।

केन्द्रीय संचालक बोर्ड के अतिरिक्त स्थानीय बोर्ड भी होंगे। केन्द्रीय संचालक बोर्ड का प्रधान कार्यालय बम्बई है। मद्रास, कलकत्ता तथा बम्बई में स्थानीय बोर्ड के प्रधान कार्यालय हैं। केन्द्रीय सरकार स्टेट बैंक के केन्द्रीय सचालक बोर्ड से परामर्श करके अन्य स्थानों पर स्थानीय बोर्ड स्थापित कर सकती है।

स्टेट बैंक के कार्य (Functions of the State Bank of India)—स्टेट बैंक को जो कार्य करने हैं, वे अधिकतर इम्पीरियल बैंक द्वारा ही किये जाते थे। परन्तु इम्पीरियल बैंक के अतिरिक्त भी इसको अन्य बहुत से काम होंगे। कुछ कामों को करने पर रोक भी लगी है। स्टेट बैंक आॅफ इण्डिया एक्ट के अनुसार स्टेट बैंक निम्नलिखित कार्य करेगा—

(१) यह स्टाक, कोष और सिक्यूरिटीज के आधार पर ऋण, एडवांस तथा नकद साख देगा।

(२) यह बैंक व्यापारिक बैंकों के सब कार्यों को करेगा।

(३) यह रिजर्व बैंक की स्वीकृति से दूसरी बैंकिंग सस्थाओं के हिस्से खरीद सकता है, रख सकता है और बेच सकता है और इस प्रकार की बैंकिंग कम्पनी को अपनी सहायक कम्पनी के रूप में चला सकता है।

(४) यह अन्य व्यापारिक बैंकों की सहायता उसी प्रकार से करता रहेगा जिस प्रकार से इम्पीरियल बैंक करता था। इस बैंक मे अन्य व्यापारिक बैंक अपना

धन जमा कर सकेंगे और स्टेट बैंक आर्थिक संकट के समय उनको सहायता भी देगा ।

(५) यह बैंकों को निकास गृह की सुविधायें प्रदान करता है ।

(६) यह सरकारी बैंक का भी कार्य करता है । जहां रिजर्व बैंक की शाखायें नहीं हैं, वहां यह रिजर्व बैंक के एजेन्ट के रूप में सभी सरकारों (केन्द्रीय, राज्य आदि) के लेन देन का कार्य करता है ।

(७) वहुमूल्य धातुओं को खरीदता है ।

(८) स्टेट बैंक केन्द्रीय सरकार की अनुमति से अन्य बैंकों को भी अपने में विलीन कर सकता है ।

(९) यह ग्रामीण क्षेत्रों को अधिक रुपया भेजने (Remittance) की सुविधायें देता है ।

(१०) यह केवल कृषि की सहायता ही नहीं करेगा बल्कि छोटे पैमाने के उद्योग-धन्धों तथा कुटीर उद्योगों को भी साख प्रदान करेगा।

(११) साख प्रदान करने के अतिरिक्त यह ग्रामीण क्षेत्रों से बचतों को एकत्रित करने का कार्य भी करेगा ।

स्टेट बैंक के निषिद्ध कार्य (Business which the State Bank of India cannot transact)—स्टेट बैंक को क्योंकि बहुत से विशेषाधिकार प्राप्त हैं और सरकार के बैंक के कार्य भी इनको करने पड़ते हैं । इसलिये सरकार ने इसके कार्यों पर कुछ प्रतिबन्ध लगाए हैं और यह बहुत से काम नहीं कर सकता । वह काम निम्नलिखित हैं :—

(१) कृषि साख के अतिरिक्त अन्य कार्यों के लिए छः मास से अधिक के लिये ऋण नहीं दे सकता ।

(२) यह बैंक विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय का कार्य नहीं कर सकता ।

(३) यह अचल सम्पत्ति तथा अपने हिस्सों के आधार पर रुपया उधार नहीं दे सकता ।

(४) यह अचल सम्पत्ति, अपनी इमारतों के अतिरिक्त, नहीं खरीद सकता ।

स्टेट बैंक का शाखा विस्तार (Branch Expansion of the State Bank of India)—इस बैंक का एक उद्देश्य यह है कि ग्रामीण क्षेत्रों में शाखाएँ खोलकर बैंक व्यवसाय की सुविधाओं का प्रचार करना चाहिये । इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु बैंक को स्थापित होने के अगले पांच वर्षों में ४०० नयी शाखाएँ खोलनी होंगी । यह शाखाएँ ऐसे स्थानों पर खोली जायेंगी जहाँ बैंकिंग सुविधाओं का अधिक प्रसार नहीं हुआ हैं । इस प्रकार से प्रारम्भ में, हो सकता है शाखाएँ खोलने में कुछ हानि उठानी पड़े । इस हानि को पूरा करने के लिये एकीकरण एवं विकास निधि (Integration) and Development Fund) बनायी गयी है । इस निधि का निर्माण

उस लाभ से होगा जो स्टेट बैंक रिजर्व बैंक को अपने हिस्सो पर देगा। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार एवं रिजर्व बैंक द्वारा जो रकम इस निधि के लिए मिलेगी वह भी इसमे रक्खी जायगी। प्रारम्भिक कदम इस फण्ड मे ५० लाख रुपया देकर उठाया गया है।

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में संशोधन (Amendment in the State Bank of India Act)—स्टेट बैंक को प्रारम्भ मे केवल अल्पकालीन ऋण देने का ही अधिकार था। परन्तु १६५७ मे स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट मे एक सशोधन किया गया। इस संशोधन के अनुसार स्टेट बैंक अब व्यक्तिगत क्षेत्र मे उद्योगों को मध्यकालीन ऋण भी दे सकता है। पहले यह अधिक से अधिक ६ महीने के लिये ऋण दे सकता था। परन्तु इस सशोधन के अनुसार यह अधिक से अधिक सात वर्ष के लिए ऋण दे सकता है। यह किसी वित्त सस्था के (जिसको सरकार ने मान लिया हो) शेयर व डिबेन्चर्स भी खरीद सकता है। सहकारी भवन निर्माण समितियों को, जो इसके कर्मचारियो द्वारा बनायी गयी हो, भी ६ मास से अधिक के लिये रुपया उधार दे सकता है। यह उधार अचल सम्पत्ति के अधार पर भी दिया जा सकता है।

स्टेट बैंक द्वारा किये गये कार्य—स्टेट बैंक ने अपनी स्थापना के बाद बहुत महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। ग्रामीण क्षेत्रों मे शाखायें खोलने मे यह बहुत रुचि से कार्य कर रहा है और ३१ दिसम्बर सन् १६५६ तक इसने ३५६ शाखायें खोल भी दी हैं। जुलाई १६५८ तक इसके पास ४२१·०३ करोड रुपये के डिपोजिट्स थे। इस अवधि तक इसके द्वारा दी गई अग्रिम (Advances) की मात्रा १८२·७२ करोड रुपये थी। यह बैंक व्यापार तथा उद्योग-धन्धो को भी बहुत सहायता पहुँचा रहा है। कुटीर उद्योगो की सहायता के लिये बैंक ने एक पायलेट योजना रक्खी है जिस पर ३६ चुने हुए स्थानो पर कार्य होगा।

स्टेट बैंक के द्वारा ग्रामीण बैंकिंग की समस्या का हल—स्टेट बैंक की स्थापना का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों मे बैंकिंग सुविधाओं का प्रसार करना ही है। भारत एक कृषि प्रधान देश है जिसकी ७० प्रतिशत जनसख्या गावों मे रहती है। अतः गावों की आर्थिक उन्नति के बिना देश की आर्थिक उन्नति भी सम्भव नही हो सकती। गांवों की आर्थिक उन्नति करने के लिए वहाँ साख सुविधाओं का प्रसार करना होगा और यह कार्य स्टेट बैंक के द्वारा किया जायगा।

यह बैंक कृषि को साख प्रदान करने का प्रयत्न कर रहा है। यह सहकारी बैंको को साधारण दर से ½ प्रतिशत कम दर पर ऋण प्रदान करता है। स्टेट बैंक केन्द्रीय व राज्य सहकारी बैंको का रुपया एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने का खर्चा नही लेता। इसकी सहायता से कृषि बिक्री प्रणाली में सुधार होने की आशा है। यह कृषि को दीर्घकालीन ऋण देने की भी व्यवस्था कर रहा है। इसके लिये वह

भूमि बन्धक बैंकों के ऋण-पत्र मोल लेता है तथा उनको बाजार में बेचने में सहायता करता है।

अब इस बात पर अधिक जोर दिया जाने लगा है कि ग्रामीण साख संस्थाओं को वित्त प्रदान करने का कार्य पूर्णतया इस बैंक को दे दिया जाय। यह बात भी अधिक प्रचलित है कि सरकार एक विधेयक बना रही है। जिसके अनुसार रिजर्व बैंक का कृषि साख विभाग (Agricultural Credit Department) समाप्त कर दिया जायगा और ग्रामीण साख का सारा कार्य स्टेट बैंक को दे दिया जायगा।

इस प्रकार से स्टेट बैंक की स्थापना से भारत की बैंकिंग व्यवस्था को शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न किया गया है। A Ghosh के अनुसार, "The nationalisation of the Imperial Bank for the purpose of establishing the State Bank marks a big stride forward in the realm of government-controlled banking in India for fulfilling the requirements of a policy of balanced growth simultaneously in the urban and rural sectors of our growing economy during the process of developmental planning.'

★

Q. 189. 'The rural credit work of the Reserve Bank of India should be transferred to the State Bank of India.' Do you agree with this view ? Give reasons for your answer. **(Agra 1958)**

भारत के अधिकांश व्यक्तियों का व्यवसाय कृषि है जिसके द्वारा भारत की राष्ट्रीय आय का लगभग आधा भाग प्राप्त होता है। अर्थव्यवस्था के कृषि-प्रधान होने के कारण ही कृषि का विकास होना अत्यन्त आवश्यक है। देश में कृषि के विकास होने पर ही औद्योगिक विकास हो सकेगा तथा ग्रामीण आय व रहन-सहन के स्तर में वृद्धि हो सकेगी। कृषि के विकास के लिए वैसे तो बहुत सी बातें आवश्यक हैं परन्तु एक बात जो अत्यन्त आवश्यक है वह है सस्ती साख का उचित मात्रा में ठीक समय पर उपलब्ध होना।

भारत में कृषि की साख आवश्यकताओं पर प्रारम्भ से ही ध्यान नहीं दिया गया। क्यों ? ··· इसके कारण अनेक हैं जिनका अध्ययन करना यहाँ आवश्यक नहीं है। कृषि की साख की इस कमी को दूर करने के लिये ही रिजर्व बैंक में एक विशेष विभाग कृषि साख विभाग (Agricultural Credit Department) प्रारम्भ किया गया। इसका मुख्य कार्य कृषि की साख आवश्यकताओं का अध्ययन करना और कृषि के लिये सस्ती साख को उपलब्ध करना था। परन्तु यह बैंक बहुत अधिक समय तक

कृषि की उचित साख सुविधायें प्रदान न कर सका। इसके दो मुख्य कारण थे—एक तो रिजर्व बैंक भारत का केन्द्रीय बैंक था जो सीधे कृषि के लिये रुपया उधार नहीं दे सकता था। दूसरे, भारत मे कृषि को साख प्रदान करने वाली साख-संस्थाओं (Credit Institutions) तथा साख-पत्रों (Credit Instruments) की कमी थी।

स्थापित होने के बाद से राष्ट्रीयकरण (सितम्बर १९४९) तक रिजर्व बैंक ने कृषि को साख सुविधायें प्रदान करने मे कोई महत्वपूर्ण कार्य नही किया। इसका स्पष्टीकरण इस बात से हो जाता है कि सन् १९४९–५० मे सहकारी बैंको (Co-operative Banks) ने रिजर्व बैंक से केवल २·७१ करोड़ रुपया उधार लिए जो सम्पूर्ण भारत की कृषि की साख आवश्यकताओं को देखते हुए बहुत कम था। इसका मुख्य कारण यह नही था कि रिजर्व बैंक उदासीनता की नीति अपना रहा था। रिजर्व बैंक तो अपनी ओर से काफी प्रयत्न कर रहा था और कृषि को अधिक मात्रा मे साख सुविधायें प्रदान करना चाहता था। परन्तु वह स्वय किसानो को रुपया उधार नही दे सकता था क्योंकि वह देश का केन्द्रीय बैंक था और केन्द्रीय बैंक होने के नाते वह बैंको व साख सस्थाओ को ही उधार दे सकता था।

कृषि को साख सुविधायें न मिलने का मुख्य कारण तो यह था कि भारत में इस प्रकार की साख संस्थाओं का जाल नही फैला हुआ था जो रिजर्व बैंक से रुपया उधार लेकर किसानों को दे सके। इस सम्बन्ध मे सहकारी बैंक अधिक सहायक होते हैं। कृषि प्रधान देशो मे इस प्रकार के बैंक ही किसानों की साख आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। परन्तु भारत मे सहकारी बैंको का अधिक विकास नही हुआ है और वे ग्रामीण साख आवश्यकताओ के १० प्रतिशत भाग को ही पूरा कर पाते है। शहरों में व्यापारिक बैंको का यथेष्ट विकास हुआ है परन्तु वे कृषि को साख प्रदान नहीं कर पाते क्योंकि कृषि को साख प्रदान करने के लिए विशेष जानकारी की आवश्यकता होती है जो उनके पास नही होती। इसके अतिरिक्त वे अल्पकाल के लिये उधार देते हैं जबकि कृषि की अधिकाश साख आवश्यकतायें मध्यम व दीर्घकाल की होती हैं।

दूसरे, रिजर्व बैंक बिना किसी आधार के रुपया उधार नही दे सकता। रुपया उधार देने के लिये हुँडी, बिल आफ एक्सचैंज आदि साख-पत्रों की आवश्यकता होती है। ये साख-पत्र तभी चालू हो सकते हैं जबकि कृषि-फसलो को भरने के लिए गोदाम हो जिसमें फसल को भरा जा सके और उसके आधार पर हुँडी या बिल जारी किया जा सके। गोदामों की जमानत पर भी रुपया उधार मिल सकता है। इस प्रकार के गोदामों का भी अभाव है। रिजर्व बैंक स्वयं इन गोदामों का निर्माण नही कर सकता। इन गोदामो के निर्माण के लिये अप्रत्यक्ष रूप से आर्थिक सहायता वह अवश्य दे सकता है।

भारत में ग्रामीण साख की आवश्यकताओं का अध्ययन करने के लिये रिज वैंक ने Rural Credit Survey Committee नियुक्ति की जिसने सन् १९५४ अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस समिति का विचार था कि ग्रामीण साख की योजना को पूरा करने के लिए यह आवश्यक होगा कि ग्रामीण क्षेत्रों में वैंकिंग व्यवस्था विकास किया जाय जिससे सहकारी समितियों का कार्य ठीक प्रकार से चल सके गाँव वालों की बचतों को एकत्रित करने के लिये भी वैंकों की आवश्यकता होगी। व्य पारिक वैंकों से इस क्षेत्र में अधिक आशा नहीं की जा सकती, क्योंकि वे अपनी विशे शिक्षा के कारण ग्रामीण क्षेत्रों में कार्य नहीं कर सकते। इसलिए कमेटी ने सुझाव दि कि एक स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना होनी चाहिये। स्टेट वैंक ऑफ इण्डि पूर्णरूप से सरकारी वैंक हो तथा गाँवों में इसकी शाखायें खोली जायें। यह बैंक सस्त दर पर सहकारी बैंकों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर रुपया भेजने की सुविधा दे। कृषि कार्यों के लिये भी स्टेट वैंक को ऋण देना चाहिये। ऋण देना, फसल अन्न वेचना, अनाज का वर्गीकरण करना, इन सब कार्यों के लिये भी इस बैंक को सहकारी संस्थाओं की आवश्यकताओं को पूरा करना चाहिये।

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना के लिए कमेटी ने यह सुझाव दिया कि इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया व दस अन्य राज्य से सम्बन्धित वैंकों तथा इसके अतिरिक्त कुछ अन्य छोटे-छोटे बैंकों का सर्वाधिक एकीकरण व राष्ट्रीयकरण किया जाना चाहिये। इस नवीन संस्था का निर्माण इस प्रकार करने को कहा गया जिसमें हिस्सा पूँजी व मताधिकार में भारत सरकार तथा रिजर्व वैंक का सम्मिलित भाग ५२ प्रतिशत हो। ग्रामीण क्षेत्रों में वैंकिंग सुविधाओं के विकास के लिए स्टेट बैंक को बड़ी मात्रा में अपनी शाखायें गाँवों में खोलनी चाहियें और इनके खोलने से यदि कोई नुकसान हो तो इसको रिजर्व वैंक व सरकार अपने हिस्सों के लाभ से पूरा करे।

इस प्रकार स्पष्ट है कि देश में ग्रामीण साख की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये एक विशेष वैंक की आवश्यकता है जो रिजर्व वैंक के समान सरकारी अधिकार में हो। इस वैंक (State Bank) को ग्रामीण साख का काम सौंप देने से देश में इस प्रकार की संस्थाओं का विकास हो सकेगा जो ग्रामीण साख में विशेषज्ञ हो। ग्रामीण साख पत्रों का चलन भी अधिक मात्रा में हो सकेगा। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ग्रामीण साख का पूरा कार्य रिजर्व वैंक से लेकर स्टेट वैंक को सौंप दिया जाय। रिजर्व वैंक को स्टेट वैंक को वित्त प्रदान करना होगा और सलाह देनी होगी। भारतीय सरकार ने इसी योजना को अपनाया है। इम्पीरियल वैंक का राष्ट्रीयकरण करके स्टेट वैंक की स्थापना की गई है जो रिजर्व वैंक की सलाह व सहायता से कार्य करता है। यह मुख्यतः ग्रामीण क्षेत्रों में अपनी शाखाएँ खोल रहा

है। अब इसकी व इसके सहायक बैंकों की शाखाओं की संख्या १८०० के लगभग हो गई है।

Selected Readings

1. Rau, B. R. · Present Day Banking in India.
2. Saukar D. S. : Joint Stock Banking in India.
3. Panandikar, S. G. : Banking in India.
4. State Bank of India : A Plan and its Fulfilment.
5. Report of the Rural Credit Survey Committee Vol. II.

various grades of near money."[1] डा० चाकू ने मुद्रा बाजार को "वह यन्त्र कहा है जो ऋणी को ऋण प्राप्त करने की सुविधा देता है और ऋणदाता को इस प्रकार के अवसर प्रदान करता है जिनमे वे अपना द्रव्य लगा सकें।"[2] विस्तृत रूप मे मुद्रा बाजार का अर्थ उस समस्त यन्त्र मे है जो प्रत्येक प्रकार के व्यापार को वित्त प्रदान करने के लिये कार्य में लाया जाता है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक प्रकार की साख संस्था द्वारा दिये जाने वाले प्रत्येक प्रकार के ऋण का क्रय-विक्रय सम्मिलित हो जाता है। परन्तु संकीर्ण अर्थ मे मुद्रा बाजार का अर्थ केवल अल्पकालीन ऋण के लेन देन से है और इसलिये बहुत से अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुद्रा बाजार वह स्थान है, जहाँ पर अल्पकालीन ऋणो का क्रय-विक्रय किया जाता है। अतः मुद्रा बाजार का आशय उस स्थान से लिया जा सकता है जहाँ पर अल्पकालीन ऋणो का क्रय-विक्रय किया जाता है। अन्य बाजारो के समान मुद्रा बाजार का अर्थ किसी विशेष स्थान से नही होता है जहाँ पर क्रेता-विक्रेता अपनी वस्तु का विनिमय करने के लिए एकत्रित होते हैं। इसका न तो कोई औपचारिक संगठन (Formal Organisation) होता है और न स्टाक एक्सचेंज (Stock Exchange) के समान विनिमय करने का निश्चित स्थान होता है। मुद्रा बाजार तो एक ढीली प्रकार से संगठित संस्था है जिसमे बहुत से विभाग व उप-विभाग होते है और उनमे से प्रत्येक एक विशेष प्रकार का साख प्रदान करने का कार्य करता है।

(३) सुझाव :

(i) बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार;
(ii) हुंडियो का प्रमाणीकरण;
(iii) भण्डार गृहों का निर्माण;
(iv) पुनः भुनाने की सुविधायें;
(v) सस्ती विप्रेस सुविधायें;
(vi) कुशल सहकारी साख संस्थायें;
(vii) महाजनो पर रिजर्व बैंक का नियन्त्रण,
(viii) बिल बाजार का विस्तार;
(ix) समाशोधन गृह सुविधाओं का विस्तार।

मुद्रा बाजारो की प्रकृति व संगठन अलग-अलग देशों मे उनके आर्थिक विकास, आर्थिक इतिहास, सरकारी नियन्त्रण व अन्य बहुत सी बातों के कारण अलग-अलग होता है। जैसे पर्याप्त आर्थिक विकास होते हुए भी इगलैंड और अमेरिका के मुद्रा बाजारो में बहुत अधिक अन्तर है तथा दोनो देशो के केन्द्रीय बैंक भिन्न-भिन्न प्रकार से मुद्रा बाजार को नियन्त्रित करते हैं। भारतवर्ष मे भी आर्थिक विकास व बैंकिंग विकास की विभिन्नता के कारण मुद्रा बाजार को दो भागों मे विभक्त कर सकते है,

1. Crowther : An Outline of Money.

2. "A money market is a mechanism which makes it possible for borrowers to obtain funds and for lenders to find suitable outlets for their money." Dr. Chakoo

भारतीय मुद्रा बाजार
(Indian Money Market)

Q. 190. Describe the structure and working of the Indian Money Market. **(Raj. 1962)**

Q 191. What do you consider to be the main defects of the present Indian Money Market? Make concrete suggestions with a view to removing them. **(Agra 1951, 1955)**

एक देश के उद्योग-धन्धों, व्यापार, वाणिज्य तथा कृषि का विकास साख की सस्ती और पर्याप्त पूर्ति पर निर्भर करता है परन्तु एक अच्छी प्रकार से संतुलित तथा कुशलतापूर्वक संगठित साख पद्धति का विकास बिना एक अच्छी प्रकार से विकसित मुद्रा बाजार के नहीं हो सकता ।

रूपरेखा :

(१) मुद्रा बाजार का अर्थ व भारतीय मुद्रा बाजार का संगठन ।

(२) भारतीय मुद्रा बाजार के दोष :

(i) विभिन्न भागों में समायोजन का अभाव;

(ii) ब्याज की दरों में भिन्नता;

(iii) मुद्रा की मौसमी कमी,

(iv) बिल बाजार का अभाव,

(v) [illegible]

(vi) विशिष्ट [illegible] का अभाव,

(vii) ग्रामीण बैंकों का अभाव

(viii) [illegible]

(३) [illegible] सुझाव ।

'मुद्रा बाजार' (Money Market) शब्द का यहाँ स्पष्ट करना आवश्यक होगा । बाजार का अर्थ अर्थशास्त्र में उस समस्त क्षेत्र से लिया जाता है जिसमें वस्तु के क्रेता-विक्रेता फैले हुए होते हैं और उनके प्रतियोगितापूर्ण सम्बन्ध से मूल्य के एक होने की प्रवृत्ति हो जाती है । अतः बाजार शब्द का सम्बन्ध आर्थिक दृष्टिकोण से उस समस्त क्षेत्र से होता है, जो वस्तु के क्रय-विक्रय में सहायक होता है । मुद्रा बाजार का अर्थ भी कुछ इसी प्रकार से लिया जाता है । Crowther के अनुसार, 'The money market is the collective name given to the various firms and institutions that deal in the

various grades of near money."[1] डा० साहू ने मुद्रा बाजार को "वह यन्त्र कहा है जो ऋणी को ऋण प्राप्त करने की सुविधा देता है और ऋणदाता को इस प्रकार के अवसर प्रदान करता है जिनसे वे अपना द्रव्य लगा सकें।"[2] विस्तृत रूप में मुद्रा बाजार का अर्थ उस समाज यन्त्र से है जो प्रत्येक प्रकार के व्यापार को वित्त प्रदान करने के लिये कार्य में लाया जाता है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक प्रकार की साख संस्था द्वारा दिये जाने वाले प्रत्येक प्रकार के ऋण का क्रय-विक्रय सम्मिलित हो जाता है। परन्तु संकीर्ण अर्थ में मुद्रा बाजार का अर्थ केवल अल्पकालीन ऋण के लेन देन से है और इसलिये बहुत से अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुद्रा बाजार वह स्थान है, जहाँ पर अल्पकालीन ऋणों का क्रय-विक्रय किया जाता है। अतः मुद्रा बाजार का आशय उस स्थान से लिया जा सकता है जहाँ पर अल्पकालीन ऋणों का क्रय-विक्रय किया जाता है। अन्य बाजारों के समान मुद्रा बाजार का अर्थ किसी विशेष स्थान से नहीं होता है जहाँ पर क्रेता-विक्रेता अपनी वस्तु का विनिमय करने के लिए एकत्रित होते हैं। इसका न तो कोई औपचारिक संगठन (Formal Organisation) होता है और न स्टाक एक्सचेंज (Stock Exch nge) के समान विनिमय करने का निश्चित स्थान होता है। मुद्रा बाजार तो एक ढीली प्रकार से संगठित संस्था है जिसमें बहुत से विभाग व उप-विभाग होते हैं और उनमें से प्रत्येक एक विशेष प्रकार का साख प्रदान करने का कार्य करता है।

(३) सुझाव :

(i) बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार;
(ii) हुंडियों का प्रमाणीकरण;
(iii) भण्डार गृहों का निर्माण;
(iv) पुनः भुनाने की सुविधायें;
(v) सस्ती विप्रेष सुविधायें;
(vi) कुशल सहकारी साख संस्थायें,
(vii) महाजनों पर रिजर्व बैंक का नियन्त्रण,
(viii) बिल बाजार का विस्तार;
(ix) समाशोधन गृह सुविधाओं का विस्तार।

मुद्रा बाजारों की प्रकृति व संगठन अलग-अलग देशों में उनके आर्थिक विकास, आर्थिक इतिहास, सरकारी नियन्त्रण व अन्य बहुत सी बातों के कारण अलग-अलग होता है। जैसे पर्याप्त आर्थिक विकास होते हुए भी इंगलैंड और अमेरिका के मुद्रा बाजारों में बहुत अधिक अन्तर है तथा दोनों देशों के केन्द्रीय बैंक भिन्न-भिन्न प्रकार से मुद्रा बाजार को नियन्त्रित करते हैं। भारतवर्ष में भी आर्थिक विकास व बैंकिंग विकास की विभिन्नता के कारण मुद्रा बाजार को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं,

1. Crowther : A Ou[illegible]
2. " [illegible] makes it possible fo[illegible] outlets

एक नियंत्रित भाग (Controlled Part) तथा दूसरा अनियंत्रित भाग (Uncontrolled Part)। नियंत्रित भाग को यूरोपियन व केन्द्रीय भाग भी कहते हैं, क्योंकि इस पर अधिकांश यूरोपियन लोगों का अधिकार था। नियंत्रित भाग इसलिये कहते हैं क्योंकि इस भाग पर सरकारी व केन्द्रीय बैंक का नियन्त्रण बहुत अधिक रहता है। संरक्षण के लाभ भी इसको प्राप्त होते रहे हैं। अनियंत्रित भाग को भारतीय भाग या बाजार भाग (Bazar Part) भी कहते हैं क्योंकि इस भाग की संस्थायें भारत के अधिकार में हैं। अनियंत्रित भाग इस कारण कहा जाता है क्योंकि यह भाग प्रायः अनियंत्रित व अनियमित ही रहा है, यद्यपि अब इस पर सरकारी व केन्द्रीय बैंक का नियन्त्रण होने लगा है।

नियंत्रित भाग में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, विनिमय बैंक, व्यापारिक बैंक, औद्योगिक बैंक (जैसे औद्योगिक वित्त प्रमंडल, राज्य वित्त प्रमंडल आदि) सहकारी बैंक आदि सम्मिलित हैं। अनियंत्रित भाग में महाजन, देशी बैंकर (Indigenous Bankers), ऋण कार्यालय (Loan offices), चिट फंड्स (Chit Funds), निधियां (Nidhis) आदि सम्मिलित हैं।

मुद्रा बाजार में केवल ऋण प्रदान करने वाली संस्थायें ही नहीं आतीं, बल्कि वह संस्थायें व व्यक्ति भी सम्मिलित किए जाते हैं जो ऋण प्राप्त करते हैं। भारत में मुद्रा बाजार के क्रेता विभाग में ये सब सम्मिलित किये जा सकते हैं :— केन्द्रीय, प्रान्तीय व स्थानीय सरकारें, व्यापारी व उद्योगपति, व्यवसायी, विभिन्न प्रमण्डल, कृषक व साधारण व्यक्ति जो रुपया उधार लेते हैं। समस्त मुद्रा बाजार में लेनदेन बिल्स, नकद धन, प्रतिज्ञापत्रों (Promissory Notes), हिस्सों (Shares), अल्पकालीन प्रतिभूतियों (Short Term Securities) व अन्य साख-पत्रों द्वारा होता है।

भारतीय मुद्रा बाजार के दोष (Defects of the Indian Money Market)—भारतवर्ष का मुद्रा बाजार इतना अधिक विकसित नहीं है जितना इंगलैंड, अमेरिका आदि अन्य देशों का है। संगठन तथा नियन्त्रण के दृष्टिकोण से भारतीय मुद्रा बाजार स्वयं एक समस्या है और इसीलिए डा० पननडीकर (Dr. Panandikar) के अनुसार, "भारतीय मुद्रा बाजार दोषपूर्ण है और पश्चिमी देशों के अत्यधिक विकसित मुद्रा बाजारों से इसकी तुलना नहीं की जा सकती।"[3] भारत के मुद्रा बाजार के मुख्य दोषों का वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता है :—

(१) मुद्रा बाजार के विभिन्न भागों में समायोजन का अभाव (Lack of Co-ordination between the different parts of Money Market)—

3. "The money market in India is defective, and cannot be compared with the highty developed money markets in Western countries". Dr. Panandikar.

भारतीय मुद्रा बाजार का पहला महत्वपूर्ण दोष यह है कि मुद्रा बाजार मे दोनों भागों (नियन्त्रित व अनियन्त्रित) मे किसी प्रकार का तालमेल (Co-ordition) नही है। दोनो भागो के कार्य करने के तरीके एक दूसरे से बिल्कुल अलग है तथा दोनों में बहुत प्रतियोगिता रहती है। इस सम्पर्क के न होने का महत्वपूर्ण कारण यह है कि भारतवर्ष मे सन् १९३५ तक कोई केन्द्रीय बैंक नही था। जो इन दोनो मे सम्पर्क स्थापित करा सकता। इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया केन्द्रीय बैंक का कार्य करता था तथा नियन्त्रित व अनियन्त्रित दोनो भागों का रुपया उसके यहाँ जमा रहता था। परन्तु तब भी वे इम्पीरियल बैंक को अपना सहयोगी न मान कर प्रतियोगी मानते थे। यह प्रतियोगिता दोनो भागो की आपस मे नहीं है बल्कि एक भाग की विभिन्न इकाइयों मे भी गला-काट प्रतियोगिता (Cut-throat Comp.tition) है। स्टेट बैंक से पहले इम्पीरियल बैंक व अन्य व्यापारिक बैंको मे आपस मे प्रतियोगिता थी। स्टेट बैंक की स्थापना से भी यह प्रतियोगिता समाप्त नहीं हुई है, बल्कि अब भी विभिन्न व्यापारिक बैंक (Commercial Banks) स्टेट बैंक को अपना प्रतियोगी मानते हैं। विनिमय बैंक तथा व्यापारिक बैंकों मे भी प्रतिस्पर्धा रहती है। इसी प्रकार महाजन, साहूकार व विदेशी बैंकर्स मे आपस में प्रतिद्वन्द्विता रहती है और प्रत्येक दूसरे का व्यापार प्राप्त करने के प्रयत्न मे रहता है। परिणामस्वरूप सहयोग तथा सम्पर्क के स्थान पर प्रतिस्पर्धा रहती है। इसी सबके कारण भारतवर्ष मे मुद्रा बाजार का सगठन ढीला है। डा० पननडीकर (Dr. Panandikar) के अनुसार, "The connection between these parts is incomplete, as the Indian banking system is somewhat loosely organised and without much cohesion, and until 1935 lacked a central co-ordinating agency."

कुछ समय से रिजर्व बैंक इस दोष को दूर करने का प्रयत्न कर रहा है परन्तु उसको सहयोग न मिलने के कारण अभी तक सफलता बहुत ही कम मिल पाई है। इस दोष के कारण भारतवर्ष मे बैंकों का ठीक विकास नहीं हो पाया है और केन्द्रीय बैंक भी अपने कार्य सफलतापूर्वक नहीं कर पाता।

(२) ब्याज की दरों मे विभिन्नता (Diversity in Rates of Interest)—इगलैंड व अमेरिका मे सभी प्रकार ब्याज की दरे बैंक पर निर्भर करती हैं क्योंकि वहां का मुद्रा बाजार सगठित है। परन्तु भारतीय मुद्रा बाजार संगठित नहीं है और इस कारण बैंक दर, ब्याज की दर, हुण्डी दर, बट्टा दर तथा स्टेट बैंक की ब्याज की दर में अन्तर पाया जाता है। केन्द्रीय बैंकिंग जाच समिति (Central Banking Enquiry Committee) ने इस प्रश्न का अध्ययन करते हुए लिखा था कि "यह तथ्य कि दर्शनी ब्याज दर (Call Rate) ३/४%, हुण्डी ब्याज की दर (Hundi Rate) ३% बैंक दर ४%, छोटे-छोटे व्यापारिक विपणों ... ब्याज की दर ६३/४% तथा कलकत्ते मे १००'

बाजार के संगठन व कार्य संचालन में कुछ इस प्रकार की कमियाँ है कि जब तक उनको दूर नहीं किया जावेगा तब तक बिल बाजार का विकास नहीं हो पायगा। जैसे भारत के बैंक, पूंजी की तरलता (Liquidity of Funds) को बहुत अधिक महत्व देते है जिसके कारण वे प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों में ही अपना अधिकतर धन लगाते है। स्वीकृत-गृहो (Acceptance Houses) की भी भारत में कमी है, जिसके कारण बैंक बिलो को भुनाते हुए हिचकिचाते है। स्टाम्प कर की अधिकता, बिलो के स्थान पर कोष-विपत्रो (Treasury Bills) का अधिक उपयोग, नकद ऋण का अधिक प्रचलन अन्य कारण है, जो बिल बाजार को विकसित होने से रोकते है।

(४) मुद्रा बाजार में धन की कमी (Lack of Loanable Funds in the Money Market)—भारतवर्ष के मुद्रा बाजार में ऋण देने योग्य धन की कमी रहती है जिसके कारण सभी मांगों को पूरा नहीं किया जा सकता। मुद्रा बाजार में धन की कमी का मुख्य कारण है कि यहाँ पर बैंक प्रणाली का पर्याप्त विकास नहीं हुआ है। लोगो की आय कम होने के कारण भी वे अधिक बचत नहीं कर पाते है। इसके अतिरिक्त लोगो में बैंकिंग आदत (Banking Habit) का भी अभाव है जिसके कारण वे धन को गाड़ कर स्वर्ण में रखने का प्रयत्न करते हैं। अब लोगो की इस आदत में कमी होती जा रही है और वे बैंक जमा कराने के महत्व को समझते रहे हैं।

(५) विशिष्ट साख संस्थाओं का अभाव (Paucity of Specialised Credit Institutions)—भारतीय मुद्रा बाजार में विशेष आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए विशिष्ट साख संस्थाओ का अभाव है। कृषि उद्योग व व्यापार आदि की विशिष्ट साख आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यहाँ पर पर्याप्त भूमिबंधक बैंक (Land Mortgage Bank), औद्योगिक बैंक (Industrial Bank) तथा बट्टे गृह (Discounting House) भी नहीं है। इन संस्थाओ का विकास होना परम आवश्यक है।

(६) ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं का अभाव (Lack of Adequate Banking Facilities in Rural Areas)—भारत में बैंकिंग विकास केवल शहरों तक ही सीमित है तथा ग्रामों में बैंकिंग सुविधाओं की बहुत कमी है। द्वितीय महायुद्ध तक तो ग्रामवासी बैंकिंग से बिल्कुल अनभिज्ञ थे। जनसंख्या के आधार पर हमारे देश में प्रत्येक १ लाख ३० हजार व्यक्ति के पीछे एक बैंक है तथा एक बैंक लगभग २३१ वर्ग मील के क्षेत्र को बैंकिंग सुविधायें प्रदान करता है। अमेरिका में ३,७३७ व्यक्तियों के पीछे एक बैंक है तथा एक बैंक केवल ८ वर्ग मील के क्षेत्र को ही बैंकिंग की सुविधायें देता है। बैंकिंग सुविधाओ की कमी के कारण भारतीय जनता को बचत करने के लिये प्रोत्साहन नहीं मिलता।

(७) देशी बैंकर्स व महाजनों की अधिकता (Abundance of Money-lenders and Indigenous Bankers)—भारतीय अर्थव्यवस्था में अब भी देशी

इस बात को स्पष्ट करता है कि विभिन्न बाजारों में साख के चलन में बहुत अन्तर है।"[4] यह अन्तर केवल विभिन्न स्थानों पर ही अलग-अलग नहीं है बल्कि एक प्रकार की साख संस्था की ब्याज दरों में भी अत्यधिक अन्तर रहता है। विभिन्न व्यापारिक बैंकों की जमा दर (Discount Rate) व उधार देने की दर अलग-अलग होती है। इससे आपस में प्रतियोगिता बढ़ती है। इसके अतिरिक्त ब्याज की दरों में न केवल विभिन्न स्थानों पर विभिन्नता पाई जाती है, बल्कि उनमें प्रायः ऊंची रहने की प्रवृत्ति तक पाई है।

(२) मुद्रा बाजार में मुद्रा की मौसमी कमी (Seasonal Stringency in the Money Market)—भारतीय मुद्रा बाजार में लोच की कमी रही है। यहाँ पर आवश्यकता के समय साख की मात्रा में विस्तार नहीं होता था जिससे साख की कमी होने लगती थी तथा ब्याज की दरों में वृद्धि हो जाती थी। इसका मुख्य कारण यह था कि साख व चलन पर सरकार व इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया का सामूहिक नियन्त्रण था जिसके कारण साख का नियन्त्रण ठीक नहीं हो पाता था। सन् १९३५ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना से यह दोष बहुत कुछ दूर हो गया है, परन्तु पूर्णतया दूर नहीं हुआ है। कृषि-अर्थव्यवस्था (Agricultural Economy) में इसको पूर्णतया दूर किया जा सकता है जैसा कनाडा व आस्ट्रेलिया में अच्छी बैंकिंग पद्धति के विकास से इसको दूर कर दिया गया है।

(३) संगठित बिल बाजार का अभाव (Lack of an Organized Bill Market)—भारतीय मुद्रा बाजार का एक मुख्य दोष यह है कि यहाँ व्यापारिक बिलों तथा हुण्डियों के बाजार का अभाव है। पाश्चात्य देशों में बैंकों के धन का बहुत सा भाग बिलों में विनियोजित रहता है। परन्तु भारत के बैंकों का बहुत कम भाग बिलों में लगा होता है। यहाँ बैंकों की जमा का केवल ३ प्रतिशत से लेकर ६ प्रतिशत तक भाग बिलों के रूप में होता है। सुदृढ़ व सुव्यवस्थित मुद्रा बाजार के विकास के लिए सुसंगठित बिल बाजार की आवश्यकता सभी केन्द्रीय बैंकिंग जांच समितियों व बैंकिंग विशेषज्ञों ने महसूस की है। इस रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना से यह सोचा गया था कि व्यवस्थित बिल बाजार की कमी दूर हो जायगी। परन्तु रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के भरसक प्रयत्न के बावजूद भी भारत में संगठित बिल बाजार स्थापित नहीं हो पाया है। इसका कारण यह है कि भारतीय मुद्रा

4. "The fact that a call rate of $\frac{3}{4}$%, a hundi rate of 3% a bank rate of 4% a Bombay Bazar rate for bills of small traders of of $6\frac{3}{4}$% and a Calcutta Bazar rate for bills of small traders of 10 percent can exist simultaneously indicates the extraordinary sluggishness in the movement of credit between the various markets." Report of the Central Banking Enquiry Committee.

(१) ग्रामीण बैंकिंग समिति (Rural Banking Committee) ने सन् १९५० में भारतीय मुद्रा बाजार के विकास के लिये सुझाव देते कहा था कि रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को अपनी शाखाएँ प्रत्येक राज्य की राजधानी में खोलनी चाहिएँ, व्यापारिक बैंकों व सहकारी बैंको को छोटे स्थानो पर शाखाएँ खोलने के लिये प्रोत्साहन देना चाहिए, डाक सेविंग्स बैंक्स की सुविधाओं मे सुधार करना चाहिये, सहकारी संस्थाओ को अधिक शक्तिशाली बनाना चाहिये तथा विनिमय व धन हस्तातरण (Remittance) की अधिकसुविधाएँ प्रदान करनी चाहिएँ।

(२) हुण्डियो का प्रमाणीकरण हो जाना चाहिए। उनकी भाषा, रूप, लेखन-विधि आदि मे समानता लाकर उनके उपयोग को बढाया जा सकता है, क्योंकि इससे हुण्डी को समझने मे समय नष्ट नही होगा और बैंक भी हुण्डी की सही प्रकृति को समझ सकेंगे।

(३) सरकार को लाइसेंसदार भण्डार-गृहो (Warehouses) के निर्माण की ओर अधिक ध्यान देना चाहिये, जिससे बैंक माल की जमानत पर रुपया उधार दे सकें। पंचवर्षीय योजनाओ मे इस ओर ध्यान दिया जा रहा है।

(४) भारतवर्ष मे साख पत्रो के पुन भुनाने (Rediscounting) की सुविधाओ को अधिक प्रदान करना चाहिए जिससे साख-पत्रो का उपयोग अधिक हो सके। स्टेट बैंक ने यह सुविधाएँ प्रदान करनी प्रारम्भ की हैं।

(५) सस्ती विप्रेष सुविधाओं (Remittance Facilities) का आयोजन करना चाहिये। भारतवर्ष मे यह सुविधायें बहुत महँगी हैं तथा इनमे कार्य-कुशलता की कमी है। डाकखाने की विप्रेष दरो मे कमी करके विप्रेष को अधिक प्रोत्साहन देना चाहिए तथा बैंको का ग्रामो मे विस्तार होना चाहिए।

(६) ग्रामो में सहकारी साख समितियो को अधिक कार्यकुशलता व शक्तिशाली बनाना चाहिए एवं वहाँ बैंकिंग सुविधाओ का विस्तार करना चाहिए, जिससे ग्रामो में बचत करने की भावना को प्रोत्साहन मिले।

(७) देशी बैंकर्स व महाजनों आदि पर रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का प्रभावशाली नियन्त्रण होना चाहिये, जिससे कि उनके कार्य पर दृष्टि रखी जा सके। देश मे जो भी साख संस्था हो उसका पजीकरण (Registration) रिजर्व बैंक ऑफ इडिया से होना चाहिये, जिससे रिजर्व बैंक देश की साख प्रणाली पर पूर्ण नियन्त्रण रख सके तथा ठीक प्रकार से उसका संचालन कर सके।

(८) बिल बाजार का विस्तार होना चाहिए जिससे कि बैंकिंग प्रणाली को सुदृढ बनाया जा सके। इसके विकास के लिये भारतीय मुद्रा बाजार के उन दोषों को दूर करना होगा, जो बिल विकास मे बाधक हैं।

(९) समाशोधन-गृह की सुविधाओं का विस्तार होना चाहिए जिससे बैंकिंग सेवाओं का समुचित विकास हो सके। इसके लिए समाशोधन-गृह (Clearing

बैंकर्स व महाजनों की अधिकता है और अधिकतर साख उन्हीं के द्वारा प्रदान की जाती है। रिजर्व बैंक का उन पर कोई विशेष नियन्त्रण नहीं है परन्तु कृषि की अधिकतर साख आवश्यकताओं की पूर्ति यही करते हैं। सहकारिता आन्दोलन के ५५ वर्षों के बाद भी इनका महत्व कम नहीं हुआ है और अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण (All India Rural Credit Survey) की रिपोर्ट के अनुसार महाजन, व्यापारी व कमीशन एजेन्टों के द्वारा ग्रामीण क्षेत्र की ७५.२ प्रतिशत साख आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है। अतः देशी बैंकर्स व महाजनों की अधिकता के कारण जो अनियन्त्रित व असंगठित हैं, भारतीय मुद्रा बाजार बहुत अस्त-व्यस्त रहता है।

(८) शाखा बैंकिंग का सन्तुलित विकास न होना (Lack of Balanced Development of Branch Banking)—द्वितीय महायुद्ध तक भारत में बैंकों की शाखायें बहुत कम थीं तथा बड़े-बड़े औद्योगिक व व्यापारिक केन्द्रों तक ही सीमित थीं। परन्तु द्वितीय महायुद्ध में भारत का औद्योगिक व व्यापारिक विकास तेजी से हुआ जिसके कारण बैंकों ने अपनी नयी शाखाओं को खोलना प्रारम्भ किया। परन्तु तब भी यह शाखायें मुख्य व्यापारिक केन्द्रों पर ही खोली गयीं और प्रतियोगिता के कारण एक ही स्थान पर बहुत से बैंकों की शाखायें हो गयीं तथा बहुत से स्थानों पर एक भी बैंक की शाखा न रही। इस प्रकार बैंकों की शाखा प्रसार (Branch Expansion) सुनियोजित नहीं था। परन्तु अब सरकार स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की ४०० शाखायें सन् १९६० तक ग्रामीण व अर्ध-ग्रामीण क्षेत्रों में खोल कर इस कमी को पूरा करने का प्रयत्न कर रही है।

इस प्रकार से भारतीय मुद्रा बाजार पूर्णतया विकसित नहीं और सुसंगठित नहीं है। यहाँ के मुद्रा बाजार में देशी बैंकर्स की प्रधानता है जो संगठित मुद्रा बाजार से बिल्कुल अलग है और उनमें तथा संगठित भाग में आपस में ताल-मेल नहीं है। इसलिए रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अपनी साख नियन्त्रण की नीति को पूर्ण रूप से प्रभावशाली नहीं बना पाता। व्याज की दरों में भी विभिन्नता है।

भारतीय मुद्रा बाजार के दोषों को दूर करने के लिये सुझाव (Suggestions to remove the defects of the Indian Money Market)—उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि भारतीय मुद्रा बाजार बहुत दोषपूर्ण है और इसके कारण ही भारत की साख व्यवस्था (Credit-System) तथा अर्थव्यवस्था विकसित नहीं होने पाती। इसके दोषों को दूर करना इसलिये बहुत ही आवश्यक हो जाता है। विभिन्न समयों पर नियुक्त की गयी बैंकिंग जाँच समितियों ने भी भारतीय मुद्रा बाजार को संगठित करने के लिये सुझाव दिये हैं। सरकार व रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया इस ओर प्रयत्नशील हैं और मुद्रा बाजार के दोषों को धीरे-धीरे दूर करने का प्रयत्न कर रहे हैं। सामान्य रूप से भारतीय मुद्रा बाजार के दोषों को दूर करने के लिये निम्न सुझाव दिये जा सकते हैं :—

विद्यालय आदि अपनी जमा केवल स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया में रखते हैं जिससे अन्य बैंकों को अधिक जमा प्राप्त नहीं हो पाती।

(२) भारतीय बैंकिंग के सम्बन्ध में सरकार की नीति उदासीन रही है। अभी बहुत समय पहले तक बैंकों के नियन्त्रण के लिये कोई उपयुक्त अधिनियम नहीं था। सन् १९३५ तक कोई केन्द्रीय बैंक नहीं था, जो विभिन्न बैंकों में सम्बन्ध स्थापित कर सकता।

(३) जनता की गरीबी के कारण बैंकों के पास अधिक धन जमा नहीं होने पाता। यहाँ पर लोग (अधिकतर ग्राम लोगों में) अपनी बचत को नकद में अपने पास या स्वर्ण के रूप में जमा करके रखना चाहते हैं। इससे बैंकों को यथेष्ट मात्रा में धन प्राप्त नहीं हो पाता और बैंकों का विकास द्रुत गति से नहीं हो पाता।

(४) भारत की बैंकिंग व्यवस्था पर कुछ बैंकों का पूर्ण एकाधिकार है। सन् १९५२ में व्यापारिक बैंकों के पास कुल ७,१४३ मिलियन रुपया जमा था जिसमें ५,८८३ मिलियन रुपया केवल दस बैंकों के पास जमा था। इन दस में भी ४,४०२ मिलियन रुपया चार बैंकों (इम्पीरियल बैंक, सेन्ट्रल बैंक, पंजाब नेशनल बैंक व बैंक ऑफ इण्डिया) में जमा था। इस प्रकार ७६ अनुसूचित बैंकों में से १० के पास ८१ प्रतिशत रुपया जमा था। इसी तरह से जितने भी ऋण व अग्रिम इन ७६ बैंकों ने दिये, उसमें ८० प्रतिशत भाग इन दस बैंकों का था। इस प्रकार भारतीय बैंकिंग पद्धति पर केवल कुछ ही बैंकों का अधिकार है।

(५) भारतीय बैंकों का विदेशों में कार्य बहुत सीमित है। सन् १९५२ में जबकि अनुसूचित बैंकों के पास कुल जमा ७,१५३ मिलियन रुपया था। केवल ५३९ मिलियन रुपया विदेशों में जमा था, जिसमें से ३४६ मिलियन रुपया पाकिस्तान में था। इसके अतिरिक्त भारतीय बैंक विदेशों में नकद जमा का अनुपात (Cash Ratio) बहुत अधिक रखते हैं जिससे वे जमा किये हुए धन का अधिक लाभ नहीं उठा सकते। इंगलैंड में भारतीय बैंक अपनी जमा का लगभग ५७ प्रतिशत भाग नकद में रखते हैं जबकि ब्रिटिश बैंक भारत में १० प्रतिशत ही नकद में रखते हैं। साथ ही इंगलैंड में भारतीय बैंक अपनी सम्पत्ति का अधिकांश भाग ब्रिटिश सरकार की प्रतिभूतियों (British Government Securities) में लगाते हैं, जिससे उनकी अपनी सम्पत्ति (Assets) पर अधिक लाभ नहीं मिल पाता।

(६) भारतीय बैंक विदेशी विनिमय का कार्य नहीं करते और लगभग सभी विनिमय बैंक विदेशी हैं। यह विदेशी बैंक भारतीय बैंक से प्रतियोगिता भी करते हैं और भारतीय बैंकों के सबसे बड़े प्रतिद्वन्द्वी हैं। अपनी साख व प्रतिष्ठा के कारण ये कम ब्याज की दर पर ही पर्याप्त मात्रा में जमा-धन आकर्षित कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त आन्तरिक व्यापार के जो लाभदायक क्षेत्र हैं, उन पर इन्होंने अधिकार जमा लिया है जिस कारण भारतीय बैंकों के पास केवल कम लाभदायक व्यापार ही रह गया है।

Houses) की संख्या में वृद्धि होना तो आवश्यक है ही, साथ ही इन गृहों का नवीन रीति से संगठन होना चाहिये, जिससे वे इतनी कुशलता प्राप्त कर सकें जितनी की यूरोप के समाशोधन-गृहों को प्राप्त है।

(१०) अखिल भारतीय बैंकर्स एसोसियेशन (All India Bankers Association) जिसकी स्थापना सन् १९४९ में हुई थी, के कार्यों का भी अधिक विस्तार हो जिससे कि वह मुद्रा बाजार के संगठन में अधिक योगदान दे सके। व्यापारिक बैंकों, विनिमय बैंकों व देशी बैंकर्स की एक सामूहिक संस्था होनी चाहिये जो साख समस्याओं पर विस्तार से विचार कर सके और विभिन्न साख संस्थाओं में सम्बन्ध स्थापित कर सके। इस समय देशी बैंकर्स व व्यापारिक बैंकों की अलग-अलग सभाएँ हैं, जिनमें कोई सम्पर्क नहीं है। इसके अतिरिक्त देशी बैंकर्स की बहुत सी सभायें हैं।

इस प्रकार भारतीय मुद्रा बाजार के दोषों को दूर करके भारतीय बैंकिंग पद्धति को सुदृढ़, सुव्यवस्थित व सुचालित बनाया जा सकता है। भारत के स्वतन्त्र होने से तथा रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण से मुद्रा बाजार के दोषों की संख्या कम होती जा रही है।

✶

Q. 192. Outline the banking problems of India, making concrete suggestions for their solution.

भारतवर्ष में बैंकिंग सुविधायें बहुत प्राचीन काल से चली आ रही हैं। प्राचीन ग्रन्थों से इस बात का पर्याप्त प्रमाण मिलता है कि भारतवर्ष में बैंक प्रथा बहुत लम्बे काल से प्रचलित रही है। वैदिक काल में विशेष व्यक्तियों के द्वारा रुपया उधार देने का कार्य किया जाता था। चाणक्य के अर्थशास्त्र से तथा बौद्धिक साहित्य से भी यह स्पष्ट है कि उस समय बैंकिंग सुविधायें पर्याप्त थीं तथा साख संस्थाओं के कार्य में अत्यधिक कार्यकुशलता थी। अंग्रेजी राज्य की स्थापना से भारत की प्राचीन साख पद्धति टूटने लगी और एजेन्सी गृहों (Agency Houses) की स्थापना हुई। इन्हीं एजेन्सी गृहों के द्वारा आधुनिक बैंकिंग प्रणाली का विकास हुआ। परन्तु भारत में सरकार ने बैंकों के विकास पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जिस कारण भारत की बैंकिंग व्यवस्था बहुत दोषपूर्ण रही और इसका सन्तुलित विकास न हो सका। बैंकों की समस्यायें व दोष अब भी पूरी तरह से दूर नहीं हो पाये हैं और संक्षेप में हम उनका वर्णन निम्न प्रकार से कर सकते हैं :—

(१) भारतवर्ष में बैंकों को सरकार व सार्वजनिक संस्थाओं की ओर से बहुत कम प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है। केन्द्रीय व राज्य सरकारें, सार्वजनिक संस्थाएं व अर्द्ध-सार्वजनिक संस्थाएँ जैसे नगरपालिका, पोर्ट ट्रस्ट्स, कोर्ट ऑफ वार्डस, विश्व-

विद्यालय आदि अपनी जमा केवल स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया मे रखते हैं जिससे अन्य बैंकों को अधिक जमा प्राप्त नही हो पाती।

(२) भारतीय बैंकिग के सम्बन्ध मे सरकार की नीति उदासीन रही है। अभी बहुत समय पहले तक बैंकों के नियन्त्रण के लिये कोई उपयुक्त अधिनियम नही था। सन् १६३५ तक कोई केन्द्रीय बैंक नही था, जो विभिन्न बैंकों में सम्बन्ध स्थापित कर सकता।

(३) जनता की गरीबी के कारण बैंको के पास अधिक धन जमा नहीं होने पाता। यहाँ पर लोग (अधिकतर ग्राम क्षेत्रो मे) अपनी बचत को नकद मे अपने पास या स्वर्ण के रूप मे जमा करके रखना चाहते हैं। इससे बैंकों को यथेष्ट मात्रा में धन प्राप्त नही हो पाता और बैंको का विकास द्रुत गति से नही हो पाता।

(४) भारत की बैंकिग व्यवस्था पर कुछ बैंको का पूर्ण एकाधिकार है। सन् १६५२ में व्यापारिक बैंको के पास कुल ७,१५३ मिलियन रुपया जमा था जिसमे ५,८४३ मिलियन रुपया केवल दस बैंको के पास जमा था। इन दस में भी ४,४०५ मिलियन रुपया चार बैंकों (इम्पीरियल बैंक, सेन्ट्रल बैंक, पंजाब नेशनल बैंक व बैंक ऑफ इण्डिया) में जमा था। इस प्रकार ७६ अनुसूचित बैंको मे से १० के पास ८६ प्रतिशत रुपया जमा था। इसी तरह से जितने भी ऋण व अग्रिम इन ७६ बैंकों ने दिये, उसमे ८० प्रतिशत भाग इन दस बैंको का था। इस प्रकार भारतीय बैंकिग पद्धति पर केवल कुछ ही बैंकों का अधिकार है।

(५) भारतीय बैंको का विदेशों मे कार्य बहुत सीमित है। सन् १६५२ में जबकि अनुसूचित बैंकों के पास कुल जमा ७,१५३ मिलियन रुपया था। केवल ६३६ मिलियन रुपया विदेशो मे जमा था, जिसमे से ३४६ मिलियन रुपया पाकिस्तान मे था। इसके अतिरिक्त भारतीय बैंक विदेशों मे नकद जमा का अनुपात (Cash Ratio) बहुत अधिक रखते हैं जिससे वे जमा किये हुए धन का अधिक लाभ नही उठा सकते। इंगलैंड मे भारतीय बैंक अपनी जमा का लगभग ५७ प्रतिशत भाग नगद मे रखते हैं जबकि ब्रिटिश बैंक्स भारत मे १० प्रतिशत ही नगद मे रखते हैं। साथ ही इंगलैण्ड में भारतीय बैंक अपनी सम्पत्ति का अधिकांश भाग ब्रिटिश सरकार की प्रतिभूतियों (British Government Securities) मे लगाते हैं, जिससे उनको अपनी सम्पत्ति (Assets) पर अधिक लाभ नही मिल पाता।

(६) भारतीय बैंक विदेशी विनिमय का कार्य नही करते और लगभग सभी विनिमय बैंक विदेशी हैं। यह विदेशी बैंक भारतीय बैंक मे प्रतियोगिता भी करते हैं और भारतीय बैंकों के सबसे बड़े प्रतिद्वन्द्वी हैं। अपनी साख व प्रतिष्ठा के कारण ये कम ब्याज की दर पर ही पर्याप्त मात्रा मे जमा-धन आकर्षित कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त आन्तरिक व्यापार के जो लाभदायक क्षेत्र हैं, उन पर इन्होने अधिकार जमा लिया है जिस कारण भारतीय बैंकों के पास केवल कम लाभदायक व्यापार ही रह गया है।

(७) भारतीय बैंकों को देशी बर्कों से भी प्रतियोगिता करनी होती है। देशी बैंकों का उधार देने का तरीका बहुत ही सरल है तथा बहुत बार वे बिना जमानत के भी रुपया उधार दे देते हैं। इस कारण बहुत सा व्यापार भारतीय बैंकों के हाथ से निकल जाता है।

(८) भारतीय बैंकों को एक ओर तो विदेशी बैंकों तथा देशी बर्क्स से प्रतियोगिता करनी पड़ती है, दूसरी ओर अभी तक इम्पीरियल बैंक भी इनका शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी था। यह प्रतिद्वन्द्विता अब भी समाप्त नहीं हुई है, क्योंकि स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया अब भी व्यापारिक बैंकों के कार्य करता है। केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी (Central Banking Committee) के अनुसार, "On the one hand, they are looked upon as dangerous rivals by the indigenous bankers, and on the other, they frequently find themselves in opposition to the old established exchange banks and the powerful Imperial Bank of India. Placed in this position, therefore, they have been only called the cinderella of the Indian banking system, and have only been able to exist amidst bickerings, suspicions and cut-throat competition."

(९) कुशल संचालकों एवं कार्यकर्ताओं का अभाव भी भारतीय बैंकों की एक समस्या है। अधिकतर बैंक अनुभवहीन संचालकों व अशिक्षित कर्मचारियों द्वारा चलाये जाते हैं। इसका प्रभाव बैंकों के विकास पर ठीक नहीं पड़ता, क्योंकि बैंक एक विशिष्ट संस्था है और जब तक विशिष्ट शिक्षा प्राप्त व्यक्ति इसका संचालन नहीं करेंगे, तब तक यह सफलता प्राप्त नहीं कर सकती।

(१०) बैंकों की एक मुख्य समस्या यह भी है कि युद्ध के बाद बैंकिंग व्यवसाय का संचालन ऐसे व्यक्तियों के हाथ में चला गया है, जिनका मुख्य कार्य बैंकिंग नहीं बल्कि उनका मुख्य व्यवसाय उद्योग व व्यापार है। हिन्दुस्तान कामर्शियल बैंक पर सिंघानिया का, पंजाब नेशनल बैंक पर साहू जैन का तथा यूनाइटेड कामर्शियल बैंक पर बिड़ला का एकाधिकार है। उद्योगपति व व्यापारी उद्योग व व्यापार को तो ठीक प्रकार से चला सकते हैं, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि बैंकों को भी ठीक प्रकार से चलायेंगे।

(११) बैंकों ने अपनी शाखाएँ एक ही स्थान पर खोली हैं। महायुद्ध के बाद जिस स्थान पर एक बैंक की शाखा थी, उसी स्थान पर अन्य बैंकों ने भी अपनी शाखायें खोल दीं। इसके कारण आर्थिक प्रतियोगिता बढ़ गई है और सेवाओं की दोबारगी के कारण संचालन व्यय भी बढ़ गया है। इसके अतिरिक्त विभिन्न स्थानों पर सन्तुलित बैंकिंग विकास भी नहीं हो पाया है।

(१२) बैंक कर्मचारियों व बैंक अधिकारियों के संघर्ष के कारण भी बैंकों के सामने एक समस्या बनी रहती है। पिछले कुछ वर्षों में बैंक अधिकारियों व क...

(६) बैंकों को अपने लाभ के अधिकांश भाग से एक इस प्रकार का कोष बनाना चाहिए जिससे उन ऋणों की रकम का प्रबन्ध किया जा सके जिनका भुगतान बैंकों को नहीं होता।

(७) बैंकों मे कर्मचारियो व अधिकारियो के झगडो को भी कम करने का प्रयत्न करना चाहिये। इस सम्बन्ध मे कर्मचारियो व अधिकारियो दोनों को अपने ऊपर नियन्त्रण लगाने होंगे। बैंक के कर्मचारियों को यह बात स्पष्ट समझा देनी चाहिये कि बैंक के विकास पर ही उनका हित निर्भर है और यदि बैंक मे झगड़े अधिक होंगे तो दीर्घकालीन मे ही उनको ही अधिक हानि होगी।

(८) देश के बैंकिंग विकास के लिये अ-अनुसूचित बैंकों (Non-scheduled Banks) को अपना सम्बन्ध अनुसूचित बैंको से स्थापित कर लेना चाहिए। इससे केवल बैंकिंग विकास ही प्रोत्साहित नही होगा, बल्कि अ-अनुसूचित बैंकों को भी लाभ होगा।

(९) बैंको को चाहिये कि वे अपने प्रतियोगियों से कुछ सीखें। स्वदेशी बैंकरों से कार्य सुगमता तथा मितव्ययता सीखें तथा विदेशी बैंकों और स्टेट बैंक से कार्यकुशलता सीखें।

(१०) बैंकों को अपना कार्य क्षेत्रीय भाषाओ मे भी करना चाहिए। इससे लोगों मे बैंकिंग आदत का विकास होगा। कुछ बैंको ने इन भाषाओ का प्रयोग करना प्रारम्भ किया है परन्तु उनकी संख्या बहुत कम है।

(११) बैंकों को कुशल कर्मचारी नियुक्त करने चाहियें और जहाँ तक सम्भव हो सके ऐसे लोग रक्खे जायें जो बैंकिंग प्रणाली से सुपरिचित हों। इस कार्य मे स्वदेशी बैंकरों से अधिक सहायता मिल सकती है। व्यापारिक केन्द्रो मे बको के योग्य कर्मचारियों के निर्माण के लिये उनकी शिक्षा का प्रबन्ध अखिल भारतीय बैंकर्स संघ द्वारा किया जाय।

(१२) पाश्चात्य देशों की भांति भारत में भी एक व्यक्ति, एक बैंक (one man, one bank) की पद्धति को अपनाया जाना चाहिये जिसमें एक व्यक्ति का सम्बन्ध केवल एक ही बैंक से होता है। यह तब ही सम्भव हो सकता है जबकि बैंक ऐसे व्यक्तियों एवं संस्थाओं को अपना ग्राहक नही बनाये, जिनका लेखा अन्य किसी दूसरे बैंक मे भी है। इसका एक लाभ यह भी होगा कि बैंक अपने ग्राहकों का पूरा परिचय भी रख सकेंगे जिससे उधार आदि देने में बहुत सरलता होगी।

(१३) अमेरिका की भांति हमारे देश में भी 'जमा बीमा पद्धति' (Deposit Insurance System) अपनायी जानी चाहिये जिससे कि बैंकों में जमाकर्त्ताओं की जमा की पूर्ण सुरक्षा हो सके। इस कार्य के लिए देश मे जमा बीमा कम्पनियों की स्थापना होनी चाहिये। पलाई सेन्ट्रल बैंक के फेल होने पर रिजर्व बैंक ने इस पद्धति को प्रारम्भ कर दिया है।

चाहियें जिस प्रकार की सहकारी वैंकों को मिली हुई हैं। यह रियायतें, विशेष सुविधायें सस्ते मूल्य पर प्रदान करके तथा रजिस्ट्रेशन व स्टाम्प कर में कमी करके प्रदान की जा सकती हैं। कुछ समय के लिए सुपरटैक्स से भी स्वतन्त्रता प्रदान करनी चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि यह सुविधायें स्थायी तौर पर प्रदान कर दी जावें, बल्कि समय के बाद इन सुविधाओं को वापिस लिया जा सकता है।

(२) केन्द्रीय वैंकिंग कमेटी (Central Banking Committee) ने इस बात पर अधिक जोर दिया था कि सब बैंकों की एक अखिल भारतीय वैंकर्स सभा हो जिसके सदस्य केवल व्यापारिक वैंक ही न हों बलिक विनिमय वैंक भी हों। अभी भारत में व्यापारिक व विनिमय वैंकों की अलग-अलग सभायें हैं। इस सभा का कार्य इस प्रकार के सिद्धान्तों का निर्धारण करना होगा जिससे कि विनिमय वैंक व व्यापारिक वैंकों की प्रतिद्वन्दिता को दूर किया जा सके। इसके अतिरिक्त श्री सूबेदार व श्री सरकार के अनुसार विनिमय वैंकों को भारत के आन्तरिक भागों में शाखायें खोलने की आज्ञा नहीं मिलनी चाहिये तथा इनका व्यापार बन्दरगाहों तक ही सीमित रहना चाहिये। जो शाखायें पहले से हैं उनको ऐसे ही रहने देना चाहिए।

(३) उत्तराधिकार के वर्तमान नियमों के कारण व्यापारिक वैंकों को जमानत सम्बन्धी जो कुछ भी वैधानिक अड़चनों का सामना करना पड़ता है, उनसे उनके ऋण कार्यों में बहुत रुकावट होती है। अत: उपरोक्त नियमों में इस प्रकार का सुधार होना चाहिये कि उक्त बाधाओं का शीघ्र निवारण हो जाय।

(४) केन्द्रीय कमेटी (Central Committee) ने इस बात पर जोर दिया था कि रिजर्व वैंक वैंकों को प्रोत्साहित करे कि वे उन स्थानों पर शाखायें खोलें जहां पर कोई बैंक नहीं है। इसके लिये रिजर्व वैंक को पांच वर्ष तक कुछ रुपया वैंक की इस नई शाखा के पास रखना चाहिये। इस नई शाखा को निःशुल्क' विशेष सुविधायें प्रदान करनी चाहियें, इनके बिल्स को वैंक दर से कम दर पर पुन: भुनाना चाहिये और प्रोनोटों के आधार पर आसानी से रुपये मिलने का प्रवन्ध करना चाहिए। रिजर्व वैंक ने अन्तिम दो सुविधाओं को तो प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया है, परन्तु प्रथम सुविधा पर ध्यान नहीं दिया है।

(५) वैंकों को अपने लाभों को बढ़ाने पर अधिक ध्यान देना चाहिए। ऐसा करने के लिये जमा की हुई रकम पर कम सूद की दर देनी चाहिये तथा अग्रिमों व ऋणों पर अधिक व्याज लेना चाहिये। वैंक जो सामान्य सेवाएँ प्रदान करता है, उसके लिये भी उपयुक्त कमीशन लेना चाहिये जो या तो वैंक लेता नहीं और यदि लेता है तो बहुत कम। भारतवर्ष में सारे देश के लिये एक सी दरें तो नहीं हो सकतीं परन्तु रिजर्व वैंक की सहायता से अन्य वैंकों को क्षेत्रीय समझौते कर लेने चाहियें तथा उन पर अमल करना चाहिये।

के मुद्रा बाजार का एक मुख्य दोष यह है कि यहाँ के मुद्रा बाजार में व्यापारिक बिलों तथा हुण्डियों का प्रयोग बहुत कम किया जाता है। यह तथ्य इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि व्यापार बैंकों की कुल जमा का केवल ३ प्रतिशत से ६ प्रतिशत तक ही व्यापारिक बिलों में विनियोजित होता है। अन्य देशों में व्यापारिक बैंकों की जमा का अधिकांश भाग बिलों में रहता है। हमारे देश में बिल बाजार के सुसंगठित न होने के निम्नलिखित कारण हैं :—

(१) ऋणों का नकद साख के रूप में दिया जाना (Provision of Loans in the Form of Cash Credit)—भारतीय बैंक बिलों को भुनाने की अपेक्षा नकद साख का देना अधिक पसन्द करते हैं। साथ ही ग्राहक भी इस प्रकार की साख लेना पसन्द करते हैं। बैंक इसको इस कारण पसन्द करते हैं कि उनको स्वतन्त्रता रहती है कि जब वे चाहें इसको वापिस ले लें। ऋणी भी कम ब्याज की दर होने के कारण इस प्रकार के ऋण को पसन्द करते हैं।

(२) बैंकों का अधिक विनियोग सरकारी प्रतिभूतियों में होना (Large portion of the investment of Banks is in the Government Securities)—भारतीय बैंक अपनी जमा का अधिकांश भाग सरकारी प्रतिभूतियों में लगाते हैं क्योंकि इस प्रकार के विनियोजन में उनके साधन अधिक तरल रहते हैं। भारतवर्ष की अवस्था व लोगों की बैंकिंग आदत को देखते हुये यह आवश्यक भी है क्योंकि जनता की द्रव्य की तरलता पसन्दगी (Liquidity Preference) अन्य देशों के व्यक्तियों की तुलना में अधिक है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के विनियोजन पर लाभ भी अधिक मिल जाता है। परन्तु अब इस स्थिति में परिवर्तन हो रहा है। इन पर अधिक

रूपरेखा :

(१) भारत में बिल बाजार की स्थिति।

(२) बिल बाजार के असंगठित होने के कारण।
   - (i) ऋणों का नकद साख के रूप में दिया जाना;
   - (ii) बैंकों का अधिक विनियोग सरकारी प्रतिभूतियों में होना,
   - (iii) पुनः बट्टा सुविधाओं का अभाव;
   - (iv) निर्गम गृह व स्वीकृति गृहों का अभाव,
   - (v) हुण्डियों की स्थानीय विभिन्नता,
   - (vi) मुद्रांक कर का आधिक्य;
   - (vii) कोषागार विपत्रों का निर्गमन;
   - (viii) प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण लेना।

(३) जनवरी सन् १९५२ की बिल बाजार योजना।

(४) योजना का विकास व आलोचना।

(१४) बैंकों की ऋण नीति में भी सुधार होना चाहिये। बहुत से बैंक अपनी क्षमता के बाहर भी ऋण दे देते हैं और ऋण लेने वालों की साख की समुचित जांच नहीं करते। बहुत बार बिना किसी उपयुक्त प्रतिभूति के भी ऋण दे दिया जाता है। अब सरकार ने इस सम्बन्ध में नियम बना दिया है कि समय व मांग देय का २०% भाग तरल आदेशों (Liquid Assets) के रूप में रहना चाहिए। बैंकों को स्वयं ऋण देने से पहले इस बात का पूरा विश्वास कर लेना चाहिये कि ऋण ठीक उपयोग के लिये लिया जा रहा है और ऋणी ऋण को ठीक समय पर मूल व ब्याज सहित लौटाने में सफल होगा।

(१५) छोटे-छोटे बैंकों का आपस में या बड़े बैंकों के साथ विलयन (Amalgamation) करा देना चाहिये। इससे प्रबन्ध में मितव्ययता व कार्यकुशलता बढ़ जायगी।

(१६) बैंकों के अपने साख सूचना विभाग को उन्नत करना चाहिए जिससे ग्राहकों की वास्तविक आर्थिक स्थिति का पता लग सके। रिजर्व बैंक एक साख सूचना विभाग स्थापित करने के सम्बन्ध में विचार कर रहा है। यदि यह विभाग स्थापित हो गया तो रिजर्व बैंक प्रत्येक अनुसूचित बैंक को यह सूचना प्रदान कर सकेगा कि किसी व्यक्ति अथवा संस्था ने सभी बैंकों से मिलकर कितना ऋण ले रक्खा है।

(१७) जिन शहरों में समाशोधन गृह नहीं है किन्तु जहां कहीं बैंकों के कार्यालय हैं, उनमें समाशोधन गृह स्थापित किए जायें तथा इनकी सदस्यता सम्बन्धी नियम कुछ ढीले किए जायें जिससे अधिक बैंक उनके सदस्य बन सकें।

(१८) बैंक के हिसाब-किताब की कड़ाई से जांच होनी चाहिये तथा रिजर्व बैंक को चाहिए कि बैंकिंग कम्पनीज एक्ट द्वारा दिये गये उस अधिकार का बार-बार प्रयोग करे जिसके अनुसार वह अन्य बैंकों के हिसाब-किताब आदि की जांच करता है।

इस प्रकार से बैंकों के कार्यसंचालन संगठन आदि में सुधार करके बैंकों की समस्याओं व दोषों को दूर किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में बैंकों, रिजर्व बैंक व सरकार सबको मिलकर प्रयत्न करना होगा।

Q. 193. Briefly describe the causes responsible for the absence of bill market in India. Point out the salient features of the Bill Market Scheme introduced by the Reserve Bank of India in January 1952.

किसी भी देश के मुद्रा बाजार के विकास के लिये तथा साख यंत्र के सुविधा-पूर्वक चलने के लिये एक सुसंगठित बिल बाजार का होना आवश्यक है। भारतवर्ष

के मुद्रा बाजार का एक मुख्य दोष यह है कि यहाँ के मुद्रा बाजार मे व्यापारिक बिलों तथा हुण्डियो का प्रयोग बहुत कम किया जाता है। यह तथ्य इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि व्यापार बैंकों की कुल जमा का केवल ३ प्रतिशत से ६ प्रतिशत तक ही व्यापारिक बिलो मे विनियोजित होता है। अन्य देशों में व्यापारिक बैंकों की जमा का अधिकांश भाग बिलो मे रहता है। हमारे देश मे बिल बाजार के सुसगठित न होने के निम्नलिखित कारण हैं :—

रूपरेखा :

(१) भारत मे बिल बाजार की स्थिति।

(२) बिल बाजार के असगठित होने के कारण :

(i) ऋणों का नकद साख के रूप में दिया जाना;

(ii) बैंकों का अधिक विनियोग सरकारी प्रतिभूतियों मे होना;

(iii) पुनः बट्टा सुविधाओ का अभाव;

(iv) निर्गम गृह व स्वीकृति गृहो का अभाव;

(v) हुण्डियो की स्थानीय विभिन्नता,

(vi) मुद्राक कर का आधिक्य;

(vii) कोषागार विपत्रो का निर्गमन;

(viii) प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण लेना।

(३) जनवरी सन् १९५२ की बिल बाजार योजना।

(४) योजना का विकास व आलोचना।

(१) ऋणों का नकद साख के रूप में दिया जाना (Provision of Loans in the Form of Cash Credit)—भारतीय बैंक बिलो को भुनाने की अपेक्षा नकद साख का देना अधिक पसन्द करते हैं। साथ ही ग्राहक भी इस प्रकार की साख लेना पसन्द करते हैं। बैंक इसको इस कारण पसन्द करते हैं कि उनको स्वतन्त्रता रहती है कि जब वे चाहें इसको वापिस ले लें। ऋणी भी कम ब्याज की दर होने के कारण इस प्रकार के ऋण को पसन्द करते हैं।

(२) बैंकों का अधिक विनियोग सरकारी प्रतिभूतियों में होना (Large portion of the investment of Banks is in the Government Securities)—भारतीय बैंक अपनी जमा का अधिकांश भाग सरकारी प्रतिभूतियो मे लगाते हैं क्योंकि इस प्रकार के विनियोजन मे उनके साधन अधिक तरल रहते हैं। भारतवर्ष की अवस्था व लोगों की बैंकिंग आदत को देखते हुये यह आवश्यक भी है क्योंकि जनता की द्रव्य की तरलता पसन्दगी (Liquidity Preference) अन्य देशों के व्यक्तियों की तुलना मे अधिक है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के विनियोजन पर लाभ भी अधिक मिल जाता है। परन्तु अब इस स्थिति में परिवर्तन हो रहा है। इन पर अधिक

लाभ मिलने के कारण वैंक व्यापारिक विलों में भी रुपया लगाना पसन्द करते लगे हैं।

(३) पुनः बट्टा सुविधाओं का अभाव (Lack of Rediscounting Facilities)—भारतवर्ष में विलों के दुवारा भुनाये जाने की सुविधाओं का अभाव है। रिजर्व वैंक की स्थापना से पूर्व इम्पीरियल वैंक ऑफ इण्डिया (Imperial Bank of India) इस कार्य को करता था, परन्तु व्यापारिक वैंकों का प्रतियोगी होने के कारण अन्य वैंक इस में विश्वास कम रखते थे और इन सुविधाओं का यथेष्ट प्रयोग नहीं करते थे। रिजर्व वैंक की स्थापना से यद्यपि यह दोष कुछ मात्रा तक दूर हो गया है परन्तु यह वैंक भी इस प्रकार की सुविधायें केवल सीमित मात्रा में ही दे सका है।

(४) निर्गम गृह तथा स्वीकृति गृहों का अभाव (Lack of Issue Houses and Acceptance Houses)—बिल बाजार के विकास के लिए निर्गम गृहों व स्वीकृति गृहों की अत्यधिक आवश्यकता है जो विलों को स्वीकार करके लिखने वालों की आर्थिक स्थिति का सही ज्ञान दे सके। भारतवर्ष में इस प्रकार की वित्तीय संस्थाओं की कमी है जिसके कारण वैंक बिलों को भुनाने में हिचकिचाते हैं।

(५) हुण्डियों की स्थानीय विभिन्नता (Local Differences in Hundies)—भारतवर्ष में हुण्डियाँ भी विशेष साख-पत्र हैं जिनका उपयोग व्यापार में काफी होता है, परन्तु इन हुण्डियों में कोई प्रमाणीकरण (Standardisation) नहीं हुआ है। विभिन्न स्थानों में प्रचलित हुण्डियों की भाषा, रूप और स्वभाव में इतनी अधिक भिन्नता है कि इनका कोई अखिल भारतीय बाजार नहीं बन पाया है। इनका प्रयोग केवल स्थानीय ही है और देश के एक भाग में लिखी गई हुण्डियों का प्रयोग दूसरे भाग में नहीं किया जाता।

(६) मुद्रांक कर का आधिक्य (Excessive Stamp Duty)—बहुत अधिक समय तक भारत में बिल बाजार के विकसित न हो सकने कारण यह भी था कि सन् १९४० तक मुद्रांक कर की दर बहुत ऊँची थी जिसके कारण विलों का भुनाना लाभपूर्ण नहीं रहता। सन् १९४० के बाद से सरकार ने इस कर की दर में कमी कर दी है जिससे विलों के प्रयोग को प्रोत्साहन मिला है।

(७) कोषागार विपत्रों का निर्गमन (Issue of Treasury Bills)—हमारे देश में सरकार अपनी वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कोषागार विपत्रों का ही निर्गमन करती रही है जिसके कारण इस प्रकार के विपत्रों का अधिक प्रचलन रहा है। व्यापारिक वैंक भी इन विपत्रों में विनियोग करना अधिक लाभदायक समझते हैं क्योंकि इनमें सुरक्षा अधिक है। इस कारण व्यापारिक विपत्रों को अधिक प्रोत्साहन नहीं मिलता।

(८) व्यापारिक वैंक रिजर्व वैंक से प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण लेना अधिक अच्छा समझते हैं (Commercial Banks think it more profitable to

take loan on the Basis of Government Securities)—भारतीय मुद्रा बाजार में किसी बैंक के द्वारा बिलो को भुना कर ऋण लेना उस बैंक की कमजोरी समझी जाती है। इसलिए व्यापारिक बैंक बिलो को भुनाने के स्थान पर सरकारी प्रतिभूतियों पर ऋण लेना अधिक अच्छा समझते हैं। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक केवल स्वीकृत बिलो को ही भुनाता है किन्तु इस प्रकार के बिलो को निश्चित करने की विधि नही बतलाता है जिसके कारण बिलो को भुनाने मे बैंकों को जोखिम रहती है।

इस प्रकार से भारतवर्ष मे बिल बाजार का सगठित विकास नही हो पाया है हालांकि हमारे यहाँ हुँडियो का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से होता रहा है। यहाँ पर बिल बाजार के विकास की कमी को महसूस किया गया है तथा समय-समय पर इसके विकास के लिये विभिन्न सुझाव दिये गये है। सन् १६२६ मे केन्द्रीय बैंकिंग जांच समिति (Central Banking Enquiry Committee) का यह विचार था कि किसी भी देश की बैंकिंग व्यवस्था का पूर्ण विकास बिल बाजार के बिना नही किया जा सकता; और इस कारण इस समिति ने बिल बाजार के विकास पर विशेष जोर दिया। इसने बहुत से सुझाव भी बिल बाजार को विकसित करने के लिये दिये। सरकार ने उसके कुछ सुझावों को कार्य-रूप मे लाने का प्रयत्न भी किया जिससे स्थिति मे कुछ सुधार हुआ परन्तु बिल बाजार का उपयुक्त विकास नही हो सका।

सन् १६३५ मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना हुई और यह अनुमान लगाया गया कि यह बैंक शीघ्र ही सगठित बिल बाजार का विकास करेगा। परन्तु सन् १६३७ मे द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया और युद्ध समाप्त होने के बाद ही सन् १६४७ में भारत का विभाजन हो गया। बैंक इन असामान्य परिस्थितियों के कारण बिल बाजार के विकास पर अधिक ध्यान नही दे सका। फिर भी बैंक समय-समय पर सुझाव देता रहा और इसके प्रयत्नो के फलस्वरूप बिल बाजार का सीमित विकास हुआ। जनवरी सन् १६५२ मे रिजर्व बैंक ने अपनी बिल बाजार के विकास सम्बन्धी योजना को क्रियात्मक रूप दिया और बिलो के प्रयोग को प्रोत्साहित करने के लिये विभिन्न सुविधायें दी।

जनवरी सन् १६५२ की बिल बाजार योजना (Bill Market Scheme of January 1952)—सन् १६५१ मे मुद्रा प्रसार को रोकने के लिए रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने बैंक दर को ३ प्रतिशत से बढ़ाकर ३½ प्रतिशत कर दिया। बैंक दर मे परिवर्तन साथ ही बैंक ने खुले बाजार की क्रियाओ की नीति में भी परिवर्तन किया। बैंक ने व्यापारिक बैंको से प्रतिभूतियों को क्रय करना बन्द कर दिया जिससे बैंको को साधनो की कमी प्रतीत होने लगी। जमाओं के कम होने, मूल्यो के बढने, आयातो के अधिक होने तथा सरकारी प्रतिभूतियों के कम होने के कारण बैंको की सामयिक मांगों (Seasonal demands) को पूरा करने मे कठिनाइयाँ प्रतीत होने लगी। इस

समय यह देखा गया कि इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए बिल बाजार का विकास करना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए बड़े अनुसूचित बैंक के प्रतिनिधियों की सम्मति से बिल बाजार के विकास के लिये एक योजना बनाई गयी जिसको १६ जनवरी सन् १९५२ से प्रारम्भ कर दिया गया। प्रारम्भ में यह केवल प्रयोगात्मक योजना ही थी परन्तु बाद में इसको भारतीय मुद्रा बाजार की स्थायी विशेषता बना दी गयी।

बिल योजना की प्रमुख विशेषताएं (Salient Features of the Bill Scheme)—रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने १६ जनवरी सन् १९५२ से जिस बिल योजना को प्रारम्भ किया उसकी प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित थीं :—

(१) रिजर्व बैंक ने बैंकों के प्रतिज्ञा पत्रों व बिलों के आधार पर अनुसूचित बैंकों को मांग ऋण (Demand loans) देना स्वीकार किया।

(२) रिजर्व बैंक ने बिल्ज को अधिक लोकप्रिय बनाने के लिये इनको बैंक दर से आधा प्रतिशत कम दर पर (३ प्रतिशत) भूनाना स्वीकार किया। भारतीय केन्द्रीय बैंकिग जांच समिति ने भी यह सुझाव दिया था कि बिल्ज को भुनाने की दर प्रतिभूतियों पर ऋण देने की दर से कम होनी चाहिये।

(३) बिल्ज के प्रयोग को अधिक प्रोत्साहन देने के लिये बैंक ने यह स्वीकार कर लिया कि मांग बिल (Demand Bill) को समय बिल (Time Bill) में परिवर्तित करने में मुद्रांक कर का आधा व्यय वह दे देगा। भारतीय केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने मुद्रांक कर को बिल्कुल समाप्त कर देने का सुझाव दिया था। प्रान्तीय सरकारें इस सुझाव को मानने के लिये तैयार नहीं थीं। फिर भी सन् १९४० में मुद्रांक कर को घटा कर २ आना प्रति हजार रुपया कर दिया गया था।

(४) रिजर्व बैंक ने बैंकों के द्वारा बिलों की आड़ पर लिये जाने वाले ऋणों की न्यूनतम सीमा २५ लाख रुपया निश्चित की जिसमें से कोई भी व्यक्तिगत बिल १ लाख रुपये के मूल्य से कम नहीं होना चाहिये था।

योजना का विकास (Development of the Scheme)—प्रारम्भ में इस योजना को केवल उन अनुसूचित बैंकों तक ही सीमित रक्खा गया जिनकी जमा ३१ दिसम्बर सन् १९५१ तक १० करोड़ रुपये से कम नहीं थी। यह इसलिये किया गया था कि यदि छोटे बैंक व छोटे बिल्ज भी इस योजना में सम्मिलित कर लिए जाते तो सफल कार्यसंचालन में देरी होती।

यह योजना प्रारम्भ से हो सफल रही यद्यपि कुछ कठिनाइयां सामने आईं। बिल्ज की जमानत पर ऋण की मात्रा १० मई सन् १९५२ को २९·६ करोड़ रुपये थी जो उस समय तक ऋण की मात्रा में सबसे अधिक थी। ३० जून सन् १९५२ तक ७४ करोड़ का ऋण बिल्ज के आधार पर दिया जा चुका था।

Indian Banks'Association ने यह मालूम किया कि रिजर्व बैंक की शर्तों के अनुसार केवल कुछ बैंक ही इस योजना का लाभ उठा पा रहे हैं। इसने रिजर्व बैंक से प्रार्थना की कि इन शर्तों को कुछ ढीला कर दिया जाय। इसलिए जून सन् १९५३ में इस योजना को विस्तृत कर दिया गया और जिन बैंकों की जमा ५ करोड़ या इससे अधिक थी (भारत से बाहर भी जमाओं को सम्मिलित करके) उनको इस योजना मे सम्मिलित कर लिया गया। इससे इस योजना का प्रयोग अधिक किया जाने लगा। जनवरी-जून सन् १९५४ के बीच इस योजना के अन्तर्गत लिए गए ऋण की मात्रा १२२·२२ करोड़ रुपये थी जबकि पिछले वर्ष इसी दौरान मे ऋण की मात्रा ६०·८ करोड रुपये थी। सन् १९५४ मे इस योजना के अन्तर्गत प्रतिभूतियों के आधार पर लिए गए ऋणों से भी अधिक ऋण लिए गए। जुलाई सन् १९५४ में Committee on Finance for Private Sector के सुझाव पर प्रत्येक उस अनुसूचित बैंक को इस योजना मे सम्मिलित कर लिया जिसने बैंकिंग कम्पनीज एक्ट, सन् १९४९ (Banking Companies Act, 1949) की धारा २२ के अन्तर्गत लाइसेन्स प्राप्त कर लिया था। जमा सम्बन्धी शर्त को समाप्त कर दिया गया। साथ ही बैंकों की ऋण सम्बन्धी न्यूनतम सीमा को घटा कर १० लाख रुपया कर दिया तथा व्यक्तिगत बिल की राशि को घटा कर ५०,००० रुपये कर दिया गया। सन् १९५६ मे इस योजना मे एक संशोधन किया गया जिसके अनुसार अब रिजर्व बैंक की बिल्ज के आधार पर ऋण देने की दर से केवल ½% कम रक्खी गई तथा मुद्रांक कर (Stamp Duty) सम्बन्धी सहायता को भी हटा लिया गया। २२ फरवरी सन् १९५७ से ऋण की न्यूनतम सीमा को १० लाख रुपये से घटा कर ५ लाख कर दिया। अब बिल्ज के आधार पर ऋण देने की दर मे जो कमी की गई थी उसको बिल्कुल समाप्त कर दिया गया है।

योजना की आलोचना (Criticism of the Scheme)—इस योजना को बिल बाजार के विकास की ओर एक महत्वपूर्ण कदम माना गया था। सर्वप्रथम तो यह कहा गया कि बैंक ने बिल्ज पर बैंक दर पर आधा प्रतिशत कम दर पर जो ऋण देना स्वीकार किया यह उसकी दुर्लभ द्रव्य नीति (Dear Money Policy) के विरुद्ध जो उसने २१ नवम्बर सन् १९५१ से बैंक दर मे ½%की वृद्धि करके की थी। परन्तु इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार का विशेष लाभ मुद्रा बाजार के केवल छोटे से भाग को ही प्राप्त था। इसके अतिरिक्त वित्तीय साधनों में इस प्रकार से परिवर्तन लाने के लिये कि नकद साख (Cash Credit) व अधिविकर्ष (Overdrafts) सुविधाओं के स्थान पर बिल्ज का प्रयोग अधिक होने लगे, इस सुविधा का देना अत्यन्त आवश्यक था। जिस तेजी के साथ इस योजना का लाभ उठाया गया वह इसका प्रमाण है कि इस सुविधा ने बिल्ज के उपयोग को यथेष्ट प्रोत्साहन दिया है।

दूसरे, इस योजना की यह आलोचना भी की गई कि व्यापार व उद्योग को साख की आवश्यकता सदा ही बनी रहती है। इसलिये व्यस्त समय (Busy season) में बिल्ज के आधार पर केवल तीन महीने के लिए ही ऋण प्रदान करने की सुविधा नहीं मिलनी चाहिये। यहाँ पर इसके उत्तर में एक बात को स्पष्ट करना आवश्यक होगा कि इस योजना का प्रारम्भ मुद्रा बाजार में व्यस्त समय में द्रव्य की कमी को दूर करना था। मन्द काल (Slack season) में बैंकों के पास यथेष्ट साधन साख आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये रहते हैं। इसके अतिरिक्त यदि बाद में यह समझा जाय कि बिल्ज का प्रयोग वर्ष के पूरे भाग में होना चाहिये तो इस योजना के क्षेत्र को विस्तृत किया जा सकता है।

तीसरे, बिल्ज की आड़ पर लिए जाने वाले ऋणों की न्यूनतम सीमा की भी आलोचना की गई। प्रारम्भ में यह सीमा २५ लाख थी जिसको सन् १९५४ में घटा कर १० लाख कर दिया गया तथा सन् १९५७ में घटाकर ५ लाख। इस सम्बन्ध में यह कहा गया कि यह सीमा इतनी अधिक है कि भारतीय मुद्रा बाजार के केवल कुछ ही बैंक (जैसे स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, विभिन्न विनिमय बैंक आदि) इसका लाभ उठा सकेंगे। यह आलोचना भी अधिक महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि बैंक धीरे-धीरे इस सीमा को घटाता जा रहा है। इसके अतिरिक्त बड़े बैंकों को लाभ होने से अप्रत्यक्ष रूप से छोटे बैंकों को भी लाभ होगा।

चौथे, रिजर्व बैंक के द्वारा जो जांच-पड़ताल व निरीक्षण किया जाता है उसकी भी आलोचना बैंकों ने की है। एक बैंकर B. T. Thakur ने ५ मई, सन् १९५६ के Commerce में लिखा, "The inquisitional enquiries of the Bank before accepting any name of primary borrower, or the scrutiny of securities given by the borrower to the banker is not the normal method of discounting by Central Banks. From A to Z, it is based on suspicion ,mistrust and inhibited by petty-mindedness."

यह भी आलोचना सारहीन है क्योंकि योजना के प्रारम्भ में इस प्रकार की सावधानी आवश्यक थी। जैसे-जैसे इस योजना का विकास होता जायगा वैसे-वैसे बिल्ज के भुनाने का कम जटिल तरीका अपनाया जाने लगेगा।

योजना का कार्यसंचालन (Working of the Scheme)—बिल बाजार योजना को प्रारम्भ हुए लगभग आठ वर्ष हो गये हैं। चार वर्ष की अवधि में ही इस योजना में भाग लेने वाले बैंकों की संख्या २७ से बढ़ कर ४५ हो गई। अब लगभग प्रत्येक लाइसेन्स प्राप्त बैंक को इस योजना में सम्मिलित कर लिया गया है। इस योजना की सफलता का सिद्धीकरण निम्नलिखित तालिका से हो जायगा :—

Table I

Gross Advances (i. e. Exclusive of Repayments)
Made by the Reserve Bank (1951–57)
(In Crores of Rupees)

Last Friday of	Under Section 17 (4) (a) (against Government securities)	Under Section 17 (4) (c) (against bills under the Scheme)	Total advances
1951	75 57	... ...	76·57
1952	164 25 (66 8)	81·45 (33 2)	245 70
1953	129·58 (66·3)	65·84 (33·7)	195·42
1954	188·70 (56·2)	147·52 (43·8)	336 21
1955	199·94 (47·06)	225·44 (52·94)	425·38
1956	466 95 (51·66)	436·82 (48·34)	903·77
1957	353 78 (46·1)	414·81 (53·9)	768 59

The Committee on Finance for the Private Sector ने बिल बाजार योजना के कार्यसंचालन पर सन्तोष प्रकट करते हुये लिखा था, "It (the Scheme) has been a very welcome addition to the money market of the country and has been of substantial help to the commercial banks. It has succeeded by and large in fulfilling the purpose for which it was started and it has come to stay as a permanent feature of the money market."[2]

Q. 194. Briefly point out the Bill Market Scheme as introduced by the Reserve Bank of India in 1952. Also give some suggestions to further develop the bill market in the country.

(बिल बाजार योजना के लिए इसी अध्ययन के प्रश्न १६३ को देखिये।)

भारत में बिल बाजार को विकसित करने के लिये जो बिल बाजार योजना रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया ने सन् १६५२ में प्रारम्भ की थी उसको सफलता मुख्य दो कारणों से मिली। पहला कारण तो यह था कि नवम्बर सन् १६५१ से पहले

1. B. T. Thakur : "Bureaucracy and Bank," Commerce, May 5, 1956.

2. The Report of the Committee on Finance on the Private Sector, 1954. page 56-57.

दूसरे, इस योजना की यह आलोचना भी की गई कि व्यापार व उद्योग को साख की आवश्यकता सदा ही बनी रहती है। इसलिये व्यस्त समय (Busy season) में बिल्ज के आधार पर केवल तीन महीने के लिए ही ऋण प्रदान करने की सुविधा नहीं मिलनी चाहिये। यहाँ पर इसके उत्तर में एक बात को स्पष्ट करना आवश्यक होगा कि इस योजना का प्रारम्भ मुद्रा बाजार में व्यस्त समय में द्रव्य की कमी को दूर करना था। मन्द काल (Slack season) में बैंकों के पास यथेष्ट साधन साख आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये रहते हैं। इसके अतिरिक्त यदि बाद में यह समझा जाय कि बिल्ज का प्रयोग वर्ष के पूरे भाग में होना चाहिये तो इस योजना के क्षेत्र को विस्तृत किया जा सकता है।

तीसरे, बिल्ज की आड़ पर लिए जाने वाले ऋणों की न्यूनतम सीमा की भी आलोचना की गई। प्रारम्भ में यह सीमा २५ लाख थी जिसको सन् १९५४ में घटा कर १० लाख कर दिया गया तथा सन् १९५७ में घटाकर ५ लाख। इस सम्बन्ध में यह कहा गया कि यह सीमा इतनी अधिक है कि भारतीय मुद्रा बाजार के केवल कुछ ही बैंक (जैसे स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, विभिन्न विनिमय बैंक आदि) इसका लाभ उठा सकेंगे। यह आलोचना भी अधिक महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि बैंक धीरे-धीरे इस सीमा को घटाता जा रहा है। इसके अतिरिक्त बड़े बैंकों को लाभ होने से अप्रत्यक्ष रूप से छोटे बैंकों को भी लाभ होगा।

चौथे, रिजर्व बैंक के द्वारा जो जांच-पड़ताल व निरीक्षण किया जाता है उसकी भी आलोचना बैंकों ने की है। एक बैंकर B. T. Thakur ने ५ मई, सन् १९५६ के Commerce में लिखा, "The inquisitional enquiries of the Bank before accepting any name of primary borrower, or the scrutiny of securities given by the borrower to the banker is not the normal method of discounting by Central Banks. From A to Z, it is based on suspicion, mistrust and inhibited by petty-mindedness."

यह भी आलोचना सारहीन है क्योंकि योजना के प्रारम्भ में इस प्रकार की सावधानी आवश्यक थी। जैसे-जैसे इस योजना का विकास होता जायगा वैसे-वैसे बिल्ज के भुनाने का कम जटिल तरीका अपनाया जाने लगेगा।

योजना का कार्यसंचालन (Working
योजना को प्रारम्भ हुए लगभग आठ वर्ष हो
इस योजना में भाग लेने वाले बैंकों की
लगभग प्रत्येक लाइसेन्स प्राप्त बैंक
गया है। इस योजना की सफलता
जायगा :—

सन् १९४५ में अमेरिका में एक इसी प्रकार की योजना पुर्ननिर्माण वित्त निगम (Reconstruction Finance Corporation) की साझेदारी में प्रारम्भ की गई थी जो Blanket Participation Agreement के नाम से प्रसिद्ध है। इस योजना में बैंक को २½ लाख डालर तक के ऋण देने का अधिकार दिया गया था जिसका ७५ प्रतिशत भाग पुर्ननिर्माण वित्त निगम के द्वारा प्रमाणित (Guaranteed) किया जाता था और यह निगम उक्त भाग को बैंक्स दे देती थी। भारत मे भी कुछ इसी प्रकार की योजना को प्रारम्भ किया जा सकता है।

(२) विपत्रों की अवधि को अधिक करना (Increasing the Usance of Bills)—'विपत्र बाजार योजना' मे विपत्र के परिपक्व (Maturity) होने की अवधि ९० दिन है; परन्तु आन्तरिक व्यापार के लिये यह अवधि कम है। बैंक इस अवधि के विपत्रों को अपने पास परिपक्व होने तक रखते रहते हैं तथा भुनाकर विपत्र बाजार योजना के लाभ प्राप्त नहीं कर सकते। विपत्रों की अवधि अधिक होने पर बैंक इस सुविधा को पसन्द करेंगे और अधिक विपत्र भुनाने के लिये आ सकेंगे।

(३) Banker's Acceptances की आवश्यकता (Need for Banker's Acceptances)—रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को मुद्रा बाजार के विभिन्न तत्वों में तालमेल स्थापित करके, प्रसिद्ध देशी बैंकर्ज को प्रोत्साहन देना चाहिये कि वे अपने आप को बट्टा गृहों (Discount houses) मे सगठित करें तथा रिजर्व बैंक को इन्हे सरक्षण प्रदान करना चाहिये। इनके बिलों को भुनाकर रिजर्व बैंक देशी बैंकर्ज, मुद्रा बाजार तथा उन स्थानों जहां बचे हुए कोष सचित हैं, सम्बन्ध स्थापित कर सकेगा। इस प्रकार Banker's Acceptances के उपयोग को अधिक करके विपत्र बाजार को देश में उन्नत किया जा सकेगा।

Banker's acceptance एक साधारण बिल की तुलना मे अधिक अच्छा है। Bombay and Bengal Banking Enquiry Committee Reports ने Banker's acceptance की सर्वोत्तमता को इस प्रकार लिखा है, "A banker's acceptance is superior to an ordinary bill of exchange in that it proves to be a batter security, is more self-liquidating and is more readily negotiable." भारत में भी बैंक्स को प्रोत्साहन देना चाहिए कि वे स्वीकृति साख (Acceptance Credit) का अधिक प्रयोग करें क्योंकि यह साख देने का सबसे सुरक्षित तरीका है। स्वीकृति गृहों (Accepting Houses) के कार्यों को सहायता प्रदान करने के लिये देशी बैंकर्ज की स्वीकृति सभा (Acceptance Association of the Indigenous Bankers) की स्थापना भी आवश्यक है जिससे उन स्थानों से सम्बन्ध स्थापित किया जा सके जहां स्वीकृति गृह या उनकी शाखाएँ नहीं है। इन दोनों का पजीयकरण (Registration) रिजर्व बैंक द्वारा किया जाना चाहिये जिसको इनके कार्यों पर नियन्त्रण रखना और कमीशन दरों का नियमन करना चाहिये।

रिजर्व बैंक सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण देता था जिसको उसने बैंक दर में वृद्धि करने के बाद समाप्त कर दिया। इससे मुद्रा बाजार में द्रव्य की कमी हो गई और बैंकों को इस योजना का अधिक से अधिक उपयोग करना पड़ा। दूसरा कारण यह था कि रिजर्व बैंक ने बैंकों को बैंक दर से कम दर पर बिलों के आधार पर ऋण देना स्वीकार किया।

इस योजना को जो भी सफलता मिली है उसकी एक सीमा यह है कि इसके लाभ द्रव्य बाजार के केवल संगठित भाग को ही उपलब्ध हैं। इसको अधिक सफलता प्रदान करने के लिये यह आवश्यक है कि देशी बैंकर्ज को भी इसके क्षेत्र में सम्मिलित कर लिया जाय। अब रिजर्व बैंक के लिए ऐसा करना कठिन भी नहीं होगा क्योंकि इससे योजना के कार्यसंचालन के सम्बन्ध में पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर लिया है। इस सम्बन्ध में एक कठिनाई यह आयेगी कि बिल्ज का प्रमाणीकरण नहीं है। यदि बैंकर्ज बैंक के साथ सहयोग दें और इस कठिनाई को दूर करने का प्रयत्न करें तो रिजर्व बैंक के लिये यह सम्भव हो सकता है कि वह इस योजना को उन पर भी लागू कर दे।

भारत में बिल बाजार के विकास के लिये निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं :—

(१) **हुन्डी व्यापार को प्रोत्साहन** (Promotion of Hundi Busniess)—अभी तक रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने हुण्डी व्यापार पर कोई ध्यान नहीं दिया है और बैंक की इस उपेक्षा के कारण भारत में हुण्डी बाजार का ह्रास हो रहा है। हुण्डी का भारत के मुद्रा क्षेत्र में काफी प्रयोग किया जाता है और इसको आधार बना कर भारत में बिल बाजार का विकास किया जा सकता है। H. T. Parekh के एक अनुमान के अनुसार केवल बम्बई में ही २५ करोड़ रुपया हुण्डियों में लगा हुआ है।

हुण्डी बाजार को विकसित करने तथा इसको भुनाने की सुविधाओं के प्रदान करने के सम्बन्ध में कुछ कठिनाइयाँ हैं। हुण्डियाँ छोटी-छोटी रकमों की होती हैं जिसके कारण यदि रिजर्व बैंक सीधे इनको भुनाने का काम करने लगे तो उसका कार्य बहुत अधिक बढ़ जायगा, क्योंकि उनसे सम्बन्धित उपयुक्त रिकार्डस रखने होंगे तथा उनके स्वीकार करने तथा भुगतान करने के सम्बन्ध में भी उचित प्रबन्ध करना होगा। इनकी विलक्षण प्रकृति के कारण भी रिजर्व बैंक इन से सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता। इसलिए इनको विकसित करने के लिये अच्छा यही होगा कि इनका सम्बन्ध बैंकों से स्थापित कर दिया जाय तथा उनको कुछ कोष (Funds) दे दिये जायें जिससे वे हुण्डियों के भुनाने का कार्य कर सकें। यद्यपि यह बहुत ही आवश्यक है कि देशी बैंकर्ज का प्रत्यक्ष सम्बन्ध रिजर्व बैंक से होना चाहिये; परन्तु जब तक ऐसा हो तब तक बैंकों को सहायता देकर ही उनके द्वारा हुण्डी बाजार का विकास करना चाहिये।

सन् १९४५ में अमेरिका मे एक इसी प्रकार की योजना पुनर्निर्माण वित्त निगम (Reconstruction Finance Corporation) की साझेदारी में प्रारम्भ की गई थी जो Blanket Participation Agreement के नाम से प्रसिद्ध है। इस योजना में बैंक्स को २½ लाख डालर तक के ऋण देने का अधिकार दिया गया था जिसका ७५ प्रतिशत भाग पुनर्निर्माण वित्त निगम के द्वारा प्रमाणित (Guaranteed) किया जाता था और यह निगम उक्त भाग को बैंक्स दे देती थी। भारत मे भी कुछ इसी प्रकार की योजना को प्रारम्भ किया जा सकता है।

(२) विपत्रों की अवधि को अधिक करना (Increasing the Usance of Bills)—'विपत्र बाजार योजना' में विपत्र के परिपक्व (Maturity) होने की अवधि ९० दिन है; परन्तु आन्तरिक व्यापार के लिये यह अवधि कम है। बैंक इस अवधि के विपत्रों को अपने पास परिपक्व होने तक रखे रहते हैं तथा भुनाकर विपत्र बाजार योजना के लाभ प्राप्त नहीं कर सकते। विपत्रों की अवधि अधिक होने पर बैंक इस सुविधा को पसन्द करेंगे और अधिक विपत्र भुनाने के लिये आ सकेंगे।

(३) Banker's Acceptances की आवश्यकता (Need for Banker's Acceptances)—रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को मुद्रा बाजार के विभिन्न तत्वों मे तालमेल स्थापित करके, प्रसिद्ध देशी बैंकर्ज को प्रोत्साहन देना चाहिये कि वे अपने आप को बट्टा गृहों (Discount houses) मे सगठित करें तथा रिजर्व बैंक को इन्हे संरक्षण प्रदान करना चाहिये। इनके बिलों को भुनाकर रिजर्व बैंक देशी बैंकर्ज, मुद्रा बाजार तथा उन स्थानों जहाँ बचे हुए कोष सचित है, सम्बन्ध स्थापित कर सकेगा। इस प्रकार Banker's Acceptances के उपयोग को अधिक करके विपत्र बाजार को देश मे उन्नत किया जा सकेगा।

Banker's acceptance एक साधारण बिल की तुलना मे अधिक अच्छा है। Bombay and Bengal Banking Enquiry Committee Reports ने Banker's acceptance की सर्वोत्तमता को इस प्रकार लिखा है, "A banker's acceptance is superior to an ordinary bill of exchange in that it proves to be a batter security, is more self-liquidating and is more readily negotiable." भारत में भी बैंक्स को प्रोत्साहन देना चाहिए कि वे स्वीकृति साख (Acceptance Credit) का अधिक प्रयोग करें क्योंकि यह साख देने का सबसे सुरक्षित तरीका है। स्वीकृति गृहों (Accepting Houses) के कार्यों को सहायता प्रदान करने के लिये देशी बैंकर्ज की स्वीकृति सभा (Acceptance Association of the Indigenous Bankers) की स्थापना भी आवश्यक है जिससे उन स्थानों से सम्बन्ध स्थापित किया जा सके जहाँ स्वीकृति गृह या उनकी शाखाएँ नहीं हैं। इन दोनों का पंजीयकरण (Registration) रिजर्व बैंक द्वारा किया जाना चाहिये जिसको इनके कार्यों पर नियन्त्रण रखना और कमीशन दरो का नियमन करना चाहिये।

(४) मुद्रांक में कमी (Reduction in Stamp Duty)—विपत्रों के उपयोग को लोकप्रिय बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उन पर 'मुद्रांक कर' (Stamp Duty) को पर्याप्त रूप से कम कर दिया जाय। सन् १९४० में मुद्दती बिलों पर 'मुद्रांक कर' की दर २ आना प्रति हजार कर दी गई, परन्तु दिसम्बर सन् १९५६ में अतिरिक्त बजट प्रस्ताव में यह दर ५ रुपये प्रति हजार कर दी गई। कम अवधि के विपत्रों के लिये यह दर कम थी। १६ मई सन् १९५७ से इस दर को घटाकर ०·२० प्रतिशत कर दिया गया। इतनी अधिक मुद्रांक दर विपत्र बाजार के विकास के लिये घातक है। बाजार को विकसित करने के लिये यह आवश्यक है कि मुद्रांक कर पर्याप्त रूप से कम हो।

(५) आयात विपत्रों को भी उन विपत्रों में सम्मिलित करने पर विचार करना चाहिये जिनके आधार पर रिजर्व बैंक से रुपया उधार मिल सकता है।

Selected Readings

1. S. R. K. Rao : The Indian Money Market, chs. XII, XIII
2. G. N. Joshi : Money and Money Market in India.
3. B. C. Ghosh : A Study of the Indian Money Market.
4. Nadler, Heller and Shipman : The Money Market and its Institutions.

१६

भारत में सहकारी साख

Co-operative Credit in India

Q 195. State the main recommendations of the Rural Credit Survey Committee bearing on the reorganisation of co operative credit in India. *(Agra 1951, 1959)*

भारत एक कृषि प्रधान व ग्रामाण देश है जिस की जनसंख्या का ७५ प्रतिशत भाग प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कृषि पर निर्भर है और ८२·२ प्रतिशत व्यक्ति ग्रामों में रहते हैं। इसलिये भारत के आर्थिक विकास के लिये यह आवश्यक है कि ग्रामों और कृषि का विकास किया जाय। कृषि के विकास के लिये एक मुख्य आवश्यकता उपयुक्त साख व्यवस्था है जिसकी कमी ही कृषि के पिछड़े व अविकसित होने का एक मुख्य कारण है। ग्रामीण साख की समस्याओं का अध्ययन करने के लिये और उसके सुधार के लिये सुझाव देने के लिये ही सन् १९५१–५२ में रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया ने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा व्यापक अखिल भारतीय साख सर्वेक्षण संगठित किया। सर्वेक्षण (Survery) का कार्य श्री ए० डी० गोरवाला (Sh.A. D. Gorwala) की अध्यक्षता में एक सचालक समिति (Committee of Directors) ने किया था। इस सर्वेक्षण की रिपोर्ट दिसम्बर १९५४ मे प्रकाशित हुई जिसमें ग्रामीण साख की समस्या का विस्तृत अध्ययन किया गया और इसके पुनर्गठन के लिए अपनी सिफारिशें दी गई है। समिति की सिफारिशें 'ग्रामीण साख की एकीकृत योजना' (Integrated Scheme of Rural Credit) के नाम से प्रसिद्ध है।

समिति ने सुझाव देने से पहले ग्रामीण साख प्रदान करने वाली वर्तमान संस्थाओं के योगदान का अध्ययन किया। इस रिपोर्ट के अनुसार विभिन्न संस्थाएँ इस प्रकार साख प्रदान करती हैं:[1] —

1. Report of the Commitee of Directors, vol. II. Page. 167.

साख प्रदान करने वाली संस्था	ऋण का अनुपात
सरकार	३·३
सहकारिताएं	३·१
व्यापारिक बैंक	०·९
सम्बन्धी	१४·२
जमींदार	१·५
कृषक महाजन	२४·९
व्यवसायी महाजन	४४·८
व्यापारी व कमीशन एजेन्ट	५·५
अन्य	१·८
	१००·०

उपरोक्त तालिका के आधार पर समिति ने बताया कि ग्रामीण साख पर अब भी साहूकारों का आधिपत्य है जो ग्रामीण साख के ६९·७ प्रतिशत भाग को पूरा करते हैं। सहकारिताएं, जिनको सस्ती सुविधाजनक साख प्रदान करने के लिये स्थापित किया था, अपने कार्य में सफल नहीं हो पाई हैं। ये किसानों की केवल ३·१ प्रतिशत साख आवश्यकताओं को ही पूरा करती हैं। इस प्रकार समिति इस निष्कर्ष पर पहुँची कि विभिन्न सहकारी संस्थाओं द्वारा प्रदान की जाने वाली साख उपयुक्त मात्रा से कम हैं, उपयुक्त प्रकार की नहीं है और उपयुक्त व्यक्तियों तक नहीं पहुँच पाती। परन्तु समिति का विचार है कि गांवों के लिये सहकारी समितियों के अतिरिक्त दूसरी प्रकार की साख संस्थाएँ उपयुक्त नहीं हैं, और इसलिये समिति इस विचार से सहमत थी कि यद्यपि सहकारिता असफल रही है, परन्तु इसे सफल होना चाहिये। सहकारिता की सफलता के लिये समिति ने 'ग्रामीण साख की एकीकृत योजना' प्रस्तुत की जो निम्नलिखित तीन आधारभूत सिद्धान्तों पर आधारित हैं—

(१) विभिन्न स्तरों पर राज्य की साझेदारी;

(२) साख और अन्य आर्थिक क्रियाओं, विशेषतः बिक्री और विधायन (processing) में पूर्ण समीकरण; तथा

(३) ग्रामीण जनता को समझने वाले, पर्याप्त रूप से प्रशिक्षित तथा कुशल कर्मचारियों द्वारा प्रशासन।

समिति द्वारा प्रस्तावित योजना का मुख्य गुण यह है कि सहकारी ग्राम्य साख व्यवस्था में सरकार का काफी भाग होगा। अभी तक प्रचलित विचारधारा यह थी कि सहकारी आन्दोलन में सरकार का भाग अधिक रहा है और इसलिये यह सहकारी आन्दोलन न रहकर सरकारी आन्दोलन हो गया है। परन्तु समिति का विचार था कि सरकार आन्दोलन का आवश्यकता से अधिक प्रशासन करती रही है और वित्त प्रदान करने का कार्य कम किया है। इसलिये समिति ने सुझाव दिया कि ग्रामीण

उत्पादन में वृद्धि करने के लिये सहकारी आन्दोलन में राज्य की साझेदारी, जिसमें वित्तीय साझेदारी भी सम्मिलित है, होनी चाहिये। यह साझेदारी निम्नलिखित क्षेत्रों में होनी चाहिये —

(१) सहकारी ग्रामीण साख के क्षेत्र में,

(२) सहकारी विधायन (processing) और बिक्री के संगठन तथा संग्रहण और भण्डार सुविधाओं (storage and warehousing) के विकास के कार्यक्रम में, तथा।

(३) किसान खेती हर मजदूर और कारीगरों के लिये महत्वपूर्ण अन्य आर्थिक क्रियाओं, जैसे खेती, सिचाई, बीज और खाद की व्यवस्था, परिवहन, मछली-पालन, दूध का वितरण (milk supply), डेरी उद्योग, पशु अभिजनन और कुटीर उद्योगों के सहकारी संगठन के कार्यक्रम में।

समिति ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि सरकार इस आन्दोलन में साझी होने पर भी इनके कार्यों में अधिक हस्तक्षेप नहीं करेगी और सहकारी संस्थाएँ सरकार का एक विभाग न बनकर सहकारी ढंग पर काम करती रहेंगी। इसलिये राज्य की इस साझेदारी का विस्तार इस प्रकार नियमित किया जाना चाहिये जिससे कि ग्रामीण स्तर पर समितियों को एक निश्चित अवधी के भीतर सरकारी पूंजी को स्थानान्तरित कर पूर्णतः सहकारी बनने का अवसर मिल सके। परन्तु उच्च स्तर पर सरकारी साझेदारी को आवश्यक समय तक बनाये रखना चाहिये जिससे कि व्यक्तिगत लाभ करने वाले हितों की प्रतिद्वन्द्विता का सामना किया जा सके।

विकास के लिये वित्त

(Finances for the Development)

समिति ने सुझाव दिया कि ग्रामीण साख के पुर्नसगठन और विकास को वित्त प्रदान करने के लिये विभिन्न संस्थाओं के अन्तंगत निम्नलिखित कोषों की स्थापना की जानी चाहिये:—

(१) रिजर्व बैंक के आधीन— रिजर्व बैंक के तत्वाधान में निम्न दो कोषों की स्थापना की जाय :—

(अ) राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन कार्य) कोष [National Agricultural Credit (Long Term Operations) Fund]--रिजर्व बैंक को इस कोष में ५ करोड़ रुपये का प्रारम्भिक अनावर्ती अंशदान (initial non-recurring contribution) तथा आगामी ५ वर्षों तक प्रति वर्ष कम से कम ५ करोड़ रुपये का अंशदान करना चाहिये। इस कोष में से यह राज्य सरकारों को दीर्घकालीन ऋण देगा जिससे वे राज्य सहकारी बैंकों (State Co-operative Banks) व उन मध्यम से जिला सहकारी बैंक तथा बड़ी आकार की प्रारम्भिक साख समितियों की हिस्सा पूंजी में साझा ले सके। राज्य सरकारें इस ऋण से केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों तथा उनके द्वारा प्रारम्भिक भूमि बंधक बैंकों की पूंजी भी प्राप्त करेंगी।

राज्य सरकारों की जमानत पर इस कोष से भूमि बंधक बैंकों को ऋण देकर अथवा उनके विशिष्ट विकास ऋण-पत्र (special development debentures) खरीद कर दीर्घकालीन ऋण (५ वर्ष से अधिक अवधि का ऋण) दे सकेगा।

इस प्रकार राज्य सरकारों की गारन्टी पर राज्य सहकारी बैंकों को अल्पकालीन ऋण देगा। साथ ही राज्य सहकारी बैंकों व उनके द्वारा जिला सहकारी बैंकों तथा प्रारम्भिक समितियों को १५ महीने से ५ साल की अवधि का मध्यकालीन ऋण भी देगा।

(ब) राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायीकरण) कोष [The National Agricultural Credit (Stabilization) Fund]—इस कोष में रिजर्व बैंक आगामी ५ वर्षों में प्रति वर्ष कम से कम १ करोड़ रुपया दे। इस कोष का उपयोग राज्य सहकारी बैंकों आदि को मध्यकालीन ऋण देने के लिये किया जाय। यह ऋण तब दिये जायें जबकि अकाल आदि के कारण राज्य सहकारी बैंक अपना अल्पकालीन ऋण रिजर्व बैंक को समय पर न चुका सके। रिजर्व बैंक यह सुविधा तभी दे जबकि राज्य सहकारी बैंक भी इस प्रकार के स्थायीकरण कोष स्थापित करें।

(२) खाद्य एवं कृषि मन्त्रालय के अन्तर्गत—केन्द्रीय सरकार खाद्य और कृषि मन्त्रालय के अन्तर्गत एक राष्ट्रीय कृषि साख (सहायता व जमानत कोष) [National Agricultural Credit (Relief and Guarantee) Fund] स्थापित करे। इस कोष में आगामी ५ वर्षों में प्रत्येक वर्ष कम से कम १ करोड़ रुपया प्रति-वर्ष जमा किया जाय। इस कोष का प्रयोग राज्य सरकारों के द्वारा सहकारी साख संस्थाओं को सहायता के रूप में अनुदान देने में करना चाहिये। यह अनुदान वसूल न हो सकने वाली बकाया (irrecoverable arrears) को समाप्त करने के लिये दिये जायें और यह अनुदान तभी दिये जायें जबकि बैंकों की भुगतान की असमर्थता उनके नियन्त्रण के बाहर के कारणों, जैसे अकाल आदि के कारण हैं और यह बकाया इतने अधिक हो गये हैं कि यदि उनका भुगतान न किया गया तो सहकारी संस्थायें विघटित हो जायेंगी।

राज्य सरकारों को भी इस प्रकार के कोष स्थापित करने के लिये बाधित करना चाहिए।

(३) राष्ट्रीय सहकारिता विकास एवं भण्डार मण्डल के अन्तर्गत—राष्ट्रीय सहकारिता विकास एवं भण्डार मण्डल (National Co-operative Development and Warehousing Board) के अन्तर्गत निम्नलिखित दो कोषों की स्थापना की जाय :—

(अ) राष्ट्रीय सहकारी विकास कोष (National Co-operative Development Fund)—इस कोष की स्थापना के लिये केन्द्रीय सरकार [illegible] करोड़ रुपये दे जिसमे राज्य सरकारों को ऋण दिया जा सके। इस कोष का प्रयोग [illegible] विधायन (processing) सहकारी समितियों के हिस्से खरीदने के लिये किया जाय।

इसी प्रकार के कोष राज्यो मे होंगे जिसमे वे सहकारी सस्थाओं के लाभ के अपने भाग को जमा करती रहेंगी।

(ब) राष्ट्रीय भण्डार विकास कोष (National Warehousing Development Fund)—इस कोष के लिये भारत सरकार २ करोड रुपये प्रतिवर्ष और ५ करोड रुपये का प्रारम्भिक अनावर्ती अंशदान देगी। इसका उपयोग केन्द्रीय भण्डार निगमो के हिस्से खरीदने और राजकीय सरकारो तथा निगमो को उधार देने के लिये किया जायगा।

(४) स्टेट बैंक के अन्तर्गत—स्टेट बैंक के अन्तर्गत एक एकीकरण तथा विकास कोष (Integration and Development Fund) स्थापित किया जाय। इसमे केन्द्रीय सरकार और रिजर्व बैंक अपने स्टेट बैंक के हिस्सो का लाभ जमा करते रहेंगे। आवश्यकता पड़ने पर यह दोनो इसमें और रुपया भी जमा करेंगे। प्रारम्भ में इस कोष में ५० लाख रुपया होगा। स्टेट बैंक को नई शाखाओ के खोलने से जो हानि होगी उसको इस कोष से पूरा किया जायगा।

(५) प्रत्येक राज्य सरकार के आधीन—प्रत्येक राज्य सरकार के आधीन दो कोष खोले जायें—(अ) राज्य कृषि साख (सहायता व गारन्टी) कोष (State Agricultural Credit Relief and Guarantee Fund), तथा (ब) राजकीय सरकारी विकास कोष (State Co-operative Development Fund).

(६) प्रत्येक राज्य सहकारी बैंक आदि के आधीन—प्रत्येक राज्य सहकारी बैंक, केन्द्रीय सहकारी बैंक आदि के आधीन एक कृषि साख स्थायीकरण कोष (Agricultural Credit Stabilization Fund) स्थापित किया जाय।

सहकारी साख के विकास के लिये रिजर्व बैंक का कार्य
(Development of Co-operative Credit and Reserve Bank)

सरकारी साख सस्थाओं के समीकरण (Co-ordination) तथा पुनर्गठन के लिये रिजर्व बैंक को राज्य सरकारों तथा राज्य सहकारी बैंकों के साथ मिलकर सहकारिता के विकास की योजनायें बनाये। इस कार्य के लिये रिजर्व बैंक को राज्य सरकारो को ऋण देने के वैध अधिकार मिलने चाहियें जिससे यह सहकारिता के विकास के लिये मध्यकालीन व दीर्घकालीन ऋण दे सके। इस कार्य के लिये यह दो कोषो की स्थापना करे—राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन कार्य) कोष तथा राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायीकरण) कोष।

रिजर्व बैंक के कृषि साख विभाग (Agricultural Credit Department) पुनर्संगठन होना चाहिये जिससे वह अपनी बढ़ी हुई जिम्मेदारियों को ठीक से पूरा कर सके। रिजर्व बैंक की स्थायी परामर्श समिति (Standing Advisory Committee) से छोटी एक विशेषज्ञ समिति होनी चाहिये। साथ ही राष्ट्रीय आधार पर विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली, वर्तमान मे कुछ बड़ी, एक स्थायी परामर्श-समिति होनी चाहिये। यह रिजर्व बैंक के अतिरिक्त राष्ट्रीय सहकारी विकास एवं भण्डार मण्डल तथा खाद्य और कृषि मन्त्रालय को भी सलाह प्रदान करे।

केन्द्रीय सरकार
(Central Government)

केन्द्रीय सरकार अपने खाद्य और कृषि मन्त्रालय के द्वारा राष्ट्रीय कृषि साख (सहायता और गारन्टी) कोष से अनुदान दे। ("विकास के लिये वित्त" शीर्षक के अन्तर्गत वर्णन कर दिया गया है)।

राज्य सरकारें
(State Government)

रिजर्व बैंक की सलाह से सहकारी साख के विकास के कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिये राज्य सरकारें उत्तरदायी होंगी। साधारणतः राज्य सरकारें तकावी (Tacavi) व अन्य कृषि ऋण या केन्द्रीय सरकार प्राप्त सहायता को केवल अकाल आदि आपत्ति के लिये ही दे जिससे किसान की साख आवश्यकताओं को केवल सहकारी समितियाँ ही पूरा कर सकें। लेकिन जहाँ पर सहकारी समितियाँ विकसित नहीं हैं और कुछ विशिष्ट वर्गों में राज्य के द्वारा साख प्रदान करने की कुछ विशिष्ट व्यवस्था की जा सकती है।

सहकारी साख का विकास
(Development of Co-operative Credit)

सहकारी साख आन्दोलन के स्वस्थ विकास के लिये समिति ने निम्नलिखित सुझाव दिये :—

ढांचा और सेवि-वर्ग (Structure and Personnel)—(i) राज्य सरकारों को रिजर्व बैंक की सलाह से हर स्तर पर साख-संस्थाओं के पुनर्संगठन के लिये विभिन्न चरणों में विभाजित (phased) एक कार्य-क्रम बनाना चाहिये जिसका आधार राज्य की साझेदारी हो। यह साझेदारी शिखर (apex) तथा जिला स्तर पर अनिश्चित काल तक चलनी चाहिये और प्रारम्भिक स्तर पर निश्चित काल के लिये होनी चाहिये। शिखर पर साझेदारी प्रत्यक्ष होनी चाहिये तथा अन्य पर परोक्ष।

(ii) साख-ढांचे (Credit structure) के अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन अंगों में अधिकतम समन्वय होना चाहिये। वैध तथा वित्तीय दृष्टि से एक दूसरे से अलग रहते हुए भी राज्य सहकारी बैंकों तथा केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों का प्रशासकीय कर्मचारी वर्ग, भवन तथा सभी या कम से कुछ संचालन एक होना चाहिये।

(iii) प्रारम्भिक साख-व्यवस्था के भावी विकास की दिशा सीमित दायित्व की बड़े आकार की समितियों की स्थापना की ओर होनी चाहिये।

(iv) राज्य तथा केन्द्रीय बैंकों और जहां तक सम्भव हो सके बड़े आकार की प्राथमिक समितियों को भी राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायीकरण) कोष के पूरक के रूप में इसी प्रकार के कोषों की स्थापना करनी चाहिये।

(v) उच्च स्तर तथा बड़े आकार की प्रामाणिक समितियों के महत्वपूर्ण पदों पर प्रशिक्षित कर्मचारियों की नियुक्ति की जाय। यह कर्मचारी राज्य सहकारी बैंक या राज्य सरकार द्वारा स्थापित 'केडर' (Cader) से लिये जाने चाहियें।

साख-कार्य तथा पर्यवेक्षण (Credit Operations and Supervision)—(i) अल्पकालीन ऋणों का आधार 'फसल ऋण पद्धति' (System of Crop Loans) होनी चाहिये। इस पद्धति में ऋण उत्पादक कार्य के लिये दिया जाता है जिसका आधार फसल होती है (स्वामित्व नहीं) और ऋण की रकम फसल की अनुमानित लागत के अनुसार निश्चित की जानी चाहिये और इसका चुकता फसल बिकने पर उससे प्राप्त राशि से वसूल किया जाना चाहिये। जहाँ तक सम्भव हो यह ऋण वस्तु रूप में दिया जाय।

(ii) किसान की जीवन निर्वाह सम्बन्धी आवश्यकताओं को सामान्य कृषि साख की आवश्यकताओं में ही गिनना चाहिये। इनकी पूर्ति प्रारम्भिक साख समितियों द्वारा ही होनी चाहिये। विशिष्ट उपभोग आवश्यकताओं के लिये बड़े आकार की प्रारम्भिक समितियों में थ्रिफ्ट फंड खोला जाना चाहिये जिसकी सदस्यता समिति से विस्तृत हो।

(iii) मध्यकालीन ऋण अल्पकालीन सहकारी साख समितियों द्वारा ही दिया जाना चाहिये। परन्तु इन के ऋणों पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

(iv) दीर्घकालीन ऋणों के लिये भूमि बन्धक बैंक होने चाहियें जो केवल उत्पादक कार्य के लिये ऋण दें। प्रारम्भ में ये जिला स्तर पर केन्द्रीय बैंक या राज्य सहकारी बैंक की शाखा में विभाग एजेंसी के रूप में हो सकते हैं जो बाद में केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक की शाखा के रूप में बदल जायें।

(v) समितियों के पर्यवेक्षण का उत्तरदायित्व विभाग या केन्द्रीय बैंक पर होना चाहिये। लेखा-परीक्षण (Auditing) तथा कार्यालय-निरीक्षण का दायित्व राज्य सरकारों पर होना चाहिये।

सहकारी आर्थिक क्रियाओं का विकास, विशेषत: विक्रय तथा विधायन

(Development of Co-operative Economic Activities, Especially Marketing and Processing)

'राष्ट्रीय सहकारिता विकास और भण्डार मण्डल' (National Co-operative Development and Warehousing Board) की सहायता व सलाह से राज्य सरकारों को बिक्री, विधायन, डेरी उद्योग, आदि आर्थिक क्रियाओं के लिये सहकारी समितियों के संगठन की एक योजना बनानी चाहिये। इस संगठन का आधार राज्य की साझेदारी होना चाहिये। इस साझेदारी के लिये उपरोक्त मंडल को अपने राष्ट्रीय सहकारिता विकास कोष (National Co-operative Development Fund) से राज्य सरकारों को उचित दर पर दीर्घकालीन ऋण देना चाहिये।

संग्रहण, भंडार सुविधाओं तथा वितरण का विकास
(Development of Storage, Warehousing Facilities and Distribution)

राष्ट्रीय सहकारिता विकास तथा भंडार मंडल को देश में संग्रहण तथा भंडार तथा किसान की उत्पादक तथा उपभोक्ता दोनों रूपों में, आधारभूत आवश्यकताओं की वस्तुओं के वितरण के विकास के लिये प्रयत्न करने होंगे। इस कार्य के लिये मंडल के आधीन अखिल भारतीय भंडार निगम (All India Warehousing Corporation) तथा राज्य भण्डार कम्पनियाँ होंगी।

इस क्षेत्र में कार्यों का नियोजन तथा अर्थ-प्रबन्धन करने के लिये मंडल ऋण तथा आर्थिक सहायता देगा। इसके लिये वह राष्ट्रीय भंडार विकास कोष (National Warehousing Development Fund) से ऋण ले सकेगा। इस कोष का दूसरा उपयोग अखिल भारतीय भडार निगम की हिस्सा पूँजी में योग्य देना और राज्य सरकारों तथा उपर्युक्त निगम को इस योग बना देना है कि वे राज्य भंडार कम्पनियों की हिस्सा-पूँजी में अशंदान दे सके। अन्त में, राज्य भंडार कम्पनियाँ स्वयं उन सहकारी विक्रय समितियों के हिस्से खरीद सकती हैं जिनका प्राथमिक कार्य संग्रहण तथा भंडार सुविधाओं को प्रदान करना हो।

अखिल भारतीय भंडार निगम अखिल भारतीय महत्व के केन्द्रों पर, राज्य भंडार कम्पनियाँ राज्य और जिले के स्तर पर महत्वपूण केन्द्रों में, सहकारी संगठन जिले के आन्तरिक भागों में संग्रहण तथा भंडार सुविधाओं के विकास के लिये उत्तरदायी होनी चाहिये।

ग्रामीण तथा सहकारी बैंकिंग सुविधाओं का विकास
(Development of Rural and Co-operetive Banking Facilities)

ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं के विकास के लिये समिति ने स्टेट बैंक की स्थापना का सुझाव दिया स्टेट बैंक ऑफ इंडिया का निर्माण इम्पीरियल बैंक ऑफ इंडिया तथा देशी राज्यों से सम्बन्धित बैंकों जैसे स्टेट बैंक ऑफ सौराष्ट्र, बैंक ऑफ पटीयाला, बैंक ऑफ बीकानेर, बैंक ऑफ जयपुर, बैंक ऑफ राजस्थान आदि १० बैंकों तथा छोटे-छोटे कुछ और बैंकों वैधानिक समामेलन (Statutory amalgamation) करके किया जाना चाहिये। इसकी हिस्सा पूँजी तथा मताधिकार में भारत सरकार व रिजर्व बैंक का सम्मिलित भाग ५२ प्रतिशत हो। साथ ही समिति ने इस बात पर भी जोर दिया कि बैंक का व्यापारिक व स्वतन्त्र रुप से कार्य करने का गुण बना रहना चाहिये।

इस बैंक को शाखाओं के प्रसार का एक बड़ा तथा अतिशीघ्र कार्यक्रम बनाना चाहिये तथा जिले के प्रमुख स्थानों व इससे भी छोटे केन्द्रों में अपनी ५ वर्षों में ४०० शाखाएँ खोलनी चाहिये। इस बैंक को साख और विशेषतः क्रिकी और विधायन से सम्बन्धित सहकारी संस्थाओं की वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने

का प्रयत्न करना चाहिये और तहसील स्तर पर रुपया भेजने की सस्ती सुविधाएँ प्रदान करनी चाहिये।

सेवि-वर्ग का-प्रशिक्षण

(Training of the Personnel)

समिति ने सेवि-वर्ग (Personnel) के प्रशिक्षण पर भी जोर दिया। इसने सुझाव दिया कि सहकारी प्रशिक्षण की केन्द्रीय समिति को प्रशिक्षण सुविधाओ का विकास व प्रसार करने के लिये अधिक आर्थिक सहायता मिलनी चाहिये। यह सुविधाएँ प्रत्येक स्तर पर मिलनी चाहिये तथा बैंकिंग, बिक्री और औद्योगिक सहकारी समितियो तथा प्रशासन, पर्यवेक्षण और लेखा परीक्षण के प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये। इस प्रकार उचित छाट व शिक्षण द्वारा एक ऐसा सेवि-वर्ग बनाना चाहिए जो सरकार का कार्य-क्रम पूरा करने मे न केवल योग्य, कुशल व ईमानदार हो, बल्कि विशेष रूप से ग्रामो की स्थिति समझने व वहाँ की आवश्यकताओं को पूरा करने मे प्रयत्नशील हो तथा सहानुभूति से काम ले।

निजी एजेंसियों का कार्य

(Role of Private Agencies)

योजना मे साहूकारो को कोई स्थान नही दिया गया है। फिर भी आशा की जाती है कि व्यक्तिगत ऋणदाता निजी रूप से ग्रामीण साख की योजना मे पूरक सिद्ध होगे। देश में गोदामो और भंडारों का विस्तृत जाल फैल जाने से व्यापारिक बैंको को कृषि व्यापार के लिये बड़े स्तर पर साख प्रदान करने मे सुविधा होगी।

अन्य सुझाव

(Other Recommendations)

इन सुझावों के अतिरिक्त समिति ने ग्राम साख सम्बन्धी नीति की दूसरी बातों जैसे कृषि वस्तुओं के मूल्य का स्थायीकरण (stabilization), अग्रिम बाजार पर नियन्त्रण, गाव की सडको का विकास तथा ग्राम्य विकास सम्बन्धी प्रशासन के पुनर्गठन आदि पर सुझाव दिये हैं।

सरकार ने समिति के सुझावो को स्वीकार कर लिया है और उन्हें कार्य रूप देने के लिये आवश्यक पग भी उठायें हैं। रिजर्व बैंक के अधिनियम का १६५५ मे संशोधन करके दोनों कोष स्थापित कर दिये गये हैं। कृषि उपज (विकास तथा भंडार-व्यवस्था) निगम अधिनियम १६५६, के अन्तर्गत राष्ट्रीय सहकारिता-विकास तथा भंडार महल और केन्द्रीय भंडार निगम स्थापित कर दिये गये हैं। भंडार मंडल के आधीन दोनों कोष स्थापित कर दिये गये हैं। राज्य भंडार निगम भी स्थापित किये गये हैं। १ जुलाई १६५५ को इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण कर स्टेट बैंक ऑफ इंडिया की स्थापना कर दी गई है जो ५ वर्षों मे ग्रामीण क्षेत्रो में ४०० नई शाखाएँ खोलेगा। राज्य सहकारी बैंकों तथा अन्य सहकारी संस्थाओं का राज्य की प्रमुख

साझेदारी के आधार पर पुनर्संगठन किया जा रहा है और बड़े आकार की प्राथमि समितियों के संगठन को प्रोत्साहित किया जारहा है। इस की समिति की सिफारिश के आधार पर द्वितीय योजना में सहकारी विकास का एक स्वीकृत कार्य-क्रम सम्मिलि किया गया था जिसके अन्तर्गत सहकारी साख के अतिरिक्त सहकारी विक्री, विधायन सग्रहण, भंडार-व्यवस्था आदि के विकास पर विशेष ध्यान दिया गया था। तृती योजना में इस कार्यक्रम को आगे बढ़ाया जायगा।

★

Q. 196. Explain briefly the part which the co-operativ banks play in the Indian Money Market. (Agra 1955

भारतवर्ष मुख्यत: एक कृषि प्रधान देश है और यहाँ की एक महत्वपू आर्थिक समस्या कृषि का अर्थ-प्रवन्धन (financing of agriculture) है। भारत अधिकतर किसान निर्धन हैं और रूढ़ीवादी हैं तथा उनका रहन-सहन का स्तर बहुत नीचा है। अधिकांश ग्रामीण ऋण भार से दवे हुए हैं, जो उनको विरासत में मिला होता है। किसानों को सस्ती साख सुविधायें प्रदान करने के विचार से ही १९वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में सहकारी आन्दोलन को प्रारम्भ किया गया। निकोलसन (Nicholson) की रिपोर्ट के आधार पर सन १९०४ में सहकारी साख समिति अधिनियम (Co-operative Societies Act of 1904) बनाया गया।

रूपरेखा :
(१) सहकारी आन्दोलन का विकास।
(२) भारतीय सहकारी साख संगठन।
 (i) प्रारम्भिक साख समितियाँ,
 (ii) केन्द्रीय बैंक,
 (iii) राज्य सहकारी बैंक,
(३) भारतीय मुद्रा बाजार में सहकारी बैंकों का स्थान।
(४) सरकार द्वारा सहकारी आन्दोलन को प्रोत्साहन।

भारतीय सहकारी साख संगठन
(Indian Co-operative Credit Organisation)

भारत में सहकारी आन्दोलन का संगठन संघीय आधार पर किया गया है। सबसे नीचे गाँवों में प्रारम्भिक सहकारी साख समितियाँ होती हैं जिनके ऊपर केन्द्रीय समितियां तथा केन्द्रीय सहकारी बैंक होते हैं। सबसे ऊपर राज्य सहकारी बैंक होते हैं जो सरकारी साख संगठन में सर्वोच्च स्थान रखते हैं।

प्रारम्भिक साख समितियाँ
(Primary Co-operative Societies)

ये समितियाँ रैफीसन आधार पर बनाई जाती हैं। एक ग्राम या क्षेत्र के कोई भी १० व्यक्ति मिल कर इस प्रकार की समिति का निर्माण कर सकते हैं। क्षेत्र को

एक ग्राम तथा इसलिये सीमित रखा जाता है जिससे पारस्परिक नियन्त्रण व निरीक्षण सम्भव हो सके। ये समितियाँ अपनी चालू पूँजी (Working Capital) हिस्से बेचकर, केन्द्रीय सहकारी बैंक से ऋण लेकर तथा सदस्यो से जमा (deposits) प्राप्त करके प्राप्त करती है। इनको अपनी चालू पूँजी से चार गुना तक उधार मिल सकता है। सन १९५८ से मेहता समिति के सुझावों को मान कर सरकार ने समितियों को उनकी कुल अश पूँजी की आधी रकम देना स्वीकार कर लिया है।

सन १९५४ के बाद से ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति के सुझावो को मानकर बड़ी समितियो का सगठन किया जाने लगा था। परन्तु इस सम्बन्ध मे बहुत सी कठिनाइयाँ आईं। इसलिये सन १९५८ मे मेहता समिति ने सामान्य आकार की समितियों के सगठन का सुझाव दिया जो सदस्यो की आवश्यकता को पूरा करने के साथ-साथ स्वयं भी आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हो।

ये समितियाँ केवल सदस्यो को ही ऋण देती है। ऋण की मात्रा सदस्यो की अंश-पूँजी (share-capital) तथा जमाओं की राशि पर निर्भर होती है। ये ऋण व्यक्तिगत जमानत पर दिये जाते हैं और सूद की दर ८ से १२ प्रतिशत होती है। ऋण केवल अल्पकाल के लिये होते हैं।

द्वितीय योजना के अन्त मे इस प्रकार की २·१ लाख समितियाँ थी जिनकी सदस्य संख्या १७० लाख थी। इन्होने अल्प व मध्य कालीन ऋण २०० करोड़ रु० के दिये। तृतीय योजना के अन्त मे समितियो की सख्या मे २०,००० की वृद्धि करने का प्रयत्न किया जायगा और सदस्यो की सख्या को ३७० लाख।

मजदूरो, कारीगरों व अल्प साधन के व्यक्तियो को ऋण प्रदान करने के लिये नगरो मे शुल्ज डिलिट्ज के आधार पर साख समितियो का निर्माण किया गया है। इनको नगर साख समितियाँ (City Co-operative Societies) या नागरिक बैंक भी कहते है। ये समितियाँ भी अश बेच कर व सदस्यो से जमा ले कर चालू पूँजी प्राप्त करती हैं। इस प्रकार की साख समितियों का अधिक विकास भारत मे नही हुआ है। जून सन १९६१ के अन्त मे ११,९९५ इस प्रकार की समितियाँ थी जिनकी सदस्य संख्या ४५·७३ थी।

केन्द्रीय सहकारी बैंक
(Central Co-operative Bank)

केन्द्रीय सहकारी बैंको की स्थापना की स्वीकृति सन १९१२ के सहकारी समिति अधिनियम से मिली। ये बैंक दो प्रकार से सगठित हैं। कुछ बैंकों की सदस्य तो केवल सहकारी साख समितियाँ ही हो सकती हैं, व्यक्ति नही। दूसरे मिश्रित आधार पर सगठित है जिसमे व्यक्तियों को भी सदस्य बनने का अधिकार है। हमारे देश में मिश्रित बैंकों की ही अधिकता है।

एक जिले में सामान्यत. एक केन्द्रीय बैंक होता है जिसका प्रबन्ध सदस्यों द्वारा चुने गये सचालको (Directors) के हाथ मे होता है। इन बैंकों का मुख्य कार्य

... सस्ती दर पर ऋण प्रदान करना होता है। यह विभिन्न समितियों में ... स्थापित करता है। कुछ स्थानों में इसको सदस्य-समितियों के निरीक्षण ... अधिकार है। अपने इन कार्यों के अतिरिक्त यह सामान्य बैंकिंग के कार्य भी करता है।

केन्द्रीय बैंकों ने सहकारी साख प्रदान करने के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण कार्य किया है। सहकारिता पर मद्रास समिति के अनुसार, "केन्द्रीय बैंकों ने ग्रामीण और नगर समितियों का अर्थ-प्रवन्धन करने और उनके कोपों का सन्तुलन रखने का कार्य ठीक प्रकार से पूरा किया है। उन्होंने स्थानीय डिपाजिटों को गतिशील बनाया है और उनको प्रारम्भिक समितियों के लिये सस्ती व्याज की दर पर उपलब्ध किया है।

राज्य सहकारी बैंक
(State Co-operative Bank)

राज्य सहकारी बैंक सहकारी साख संगठन का सर्वोच्च अंग है जो राज्य स्तर पर संगठित है। यह प्रत्येक राज्य में है। इसका संगठन विभिन्न राज्यों में विभिन्न है। पंजाव व बंगाल में ये बैंक पूर्ण रूप से सहकारी है। इनकी सदस्य केवल सहकारी संस्थायें हैं। अन्य प्रान्तों में ये मिश्रित है। सहकारी समितियों के साथ-साथ व्यक्तियों को भी इनका सदस्य बनने का अधिकार है। इन बैंकों का प्रवन्ध एक निर्वाचित बोर्ड ऑफ डायरेक्टरी के द्वारा किया जाता है।

राज्य सहकारी बैंकों का देश के सहकारी ढांचे में महत्वपूर्ण स्थान है। यह बैंक केन्द्रीय बैंकों को वित्त प्रदान करता है और उन पर नियन्त्रण रखता है। यह सहकारी समितियों व राष्ट्रीय मुद्रा बाजार में सम्बन्ध स्थापित करता है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया इन्हीं बैंकों के द्वारा सहकारी आन्दोलन व कृषि को साख प्रदान करता है।

भारतीय मुद्रा बाजार में सहकारी बैंक
(Co-operative Banks in Indian Money Market)

भारत में सहकारी साख आन्दोलन का प्रारम्भ ६० वर्ष पहले हुआ था जिसका मुख्य उद्देश्य गरीव किसानों को सस्ती दर पर रुपया उधार देना था। सदियों से भारतीय किसान महाजन व साहूकार के चंगुल में फंसा हुआ है जो कि उनसे बहुत ऊंची सूद की दर पर वसूल करता है। उनके चंगुल से निकालने के लिये ही सहकारी आन्दोलन को प्रारम्भ किया गया था। परन्तु अपने ६० वर्ष के लम्बे विकास काल के दौरान में भी सहकारी आन्दोलन ने कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं की है। इसका मुख्य कारण यह है कि गाँव के सम्पन्न व प्रभावशाली व्यक्ति प्रारम्भिक साख समितियों के सदस्य नहीं बनते और केन्द्रीय व राज्य बैंकों के पास कोषों की कमी
।

...न १९५४ में प्रकाशित ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति के अनुसार ग्रामीण साहूकारों का आधिपत्य है जो ग्रामीण साख के ९९.७ प्रतिशत भाग को

पूरा करते हैं। सहकारितायें, जिनको सस्ती व सुविधाजनक साख प्रदान करने के लिए स्थापित किया गया था, अपने कार्य में सफल नही हो पाई है। ये किसानों की केवल ३·१ प्रतिशत साख आवश्यकताओं को ही पूरा करती है। यह समिति ग्रामीण साख के विस्तृत सर्वेक्षण के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुँची थी कि विभिन्न सहकारी सस्थाओ द्वारा प्रदान की जाने वाली साख उपयुक्त मात्रा से कम है, उपयुक्त प्रकार की नही है और उपयुक्त व्यक्तियो तक नही पहुँच पाती।

सहकारी आन्दोलन को शक्ति प्रदान करने के लिये सरकार प्रारम्भिक साख समितियो के सम्बन्ध मे एकत्रीकरण व पुनर्संगठन की नीति अपना रही है। इसलिये कमजोर व बेकार समितियो को समाप्त किया जा रहा है। इसीलिये जून १९६३ मे प्रारम्भिक समितियों की संख्या २·१२ लाख रह गई जब जून १९६२ मे २·१५ लाख समितियाँ थी। इनकी सदस्य सख्या मे वृद्धि हुई जो कि १९५·७२ लाख से बढ़कर २१८·५० लाख हो गई। इन समितियो द्वारा प्रदान की गई अल्प व मध्यकालीन साख की मात्रा में २८ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई जो २२८ करोड़ रु० से बढ़ कर २५६ करोड़ रुपये हो गई।

Selected Readings :

(1) Panandikar, S.G. . Banking in India

(2) Sharma, K.K. : Reserve Bank and Rural Credit.

(3) Reserve Bank. . Report on Currency and Finance (Yearly).

: Statistics Statements relating to Co-operative Movement in India.

Rural Credit Survey Committee Report, Val. II.

(4) Report of the Committee on Co-operetive Credit 1958.

सदस्यों को सस्ती दर पर ऋण प्रदान करना होता है। यह विभिन्न समितियों में समन्वय भी स्थापित करता है। कुछ स्थानों में इसको सदस्य-समितियों के निरीक्षण का भी अधिकार है। अपने इन कार्यों के अतिरिक्त यह सामान्य बैंकिंग के कार्य भी करता है।

केन्द्रीय बैंकों ने सहकारी साख प्रदान करने के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण कार्य किया है। सहकारिता पर मद्रास समिति के अनुसार, "केन्द्रीय बैंकों ने ग्रामीण और नगर समितियों का अर्थ-प्रबन्धन करने और उनके कोषों का सन्तुलन रखने का कार्य ठीक प्रकार से पूरा किया है। उन्होंने स्थानीय डिपाजिटों को गतिशील बनाया है और उनको प्रारम्भिक समितियों के लिये सस्ती ब्याज की दर पर उपलब्ध किया है।

राज्य सहकारी बैंक
(State Co-operative Bank)

राज्य सहकारी बैंक सहकारी साख संगठन का सर्वोच्च अंग है जो राज्य स्तर पर संगठित है। यह प्रत्येक राज्य में है। इसका संगठन विभिन्न राज्यों में विभिन्न है। पंजाब व बंगाल में ये बैंक पूर्ण रूप से सहकारी है। इनकी सदस्य केवल सहकारी संस्थायें हैं। अन्य प्रान्तों में ये मिश्रित है। सहकारी समितियों के साथ-साथ व्यक्तियों को भी इनका सदस्य बनने का अधिकार है। इन बैंकों का प्रबन्ध एक निर्वाचित बोर्ड ऑफ डायरेक्टरी के द्वारा किया जाता है।

राज्य सहकारी बैंकों का देश के सहकारी ढांचे में महत्वपूर्ण स्थान है। यह बैंक केन्द्रीय बैंकों को वित्त प्रदान करता है और उन पर नियन्त्रण रखता है। यह सहकारी समितियों व राष्ट्रीय मुद्रा बाजार में सम्बन्ध स्थापित करता है। रिजर्व [illegible] ऑफ इण्डिया इन्हीं बैंकों के द्वारा सहकारी आन्दोलन व कृषि को साख [illegible] करता है।

भारतीय मुद्रा बाजार में सहकारी बैंक
(Co-operative Banks in Indian Money Market)

भारत में सहकारी साख आन्दोलन

जिसका मुख्य उद्देश्य गरीब किसानों को [illegible]

से भारतीय किसान महाजन व साहूकार [illegible]

ऊंची सूद की दर पर वसूल करता है [illegible]

आन्दोलन को प्रारम्भ किया गया [illegible]

दौरान में भी सहकारी आन्दो[illegible]

मुख्य कारण यह है कि [illegible]

समितियों के सदस्य [illegible]

रहती है।

साख

किसी भी देश मे मूल्य सदा स्थिर नही रहते। यदि पिछले १००–२०० वर्षों में होने वाले मूल्य-परिवर्तनों (Price-movements) का अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल्य-परिवर्तनो की दीर्घकालीन प्रवृत्ति वृद्धि की ओर है। अल्पकाल (कुछ सप्ताह, महीने या वर्ष के लिए) में मूल्य प्राय घट भी जाया करते हैं परन्तु यदि १५–२० वर्षों के एक काल को लें मूल्यों की प्रवृत्ति बढ़ने की ओर ही दिखाई देगी।

भारतवर्ष में, अन्य देशों के समान, मूल्यो की प्रवृत्ति बढ़ने की ओर ही थी। महामन्दी काल (Great Depression) को छोड कर अन्य सब कालों मे मूल्यो मे वृद्धि होती रही है। प्रथम महायुद्ध, द्वितीय महायुद्ध, कोरिया युद्ध तथा नियोजन काल मे घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit financing) कुछ महत्त्वपूर्ण कारण रहे हैं जिन्होंने मूल्यों को ऊपर की ओर ढकेला है। सन् १६५० के बाद से मूल्यों मे वृद्धि अधिक हुई है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के एक अर्थशास्त्री के अनुसार सन् १६३६ की तुलना में अब भारतीय रुपये का मूल्य केवल १७ पैसे रह गया है।

मूल्यों की इन वृद्धि का सबसे गम्भीर व विपरीत प्रभाव निश्चित वेतन वाले वर्ग पर पड़ता है और यही वर्ग देश में बहुसख्या मे है। इसलिये कई बार यह कहा जाता है कि सरकार को प्रयत्न करके मूल्य-स्तर गिरा देना चाहिये जिससे कि उपभोक्ताओं को हानि न हो। यहाँ हमें इसी सम्बन्ध मे विचार करना है कि क्या मूल्य स्तर को घटा कर सन् १६३६ के स्तर पर लाया जा सकता है।

इस समस्या पर विचार करने के लिये पहले हमे यह देखना होगा कि मूल्यों में वृद्धि क्यों हुई है और क्या हम उन कारणो को दूर कर सकते हैं। मूल्यों मे वृद्धि का प्रमुख कारण तो मुद्रा व साख की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि है। सन् १६३६ की तुलना में मुद्रा व साख की मात्रा २५ गुनी हो गई है। भारत मे, अप्रैल सन् १६६५ में मुद्रा की मात्रा ४१६७·८१ करोड रु० थी जबकि सन् १६३६ मे मुद्रा की मात्रा १७६ करोड़ रु० थी। मूल्य-स्तर को गिराने के लिये मुद्रा व साख की मात्रा को कम करना हो जो कि सम्भव नही है क्योकि मुद्रा की मात्रा को कम कर देने से मुद्रा-सकुचन (Deflation) का भय है जिससे बेरोजगारी फैलेगी।

मूल्यो मे वृद्धि का दूसरा कारण घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit financing) है जिसके कारण लोगो के पास क्रय-शक्ति बढ जाती है और वे अधिक वस्तुओं की माँग करते हैं। प्रथम व द्वितीय योजनाओ मे घाटे की वित्त-व्यवस्था बड़े पैमाने पर की गई थी परन्तु तृतीय योजना मे इसकी मात्रा को कम कर दिया गया है।

उत्पादन मे कमी, वस्तुओं की माग मे वृद्धि, निर्यात वृद्धि प्रयत्न तथा काले द्रव्य (Black Money) के कारण भी मूल्यो मे वृद्धि हुई है।

अब प्रश्न यह आता है कि वर्तमान मूल्य-स्तर को गिरा कर सन् १६३६ के स्तर पर क्यों नहीं लाया जा सकता। इसके कई कारण हैं। एक कारण तो यह है

किसी भी देश मे मूल्य सदा स्थिर नही रहते। यदि पिछले १००–२०० वर्षों में होने वाले मूल्य-परिवर्तनों (Price-movements) का अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल्य-परिवर्तनो की दीर्घकालीन प्रवृत्ति वृद्धि की ओर है। अल्पकाल (कुछ सप्ताह, महीने या वर्ष के लिए) में मूल्य प्राय: घट भी जाया करते हैं परन्तु यदि १५–२० वर्षों के एक काल को लें मूल्यों की प्रवृत्ति बढ़ने की ओर ही दिखाई देगी।

भारतवर्ष में, अन्य देशो के समान, मूल्यों की प्रवृत्ति बढ़ने की ओर ही थी। महामन्दी काल (Great Depression) को छोड कर अन्य सब कालों में मूल्यों में वृद्धि होती रही है। प्रथम महायुद्ध, द्वितीय महायुद्ध, कोरिया युद्ध तथा नियोजन काल में घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit financing) कुछ महत्वपूर्ण कारण रहे हैं जिन्होने मूल्यों को ऊपर की ओर ढकेला है। सन् १६५० के बाद से मूल्यो मे वृद्धि अधिक हुई है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के एक अर्थशास्त्री के अनुसार सन् १६३६ की तुलना में अब भारतीय रुपये का मूल्य केवल १७ पैसे रह गया है।

मूल्यों की इन वृद्धि का सबसे गम्भीर व विपरीत प्रभाव निश्चित वेतन वाले वर्ग पर पड़ता है और यही वर्ग देश में बहुसंख्या में है। इसलिये कई बार यह कहा जाता है कि सरकार को प्रयत्न करके मूल्य-स्तर गिरा देना चाहिये जिससे कि उपभोक्ताओ को हानि न हो। यहाँ हमें इसी सम्बन्ध मे विचार करना है कि क्या मूल्य स्तर को घटा कर सन् १६३६ के स्तर पर लाया जा सकता है।

इस समस्या पर विचार करने के लिये पहले हमे यह देखना होगा कि मूल्यों में वृद्धि क्यो हुई है और क्या हम उन कारणो को दूर कर सकते हैं। मूल्यो में वृद्धि का प्रमुख कारण तो मुद्रा व साख की मात्रा मे अत्यधिक वृद्धि है। सन् १६३६ की तुलना में मुद्रा व साख की मात्रा २५ गुनी हो गई है। भारत में, अप्रैल सन् १६६५ मे मुद्रा की मात्रा ४१६७·८१ करोड़ रु० थी जबकि सन् १६३६ मे मुद्रा की मात्रा १७६ करोड रु० थी। मूल्य-स्तर को गिराने के लिये मुद्रा व साख की मात्रा को कम करना हो जो कि सम्भव नहीं है क्योकि मुद्रा की मात्रा को कम कर देने से मुद्रा-संकुचन (Deflation) का भय है जिससे बेरोजगारी फैलेगी।

मूल्यों मे वृद्धि का दूसरा कारण घाटे की वित्त-व्यवस्था (Deficit financing) है जिसके कारण लोगों के पास क्रय-शक्ति बढ जाती है और वे अधिक वस्तुओ की माँग करते हैं। प्रथम व द्वितीय योजनाओं में घाटे की वित्त-व्यवस्था बड़े पैमाने पर की गई थी परन्तु तृतीय योजना मे इसकी मात्रा को कम कर दिया गया है।

उत्पादन में कमी, वस्तुओं की माग मे वृद्धि, निर्यात वृद्धि प्रयत्न तथा काले द्रव्य (Black Money) के कारण भी मूल्यो मे वृद्धि हुई है।

अब प्रश्न यह आता है कि वर्तमान मूल्य-स्तर को गिरा कर सन् १६३६ के स्तर पर क्यों नहीं लाया जा सकता। इसके कई कारण हैं। एक कारण तो यह है

१७

भारत में मूल्य

(Prices in India)

Q. 197. Is it possible and desirable to revert to the pre-war level of prices in India ? Study the possible effects of such a change.

(Agra 1958, 1960, 1953, Vikram 1960)

Q. 198. Is it possible and desirable for the Indian rupee to return to its pre-war purchasing power ? Study the methods and effects of such a course. (Agra 1953)

Q. 199. Do you agree with the view that the only possible policy in India at present is to lower the wholesall price level and to improve the standard of living ? (Agra 1950)

प्रत्येक अर्थव्यवस्था में पूंजीवादी से लेकर साम्यवादी तक में मूल-यंत्र या मूल्यों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। मूल्य ही वे केन्द्र होते हैं जिनके चारों ओर सम्पूर्ण आर्थिक-क्रिया चक्कर काटती है और जिन पर वह आर्थिक क्रिया निर्भर होती है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में तो मूल्यों का महत्व व प्रभाव और भी अधिक हो जाता है क्योंकि इस अर्थव्यवस्था में मूल्यों पर ही यह निर्भर करता है कि कितनी वस्तु का उत्पादन किया जायगा, कितनी का विनिमय किया जायगा और कितनी का उपभोग। राष्ट्रीय आय के वितरण में भी मूल्य-यंत्र बहुत सहायक होता है। उपभोक्ता की सार्वभौमिकता, जो कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की एक मुख्य व महत्व-पूर्ण विशेषता है, भी मूल्य-यंत्र के कारण ही सम्भव है। बचत, विनियोजन, रहन सहन का स्तर, ये सब भी मूल्यों द्वारा प्रभावित होते हैं।

किसी भी वस्तु की विनिमय शक्ति की मुद्रा में अभिव्यक्ति को मूल्य कहते हैं। वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य पर केवल उस वस्तु की मांग व पूर्ति का ही प्रभाव नहीं पड़ता बल्कि मुद्रा की मांग व पूर्ति भी मूल्यों को प्रभावित करती है। इसके अतिरिक्त किसी देश के मूल्य-स्तर पर केवल उस देश की स्थितियों का ही प्रभाव नहीं पड़ता बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय घटनायें भी मूल्यों को प्रभावित करती है। पिछले ५० वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय कारणों का प्रभाव व महत्व अधिक हो गया है क्योंकि प्रत्येक देश की अन्तर्राष्ट्रीय निर्भरता (International Complementarity) में वृद्धि हो गई है जिसके कारण एक देश के मूल्यों में होने व [illegible] न दूसरे देश के मूल्यों को प्रभावित करता है।

Q. 200. Examine the price situation and price policy in India during the plan period. (Vikram 1963)

मूल्य-स्थिति तथा मूल्य परिवर्तनों का अध्ययन महत्वपूर्ण होता जा रहा है। क्योंकि इनका प्रभाव अर्थव्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र पर पड़ता है। मूल्य परिवर्तनों को ध्यान में रखकर अपनी वित्तीय व मौद्रिक नीति का निर्धारण करती है तथा करों की मात्रा में कमी वृद्धि करती है मूल्य स्थिति पर देश मे उत्पादन व उपभोग की मात्रा निर्भर करती है तथा मूल्यो मे परिवर्तन से रहन सहन का स्तर प्रभावित होता है मूल्य परिवर्तन के प्रभाव भी महत्वपूर्ण होते हैं क्योंकि ये परिवर्तन एक वर्ग को लाभ प्रदान करते हैं और दूसरे वर्ग को नुकसान पहुँचाते हैं। इसलिये मूल्य स्थिति व मूल्य परिवर्तनों का अध्ययन उपयोगी के अतिरिक्त आवश्यक भी है।

विकासशील अर्थव्यवस्था मे मूल्यो की प्रवृत्ति वृद्धि की ओर होती है क्योंकि विकास कार्यक्रमो के अन्तर्गत विशाल मात्रा मे विनियोजन किया जाता है जिसके परिणाम देर से प्राप्त होते हैं। विनियोजन करने के काफी समय के उपरान्त उत्पादन प्रारम्भ होता है। इसलिये लोगों की मौद्रिक आय मे तो वृद्धि हो जाती है जबकि बाजार में वस्तुओं की मात्रा मे वृद्धि नही होती। अतः मांग और पूर्ति का सन्तुलन टूट जाता है और मूल्यों मे वृद्धि प्रारम्भ हो जाती है।

योजना काल में मूल्य स्थिति

Price Situation in Plan Period

सन् १८५७ से पहले मूल्य प्रथाओं द्वारा निर्धारित होते थे और अन्य देशो के मूल्यों का प्रभाव यहाँ के मूल्यो पर नही पड़ता था। परन्तु रेलो के बनने और यातायात व संदेश वाहन के अन्य साधनों के विकास के कारण भारत के मूल्य संसार के अन्य देशों के मूल्य से सम्बद्ध हो गये और ससार मे होने वाले परिवर्तन भारत के मूल्यो को प्रभावित करने लगे।

भारत के मूल्यो पर सबसे महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव सन् १९२९ के महा-मन्दी का पड़ा जबकि संसार के अन्य देशो के साथ-साथ भारत में भी मूल्यों में गिरावट आने लगी। भारत मे अन्य देशो की तुलना मे मूल्यो मे गिरावट अधिक आई अन्य वस्तुओं की तुलना मे कृषि वस्तुओं के मूल्यो मे अधिक गिरावट आई जिस कारण किसानो की दशा बिगड़ गई। द्वितीय महायुद्ध में मुद्रा-स्फीति व अन्य कारणों से मूल्यों में लगभग तीन गुने की वृद्धि हुई। सरकार ने मूल्यों की वृद्धि को रोकने के लिये मूल्य नियन्त्रण व राशनिंग की नीति को अपनाया। युद्ध के दौरान मे यह आशा की जाती थी कि युद्ध के बाद मूल्य गिर जायेंगे परन्तु युद्ध के बाद मूल्य नियन्त्रण की नीति के ढीला हो जाने के कारण मूल्य बढ़ते ही रहे। बाद मे सन् १९४८, के अवमूल्यन व १९५० में कोरिया युद्ध के कारण मूल्यो मे वृद्धि होती रही। सन् १९५१ तक मूल्य अधिकतम थे।

कि मूल्यों के गिरने से देश में मुद्रा-संकुचन की स्थिति आ जायगी जिसके कारण मंदीकाल प्रारम्भ हो जायगा। मंदीकाल के विपरीत प्रभाव उत्पादन, रोजगार व आय पर पड़ेंगे। मूल्यों के गिरने पर एकदम उत्पादन प्रभावित होगा क्योंकि लागत को एकदम कम नहीं किया जा सकता। इसलिये उत्पादन गिर जायगा तो रोजगार व आय को प्रभावित करेगा। रोजगार गिरने से आय गिरेगी। इस प्रकार एक विषैला-चक्र प्रारम्भ हो जायगा जिसका कोई अन्त नहीं होगा। सन् १९२९ का मंदीकाल इसका प्रमाण है जबकि मूल्यों में गिरावट के कारण प्रत्येक देश की अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई।

दूसरे, मूल्यों को इस तर्क के आधार पर गिराना ठीक नहीं है कि मूल्यों के गिरने से व्यक्तियों का रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठ जायगा। वास्तव में इस समय सन् १९३९ की तुलना में रहन-सहन का स्तर बहुत ऊंचा है। मूल्यों के गिरने पर लोगों का रहन-सहन का स्तर बढ़ने के बजाय गिर जायगा क्योंकि उनकी आय कम हो जायगी।

तीसरे, मूल्य स्तर स्वयं में इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना मूल्य-आय का सन्तुलन। वर्तमान मूल्यों पर आयों का सन्तुलन हो जायगा। मूल्यों के गिरने पर यह सन्तुलन टूट जायगा जिसके कारण बहुत सी समस्यायें उठ जायगी।

इस प्रकार यह तो स्पष्ट है कि मूल्य स्तर को गिरा कर सन् १९३९ के स्तर पर नहीं लाया जा सकता क्योंकि इसके प्रभाव उत्पादन, रोजगार व आय पर बहुत बुरे होंगे। एक बात यह अवश्य ठीक है कि वर्तमान मूल्य-स्तर बहुत तेजी के साथ बढ़ रहा है जो ठीक नहीं है। विकासशील देश के मूल्यों में वृद्धि अवश्य होती है परन्तु यह वृद्धि इतनी तेज नहीं होनी चाहिये कि में मुद्रा स्फीति की दशा उत्पन्न हो जाय। इसलिये मूल्यों को गिराने के स्थान पर प्रयत्न यह होना चाहिये कि मूल्य स्तर रहे या उनमें वृद्धि धीमी हो।

मूल्य स्तर को स्थिर व नियंत्रित रखने के लिये मुख्यतः दो बातों की आवश्यकता है। एक तो वस्तुओं की मांग को नियंत्रित किया जाय और दूसरे वस्तुओं की पूर्ति को बढ़ाया जाय। वस्तुओं की मांग व्यक्तियों की आय या उनके पास की क्रय-शक्ति पर निर्भर करती है। इसको मौद्रिक व वित्तीय तरीकों से नियंत्रित किया जा सकता है। मुद्रा के सम्बन्ध में मंहगी नीति अपना कर, करों की मात्रा में वृद्धि करके तथा व्यय में मितव्ययता करके वस्तुओं की मांग को कम किया जा सकता है। दूसरा तरीका है कि वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाया जाय जिससे बाजार में वस्तुओं की कमी दूर हो जाय और मूल्य गिर जाए। वस्तुओं की पूर्ति बढ़ाने का प्रभाव उत्पादन व रोजगार पर भी अच्छा पड़ता है तथा लोगों का रहन-सहन का स्तर भी बढ़ता है।

Q. 200. Examine the price situation and price policy in India during the plan period. **(Vikram 1963)**

मूल्य-स्थिति तथा मूल्य परिवर्तनों का अध्ययन महत्वपूर्ण होता जा रहा है। क्योंकि इनका प्रभाव अर्थव्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र पर पड़ता है। मूल्य परिवर्तनों को ध्यान में रखकर अपनी वित्तीय व मौद्रिक नीति का निर्धारण करती है तथा करों की मात्रा मे कमी वृद्धि करती है मूल्य स्थिति पर देश मे उत्पादन व उपभोग की मात्रा निर्भर करती है तथा मूल्यो मे परिवर्तन से रहन सहन का स्तर प्रभावित होता है मूल्य परिवर्तन के प्रभाव भी महत्वपूर्ण होते हैं क्योंकि ये परिवर्तन एक वर्ग को लाभ प्रदान करते हैं और दूसरे वर्ग को नुकसान पहुँचाते हैं। इसलिये मूल्य स्थिति व मूल्य परिवर्तनो का अध्ययन उपयोगी के अतिरिक्त आवश्यक भी है।

विकासशील अर्थव्यवस्था मे मूल्यो की प्रवृत्ति वृद्धि की ओर होती है क्योंकि विकास कार्यक्रमों के अन्तर्गत विशाल मात्रा मे विनियोजन किया जाता है जिसके परिणाम देर से प्राप्त होते हैं। विनियोजन करने के काफी समय के उपरान्त उत्पादन प्रारम्भ होता है। इसलिये लोगों की मौद्रिक आय मे तो वृद्धि हो जाती है जबकि बाजार में वस्तुओं की मात्रा मे वृद्धि नही होती। अत माँग और पूर्ति का सन्तुलन टूट जाता है और मूल्यों मे वृद्धि प्रारम्भ हो जाती है।

योजना काल में मूल्य स्थिति

Price Situation in Plan Period

सन् १८५७ से पहले मूल्य प्रथाओ द्वारा निर्धारित होते थे और अन्य देशों के मूल्यों का प्रभाव यहाँ के मूल्यो पर नही पडता था। परन्तु रेलों के बनने और यातायात व सदेश वाहन के अन्य साधनो के विकास के कारण भारत के मूल्य संसार के अन्य देशों के मूल्य से सम्बद्ध हो गये और संसार में होने वाले परिवर्तन भारत के मूल्यों को प्रभावित करने लगे।

भारत के मूल्यों पर सबसे महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव सन् १९२९ के महामन्दी का पड़ा जबकि ससार के अन्य देशो के साथ-साथ भारत मे भी मूल्यो मे गिरावट आने लगी। भारत मे अन्य देशो की तुलना में मूल्यो मे गिरावट अधिक आई अन्य वस्तुओं की तुलना मे कृषि वस्तुओ के मूल्यों मे अधिक गिरावट आई जिस कारण किसानों की दशा बिगड गई। द्वितीय महायुद्ध मे मुद्रा-स्फीति व अन्य कारणों से मूल्यो मे लगभग तीन गुने की वृद्धि हुई। सरकार ने मूल्यों की वृद्धि को रोकने के लिये मूल्य नियन्त्रण व राशनिंग की नीति को अपनाया। युद्ध के दौरान मे यह आशा की जाती थी कि युद्ध के बाद मूल्य गिर जायेंगे परन्तु युद्ध के बाद मूल्य नियन्त्रण की नीति के ढीला हो जाने के कारण मूल्य बढते ही रहे। बाद मे सन् १९४८ के अवमूल्यन व १९५० में कोरिया युद्ध के कारण मूल्यों में वृद्धि होती रही। सन् १९५१ तक मूल्य अधिकतम थे।

प्रथम योजना में मूल्य
Prices in First Plan.

सन् १९४९ के पश्चात से मूल्यों में तीव्र वृद्धि आरम्भ हो गई थी। इस मूल्य के कई कारण थे। एक तो सितम्बर सन् १९४९ में रुपये का अवमूल्यन कर दिया गया था जिस कारण निर्यात बढ़ने लगे थे। दूसरे, भुगतान शेष भारत के प्रतिकूल होने के कारण कड़े आयात नियन्त्रण लगा दिये गये थे। तीसरे, कोरिया युद्ध के कारण सट्टे की क्रियाओं को प्रोत्साहन मिला। चौथे, भारत व पाक सम्बन्धों में खिचाव होने लगा था क्योंकि पाकिस्तान ने भारत व इंगलैण्ड के साथ-साथ अवमूल्यन नहीं किया था और पाकिस्तान की वस्तुयें भारत के लिए मंहगी हो गई थी।

इन कारणों से जूट व कपास के मूल्य में ६०·८ प्रतिशत की वृद्धि हुई। खाद्य पदार्थों के मूल्यों में २·४ प्रतिशत तथा निर्मित वस्तुओं के मूल्यों में १८ ४ प्रतिशत की वृद्धि हुई। कच्चे माल के मूल्य ३९·२ प्रतिशत बढ़े। थोक मूल्यों का सूचकाँक Index Number) जून सन् १९५० में ३९२·४ हो गया। मार्च सन् १९५१ में यह सूचकाँक बढ़ कर ४४९·६ तक पहुँच गया। मध्य अप्रैल तक सूचकाँक ४६२ की उच्चतम सीमा तक पहुँच गया। इस प्रकार अप्रैल सन् १९५१ तक मूल्य उच्चतम स्तर तक पहुँच गये थे।

अप्रैल सन् १९५१ के बाद से मूल्यों में गिरावट प्रारम्भ हो गई। इस मूल्य गिरावट के कई कारण थे। एक तो कोरिया युद्ध रुक गया था तथा अमेरिका ने स्टाक संग्रह का कार्यक्रम धीमा कर दिया था। दूसरे, देश में कृषि व निर्मित वस्तुओं का उत्पादन बढ़ रहा था। तीसरे, नवम्बर सन् १९५१ में रिजर्व बैंक दर को ३% से बढ़ाकर ३½% कर दिया जिस कारण साख महंगी हो गई। साथ ही बैंकों की उधार देने की विधि में परिवर्तन हो गया। चौथे, सन् १९५१-५२ में केन्द्रीय सरकार ने बचत का बजट बनाया। इस बजट में सरकार ने ९३ करोड़ रु० की बचत दिखाई। पाँचवे, निर्यात करों में वृद्धि हो जाने के कारण विदेशी मांग कम हो गई।

इन सब कारणों के प्रभाव से अप्रैल सन् १९५१ के पश्चात से मूल्य गिरने प्रारम्भ हो गये। अप्रैल सन् १९५२ के प्रथम तीन महीनों में मूल्य काफी कम हो गये। सन् १९५४ तक मूल्य लगभग स्थाई रहे। परन्तु मई सन् १९५४ से मूल्यों में तेजी से गिरावट आने लगी और मई सन् १९५५ तक थोक मूल्यों का सूचकाँक ९०·८ के निम्नतर स्तर तक जा पहुँचा। मूल्य गिरने का मुख्य कारण १९५३-५४ में खाद्यान्न का अपूर्व उत्पादन था।

सन् १९५५ में जून के तीसरे सप्ताह से मूल्यों में वृद्धि प्रारम्भ हो गई। इसका कारण था कि खाद्यान्न का उत्पादन कम हो गया था और योजना के अन्तिम वर्षों में सरकारी व्यय बहुत बढ़ गया था। मार्च सन् १९५६ में थोक मूल्यों का सूचकाँक ९८·१ हो गया जो सन् १९५२-५३ के मूल्य स्तर के लगभग बराबर था।

खाद्यान्न के मूल्यों में काफी वृद्धि हुई। इनका सूचकांक ८२·६ से बढ़कर ९२·८ हो गया। औद्योगिक कच्चे माल का सूचकांक भी ९७ २ से बढ़कर १०९·४ तक जा पहुँचा।

प्रथम योजना काल में मूल्य, पहले की तुलना में कम रहे। योजना की अवधि में थोक मूल्यों के सूचकांक मे २१·७ प्रतिशत की कमी हुई। मूल्य सूचकांक १९५०-५१ के अन्त में १२५ ७ से गिर कर सन् १९५५-५६ में ९८·१ रह गया (आधार वर्ष १९५२-५३) खाद्य वस्तुओं के मूल्यों में २४ ४ प्रतिशत की कमी हुई और निर्मित माल के मूल्यों मे १३ ३% थी।

द्वितीय योजना में मूल्य

Prices in Second plan

प्रथम योजना के अन्तिम वर्ष में मूल्यों में वृद्धि प्रारम्भ हो गई थी जो द्वितीय योजना काल में तीव्रतर होती गई। सन् १९५८ को छोड़कर जबकि सामान्य मूल्य सूचकांक १९५७ में १०५ ६ से घटकर १०५ ४ हो गया, मूल्यों में निरन्तर वृद्धि होती रही। मूल्यों मे वास्तविक वृद्धि सन् १९५६ में तथा इसके पश्चात के दो वर्षों में हुई। १९४९ को आधार मानते हुई उपभोक्ता मूल्य सूचकांक सन् १९५५-५६ में ९६ से बढ़कर सन् १९६०-६१ में १२५ हो गया। थोक मूल्य का सूचकांक सन् १९६०-६१ में १२४ ६ हो गया जो सन् १९५५-५६ मे ९२ ५ था।

द्वितीय योजना काल मे मूल्यो में ३० प्रतिशत की वृद्धि हुई। औद्योगिक वस्तुओं के मूल्यो में २७ ७ प्रतिशत की, कच्चे माल के मूल्यो में ४५·४ प्रतिशत की तथा निर्मित वस्तुओं के मूल्यो मे २५ ० प्रतिशत की वृद्धि हुई।

द्वितीय योजना मे मूल्यो की वृद्धि का मुख्य कारण सरकार द्वारा अत्यधिक मात्रा में घाटे की वित्त व्यवस्था थी। इस योजना में सरकार ने ९४८ करोड़ रुपये के बराबर घाटे की वित्त व्यवस्था की। इस कारण देश मे द्रव्य की पूर्ति में अत्यधिक वृद्धि हो गई। सन् १९६०–६१ मे चलन की मात्रा २८६८·६१ करोड़ रु० थी जो सन् १९५५-५६ में २२१६ ६५ करोड रु० थी मुद्रा वृद्धि के कारण लोगों की मौद्रिक आय मे तेजी से वृद्धि हुई। दूसरे सन् १९५१-६१ के दौरान मे २१·५ प्रतिशत की वृद्धि हुई जिसने माग को प्रभावित किया। तीसरे, वस्तुओं की उपलब्धि कम हो गई क्योंकि कृषि व औद्योगिक उत्पादन मे गिरावट आ गई।

तीसरी योजना में मूल्य

Price in Third Plan.

तीसरे योजना के प्रारम्भ होने पर मूल्य अधिक थे। योजना का प्रथम वर्ष सामान्य रहा और मूल्य-स्तर में कोई विशेष वृद्धि नही हुई। सन् १९६०-६१ मे थोक मूल्यो का सूचकांक १२४ ६ था जो सन् १९६१-६२ मे १२५·१ तथा सन् १९६२-६३ में १२७·६ हो गया। चीनी आक्रमण के समय भी मूल्यों मे कोई विशेष वृद्धि नही

हुई। मार्च सन् १९६३ से मूल्यों में तीव्र वृद्धि प्रारम्भ हो गई। मार्च १९६३ में सूचकांक १२७.२ था जो अगस्त तक १३६ हो गया। मार्च १९६४ में सूचक अंक १३९.३ हो गया। इस प्रकार मूल्यों में तीव्र वृद्धि सन् १९६२ के मध्य से प्रारम्भ हुई। सन् १९६२ के मध्य से लेकर सन् १९६३ के मध्य तक एक वर्ष में ही थोक मूल्यों के सूचक अंक ७ प्रतिशत वृद्धि हुई। सन् १९६४ के मध्य तक मूल्यों में १० प्रतिशत वृद्धि और हुई। इन दो वर्षों में मूल्यों में इतनी वृद्धि हुई जो पिछले १० वर्षों में भी नहीं हुई थी। इस दौरान में खाद्यान्नों के मूल्यों में ३३ प्रतिशत वृद्धि हुई। इस विधि का उपभोक्ताओं पर बहुत बुरा प्रभाव हुआ और सब वर्गों से वेतन व महंगाई भत्ता बढ़ाने की मांग की गई।

मूल्यों में वृद्धि इसके उपरान्त भी नहीं रुकी बल्कि बढ़ती गई। अप्रैल सन् १९६४ में मूल्यों का सूचकांक १४९.१ था जो अप्रैल १९६५ के अन्त तक १५५.३ हो गया। सितम्बर १९६४ में मूल्य स्तर में बहुत अधिक वृद्धि हो गई थी। इस महीने में सूचकांक १५९.४ हो गया था।

मूल्यों में इस वृद्धि का मुख्य कारण मांग में भारी वृद्धि है। तीसरी योजना के प्रथम तीन वर्षों में मांग में १९५४ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त मांग में २००० करोड़ रुपये की प्रत्यक्ष वृद्धि हुई। पूर्ति में मांग के अनुसार वृद्धि नहीं हो रही है। इसके दो कारण हैं। एक तो उत्पादन तेजी से नहीं बढ़ रहा है। दूसरे व्यापारी, किसान और उपभोक्ता भी वस्तुओं को छिपाकर अपने पास जमा करने लगे हैं। उत्पादन में वृद्धि केवल १५०० करोड़ रु० के बराबर हुई है। इस प्रकार मांग व पूर्ति में गम्भीर असन्तुलन हो गया।

सरकार इन मूल्यों को रोकने के लिये विभिन्न प्रयत्न कर रही है। वस्तुओं के जमा करने पर रोक लगा दी गई है। स्वल्प वस्तुओं के क्षेत्रिय आवागमन पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। सस्ते अनाज की दुकानें खोली गई हैं। सार्वजनिक व्यय को कम करने का प्रयत्न किया जा रहा है। अनेक वस्तुओं पर साख सम्बन्धी नियंत्रण लगा दिये हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में अधिक सफलता नहीं मिली है।

१८

पौंड पावने

(Sterling Balances)

Q. 201. Write a critical note on 'sterling balances of India and their redemption.' **(Agra 1965)**

Q 202. Attempt a lucid note on the latest agreement regarding Sterling Balances of India. **(Agra 1951)**

Q. 203. What were the main points involved in the discussion over sterling balances between India and England? How is India's foreign trade likely to be affected by this position? **(Agra 1949)**

पौंड पावने (Sterling Balances) ऋणों का जमा होना भारतीय मुद्रा चलन के इतिहास एक महत्वपूर्ण घटना है। द्वितीय महायुद्ध से पहले भारतवर्ष इगलैण्ड की सरकार का ऋणी था। परन्तु द्वितीय महायुद्ध के अन्त तक भारत ने केवल अपना ऋण ही नहीं चुका दिया बल्कि भारत ऋणदाता बन गया। युद्ध काल में भारतवर्ष ने बहुत सा माल इगलैण्ड व अन्य देशो को भेजा था जिसका भुगतान स्टर्लिंग में किया गया था। इस स्टर्लिंग को इगलैण्ड में भारत सरकार के नाम में जमा करा दिया जाता था और इसलिए इन राशियो को पौंड पावना (Sterling Balances) कहा जाता है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट सन् १९३४ की ३३ वी धारा के अनुसार रिजर्व बैंक स्टर्लिंग प्रतिभूतियो के आधार पर नोट छाप सकता था। अत. इन पौंड पावनों के आधार पर रिजर्व बैंक ने नोट छाप कर उन व्यक्तियों का भुगतान कर दिया, जिन्होंने माल इगलैण्ड व दूसरे देशो को भेजा था। युद्ध समाप्त होने पर सन् १९४५-४६ मे भारत के पौंड पावनों की मात्रा १७३३ करोड़ रुपये थी।

पौड पावनों की मात्रा में वृद्धि होने के कारण

(Causes of the Increase in the Sterling Balances)

अपनी सम्पत्ति का कुछ भाग रिजर्व बैंक स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के रूप में पहले भी इगलैण्ड में रखता था, परन्तु उसकी मात्रा बहुत ही कम थी। युद्ध से पहले पौंड पावनो की मात्रा केवल ६४ करोड़ रुपये थी। पौड पावनों की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि युद्धकालीन तथ्य था, जिसने भारतवर्ष को ऋणी से ऋणदाता बना दिया। परन्तु साथ ही भारतवासियो को अधिक कष्ट सहना पड़ा क्योंकि इनके

हुई। मार्च सन् १९६३ से मूल्यों में तीव्र वृद्धि प्रारम्भ हो गई। मार्च १९६३ में सूचकांक १२७·२ था जो अगस्त तक १३६ हो गया। मार्च १९६४ में सूचक अंक १३९·३ हो गया। इस प्रकार मूल्यों में तीव्र वृद्धि सन् १९६२ के मध्य से प्रारम्भ हुई। सन् १९६२ के मध्य से लेकर सन् १९६३ के मध्य तक एक वर्ष में ही थोक मूल्यों के सूचक अंक ७ प्रतिशत वृद्धि हुई। सन् १९६४ के मध्य तक मूल्यों में १० प्रतिशत वृद्धि और हुई। इन दो वर्षों में मूल्यों में इतनी वृद्धि हुई जो पिछले १० वर्षों में भी नहीं हुई थी। इस दौरान में खाद्यान्नों के मूल्यों में ३३ प्रतिशत वृद्धि हुई। इस स्थिति का उपभोक्ताओं पर बहुत बुरा प्रभाव हुआ और सब वर्गों से वेतन व महंगाई भत्ता बढ़ाने की मांग की गई।

मूल्यों में वृद्धि इसके उपरान्त भी नहीं रुकी बल्कि बढ़ती गई। अप्रैल सन् १९६४ में मूल्यों का सूचकांक १४९·१ था जो अप्रैल १९६५ के अन्त तक १५५·३ हो गया। सितम्बर १९६४ में मूल्य स्तर में बहुत अधिक वृद्धि हो गई थी। इस महीने में सूचकांक १५९·४ हो गया था।

मूल्यों में इस वृद्धि का मुख्य कारण मांग में भारी वृद्धि है। तीसरी योजना के प्रथम तीन वर्षों में मांग में १९५४ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त मांग में २००० करोड़ रुपये की प्रत्यक्ष वृद्धि हुई। पूर्ति में मांग के अनुसार वृद्धि नहीं हो रही है। इसके दो कारण हैं। एक तो उत्पादन तेजी से नहीं बढ़ रहा है। दूसरे व्यापारी, किसान और उपभोक्ता भी वस्तुओं को छिपाकर अपने पास जमा करने लगे हैं। उत्पादन में वृद्धि केवल १५०० करोड़ रु० के बराबर हुई है। इस प्रकार मांग व पूर्ति में गम्भीर असन्तुलन हो गया।

सरकार इन मूल्यों को रोकने के लिये विभिन्न प्रयत्न कर रही है। वस्तुओं के जमा करने पर रोक लगा दी गई है। स्वल्प वस्तुओं के क्षेत्रिय आवागमन पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। सस्ते अनाज की दुकानें खोली गई हैं। सार्वजनिक व्यय को कम करने का प्रयत्न किया जा रहा है। अनेक वस्तुओं पर साख सम्बन्धी नियंत्रण लगा दिये हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में अधिक सफलता नहीं मिली है।

१८

पौंड पावने

(Sterling Balances)

Q. 201. Write a critical note on 'sterling balances of India and their redemption' (Agra 1965)

Q 202. Attempt a lucid note on the latest agreement regarding Sterling Balances of India. (Agra 1951)

Q. 203. What were the main points involved in the discussion over sterling balances between India and England? How is India's foreign trade likely to be affected by this position? (Agra 1949)

पौंड पावने (Sterling Balances) ऋणों का जमा होना भारतीय मुद्रा चलन के इतिहास एक महत्वपूर्ण घटना है। द्वितीय महायुद्ध से पहले भारतवर्ष इगलैण्ड की सरकार का ऋणी था। परन्तु द्वितीय महायुद्ध के अन्त तक भारत ने केवल अपना ऋण ही नही चुका दिया बल्कि भारत ऋणदाता बन गया। युद्ध काल मे भारतवर्ष ने बहुत सा माल इगलैण्ड व अन्य देशो को भेजा था जिसका भुगतान स्टर्लिंग में किया गया था। इस स्टर्लिंग को इंगलैण्ड मे भारत सरकार के नाम में जमा करा दिया जाता था और इसलिए इन राशियो को पौंड पावना (Sterling Balances) कहा जाता है। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट सन् १९३४ की ३३ वीं धारा के अनुसार रिजर्व बैंक स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के आधार पर नोट छाप सकता था। अत. इन पौंड पावनो के आधार पर रिजर्व बैंक ने नोट छाप कर उन व्यक्तियों का भुगतान कर दिया, जिन्होने माल इगलैण्ड व दूसरे देशो को भेजा था। युद्ध समाप्त होने पर सन् १९४५-४६ मे भारत के पौंड पावनो की मात्रा १७३३ करोड रुपये थी।

पौंड पावनों की मात्रा में वृद्धि होने के कारण

(Causes of the Increase in the Sterling Balances)

अपनी सम्पत्ति का कुछ भाग रिजर्व बैंक स्टर्लिंग प्रतिभूतियो के रूप में पहले भी इगलैण्ड मे रखता था, परन्तु उसकी मात्रा बहुत ही कम थी। युद्ध से पहले पौंड पावनो की मात्रा केवल ६४ करोड रुपये थी। पौंड पावनों की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि युद्धकालीन तथ्य था, जिसने भारतवर्ष को ऋणी से ऋणदाता बना दिया। परन्तु साथ ही भारतवासियो को अधिक कष्ट सहना पड़ा क्योंकि इनके

आधार पर नोट छापने के कारण भारत में अत्यधिक मुद्रा-स्फीति हो गयी जैसी पहले कभी नहीं हुई थी। युद्धकाल में भारत के पौंड पावनों में उक्तलिखित आश्चर्य-जनक वृद्धि के कई महत्वपूर्ण कारण थे, जो इस प्रकार से हैं :—

(१) नवम्बर सन् १९३९ में इंगलैण्ड व भारत की सरकार ने वित्तीय समझौता (Financial Agreement) किया जिसके अनुसार रक्षा व्यय के लिये भारत का दायित्व एक निश्चित सीमा पर निर्धारित कर दिया गया और इस सीमा से अधिक जितना भी खर्चा होता है वह इंगलैण्ड की सरकार को देना था। युद्धकाल में यह रक्षा-व्यय बहुत अधिक बढ़ गया और भारत की सरकार प्रतिवर्ष मित्र राष्ट्रों के लिए बहुत अधिक खर्चा करती रही। सन् १९३९-४० से सन् १९५४-४६ तक भारत को इस सम्बन्ध में जो धन लेना था, उसकी मात्रा १७१० करोड़ रुपये थी। इसका भुगतान भारत सरकार को स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के रूप में मिला, जिसको सरकार ने रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को दे दिया और इसके बदले में रुपया ले लिया।

(२) ब्रिटिश सरकार ने युद्ध काल में भारत से बहुत सा सामान खरीदा और इसका भुगतान नगद में न करने के पौंड पावनों के रूप में किया। यही नहीं, अन्य मित्र राष्ट्रों को भी भारत ने जो सामान दिया, उसका भुगतान भी स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के रूप में किया गया। इसको भी रिजर्व बैंक को देकर इसके बदले में रुपया ले लिया गया।

(३) युद्ध काल में भारत का व्यापार-संतुलन अनुकूल रहा और इस अनुकूल व्यापार शेष का भुगतान भी स्टर्लिंग प्रतिभूतिओं के रूप में किया गया। रिजर्व बैंक ने इन स्टर्लिंग सिक्योरिटीज को खरीद लिया और नोट छाप कर उनसे भारतीय व्यापारियों का भुगतान कर दिया।

(४) युद्ध काल में साम्राज्य डालर कोष (Empire Dollar Pool) स्थापित किया गया था, जिसमें सदस्यों को प्राप्त दुर्लभ मुद्रा (Hard Currency) को एकत्र कर लिया जाता था। भारत को उसका सदस्य बनना पड़ा था। इसलिये अमेरिका से व्यापार के परिणामस्वरूप जो भी डालर प्राप्त होता था, वह अनिवार्य रूप से साम्राज्य डालर कोष में जमा हो जाता था तथा इसके बदले स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ दे दी जाती थीं।

(५) युद्धकाल में अमेरिका की सेनायें भारतवर्ष में रहीं थीं, जिन पर सारा व्यय भारतवर्ष ने किया था। इसके बदले में भी भारत को जो डालर प्राप्त होते थे, वह इंगलैण्ड की सरकार ले लेती थी और उसके बदले में स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ दे देती थी।

इस प्रकार यह मुख्य कारण थे जिनके परिणामस्वरूप भारत में स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में वृद्धि होती रही और पौण्ड पावनों की राशि बढ़ती गयी। वास्तव में यह पौण्ड पावने एक प्रकार की अनिवार्य बचत थी।

पौंड पावने को कम करने का प्रश्न

(The Question of Scaling Down the Sterling Balances)

उपरोक्त कारणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इगलैण्ड की सरकार के कार्यों के परिणामस्वरूप ही पौंड पावनों की इतनी अधिक राशि एकत्र हो गई थी। इनको एकत्र करने में भारतवासियों को बहुत अधिक कष्ट सहना पड़ा था। स्वय आधा पेट रहकर उन्होंने अन्न दूसरे देशों को भेजा। स्वय बनाया हुआ माल उपभोग न करके विदेशियों को दिया। अत स्टर्लिंग राशि वास्तव में भारतीयों द्वारा बहाया हुआ रक्त व आँसू है और इसलिए उनका नाम बहुत से अर्थशास्त्रियों ने 'रक्त की रोटी' (Blood Cakes) रखा है। भारत पौंड पावने को अपनी विदेशी पूँजी जो महान त्याग करके एकत्र की गयी थी और जिसके द्वारा अत्यन्त आवश्यक पूँजी वस्तु प्राप्त हो सकती थी, मानता था। परन्तु युद्ध के बाद बहुत से इगलैण्ड के राजनीतिज्ञों ने तथा बहुत से अखबारों ने इस बात की माँग की कि इन पौंड पावनों को या तो बिल्कुल रद्द कर दिया जाय या इनमें भारी कमी कर दी जाय। इस सम्बन्ध में जो तर्क इस वर्ग के लोगों ने प्रस्तुत किये, वह इस प्रकार से थे :—

(१) पौंड पावनों की मात्रा को कम करने के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण तर्क यह दिया गया कि युद्ध के सफल सचालन तथा शत्रु को परास्त करने में भारत का भी उतना ही हित था जितना की इगलैण्ड व अन्य मित्र राष्ट्रों का था। युद्ध में भारत व इंगलैण्ड दोनों साथी थे तथा जापान से युद्ध मुख्यत. भारत को बचाने के लिये किया गया था। उनका कहना यह था कि यद्यपि इगलैण्ड भारत की ओर से न लड़ता तो भारत नष्ट हो जाता तथा पौंड पावनों में अधिक अनुपात रक्षा-व्यय का था। अतः उसको रद्द कर देना चाहिये। चर्चिल (Churchill) ने इस सम्बन्ध में कहा था, 'Egypt would have ravished and pillaged by Italain and German armies. She would have been subjected to the horrors and indignities of ivasion and subjection, had we not defended her by our life-blood and strong right arm Is there to be no reconsideration of shat? ......The same applies to the Government of India I speclly referred to the matters in the cabinet in 1942 when I saw with disquietude these immense debts mounting up.''

परन्तु यह तर्क ठीक नहीं है, क्योंकि युद्ध में यदि इगलैण्ड ने भारत की सहायता की थी तो भारत ने भी इंगलैण्ड की बहुत अधिक सहायता की थी। उस समय के वायसराय ने इस बात को मान लिया था कि ब्रिटिश विजय का बहुत अधिक श्रेय भारत को है। इसके अतिरिक्त जापान से युद्ध भारत का नहीं था बल्कि अंग्रेजो का था। यदि इगलैण्ड की सरकार का भारत पर अधिकार नहीं होता तो शायद जापान भारत पर आक्रमण नहीं करता।

(२) दूसरा तर्क इस संबन्ध में यह दिया जाता था कि भारतवर्ष ने इंगलै को युद्धकाल में जो सामान दिया था उसका बहुत अधिक मूल्य लिया था। इसी इनमें कमी कर देनी चाहिये। परन्तु राष्ट्रीय व्यय पर ब्रिटिश पार्लियामेंट कमेटी इस सम्बन्ध में जाँच की थी और कहा था कि भारत ने जो मूल्य लिया है वह पूर्णत न्यायसंगत है।

(३) एक तर्क यह भी रक्खा गया था कि इंगलैण्ड की अवस्था इस समय ठ नहीं है और यह स्टर्लिंग राशि का भुगतान नहीं कर सकता। अत: इंगलैण्ड की यु काल में आर्थिक स्थिति बिगड़ गई है और उसकी ऋण भुगतान शक्ति घट गयी है अतः पौंड पावने ऋण में भारी कमी कर दी जाय।

यद्यपि यह बात ठीक थी कि इंगलैण्ड की आर्थिक अवस्था उस समय ठी नहीं थी, परन्तु भारत की अवस्था तो और भी खराब थी। इसके अतिरिक्त इंगलै की राष्ट्रीय आय में बहुत अधिकवृद्धि हो गई थी और यह अनुमान लगाया गया कि १०० से १२० मिलियन पौंड प्रतिवर्ष का भुगतान करने पर ब्रिटिश राष्ट्रीय आ में केवल १ प्रतिशत से १½ प्रतिशत की कमी होगी जो कुछ विशेष नहीं है।

इस प्रकार की बातों का भारत के व्यक्तियों को बहुत बुरा लगा और क्रो आना उचित था क्योंकि भारत ने इंगलैण्ड को पौंड पावने के रूप में जो ऋण दिय था, वह भारतीय जनता के महान त्याग, घोर आर्थिक कष्ट तथा कठिनाइयों क प्रतीक था, जो भारतवासियों ने युद्धकाल में सहन किया था। इसको रद्द करन भारतवासियों के लिये पूर्णतः अन्यायपूर्ण था। परन्तु हर्ष की बात है कि ब्रिटिश सरकार ने इन बातों पर ध्यान देकर कहा "कि जो ऋण हमने ईमानदारी से लिय है उसे ईमानदारी से चुकायेंगे।" दिसम्बर सन् १९४४ को वायसराय ने भी अपने एक भाषण में कहा था, "The first, which was mentioned by pour president, is the matter of sterling balance. I share his entire confideuce that these hobts will be honoured." लार्ड केन्स ने भी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा परिषद् में भाग लेते समय भारत की सहायता की थी और इंगलैण्ड की ओर से यह विश्वास दिलाया था कि इंगलैण्ड अपने दायित्व को पूर्णरूप से निभायेगा क्योंकि इंगलैण्ड ऋण का भुगतान पूर्ण न्यायसंगत समझता है।

पौंड पावनों के समझौते

(Sterling Balances Agreements)

यह तय करने के बाद कि भारतीय पौंड पावने न्यायपूर्ण हैं, इसके भुगतान के लिये समय-समय पर समझौते किये गये। सन् १९४५-४६ के अन्त में पौंड पावनों की राशि १७३३ करोड़ रु० हो गयी थी। सन् १९४७ तक भारत इस राशि का अबाधित रूप से उपयोग कर सकता था और सन् १९४६-४७ तक के अन्त तक यह राशि १६१२ करोड़ रुपये रह गई। इंगलैण्ड अबाधित रूप से राशि देने के लिये

तैयार नही था। इसलिये भारत व इगलैण्ड मे सन् १९४७ मे पहला समझौता इस राशि के भुगतान के सम्बन्ध में हुआ।

सन् १९४७ का समझौता

The 1947 Agreement

१४ अगस्त सन् १९४७ को भारत व इगलैण्ड की सरकार में एक समझौता ३१ दिसम्बर सन् १९४७ तक के लिये हुआ। इस समझोते के अनुसार पौंड पावनों को दो खातों मे विभाजित कर दिया गया—प्रथम चालू खाता (Current Account), दूसरा स्थिर खाता (Blocked Account)। यह दोनो खाते बैंक आफ इगलैण्ड मे रिजर्व बैंक के नाम से खोले गये। स्थिर खाते मे भारत की सम्पूर्ण पौंड पावने की राशि को जमा कर दिया जो उस समय ११६० मिलियन पौंड थी। उस राशि मे से ८६.६ करोड़ रुपया चालू खाते मे जमा कर दिया गया, जिसमें से ३ करोड़ रुपये का उपभोग दुर्लभ मुद्रा की प्राप्ति के लिये किया जा सकता था और नये कमाये हुए पौंड पावने भी इसी मे जमा हो सकते थे। इस मात्रा का उपयोग भारत इच्छानुसार कर सकता था। परन्तु स्थिर खाते के जो स्टर्लिंग जमा थे। उनका उपयोग चालू कार्यों के लिये नही किया जा सकता था बल्कि उनका उपयोग ऐसे विशेष कार्यों के लिए किया जा सकता था जिसके विषय मे पहले समझौता किया गया हो और जिसका सम्बन्ध पूँजी की अदल बदल से हो। बाद में इस समझौते की अवधि ६ महीने के लिये बढा दा गई और समझौता ३० जून सन् १९४७ तक के लिये हो गया। इस समझौते को बढाते समय १८ मिलियन पौंड की मात्रा को ३ महीने के लिये चालू खाते में हस्तांरित कर दिया गया।

सन् १९४८ का समझौता

The 1948 Agreement

सन् १९४७ का समझौता का अन्त होने पर एक नया समझौता होना आवश्यक था। अतः जुलाई सन् १९४८ मे एक और समझौता किया गया जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थी :—

(१) अप्रैल सन् १९४७ में भारत ने इगलैण्ड की सेनाओ द्वारा छोड़े गये सामान को ले लिया था। इसका मूल्य ४०० करोड़ रुपया आँका गया था। इगलैण्ड की सरकार ने इस सामान का १३३.३ करोड रु० लेना स्वीकार कर लिया और इस मात्रा को पौंड पावने में से काट लिया।

(२) भारत सरकार ने अंग्रेज अधिकारियों को पेंशन देने के लिये इंगलैण्ड सरकार के पास २२४ करोड़ रुपया जमा कर दिया जिसमे से इगलैण्ड की सरकार अपने आप उनको पेंशन देती रहेगी और भारत की सरकार का उत्तरदायित्व समाप्त हो जायगा। इस राशि को पौंड पावनों में से घटा दिया गया।

(३) इन कटौतियों के पश्चात् भारत के पौंड पावने १०६७ करोड़ रुपये में रह गये। अब तक भारत ने १११ करोड रुपये के पौंड पावनों में से ४ करोड़ रुपये

के पावने निकाले थे। इस नये समझौते के अनुसार १०७ करोड़ रुपये के पावनों उपयोग का अधिकार दुबारा दिया गया। इसके साथ ही साथ अगले तीन वर्ष (३० जून सन् १९५१ तक) १०७ करोड़ रुपये के पावने और निकाले जाते। इस समझौते के अनुसार भारत एक वर्ष में अधिक से अधिक २० करोड़ रुपये अमरीकन डालर या अन्य दुर्लभ मुद्रा में परिवर्तित कराई जा सकती थी।

जुलाई १९४९ का समझौता
The 1949 Agreement

सन् १९४९ में एक और समझौता हुआ जो सन् १९४८ वाले समझौते की अपेक्षा हमारे लिये अधिक अनुकूल था। इस समझौते की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं :—

(१) सन् १९४८-४९ के लिये ५१ मिलियन पौंड दिया जायेगा।

(२) जून सन् १९५०-५१ तक ४० मिलियन पौंड की जगह ५० मिलियन पौंड प्रतिवर्ष दिया जायेगा।

(३) सन् १९४८ के समझौते के अनुसार डालर प्राप्त करने के लिये ११ मिलियन पौंड से अधिक मात्रा केन्द्रीय कोषों से नहीं निकाला जाता था। परन्तु सन् १९४९ के समझौते के अनुसार भारत को यह अधिकार प्राप्त हो गया कि वह केन्द्रीय कोषों से ३५ या ३७ मिलियन पौंड निकाल सकता है।

सन् १९५१ का समझौता
The 1951 Agreement

(५) १ जुलाई सन् १६४७ के पश्चात् खाते न० २ (स्थिर खाता) में बची हुई सारी रकम खाते न० १ (चालू खाता) में जमा कर दी जायगी।

(६) डालर क्षेत्र से माल खरीदने के लिये प्राप्त राशि की कोई सीमा नहीं होगी। परन्तु यह कहा गया कि स्टर्लिंग क्षेत्र के सदस्य देश अपना डालर व्यय कम से कम करने का प्रयत्न करेंगे और इसे १६४८ के डालर व्यय के ७५ प्रतिशत से अधिक नहीं होने देंगे।

इस प्रकार इस समझौते के अनुसार भारत को ३० जून १६५७ तक १०५ मिलियन पौंड की राशि का उपयोग करने का अधिकार दिया गया।

सन् १६५५ का समझौता

The 1955 Agreement

सन् १६५५ में पौंड पावने के सम्बन्ध में एक और समझौता किया गया। सन् १६४८ के समझौते के अनुसार भारत सरकार ने १७८ मिलियन पौंड को पूँजी राशि जमा करा दी थी। यह राशि वास्तविक राशि से अधिक थी। अत. सन् १६५५ के समझौते के अनुसार इंगलैंड की सरकार ने इस अधिक राशि को जो ४० मिलियन पौंड के लगभग थी, दस किश्तों में लौटा देने का वायदा किया। देश में विदेशी विनिमय संकट के कारण सन् १६५८ में इंगलैंड की सरकार चार किश्तें एक साथ देने को तैयार थी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में २६० करोड़ रुपये के पौंड पावनों को उपयोग में लाने का विचार था, परन्तु वास्तव में केवल १२० करोड़ के पौंड पावनों का ही उपयोग किया जा सका। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्त में मार्च १६५६ को रिजर्व बैंक आफ इण्डिया की विदेशी सम्पत्ति ७४८ करोड़ रुपये थी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में २०० करोड़ रुपये के पौंड पावनों को उपयोग में लाने का विचार था, परन्तु योजना के प्रथम वर्ष में ही व्यापार शेष विपरीत होने के कारण २१६ करोड़ रुपये के पौंड पावनों का उपयोग में लाना पड़ा। अगले वर्ष भी व्यापार शेष विपरीत रहा और रिजर्व बैंक को विदेशी सम्पत्ति में से २६० करोड़ रुपये का उपयोग करना पड़ा। इस प्रकार अप्रैल सन् १६५६ के बीच ४७६ करोड़ रुपये के पौंड पावने उपयोग में लाये गए और रिजर्व बैंक के पास २६६ करोड़ रुपये के पौंड पावने ही शेष रह गए। आगे भी पौंड पावनों के अधिक उपयोग की आशा थी। इसलिए अक्टूबर सन् १६५७ में रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया एक्ट में संशोधन के द्वारा विदेशी प्रतिभूतियों की मात्रा ४०० करोड़ रुपये से घटा कर ८५ करोड़ रुपये कर दी गई।

वर्तमान स्थिति

(Present Position)

भारतवर्ष में पौंड पावनों की राशि में वर्ष के दौरान में उच्चावचन होते रहते हैं क्योंकि इनकी मात्रा पर निर्यातों की दर का प्रभाव पड़ता है। गर्मियों में

मानसून के महीनों में हमारे पौंड पावनों में कमी होनी प्रारम्भ हो जाती है तथा शीत ऋतु के प्रारम्भ में इनमें वृद्धि प्रारम्भ हो जाती है। प्रस्तुत वित्तीय वर्ष (सन् १९६१-६२) के प्रारम्भ में हमारे पौंड पावने केवल १३६ करोड़ रुपये के थे। तब से चार महीनों में इन पौंड पावनों की राशि मे ६८ करोड़ की कमी हो गई है। परन्तु आगे, आशा की जाती है कि इन की राशि में कमी नहीं होगी क्योंकि इंगलैंड व पश्चिमी जर्मनी से ऋण प्राप्त हो गये हैं और वे सीधे देश के पावनों (Balances) में जमा हो गये हैं।

☆

Q. 205. 'The two outstanding developments in Indian currency during the last war were the large expension of currency and the accumulation of sterling balances.' Attempt a short essay on the magnitude, causes and interrelation of the two developments.

(Agra 1961)

पौंड पावनों के लिए प्रश्न २०४ को देखें। भारत में मुद्रा के विस्तार के लिए भारतीय मुद्रा के इतिहास तथा मुद्रा स्फीति के अध्याय को देखें।

भारत में नियोजन व विदेशी सहायता

(Planning in India & Foreign Aid)

Q. 205 Examine critically the financal resources of the draft Third Five Year Plan. **(Vikram 1961)**

भारतवर्ष में आर्थिक नियोजन को प्रारम्भ हुए दस वर्ष का काल हो चुका है और हमने दो योजनाएं समाप्त कर ली हैं। प्रथम योजना बहुत सफल योजना रही थी जिसकी सफलता से उत्साहित होकर द्वितीय योजना को आकार में बड़ा बनाया गया था। परन्तु द्वितीय योजना में गम्भीर आर्थिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गई थीं और यह सोचा गया था कि तृतीय योजना का आकार द्वितीय योजना से छोटा होगा। परन्तु तृतीय योजना का आकार द्वितीय योजना से लगभग दुगुना है।

रूपरेखा :

(१) भारत मे नियोजन व तृतीय योजना का आकार।

(२) योजना की वित्त व्यवस्था के साधन :

(i) कर-आय से प्राप्त बचत;

(ii) रेलवे का योगदान;

(iii) सार्वजनिक उपक्रमो की बचतें;

(iv) जनता से प्राप्त ऋण,

(v) छोटी बचतें;

(vi) प्रोविडेन्ट फड व अन्य पूजीगत आय;

(vii) विदेशी सहायता के अनुरूप बजट सम्बन्धी आय;

(viii) घाटे की वित्त व्यवस्था;

(ix) अतिरिक्त करारोपण।

(६) योजना के वित्त व्यवस्था के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों के विचार।

योजना का आकार (Size of the Plan)—इस योजना में निर्धारित किये गये लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये ८००० करोड़ रुपये की आवश्यकता होगी। परन्तु भारत में आन्तरिक व बाह्य साधनों का पूर्ण रूप से शोषण करके भी इतना अधिक द्रव्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसलिए योजना में केवल ७५०० करोड़ रुपये के वित्त की व्यवस्था की गई है। ७५०० करोड़ रुपये में से ६३०० करोड़ का विनियोजन व्यय (Investment outlay) होगा तथा १२०० करोड़ का चालू व्यय (Current outlay)। निजी क्षेत्र के द्वारा ४१०० करोड रुपये के व्यय का आयोजन है। ६३०० करोड रुपये के

विनियोजन व्यय में से २०० करोड़ रुपया निजी क्षेत्र को पूंजी-निर्माण (Capital formation) के लिये दिया जायगा। यह रुपया कृषकों को, छोटे-पैमाने के उद्योगों को तथा संगठित उद्योगों को ऋण के रूप में दिया जायगा। इस प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र में विनियोजन व्यय पर केवल ६१०० करोड़ रुपया व्यय होगा तथा निजी क्षेत्र में ४३०० करोड़। विनियोजन व्यय पर कुल व्यय १०४०० करोड़ रुपये होगा और विनियोनज व्यय व चालू व्यय को मिलाकर योजना पर व्यय ११६०० करोड़ रुपये हो जायगा।

योजना के लिये वित्त व्यवस्था
Financing of the Plan.

तृतीय योजना के साधनों पर बहुत समय से विचार हो रहा है। जिस समय योजना की रूपरेखा (Draft outline) प्रकाशित हुई थी उस समय योजना की वित्त-व्यवस्था के लिये ७,२५० करोड़ रुपये के साधनों की आवश्यकता का अनुमान था। जनवरी सन् १९६१ में राष्ट्रीय विकास परिषद (National Development Council) को जो अनुमान प्रस्तुत किये गये वे ७४५२ करोड़ रुपये के थे। अगस्त सन् १९६१ में योजना की अन्तिम रिपोर्ट के प्रकाशित होने पर साधनों के अनुमानों को अन्तिम व पूर्ण कर दिया गया है। इस योजना में सार्वजनिक क्षेत्र में ७५०० करोड़ रुपये के साधनों के लिये प्रबन्ध किया गया है। इन साधनों को विभिन्न स्रोतों से प्राप्त करना होगा जिनका उल्लेख अग्रलिखित तालिका में किया गया है। तुलनात्मक अध्ययन की सुविधा के लिये द्वितीय योजना की वित्त-व्यवस्था का वर्णन भी वर्तमान अनुमानों के आधार पर कर दिया गया है :—

इन वित्तीय साधनों के सम्बन्ध में विस्तर से देखना होगा। यहां पर प्रत्येक मद पर विचार किया जायगा।

कर-आय से प्राप्त बचत (Balance form Revenues)—तृतीय योजना के दौरान में राज्यों व केन्द्र को करों से ९०५० करोड़ रुपये की आय के प्राप्त होने का अनुमान है। इसी दौरान में गैर-विकास व विकास मदों पर [इन योजनाओं को बनाये रखने का व्यय (Maintenance expenditure) सम्मिलित करके जो द्वितीय योजना के अन्त तक पूरी की गई है।] इनका कुल व्यय ८५०० करोड़ रुपया होगा। अतः ५५० करोड़ रुपये की बचत राज्यों व केन्द्र को होगी जिसका उपयोग

तालिका 1 वित्तीय साधन[1]

मद	द्वितीय योजना		तृतीय योजना		
	प्रारम्भिक अनुमान	बाद के अनुमान	केन्द्र का भाग	राज्यों का भाग	कुल
१. वर्तमान करारोपण के आधार पर चालू आय से प्राप्त बचत	३५०	—५०	४१०	१४०	५५०
२. रेलवे द्वारा अंशदान	१५०	१५०	१००	...	१००
३. अन्य सार्वजनिक उद्यमों की बचतें	...	...	३००	१५०	४५०
४. जनता से प्राप्त ऋण (वास्तविक)	७००	७८०	४७५	३२५	८००
५. छोटी बचतें (वास्तविक)	५००	४००	२१३	३८७	६००
६. प्रोविडेंट फन्ड्स (वास्तविक)		१७०	१८३	८२	२६५
७. इस्पात समीकरण कोष (Steel Equalisation Fund)	२५०	३८	१०५	...	१०५
८. अन्य पूंजीगत आय		२२	४५८	—२५८	१७०
९. १ से ८ तक की मदों का जोड़	१६५०	१५१०	२,२१४	८२६	३०४०
१०. अतिरिक्त करारोपण (सार्वजनिक उद्यमों से अधिक बचत करने के साधनों को सम्मिलित करके)	४५०	१०५२	१,१००	६१०	१७१०
११. विदेशी सहायता के अनुरूप बजट सम्बन्धी आय	८००	१०६०	२२००	...	२२००
१२ घाटे की वित्त-व्यवस्था	१२००	९४८	५२४	२६	५५०
योग	४८००	४६००	६०३८	१४६२	७५००

रेलवे का योगदान (Contribution of the Railways)— रेलवे से प्राप्त होने वाले अंशदान का अनुमान १०० करोड़ रुपये लगाया गया है। यह अंशदान रेलवे के सब व्यय निकाल देने के पश्चात् प्राप्त होगा। इस अनुमान में उन अतिरिक्त साधनों को सम्मिलित नहीं किया गया है जो रेलवे को किरायों तथा भाड़ों में समा-

1. Source. Adapted form table 2 and table 3 in the Report on Third Five Year Plan, pages 95 and 100.

योजन के कारण प्राप्त होंगे। इस साधन के प्राप्त होने में कोई शंका नहीं है, बल्कि यात्रियों की संख्या व ढोये जाने वाले माल की मात्रा में वृद्धि तथा नई रेल लाइनों के बिछाए जाने तथा भाड़े की दरों में वृद्धि से इस साधन को अधिक मात्रा में प्राप्त किया जा सकता है।

अन्य सार्वजनिक उपक्रमों की बचतें (Surpluses of other Public Enterprises)—सार्वजनिक उपक्रमों द्वारा लाभ प्राप्त करके भी तृतीय योजना को ४५० करोड़ रुपये के साधन प्रदान किये जायेंगे। प्रथम व द्वितीय योजना में इन साधनों का अलग से कोई उल्लेख नहीं था बल्कि 'कर आय से प्राप्त 'बचत' व 'अन्य पूंजीगत आयों की मद में ही इस आय को सम्मिलित कर लिया था। द्वितीय योजना काल में करारोपण जाँच आयोग (सन् १९५३-५४) व कुछ अर्थशास्त्रियों ने इस बात पर जोर दिया कि राज्य अपने उपक्रमों में मूल्य नीति (Price policy) इस प्रकार निर्धारित करे कि उसको लाभ प्राप्त हो सके। करारोपण जाँच आयोग (सन् १९५३-५४) ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार प्रकट किये थे :—

"कुछ क्षेत्रों में जिनमें राज्य ने अत्यधिक मात्रा में विनियोजन किया है, मूल्य निर्धारण की ऐसी नीति पर चलना, जिसके अनुसार कुछ पूंजी विनियोजन पर उचित लाभ व प्रतिफल प्राप्त हो सके, केवल उचित ही नहीं, आवश्यक है।...हमें उस मूल्य निर्धारण नीति (Pricing policy) से कोई विरोध नहीं है जिसके अनुसार दीर्घ काल में सार्वजनिक उपक्रमों से अतिरिक्त आय प्राप्त हो सके।......यह निजी क्षेत्र में प्रयुक्त की जाने वाली उस नीति के समान है जिसके द्वारा हाल में लाभों के पुर्नविनियोजन (Reinvestment) द्वारा विकास कार्यों की वित्त-व्यवस्था का प्रबन्ध किया गया है।"[1]

तृतीय योजना में यह बचतें केन्द्रीय व राज्य सरकारों के उपक्रमों से प्राप्त की जायेंगी। केन्द्रीय सरकारों से उपक्रमों का अनुमान ३०० करोड़ रुपये है जो कि लोहा व इस्पात, उर्वरकों (Fertilizers), तेल निकालने व उनको साफ करने, डाक व तार आदि उद्योगों व उपक्रमों से प्राप्त किया जायेगा। राज्य सरकारों के उपकमों से १५० रुपये की बचत एकत्र की जायगी जो विद्युत यातायात आदि उपक्रमों से प्राप्त होगी। यह बचत राजकीय उपक्रमों के कार्यशील व्यय (Working expenses) तथा घिसावट व्यय (Depreciation outlays) पूरा करने के उपरान्त प्राप्त होगी।

कुछ अर्थशास्त्रियों को इन अनुमानों के पूरा होने में सन्देह है। श्री रंगाचारी के अनुसार, "For lack of details, it is difficult to judge the reason-

---

1. Report of the Taxation Enquiry Commission. 1953-54.

ableness of these assumptions about profits from public sector projects but primia facie the estimates appear to be excessive."[2]

जनता से प्राप्त ऋण (Loans from the Public)—इस योजना मे जनता से ८०० करोड़ रुपये के ऋण प्राप्त किए जायेंगे। जिसमे इनामी बॉड से प्राप्त राशि भी सम्मिलित है। द्वितीय योजना की तुलना मे यह वृद्धि बहुत ही कम है क्योंकि उस योजना मे ७८० करोड़ रुपए के ऋण एकत्र किये गये। परन्तु द्वितीय योजना मे ७८० करोड़ मे P. L 480 की जमाओ से स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया ने जो सरकारी प्रतिभूतिया (Government Securities) क्रय की थी वे भी सम्मिलित थी। तृतीय योजना में इन क्रयों को 'विदेशी सहायता के अनुरूप बजट सम्बधी आय' (Budgetary receipts corresponding to external assistance') के अन्तर्गत रखा है। तृतीय योजना मे जनता से ८०० करोड़ रुपये के ऋण प्राप्त करने मे जीवन बीमा निगम (Life Insurance Corporation) अधिक सहायता देगा।

छोटी बचतें (Small Savings)—छोटी बचतों मे ६०० करोड़ रुपया एकत्र किया जायगा। द्वितीय योजना के अनुभव को देखते हुये यह लक्ष्य अत्यधिक आशावादी लगता है क्योंकि उस योजना मे छोटी बचतो का लक्ष्य ५०० करोड़ रुपये था परन्तु प्राप्त केवल ४०० करोड़ हो सका। छोटी बचतो के कम एकत्र होने का एक कारण यह था कि खाद्य पदार्थ, कपडे आदि अनिवार्य वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि के कारण जनता की बचत करने की क्षमता बहुत कम हो गई है। इसलिए आवश्यक है कि मूल्यों के स्थायित्व पर अधिक जोर दिया जाये। नियोजन आयोग ने तृतीय योजना की रिपोर्ट मे आशा प्रकट की है कि ग्रामीण क्षेत्रो पर अधिक ध्यान देकर छोटी बचतों को अधिक मात्रा मे प्राप्त किया जा सकेगा। आयोग के शब्दो में, "The potentialities of small savings are large and they will grow further as incomes increase. The movement has so far been confined largely to urban and semi-urban areas. In the coming years a considerable proportion of rural savings will go to cooperative agencies and it is as important to ensure that the finance for the co-operative sector is provided for as to enlarge the resources coming into the cooperative public sector. Nevertheless, small savings represent a promising field in which further effort can bring large results. The question is one of proper organisation and the lines along which the present field agencies can be strengthened deserve careful study."[3]

---

2. Sh. K. Rangachari, in his article 'Raising Resources for the Third Plan.' Statesman 22nd July 1960.

3. Report on the Third Five Year Plan. Planning Commission page 98.

प्रोविडेन्ट फण्ड व अन्य पूँजीगत आय (Provident Fund and Other Capital Receipts)—इस मत के अन्तर्गत ५२० करोड़ रुपया एकत्र करने का आयोजन है। ५२० करोड़ में से २६५ करोड़ रुपया प्रोविडेण्ट फंड्स में हुई वृद्धि से प्राप्त होगा। द्वितीय योजना में केवल १७० करोड़ रुपया ही प्राप्त हो सका था। तृतीय योजना में इस साधन से अधिक रुपया प्राप्त होने का कारण केन्द्र व राज्यों में बढ़े हुए वेतन तथा केन्द्र में अनिवार्य प्रोविडेन्ट फण्ड योजना का प्रारम्भ होना है। इस्पात समीकरण कोष से १०५ करोड़ रुपया प्राप्त होगा। अन्य पूंजीगत आयों से, जिसमें उन्नति कर, फंड्स व जमायें सम्मिलित हैं। १७० करोड़ रुपया प्राप्त होगा जबकि द्वितीय योजना में केवल २२ करोड़ ही प्राप्त हुआ था।

विदेशी सहायता के अनुरूप बजट सम्बन्धी आय (Budgetary Receipts Corresponding to External Assistance)—देश का तीव्र आर्थिक विकास करने के लिये जिन साधनों की आवश्यकता है उन सबको घरेलू साधनों (Domestic Resources) से ही पूरा नहीं किया जा सकता। इसलिए विदेशी सहायता पर निर्भर होना स्वाभाविक है क्योंकि निर्यात व्यापार से जो विदेशी विनिमय प्राप्त होगा उससे केवल आयात आवश्यकताओं को ही पूरा किया जा सकेगा। इस सम्बन्ध में योजना की रिपोर्ट में लिखा गया है, "The need for external assistance is implicit in this situation. Such assistance has already done a great deal to hasten India's economic growth and its value can scarcely be over estimated."[1] इस बात को ध्यान में रखते हुए विदेशी सहायता पर बहुत अधिक भरोसा रखा गया है जिसमें कि अगले १० वर्षों में विदेशी सहायता को बिल्कुल समाप्त किया जा सके।

तृतीय योजना में विदेशी विनिमय की अनुमानित आवश्यकता ३,२०० करोड़ रुपए की होगी। इसमें से ४५० से ५०० करोड़ रुपयों की आवश्यकता विदेशी दायित्वों (Foreign obligations) को पूरा करने के लिये होगी। यह आशा की जाती है कि ऋणदाता देशों की अनुमति से ऋण का कुछ भाग भुगतान करने से रोक लिया जायगा। ३०० करोड़ रुपये की आवश्यकता निजी क्षेत्र को होगी जो भारत में विदेशी पूंजी के प्रवाह व विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (International Finance Corporation) तथा संयुक्त राज्य आयात-निर्यात बैंक (United States Export Import Bank) आदि संस्थाओं से ऋण प्राप्त करके पूरी की जायगी। अन्त में, P. L. 480 के अन्तर्गत प्राप्त सहायता से ६०८ करोड़ रुपये के वित्तीय साधन प्राप्त होंगे। इसमें से २०० करोड़ रुपये के गेहूँ व चावल के बफर स्टाक्स (Buffer stocks) रखे जायेंगे जो व्यय के लिए प्राप्त नहीं होंगे। इस प्रकार ३,२०० करोड़ रुपये की वित्तीय सहायता में से [illegible] व्यय निकाल कर जो लगभग

१००० करोड़ रुपये के बराबर है, २२०० करोड़ रुपये के बराबर साधन सार्वजनिक क्षेत्र में उपयोग के लिए उपलब्ध हो सकेंगे।

घाटे की वित्त व्यवस्था (Deficit Financing)—प्रथम दो योजनाओं में घाटे की वित्त-व्यवस्था अधिक मात्रा में की गई थी जिसके कारण मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि हुई। अब उतनी मात्रा में घाटे की वित्त-व्यवस्था नहीं की जा सकती। तृतीय योजना में, इसलिए, केवल ५५० करोड़ रुपये के बराबर घाटे की वित्त-व्यवस्था का प्रबन्ध किया गया है जो कुल वित्तीय साधनों का लगभग ८ प्रतिशत है। द्वितीय योजना में घाटे की वित्त-व्यवस्था से कुल साधनों का २५ प्रतिशत प्राप्त करने का अनुमान लगाया गया था परन्तु प्राप्त लगभग २० प्रतिशत किया गया।

अतिरिक्त करारोपण (Additional Taxation)—अतिरिक्त करारोपण से १७१० करोड़ रुपये प्राप्त किये जायेंगे, जिसमें से ११०० करोड़ रुपये केन्द्र प्राप्त करेगा तथा ६१० करोड़ रुपये राज्य सरकारें। इन करों के लगाने से राष्ट्रीय आय में से करारोपण का प्रतिशत ११·४ हो जायगा जो कि द्वितीय योजना की समाप्ति पर ८·९ प्रतिशत था। यह भार व्यक्तियों पर बहुत अधिक नहीं होगा, क्योंकि आर्थिक विकास में व्यक्तियों को इतना तो त्याग करना ही चाहिए। अन्य अर्ध-विकसित देशों में कर का भार राष्ट्रीय आय पर २० से ३० प्रतिशत है। योजना की वित्त-व्यवस्था में इस मद का महत्व अत्यधिक है और इस लक्ष्य को प्राप्त करना व्यवहारिक भी है। यह योजना की रिपोर्ट के इन शब्दों से स्पष्ट है, "Considering the requirements of the Third Plad and the rise in incomes expected, this order of additional taxation is essential as well as practicable ·"

इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष (Direct and Indirect) दोनों प्रकार के करों की मात्रा में वृद्धि करनी होगी। साथ ही कर-शासन को सुसंगठित करके, कम्पनीज के व्यय-खातों पर निगाह रख कर और कर बचाव को रोक कर आय-कर व निगम कर से प्राप्त आय को भी अधिक करने का प्रयत्न किया जायगा। राजकीय उपक्रमों में मूल्य बढ़ाकर इन उपक्रमों से अधिक बचत प्राप्त की जायगी।

इस प्रकार से यह तृतीय योजना की वित्त-व्यवस्था के प्रबन्ध की व्यवस्था है। इस योजना के इस व्यय से योजना के अन्त तक विनियोजन की दर राष्ट्रीय आय की ११ प्रतिशत से बढ़ कर १४ प्रतिशत हो जायगी। परन्तु बचत की दर भी ८·५ प्रतिशत से ११·५ प्रतिशत हो जायगी।

3. Ibid. page 102.

योजना के लिए घरेलू साधनों को गतिमान (Mobilisation) करने के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वर्तमान स्थिति पहली दो योजनाओं की स्थितियों की तुलना में बहुत अच्छी है। पिछले दस वर्षों में विनियोजन की मात्रा में बहुत वृद्धि हो गई है। देश के उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ उत्पादन-क्षमता भी अधिक हो गई है। सिंचाई, शक्ति व यातायात के साधनों का भी विकास हुआ है। बहुत सी औद्योगिक योजनाएँ जो द्वितीय योजना में प्रारम्भ की गई थीं, तृतीय योजना में पूरी हो जायेंगी तथा कार्य करना प्रारम्भ कर देंगी। इनके कार्य आरम्भ से जो लाभ प्राप्त होगा उसका प्रयोग योजना की वित्त-व्यवस्था के लिये किया जा सकेगा।

तृतीय योजना की वित्त-व्यवस्था की बहुत से अर्थशास्त्रियों ने आलोचना की है। पहला विचार तो यह है कि यह योजना बहुत महत्वाकांक्षी (over-ambitious) है। द्वितीय योजना लगभग इससे आधी थी। उसको ही पूरा करने में जब कठिनाइयाँ सामने आईं तो इतनी बड़ी योजना को किस प्रकार पूर्ण किया जायगा। योजना के साधनों को लक्ष्यों के आधार पर नहीं बनाना चाहिए बल्कि साधनों को ध्यान में रख कर लक्ष्य निर्धारित करने चाहिएँ। दूसरे, यह भी आलोचना है कि ७५०० करोड़ रुपयों में से, २,२०० करोड़ रुपये विदेशी सहायता से प्राप्त किये जायेंगे। एक तिहाई योजना को केवल अनुमानों व आशाओं पर छोड़ देना ठीक नहीं है।

अन्त में, कहा जा सकता है कि भारतवर्ष में जनसंख्या में तीव्र वृद्धि, बेरोजगारी की मात्रा के अधिक होने, द्वितीय योजना में कमी के कारण तथा विकास की दर को तेज करने के लिये तृतीय योजना के आकार का बड़ा होना आवश्यक है। परन्तु इसको पूरा करने के लिए आत्म-त्याग और आत्म-संयम की आवश्यकता है। साथ ही इस योजना की सफलता के लिए एक राष्ट्रीय-भावना उत्पन्न करनी होगी। उपभोगों को कम करना होगा जिससे अधिक उत्पादन का निर्यात किया जा सके। व्यक्तियों को अधिक कर देना होगा, जनसंख्या की वृद्धि की तीव्रता को भी कम करना होगा और योजना की सफलता के लिए जनता का विश्वास प्राप्त करना होगा। सरकार को भी अपने अनुत्पादक तथा गैर-विकास व्यय को कम करने का प्रयत्न करना चाहिए।

★

Q. 206. Examine carefully the financial resources of the Second Five Year Plan of our country, and in this connection discuss the importance of deficit financing. **(Agra 1957)**

"It is necessary to stress the point that a careful watch on non-developmental expenditure will be necessary in order to obtain for the plan the estimated amount of Rs. 350 Crores from revenues at existing rates Should these go up, or should there be any significant loss of revenue on account of the adoption of social measures such as prohibition, there will have to be a corresponding effort simultaneously to raise further resources, if the contribution of current revenues to the plan is not to go down." ।

वर्तमान करारोपण के साथ ही अतिरिक्त करारोपण से ४५० करोड़ रुपयों के साधन प्राप्त करने थे। इन ४५० करोड़ मे से २२५ करोड़ केन्द्र के द्वारा प्राप्त किये जाते तथा २२५ करोड़ राज्यो के द्वारा। इस मात्रा को प्राप्त करने के लिये करारोपण जाच आयोग के सुझावो को मान लिया गया। परन्तु आयोग करारोपण की इतनी ही मात्रा से सन्तुष्ट नहीं था। उसका विचार था कि योजना की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये तथा मुद्रा-स्फीति के दबावो को दूर करने के लिये अधिक करारोपण की आवश्यकता होगी। आयोग के शब्दो मे, "The contribution as we indicate later, is, in our view, inadequate in relation to needs and a further tax efforts will be called for, if the plan is to be implemented fully and inflationary pressures are to be kept down to the minimum."[2]

जनता से १४० करोड़ रुपये प्रतिवर्ष के औसत से ७०० करोड़ रुपये के बाजार ऋण (Market loans) एकत्र किये जायेंगे। इस सम्बन्ध में आयोग प्रथम योजना की सफलता से अधिक प्रभावित हुआ था जहाँ पर कि ११५ करोड़ के लक्ष्य से ६५ करोड़ रुपये के अधिक ऋण प्राप्त हुए थे। इन ऋणों को प्राप्त करने के सम्बन्ध मे आयोग ने यह माना था कि यह कार्य कठिन है और इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये श्रमिको के लिये सामाजिक सुरक्षा की योजनाओ का क्षेत्र बढ़ा देना चाहिये। इससे श्रमिको को तो लाभ होगा ही साथ ही अधिक बचतें भी एकत्र की जा सकेंगी।

छोटी बचतो से ५०० करोड़ रुपये प्राप्त करने थे। इसके लिये आयोग ने सुझाव दिया कि छोटी बचतो के एकत्रिकरण कार्य को और मेहनत के साथ करना चाहिये और सरकारी व गैर सरकारी संस्थाओं द्वारा नियोजन का सदेश गाँव-गाँव मे पहुँचा देना होगा।

1. Second Five Year Plan, page 79.
2. Ibid, page 79.

विभिन्न लक्ष्यों का निर्धारण किया गया। इन लक्ष्यों को पूरा करने के लिए ४८०० करोड़ रुपये की आवश्यकता का अनुमान था। इन साधनों को निम्नलिखित स्रोतों से प्राप्त किया जाना था :—

द्वितीय योजना में आय के साधन

आय के स्रोत	आय (करोड़ रुपये)	
(१) चालू आय में बचत :—	८००	
(अ) वर्तमान करों (१९५५-५६) की दर पर।		३५०
(ब) नए करों पर।		४५०
(२) सार्वजनिक ऋण :—	१२००	
(अ) मुद्रा बाजार से ऋण।		७००
(ब) छोटी बचत योजनाओं से।		५००
(३) अन्य बजट सम्बन्धी स्रोत :—	४००	
(अ) रेलवे से प्राप्त।		१५०
(ब) प्रोविडेंट फंड से।		२५०
(४) विदेशी सहायता।	८००	
(५) घाटे की वित्त व्यवस्था।	१२००	
(६) घाटा जो आन्तरिक साधनों से पूरा किया जायगा।	४००	
योग	४८००	

इस प्रकार योजना के लिये ५० प्रतिशत साधन बजट सम्बन्धी स्रोतों से प्राप्त करने थे। इन साधनों को केन्द्र व राज्यों की सरकारों को करारोपण, सार्वजनिक ऋण व अन्य तरीकों से प्राप्त करना था। वर्तमान करारोपण के आधार पर ३५० करोड़ रुपये प्राप्त करने थे जिसका अनुमान राज्यों व केन्द्र सरकारों की सार्वजनिक आय का अध्ययन करके किया गया था। सन् १९५५-५६ में करारोपण की दरों के आधार पर केन्द्र व राज्यों की आय द्वितीय योजना काल में ५,००० करोड़ रुपये होती। इसमें से गैर-विकास व्यय और विकास सम्बन्धी मद के अन्तर्गत व्यवस्था व्यय (Maintenanc expenditure) ४६५० करोड़ रुपये होता। इस प्रकार आयोग का अनुमान था कि ३५० करोड़ रुपये आसानी से मिल जायेंगे। परन्तु इस सम्बन्ध में आयोग ने संकेत किया था कि इन रुपयों को प्राप्त करने के लिये गैर-विकास व्यय पर बहुत सख्त निगरानी रखनी पड़ेगी वरना इनसे आय गिर जायगी और दूसरे साधनों से आय प्राप्त करने में कठिनाई होगी। आयोग के शब्दों में,

होना रह गया। परन्तु योजना आयोग का उस समय यह विचार था कि अगामी दो वर्षों में औसत रूप से प्रतिवर्ष ११७२ करोड़ रुपये का व्यय सम्भव नहीं है। आयोग का अनुमान था कि पांच वर्षो की अवधि में कुल ४२६० करोड़ रुपये मिलने की आशा है। अतः बाकी के दो वर्षों के लिये उपलब्ध साधन केवल १८०४ करोड़ रुपये के थे और इस प्रकार योजना को पूरा करने के लिये ५४० करोड़ रुपये के और साधनों की आवश्यकता थी। साधनों की इस कमी के होते हुए भी आयोग का यह विचार था कि योजना के विभिन्न क्षेत्रों के सन्तुलन को बनाये रखने के लिये ४५०० करोड़ रुपये का व्यय अवश्य होना चाहिये।

साधनों की इस कमी से उत्पन्न समस्या को दूर करने के लिये योजना आयोग ने द्वितीय योजना को दो भागों में विभाजित कर दिया-'अ' भाग जिस पर ४५०० करोड़ रुपये का व्यय होना था और यह व्यय कृषि उत्पादन में वृद्धि की योजनाओं और कार्यक्रमो, उद्योग, खनिज, यातायात सम्बन्धी उन सारी योजनाओ जो दूसरी की सार है तथा जिन पर देश का आर्थिक विकास निर्भर है; तथा उन योजनाओ पर जो विकास के उच्च स्तर पर पहुँच गई है, किया जाय। बाकी ३०० करोड़ रुपया उन योजनाओं पर जो देश के आर्थिक विकास के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण नही है, तब व्यय किया जाय जब ४५०० करोड की योजना को पूरा करने के बाद भी साधन बच जाय।

४५०० करोड रुपये की योजना को पूरा करने के लिये भी २४० करोड़ रुपये के अतिरिक्त साधनों की आवश्यकता होती। इसको १०० करोड़ रुपये के बराबर कर लगाकर (६० करोड़ रुपये के केन्द्र द्वारा तथा ४० करोड़ रुपये के बराबर राज्यों के द्वारा); ६० करोड रुपये ऋण और छोटी बचतों से एकत्रित करके और ८० करोड़ रुपये व्यय में बचत करके और कर व ऋणों के ऋण शेषो (Arrear) को एकत्रित करके प्राप्त किया जाता। आयोग ने यह स्पष्ट कर दिया था कि अतिरिक्त साधन घाटे की वित्त-व्यवस्था करके या अधिक बाह्य सहायता द्वारा प्राप्त नही किये जा सकते, और इसलिए इनको करों, ऋणो, बचतो से तथा गैर-विकास व्यय मे कमी करके ही पूरा करना होगा।

योजना पर वास्तविक व्यय

(Actual Expenditure on the Plan)

तृतीय पचवर्षीय योजना मे प्रकाशित आकड़ों के अनुसार द्वितीय योजना पर हुआ व्यय ४६०० करोड़ रुपये था। इस व्यय को जिन विभिन्न साधनों से प्राप्त किया गया उनका विश्लेषण इस प्रकार है।[4]

4. Adapted from table 2 in the third five year plan. Page 95.

रेलवे के द्वारा दिया गया अंशदान १५० करोड़ रुपये होगा। पहली योजना की तुलना में द्वितीय योजना में यह अंशदान कम होगा क्योंकि प्रथम योजना में रेलवे ने २६७ करोड़ अपनी रेलवे योजना पर व्यय किया था और ११५ करोड़ सामान्य योजना को दिया था। अब वह रेलवे योजना पर ६०० करोड़ खर्च करेगी और सामान्य योजना को केवल १५० करोड़ देगी। परन्तु यह गलत नहीं है क्योंकि रेलवे की योजना का महत्व भी अधिक है।

प्रोविडेंट फंड व अन्य जमा मदों से (deposit heads) से २० करोड़ रुपये प्राप्त होंगे। इनमें से १५० करोड़ रुपये तो केन्द्र व राज्यों के पास एकत्रित प्रोविडेंट फंड से प्राप्त होंगें। १०० करोड़ रुपये राज्यों व केन्द्र के द्वारा दिये गये ऋणों की वापसी तथा विविध पूँजी आयों (Miscellaneous capital receipts) से प्राप्त होंगे।

यह साधन केवल २,४०० करोड़ रुपए के होते हैं। समस्या बाकी के २,४०० करोड़ रुपयों को प्राप्त करने की है। १,२०० करोड़ रुपये तो घाटे की वित्त व्यवस्था करके प्राप्त किये जायेंगे। १२०० करोड़ में से २०० करोड़ रुपये के बराबर तो पौंड पावनों (Sterling balances) को कम करके प्राप्त किये जायेंगे। बाकी के १००० करोड़ रुपये के नोट छापे जायेंगे।

८०० करोड़ रुपये के बराबर वाह्य सहायता (External aid) प्राप्त होने का अनुमान था।

इस प्रकार कुल साधन ४,४०० करोड़ रुपये के बराबर होंगे जबकि लक्ष्यों को पूरा करने के लिये ४,८०० करोड़ रुपये के वित्तीय साधनों की आवश्यकता होगी। अत: ४०० करोड़ रुपये की कमी वित्तीय साधनों में रहेगी। आयोग ने इस बारे में कोई प्रबन्ध नहीं किया और कहा कि भविष्य में आवश्यकतानुसार इसको पूरा कर लिया जायगा।

इससे स्पष्ट है कि द्वितीय योजना से देश के वित्तीय साधनों पर दबाव पड़ेगा; परन्तु विकास सम्बन्धी योजना में यह आवश्यक है क्योंकि योजना का उद्देश्य विनियोजन की दर को, जो वह वर्तमान में है, बढ़ाना है।[3] इसका अर्थ यह है कि इन साधनों को प्राप्त करने के लिये कठिन परिश्रम करना पड़ेगा।

योजना का पुनर्मूल्यांकन

(Re-appraisal of the Plan)

योजना के प्रारम्भिक तीन वर्षों में ४८०० करोड़ रुपये में से केवल २४५६ करोड़ रुपये का व्यय हुआ। इस प्रकार शेष दो वर्षों में २३४४ करोड़ रुपये का व्यय

3. "It is obvious that the second five year plan will strain the financial resources of the country. A measure of strain is implicit in any developmental plan, by definition, a plan is an attempt to raise the rate of investment above what it would otherwise have been." Ibid, page 81.

होना रह गया। परन्तु योजना आयोग का उस समय यह विचार था कि अगामी दो वर्षों में औसत रूप से प्रतिवर्ष ११७२ करोड़ रुपये का व्यय सम्भव नहीं है। आयोग का अनुमान था कि पांच वर्षों की अवधि में कुल ४२६० करोड़ रुपये मिलने की आशा है। अत बाकी के दो वर्षों के लिये उपलब्ध साधन केवल १८०४ करोड़ रुपये के थे और इस प्रकार योजना को पूरा करने के लिये ५४० करोड़ रुपये के और साधनों की आवश्यकता थी। साधनों की इस कमी के होते हुए भी आयोग का यह विचार था कि योजना के विभिन्न क्षेत्रों के सन्तुलन को बनाये रखने के लिये ४५०० करोड़ रुपये का व्यय अवश्य होना चाहिये।

साधनों की इस कमी से उत्पन्न समस्या को दूर करने के लिये योजना आयोग ने द्वितीय योजना को दो भागों में विभाजित कर दिया–'अ' भाग जिस पर ४५०० करोड़ रुपये का व्यय होना था और यह व्यय कृषि उत्पादन में वृद्धि की योजनाओं और कार्यक्रमों, उद्योग, खनिज, यातायात सम्बन्धी उन सारी योजनाओं जो दूसरी की सार है तथा जिन पर देश का आर्थिक विकास निर्भर है, तथा उन योजनाओं पर जो विकास के उच्च स्तर पर पहुँच गई है, किया जाय। बाकी ३०० करोड़ रुपया उन योजनाओं पर जो देश के आर्थिक विकास के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण नहीं है, तब व्यय किया जाय जब ४५०० करोड़ की योजना को पूरा करने के बाद भी साधन बच जांय।

४५०० करोड़ रुपये की योजना को पूरा करने के लिये भी २४० करोड़ रुपये के अतिरिक्त साधनों की आवश्यकता होती। इसको १०० करोड़ रुपये के बराबर कर लगाकर (६० करोड़ रुपये के केन्द्र द्वारा तथा ४० करोड़ रुपये के बराबर राज्यों के द्वारा); ६० करोड़ रुपये ऋण और छोटी बचतों से एकत्रित करके और ८० करोड़ रुपये व्यय में बचत करके और कर व ऋणों के ऋण शेषों (Arrear) को एकत्रित करके प्राप्त किया जाता। आयोग ने यह स्पष्ट कर दिया था कि अतिरिक्त साधन घाटे की वित्त-व्यवस्था करके या अधिक बाह्य सहायता द्वारा प्राप्त नहीं किये जा सकते, और इसलिए इनको करों, ऋणों, बचतों से तथा गैर-विकास व्यय में कमी करके ही पूरा करना होगा।

योजना पर वास्तविक व्यय

(Actual Expenditure on the Plan)

तृतीय पचवर्षीय योजना में प्रकाशित आकड़ों के अनुसार द्वितीय योजना पर हुआ व्यय ४६०० करोड़ रुपये था। इस व्यय को जिन विभिन्न साधनों से प्राप्त किया गया उनका विश्लेषण इस प्रकार है।[4]

4. Adapted from table 2 in the third five year plan, Page ०९

द्वितीय योजना पर हुये वास्तविक व्यय का अनुमान

(करोड़ रुपयों में)

	प्रारम्भिक अनुमान	वास्तविक अनुमान
१. वर्तमान करारोपण के आधार पर कम आय से प्राप्त बचत	३५०	—५०
२. रेलवे द्वारा अंशदान	१५०	१५०
३. अन्य सार्वजनिक उपक्रमों की बचतें	···(a)	···(a)
४. जनता से प्राप्त बचत (वास्तविक)	७००	७८०
५. छोटी बचतें (वास्तविक)	५००	४००
६. प्रोविडेन्ट फंडस (वास्तविक)		१७०
७. इस्तपात समीकरण कोष	२५०	३८
८. अन्य पूंजीगत आय		२२
९. १ से ८ तक की मदों का जोड़	१९५०	१५१०
१०. अतिरिक्त करारोपण (सार्वजनिक उपक्रमों में अधिक बचत करने के साधनों को सम्मिलित करके)	४५०	१०५२
११. विदेशी सहायता के अनुरूप बजट सम्बन्धी आय।	८००	१०९०(b)
१२. घाटे की वित्त व्यवस्था	१२००	९४८
	४८००	४६००

घाटे की वित्त-व्यवस्था का महत्व

(Importance of Deficit Financing)

अपने विभिन्न कार्यों को पूरा करने के लिये सरकार कर, सार्वजनिक ऋण तथा विदेशी सहायता के अतिरिक्त घाटे की वित्त व्यवस्था का भी प्रयोग कर सकती है। सरल शब्दों में घाटे की वित्त व्यवस्था का अर्थ होता है कि सरकार अपनी आय से अधिक व्यय करे और आय व्यय की इस खाई को अधिक नोट छापकर या केन्द्रीय बैंक से अपनी प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण लेकर पूरा करके। घाटे की वित्त व्यवस्था में दो बातें मुख्य होती हैं—एक तो सरकार जान-बूझ कर बजट में घाटा उत्पन्न करती है और दूसरे देश में द्रव्य की मात्रा में वृद्धि की जाती है।

(a) पद १ व ८ में सम्मिलित (b) रिजर्व बैंक द्वारा PL. 480 के कार्यों में विनियोजित राशि भी सम्मिलित।

किसी भी देश की वित्त व्यवस्था मे घाटे की वित्त व्यवस्था का विशेष महत्व है। सर्वप्रथम तो, घाटे की वित्त व्यवस्था का महत्व मन्दी काल में है। मन्दी काल में द्रव्य की कमी रहती है और घाटे की वित्त व्यवस्था से इस कमी को पूरा किया जा सकता है। दूसरे, घाटे की वित्त-व्यवस्था का महत्व उस समय भी होता है जब देश में निजी विनियोजन (Private investment) की कमी हो। बहुत बार निजी-विनियोजन अधिकसक्रिय नही होता और देश मे विनियोजन की कमी होने से उत्पादन क्रिया तेजी से नहीं चलती। सरकार इस कमी को अधिक नोट छाप कर पूरा करती है। तीसरे, युद्ध काल मे भी घाटे की वित्त व्यवस्था का प्रयोग किया जाता है। आधुनिक युद्धों पर बहुत अधिक व्यय होता है जिसको सरकार कर आदि के द्वारा पूरा नही कर सकती। घाटे की वित्त व्यवस्था इस कमी को पूरा कर देती है। चौथे, विकासशील देश मे तो इस वित्त व्यवस्था का बहुत ही अधिक महत्व है। सरकार को विभिन्न विकास योजनाओ व कार्यक्रमो पर व्यय करने के लिये द्रव्य के विशाल कोषो की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के देश में व्यक्तियो की आयों के स्तर नीचे होने के कारण उन पर अधिक कर नही लगाये जा सकते और साथ ही उनसे अधिक ऋण भी नहीं लिया जा सकता। परन्तु देश का विकास करने के लिये उत्पादन प्रेरक कार्यक्रमो को स्थापित करना आवश्यक होता है। सरकार घाटे की वित्त-व्यवस्था करके ही इस कमी को पूरा करती है। K. Santhanam के अनुसार, "To abandon deficit financing altogether without the possibility of substantial increase in taxation and saving may amount to abandoning the attempt for planned economic development."[5]

घाटे की वित्त व्यवस्था के महत्व के साथ-साथ उसके प्रभावों को नहीं भुला देना चाहिये। घाटे की वित्त व्यवस्था का प्रभाव मूल्यो पर पड़ता है। नोटों की मात्रा में वृद्धि हो जाने के कारण वस्तुओ के मूल्य बहुत बढ़ जाते हैं और देश में मुद्रा-स्फीति की दशाएं (Inflationary Conditions) उत्पन्न हो जाती हैं। इसलिये इसका प्रयोग नियन्त्रण के साथ करना चाहिये। डा० वि० के० आर० वि० राव ने घाटे की वित्त व्यवस्था की तुलना तेज दवा (Sulpha Drug) से की है। जिसको केवल ठीक मात्रा मे व योग्य डाक्टर की सलाह से ही उपयोग में लाना चाहिये। यह कोई स्थाई सुधार नही है, बल्कि स्थाई सुधार को प्राप्त करने का एक तरीका है। घाटे की वित्त-व्यवस्था के मुद्रा-स्फीति के प्रभावों को दूर रखने के लिये द्वितीय योजना मे घाटे की वित्त-व्यवस्था १२०० करोड रुपये के स्थान पर ९४८ करोड़ रुपये की गई। तीसरी योजना मे केवल ५५० करोड रुपये की घाटे की वित्त-व्यवस्था का प्रबन्ध है।

★

5. Planning and Plain Thinking, K. Santhanam, page 41

Q. 207. Discuss the role and significance of the major internal and external agencies for financing the scheme of economic development in India. How far have they succeeded is their tasks?

(Agra 1959)

मार्च सन् १९५० में नियोजन आयोग की नियुक्ति और सन् १९५१ में प्रथम पंचवर्षीय योजना के निर्माण से भारतीय आर्थिक इतिहास में एक नये महत्वपूर्ण युग का प्रारम्भ हुआ। 'स्वतन्त्रता' से पहले भारत का औद्योगिक आधार कमजोर था और देश की अधिकतर जनता को कृषि पर ही निर्भर रहना पड़ता था। युद्ध और जनसंख्या के बढ़ते हुए दवाव ने भारतीय अर्थव्यवस्था को निर्बल बना दिया था और लोग दरिद्रता व अभाव से पीड़ित थे। विभाजन ने देश की अर्थ-व्यवस्था को और भी अस्त-व्यस्त कर दिया। कृषि और उद्योगों में उत्पादन-शीलता बहुत कम थी। इन सबके कारण भारत के सामान्य नागरिक का रहन-सहन का स्तर बहुत नीचा था और उसके पास आर्थिक विकास की सुविधाएँ सीमित थीं। इसलिये यह आवश्यक था कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था का पुनर्निर्माण किया जाय, औद्योगिक तथा वैज्ञानिक विकास का आधार बनाया जाय और शिक्षा व अन्य सामाजिक सेवाओं का विस्तार किया जाय। इस सबके लिये राष्ट्रीय स्तर पर नियोजन की आवश्यकता थी। तृतीय पंचवर्षीय योजना में इस सम्बन्ध में लिखा है, "These called for planning on a national scale. encompassing all aspects of economic and social life, for efforts to mobilise resources, to determine priorities and goals and to create a widespread outlook of change and technological progress. Thus, planned devolopment was the means for securing with the utmost speed possible, a high rate of growth, reconstructing the institutions of economic and social life and harnessing the energies of the people to the tasks of national development."[1]

रूपरेखा :

(१) आर्थिक विकास की योजनाओं की आवश्यकता।

(२) विकास योजनाओं की वित्त-व्यवस्था के लिये आन्तरिक व बाह्य साधन।

(३) आन्तरिक साधन :
- (i) करारोपण;
- (ii) बचतें तथा ऋण;
- (iii) घाटे की वित्त व्यवस्था;
- (iv) सार्वजनिक उपक्रमों की बचतें;
- (v) अन्य साधन।

(४) बाह्य साधन :—
- (i) विदेशी ऋण;
- (ii) विदेशी सहायता।

आर्थिक विकास की योजना के सफल संचालन के लिये वित्तीय साधनों की आवश्यकता है। इन वित्तीय साधनों को विभिन्न आन्तरिक व बाह्य साधनों से प्राप्त

1. Thied Five Year Plan, page 6.

किया जाता है। इन साधनों की प्राप्ति का देश की मौद्रिक नीति और मुद्रा की स्थिरता से बहुत निकट का सम्बन्ध है। इसीलिए यहाँ हमे देखना होगा कि योजना के आवश्यक वित्तीय साधनो को प्राप्त करने के लिये कौन-कौन से आन्तरिक व बाह्य स्रोतों का उपयोग किया जाता है :—

आन्तरिक साधन
(Internal Sources)

आन्तरिक साधन लोगो की बचतो को एकत्रित करके योजना के लिये वित्तीय साधन प्रदान करते हैं। यह बचतें दो प्रकार से की जा सकती हैं—एक तो व्यक्ति अपनी इच्छा से बचत करते हैं और बचे हुए साधन सरकार को दे देते है जिससे वह योजना की वित्त-व्यवस्था कर सके। छोटी बचतें, ऋण, बीमे, प्रोविडेन्ट फण्ड में अपनी इच्छा से रुपया जमा करना आदि इस शीर्षक के अन्तर्गत आते हैं। दूसरे व्यक्ति अपनी इच्छा से बचत नही करते बल्कि सरकार की ओर से बचत करने के लिये मजबूर किये जाते हैं। करारोपण, घाटे की वित्त-व्यवस्था तथा अनिवार्य प्रोविडेन्ट फण्ड व बचत आदि इसी साधन के अन्तर्गत आते हैं। बचतो ऐच्छिक व अनिवार्य के अतिरिक्त सरकार व्यक्तियों को सेवाएँ प्रदान करके वित्तीय साधन प्राप्त करना भी आन्तरिक स्रोतों के अन्तर्गत आता है। यहाँ हमे आन्तरिक स्रोतो के विभिन्न साधनो के बारे मे देखना है :—

करारोपण (Taxation)—व्यक्तियों से योजना की वित्त-व्यवस्था के लिये साधन प्राप्त करने का एक महत्वपूर्ण तरीका करारोपण है। व्यक्तियो में इतना तर्क नहीं होता कि वे देश की आर्थिक विकास योजनाओं का महत्व समझ सकें, क्योंकि इन योजनाओ के लाभ दीर्घकाल मे प्राप्त होते हैं जबकि व्यक्ति वर्तमान को ही अधिक महत्व देता है। इसलिये सरकार कर लगाकर उसकी आय को कम कर देती है और इससे प्राप्त आय को योजना के कार्यकरण पर व्यय करती है। इस साधन का अधिकतम उपयोग करने के लिये यह आवश्यक है कि देश की कर-प्रणाली इस प्रकार की होनी चाहिये कि उत्पादन और वितरण पर बुरे प्रभाव पड़े बिना कर की अधिक से अधिक राशि एकत्र हो जाय। साथ ही करारोपण की एक सीमा है और वह है व्यक्तियों की करारोपण क्षमता (Taxable Capacity)। कोई भी देश चाहे वह पूँजीवादी है साम्यवादी इस सीमा से अधिक कर नहीं लगा सकता क्योंकि इससे अधिक कर लगाने पर उत्पादन पर विपरीत प्रभाव पड़ते हैं और लोग भी विरोध करने लगते हैं।

भारत की आर्थिक योजनाओ की वित्त व्यवस्था मे करारोपण के महत्व को समझ लिया गया है और प्रत्येक नई योजना मे पहले से अधिक साधन करारोपण द्वारा प्राप्त किये जाते हैं। प्रथम योजना मे करारोपण से ५७० करोड रुपये प्राप्त करने थे परन्तु वास्तव मे ५८२ करोड़ रुपये प्राप्त करने थे। करारोपण का कुल

वित्तीय साधनों में भाग २६ प्रतिशत था। दूसरी व तीसरी योजना में यह प्रतिशत तो क्रमशः २३ तथा ३० रह गया परन्तु करारोपण से पहले से अधिक साधन प्राप्त करने के प्रयत्न किए गए। दूसरी योजना में करारोपण से ८०० करोड़ रुपये प्राप्त करने थे—३५० वर्तमान करारोपण से तथा ४५० अतिरिक्त करारोपण से। बाद में इस भाग को कम समझा गया और योजना में ४०० करोड़ रुपये के घाटे (Gap) को भी इसी साधन से पूरा किया गया। वास्तविक करारोपण १०५२ करोड़ रुपए के बराबर हुआ। तृतीय योजना में ५५० करोड़ रुपये तो वर्तमान करारोपण के आधार पर प्राप्त होंगे तथा १७१० करोड़ रुपये अतिरिक्त करारोपण के आधार पर।

बचतें तथा ऋण (Borrowing and Loans)—अर्द्ध-विकसित देश में प्रति व्यक्ति आय कम होने के कारण व्यक्तियों पर अधिक कर लगाकर विकास कार्यों के लिये आवश्यक वित्त प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त करों का कार्य व बचत करने की इच्छा व शक्ति पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। अन्त में करों की भी एक सीमा है—करारोपण क्षमता। इन तीनों बातों के कारण करारोपण का सीमित उपयोग किया जा सकता है। इसलिए विकास कार्यों को पूरा करने के लिये ऋणों का महत्व अधिक है। ऋणों के साथ ही छोटी बचतों का महत्व भी है क्योंकि बड़े-बड़े ऋण प्रत्येक व्यक्ति नहीं ले सकता। छोटी बचतों से सामान्य व्यक्ति की बचतों को एकत्र किया जा सकता है। साथ ही बचतों का वितरणात्मक महत्व भी है। परन्तु यहां पर एक बात महत्वपूर्ण है कि बचतों व ऋणों का प्रयोग उत्पादक कार्यों के लिए ही करना चाहिए।

प्रथम योजना में ११५ करोड़ रुपये के ऋण तथा २७० करोड़ रुपये की अल्प बचतें एकत्रित करने का लक्ष्य रखा था। सरकार ने इन लक्ष्यों से अधिक ऋण व बचतें एकत्र की। ऋण २०५ करोड़ रुपये के प्राप्त किये जो कुल साधनों के १० प्रतिशत थे और बचतें ३०४ करोड़ रुपये की प्राप्त की जो कुल साधनों की १६ प्रतिशत थी।

दूसरी योजना में लक्ष्य ७०० करोड़ रुपये के ऋण तथा ५०० करोड़ रुपये की बजतों का था। वास्तव में ऋण ७८० करोड़ रुपये के ऋण तथा छोटी बचतें ४०० करोड़ रुपये की प्राप्त हुई।

तीसरी योजना में ८०० करोड़ रुपये के ऋण और ६०० करोड़ रुपये की छोटी बचतें एकत्र की जायेंगी।

घाटे की वित्तव्यवस्था (Deficit Financing)—सरल शब्दों में घाटे की त-व्यवस्था का अर्थ होता है कि सरकार अपनी आय से अधिक व्यय करे और ाय व्यय की इस खाई (Gap) को कर, सार्वजनिक ऋण तथा विदेशी सहायता से करके, अधिक नोट छापकर या केन्द्रीय बैंक से अपनी प्रतिभूतियों के आधार लेकर पूरा करे। घाटे की वित्त-व्यवस्था का उद्देश्य, अन्य उद्देश्यों को छोड़कर

देश के आर्थिक विकास के लिये साधनो की कमी को पूरा करना होता है। घाटे की वित्त-व्यवस्था से देश में द्रव्य की मात्रा मे वृद्धि हो जाती है और यदि इस ठीक प्रकार से नियन्त्रण न लगाया जाय तो इससे वस्तुओ के मूल्यो मे बहुत वृद्धि हो जाती है तथा देश में मुद्रा-स्फीति की दशायें उत्पन्न हो जाती हैं।

प्रथम पचवर्षीय योजना के दौरान मे योजना आयोग का अनुमान २६० करोड़ रुपये का था परन्तु योजना के अन्त तक घाटे की वित्त व्यवस्था की मात्रा ४२१ करोड़ रुपये हो गई जो कुल व्यय का २१ प्रतिशत थी। प्रारम्भ मे घाटे की वित्त-व्यवस्था की मात्रा को इतना कम इसलिये रखा गया था जिससे कि मुद्रा-स्फीति की प्रवृत्तियों को अधिक प्रोत्साहन न मिले। परन्तु बाद मे उत्पादन बढने और मूल्य स्थिति में सुधार होने के कारण घाटे की वित्त-व्यवस्था की मात्रा को बढ़ाना लाभदायक समझा गया।

द्वितीय योजना में घाटे की वित्त-व्यवस्था का अनुमान १२०० करोड रुपये था। इस १२०० करोड मे से २०० करोड़ रुपये तो पौंड पावनो (Sterling Balances) मे से निकालने तथा १००० करोड रुपये के नोट छापने थे। परन्तु योजना के प्रारम्भ मे ही मूल्य बहुत बढ जाने के कारण घाटे की वित्त-व्यवस्था को कम करने का प्रयत्न किया गया। घाटे की वास्तविक वित्त-व्यवस्था ६४८ करोड रु० के बराबर की गई। यह कुल वित्तीय साधनो का २०% है।

प्रथम दो योजनाओं मे घाटे की वित्त-व्यवस्था अधिक मात्रा मे की गई थी जिसके कारण मूल्यो मे अधिक वृद्धि हुई। इसलिए तृतीय योजना मे केवल ५५० करोड़ रु० की वित्त-व्यवस्था का प्रबन्ध है जो कुल वित्तीय साधनो का ८% है।

सार्वजनिक उपक्रमों की बचतें (Surplus of Public Enterprises)—आधुनिक समय मे सार्वजनिक उपक्रमों से प्राप्त आय का महत्व आर्थिक विकास में अधिक हो गया है। तृतीय योजना मे भी सार्वजनिक उपक्रमों द्वारा लाभ प्राप्त करके ४५० करोड रुपये प्राप्त किये जायेंगे। प्रथम व द्वितीय योजना मे इन साधनों का अलग से कोई उल्लेख नही था बल्कि 'कर आय से प्राप्त बचत' व 'अन्य पूंजीगत आय' की मदो मे ही इस आय को सम्मिलित कर लिया था। इसके अतिरिक्त रेलवे में राज्य उपक्रम है और इससे योजना की वित्त-व्यवस्था के लिए साधन मिलते हैं। तृतीय योजना मे रेलवे से प्राप्त होने वाले अशदान का अनुमान १०० करोड रुपये हैं। द्वितीय योजना मे रेलवे का अश दान १५० करोड़ रु० था और प्रथम योजना मे ११५ करोड रुपये। रेलवे योजना की वित्त-व्यवस्था के लिए अधिक वित्त प्रदान नही कर सकते क्योंकि उनको अपने विकास की योजना की वित्त-व्यवस्था के लिये भी वित्ताय साधनों का प्रबन्ध करना होता है।

अन्य साधन (Other Sources):—उपरोक्त योजना की वित्त-व्यवस्था के प्रमुख साधन हैं। इनके अतिरिक्त अन्य साधनों से भी वित्त प्राप्त किये जाते हैं। इसमें पहला साधन आता है प्रोविडेन्ट फंड। सरकार के पास इसमें कर्मचारियों का

प्रोविडेन्ट फंड जमा होता है जिसका भुगतान उनके अवकाश-प्राप्त करने के समय किया जाता है। इस बीच सरकार उनका उपयोग विकास कार्यों की वित्त-व्यवस्था के लिये कर सकती है। तृतीय योजना में इस साधन से २६५ करोड़ रु० प्राप्त किया जायगा। द्वितीय योजना में १७० करोड़ रुपया प्राप्त किया गया था। अन्य पूंजीगत आयों से भी वित्त प्राप्त किया जाता है। द्वितीय योजना में २२ करोड़ रुपये प्राप्त किये गये तथा तीसरी योजना का अनुमान १७० करोड़ रुपये का था।

वाह्य साधन (External Sources):—आन्तरिक साधनों के अतिरिक्त वाह्य साधन भी योजना की वित्त-व्यवस्था का मुख्य भाग है। तीसरी योजना में तो कुल साधनों का ३० प्रतिशत विदेशी साधनों से प्राप्त किया जायगा। द्वितीय योजना में भी विदेशी साधनों का प्रतिशत २४ था। यह विदेशी सहायता स्रोतों से प्राप्त की जाती है—(१) दूसरे देशों के नागरिकों से ऋण लेकर, (२) दूसरे देशों की सरकारों से ऋण लेकर, (३) विदेशी सरकारों से प्रत्यक्ष सहायता प्राप्त करके, तथा (४) अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से ऋण लेकर। इनमें से पहला स्रोत अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। तृतीय योजना में २२०० करोड़ रुपये की विदेशी सहायता प्राप्त की जायगी। द्वितीय योजना में १०९० करोड़ रुपये की तथा प्रथम योजना में १८८ करोड़ रु० की विदेशी सहायता प्राप्त हुई।

योजना की वित्त व्यवस्था के लिए विदेशी सहायता दो कारणों से प्रदान की जाती है। एक तो देश के तीव्र आर्थिक विकास के लिए जिन साधनों की आवश्यकता है उन सब को घरेलू साधनों (domestic resources) से ही पूरा नहीं किया जा सकता। दूसरे, औद्योगीकरण के लिए मशीन, कच्चा माल तथा शैल्पिक ज्ञान (Know How) के आयात की आवश्यकता होती है जिसके लिए विदेशी विनिमय चाहिए। निर्यात व्यापार से जो विदेशी विनिमय प्राप्त होता है उससे केवल आयात आवश्यकताओं को ही पूरा किया जा सकता है। इसलिए विकास-सम्बन्धी आयातों के लिए विदेशी सहायता पर निर्भर होना स्वाभाविक है।

★

Q. 208. Examine critically the role of foreign economic aid in India's Five-Year Plans and suggest measures for reducing India's dependence on external sources of finance. (Vikram 1964, Ag. 1962)

अर्द्ध-विकसित देशों के लिए औद्योगीकरण अत्यन्त आवश्यक होता है। इसकी आवश्यकता केवल राष्ट्रीय आय में वृद्धि के लिए ही नहीं होती बल्कि अधिक जनसंख्या के कारण उत्पन्न समस्याओं को दूर करने के लिए भी होती है। इस औद्योगीकरण के लिए पूंजी निर्माण (capital formation) की आवश्यकता होती है। तीव्र पूंजी निर्माण से प्रति-व्यक्ति उत्पादनशीलता (productivity) बढ़ती है, आय के स्तर में वृद्धि होती है, पूर्ण, रोजगार फैलता है और उपभोग वस्तुओं और सेवाओं में वृद्धि होती है। इसीलिए प्रत्येक देश अपनी पूंजी की मात्रा को बढ़ाने का प्रयत्न करता है।

पूँजी निर्माण को बढ़ाने के लिए एक देश के पास कई तरीके होते हैं। सबसे पहला तरीका तो बचत (savings) करने का है। देश के लोग अपने उपभोग को कम करके अधिक बचत करें जिससे बची हुई आय का उपयोग उत्पादन के लिए किया जा सके। दूसरा तरीका करारोपण (taxation) का है। लोग इतने तर्कपूर्ण नहीं होते कि अपने उपभोग को कम करके बचत अधिक करें क्योंकि वे वर्तमान को अधिक महत्व देते हैं। सरकार उन पर कर लगा कर उनकी आय को कम कर देती है जिससे उनको उपभोग कम करना पड़ता है और कर से प्राप्त आय का उपयोग उत्पादन के लिए किया जाता है। तीसरा तरीका घाटे की वित्त-व्यवस्था (deficit-financing) का है। सरकार अपने बजट आय से अधिक के बनाती है और घाटे को करारोपण या ऋण लेकर पूरा नहीं करती बल्कि केन्द्रीय बैंक से अपनी प्रतिभूतियों के आधार पर उधार लेकर या स्वयं नोट छाप कर पूरा करती है। दोनों स्थितियों में देश में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जाती है जिससे मूल्यस्तर बढ़ जाता है। इसलिए इस तरीके को 'पूँजी निर्माण का मुद्रा-स्फीतिक तरीका' कहते हैं।

अर्द्धविकसित देशों में उद्योग, कृषि, व्यापार तथा यातायात की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उपरोक्त तीनों तरीकों से पर्याप्त पूँजी प्राप्त नहीं हो पाती क्योंकि इन देशों में व्यक्तियों की आय का स्तर इतना नीचा होता है कि लोग अधिक बचत नहीं कर पाते, उपभोग का स्तर इतना नीचा होता है कि उन पर अधिक कर नहीं लगाये जा सकते और घाटे की वित्त-व्यवस्था की अपनी अलग सीमाएं हैं। अतः जनता अपनी वर्तमान आय में से पर्याप्त पूँजी जुटाने में असमर्थ होती है और इसलिये आवश्यक पूँजी और उपलब्ध पूँजी के बीच के अन्तर को पूरा करने के लिए विदेशी सहायता (foreign aid) ली जाती है।

भारत में विदेशी सहायता का महत्व

(Importance of Foreign Aid in India)

भारत का कृषि व औद्योगिक विकास करने के लिए, श्रमिकों की उत्पादन-शीलता बढ़ाने के लिए तथा प्राकृतिक साधनों का अधिकतम उपयोग करने के लिए बड़ी मात्रा में पूँजी की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त भारत में पूँजी की कमी है जिसको पूरा करने के लिए विदेशी पूँजी की सहायता ली जा सकती है। इससे आर्थिक विकास की गति तीव्र हो जायगी और देश के पूँजीगत-साधन और उत्पादन शक्ति में स्थायी वृद्धि हो जायगी जिससे विदेशी पूँजी का मूलधन व ब्याज चुकाया जा सकेगा।

दूसरे, भारत को उद्योगों आदि का विकास करने के लिए मशीन, कच्चा माल व अन्य पूँजीगत सामान खरीदने के लिये विदेशी मुद्रा की आवश्यकता है; परन्तु इसके निर्यात कम हैं जिसके कारण इसके पास विदेशी मुद्रा कम है। यह देश अपने निर्यात भी शीघ्र नहीं बढ़ा सकता क्योंकि विदेशी बाजार में माल बेचने व ग्राहक बनाने में समय लगता है तथा अधिक माल निर्यात करने से देश में इसकी कमी पड़ जाती

है जिससे जनता को बहुत कष्ट होता है। इसलिए देश का शीघ्र विकास करने के लिये विदेशी पूँजी की सहायता की बहुत आवश्यकता होती है।

इन कारणों से भारत में विदेशी पूँजी की सहायता का विशेष महत्व है और देश के आर्थिक विकास को तीव्र करने का एक महत्वपूर्ण तरीका है। विदेशी सहायता ने संसार के समस्त देशों के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि सभी देशों ने प्रारम्भ में विदेशों से ऋण व सहायता लेकर अपनी अर्थव्यवस्था को विकसित किया। परन्तु विदेशी सहायता लेते समय कुल बातों का अवश्य ध्यान रखना चाहिये। सर्वप्रथम तो विदेशी सहायता से निहीत स्वार्थों (Vested interests) का निर्माण नहीं होना चाहिये। दूसरे, भारत की राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय नीति पर विदेशी सरकारों का प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। तीसरे, विदेशी सहायता का उपयोग विदेशी सरकार के हित में नहीं होना चाहिये बल्कि अपने देश के लाभ के लिये होना चाहिये।

भारत को विदेशी सहायता
(External Assistance for India)

विदेशी विनिमय कोषों में गिरावट तथा निर्यातों में विशेष वृद्धि न होने के कारण भारत की योजनाओं की वित्त-व्यवस्था में विदेशी पूँजी की सहायता की आवश्यकता बढ़ती जा रही है। प्रथम योजना काल में ४०५ करोड़ रुपये की विदेशी सहायता प्राप्त हुई थी जिसमें २१२ करोड़ रुपये का उपयोग तो योजना काल में ही कर लिया गया था और १९३ करोड़ रुपये दूसरी योजना के लिए बच रहे। दूसरी योजना के लिए भारत को २,४५७ करोड़ रुपये की विदेशी सहायता प्राप्त हुई थी जिसमें प्रथम योजना काल से प्राप्त १९३ करोड़ रुपये की रकम भी सम्मिलित थी। इसमें १०९० करोड़ रुपया या ४४ प्रतिशत ऋण के रूप में, ११४३ करोड़ रुपया या ४७ प्रतिशत अमेरिका से P. L. 480 आदि के अन्तर्गत कृषि-वस्तुओं की सहायता के रूप में व शेष ९ प्रतिशत सहायता के रूप में प्राप्त हुआ। दिसम्बर सन् १९६३ के अन्त तक भारत को संसार के विभिन्न देशों से ३७९३ करोड़ रुपये विदेशी सहायता के रूप में प्राप्त हुए। इन देशों में से संयुक्त राज्य अमेरिका ने भारत को सबसे अधिक सहायता दी। अमेरिका ने इस समय तक २२९९ करोड़ रुपये की आर्थिक सहायता दी जो कुल सहायता का ६१ प्रतिशत है। अन्य देशों ने इस प्रकार से सहायता दी :—

देश	सहायता	कुल सहायता का प्रतिशत
रूस	३८५ करोड़ रु०	१०%
पश्चिमी जर्मनी	३५८ ,, ,,	९%
इंगलैंड	२७३ ,, ,,	७%
अन्य देश	४७८ ,, ,,	१३%

इसके अतिरिक्त दिसम्बर १६६३ तक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं ने ५४६ करोड़ रुपये की आर्थिक सहायता दी जिसमे से ४०३ करोड रुपये अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने दिये और १४३ करोड रु० अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (International Development Association) ने।

विदेशों ने सबसे अधिक आर्थिक सहायता, १५८२ करोड रु० जो कुल सहायता का ५७% है औद्योगिक विकास के लिए दी। इसके बाद यातायात के साधनों का नम्बर था जिसके लिए ४२० करोड रु० (१५%) दिया गया। लोहे व इस्पात की योजनाओं तथा विद्युत योजनाओं (power projects) के लिए क्रमश: ३८१ करोड़ रु० (१४%) तथा २५६ करोड़ रु० (६%) दिया गया।

P. L. 480 के अन्तर्गत अमेरिका ने दिसम्बर सन् १६६३ तक ११६१·३ करोड़ रु० की आर्थिक सहायता दी। इन रुपयो का विभिन्न उपयोगों मे विभाजन निम्न प्रकार से किया गया है :—

कार्य	करोड़ रु०
(१) भारतीय सरकार को ऋण	५५८·६
(२) भारतीय सरकार को सहायता	३७५·३
(३) निजी उपक्रमो को कूलो समझौते के अन्तर्गत ऋण	७६·०
(४) अमेरिका की सरकार के उपयोग के लिए	१४८·१
योग	११६१·३

सन् १६६४–६५ में भारत की विदेशी विनिमय की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए Aid-India Consortium के १० सदस्य देशों की बैठक अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के तत्वधान मे हुई। भारत ने अपनी विदेशी विनिमय की आवश्यकता का अनुमान ५२४ करोड से ५४८ करोड रु० तक का लगाया था। मई सन् १६६४ की बैठक मे Consortium ने ४६० करोड रु० की आर्थिक सहायता देने का वायदा किया। इसमे से आधी सहायता योजनाओं के लिये नही बल्कि प्रयोग आयातों की वित्त-व्यवस्था के लिये होगी जिससे अर्थव्यवस्था को ठीक स्थिति मे रखा जा सके। ४६० करोड रु० मे ११६·७ करोड़ रु० विश्व बैंक व अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ के द्वारा दिये जायेंगे।

विदेशी सहायता को कम करना

(Reducing External Assistance)

भारत की पंचवर्षीय योजनाओ मे विदेशी सहायता का स्थान बढ़ता जा रहा है। प्रथम योजना में विदेशी सहायता कुल साधनों को १७ प्रतिशत थी। द्वितीय योजना मे यह प्रतिशत २४ हो गया तथा तृतीय योजना मे इस प्रतिशत को ३० रखा

गया है। योजना की वित्तव्यवस्था में विदेशी सहायता के बढ़ते हुये प्रतिशत पर बहुत से अर्थशास्त्रियों ने चिन्ता प्रकट की है और आलोचना भी की है। उनकी यह चिन्ता और आलोचना बेकार नहीं है क्योंकि विदेशी सहायता पर अधिक निर्भर रहने से योजना के सफल कार्यसंचालन के लिये विदेशी सरकारों पर निर्भर रहना पड़ता है और हर समय इस बात की चिन्ता रहती है और प्रयत्न करना पड़ता है कि विदेशी सहायता कम न हो जाय। जब भी विदेशी सहायता में कमी के चिन्ह प्रकट होने लगते हैं तो सरकार के सामने बड़ा संकट आ जाता है और योजना की गति रुक जाती है। सन् १९६२ के अप्रैल-मई के काल से इसी प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो गई है। इसीलिए इस बात का प्रयत्न करना चाहिये कि देश विदेशी सहायता पर कम से कम निर्भर रहें। इसके लिए हमें विभिन्न प्रकार के प्रयत्न करने पड़ेंगे।

सबसे पहले हमें अपने ही साधनों के एकत्रिकरण (mobrilisation) पर अधिक ध्यान देना चाहिये। व्यक्तियों को उपभोग पर नियन्त्रण लगाकर सरकार को गैर-विकास कार्यक्रमों के व्ययों में मितव्ययिता करके तथा आवश्यकता हो तो अधिक कर लगाकर तथा जनता से ऋण लेकर योजना की वित्त व्यवस्था के लिए अधिक से अधिक साधन जोड़ने चाहियें। यहाँ पर एक बात और महत्वपूर्ण है कि साधनों के एकत्रिकरण से अधिक कठिन साधनों का उपयोग है। सरकार को उपलब्ध साधनों का सर्वोत्तम उपयोग करना चाहिये क्योंकि साधनों के प्रदान करने में व्यक्तियों को अत्यधिक त्याग करना पड़ता है।

दूसरे, हमें अपने देश में उन वस्तुओं को उत्पन्न करना होगा जिनके लिये हम दूसरे देशों पर निर्भर हैं। इस सम्बन्ध में हमें खाद्य पदार्थों के लिये आत्म-निर्भर होना चाहिए क्योंकि यह अनिवार्य आवश्यकता की वस्तु है और जब भी खाद्य पदार्थों की कमी हो जाती है तो अन्य वस्तुओं में कमी करके इन पदार्थों का आयात करना पड़ता है जिसके कारण पूँजीगत वस्तुयें व कच्चा माल कम आयात होता है और विकास की गति धीमी पड़ जाती है। साथ ही हमें पूँजीगत वस्तुओं जैसे मशीन आदि और कच्चे माल के क्षेत्र में भी आत्म-निर्भर होना चाहिए क्योंकि यदि हम हमेशा ही इन वस्तुओं का आयात करते रहें तो हमारी अर्थव्यवस्था स्वयंचालित नहीं हो सकेगी और हमें हमेशा ही विदेशी सहायता पर निर्भर रहना पड़ेगा। इस-लिये भारी उद्योग, मशीन निर्माण उद्योग तथा कच्चा माल उत्पादन पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

तीसरे, भारत को अपने निर्यातों में वृद्धि करने का प्रयत्न करना चाहिये क्यों-कि कोई देश कितना भी आत्म-निर्भर हो जाय फिर भी कुछ न कुछ आयात तो करने ही पड़ते हैं। इसलिए भुगतान सन्तुलन (Balance of Payments) को सन्तुलित रखने के लिए निर्यातों का बढ़ाना आवश्यक है। हम बहुत अधिक प्रयत्न करने पर भी अपने निर्यातों को बढ़ाने में सफल नहीं हुए हैं।

तृतीय योजना के निर्माण में इन बातों पर ध्यान रखा गया है; परन्तु हम एकदम विदेशी सहायता की मात्रा को कम नहीं कर सकते। विदेशी सहायता की मात्रा को कम करने के लिए प्रारम्भ में अधिक विदेशी सहायता की आवश्यकता होगी जिससे हम अपने देश में उन सब उद्योगों को स्थापित कर सकें जिनके लिए हमें विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता है। तृतीय योजना में भारी व मशीन निर्माण उद्योगों की स्थापना कृषि आत्म-निर्भरता व निर्यात को बढ़ाने पर विशेष महत्व दिया गया है। आशा की जाती है चतुर्थ योजना के बाद से भारत को विदेशी सहायता की आवश्यकता कम रह जायगी।

★

Q. 209. What is meant by deficit financing. Under what conditions and with what effects has it been resorted to in India over the last decade ? (Vikram 1962)

Q. 210. Explain carefully the concept of deficit financing and discuss its role in financing India's Five Year Plans. (Agra 1961)

Q. 211. Explain carefully the concept of deficit financing and discuss its role in financing India's Second and Third Five Year Plans. (Vikram 1964)

सरकार को विभिन्न कार्यों के करने के लिए धन की आवश्यकता होती है, जिसको यह विभिन्न साधनों—कर, सार्वजनिक ऋण तथा विदेशी सहायता—से प्राप्त करती है। परन्तु बहुत समय इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि सरकार के व्यय में इतनी अधिक वृद्धि हो जाती है कि इसको उपरोक्त किसी भी साधन से पूरा नहीं किया जा सकता। तब सरकार एक और साधन का उपयोग करती है, जिसको हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit Financing) कहते हैं। इसका अर्थ है कि सरकार घाटे के बजट (Deficit Budget) बनाये और इस घाटे को कर (Tax), सार्वजनिक ऋण (Public Borrowing) तथा विदेशी सहायता से पूरा न करके अधिक नोट छापकर या केन्द्रीय बैंक से अपनी प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण लेकर पूरा करे।

रूपरेखा :
(१) विकास योजना की वित्त व्यवस्था के साधन।
(२) हीनार्थ प्रबन्धन की परिभाषा।
(३) हीनार्थ प्रबन्धन के उद्देश्य।
(४) हीनार्थ प्रबन्धन के प्रभाव।
(५) हीनार्थ प्रबन्धन के मुद्रा-स्फीतिक प्रभाव पर रोक।
(६) भारत में प्रथम तीन योजनाओं में हीनार्थ प्रबन्धन।

हीनार्थ प्रबन्धन की परिभाषा (Definition of Deficit Financing)—सरल शब्दों में हीनार्थ प्रबन्धन का अर्थ होता है कि सरकार अपनी आय से अधिक

व्यय करे। आय और व्यय की इस खाई के पूरा करने को ही हीनार्थ प्रवन्धन कहते हैं। परन्तु इस खाई को किस प्रकार पूरा किया जाय, इस पर कुछ मतभेद है। अमेरिका में हीनार्थ प्रवन्धन का अर्थ सार्वजनिक ऋण से लिया जाता है। जब भी सरकार की आय व्यय से कम हो जाय तथा इसको पूरा करने के लिए वह बैंकों से या जनता से उधार ले तो इसको वे हीनार्थ प्रवन्धन कहते हैं। डा० वी० के० आर० वी० राव (Dr. V. K. R. V. Rao) ने इस प्रकार के हीनार्थ प्रवन्धन की परिभाषा इस प्रकार से की है, "The phrase 'deficit financing' has been used in the West to describe the financing of a deliberately created gap between public revenue and public expenditure or a budgetary deficit, the method of financing resorted to being borrowing of a type that results in a net addition to national outlay or aggregate expenditure. This means, in turn, that the borrowing results either in the activisation of ideal deposits held in banks by private individual or the creation of deposits by banks directly undertaking the purchase of Government securities."

भारतवर्ष में हीनार्थ प्रवन्धन को इतने विस्तृत दृष्टिकोण से नहीं देखा जाता। यहाँ हीनार्थ प्रवन्धन का अर्थ है कि सरकार अपने व्यय को अधिक नोट छाप कर या केन्द्रीय बैंक से ऋण लेकर पूरा करे। दोनों दशाओं में देश में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जाती है भारत के नियोजन आयोग (Planning Commission) ने हीनार्थ प्रवन्धन की व्याख्या इस प्रकार से की है, "The term-deficit financing' is used to denote the direct addition to gross national expenditure through budget deficits, whether the deficits are on revenue or on capital account. The essence of such a policy lies, therefore, in Government spending in excess, of the revenue it receives in the shape of taxes, earnings of state enterprises, loans from the public, deposits and funds and other miscellaneous source. The Government may cover the deficit by running down its accumulated balances or by borrowing from the banking system (mainly from Central Bank of the country) and thus creating money."

इस प्रकार स्पष्ट है कि हीनार्थ प्रवन्धन का आशय चाहे जिस प्रकार से लिया जाय, परन्तु इसमें दो बातें मुख्य हैं। एक तो सरकार जानबूझ कर बजट में घाटा उत्पन्न करती है और दूसरे हीनार्थ प्रवन्धन से देश में द्रव्य की मात्रा में वृद्धि हो जाती है।

हीनार्थ प्रवन्धन के उद्देश्य (Objects of Deficit Financing)—हीनार्थ प्रवन्धन के उद्देश्य बहुत हो सकते हैं तथा किसी देश में हीनार्थ प्रवन्धन किसी भी

एक उद्देश्य को पूरा करने के लिए या बहुत से उद्देश्यों को पूरा करने के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है। सर्वप्रथम हीनार्थ प्रबन्धन का उद्देश्य मन्दीकाल को दूर करना हो सकता है। मन्दीकाल में द्रव्य की कमी रहती है और हीनार्थ प्रबन्धन से इस कमी को पूरा किया जा सकता है। दूसरे, हीनार्थ प्रबन्धन का उपयोग निजी विनियोग (Private Investment) की कमी को दूर करने के लिए किया जा सकता है। बहुधा निजी विनियोजन अधिक सक्रिय नहीं होता और देश में विनियोग की कमी होने से उत्पादन क्रिया तेजी से नहीं चलती। सरकार इस कमी को अधिक कर लगाकर या अधिक उधार लेकर पूरा करती है। तीसरे, युद्धकाल के बढ़े हुए व्यय को पूरा करने के लिए भी सरकार इस रीति का प्रयोग कर सकती है। आधुनिक युद्ध में युद्ध पर बहुत अधिक व्यय करना होता है, जिसको सरकार कर आदि के द्वारा पूरा नहीं कर सकती। हीनार्थ प्रबन्धन इस कमी को पूरा कर देता है। अन्तिम उद्देश्य देश में विकास कार्य को प्रोत्साहन देना होता है। अविकसित व अर्द्ध-विकसित देशों में अत्यधिक विकास की आवश्यकता होती है, जिसको पूरा करने के लिए देश के पास पर्याप्त साधन नहीं होते। इन विकास योजनाओं का अर्थप्रबन्धन करने के लिए सरकार घाटे के बजट बनाकर हीनार्थ प्रबन्धन करती है।

हीनार्थ प्रबन्धन के प्रभाव (Effects of Deficit Financing)—हीनार्थ प्रबन्धन का उद्देश्य चाहे जो भी हो, परन्तु इसका परिणाम यह होता है कि देश में द्रव्य की मात्रा में वृद्धि हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप मूल्य बढ़ने लगते हैं। देश में विनियोग को भी प्रोत्साहन मिलता है तथा पूँजी का निर्माण अधिक होने लगता है। देश पर हीनार्थ प्रबन्धन का प्रभाव किस प्रकार का होगा, यह बहुत सी बातों पर निर्भर करता है। सर्वप्रथम, देश की आर्थिक अवस्था है। यदि देश में मन्दी काल है तथा मूल्य बहुत नीचे हैं तो हीनार्थ प्रबन्धन का प्रभाव विपरीत न होकर लाभदायक होगा, क्योंकि मूल्यों के बढ़ने से मन्दी काल की अवस्था दूर हो जायेगी। दूसरी ओर यदि मुद्रा-स्फीति की अवस्था में हीनार्थ प्रबन्धन किया जायगा तो स्फीति की दशा को और भी प्रोत्साहन मिलेगा। दूसरे, हीनार्थ प्रबन्धन की मात्रा का भी प्रभाव पड़ता है। यदि हीनार्थ प्रबन्धन बहुत अधिक मात्रा में किया जाय तो इसके लाभदायक परिणाम प्राप्त नहीं होते। तीसरा उद्देश्य भी कम महत्व-पूर्ण नहीं है। यदि इसको उत्पादक कार्यों के लिये किया जाता है तो मूल्य अधिक नहीं बढ़ेंगे, क्योंकि साथ-साथ देश में उत्पादन भी बढ़ता जायगा। अनुत्पादक कार्यों के लिये हीनार्थ प्रबन्धन करने का प्रभाव अच्छा नहीं होता तथा मूल्य बहुत अधिक बढ़ जाते हैं। चौथे, यदि हीनार्थ प्रबन्धन के साथ-साथ उस पर मौद्रिक वित्तीय व अन्य प्रकार के रोक लगाये जाते हैं तो इसके प्रभाव नियन्त्रित रहेंगे।

हीनार्थ प्रबन्धन के मुद्रा-स्फीतिक प्रभाव पर रोक (Check on the inflationary effects of the Deficit Financing)—हीनार्थ प्रबन्धन के मुद्रा-स्फीतिक (Inflationary) प्रभाव होते हैं, जिससे देश की अर्थव्यवस्था को हानि

पहुँच सकती है। हीनार्थ प्रबन्धन के इस मुद्रा-स्फीतिक प्रभाव को सरकार की बहुत सी नीतियों के द्वारा कम किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में सरकार निम्नलिखित उपायों को काम में ला सकती है :—

(१) देश में इस प्रकार की योजनाओं को प्रारम्भ किया जाय जो उत्पादक हों और जिनसे उत्पादन शीघ्र ही आरम्भ हो जाय।

(२) उपभोग की आवश्यक वस्तुओं जैसे खाद्यान्न, कपड़ा आदि की पूर्ति में वृद्धि की जाय जिससे उनके मूल्यों में अधिक वृद्धि न हो पाये।

(३) देश में आर्थिक नियन्त्रण लगाये जायें जिससे मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि को रोका जा सके और अ-अनिवार्य वस्तुओं के उपयोग को कम किया जा सके।

(४) साख के विस्तार पर मौद्रिक नियन्त्रण लगाये जायें तथा इस प्रकार का प्रबन्ध किया जाय कि साख का उपयोग सट्टे के कार्यों में अधिक न किया जा सके।

(५) पूँजीगत सम्पत्ति व उपभोग वस्तुओं की मात्रा में विदेशी सहायता से वृद्धि की जाय।

(६) देश के लोगों की अधिक क्रय-शक्ति को कर, अनिवार्य बचत, सार्वजनिक ऋण आदि रीतियों के द्वारा कम किया जाय।

(७) मजदूरी में अधिक वृद्धि न होने दी जाय।

(८) लोगों से इस प्रकार की अपील की जाय कि वे अपने धन को खर्च न करके बचायें।

(९) सरकार के शासन यन्त्र को सुसंगठित व शक्तिशाली बनाकर अमित-व्ययता को रोका जाय।

डा० राव ने हीनार्थ प्रबन्धन की तुलना तेज दवा (Sulpa Drug) से की है जिसको केवल ठीक मात्रा में व योग्य डाक्टर की सलाह से ही उपयोग में लाना चाहिये। यह कोई स्थायी सुधार नहीं है, बल्कि स्थायी सुधार को प्राप्त करने का एक तरीका हो सकता है।

भारत में हीनार्थ प्रबंधन

Deficit Financing in India.

भारतवर्ष में सन् १९५० में नियोजन प्रारम्भ होने पर हीनार्थ प्रबंधन की आवश्यकता महसूस हुई। इससे पहले इस साधन का प्रयोग सरकार के द्वारा नहीं किया जाता था। प्रथम योजना आकार में बाद वाली योजनाओं से बहुत छोटी थी और सरकार को हीनार्थ प्रबंधन के द्वारा वित्त-व्यवस्था का अधिक अनुभव नहीं था। अतः प्रथम योजना के वित्त-व्यवस्था के लिए हीनार्थ प्रबंधन द्वारा केवल २९० करोड़ रुपया ही प्राप्त करना था। सरकार को सन् १९५१–५६ के दौरान में पौंड पावनों (Sterling Balances) से लगभग इतनी ही राशि मिलने की सम्भावना थी, इसलिये मुद्रा प्रसार का भय नहीं था। परन्तु योजना के अन्तिम वर्ष में घाटे का

मात्रा मे वृद्धि हो जाने के कारण हीनार्थ प्रबंधन की मात्रा ५३२ करोड़ रुपये हो गई थो कुल व्यय का २५% से कुछ अधिक है।

द्वितीय योजना में कुल व्यय ४८०० करोड रुपया होना था जिसका २५% अर्थात् १२०० करोड रुपया हीनार्थ प्रबंधन द्वारा प्राप्त करना था। मुद्रा की मात्रा में इतनी अधिक वृद्धि के कारण मुद्रा प्रसार व मूल्य वृद्धि आवश्यक था। एक अनुमान के अनुसार मूल्यो में प्रति वर्ष सात से आठ प्रतिशत वृद्धि होनी थी। योजना के प्रथम तीन वर्षों में ६५० करोड रुपये का हीनार्थ प्रबंधन किया गया और अनुमान था कि बाकि के दो वर्षों मे ४५० से ५०० करोड़ रुपये तक का हीनार्थ प्रबंध और हो सकता है। इस प्रकार यह लगने लगा था कि वास्तविक हीनार्थ प्रबंधन १२०० करोड रुपये के स्थान पर १४०० से १४५० करोड़ रुपये तक होगा। परन्तु पहले तीन वर्षों मे मूल्यो मे अधिक वृद्धि होने के कारण सरकार ने इस साधन का विस्तृत प्रयोग नहीं किया। योजना के अन्त में वास्तविक हीनार्थ प्रबंधन अनुमानित राशि से २५२ करोड रुपये कम हुआ। सरकार की सावधान नीति के कारण हीनार्थ प्रबंधन केवल ९४८ करोड रु० हुआ जो कुल व्यय का २०% है।

प्रथम दो योजनाओं मे हीनार्थ प्रबंधन अधिक मात्रा मे किया गया था जिसके कारण मूल्यो मे अत्यधिक वृद्धि हुई है। इस कारण तृतीय योजना में इस साधन का विस्तृत प्रयोग सम्भव नहीं था। तृतीय योजना मे, इसलिए केवल ५५० करोड़ रुपये के हीनार्थ प्रबंधन का प्रबंध किया गया है जो कुल वित्तीय साधनों का ८ प्रतिशत है। परन्तु इसमें साख का वह प्रत्यक्ष विस्तार सम्मिलित नहीं है जो कि रिजर्व बैंक द्वारा सहकारी संस्थाओं के प्रति किया जायगा।

२०
विविध
(Miscellaneous)

Q. 212. Write short note on the Industrial Finance Corporation of India. **(Agra 62)**

औद्योगिक वित्त निगम
(Industrial Finance Corporation of India)

बड़े पैमाने के उद्योगों के विकास के लिये विशाल धन-राशी की आवश्यकता होती है। आजकल तो मशीनों के कारण उद्योगों की स्थापना की लागत ही बहुत अधिक होती है और उसके सफलतापूर्वक कार्यकरण के लिये यह आवश्यक है कि उसे आवश्यक मात्रा में, आसानी के साथ और व्याज की उचित दर पर वित्त मिलता रहे। भारत में औद्योगिक प्रगति के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा औद्योगिक वित्त की अपर्याप्त व्यवस्था है। अंग्रेजी सरकार ने इस उद्योग की इस आवश्यकता पर ध्यान नहीं दिया परन्तु स्वतन्त्र भारत की सरकार ने इस स्थिति की गम्भीरता का अनुभव किया और उद्योगों को मध्यमकालीन तथा दीर्घकालीन पूंजी की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ऋण प्रदान करने के लिये १ जुलाई सन् १९४८ को औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation) को स्थापित किया। इस निगम की स्थापना औद्योगिक वित्त निगम अधिनियम सन् १९४८ (Industrial Finance Corporation Act 1948) के अन्तर्गत हुई है।

निगम का उद्देश्य
(Aim of the Corporation)

निगम का उद्देश्य भारतीय संघ में रजिस्टर हुई सीमित दायित्व वाली सार्वजनिक कम्पनियों और सहकारी समितियों के लिये मध्यमकालीन तथा दीर्घकालीन ऋण प्रदान करना है। यह उद्योगों को विशेषतया उस अवस्था में ऋण देता है जबकि प्रचलित बैंकिंग सेवाऐं समुचित नहीं होती और कम्पनियाँ शेयरों व ऋण पत्रों को जारी करके पूंजी प्राप्त करने में असमर्थ होती हैं। इस निगम का उद्देश्य निजी वित्तीय संगठनों की क्रियाओं की अनुपूर्ति करना है।

निगम का कार्य-क्षेत्र

(Working field of the Corporation)

यह निगम केवल निजी उद्यमों (Private enterprises), सार्वजनिक सीमित कम्पनियों तथा रजिस्टर्ड सहकारी समितियों को ऋण दे सकता है। यह उन कम्पनियों को ऋण प्रदान करता है जो वस्तु के निर्माण अथवा विधायन (prosessing) में, खान खोदने अथवा बिजली या अन्य किसी प्रकार की शक्ति के उत्पादन या वितरण में लगी हुई है। सन् १९५२ के एक संशोधन से यह निगम जहाजी कम्पनियों (shipping companies) को तथा सन् १९६० के संशोधन से वस्तुओं के संरक्षण (preservation of goods) में लगे उद्योगों को भी उधार दे सकता है। सन् १९५५ से पहले निगम नई कम्पनियों को ऋण नहीं दे सकता था परन्तु सन् १९५५ में किये गये एक संशोधन के अनुसार अब यह नई कम्पनियों को उधार दे सकता है। राष्ट्रीयकृत (National sed) कम्पनियाँ निगम के कार्य-क्षेत्र के बाहर हैं। इनको यह किसी प्रकार की वित्तीय सहायता नहीं दे सकता।

निगम की पूंजी व कार्यकर कोष

(Capital and Working Fund of the Croporation)

निगम की अधिकृत पूंजी १० करोड़ रुपये है, जो पाँच-पाँच हजार रुपये के २०,००० पूर्णतया परिदत्त (fully paid-up) हिस्सों में विभाजित है। निगम की निर्गमित (issued), प्रार्थित (subscribed) तथा परिदत्त (paid-up) पूंजी ५ करोड़ रुपये की है। इस निगम में हिस्सेदार व्यक्ति नहीं हो सकते बल्कि केवल संस्थाएँ हो सकती हैं। केन्द्रीय सरकार, रिजर्व बैंक, अनुसूचित बैंकों, बीमा कम्पनियों तथा अन्य पूंजी कम्पनियों के पास इसके शेयर हैं जिसका कुल शेयरों में प्रतिशत क्रमश: २०,२०, २५,२५ और १० है। इन हिस्सों के मूलधन के भुगतान तथा उन पर २½% तक का लाभांश दिलाने का उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकार ने अपने ऊपर लिया है।

अपनी कार्यकर पूंजी को निगम निम्नलिखित साधनों से भी प्राप्त कर सकता है—

(१) जनता से कम से कम ५ वर्ष की अवधि वाले अधिक से अधिक १० करोड़ रुपये के निश्चितकालीन जमा (Fixed tern deposits) स्वीकार कर सकता है;

(२) यह निगम प्रतिज्ञा-पत्र तथा ऋण-पत्र जारी कर सकता है परन्तु उनकी राशि उसकी परिदत्त पूंजी तथा संरक्षित कोष (Reserve Fund) से १० गुनी नहीं हो सकती है। इन प्रतिज्ञा-पत्रों तथा ऋण-पत्रों (debentures) के मूलधन और ब्याज के, जो अधिक से अधिक २½% होगा, भुगतान की गारंटी केन्द्रीय सरकार देगी।

(३) उद्योगों की विदेशी विनिमय की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये यह विश्व बैंक (World Bank) से भी रुपया उधार ले सकता है जिसकी गारंटी केन्द्रीय सरकार देती है।

(४) निगम को सरकारी प्रतिभूतियों (Government Securities) के आधार पर अल्प-काल के लिये रिजर्व बैंक से ऋण मिल सकता है जिससे निगम को असमय प्रतिभूतियों को न बेचना पड़ जाय। इसके अतिरिक्त निगम को रिजर्व बैंक से १८ महीने के लिये ३ करोड़ रुपये तक ऋण लेने का अधिकार है।

(५) सन् १९५५ के एक संशोधन से निगम केन्द्रीय सरकार से भी ऋण ले सकता है।

(६) सन् १९५७ के एक संशोधन से निगम राज्य सरकारों तथा स्थानीय प्राधिकारियों से भी जमा स्वीकार कर सकता है।

निगम के कार्य

(Functions of the Corporation)

औद्योगिक वित्त निगम उद्योगों को वैत्तिक सहायता देने के लिये निम्नलिखित कार्य कर सकता है:—

(१) औद्योगिक संस्थाओं से २५ वर्ष में चुकाये जाने वाले ऋण-पत्र खरीद सकता है या उन्हें ऋण दे सकता है।

(२) औद्योगिक संस्थाओं के द्वारा जारी किये गये स्टॉक (Stock), हिस्से तथा ऋण-पत्रों की हामीदारी (Underwriting) कर सकता है; परन्तु इनको सात वर्षों के अन्दर बेच देना होगा।

(३) बाजार से लिये गये ऋण की, जिसका २५ वर्ष में भुगतान करना होगा, गारंटी दे सकता है।

(४) पहले निगम प्रत्यक्ष रूप से कम्पनियों के स्टॉक और हिस्सों में पूंजी नहीं लगा सकता था; परन्तु सन् १९६० के एक संशोधन से यह प्रत्यक्ष रूप से कम्पनियों के स्टॉक व शेयरज खरीद सकता है।

(५) सन् १९५७ के एक संशोधन के अनुसार निगम उन विलम्बित भुगतानों (Deferred payment) की भी जमानत दे सकता है जिनकी सुविधा पूंजीगत वस्तुओं के आयातकर्ताओं ने विदेशी उत्पादकों से प्राप्त करी है।

(६) सन् १९६० के संशोधन से निगम उद्योगों द्वारा अनुसूचित बैंकों (Scheduled Banks) तथा राज्य सहकारी बैंकों से लिये गये ऋणों की तथा भारत में विलम्बित भुगतान के आधार पर खरीदी पूंजीगत वस्तुओं की गारंटी दे सकता है। इसके अतिरिक्त, सरकार की पूर्व आज्ञा से, यह विदेशी वित्त संस्थाओं या बैंकों द्वारा भारतीय उद्योगों को विदेशी मुद्रा में दिये गये ऋण की जमानत भी दे सकता है।

निगम किसी औद्योगिक संस्था को कुल मिला कर परिदत्त पूंजी के १० प्रतिशत से अधिक सहायता नहीं देगा। पहले यह एक कम्पनी को अधिक से अधिक ५० लाख रुपया का ऋण प्रदान कर सकता था, परन्तु पूंजीगत वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाने के कारण सन् १९५२ के एक संशोधन के अनुसार इस सीमा को बढ़ा कर १

करोड़ रु० कर दिया गया है। भारत सरकार की गारंटी पर इस सीमा से अधिक भी ऋण दिया जा सकता है।

यह देखने के लिये कि ऋण ली गई धन राशि का उचित उपयोग होता है या नहीं, निगम ऋण लेने वाली कम्पनी के सचालन मडल (Board of Directors) मे अपना एक सचालक नियुक्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त यदि कोई कम्पनी ऋण की अदायगी नही करती या निगम के साथ किये गये समझौते को पूरा नही करती, तो निगम को यह अधिकार है कि कम्पनी का प्रबध अपने हाथो मे ले लेवे और उसके पास रहन रखी हुई अथवा उस अभिहस्तान्तरित (Assigned) सम्पत्ति को बेच दे।

इस प्रकार निगम वह सब कार्य करता है जो जर्मनी के औद्योगिक बैंक (Industrial Banks) उद्योगो के लिये करते है। यह जनता तथा अन्य सस्थाओं से दीर्घकालीन जमा प्राप्त करता है क्योकि इसके द्वारा लिये गये ऋणो के मूलधन व सूद के भुगतान की जमानत सरकार ने ले रखी है। यह पूजी लगाने वाले का विनियोग में पथ प्रदर्शन भी कर सकता है तथा उधार देकर, उसके हिस्से बेचकर तथा खरीद कर अच्छे उद्योगो की सहायता कर सकता है।

निगम का प्रशासन

(Administration of the Corporation)

निगम का प्रबन्ध १२ सदस्यो के एक सचालक-मडल के हाथ मे है; जिनमें से चार रिजर्व बैंक द्वारा मनोनीत (nominated) होते हैं तथा शेष हिस्सेदारों द्वारा। इसके अतिरिक्त शिल्प-सबन्धी (technical) पर्याप्त ज्ञान से युक्त परामर्शदाता समितियाँ (Advisory Committees) हैं जो व्यक्तिगत व्यवसायों को ऋण देने के औचित्य के सम्बन्ध मे निगम को परामर्श देती हैं।

निगम का कार्यकरण

(Working of the Corporation)

भारत के औद्योगिक वित्त निगम को स्थापित हुए १४ वर्ष हो गये हैं और इस अवधि में इसका कार्य काफी सराहनीय रहा है। अप्रैल सन् १९६१ में इस निगम की हिस्सा पूंजी ५ करोड रुपये, रक्षित कोष १·२२ करोड़ रुपये, तथा ऋण पत्र द्वारा प्राप्त राशि २२·२४ करोड रुपये थी। निगम पर सरकार का ऋण १५·२५ करोड़ रुपये था। रिजर्व बैंक का ऋण ५१ लाख रुपये था।

जुलाई सन् १९४८ से ३१ मार्च सन् १९६१ तक निगम १७१ कम्पनियों को ९९·६७ करोड़ रुपये के ऋणों की स्वीकृति दी और इसमे मे कुल ५४·९० करोड (५५ प्रतिशत) रुपयो ऋणो का वास्तव मे भुगतान किया। निगम से ऋण प्राप्त करने वाले मुख्य उद्योग चीनी, सूती वस्त्र, भारी रसायन, इन्जीनियरी, सीमेंट और कागज रहे हैं।

अपने जीवन काल मे प्रथम बार सन् १९६०–६१ में निगम ने उद्योगों को विदेशी मुद्रा मे ऋण प्रदान किया। १२ कम्पनियों को ३·४८ करोड़ रुपये का ऋण

(४) निगम को सरकारी प्रतिभूतियों (Governme:
आधार पर अल्प-काल के लिये रिजर्व बैंक से ऋण मिल सकता
असमय प्रतिभूतियों को न बेचना पड़ जाय । इसके अतिरिक्त नि
से १८ महीने के लिये ३ करोड़ रुपये तक ऋण लेने का अधिका:

(५) सन् १९५५ के एक संशोधन से निगम केन्द्रीय सर
सकता है ।

(६) सन् १९५७ के एक संशोधन से निगम राज्य सरः
प्राधिकारियों से भी जमा स्वीकार कर सकता है ।

निगम के कार्य

(Functions of the Corporation)

औद्योगिक वित्त निगम उद्योगों को वैत्तिक सहायता देने के
कार्य कर सकता है:—

(१) औद्योगिक संस्थाओं से २५ वर्ष में चुकाये जाने वाले
सकता है या उन्हें ऋण दे सकता है ।

(२) औद्योगिक संस्थाओं के द्वारा जारी किये गये स्टॉक (:
ऋण-पत्रों की हामीदारी (Underwriting) कर सकता है; परन्तु
के अन्दर बेच देना होगा ।

(३) बाजार से लिये गये ऋण की, जिसका २५ वर्ष में भुग
गारंटी दे सकता है ।

(४) पहले निगम प्रत्यक्ष रूप से कम्पनियों के स्टॉक औ
नहीं लगा सकता था; परन्तु सन् १९६० के एक संशोधन से य:
कम्पनियों के स्टॉक व शेयरज खरीद सकता है ।

(५) सन् १९५७ के एक संशोधन के अनुसार निगम उन वि
(Deferred payment) की भी जमानत दे सकता है जिनकी सुविध
के आयातकर्ताओं ने विदेशी उत्पादकों से प्राप्त करी है ।

(६) सन् १९६० के संशोधन से
(Scheduled Banks) तथा राज्य स
में विलम्बित भुगतान के आधार

दूसरी आलोचना यह है कि वह अपने व्यवहार में निष्पक्ष नही है। परन्तु सन् १९५२ में नियुक्त की गई कृपलानी समिति ने इस आरोप को गलत पाया।

तीसरे, ऋण देते समय निगम कठिन शर्तें लगाता है, जैसे बंधक ऋणों का ५० प्रतिशत भाग 'उधार प्रतिभूमि अन्तर' (margin) रखने के अतिरिक्त, निगम सामान्यतः प्रबन्ध अभिकर्त्ता (Managing Agent) की जमानत की भी शर्त लगा देता है। यह सभी दशाओं में आवश्यक नहीं होना चाहिये।

चौथे, ऋणों की स्वीकृति देने मे देर लगाई जाती है। यह आलोचना भी पूर्णतया ठीक नहीं है क्योंकि प्रार्थना-पत्र की जाँच पड़ताल करने में कुछ समय लगता है। कई बार प्रार्थना-पत्रों में बहुत सी बातें नहीं दी जाती और पत्र-व्यवहार में देर लग जाती है।

Q. 213. Write a short note on "Deposit Insurance Scheme".

जमा बीमा योजना

(Deposit Insurance Scheme)

The Palai Bank of India के फेल होने तथा अन्य बैंकों की संकटमयी स्थिति ने रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को कोई ऐसी योजना चालू करने के लिये विवश कर दिया है जिससे जमाकर्त्ताओं (Depositors) के रुपये सुरक्षित रहें और बैंक के फेल हो जाने पर उनको यह राशि मिल जाय। इस सम्बन्ध में रिजर्व बैंक 'जमा बीमा योजना' (Deposit Insurance Scheme) को प्रारम्भ कर दिया है।

यह योजना कोई नई नहीं है। इससे पहले इसको भारत में अपनाने के लिये भी सुझाव दिये गये हैं। सन् १९५० में ग्रामीण अधिकोषण जाँच समिति (Rural Banking Inquiry Committee 1950) तथा सन् १९५४ मे The Report of the Committee on Finance for the Private Sector (यह A. D. Shroff Committee के नाम से भी प्रसिद्ध है) ने इस योजना को प्रारम्भ करने का सुझाव दिया था। परन्तु उस समय रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया व भारतीय सरकार ने कोई रुचि नहीं दिखाई। शायद तब इन दोनों अधिकारियों ने इसको आवश्यक नहीं समझा। परन्तु अब परिस्थिति ने इन दोनों को इस सम्बन्ध मे सोचने को विवश कर दिया है।

जमा बीमा पद्धति (Deposit Insurance Scheme) को सर्वप्रथम संयुक्त राज्य अमेरिका (United States of America) ने सन् १९३४ से प्रारम्भ किया था और इस प्रकार यह इसी की खोज है। वहाँ पर भी इस पद्धति की आवश्यकता सन् १९३३ के बैंकिंग संकट (Banking crisis) के कारण समझी गई। बैंकों में

इसने अमेरिकन डालर में प्रदान किया। इस वर्ष के दौरान में हामीदारी (underwriting) के कार्य को भी और अधिक किया गया। निगम ने (अन्य संस्थाओं तथा दलालों) के साथ मिलकर तीन Preference share issues तथा एक Equity cum preference की हामीदारी की जिसमें निगम का दायित्व १·६० करोड़ रुपये था। इसी वर्ष निगम में १३·१३ करोड़ रुपये के विलम्बित भुगतान की गारन्टी दी तथा तीन मामलों में २·६५ करोड़ रुपये के विलम्बित भुगतान ऋणों के लिये गारंटी-पत्र भी लिखे। ३१ मार्च सन् १९६४ तक इसने १९०·५ करोड़ रुपये के ऋणों की स्वीकृति दे दी थी। ११९ करोड़ रुपये के ऋण बांट दिये थे।

निगम की स्थिति अब स्थिर हो गई है तथा यह अपने लाभों में से हिस्सेदार को लाभांश (dividend) भी देने लगा है। सन् १९५७ में अपने लाभों में प्रथम बार इसने हिस्सेदारों को २½ प्रतिशत का प्रगारिणत लाभांश दिया। वसूल न होने वाले ऋणों के लिये भी इसने अब एक कोष बनाया है।

निगम की आलोचना

(Criticism of the Corporation)

निगम के कार्यकरण की कई प्रकार से आलोचना की गई है। सबसे महत्वपूर्ण आलोचना तो यह की जाती है कि निगम के द्वारा ली जाने वाली सूद की दर (६% से लेकर ७% तक) बहुत अधिक है। इससे नये उद्योगों को नुकसान होता है। उसको इसमें अधिक लाभ नहीं मिलता और इस कारण वे निगम का लाभ प्राप्त नहीं कर सकते। श्रोफ समिति (Shroff Committee) ने सन् १९५३ में इसके लिये यह सुझाव दिया था कि निगम का ऋण लेने वाली कम्पनी से ऐसा समझौता कर लेना चाहिये जिससे कम्पनी प्रारम्भ में कम सूद दे और बाद में जब वह लाभ कमाने लगे तो वह निगम को पिछले वर्षों का भी ब्याज का अन्तर दे दे।

दूसरी आलोचना यह है कि यह अपने व्यवहार मे निष्पक्ष नही है । परन्तु सन् १९५२ मे नियुक्त की गई इस्लामी समिति ने इस आरोप को गलत पाया ।

तीसरे, ऋण देते समय निगम कठिन शर्तें लगाता है, जैसे बंधक ऋणों का ५० प्रतिशत भाग 'उधार प्रतिभूति अन्तर' (margin) रखने के अतिरिक्त, निगम सामान्यतः प्रबन्ध अभिकर्त्ता (Managing Agent) की जमानत की भी शर्त लगा देता है । यह सभी दशाओं में आवश्यक नही होना चाहिये ।

चौथे, ऋणों की स्वीकृति देने मे देर लगाई जाती है । यह आलोचना भी पूर्णतया ठीक नहीं है क्योंकि प्रार्थना पत्र की जाँच पड़ताल करने मे कुछ समय लगता है । कई बार प्रार्थना-पत्रों में बहुत सी बातें नही दी जाती और पत्र-व्यवहार मे देर लग जाती है ।

Q 213. Write a short note on "Deposit Insurance Scheme".

जमा बीमा योजना

(Deposit Insurance Scheme)

The Palai Bank of India के फेल होने तथा अन्य बैंकों की सकटमयी स्थिति ने रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को कोई ऐसी योजना चालू करने के लिये विवश कर दिया है जिससे जमाकर्त्ताओं (Depositors) के रुपये सुरक्षित रहे और बैंक के फेल हो जाने पर उनको यह राशि मिल जाय । इस सम्बन्ध मे रिजर्व बैंक 'जमा बीमा योजना' (Deposit Insurance Scheme) को प्रारम्भ कर दिया है ।

यह योजना कोई नई नहीं है । इससे पहले इसको भारत मे अपनाने के लिये भी सुझाव दिये गये हैं । सन् १९५० मे ग्रामीण अधिकोषण जाच समिति (Rural Banking Inquiry Committee 1950) तथा सन् १९५४ मे The Report of the Committee on Finance for the Private Sector (यह A. D. Shroff Committee के नाम से भी प्रसिद्ध है) ने इस योजना को प्रारम्भ करने का सुझाव दिया था । परन्तु उस समय रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया व भारतीय सरकार ने कोई रुचि नहीं दिखाई । शायद तब इन दोनों अधिकारियों ने इसको आवश्यक नही समझा । परन्तु अब परिस्थिति ने इन दोनों को इस सम्बन्ध मे सोचने को विवश कर दिया है ।

जमा बीमा पद्धति (Deposit Insurance Scheme) को सर्वप्रथम संयुक्त राज्य अमेरिका (United States of America) ने सन् १९३४ से प्रारम्भ किया था और इस प्रकार यह इसी की खोज है । वहाँ पर भी इस पद्धति की आवश्यकता सन् १९३३ के बैंकिंग सकट (Banking crisis) के कारण समझी गई । बैंकों में

जनता का विश्वास उत्पन्न करने के लिये तथा दीर्घ काल में बैंकिंग व्यवहार में सुधार करने के लिये इसको एक अच्छा साधन समझा गया। सन् १९३३ में पास किये गये बैंकिंग एक्ट (Banking Act of 1933) के अनुसार संघीय बीमा जमा निगम (Federal Deposit Insurance Corporation) को संघीय सरकार की एजेन्सी के रूप में स्थापित किया गया और इसने १ जनवरी सन् १९३४ से जमाओं का बीमा करके कार्य करना प्रारम्भ कर दिया था। इस निगम (Corporation) का पूँजी-निर्माण संघीय सरकार तथा संघीय सुरक्षित बैंक्स (Federal Reserve Banks) द्वारा किया जाता है। बैंक्स को प्रीमियम देना होता है जो कि उनके औसत जमाओं के एक प्रतिशत का $\frac{1}{12}$ होता है। निगम को उन बैंक्स के निरिक्षण का अधिकार है जिन्होंने इससे बीमा करा रखखा है तथा यदि कोई बैंक असुरक्षित व गलत व्यवहार कर रहा है तो निगम उसका बीमान्वित स्तर समाप्त कर सकती है।

भारतवर्ष में इस योजना पर रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया व केन्द्रीय सरकार के द्वारा गम्भीरता से विचार किया जा रहा है और आशा की जाती है कि शीघ्र ही इसको व्यवहारिक रूप दिया जायगा। इस योजना को प्रारम्भ करने के लिये भारत में भी अमेरिका के समान जमा बीमा निगम (Deposit Insurance Corporation) की स्थापना करनी होगी और सरकार व रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया दोनों ही इस निगम को पूंजी प्रदान करेंगी।

बैंक्स को निगम की सेवाओं के लिए कुछ प्रीमियम देना होगा। इसका प्रभाव बैंक्स के लाभ पर पड़ेगा तथा उनका व्यय भी बढ़ जायगा। इसलिए इसको बहुत ही कम रखना होगा। प्रीमियम दर के निर्धारण के सम्बन्ध में भी कुछ कठिनाइयां आयेगी क्योंकि इस दर को निर्धारित करने से सम्बन्धित (Actuarial) आंकड़े भारतवर्ष में उपलब्ध नहीं हैं। इसके अतिरिक्त, जैसा कि आशा की जाती है, बीमान्वित जमाओं (Insured deposits) का पूरा भुगतान बैंक फेल होने पर किया जायगा। इसके जमाकर्ता अपनी जमाओं को छोटी-छोटी रकमों में छिटकाकर रखेंगे और इससे बैंक्स का कार्य वहुत बढ़ जायेगा। यह कुछ कठिनाइयां हैं जिन पर इस योजना पर कार्यारम्भ से पहले विचार करना आवश्यक होगा।

बीमा जमा पद्धति जमाकर्त्ताओं में बैंक के प्रति विश्वास उत्पन्न करने का एक तरीका है। परन्तु केवल यह पद्धति ही बैंक्स में जमाकर्त्ताओं का विश्वास नहीं बना सकती। जमाकर्त्ताओं को बैंक्स में तभी विश्वास हो सकता है जब कम बैंक्स फेल हों और जो बैंक्स फेल हों वे प्रबन्धकों की कमी के कारण न हों बल्कि उन कारणों से हों जिन पर उनका नियन्त्रण नहीं है। इसके अतिरिक्त जमा बीमा निगम बैंक्स को फेल होने से नहीं रोक सकती और न ही यह बैंकिंग व्यवहार में सुधार कर सकती है। यह इससे स्पष्ट हो सकता है कि सन् १९६० में अमेरिका की संघीय जमा बीमा निगम ने १०,००० डालर उन बैंक्स के जमाकर्त्ताओं को दिये जो फेल हो गये थे।

Q. 214. Write Short notes on :—
(a) Hard and soft currency.
(b) Inflationary Taxation.
(c) International Financial Corporation
(d) Decimal coinage in India.

(a) दुर्लभ मुद्रा व सुलभ मुद्रा (Hard Currency and Soft Currency)—दुर्लभ मुद्रा व सुलभ मुद्रा शब्द द्वितीय महायुद्ध मे अधिक प्रचलन में आये। दुर्लभ मुद्रा का अर्थ उस मुद्रा से है जो माग की तुलना मे कम हो अर्थात् जो दुर्लभ हो। सुलभ मुद्रा उस मुद्रा को कहते है जिसकी पूर्ति माग की तुलना में अधिक हो और जो सरलता से प्राप्त हो जाय। भारत के लिये दुर्लभ मुद्रा मे पश्चिमी अर्ध गोल (Western Hemisphere) मे स्थित देशो की मुद्रा तथा स्विटजरलैंड की मुद्रा सम्मिलित थी। स्टर्लिंग क्षेत्र के देशो की मुद्रा सुलभ मुद्रा थी।

दुर्लभ मुद्रा व सुलभ मुद्रा सापेक्षित शब्द (Relative Terms) हैं क्योंकि जो मुद्रा आज दुर्लभ है कल को सुलभ हो सकती है तथा आज जो सुलभ है कल को दुर्लभ हो सकती है। इसके अतिरिक्त एक मुद्रा के लिये दूसरी मुद्रा दुर्लभ हो सकती है। परन्तु वही मुद्रा दूसरी मुद्रा के लिए सुलभ हो सकती है। स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों के लिए डालर दुर्लभ मुद्रा है। परन्तु स्टर्लिंग स्वय दूसरे देशो के लिए दुर्लभ हो सकता है।

द्वितीय महायुद्ध मे अमेरिका का महत्व ससार की अर्थव्यवस्था मे बहुत अधिक बढ गया और विभिन्न देशो से उसका भुगतान शेष अनुकूल हो गया। अतः उसकी मुद्रा भारत के लिए दुर्लभ हो गयी।

(b) मुद्रा स्फीतिक करारोपण (Inflationary Taxation)—प्रत्येक देश की सरकार आय प्राप्त करने के लिये कर लगाती है। करो के उद्देश्य विभिन्न होते हैं। कर लगाने का उद्देश्य यह होता है कि विभिन्न उद्योगों मे साधनो का पुन-वितरण कर दिया जाय। इसका उद्देश्य आय का पुनर्वितरण, किसी विशेष उद्योग को प्रोत्साहन देना, आयातों व निर्यातो को हतोत्साहित करना आदि भी हो सकता है। बहुत बार कर लगाने का उद्देश्य यह होता है कि लोगो के पास अत्यधिक क्रय-शक्ति को कम कर दिया जाय। जब लोगो के पास अत्यधिक क्रय-शक्ति होती है तो वे अधिक वस्तुओं की मांग करते है और वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं। कर लगाने से लोगों के पास जो धन है वह सरकार के पास पहुँच जाता है और उनकी क्रय-शक्ति कम हो जाती है। इससे मुद्रा-स्फीति की तीव्रता कम हो जाती है। अतः मुद्रा-स्फीति की तीव्रता को कम करने के लिए जो प्रत्यक्ष व परोक्ष कर लगाये जाते हैं, उनको मुद्रा-स्फीतिक करारोपण कहते हैं।

(c) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (International Finance Corporation)—युद्ध के बाद उत्पन्न हुई अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ में अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण व विकास

बैंक (International Banks for Reconstruction and Development) का बहुत महत्व है तथा यह संसार के विभिन्न देशों की अत्यधिक सहायता कर रहा है। फिर भी इसकी आलोचनायें हुई हैं और उनमें मुख्य व सत्य यह भी है कि विश्व बैंक सीधे निजी संस्थाओं व व्यक्तियों को उधार नहीं दे सकता। परन्तु निजी क्षेत्र को सहायता देना भी बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि पिछड़े देशों में यह क्षेत्र बहुत अधिक विकास कर सकता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये, जुलाई सन् १९४६ को अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की स्थापना की गयी थी। इसको अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण व विकास बैंक के साथ सम्बद्ध किया गया है।

इस निगम का सदस्य प्रत्येक वह देश बन सकता है जो विश्व बैंक का सदस्य है। अप्रैल सन् १९५९ तक इसकी सदस्य संख्या ४९ थी। इस निगम की अधिकृत पूंजी (Authorized Capital) १०० मिलियन डालर है, जिसमें से ७८·४ मिलियन डालर उन ३१ देशों ने लिया था जो इसके सदस्य २४ जुलाई १९५६ को बन गये थे। अप्रैल सन् १९५७ तक इसकी प्राथित पूंजी (Subscribed Capital) ९,१,८९२,००० डालर थी। भारत भी इसका सदस्य बन गया है और इसने ४·४३ मिलियन डालर का चन्दा देने का वायदा किया है।

इस नियम के प्रबन्ध के तिये एक बोर्ड ऑफ गर्वनर्ज (Board of Governors), एक संचालक मंडल (Board of Directors), एक प्रेजिडेन्ट (President) तथा अन्य कर्मचारी वर्ग हैं। विश्व बैंक का प्रेजिडेन्ट संचालक मंडल का चेयरमैन होता है तथा इसकी सिफारिश पर संचालक मंडल प्रेजिडेन्ट को नियुक्त करता है।

निगम सीधे निजी साहसियों को रुपया उधार देता है तथा सरकार से गारन्टी की मांग नहीं करता। यह व्यक्तिगत पूंजी को उत्पादक विनियोजन के लिए प्रोत्साहित भी करता है। कृषि, उद्योग व्यापार आदि के लिए इस निगम से ऋण लिया जा सकता है।

(d) **भारत में दशमिक मुद्रा प्रणाली** (Decimal Coinage in India)—१ अप्रैल सन् १९४७ से भारत में प्राचीन मुद्रा प्रणाली को समाप्त करके दशमिक मुद्रा प्रणाली को अपनाया गया है। दशमिक मुद्रा को अपनाने के लिये भारत में सन् १८६७ से प्रयत्न किया जा रहा था। सन् १८७१ में तो एक एक्ट भी पास कर दिया था, परन्तु उसको प्रयोग में न रखा जा सका। सन् १९४६ में भारतीय विज्ञान कांग्रेस (Indian Science Congress) ने इस समस्या पर विचार किया और दशमिक मुद्रा प्रणाली का समर्थन करते हुए कहा, "The Indian Science Congress Association has supported for many years for the decimalisation of currency, weights and measures." नाप व तौल पर विशेष कमेटी (Special Committee on Weights and Measures) की सन् १९४९ की रिपोर्ट ने भी दशमिक मुद्रा प्रणाली के उपयोग पर जोर दिया। सन् १९५६ में

भारत सरकार ने बहुत सोच विचार करने के बाद भारतीय सिक्का (संशोधन) एक्ट [Indian Coinage (Amendment) Act] पास कर दिया जिसके अनुसार १ अप्रैल सन् १९५७ से दशमिक मुद्रा प्रणाली लागू हो गयी।

दशमिक मुद्रा प्रणाली से अभिप्राय एक ऐसी प्रणाली से है जिसमे प्रत्येक मुद्रा इकाई अपने से ऊपर मुद्रा इकाई का दसवाँ भाग होती है। इस प्रणाली मे एक मुद्रा इकाई को दस से गुणा करके या दस से भाग देकर दूसरी मुद्रा इकाई निकाली जा सकती है। इस समय ससार के १४० देशो मे से १०५ ने इस प्रणाली को अपना रक्खा है।

भारतीय सिक्का अधिनियम के अनुसार १ अप्रैल सन् १९५७ से रुपये में ६४ पैसे के स्थान पर १०० पैसे होगे। इन दोनों पैसो में अन्तर रखने के लिये रुपये के १००वें भाग को नये पैसे का नाम दिया गया। नये सिक्के, १ नए पैसे, २ नये पैसे, ५ नये पैसे तथा १० नये पैसे के चलाये गये। सन् १९५९ के अन्त से २५ नये पैसे का का सिक्का भी चला दिया गया। जनता को यह अधिकार दिया गया कि वह भुगतान नये या पुराने किसी भी सिक्के मे या दोनो को मिलाकर कर सकती है। यह अवस्था तीन वर्ष के लिए रखी गयी जिसके बाद नए सिक्के पूर्णतया चलन में आ जायेंगे तथा पुराने सिक्के इन तीन वर्षों मे सरकार धीरे-धीरे निकाल लेगी।

प्रणाली के लाभ (Advantages of the System)—दशमिक प्रणाली के बहुत से लाभ हैं जिनको हम इस प्रकार से लिख सकते हैं :—

(१) इस प्रणाली से हिसाब-किताब शीघ्र व सरलता से हो सकता है।

(२) यह मूल्य निर्धारण की एक सप्रभाविक रीति है। इस प्रणाली मे वस्तुओ और सेवाओं का मूल्य बहुत आसानी से नाप लिया जाता है।

(३) मूल्यो के छोटे-छोटे परिवर्तनो का सही-सही नाप भी इस प्रणाली के आधार पर आसानी से हो सकता है जिससे कि सिक्कों का व्यय अधिक उपयुक्त रीति से किया जा सकता है।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे सुविधा और सरलता एव हिसाब-किताब मे आसानी हो सकेगी क्योंकि अधिकांश देशों ने दशमिक प्रणाली को स्वीकार किया है।

(५) दशमिक मुद्रा प्रणाली के आधार पर दशमिक बाँट व नाप को भी चालू किया जा सकेगा।

(६) इस प्रणाली से विविध प्रकार की मुद्रा इकाई समाप्त कर दी गयी है और नई इकाइयों को दशमलवीय आधार पर परिभाषित किया है।

प्रणाली को कार्यान्वित करने में कठिनाइयाँ—भारत के दशमिक प्रणाली को अपनाने मे बहुत सी कठिनाइया सरकार व जनता के सामने आयी। वे इस प्रकार हैं :—

(१) भारतवर्ष जैसे देश की जनता के लिए यह प्रणाली समझने के लिए बहुत ही कठिन है अर्थात् यहां के देहाती लोग इस मुद्रा प्रणाली को आसानी से नहीं समझ पाते।

(२) भारतवर्ष में रुपए, आने, पाई कि मुद्रा बहुत समय से चली आ रही है और लोग इससे पूर्णतः अभ्यस्त हैं।

(३) नई मुद्रा प्रणाली के चालू हो जाने से वर्तमान सभी मूल्यों और दरों का आधार ही बदल जाएगा।

(४) इस प्रणाली से उपभोक्ताओं को हानि हुई है, क्योंकि नए पैसे में प्रत्येक वस्तु का मूल्य बढ़ गया है।

(५) जोड़ घटाने की मशीनें, टिकट छापने की मशीनें आदि सब बेकार हो जायेंगी।

इन दोषों तथा कठिनाइयों के होते हुए भी इस प्रणाली को अपना लिया गया है, क्योंकि इसमें लाभ अधिक हैं।

—:०:—

APPENDIX I

EXAMINATION PAPERS

Agra University

M. A. EXAMINATION

ECONOMICS

FIRST *(d)* PAPER—Financial Organization

1965

1. Explain the functions of the gold standard. Is the managed paper currency an improvement over it? If so give reasons.

2. Give a brief evaluation of the working of the Bank for International Development and Reconstruction.

3. India's admission to the International Monetary Fund marks the inauguration of a new currency standard for India. Explain and examine the existing Indian currency system.

4. Describe briefly the Balance of Payments theory of foreign exchange. Why is this theory more satisfactory than others?

5. Discuss the problem of price stability versus exchange stability, with special reference to the present economic development of India.

6. Explain the nature, objects and limitations of the Exchange Equalization Fund.

7. Write a critical note on 'sterling balances of India and their redemption'.

8. Examine critically the case for and against nationalizktion of commercial banking in India.

9. 'During recent years the Reserve Bank of India's policy has been directed, on the one hand, to checking the inflationary pressures generated by a development programme with a substantial amount of deficit financing, and on the other, to assist in the extension of credit facilities for those sectors wherein development was being hampered by inadequacy of credit.' Comment.

10. Explain the Theory of Money and Prices as propounded by Keynes. How does it mark an advance upon the Quantity Theory of Money?

(१) भारतवर्ष जैसे देश की जनता के लिए यह प्रणाली समझने के लिए बहुत ही कठिन है अर्थात् यहां के देहाती लोग इस मुद्रा प्रणाली को आसानी से नहीं समझ पाते ।

(२) भारतवर्ष में रुपए, आने, पाई कि मुद्रा बहुत समय से चली आ रही है और लोग इससे पूर्णतः अभ्यस्त हैं ।

(३) नई मुद्रा प्रणाली के चालू हो जाने से वर्तमान सभी मूल्यों और दरों का आधार ही बदल जाएगा ।

(४) इस प्रणाली से उपभोक्ताओं को हानि हुई है, क्योंकि नए पैसे में प्रत्येक वस्तु का मूल्य बढ़ गया है ।

(५) जोड़ घटाने की मशीनें, टिकट छापने की मशीनें आदि सब बेकार हो जायेंगी ।

इन दोषों तथा कठिनाइयों के होते हुए भी इस प्रणाली को अपना लिया गया है, क्योंकि इसमें लाभ अधिक हैं ।

—:०:—

APPENDIX I

EXAMINATION PAPERS

Agra University

M. A. EXAMINATION

ECONOMICS

FIRST *(d)* PAPER—Financial Organization

1965

1 Explain the functions of the gold standard. Is the managed paper currency an improvement over it ? If so give reasons.

2. Give a brief evaluation of the working of the Bank for International Development and Reconstruction.

3. India's admission to the International Monetary Fund marks the inauguration of a new currency standard for India. Explain and examine the existing Indian currency system.

4. Describe briefly the Balance of Payments theory of foreign exchange. Why is this theory more satisfactory than others ?

5. Discuss the problem of price stability versus exchange stability, with special reference to the present economic development of India.

6. Explain the nature, objects and limitations of the Exchange Equalization Fund.

7. Write a critical note on 'sterling balances of India and their redemption'.

8. Examine critically the case for and against nationalizktion of commercial banking in India.

9. 'During recent years the Reserve Bank of India's policy has been directed, on the one hand, to checking the inflationary pressures generated by a development programme with a substantial amount of deficit financing, and on the other, to assist in the extension of credit facilities for those sectors wherein development was being hampered by inadequacy of credit.' Comment.

10. Explain the Theory of Money and Prices as propounded by Keynes. How does it mark an advance upon the Quantity Theory of Money ?

4. Attempt a reconciliation of the following :—

(a) 'Exchange stability is incompatible with domestic price stability.'

(b) 'Price stability and exchange stability are not alternative goal of policy. They have to be pursued together.'

5. "The operation of the Gold Standard required certain "rules of the game," to be observed by the countries concerned. When rules came to be violated, the Standard had to face considerable difficulties.' Examine in the light of this statement the causes responsible for the collapse of the Gold Standard during the interwar period.

6. Analyse the concept of deficit-financing and discuss its role as :—

(a) an instrument of war finance.

(b) an aid to recovery.

(c) a tool of economic development

(d) a vehicle of social policy.

7. Give a critical account of the various monetary theories advanced from time to time to explain the alternating periods of economic prosperity and depression.

8. In the light of available tests, examine the extent of over or under-valuation of the Indian rupee at the present moment. Suggest ways to restore it to the proper level.

9. Examine critically, the achievements of the Reserve Bank of India in the sphere of agricultural and industrial finance after the attainment of independence.

10. Write short notes on any three of the following :—

(a) I. M. F. and I. B. R. D.

(b) Purchasing Power Parity Theory.

(c) Exchange control.

(d) Liquidity preference.

(e) Dollar crisis.

(f) Arbitrage operations.

1962

1. "There cannot be intrinsically a more insignificant thing in the economy of society than money. Examine this statement critically and discuss the functions and significance of money.

2. Give reasons for the view that the saving and investment theory marks an improvement on the older formation of quantity theory in explaining price changes.

4. Examine critically the purchasing power parity theory of foreign exchange. How does it differ from the classical theory of foreign exchange ?

5. Explain the monetary causes of booms and depressions in industrial activities.

6. Point out the different courses open to a Central Bank to control currency and credit in a country. Illustrate your answer by reference to the steps taken by the Reserve Bank of India in the post-war period.

7. Which of the two remedies, deflation or devalution, should be aplied to restore an over-valued currency to the equilibrium rate ? State reasons for your choice and indicate the extent of the method preferred.

8. 'The two outstanding developments in Indian currency during the last war were the large expansion of currency and the accumulation of sterling balances.'

Attempt a short essay on the magnitude, causes and interrelation of the two developments.

9. Explain the circumstances which led to the devalution of the sterling in 1919 and examine the propriety of the devaluation of the Indian rupee in consequences.

10. Explain carefully the concept of deficit financing and discuss its role in financing India's Five Year Plans.

11. Write critical notes on any two of the following :—

(a) Chief Money Policy.
(b) Different methods of note-issue.
(c) *The International Bank for Reconstruction* and *Development*.
(d) Recommendations of All-India Rural Credit Survey Committee.

1960

1. What is the social significarce of money ? Is money all powerful under a capitalist economy ? Explain clearly.

2. Examine critically the 'Quantity Theory of Money.' How far can the explanation of Keynes about the determination of the value of money be considered satisfactory ? Discuss.

3. Do you agree with the view of hawtrey that the trade cycle is a purely monetary phenomenon ? Are there non-monetary factors which affect a trade cycle ? Discuss fully.

4. Outline briefly the objects and methods of exchange control adopted in India during last war ?

3. Outline briefly the objects and methods of exchange management and control. Illustrate your answer with special reference to Indian conditions.

4. 'The standard is jealous god. It will work provided it is given exclusive direction.' Discuss this statement with reference to the causes of failure of the gold standard during the interwar period.

5. Explain the meaning of the terms Over-Valuation and under valuation' of currencies. Mention briefly the main reasons for which over valuation of a country's currency can be justified.

6. Mention the principal achievements of the I. M. F. and the I. B. R. D.

7. State what do you understand by the term inflation. To what can it be ascribed and what consequences follow from it. Illustrate your answer from conditions in India during and after the last war.

8. Attempt a brief summary of the measures undertaken by the Reserve Bank of India in recent years to regulate the lending activities of Commercial Banks.

9. Examine critically the role of foreign economic aid in India's Five Years Plans and suggest mesures for reducing India's dependance on external sources of finance.

10. Enumerate the main difficulties in the way of and limitations to a central Bank's power of controlling credit, especially in an under developed country.

12. Write short notes on any two of the following :—

(a) The Industrial Finance Corporation of India.
(b) Price Stability versus exchange stability.
(c) Purchasing Power Parity Theory.
(d) Forward Exchange.

1961

1. 'Money is the pivot round which the economic science clusters'. Discuss and point out the significance of money in a socialist economy.

2. 'The Quantity Theory of Money in its earliest and crude form is useless and misleading as no economist now believes in any fixed and automatic relationship between the quantity of money and the general level of prices,' Examine this statement of point out how value of money is determined.

3. What are the essential features that a monetary system should have before it can be looked upon as satisfactory? How far are such features present in India monetary system?

4. Examine critically the purchasing power parity theory of foreign exchange. How does it differ from the classical theory of foreign exchange ?

5. Explain the monetary causes of booms and depressions in industrial activities.

6. Point out the different courses open to a Central Bank to control currency and credit in a country. Illustrate your answer by reference to the steps taken by the Reserve Bank of India in the post-war period.

7. Which of the two remedies, deflation or devalution, should be aplied to restore an over-valued currency to the equilibrium rate ? State reasons for your choice and indicate the extent of the method preferred.

8. 'The two outstanding developments in Indian currency during the last war were the large expansion of currency and the accumulation of sterling balances.'

Attempt a short essay on the magnitude, causes and inter-relation of the two developments.

9. Explain the circumstances which led to the devalution of the sterling in 1949 and examine the propriety of the devaluation of the Indian rupee in consequences.

10. Explain carefully the concept of deficit financing and discuss its role in financing India's Five Year Plans.

11. Write critical notes on any two of the following :—

(a) Chief Money Policy.
(b) Different methods of note-issue.
(c) The International Bank for Reconstruction and Development.
(d) Recommendations of All-India Rural Credit Survey Committee.

1960

1. What is the social significance of money ? Is money all powerful under a capitalist economy ? Explain clearly.

2. Examine critically the 'Quantity Theory of Money.' How far can the explanation of Keynes about the determination of the value of money be considered satisfactory ? Discuss.

3. Do you agree with the view of hawtrey that the trade cycle is a purely monetary phenomenon ? Are there non-monetary factors which affect a trade cycle ? Discuss fully.

4. Outline briefly the objects and methods of adopted in India during last war ?

5. 'A country which stays on the gold standard thereby give up the privilege of following whatever monetary policy it likes. Discuss and point out the causes which led the breakdown of the gold standard after 1929.

6. Explain briefly the main reasons on which devaluation of a currency of a country can be justified. Do you agree with those who hold the view that under the present circumstances, the Indian rupee should be devalued ?

7. Explain briefly the objectives and functions of the International Monetary Fund. Point out the benefits which India has derived by its membership.

8. Is it possible and desirable to revert to the pre-war level of prices in India ? Study the possible effects of such a change.

9. Outline briefly the foreign exchange crisis in India in recent years. What steps have been taken by the Government to meet it ? To what extent is it desirable to depend upon external help for financing the economic development of India ?

10. Discuss briefly the effect the last war on Indian currency.

11. Examine carefully the causes and effects of post-war inflation in India.

12. Write critical notes on any two of the following :—

(a) The Reserve Bank of India and Rural Credit.
(b) Rediscount Policy of a Central Bank and its effects.
(c) Price stability versus Exchange stability.
(d) The sterling Area and Empire Dollar Pool.
(e) Decimal system of coinage in India.
(f) Managed currency.

1959

1. 'The quantity equations remain the most illuminating summary of the forces determining the general level of prices.' Examine critically the above statement.

2. State the main recommendations of the Rural Credit Survey Committee bearing on the reorganization of co-operative credit in India.

3. How does the power of mutiple credit expansion possessed by the commercial banking system affect the functioning of the rediscount policy of the monetary authority ? Discuss fully.

4. The domestic gold standard does not stabilize the volume of currency but forces it to fluctuate. In merely stabilizes the relation between the volume of gold and the volume of currency. How far

does the world's monetary history during the last hundred years confirm this view ? Explain clearly.

5. 'Under the gold standard the strategic variable is the domestic cost/price structure and under variable rates it is the rate of exchange, but with the system of managed flexibility (assured under the I. M. F.) both the domestic incomes and the exchange rates are to remain stable.' Comment.

Or

Do you agree with view that exchange stability and domestic price stability are two incompatiables ? If so, are there any exceptions under which the policy that is right for mantaining convertibility is also right for perserving price stability.

6. Which of the two remedies, deflation or devaluation, should be applied to restore the over-valued currency to the equilibrium rate ? State reasons for your choice and indicate the extent of effectiveness of of the method preferred.

7. Explain carefully the concept of deficit financing. Discuss briefly the essentials for the successful working of the instrument of deficit finance in India Would you recommend further doses of deficit financing or additional taxation and public loans to meet the current shortage of resources ?

8. Give a critical account of various monetary theories advanced from time to time to explain the alternating periods of economic prosperity and depression.

9. Discuss the role and significance of the major internal and external agencies for financing the schemes of economic development in India. How far have they succeeded in their tasks ?

10. Write short notes on any three of the following :—

(a) Foreign Exchange crisis in India.
(b) Inflationary taxation.
(c) Selective credit control.
(d) Forward Exchange.
(e) Purchasing Power Parity Theory.
(f) European Payments Union.

1958

1. (a) 'To a certain extent under any planned economic system the distribution of credit is bound to become a matter of public concern.' Discuss.

(b) Should the bank be socialized ?

2. 'As regards the desirability of introducing the decimal system of coinage, the case is not so overwhelmingly strong as it might at first thought appear.' Examine this statement, giving chief arguments for and against the system.

3. 'The problem of bridging the Almighty Dollar gap in the balance of payments remains one of the major international economic problems of today.' Discuss carefully this statement.

4. Explain the circumstances which led to the devaluation of sterling and examine the propriety of the devaluation of the rupee in consequence.

5. Discuss the financial resources of the Second Five-Year Plan. Would you recommend more deficit financing or additional taxation to meet the present shortage in these resources ?

6. Examine any two of the following :—

(a) Latest agreement regarding balances of India,

(b) 'Inflation is not the only headache of the world today.'

(c) There is no fixed mint par between a gold standard and a silver standard country.

7. Discuss fully how for the International Monetary Fund and the Bank for International Development and Reconstruction have succeded in helping the various countries to meet their foreign exchange requirements and in financing the reconstruction and development of undeveloped countries.

8. 'Money itself creates nothing, it is a means to an end, distribution of goods and services and a mean of attaining social justice.' Discuss.

9. Examine critically the purchasing power parity theory and gives its limitations. Is it an improvement on the classical theory of foreign exchanges ?

10. State the chief consideration which led the Rural Credit Survey Commission to recommend the organization of a State Bank in our country and examine the possible economic effects of this recommendation.

11. Write short notes on any four of the following :—

(a) Gold Exchange Standard.

(b) Hard and soft currency areas.

(c) The Empire Dollar Pool.

(d) Revaluation of Indian rupee.

(e) Defects of the money market in India.

(f) Velocity of money.

(g) Managed currency.

Vikram University

1964

1. "Money itself creates nothing; it is a lubricant of real economic processes of production and distribution of goods and services and means of attaining social justice." Discuss and point out the significance of money in a socialist economy.

2. Explain the Cambridge Equation and point out how far it explains changes in price level

3. "There is no doubt that the process of (economic) stabilization is difficult but difficult or not, it is a pre-requisite to rapid economic growth." (Dorrance, I M. F. Staff Papers). Discuss the statement.

4. Explain the meaning of the terms 'Over-valuation' and 'Undervaluation' of currencies Mention briefly the main reasons for which over-valuation of a country's currency can be justified.

5. What are the essential features that a monetary system should have before it can be looked upon as satisfactory ? How far such features present in the Indian monetary system.

6. Discuss the effectiveness of the following methods of credit control used by the Reserve Bank of India, in the context of conditions existing in India :—

(a) Bank rate policy.
(b) Open market operations.
(c) Selective credit control.

7. Examine critically the role of foreign economic aid in India's Five Year Plans and suggest measures for reducing India's dependence on external sources of finance.

9. Explain carefully the concept of deficit financing and discuss its role in financing India's Second and Third Five Year Plans.

10. Write short notes on any two of the following :—

(a) Price stability versus Exchange stability.
(b) Different methods of note-issue.
(c) Gold Exchange Standard.
(d) Gold Bonds Scheme of India.

1963

1. "Money in modern economic conditions has a dynamic influence, and by appropriate monetary policy this can be directed not only towards economic ends but also towards social ..." J. L. Hanson. Discuss.

2. "One conclusion we may venture : That deflation is an important handicap to short-run economic development, and that long-continued inflation may be a handicap to long-run development." K. E. Boulding. Comment.

3. Why did the United Kingdom first return to, than abandon, the gold standard between 1919 and 1939 ? Its the reestablishment of Gold standard desirable ?

4. Write a careful note on the efficacy of the Bank Rate in the light of the changes that have been made in recent years in Bank Rates.

5. The Theory of value shows how the two forces of supply and demand determine the value of a commodity in conditions of perfect competion. Cannot then the same theory be applied to money ?

6. "The most important reason for controlling the exchange market is to make the rate of exchange different from what it would be without control." Crowther.

Examine the main forms which Exchange Management and control may take.

7. Examine the Montery theories of Trade cycle.

8. Write a careful note on the problem of International liquidity and payment. Can the International Monetary Fund not look after this problem ?

9. Write a thoughtful note on either. (a) Capital Market in India from the point of view of financing India's Industrial Development or (b) Balance of payments position in India in the Plan Period.

10. Examine the price situation and price policy in India during the Plan Period.

1962

1. "Money may be the drink which stimulates the economic system to activity, but there is many a slip between the cup and the lip".—(Keynes)." Comment.

2. What, in your opinion, is the most satisfactory explanation of determination of the general level of prices ?

3. Comment on the view that liquidity preference approach to the theory of interest obscures unduly the parts played by productivity and thrift.

4. Why is an exchange equalisation account or fund instituted by a country and how does it operate ? Explain the conditions necessary for its sucessful working.

5. "The Gold Standard is a jealous God. It will work—provided it is given exclusive devotion" Discuss this statement with reference to the breakdown of the gold standard during the inter-war period.

6. Compare briefly the main features of the International Monetary Fund with those of the International Gold Standard.

7. What have been the main features of the Sterling Area System during the period since World War II ? In what ways has India's membership of the system been beneficial to her ?

8. What is meant by deficit financing ? Under what conditions and with what effects has it been resorted to in India over the last decade ?

9. Outline the measures taken by the Reserve Bank of India to improve credit facilities for agriculture and industry.

10. Can monetary policy by itself secure economic stabilisation ? Discuss this question in the context of an inflationry situation.

11. "In India the usual methods of credit control are not operative in an effective manner." Discuss.

1961

1. 'Money itself creates nothing; it is a lubricant of real economic processes of production and distribution of goods and services and means of attaining social justice.' Discuss.

2. Discuss the economic effects of a cheap money and easy credit policy of a country on (a) production, (b) employment and (c) foreign trade.

3. Explain the Cambridge Equation and point out how far it explains changes in price level.

4. Do you advocate a srable or flexible rate of foreign exchange for country ? Discuss their comparative merits and demerits.

5. 'The Gold Standard limits the freedom of national monetary p[illegible]
instability c[illegible]
themselves c[illegible]

6. [illegible]
of payments remains one of the major international economic problems of the world today.' Comment on this statement.

7. Analyse the aims and objectives of the International Monetary Fund. Comment upon its working.

8. State the chief considerations which led the Rural Credit Survey Committee to recommend the organization of a

our country and examine the possible economic effects of this recommendation.

9. Examine critically the financial resources of the Draft Third Five Year Plan.

10. Write short notes on any two of the following :—

(a) Economic consequences of devalution of the Indian rupee in 1949.

(b) Open market operations.

(c) Decimal coinage in India.

(d) Role of Reserve Bank of India in the country's economy since 1951.

(e) Velocity of money.

Rajasthan University

1964

1. The objects of monetary policy have varied from time to time. The Macmillan Committee, the Radcliffe Commettee and the Keynesian views are important landmarks in the evolution of the scope of monetary policy.'

Discuss the above with particular reference to the shift in emphasis on objectives of monetary policy.

2. 'The quantity equations remain the most illuminating summary of the forces determining the general level of prices.' Discuss fully.

3. 'The operation of the gold standard required certain "rules of the game" to be observed by the countries concerned and when the rules came to be violated, the standard had to face considerable difficulties.'

Discuss the above statement and explain the fall of the gold standard after 1934 in the light of this statement.

4. Give a critical account of the various monetary theories advanced from time to time to explain the alternating periods of economic prosperity and depression.

5. Explain 'exchange control'. Give its objects and methods with particular reference to its operation in India since 1951.

6. Briefly review the various ways in which a central bank controls currency and credit with particular reference to Indian conditions since 1951.

7. Although there has been a raising of the cost of Reserve Bank Credit and restrictions on its availability, it will, I think, be conceded that the Bank's policy has been operated in a flexible and judicious manner.'

Elucidate the above.

8. 'So far as the foreign trade and balance of payments effects are concerned, it may be pointed out that, in view of the numerous economic, institutional and other difficulties faced by under-developed countries in mobilizing their domestic resources, the higher outlays contemplated under their economic plans are certain to generate additional strains of balance of payments and of the availability of foreign exchange.'

Discuss the above with particular reference to India since 1956-57.

9. Elucidate the main developments in India banking structure and operations after 1956-57

10. Give the main achievemedts of the I. M. F. in and after 1958 in the sphere of external convertibility of currencies.

1963

1. Carefully defie 'monetary policy' and discuss its objectives with particular reference to the needs of under-developed countries.

2. "The problem of relations between Treasury and central bank presents a dilemma. If there is too much independence and policies of Treasury and central bank work at cross purposes the result can be confusion and chaos. If there is too little independence the central bank largely loses its reason for being. And in addition, the door is opened—as the experience of many countries warns us—to prostitution of the monetary mechanism to improvident fiscal methods and to inflationary consequences of the worst sort."

Elucidate and discuss the above statement.

3. Explain 'Full Employment' and estimate the influence of monetary policy on full employment.

4. Discuss the main developments in monetary sphere in India since mid-November, 1951, up to the present time.

5. Explain the technique of exchange control. How does it secure payments equilibrium ?

6. Estimate the role of the International Bank for Reconstruction and Development in providing capital and technical facilities for the under developed countries. What changes would you suggest in its policy and procedure of granting loans to the borrowers ?

7. "Along with this provision imparting flexibility to the note issue, the Reserve Bank of India has been endowed with greater powers to deal with the consequences of deficit financing by restraining the creation of uncontrolled credit by the commercial banks."

Elucidate the above statement, specifying the powers conferred by the Act upon the Bank.

8. State the purposes of the international Monetary Fund. How has it dealt with the problem of scarce currencies and with that of exchange stability ?

9. Discuss the recent developments in Indian banking und-- the following heads :—

(i) The setting up of the Deposit Insurance Corporation ;

(ii) The efforts of the Reserve Bank in 1961 to strengthen tl capital funds of the banks ;

(iii) The recommendations of the Study Group on Expo Credit Facilities for the amendment of Section 17 (3) (b) of tl Reserve Bank of India Act ;

(iv) Liberalisation in remittance facilities granted by th Reserve Bank to Scheduled and State Co-operative Banks.

10 "The two prime requisites for achieving substantia expansion of exports are adequate supplies for exports and pric stability."

What are the steps taken by the Reserve Bank and the Government in recent years to promote exports and to secure price stability with particular reference to the sphere of monetary and credit policy ?

1962

1. What constitutes monetary policy ? Suggest an appropriate monetary policy for an under-developed country.

2. Examine the view that trade cycles are caused by a discrepancy between saving and investment.

3. Distinguish between the cash balances approach and the cash transactions approach to the general price level.

4. How far has the International Monetary Fund achieved international monetary stability ?

5. What is the technique of exchange control and how has it established payments equilibrium ?

6. What are the traditional methods of credit control and how have they been modified in India during recent years ?

7. Describe the measures adopted by the Reserve Bank of India to regulate the growth of banking on sound lines.

8. Argue the case for and against the nationalisations of mmercial banking in India.

9. Huw far can cheap money policy promote full employment ? /hat are the practical difficulties that it is likely to encounter ?

10. Describe the structure and working of the Indian money ıarket.

Jabalpur University

1965

1. There cannot be intrinsically a more insignificant thing in he economy of society than money.' Examine this statement and liscuss the functions and significance of money in modern society.

"समाज की अर्थव्यवस्था मे मुद्रा से अधिक आन्तरिक रूप से उपेक्ष्य कोई वस्तु नहीं हो सकती।" इस कथन की व्याख्या कीजिये और आधुनिक समाज में मुद्रा के कार्यों और उसके महत्व की विवेचना कीजिए।

2. Examine critically the Quantity theory of money. How far can the explanation of Keynes about the determination of the value of money be cosidered satisfactory ?

मुद्रा के परिमाण सिद्धांत की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये। मुद्रा के मूल्य निर्धारण सम्बन्ध मे कीन्स का स्पष्टीकरण कहाँ तक संतोषजनक माना जा सकता है।

3. The obvious objects of the monetary policy of a country is to attain equilibrium between savings and investment at the point of full employment ' Explain this view fully.

"किसी राष्ट्र की मुद्रा-नीति का सुस्पष्ट ध्येय पूर्ण रोजगार की अवस्था पर बचत और विनियोग मे साम्य प्राप्त करना होता है।" इस मत की पूर्ण विवेचना कीजिये।

4. Discuss the effects of Inflation and Deflation on different classes of people in Saciety.

मुद्रा-स्फीति और मुद्रा-अपस्फीति के समाज के विभिन्न वर्गों पर जो प्रभाव होते हैं, उनकी विवेचना कीजिये।

5. Do you agree with the view of Hawtrey that the trade cycle is a purely monetary phenomenon ? What are the non-monetary factors which bring about periods of economic prosperity - depression ?

क्या आप हाट्रे के इस मत से सहमत हैं कि व्यापार चक्र एक शुद्ध मौद्रिक घटना है ? वे गैर मौद्रिक बातें कौन सी हैं जो आर्थिक तेजी और मंदी का कार लाती है।

6. 'Gold standard is a jealous god. It will work, provided it i given exclusive direction.' Discuss this statement with refrence to th causes which led to the collapse of gold standard during the inter-wa period.

"स्वर्णमान एक ईर्शालु 'ईश्वरीय शक्ति' है। यह तब ही कार्य करेगी जब वि इसे पूर्णतः एकमात्र निर्देशन प्राप्त हो।" इस कथन की युद्ध-मध्य काल में स्वर्णमान को विफल करने वाले कारणों के संदर्भ में व्याख्या कीजिये।

7. Explain briefly the objectives, functions and achievements of either I. M. F. or I. B. R. D.

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अथवा पुनर्निर्माण तथा विकास का अन्तर्राष्ट्रीय अधिकोष (I.B.R.D.) के उद्देश्यों, कार्यों और उपलब्धियों की संक्षेप में विवेचना कीजिये।

8. Enumerate the main difficulties in the way of and limitations to a Central Bank's power of controlling credit, especially in an under-developed country.

केन्द्रीय बैंक की साख-नियन्त्रण शक्ति की, विशेषकर अल्प-विकसित राष्ट्र में, प्रमुख बाधाओं और सीमाओं का उल्लेख कीजिये।

9. Attempt a brief survey of the recent measures undertaken by the Reserve Bank of India to regulate the lending activities of commercial banks.

रिजर्व बैंक द्वारा व्यापारिक बैंकों की ऋण-देने की गतिविधियों को नियन्त्रित करने हेतु हाल ही में लिए गये प्रयत्नों की संक्षेप में वर्णन कीजिये।

10. Write short notes on any two of following:—

(a) Managed Currency.
(b) Different methods of note issue.
(c) Bank of England.
(d) Velocity of money.

निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये:—

(अ) प्रबन्धित मुद्रा।
(ब) नोट निर्गम के विभिन्न तरीके।
(स) बैंक ऑफ इंगलैंड।
(द) मुद्रा की चलन-गति।

— — — —